प्रस्तुत संस्करण

विनय पीयूष का नवीनतम संस्करण प्रकाशित करते हुए हमें विशेष हर्ष हो रहा है। विद्वानो के मध्य निरंतर बढ़ती हुई इसकी लोकप्रियता से जहाँ हमें संतोष है वहीं इस बात का हमें खेद भी है कि पूज्य महात्मा अंजनीनंदनशरण जी आज हमारे बीच नहीं है। किन्तु उनकी यह अमर कृति मानस पीयूष के समान ही हिन्दी की विभूति है। हम आशा करते हैं कि सभी साहित्य मर्मज्ञ, विद्वत्‌जन एवं अन्य तुलसी साहित्य प्रेमी इस अनूठी टीका का लाभ उठाते रहेंगे।

महात्मा अंजनीनंदनशरण जी ने विनय पत्रिका के इस ससार के सबसे वृहत्तम तिलक में, स्वर्गीय पं० राम कुमार जी प्रसिद्ध रामायणी (काशी), वैकुण्ठवासी वेदान्त शिरोमणि श्री रामानुजाचार्य जी (श्री वृन्दावन), वेदान्त भूषण पं० श्री राम कुमार दास जी (अयोध्या) तथा आचार्य स्वामी पं० श्री सीतारामशरण जी (अयोध्या) आदि की अप्रकाशित टिप्पणियों तथा श्री शिवप्रकाश जी, श्री बैजनाथ जी, लाला श्री भगवानदीन, श्री वियोगीहरि आदि प्राचीन और अर्वाचीन प्रसिद्ध टीकाकारों के विशद भावान्तरो का भी विवेचन और संग्रह है।

हम इनके द्वारा रचित कवितावली की टीका भी शीघ्र ही, प्रकाशित करने जा रहे हैं, आशा है विद्वत्‌जन उससे भी लाभ उठाने की कृपा करेंगे।

प्रकाशक

दो शब्द

जैसे अनन्त श्रीसद्‌गुरुदेव श्रीरूपकलाजीकी गरीयसी आज्ञासे 'श्रीराम-चरितमानस' का 'मानस-पीयूष' तिलक लिखा गया और प्रकाशित हुआ तथा उन्हींकी कृपासे जनतामें उसका आदर हुआ, वैसे ही 'बिनय-पत्रिका' का 'विनय-पीयूष' तिलक काशीके कीर्तनमन्दिरके भगवान् श्रीजानकीवल्लभलालजीकी आज्ञासे लिखा गया और उसके दो हिलोर सन् १९४२-१९४७ई० में प्रकाशित हुए। सन् १९५९ ई० में श्रीकनकभवन महल-विहारिणी-विहारीजीकी आज्ञा शेष अंशको पूरा करनेकी हुई। उन्हींकी कृपासे शेष अंश फिरसे दुहराया जाकर सन् १९६० में पाण्डुलिपि पूरी लिख गयी। गीताप्रेससे प्रकाशन संबंध पत्रव्यवहारमें लगभग ढाई वर्ष लग गए। पहले उन्होंने सन् १९६२ में 'विनय-पीयूष' का छापना आरंभ कर देना स्वीकार कर लिया। परन्तु पीछें यह लिखा कि अभी १५-२० वर्ष तक इसके प्रकाशनका अवकाश नहीं है, आप कापी-राइट (सर्वाधिकार) तथा पाण्डुलिपि दे दें, अवकाश होनेपर छपेगा।—हरि-इच्छा ही इसमें मुख्य है। 'बिनय-पत्रिका' काशी-पुरीमे लिखी गई और श्री-साकेतमे श्रीरामजीको अर्पण की गई। श्रीसरकारको यही पसन्द था कि उसका 'विनय-पीयूष' तिलक भी काशी तथा साकेतसे संबंधित रहे। काशीमे 'श्रीशङ्कर' मुद्रणालय की, और उत्तरार्धके लिये 'श्रीसीताराम' प्रेसकी छाप ही उनको रुची। अन्यत्र जहाँ-जहाँ छपनेकी चर्चा चली, वहाँ-वहाँ विघ्नही आते रहे।

श्रीसरकारकी प्रेरणासे इसको अन्ततोगत्वा स्वय छपाने और प्रकाशित करनेका साहस किया गया। शरीर रुग्ण और जर्जर है। ८२ वर्षकी अवस्था है। वृद्धावस्थाका पूर्ण श्रृङ्गार है। जिन्होने यह सेवा दी, वे ही इस तिलकको पार लगा रहे हैं। अब अन्तिम खण्ड उनकी कृपासे अप्रैल सन् १९६६ मे प्रकाशित हो जायगा।

अंजनीनन्दनशरण

❀ कुछ और विशिष्ट सम्मतियाँ ❀

(१)

डॉ० दीनदयालु गुप्त, एम०ए०, एल-एल०बी०, डी०लिट्०,

प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, हिन्दी तथा आधुनिक भारतीय भाषा विभाग, लखनऊविश्वविद्यालय, एवं अध्यक्ष, हिन्दीसमिति, उ० प्र० सरकार।

श्रीअंजनीनंदन शरणजीने, बहुत पहले, एक 'मानस-पीयूष' नामक सुन्दर ग्रन्थ लिखा था जो महात्मा तुलसीदासजीके रामचरितमानसपर, बड़ी विद्वता और खोजपूर्ण टीका है और जिसका हिन्दी संसारमें भारी मान हुआ है। तुलसीदासजी पर शोध करनेवाले विद्यार्थियोंकेलिये वह ग्रन्थ बड़ा उपयोगी सिद्ध हुआ। 'विनय-पीयूष' भी उसी प्रकारका ग्रन्थ है। इसमें महात्मा तुलसीदासकी विनय-पत्रिका की केवल टीका ही नहीं है वरन् प्राचीनतम हस्तलिखित कृतियोंसे सहायता लेकर उसके पाठ भी स्थिर किये गये हैं और ग्रन्थका सुसम्पादन भी किया गया है। शब्दोंकी व्युत्पत्ति संबंधी इतिहास, अन्तर्कथाएं, तुलसीदासजीकी दार्शनिक विचारधारा. काव्य सौन्दर्य आदि अनेक ज्ञातव्य बातें देकर इस टीकाको साहित्यके जिज्ञासुओंके लिये सर्वाङ्गपूर्ण उपयोगी बनाया गया है। इस ग्रन्थको पढ़कर मुझे बड़ा हर्ष हुआ। मुझे पूर्ण विश्वास है कि समस्त हिन्दी संसारमें इस ग्रन्थका स्वागत होगा और यह अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगा।

(२)

डॉ० नगेन्द्र एम०ए०, डी० लिट्०, अध्यक्ष, हिन्दी बिभाग।
डॉ० रामदत्त भारद्वाज एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट्

दिल्ली विश्वविद्यालय।

'विनय-पीयूष' गोस्वामी तुलसीदासकी 'विनय-पत्रिका' पर विस्तृत टीका है। टीकाकार हैं तुलसी-जगत् के सुप्रसिद्ध महात्मा श्रीअजनीनन्दनशरणजी। 'विनय-पत्रिका' की टीकाओ मे इसका वही सर्वश्रेष्ठ स्थान है जो 'रामचरितमानस' की टीकाओंमे 'मानस-पीयूष' का। प्रस्तुत पुस्तक का पूर्वार्द्ध अर्थात् हिलोरचतुष्टय मेरे समक्ष है। इसकी मुख्य विशेषताएँ हैं।—पाठान्तर, शब्दार्थ, पद्यार्थ और टिप्पणियां। ये चारों ही विस्तृत और विशद हैं, जो किसी भी अन्य टीका मे समवेत नहीं। शब्दार्थ और पद्यार्थ तो साधारण छात्रके लिये भी उपयोगी हैं; किन्तु पाठान्तर और टिप्पणियाँ विद्वानों और शोधको के बड़े काम को हैं। इतिहास-पुराण-स्मृतियो के जो उद्धरण एवं समान-वचन दिये गये हैं उनसे टीका और भी अधिक प्रशस्त होगई है। इस उत्तम प्रणयन पर श्रीअंजनीनन्दन शरणजी को हार्दिक साधुवाद।

(३)

डॉ० देवकीनन्दन श्रीवास्तव एम०ए०, पी-एच०डी,

असिस्टेंट प्रोफेसर हिन्दी विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय

गोस्वामीजी की 'विनय-पत्रिका' भक्तोंका सर्वस्व है। उसकी ऐसी सर्व-सिद्धान्त समन्वित एवं मर्मोद्घाटिनी विशद टीका एवं व्याख्या प्रस्तुत करके टीकाकारने आध्यात्मिक पथके साधकोंका तो पथ प्रशस्त किया ही है साथ ही हिन्दी साहित्य एवं भारतीय साहित्य के क्षेत्रमें एक बहुत बड़े अभावकी पूर्ति की है। अन्तर्कथाओं एव विशिष्ट टिप्पणियों तथा विविध मर्मज्ञोंके भाव संकेतों की सम्यक् योजना द्वारा ग्रन्थको और भी उपयोगी बना दिया गया है। मेरा विश्वास है कि 'मानस-पीयूष' की भाँति अपितु उससे भी अधिक यह 'विनय-पीयूष' जिज्ञासुओं, साधको, सहृदयों एवं विशेषज्ञों द्वारा समानरूपसे समादृत होगा।

(४)

डॉ० जगन्नाथप्रसाद शर्मा, प्रोफेसर एवं अध्यक्ष हिन्दी विभाग,

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

महात्मा अजनीनन्दनशरणजी की अद्भुत कृति 'विनय-पीयूष' को मैंने देखा और पढ़ा। इसके पूर्व इनकी अन्यतम् रचना 'मानस-पीयूष' से ही मैं अभिभूत हो चुका था। ऐसी अपार सग्राहक क्षमता, और निरन्तर चिंतन-मनन की उदार दृष्टि अन्यत्र मिलनी कठिन है। किसी संदर्भ विशेषमें सम्बद्ध सभी आवश्यक जानकारी की बातें एकत्रै करना सामान्य साहित्य प्रेमीके किये हो ही नहीं सकता। ऐसे विशाल कार्योंमे तपस्या और साधनाकी जो अनिवार्यता रहती है वह इन महात्मामें दिखाई पड़ती है। मुझे आशा ही नहीं वरन् पूर्ण विश्वास है कि इनका श्रम अनेकानेक तुलसी प्रेमियोकी अधिकाधिक परितृप्तिका कारण बनेगा।

(५)

श्रीदेवेन्द्रनाथ शर्माजी, प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, हिन्दी विभाग,

पटना विश्वविद्यालय।

तुलसी-साहित्य वस्तुतः साधना-साहित्य है और उसका मर्म वही पूर्णतः उद्घाटित कर सकता है जिसका अध्ययन साधना-संवलित हो। 'विनय-पीयूष' के टीकाकार महात्मा श्रीअंजनीनंदनशरणजीमें ज्ञान और साधनाका मणि-कांचनयोग है। उन्होंने केवल ज्ञानके बलपर ही नहीं, साधना एवं आध्यात्मिक अनुभूतिके बलपर 'विनय पत्रिका' की टीका प्रस्तुत की है। स्वभावतः यह टीका उन टीकाओसे भिन्न और विशिष्ट है जो कोरे पद-पदार्थके ज्ञानके आधारपर

लिखी जाती है। यह टीका ऐसी है जिससे साधारण पाठक भी लाभान्वित होंगे और सुधी विद्वान् भी। शब्दार्थ, पदार्थ, अन्तर्कथाएँ, समानान्तर उक्तियाँ, अन्य टीकाकारोंके मत, पाठभेद आदि देकर मर्मज्ञ टीकाकारने कुछभी विवक्षित छोड़ा नहीं है असामान्य विद्वत्ता और धैर्यका प्रमाण है। 'विनयपत्रिका' की ऐसी सर्वांगपूर्ण टीका पहली बार देखनेको मिली। मुझे यह कहनेमें संकोच नहीं कि अबतक की प्रकाशित टीकाओंमें यह सर्वोत्तम है और इसके विद्वान् टीकाकार तुलसी-साहित्यके अनुरागियोंके हार्दिक आभारके भाजन हैं।

(६)

पं० जानकीनाथ शर्मा, गीता प्रेस, गोरखपुर

यह हिलोर (हिलोर ४) बहुत सुन्दर हुआ है। वास्तवमें विनयका मुख्य भाग तो यही है। इस अवस्थामें आपके श्रम,श्रद्धा,लगन रुचि आदिको देखकर सर्वथा आश्चर्यचकित रह जाना पड़ता है। पुस्तककी साइज भी अच्छी चुनी गयी है। फ्लाइंग-लीफका अभाव अवश्य खटकता है।

हिलोर ५ में आये हुए पदों की क्रमशः सूची

संकेताक्षरों का विवरण

'विनय–पत्रिका' की हस्तलिखित पोथियाँ		सांकेतिक अक्षर
१	सं० १६६६ वि० की श्रीभगवान ब्राह्मणकी लिखी प्रति, रामनगर	६६
२	सं० १८६६ वि० की श्रीचौधरी छुन्नीसिंहजीकी पोथी, रामनगर	६६
३	श्रीभागवतदासजीकी प्रतिलिपि, भोसला घाट, वाराणसी	भा०
४	सं० १८७८ वि० की श्रीबेनी कायस्थकी लिखी पोथी, मिरज़ापुर	बे०

५ सं० १८७६ वि० की श्रीप्रह्लाददासकी लिखी पोथी; बलरामपुर — प्र०
६ सं० १८६३ वि० की श्रीजमुनादास वैश्यकी लिखी पुस्तक, वाराणसी — ज०
७ सं० १६१५ वि० की श्रीरामरतनदास लिखित पोथी, श्रीअयोध्याजी — १५
८ ईजानगरके व्यास पं० श्रीगजाधरदासकी पोथी — रा०
९ बाबा रामदास बक्सर की रामतत्त्वबोधिनी टीका — रा०त०ब०
१० स्वर्गवासी पं० रामकुमारजीके खर्रे — खर्रा;पं०रा०कु०
११ महात्माश्रीभगवानसहायजीकी उर्दू में लिखी टीका सं० १९२९ वि० भ०स०

छपी हुई पुस्तकें:—

१ मूल वेङ्कटेश्वर प्रेस, बम्बई, सं० १९५१ व सं० १९५७ वि० — ५१
२ मुरादाबाद लक्ष्मीनारायणयन्त्रालयकी सं० १९७० की छपी मूल गुटका — मु०
३ चरखारीनरेशकी लीथोमे छपी सन् १८७६ की टीका — च०
४ बाबू शिवप्रकाश, डुमराँव, की 'तत्वबोधिनी' टीका, सं० १९४१ — डु०
५ श्रीवैजनाथजीकी लीथोमें छपी 'विनय प्रदीपक' टीका, सं० १९४७ — वै०
६ श्रीसीतारामीय बाबा हरिहरप्रसादजीकी टीका सन् १९०४ — ह०
७ पं० रामेश्वरभट्टजीकी टीका चतुर्थ संस्करण, सन् १९३१ — भ०
८ पं० महावीरप्रसाद मालवीय वीरकविकी टीका; सं० १९८० — ७४;वीर;
९ श्री वियोगीहरिजीकी श्रीहरितोषिणी टीका,सं.१९८०व १९८६ वि०, — वियोगी
१० लाला श्रीभगवानदीनजी 'दीन' की टीका, सं० १९८५ — दी०, दीन
११ मास्टर विहारीलाल, टीकमगढ़, की टीका — टी०
१२ पं० सूर्यदीनशुक्लकृत टीकाद्वितीयावृत्ति, सन् १९२८ — सू० शुक्ल;सू०शु०
१३ श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दारकी टीका, १६ वाँ संस्करण, सं० २०१३ — पो०
१४ पं० श्रीकान्तशरणजीकी टीका, सं० २०१३ वि० — श्री०श०
१५ 'डु०,मु०,वै०, भ० और दीन' का समुच्चय या इनमे से वे सब जो पाठान्तरमें दुबारा न आये हों। — आ०

ग्रन्थमें आये हुए कतिपय अन्य संकेताक्षरों की तालिका

अ० रा०	अध्यात्म रामायण	म०भा०शां०	महाभारत शान्ति पर्व
आ० रा०	आनन्द रामायण	म.भा.आश्व.	महाभारत आश्वमेधिकपर्व
कठ०	कठोपनिषद्	मार्कं०	मार्कण्डेय पुराण
क०	कवितावली	मुं०	मुण्डकोपनिषद्
गीता भाष्य	श्रीरामानुजभाष्य	रा०पू०ता०	रामपूर्वतापिन्युपनिषद्
गो०	गीतावली	रा०उ०ता०	रामोत्तरतापिन्युपनिषद्
छां०	छांदोग्य उपनिषद्	वाल्मी०	वाल्मीकीय रामायण
जा० ना०	पं० जानकीनाथ शर्मा	वि० पु०	विष्णुपुराण

तै०, तैत्ति०	तैत्तिरीयोपनिषत्
दो०	दोहावली
ना० पां०	नारदपञ्चरात्र
नृ०पू०ता०	नृसिंहपूर्वतापिन्युपनिषत्
प०पु०पा०	पद्मपुराण पाताल खंड
बृ०, बृह०	बृहदारण्यक उपनिषद्
भ०गु०द०	भगवद्गुणदर्पण
भा०	श्रीमद्भागवत
वि०स०ना०	विष्णुसहस्रनाम
वे०भू०	वेदान्तभूषण पं०रामकुमारदास
श०सा०	काशी नागरीप्रचारिणीसभाका हिंदी शब्दसागर, सन् १६१४
शां० भाष्य	श्रीशाङ्करभाष्य
श्वे०;श्वे०श्व०	श्वेताश्वतरोपनिषत्
सं०	संस्कृत; संहिता; संवत्; संक्षिप्त
स्क०	स्कन्द पुराण

☞ रामायणोंके बाल, अयोध्या, अरण्य, किष्किन्धा, सुंदर, लंका (युद्ध) और उत्तर कांडोंके लिये क्रमशः १,२,३,४,५,६ और ७ सूचक अंक दिये गये हैं।

☞ रामचरितमानसके उद्धरणोंमें प्रायः केवल कांड और दोहेके अंक (मानस पीयूष के मूल पाठके अनुसार) दिये गए हैं। जैसे, ७।१३ = उत्तरकांड दोहा १३ अथवा दोहा १३ में आई हुई अर्धालियाँ।

☞ 'विनय-पत्रिका' के उद्धरणमें केवल उन पदोंके अंक अथवा कहीं-कहीं पदांकके साथ कोष्टकमें अंतराका अंक भी दिया है। जैसे, १०५(२) = पद १०५ का अंतरा २। केवल १०५ देनेका भाव होगा कि उद्धरण पद १०५ का है।

☞ पदोंके शीर्षकमें संख्या बतानेवाले अंक कहीं-कहीं दो दो मिलेंगे, जिनमेंसे एक कोष्टकान्तर्गत होगा। यह कोष्टकान्तर्गत अंक सं० १६६६ वाली पोथीका अंक है। कोष्टकके बाहर पाठक के बायीं-ओरवाला अंक प्रायः अन्य प्रतियोंका है।

कुछ और भी ग्रन्थोंके नाम जो पिछली सूचियोंमें नहीं आये हैं

श्री दिव्यार्थ शीर्ष	बृहन्नन्दिकेश्वर पुराण
भरद्वाज (भारद्वाज संहिता)	मण्डूकोपनिषद की कारिका
यतिराज विंशति	रस कुसुमाकर
वेदोंमें रामकथा	हठयोगप्रदीपिका
संगीत दर्पण	संगीत दामोदर
संगीत नारायण	नन्दिकेश्वर कार्तिका
काशी केदार माहात्म्य	

ॐ नमो भगवते मंगलमूर्तये कृपानिधये गुरवे मर्कटाय श्रीरामदूताय सर्वविघ्नविनाशकाय क्षमामन्दिराय शरणागतवत्सलाय जनरक्षकाय श्रीसीतारामपदप्रेमपराभक्तिप्रदाय सर्वसङ्कटनिवारणाय श्रीहनुमते। परमाचार्याय श्रीमद्गोस्वामि तुलसीदासाय नमः।

श्रीसीतारामचन्द्राभ्यां नमः श्रीभरताय नमः श्रीलक्ष्मणाय नमः श्रीशत्रुघ्नाय नमः
यो नित्यमच्युतपदाम्बुजयुग्मरुक्म व्यामोहतस्तदितराणि तृणाय मेने।
अस्मद्गुरोर्भगवतोऽस्य दयैकसिन्धो श्रीरूपकलाब्जचरणौ शरणं प्रपद्ये॥।

"विनय-पत्रिका" उत्तरार्द्ध

(विनय-पीयूष तिलक सहित)

१३७ (४४)

जौं[1] पै कृपा रघुपति कृपाल की बैर और कें कहां[2] सरै।
होइ न बाँको बार भगत को जौं कोउ कोटि उपाइ करै॥१॥
तकै मीचु[3] जों नीचु साधु कों[5] सो पावरु[7] तेहि मीचु मरै।
बेदबिदित प्रह्लाद कथा सुनि को न भगति पथ पाउँ धरै॥२॥
गज उधारि हरि थप्यो बिभीषन, ध्रुव अबिचल कबहूँ न टरै।
अंबरीष की श्राप[8] सुरति करि अजहुँ महामुनि ग्लानि गरै॥३॥

---

१ जौं—६६, रा०, भ०, ७४। जो—भा०, वे०, ह०, ५१, आ०। २ कहां—६६। कहा—औरोमे। काह—१५। ३ मीचु—६६। नीचु (नीच)—औरोमे। ४ वीचु—६६, रा०। मीचु (मीच)—औरोमे। ☞'वीचु'के अर्थ—भेद, अंतर, फरक, अवसर, मौका हैं। इस पाठसे 'जो साधुकी मीचुको अवसर तकै' ऐसा अन्वयार्थ होगा। हमने 'व' की जगह 'न' अपनी समझसे रखा है। 'वीचु' का संभव है कि किसी कोशमे यहाँके अनुकूल कोई अर्थ और हो। ५ को—६६, रा०। की—औरोमे। ६ सो—६६, ७४, आ०। सोइ—रा०, भा०, वे०, ह०, दीन। ७ पावरु (पाँवरु)—६६, रा०, भ०, ७४। पामर—भा०, वे०, आ०। ८ श्राप—६६, रा०, ह०, ज०। साप—भा०, वे०, आ०।

सुधौं[9] कहा जो न कियो सुजोधन अबुध आपने मान जरै।
*प्रभु प्रसाद सौभाग्य विजय जसु पंडवन्है[10] बरिआइँ बरै ॥४॥
सपनेहु[†] सुख न संतद्रोही कहुँ[11] सुरतरु सोउ बिपफलनि फरै।
जोइ[12] जोइ कूप खनैगो पर[‡]कहुँ सोइ[14] सठ फिरि तेहि कूप परै ॥५॥
है काकें द्वै सीस ईस के जो हठि जन की सीम[15] चरै।
तुलसिदास रघुबीर बाँहबल सदा निडर[16] काहू न डरै ॥६॥

शब्दार्थ—जौं=यदि। पै=निश्चय ही। जौपै=यदि निश्चय ही। =यदि। सरना (सं० सरण=सरकना, चलना)=चल सकना; पूरा पड़ना; सिद्ध होना; हो सकना। बाँको (बाँका)=टेढ़ा। बार=बाल, केश। 'बाल बाँका न होना' मुहावरा है, 'कुछ भी कष्ट या हानि न पहुँचना,' 'पूर्णरूपसे सुरक्षित रहना' अर्थमें इसका प्रयोग होता है। तकना=सोचना विचारना, चाहना। पावरु (पामर)=नीच, पापी। पाँउ (पाँव) धरना=अग्रसर वा प्रवृत्त होना; पैर रखना; चलना। उधारि=उद्धारकर; मुक्त करके। थपना=स्थापित करना। स्थिररूपसे प्रतिष्ठित करना। अविचल=अटल; चलायमान न होनेवाला। टरै=टले। सुरनि=स्मरण, याद। महामुनि=बड़े भारी मुनि शंकरावतार श्रीदुर्वासाजी। गरना=गलना, गड़ना।

---

९ सुधौं—६६, रा०। सो धौं—आ०। 'सो न कहा जो कियो' यह पाठ भा०, वे०, ह०, ७४, प्र०, १५ मे है। सो धौं कहा जु न कियो—५१। * यह पंक्ति लेखककी भूलसे पोथीमे छूट गई है। चौधरी छन्नूसिहजीने दूसरी पुस्तकमे देखकर हाशिये पर छूटी पंक्ति लिखी है। उसमे 'प्रभुप्रसाद सौभाग्य बिजै जस पडुतनै बरिआइ बरै' पाठ है। १० पडुवन्है—रा०, १५। पंडवन्हो—प्र०। पाडवनै-७४। पांडवनै—भा०, वे०, ह०, दु०, मु०, वै०। पांडुतनै—दीनजी, वि०। पांडुन नै—भा०। ☞'पांडव' का बहुवचन 'पाडवन्ह' है। 'हि' कर्मकारक प्रत्यय लगनेसे 'पांडवन्है' रूप होगा। १६६६ की प्रतिसे सबसे अधिक मिलती हुई पोथी ('रा०')मे 'पंडवन्है' पाठ है जो व्याकरणमे शुद्ध है, अतः हमने उसीको दिया है। † ६६ मे यह पंक्ति पूर्वार्ध है, अन्य सबोमे यह उत्तरार्ध है। ११ को-भा०, वे०। १२ जोइ जोइ—६६, रा०, भा०, वे०, भ०। जो जो-आ०, ७४। ‡ कुल—६६, रा०। पर—प्रायः औरोमे। ☞'कुल' का विशेष संगत अर्थ कोई यहाँ समझमे नही आया; इसलिये मैंने 'पर' को ग्रहण किया है। १४ सोइ—६६, रा०, भ० सो—भा०, वे०, आ०। १५ सीउ—ह०। सीव—१५। १६ निडर—६६, रा०, प्र०, ज०, भ०। अभय—भा०, वे०, ७४, आ०, ह०।

सु धौं = सो धौं = वह भला ? 'धौं' का प्रयोग जोर देनेके लिये ऐसे प्रश्नोंके पहले 'तो' या 'भला' के अर्थमें होता है जिनका उत्तर काकुसे 'नहीं' होता है। यह प्रायः 'कहु' या 'कहो' के साथ आता है और 'कहो तो', 'भला', 'न जाने' अर्थमें प्रयुक्त होता है। सुजोधन [सं० सुयोधन, 'सुष्ठु शोभते युधि यः सः' अर्थात् जो युद्धमें कुशल है। (दीनजी)]=दुर्योधन। अबुध= निर्बुद्धि; मूर्ख। 'अपने मान जलना' = अपने ही अभिमानसे जलता रहना। प्रसाद = प्रसन्नता; कृपा। पंडवन्ह = पांडवन्ह; यह 'पांडव' का बहुवचन है। पंडवन्हे = पाण्डवोंको ही। बरना = स्वामीरूपमें अंगीकार करना; अपनाना। खनना = खोदना। काकें = किसके। द्वै सीस = दो सिर। 'दो सिर होना' मुहावरा है। अर्थात् कौन ऐसा दुस्साहसी है जो मरनेको नहीं डरता, किसका एक सिर फालतू है कि एकके कट जानेपर जान तो बचा लेगा। यथा 'अनहित तोर प्रिया केइँ कीन्हा। केहि दुइ सिर केहि जमु चह लीन्हा।२।२६।१।' सीम = सीमा; मर्यादा। चरना = चलना; उल्लंघन करना, घूमना-फिरना। सीम चरना = मर्यादा नष्ट करना; हदमें चलना वा अधिकार जमाना।

पद्यार्थ—यदि निश्चय ही कृपाल श्रीरघुनाथजीकी कृपा है तो और लोगोंके वैर कहाँ चल सकते हैं (अर्थात् दूसरेके वैरसे क्या हो सकता है ? कुछ भी तो नहीं)। यदि कोई करोड़ों उपाय करे (तो भी) भक्तका (एक) बाल (भी) बाँका नहीं हो सकता ॥ १ ॥ जो नीच साधुकी मृत्यु चाहता है वह नीच उसी मृत्युसे मरता है। प्रह्लादजीकी कथा वेदोंमें प्रसिद्ध है। (उसे) सुनकर (भला) कौन भक्तिमार्गपर पैर न रक्खेगा ? अर्थात् भक्ति कौन न करेगा, भक्तिपथपर आरूढ़ न होगा ॥ २ ॥ गजेन्द्रका उद्धारकर भगवान्ने विभीषणजीको (लंकाके राज्यपर) स्थापित किया और ध्रुवजीको अविचल (पदपर) स्थापित किया जो कभी टल न सके अर्थात् जहाँसे कभी पतन न हो। अम्बरीषजीकी शाप अर्थात् अम्बरीषजीको जो शाप दिया था, उसको स्मरणकर आज भी महामुनि दुर्वासाजी ग्लानिसे गले वा गड़े जाते हैं अर्थात् लज्जित होते सकुचा जाते हैं ॥ ३ ॥ भला कहिए तो वह क्या है जो दुर्योधनने न किया हो। (अर्थात् उसने पाण्डवोंके नाशके लिये कोई भी कुचाल उठा न रक्खी, सभी उपाय किये) मूर्ख अपने ही अभिमानसे जलता रहा। प्रभुकी कृपासे सौभाग्य, विजय और यशने हठपूर्वक पाण्डवोंको ही अपनाया ॥ ४ ॥ सन्तोंसे द्रोह करनेवालेको स्वप्नमें भी सुख नहीं। कल्पवृक्ष हो तो वह भी (उसके लिये) विष-फल फलता है और फलेगा। जो-जो भी दूसरेके लिये कुआँ खोदेगा,

वह मूर्ख घूम-फिरकर उसी कुएँमें गिरेगा ॥ ५ ॥ किसके दो सिर हैं जो हठपूर्वक समर्थ परमात्माके भक्तकी सीमाका उल्लंघन करे। तुलसीदास! जिसे श्रीरघुवीरके बाँहका बल है, वह सदा निर्भय है, किसीको नहीं डरता ॥ ६ ॥

टिप्पणी १—'बैर और कें कहाँ सरै।···कोटि उपाय करै।' इति। करोड़ों अर्थात् अगणित। यंत्र, मंत्र, तंत्रके सभी प्रयोग, भूत-प्रेत-राक्षस आदिकी माया, दैवीकोप, दैवीमाया प्रलोभन, ऐश्वर्य द्वारा कृत बाधायें, विष देना, खौलते तेलके कड़ाहमें डालना, अग्निमें डालना, पर्वतसे गिराना, जलमें डुबाना, अस्त्र-शस्त्रसे मारना, इत्यादि सब उपाय 'कोटि' में कह दिये। [मिलान कीजिए—'जाको मनमोहन अंग करै। ताको केस खसै नहिं सिर तें जो जग बैर परै।' (सूरदास), 'जाको राखै साइयाँ मारि न सकै कोइ। बार न बाँका करि सकै जो जग बैरी होइ।' (कबीरजी)।—(दीनजी)] भगवान्‌के आश्रित भक्तोंको देवता भी तेज, लक्ष्मी, यश या सेनाद्वारा पराजित नहीं कर सकते, मनुष्योंकी तो बात ही क्या?—'न कश्चिन्मत्परं लोके तेजसा यशसा श्रिया। विभूतिभिर्वाऽभिभवेद्देवोऽपि किमु पार्थिवः। भा० १०।७२।११।', 'कुमयाँ कछु हानि न औरनि कीं, जोपै जानकीनाथु मया करिहैं। क० ७।४७।'

२ (क) 'तकै मीचु जों नीचु···' इति। नीच ही साधुसे द्रोह करते हैं, यथा 'मैं खल मलसंकुलमति नीच जाति बस मोह। हरिजन द्विज देखे जरउँ करउँ बिप्नुकर द्रोह ।७।१०५।'' जेहि ते नीच बड़ाई पावा। सो प्रथमहि हति ताहि नसावा ॥', 'रावनरिपुके दासतें कायर करहिं कुचालि। खरदूपन मारीच ज्यों नीच जाहिंगे कालि। दो० १४५।' वह नीच मृत्युका जो उपाय साधुके लिये सोचता है, वह स्वयं उसी मृत्यु उपायसे मरता है। यही सिद्धान्त शुकदेवजीका है जो उन्होंने (भद्रकाली ही द्वारा जड़भरतकी रक्षा और पुरोहितसहित बलि प्रदान करनेवालोंका उन्हींकी तलवारसे वध होनेपर) परीक्षितजीसे कहा है। यथा 'एवमेव खलु महदभिचारातिक्रमः कार्त्स्न्येनात्मने फलति। भा० ५।९।१९।' (अर्थात् यह निश्चय है कि जो मनुष्य किसी महापुरुषका अहित करना चाहता है, उसका उसी तरहसे अहित होता है।)

२ (ख) 'वेद बिदित प्रहलाद कथा···' इति। उदाहरण देते हैं। जैसे प्रह्लादजीको होलिका (हिरण्यकशिपुकी बहिन) गोदमें लेकर उसको जलानेके लिये अग्निमें बैठी क्योंकि उसको अग्निकी सिद्धि थी, वर था कि अग्निसे न जलेगी। यथा 'ततः प्रसन्नो भगवान् सर्वलोकपितामहः।

होलिकायै ददौ प्रीत्या शीतलं चीरमुत्तमम् । ब्र० पु० ।' सो भक्तापराधसे वह स्वयं भस्म हो गई और प्रह्लादजीको आग शीतल हो गई । उन्होंने पितासे कहा,—'रामनामजपतां कुतो भयं, सर्वतापशमनैकभेषजम् । पश्य तात मम गात्रसन्निधौ, पावकोऽपि सलिलायतेऽधुना ।' ('चित्तसम्बोधनम्' से उद्धृत) अर्थात् सम्पूर्ण तापोंका नाश करनेवाले एकमात्र औषध 'रामनाम' के जापकको किससे भय हो सकता है ? हे तात ! देखिए मेरे शरीरको समीपवर्ती अग्नि भी जलके समान शीतल हो गई है। पुनश्च यथा 'तातैष वह्निः पवनेरितोऽपि न मां दहत्यत्र समन्ततोऽहम् । पश्यामि पद्मास्तरणास्तृतानि शीतानि सर्वाणि दिशास्मुखानि ।।' (वि० पु०१।१७।४७) । अर्थात् 'हे तात ! पवनसे प्रेरित यह अग्नि भी मुझे नहीं जलाती । मुझको तो सभी दिशाएँ ऐसी शीतल प्रतीत होती हैं, मानों मेरे चारों ओर कमलके पर्दे टँगे हों ।' हिरण्यकशिपु जब स्वयं तलवार लेकर उन्हें मारने चला तब भगवान् वहीं खम्भसे प्रकट हो गये और हिरण्यकशिपुको ही वध कर डाला । हिरण्यकशिपुने प्रह्लादके मारनेके अगणित उपाय किये थे जो सभी निष्फल हुए, यह सभी जानते हैं ।

२ (ग) वैर करके अनेक उपाय मारनेके करनेपर भी वैरी कुछ कर न सका, भगवद्भक्तको मार न सका,—इसके छः दृष्टान्त दिये, प्रह्लाद, गजेन्द्र, विभीषण, ध्रुव, अंबरीष और पांडव । इनमें प्रह्लादजीको प्रथम कहा, क्योंकि एक तो दैत्यकुलोद्भव होनेपर भी ये अद्वितीय नामानन्य प्रेमी भक्त हुए । गोस्वामीजीने लिखा है—'सेवक एकतें एक अनेक भए तुलसी तिहुँ ताप न डाढ़े । प्रेम वदौ प्रहलादहिको, जिन पाहनते परमेश्वर काढे । क० ७।१२७ ।' दूसरे, ये निष्काम भक्त थे । भगवान् नृसिंहके वरोंके प्रलोभन देनेपर भी इन्होंने उत्तर दिया था कि जो सेवक आपसे कामनापूर्तिकी इच्छा रखनेवाले है वे सेवक नहीं हैं, वे तो कोरे व्यापारी हैं,—'यस्त आशिष आशास्ते न स भृत्यःस वै वणिक् । भा० ७।१०।४।' तीसरे, केवल हरिभक्ति करने, हरिकीर्तन करने, नाम जपनेके ही कारण इन्हें अनेक कष्ट झेलने पड़े । चौथे, इनको कष्ट देनेवाला भी ऐसा था कि जिससे तीनों लोक काँपते थे, उस हिरण्यकशिपुसे त्रैलोक्यमें इनकी रक्षा कोई न कर सकता था, ऐसा त्रैलोक्यविजयी भी इनका बाल न बाँका कर सका । पाँचवें, इनको मार डालनेके लिये एक भी उपाय उठा न रक्खा गया, अगणित उपाय और वे भी प्रकट रूपसे किये गये । इतना कष्ट आजतक किसी और भक्तको शायद ही दिया गया हो । इतने उपाय किये जानेपर भी प्रह्लादके चित्तमे मलिनता

वह मूर्ख घूम-फिरकर उसी कुएँमें गिरेगा ॥ ५ ॥ किसके दो सिर हैं जो हठपूर्वक समर्थ परमात्माके भक्तकी सीमाका उल्लंघन करे। तुलसीदास! जिसे श्रीरघुवीरके बाँहका बल है, वह सदा निर्भय है, किसीको नहीं डरता ॥ ६ ॥

टिप्पणी १—'वैर और कैं कहाँ सरै।···कोटि उपाय करै।' इति। करोड़ों अर्थात् अगणित। यंत्र, मंत्र, तंत्रके सभी प्रयोग, भूत-प्रेत-राक्षस आदिकी माया, दैवीकोप, दैवीमाया प्रलोभन, ऐश्वर्य द्वारा कृत बाधायें, विष देना, खौलते तेलके कड़ाहमें डालना, अग्निमें डालना, पर्वतसे गिराना, जलमें डुबाना, अस्त्र-शस्त्रसे मारना, इत्यादि सब उपाय 'कोटि' में कह दिये। [मिलान कीजिए—'जाको मनमोहन अंग करै। ताको केस खसै नहिं सिर तें जो जग वैर परै।' (सूरदास), 'जाको राखे साइयाँ मारि न सक्कै कोइ। बार न बाँका करि सकै जो जग वैरी होइ।' (कबीरजी)।-(दीनजी)] भगवान्‌के आश्रित भक्तोंको देवता भी तेज, लक्ष्मी, यश या सेनाद्वारा पराजित नहीं कर सकते, मनुष्योंकी तो बात ही क्या?—'न कश्चिन्मत्परं लोके तेजसा यशसा श्रिया। विभूतिभिर्वाऽभिभवेद्देवोऽपि किमु पार्थिवः। भा० १०।७२।११।', 'कुमयाँ कछु हानि न औरनि कीं, जोपै जानकीनाथु मया करिहैं। क० ७।४७।'

२ (क) 'तकै मीचु जों नीचु···' इति। नीच ही साधुसे द्रोह करते हैं, यथा 'मैं खल मलसंकुलमति नीच जाति बस मोह। हरिजन द्विज देखे जरउँ करउँ विष्नुकर द्रोह।७।१०५।·· जेहि ते नीच बड़ाई पावा। सो प्रथमहि हति ताहि नसावा॥', 'रावनरिपुके दासतें कायर करहिं कुचालि। खरदूषन मारीच ज्यों नीच जाहिंगे कालि। दो० १४५।' वह नीच मृत्युका जो उपाय साधुके लिये सोचता है, वह स्वयं उसी मृत्यु उपायसे मरता है। यही सिद्धान्त शुकदेवजीका है जो उन्होंने (भद्रकाली ही द्वारा जड़-भरतकी रक्षा और पुरोहितसहित बलि प्रदान करनेवालोंका उन्हींकी तलवारसे वध होनेपर) परीक्षितजीसे कहा है। यथा 'एवमेव खलु महद्-भिचारातिक्रमः कात्स्न्येनात्मने फलति। भा० ५।६।१६।' (अर्थात् यह निश्चय है कि जो मनुष्य किसी महापुरुषका अहित करना चाहता है, उसका उसी तरहसे अहित होता है।)

२ (ख) 'वेद विदित प्रहलाद कथा···' इति। उदाहरण देते हैं। जैसे प्रह्लादजीको होलिका (हिरण्यकशिपुकी बहिन) गोदमें लेकर उसको जलानेके लिये अग्निमें बैठी क्योंकि उसको अग्निकी सिद्धि थी, वर था कि अग्निसे न जलेगी। यथा 'ततः प्रसन्नो भगवान् सर्वलोकपितामहः।

होलिकायै ददौ प्रीत्या शीतलं चीरमुत्तमम्। ब्र० पु०।' सो भक्तापराधसे वह स्वयं भस्म हो गई और प्रह्लादजीको आग शीतल हो गई। उन्होंने पितासे कहा,—'रामनामजपतां कुतो भयं, सर्वतापशमनैकभेषजम्। पश्य तात मम गात्रसन्निधौ, पावकोऽपि सलिलायतेऽधुना।' ('चित्तसम्बोधनम्' से उद्धृत) अर्थात् सम्पूर्ण तापोंका नाश करनेवाले एकमात्र औषध 'रामनाम' के जापकको किससे भय हो सकता है? हे तात! देखिए मेरे शरीरको समीपवर्ती अग्नि भी जलके समान शीतल हो गई है। पुनश्च यथा 'तातैष वह्निः पवनेरितोऽपि न मां दहत्यत्र समन्ततोऽहम्। पश्यामि पद्मास्तरणास्तृतानि शीतानि सर्वाणि दिशास्मुखानि॥' (वि० पु०१।१७।४७)। अर्थात् 'हे तात! पवनसे प्रेरित यह अग्नि भी मुझे नहीं जलाती। मुझको तो सभी दिशाएँ ऐसी शीतल प्रतीत होती हैं, मानों मेरे चारों ओर कमलके पर्दे टँगे हों।' हिरण्यकशिपु जब स्वयं तलवार लेकर उन्हें मारने चला तब भगवान् वहीं खम्भसे प्रकट हो गये और हिरण्यकशिपुको ही वध कर डाला। हिरण्यकशिपुने प्रह्लादके मारनेके अगणित उपाय किये थे जो सभी निष्फल हुए, यह सभी जानते हैं।

२ (ग) वैर करके अनेक उपाय मारनेके करनेपर भी वैरी कुछ कर न सका, भगवद्भक्तको मार न सका,—इसके छः दृष्टान्त दिये, प्रह्लाद, गजेन्द्र, विभीषण, ध्रुव, अंबरीष और पांडव। इनमें प्रह्लादजीको प्रथम कहा, क्योंकि एक तो दैत्यकुलोद्भव होनेपर भी ये अद्वितीय नामानन्य प्रेमी भक्त हुए। गोस्वामीजीने लिखा है—'सेवक एकतें एक अनेक भए तुलसी तिहुँ ताप न डाढ़े। प्रेम वदौ प्रहलादहिको, जिन पाहनते परमेस्वर काढे। क० ७।१२७।' दूसरे, ये निष्काम भक्त थे। भगवान् नृसिंहके वरोंके प्रलोभन देनेपर भी इन्होंने उत्तर दिया था कि जो सेवक आपसे कामनापूर्तिकी इच्छा रखनेवाले है वे सेवक नहीं हैं, वे तो कोरे व्यापारी हैं,—'यस्त आशिष आशास्ते न स भृत्यःस वै वणिक्। भा० ७।१०।४।' तीसरे, केवल हरिभक्ति करने, हरिकीर्तन करने, नाम जपनेके ही कारण इन्हें अनेक कष्ट झेलने पड़े। चौथे, इनको कष्ट देनेवाला भी ऐसा था कि जिससे तीनों लोक काँपते थे, उस हिरण्यकशिपुसे त्रैलोक्यमें इनकी रक्षा कोई न कर सकता था, ऐसा त्रैलोक्यविजयी भी इनका बाल न बाँका कर सका। पाँचवें, इनको मार डालनेके लिये एक भी उपाय उठा न रक्खा गया, अगणित उपाय और वे भी प्रकट रूपसे किये गये। इतना कष्ट आजतक किसी और भक्तको शायद ही दिया गया हो। इतने उपाय किये जानेपर भी प्रह्लादके चित्तमे मलिनता

न आई, सब कष्ट उन्होने प्रसन्नतापूर्वक अंगीकार किये, पर भक्तिका त्याग न किया। इसीसे तो द्वादश महाभागवतोमे इनकी गणना सबसे प्रथम की गई है।

नारदजीने युधिष्ठिरजीसे कहा है कि देवगण उनके प्रतिपक्षी होनेपर भी, सभामें साधु-पुरुषोंकी चर्चा होनेपर उन प्रह्लादजीका दृष्टान्त दिया करते हैं, तब आप-ऐसे भक्त उनका आदर करें तो कहना ही क्या है?—'यं साधुगाथासदसि रिपवोऽपि सुरा नृप। प्रतिमानं प्रकुर्वन्ति किमुतान्ये भवादृशाः। भा० ७।४।३५।' भगवान्‌ने भी प्रह्लादसे कहा है कि तुम निश्चय ही मेरे संपूर्ण भक्तोमे आदर्शस्वरूप हो। यथा 'भवान्मे खलु भक्तानां सर्वेषां प्रतिरूपधृक्। भा० ७।१०।२१।' मानसमें भी कहा है—'भगतसिरोमनि भे प्रह्लादू।'—अतएव सर्वप्रथम इनका नाम दिया गया। क० ७।१३० में थोड़े ही शब्दोंमें कविने बहुत-कुछ कह दिया है—'बालकु बोलि दियो बलि कालको, कायर कोटि कुचालि चलाई। पापी है बाप, बडे परिताप तें आपनि ओर तें खोरि न लाई॥ भूरि दई विषमूरि, भई प्रहलाद सुधाई सुधाकी मलाई। राम-कृपा तुलसी जनको जग होत भलेको भलोइ भलाई॥'—प्रह्लादजीकी कथायें ५२(४ घ) नोट ६, ६३ (३क-ख) में देखिये।

२ (घ) 'को न भगति पथ पाउँ धरै' अर्थात् जो इनकी कथा सुनता है, उसे भगवान्‌की रक्षामें दृढ़ विश्वास हो जाता है। वह समझने लगता है कि 'आरतपाल कृपाल जो राम जेही सुमिरे तेहिको तहँ ठाढ़े।', 'रामकृपा तुलसी जनको जग होत भलेको भलोई भलाई।' (क० ७।१२७, १३०)। विश्वास होनेसे वह भक्ति करने लगता है। यथा 'प्रीति प्रतीति बढ़ी तुलसी, तब तें सब पाहन पूजन लागे। क० ७।१२८।' 'को न भगति''' मे ध्वनितार्थ यह भी है कि कथा सुनकर भी भक्ति न करे, वह अभागा है। देखिए, उनकी कथामें श्रोताओंको यह बात भी सुननेको मिलेगी कि भगवान्‌का इस संबंधमें आशीर्वचन भी है कि 'संसारमे जो भी लोग तुम्हारा अनुकरण करेंगे वे मेरे भक्त हो जायँगे।—'भवन्ति पुरुषा लोके मद्भक्तास्त्वामनुव्रताः। भा० ७।१०।२१।', अत कविजी कहते हैं—'को न भगति पथ पाउँ धरै?'

३ (क) 'गज उधारि हरि थप्यो विभीषन''' इति। दूसरा दृष्टान्त गजका दिया। गजेन्द्र और ग्राहकी खींचातानी दिव्य हजार वर्षतक रही, इतने वर्षोतक ग्राह उसे ग्रसे खींचता रहा, गजेन्द्रके प्राण संकटमें पड़ गए। यथा 'समाः सहस्रं व्यगमन्महीपते', 'इत्थं गजेन्द्रः स यदाऽऽप सङ्कटं प्राणस्य देही विवशो यदृच्छया।' (भा० ८।२।२९,३१)। भगवान्‌की शरण पुकारते ही उन्होंने गजेन्द्रको ग्राहके पाशसे छुड़ा दिया। गजेन्द्रके उद्धारकी कथा ८३ (६ ग) में देखिए।

'थप्यो बिभीषन' कहकर जनाया कि वह राज्यसे निकाल दिया गया था। विभीषणको रावणने लात मारकर निकाल दिया, यही रावणकी मृत्युका कारण हुआ। यथा 'वेद बिरुद्ध मही मुनि साधु ससोक किए सुर-लोक उजारो। और कहा कहौं तीय हरी, तबहूँ करुनाकर कोप न धारो॥ सेवक छोह तें छाड़ी छमा तुलसी लख्यो राम सुभाउ तिहारो। तौ लौं न दापु दल्यो दसकंधर जौ लौं बिभीषन लात न मारो। क० ७।३।' रावणने इनको मारने-को वीरघातिनी शक्ति चलाई, उसे श्रीरामजीने अपने ऊपर ले ली, विभीषणको सामनेसे हटाकर उनकी रक्षा की। यथा 'पुनि दसकंठ क्रुद्ध होइ छाँड़ी सक्ति प्रचंड। चली बिभीषन सनमुख मनहुँ कालकर दंड। ६।९२। आवत देखि सक्ति अति घोरा। प्रनतारतिभंजन पन मोरा॥ तुरत बिभीषन पाछें मेला। सनमुख राम सहेउ सोइ सेला॥'—इस प्रकार विभीषणकी पहले तो रावणसे रक्षा की। फिर रावणका वधकर इनको लंकाका राज्य दिया। ६६(२ ग) देखिए। कथा सब जानते हैं।—'नीच निसाचर बैरीको बंधु बिभीषनु कीन्ह पुरंदर जैसो। क० ७।४।'

३ (ख) 'ध्रुव अबिचल कबहूँ न टरै'।—सौतेली माँने इनसे बैर किया, अपने पुत्र उत्तमको राजाकी गोदका अधिकारी माना, ध्रुवको पिताकी गोदमें न बैठने दिया। वे भगवान्‌की शरण गए। भगवान् उनपर प्रसन्न हुए। सौतेली माताको जिस पुत्रका गर्व था वह गंधर्वों द्वारा मारा गया। इनको पिताका राज्य और अचल अनुपम ध्रुवलोक मिला। कथा ६६(२ग), ८६ नोट २ में देखिये।

३ (ग) 'अंबरीषकी श्राप सुरति ···' इति।—अंबरीषजीके बदलेमें भगवान्‌के दश बार अवतार लेनेकी कथा ६८(५ ग) में आई है। किन्तु वह प्रसंग दूसरा है। यहाँका प्रसंग दूसरा है। महामुनिने उनको शाप दिया, पर वह कुछ प्रभाव डाल न सका। 'महामुनि'का भाव कि यद्यपि ये रुद्रावतार हैं, महान् भारी मुनि हैं, ब्राह्मण हैं, इनका शाप, इनका कोप व्यर्थ नहीं जाता, तथापि अम्बरीषजी महाभागवत थे, उनका अहित इन्होंने चाहा, उनको भस्म करना चाहा, अतः इनका शाप व्यर्थ हुआ, अंबरीषजीका बाल बाँका न हुआ; उलटे इन्हींको अपने प्राणके लाले पड़ गए। यथा 'नाभागादम्बरीषोऽभून्महाभागवतः कृती। नास्पृशद् ब्रह्मशापोऽपि यं न प्रतिहतः क्वचित्। भा० ९।४।१३।'

प्रथम अंबरीषजी कैसे महाभागवत थे, यह सुनिये।—ये संसारके सारे वैभवको मिट्टी समान समझते थे, अस्त्र-शस्त्र-सेना-कोष आदि सबको असत्य मानकर भगवान्‌की ऐकान्तिकी भक्ति करते थे। वाणी प्रभुके गुण-

गानमे, हाथ प्रभुका मंदिर झाड़ने बुहारनेमे, कान कथाश्रवणमे, नेत्र भगवत् विग्रहके दर्शनमे, अंग हरिभक्तोंके शरीरके स्पर्शमे, नाक तुलसीप्रसादकी सुगंध लेनेमे, जिह्वा भगवत्प्रसाद पदार्थके पानेमे, पैर भगवान्के क्षेत्रोंमे जानेमे और सिर भगवान्के प्रणाम करनेमे लगे रहते थे। इत्यादि। उनकी एकान्त भक्तिभावसे प्रसन्न होकर भगवान्ने अपने भक्तकी रक्षाके लिए शत्रुओंको भय देनेवाले सुदर्शनचक्रको वहाँ नियुक्त कर दिया। यथा—'वासुदेवे भगवति तद्भक्तेषु च साधुषु। प्राप्तो भावं परं विश्वं येनेदं लोष्टवत् स्मृतम् ।१७। स वै मनः कृष्णपदारविन्दयोर्वचांसि वैकुण्ठगुणानुवर्णने। करौ हरेर्मन्दिरमार्जनादिषु श्रुतिं चकाराच्युतसत्कथोदये ।१८। मुकुन्दलिङ्गालयदर्शने दृशौ तद्भृत्यगात्रस्पर्शेऽङ्गसङ्गमम्। घ्राणं च तत्पादसरोजसौरभे श्रीमत्तुलस्या रसनां तदर्पिते ।१९। पादौ हरेः क्षेत्रपदानुसर्पणे शिरो हृषीकेशपदाभिवन्दने। कामं च दास्ये न तु कामकाम्यया यथोत्तमश्लोकजनाश्रया रतिः ।२०।...तस्मा अदाद्धरिश्चक्रं प्रत्यनीकभयावहम्। एकान्तभक्तिभावेन प्रीतो भृत्याभिरक्षणम् ।२८।' (भा० ९।४)।

अब शापका प्रसंग सुनिये। यह प्रसंग भा० ९।४।२९ से प्रारंभ होता है।

एक बारकी बात है कि अम्बरीषजीने अपने सदृश स्वभाववाली राजमहिषीके साथ एक वर्षतक द्वादशी व्रत (एकादशीव्रत करके द्वादशीमें पारण) करनेका नियम लिया।—'...साम्वत्सरं वीरो दधार द्वादशीव्रतम्।' व्रतकी समाप्तिपर कार्त्तिक मासमें उन्होंने त्रिरात्रिव्रतकर यमुना स्नान किया। फिर भगवान् हरि, केशव और ब्राह्मणोंका क्रमशः पूजन किया, और भूरि-भूरि दान दिया तथा भोजन कराया। ब्राह्मणोंने तब पारणकी आज्ञा दी। उसी समय दुर्वासाजी उनके अतिथि बनकर आ पहुँचे। राजाने विधिवत् पूजाकर भोजनके लिये प्रार्थना की। प्रार्थना स्वीकारकर दुर्वासाजी आवश्यक कृत्योंसे निवृत्त होनेको यमुनातटपर गए और स्नानकर ब्रह्मका ध्यान करने लगे। जब द्वादशी केवल आधा मुहूर्त्त शेष रह गई तब धर्मज्ञ राजा धर्मसंकटमें पड़ गए, क्योंकि अतिथिको बिना भोजन कराये पारण करनेमें दोष है और द्वादशीमें न पारण कर लेना भी दोष है। अतः उन्होंने विद्वान् ब्राह्मणोंसे परामर्श किया। अन्तमें यह निश्चयकर कि केवल जल पी लेना भोजन है भी और नहीं भी है, ऐसा ब्राह्मणोंका कथन है, उन्होंने जलसे पारण कर लिया।

तत्पश्चात् दुर्वासाजी लौटे और बुद्धिबलसे यह जानकर कि इसने पारण किया है, वे महा कुपित हुए कि इसे अपने सामर्थ्यका बड़ा अभिमान है, इसने आतिथ्य धर्मकी मर्यादा भंग कर दी। और राजासे बोले कि मैं इसका फल तुझे अभी देता हूँ—'सद्यस्ते दर्शये फलम्। श्लो० ४५।' यह कहकर

उन्होंने अपनी जटाका एक बाल उखाड़कर उससे कालाग्निके समान कृत्यानल राक्षसीको उत्पन्न किया, जो तलवार लिये पृथिवीको कंपित करती हुई राजाकी ओर लपकी। राजा अपने स्थानसे विचलित न हुए। राजाकी रक्षाके लिये नियुक्त श्रीचक्रसुदर्शनने यह देख कृत्याको भस्म कर दिया और दुर्वासाजीकी ओर चले। ऊँची-ऊँची लपटोंके दावानलके समान दौड़ता हुआ चक्र उनके पीछे-पीछे दौड़ता गया। दुर्वासाजी सब दिशाओं-विदिशाओं, सुमेरुकी गुफा, लोकपालोंके स्थानों, स्वर्ग, ब्रह्मलोकमें ब्रह्माजीके पास एवं कैलासपर महादेवकी शरणमें गए। चक्रसुदर्शनसे कहीं भी कोई उनकी रक्षा न कर सका। भगवान् शंकरके उपदेशसे वे हरिकी शरण गए। भगवान्‌ने कहा—"मै परतन्त्रके समान भक्तोके अधीन रहता हूँ। उन साधुओने मेरे हृदयपर अधिकार कर रक्खा है, मैं भक्तजनोंका सदासे प्रिय रहता आ रहा हूँ।—'अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतंत्र इव द्विज। साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः श्लो० ६३।' जिनकी एक मात्र परमगति मैं ही हूँ, उन अपने भक्तोको त्यागकर मै अपने शरीरको और आत्यन्तिकी लक्ष्मीजीको भी नही चाहता। जो अपने स्त्री, घर, पुत्र, बंधुवर्ग, परम प्रिय प्राण, धन, इहलोक तथा परलोक सब कुछ छोड़कर मेरी ही शरण आ गए हैं, भला मैं उन्हे कैसे छोड सकता हूँ? जैसे पतिव्रता अपने सत्पतिको वशमे कर लेती है, उसी प्रकार जिन्होने अपना हृदय मुझमे लगा दिया है, वे समदर्शी साधु मुझको अपने अधीन कर लिया करते है। मेरे भक्त मेरी सेवासे ही संतुष्ट रहकर उस सेवासे प्राप्त होनेवाली सालोक्यादि चारों मुक्तियोंकी भी चाह नहीं करते, तब कालक्रमसे नष्ट हो जानेवाले अन्य भोगोंकी तो बात ही क्या है? साधु मेरे हृदय हैं और मैं साधुओंका हृदय हूँ। वे मेरे सिवा और कुछ नहीं जानते और मैं भी उनके सिवा और कुछ नहीं जानता।—'साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम्। मदन्यत्ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि। श्लो० ६८।'—अतः जिसके साथ दुर्व्यवहार करनेसे तुमको यह दुःख हुआ है, तुम उसकी शरण जाओ और क्षमा माँगो, तब दुःख शान्त होगा।

तब दुर्वासाजीने आकर अंबरीषजीके चरण पकड़े। राजाने चक्र-सुदर्शनकी स्तुति की और ब्राह्मणके संतापको दूर करनेकी प्रार्थना की, तब सुदर्शनचक्रजीने अपना तेज छिपा लिया।

३ (घ) 'अजहुँ महामुनि ग्लानि गरै' इति। दुर्वासाजीने कहा था कि "अभी तुझे मैं फल चखाता हूँ" वह शाप व्यर्थ हुआ। कृत्यानलको राजाको भस्म करनेकी आज्ञा तथा वह कृत्या भक्तापराधसे स्वयं भस्म हुई। यह भी शक्ति व्यर्थ हुई। सुदर्शनचक्रसे तीनों लोकोंमें कोई रक्षा न कर सका और सुदर्शनचक्र जिनके आयुध हैं, उन्होंने भी रक्षा न की। जिसको

शाप दिया था, जिसको भस्म करना चाहते थे, अन्तमे उस क्षत्रियके चरणोंपर गिरना पड़ा। कैसा भारी मानमर्दन हुआ! कैसी ग्लानिकी बात है! चक्रके संतापसे छूटते ही उनके मुखसे सहसा ये वचन निकले थे—'अहो अनन्तदासानां महत्त्वं दृष्टमद्य मे। कृतागसोऽपि यद्राजन्मङ्गलानि समीहसे। भा० ९।५।१४' (अहो! आज मैंने भगवान् अनन्तके दासोंकी महिमा देख ली कि मुझ अपराध करनेवालेपर भी मेरे मङ्गलकी ही कामना करते हैं, मेरे अपराधोंपर दृष्टि न डालकर मेरे प्राणोंकी रक्षा की।)—क्या ये किसी ग्लानिसे कम है? अतएव जब स्मरण हो आता है, अवश्य ही ग्लानि हुआ ही चाहे कि हमने ऐसे भक्तका अपराध किया। ग्लानि मिटानेके लिये राजाको बहुत आशीर्वाद दिये।

अम्बरीषके शापकी सुरति उन्हें द्वापरमें पाण्डवोंके यहाँ, जब वे दुर्योधनकी प्रार्थनासे द्रौपदीके भोजन कर चुकनेपर गये थे तब, भी हुई थी। द्रौपदीके स्मरण करते ही श्रीकृष्णजी वहाँ पहुँचे और बोले कि 'मैं बहुत भूखा और थका हूँ, मुझे शीघ्र भोजन दो।' द्रौपदीने कहा कि मैं भोजन कर चुकी, बटलोई धो चुकी, अब कुछ नहीं है। वे बोले 'हमें भूखके मारे कष्ट हो रहा है, हँसीका समय नहीं, शीघ्र बटलोई लाकर दिखाओ।' बटलोई लाकर हाथमें देते ही भगवान्ने देखा कि उसके गलेमें जरासा साग लगा है। वे उसे दिखाकर खा गए और बोले—'इस सागके द्वारा संपूर्ण जगत्के आत्मा, यज्ञभोक्ता परमेश्वर तृप्त एवं संतुष्ट हों।' फिर उन्होंने सहदेवसे कहा कि जाओ दुर्वासा आदि सब मुनियोंको भोजनके निमित्त बुला लाओ। उधर (भगवान्के साग पाते ही) सहसा सभी मुनियोंको पूर्णतृप्तिका अनुभव हुआ, बार-बार अन्न-रससे युक्त डकारें आने लगीं। सभी दुर्वासाजीसे बोले—'ब्रह्मर्षे! हम लोग रसोई बनानेकी आज्ञा देकर स्नान करने आये थे; परन्तु इस समय इतनी तृप्ति हो रही है कि कण्ठ तक अन्न भरा हुआ जान पड़ता है—अब हम कैसे भोजन करेंगे? 'आकण्ठतृप्ता विप्रर्षे किस्विद् भुञ्जामहे वयम्। म० भा० वन० २६३।३१।' अब क्या करना चाहिए?'

दुर्वासाजी सब ऋषियोंसे बोले—"वास्तवमें हमने व्यर्थ ही रसोई बनवाकर राजर्षि युधिष्ठिरका महान् अपराध किया है। कहीं ऐसा न हो कि पाण्डव क्रूर दृष्टिसे देखकर हमें भस्म कर दें। ब्राह्मणो! परम बुद्धिमान् राजर्षि अंबरीषके प्रभावको यादकर मैं उन भक्तजनोंसे सदा डरता रहता हूँ जिन्होंने श्रीहरिके चरणोंका आश्रय ले रक्खा है—'स्मृत्वानुभावं राजर्षेरम्बरीषस्य धीमतः। बिभेमि सुतरां विप्रा हरिपादाश्रयाज्जनात्। महाभा० वन० २६३।३३';

सब पाण्डव महामना, धर्मपरायण, विद्वान्, शूरवीर, व्रतधारी, तपस्वी, सदाचाररत और वासुदेवपरायण हैं। कुपित होनेपर वे हमे उसी प्रकार भस्म कर सकते हैं जैसे रूईके ढेरको अग्नि। अत: पांडवोंसे विना पूछे ही भाग चलो।"

द्वापरमें स्पष्ट इस घटनाकी स्मृति पुराणोंमें मिलती है। इसीसे गोस्वामीजी कहते हैं—'अजहुँ गलानि गरै'। दुर्वासाजीके ऐसा कहनेपर सभी मुनि पाण्डवोंसे अत्यन्त भयभीत हो दसों दिशाओंमें भाग गए।—'दुद्रुवुस्ते दिशो दश। श्लो. ३६।'

☞प्रसंगकी बात इतनी ही है। महाराज अम्बरीष कैसे धर्मात्मा थे; इस संबंधकी एक बात लिखे बिना नहीं रहा जाता। वह यह है कि चक्रके भयसे भागते-भागते दुर्वासाजीको एक वर्ष बीत गया था, तब तक राजाने भी भोजन न किया, केवल जल पीकर रहे थे। लौटनेपर उनको आदरपूर्वक भोजन कराके तब स्वयं प्रसाद पाया।—'संवत्सरोऽत्यगात् तावद् यावता नागतो गतः। मुनिस्तद्दर्शनाकाङ्क्षो राजाब्भक्षो बभूव ह। भा० ६।५।२३।'

☞दुर्वासाजीने महाभागवत अम्बरीषकी मीच ताकी, उसीसे वे झुलसा डाले गए। भगवान्‌की शरण जानेपर दुर्वासाजीसे उन्होंने यही कहा है। यथा 'साधुषु प्रहितं तेजः प्रहर्तुः कुरुतेऽशिवम्॥ तपो विद्या च विप्राणां निःश्रेयसकरे उभे। ते एव दुर्विनीतस्य कल्पेते कर्तुरन्यथा। भा० ६।४।७०।' अर्थात् साधु लोगोपर चलाई हुई शक्ति चलानेवालेका ही बुरा करती है। यद्यपि तप और विद्यासे ब्राह्मणोंका कल्याण होता है, फिर भी नम्र न होनेवाले ब्राह्मणोंका इन्हींके द्वारा अहित हो जाता है।—इससे 'तकै मीचु जो' 'सो तेहि मीचु मरै' प्रमाणित हुआ। देखिए, जब ऐसे तपोनिष्ठ विप्रों-का भी अहित भगवद्भक्तको सतानेसे होता है तब साधारण व्यक्तियोंकी तो बात ही क्या?

४ (क) 'सुधौं कहा जो न कियो सुजोधन''' इति। दुर्योधनने, कर्णवध-के पश्चात् कृपाचार्यके समझानेपर जो-जो बुराइयाँ पाण्डवोंके साथ की थी, स्वयं कही हैं—

(१) राजा युधिष्ठिर महान् धनी थे, मैंने उन्हें जुएँमें जीतकर दर-दरका भिखारी बनाया और राज्यसे बाहर निकाल दिया। अब वे मुझपर कैसे विश्वास करेंगे?

(२) श्रीकृष्ण मेरे यहाँ दूत बनकर आए थे, किन्तु मैंने उनके साथ धोखा किया; अब वे भी मेरी बात कैसे मानेंगे?

(३) सभामें बलात्कार पूर्वक लाई हुई द्रौपदीने जो विलाप किया था तथा पाण्डवोंका जो राज्य छीन लिया गया था उसके लिए श्रीकृष्णको

अवतक अमर्ष बना हुआ है। श्रीकृष्ण और अर्जुन दो शरीर एक प्राण हैं। वे दोनों एक दूसरेके अवलम्ब हैं, यह अब मैं प्रत्यक्ष देख रहा हूँ। जबसे उन्होंने अपने भानजे अभिमन्युका मरण सुना, तबसे वे सुखकी नींद नहीं सोते। हम लोग उनके अपराधी हैं, फिर वे हमें क्षमा कैसे कर सकते हैं?

(४) महाबली भीमका स्वभाव भी बड़ा कठोर है। उसने बड़ी भयंकर प्रतिज्ञा की है। सूखे काठकी तरह वह टूट भले ही जाय, झुक नहीं सकता।

(५) नकुल और सहदेव यमराजके समान भयंकर हैं। वे दोनों भी मुझसे वैर मानते हैं। धृष्टद्युम्न और शिखण्डीका भी मेरे साथ वैर है।

द्रौपदी एकवस्त्रा थी, रजस्वला थी, उस अवस्थामें वह सभामें लाई गई और दुःशासनने सबके सामने उसे क्लेश पहुँचाया। उसके वस्त्रका उतारा जाना, उसकी वह दीनावस्था आज भी पाण्डवोंको याद है। तभी-से मेरे विनाशका संकल्प लेकर मिट्टीके वेदीपर वह सोया करती है। जब तक वैरका पूरा बदला न चुका लिया जायगा, तबतकके लिये द्रौपदीने यह व्रत लिया है। अब यह वैरकी आग बुझ नहीं सकती।

☞ और भी आगे ४ (ग) में देखिए।

४ (ख) 'अबुध आपने मान जरै' इति। भाव कि दुर्योधन कपट-छल, राज्यलोभ, भीष्मद्रोणकर्णादि द्वारा पालित कालरूपी सेना तथा सौ वीर भाइयों और कोष आदिके अभिमानमें भरा रहता था, अपने मानके आगे वह दूसरेका मान प्रतिष्ठा देख न सकता था, इसीसे ईर्ष्याद्वेषादि किया करता था, जो छातीको सदा संतप्त किये रहते हैं। दुर्योधन अज्ञान जनित मोहमें मग्न था, इसीसे 'अबुध' कहा, यथा 'अब्रवीद् वचनं राजा प्रविश्याबुद्धिजं तमः। महाभा० वन० ७।२।' वैशम्पायनजीका 'प्रविश्याबुद्धिजं तमः' ही यहाँका 'अबुध' है। वह ऐसा मानी था कि उसने यहाँ तक कह डाला कि मैं विष खा लूँगा, फाँसी लगा लूँगा, अपने आपको शस्त्रसे मार दूँगा अथवा भभकती आगमें प्रवेश कर जाऊँगा, पर पाण्डवोंको फिरसे बढ़ते-फूलते-फलते न देख सकूँगा।—'विषमुद्बन्धनं चैव शस्त्रमग्नि-प्रवेशनम्। करिष्ये न हि तान्वृद्धान् पुनर्द्रष्टुमिहोत्सहे। महाभा० वन० ७।६।'—यही 'अपने मानमे जलना है'। व्यासजीने भी उसके ऐसे विचार जानकर उसको 'सुमन्दधी' अत्यन्त मन्द बुद्धिवाला कहा है। यथा 'तदयं किं नु पापात्मा तव पुत्रः सुमन्दधीः। पाण्डवान् नित्यसंक्रुद्धो राज्यहेतो-र्जिघांसति। महाभा० वन० ८।४।' (अर्थात् पाण्डवोंका बल और उनकी

जो क्लेश दिया गया है, उससे कुपित होकर वे क्या नहीं कर डालेंगे, यह जानकर भी तुम्हारा पापात्मा अत्यन्तमन्द बुद्धि, पुत्र क्यों सदा रोषमें भरा रहकर राज्यके लिये पाण्डवोंका वध करना चाहता है ?) 'नित्य संक्रुद्धो' यह भी जलता रहना है । मान अग्निरूप है; इसमें मानी जलते रहते हैं । यथा 'वह नित मान—अगिनिमें जरै । वै० सं० ४१।'

[वैजनाथजी :—मान, क्रोध, ईर्ष्या, कठोर वचन, दृढ़ वैर और अहिंसा—ये अहंकारके षट् अंश हैं । यथा जिज्ञासापंचके—'मानः क्रोधश्च ईर्ष्या च पारुष्यमुपहिंसनम् । दृढ़वैराद्यहङ्कारे वर्तन्ते लक्षणानि षट् ॥' अभिमान परिपूर्ण होनेसे ईर्ष्या आदि आपही अग्निवत् हृदयमें जलते रहते हैं, सब अनुचित कर सकते हैं । इसीसे दुर्योधन सदा पाण्डवोंके नाशके उपायमें लगा रहा ।]

'अबुध आपने मान जरै' के प्रमाणमें उद्योगपर्वके ये वाक्य भी ले सकते हैं—'क्रुद्धः प्रातिष्ठतोत्थाय महानाग इव श्वसन् । १२८।२५।' 'सर्वा-नेताननादृत्य दुर्मतिर्निरपत्रपः । अशिष्टवदमर्यादो मानी मान्यावमानिता । २७।' तथा 'मिथ्याभिमानी राज्यस्य क्रोधलोभवशानुगः । श्लो० ३१।' अर्थात् दुर्योधन कुपित हो फुफकारते हुए महान् सर्पकी भाँति लंबी साँसें खींचता हुआ सभासे चल दिया । वह दुर्बुद्धि, निर्लज्ज, अशिष्टपुरुषोंकी भाँति मर्यादा-शून्य, अभिमानी तथा माननीय पुरुषोंका अपमान करनेवाला था ।' उसे राजा होनेका मिथ्या अभिमान है, वह क्रोध और लोभके वशीभूत है ।

४ (ग) 'प्रभु प्रसाद सौभाग्य विजय जसु पंडवन्है बरिआइँ बरै' इति । देखिए, दुर्योधनने पाण्डवोंके साथ द्वेष किया । पाण्डव धर्मपर स्थित रहे, भगवान् कृष्णकी शरण रहे । प्रभुकी कृपासे फल क्या हुआ, सो देखिए । दुर्योधन जो करता उसका उलटा होता । कुछ यहाँ लिखा जाता है—

(१) लड़कपनमें ही भीमसेनका भारी बल देखकर दुर्योधनके मनमें दुर्भावने घर बना लिया । उसने उन्हें मार डालने और अर्जुन तथा युधि-ष्ठिरको कैद कर रखनेका निश्चय किया । गंगातट पर उदकक्रीड़न स्थानमें सब आकर ठहरे । दुर्योधनने भीमसेनके भोजनमें विष मिलवा दिया और सब उनको खिला दिया । जब वे सो गए और विषके कारण अचेत हो गए, तब उसने उनको गंगामें डाल दिया । वे बहते हुए नागलोकमें पहुँचे, नागोंने उनको डसा, जिससे उनका विष उतर गया । आर्यक और वासुकि-की कृपासे उन्हे उन कुंडोका रस पीनेको मिला जिससे उन्हे सहस्रो हाथियोका बल प्राप्त होता है । फिर दूसरी बार विष दिया गया, वह भी इनको पच गया । यह

देख दुर्योधन, कर्ण और शकुनिने इनको मारनेके भिन्न-भिन्न उपाय किये। पर पाण्डव सब चुप ही रहे। बाल्यावस्थामें ही इनकी मातासहित इसने पाण्डवोंको राज्यसे बाहर निकाल दिया था।

(२) पाण्डवोंको वारणावत (लाक्षागृहमें रहनेके लिये) भेजा गया, जिसमें रात्रिमें आग लगाकर उनको भस्म कर दे। विदुरजीकी कृपासे वे सावधान हो गए। फल क्या हुआ? दुर्योधनका मंत्री लाक्षागृहमें जला, पाण्डव बच निकले, वनमें हिडिंबाराक्षसीके साथ भीमसेनका व्याह हुआ। उससे घटोत्कचकी उत्पत्ति हुई जिससे कर्णका वध सुगम हो गया। व्यासजीकी सम्मतिसे वे एकचक्रानगरीमें एक ब्राह्मण परिवारके साथ ठहरे। फिर व्यासजीकी अनुमतिसे वे तपस्वी वेषसे पांचालनगरको चले। मार्गमें चित्ररथको अर्जुनने हराया और जान बचा देनेपर 'गंधर्वमायाकी शिक्षा, तथा गंधर्वोंके सौ अनुपम घोडे प्राप्त हुए।' द्रौपदीस्वयंवरमें कर्णादिका पराजय और द्रौपदीकी प्राप्ति हुई।

(३) वनवासके बारहवें वर्ष जब पांडव द्वैतवनमें सरोवरके निकट रहते थे, कर्ण और शकुनिकी सम्मतिसे दुर्योधन सेना और भाइयों तथा शृङ्गारसे सुसज्जित स्त्रियों आदि सहित पांडवोंको कुढ़ानेके विचारसे घोष-यात्राके बहाने वहाँ गया और सरोवरपर क्रीड़ाभवन बननेकी आज्ञा दी। दैवयोगसे चित्ररथ गंधर्वराज वहाँ क्रीड़ा कर रहा था। उसने दुर्योधन-को स्त्रियों सहित कैद कर लिया। सेना और मंत्री पाण्डवोंकी शरण गए। युधिष्ठिरजीने दुर्योधनको छुड़वाकर घर भेज दिया। (☞ भक्तोंके द्वेषीको दूसरे लोग नीचा दिखाते हैं। दुर्योधनको यह फल मिला। जिसका बुरा चाहा, उसीने रक्षा की; क्या मान रह गया?)

(४) द्रौपदीको सूर्यने एक बटलोई दी थी, कि जबतक तुम खा-पीकर इसको माँज-धोकर रख न दोगी, तबतक जो कोई भी आता जाय, इसका अन्न पूर्ण ही रहेगा। यह जानकर दुर्योधनने एक बार दुर्वासाजीको आतिथ्यसत्कार द्वारा प्रसन्नकर वर माँगा कि 'एक दिन आप शिष्योंसहित वनमें युधिष्ठिरजीका आतिथ्य स्वीकार करें। पर वहाँ उस समय जाँय जब द्रौपदी खा चुकी हो।' दुर्वासाने कहा 'ऐसा ही होगा'। ऐसे ही समय वे वहाँ गए। युधिष्ठिरजीने आमंत्रित किया, पर द्रौपदीजीसे ज्ञात होनेपर कि बटलोई अमनिया हो गई वे बड़े चिंतित हुए। भगवान्का चिन्तन करते ही वे आए और उनकी कृपासे त्रिलोकी पूर्ण हो गया। दुर्वासा बाहर ही बाहर भाग गए।

(५) कर्णने अर्जुनको मारनेके लिये एक सर्पमुख बाण रख छोड़ा

था जिसकी वह वर्षोंसे पूजा करता था। अश्वसेन नाग अर्जुनसे बदला चुकानेके लिये कर्णके तरकशमें बाणका रूप धारणकर समा गया और वही कर्णके धनुषपर चढ़ गया। उस बाणको आते देख भगवान्‌ने तुरत रथको पैरसे दबा दिया जिससे रथ कुछ जमीनमें धँस गया। वह बाण अर्जुनके मुकुटमें लगा; मुकुट भस्म हो गया, अर्जुनका वह कुछ न कर सका। उनका बाल बाँका न हुआ।

इंद्रने कर्णको एक अमोघ शक्ति दी थी और कहा था कि इसका प्रयोग एक ही बार होगा जिसपर छोड़ोगे उसकी मृत्यु अवश्य होगी। कर्णने वह शक्ति अर्जुनपर प्रयोग करनेके लिये रख छोड़ी थी। भगवान्‌ने अर्जुनकी रक्षा करनेके लिये घटोत्कचको युद्धमें भेजा। उसके भीषम कर्मसे दुर्योधन आदि ऐसे घबड़ाये कि उन्होंने कर्णको उस शक्तिका प्रयोग उसपर करा ही दिया। उसके मरनेपर पांडव बडे दुःखी हुए, किन्तु श्रीकृष्णजी ऐसे प्रसन्न हुए कि नाचने लग गये। अर्जुनादिके पूछनेपर उन्होंने कारण बताया कि कर्णको इन्द्रदत्तशक्तिसे रहित अब देखकर अर्जुनको मृत्युमुखसे छूटा हुआ समझकर आनंदित हो रहा हूँ। (द्रोणपर्व १८०, १८१)। १८२ ४३-४६ में सात्यकिके पूछनेपर श्रीकृष्णजीने कहा है कि मुझे युद्धमें अर्जुनकी रक्षा जितनी आवश्यक प्रतीत होती है, उतनी पिता, माता, तुम जैसे भाइयों तथा अपने प्राणोंकी रक्षा भी नहीं प्रतीत होती। इसलिये जैसे कोई मरकर लौट आया हो, उसी प्रकार अर्जुनको देखकर आज मुझे बड़ा भारी हर्ष हुआ है। इसी उद्देश्यसे मैंने युद्धमें कर्णका सामना करनेके लिये घटोत्कचको भेजा था, समराङ्गणमें दूसरा कोई कर्णको पीड़ित नहीं कर सकता था।

इसी तरह भगदत्तके अमोघ वैष्णवास्त्रको जो उसने अर्जुनको मारनेके लिये चलाया था अपने छातीपर लेकर भगवान्‌ने अर्जुनकी रक्षा की थी।

(६) युधिष्ठिरको कर्णने बहुत घायल कर अपमानित वचन कहे। रणभूमिसे हट जानेपर श्रीकृष्णजी अर्जुनको लेकर युधिष्ठिरको देखनेके बहानेसे हटा ले गए—इसमें भगवान्‌का उद्देश्य केवल यह था कि जबतक अर्जुन धर्मराजसे मिलेंगे तबतक कर्ण युद्ध करते-करते थक जायगा, तब अर्जुन उसे सहज ही मार लेंगे।

(७) अश्वत्थामाने पांडवों तथा पांचालोंकी सेनाको लक्ष्य करके नारायणास्त्रका प्रयोग किया, उस समय भगवान्‌ने अस्त्रकी शान्तिका उपाय बताकर सबकी रक्षा की।

(८) अश्वत्थामाने पांडववंशको निर्मूल करनेके विचारसे उत्तराके गर्भपर ब्रह्मास्त्र छोड़ा और गर्वीले वचन कहे, तब श्रीकृष्णजीने उत्तर दिया—'इस दिव्यास्त्रका प्रभाव तो अवश्य अमोघ होगा। पर मैं उसे पुनः जीवित कर दूँगा। वह दीर्घ जीवन प्राप्त करेगा और तुम्हारे आँखोंके सामने कुरुवंशकी गद्दीपर बैठेगा। हाँ! तुम्हें अपने पापका फल भोगना ही पड़ेगा।'

(९) विजयके पश्चात जब पांडव धृतराष्ट्र और गांधारी से मिले. उस समय युधिष्ठिरपर गांधारीका महान् कोप देख व्यासजी तथा कृष्णजी-ने उन्हें कोप रोकनेको कहा। फिर भी धृतराष्ट्रके मनमें भीमको भस्म करनेकी चाह देख, भगवानने भीमकी एक लोहेकी मूर्त्ति बनवाकर भीमके बदले उस मूर्त्तिको उनके सामने कर दिया। उसे भीम जानकर उनने ऐसा दबाया कि वह टुकड़े-टुकड़े हो गई।

(१०) जब श्रीकृष्णजी गांधारीजीके समीप थे, उसी समय उधर अश्वत्थामाने दुर्योधनसे प्रतिज्ञा की थी कि "आज मैं श्रीकृष्णके देखते-देखते प्रत्येक उपायसे काम लेकर समस्त पाचांलोंको यमलोक भेज दूँगा।" भगवान्‌को तुरत यह बात मालूम हो गई और वे गांधारीसे आज्ञा लेकर पाण्डवोंकी रक्षाके लिये चल पड़े। विश्रामके समय पाण्डवोंसे भगवानने कहा कि 'हमलोगोंको अपने मंगलके लिये आजकी रातमें छावनीके बाहर ही रहना चाहिए।' सात्यकि तथा पांडवों सहित छावनीसे बाहर निकलकर उन्होंने ओघवती नदीके तटपर जाकर विश्राम किया। उधर अश्वत्थामा, कृपाचार्य और कृतवर्माने छावनीमें सोती हुई सारी सेना और द्रौपदीके पुत्रोंका नाश किया। फल क्या हुआ? पाण्डव सब बच गए। द्रौपदीके विलापपर भीमसेनकी प्रतिज्ञा आदि। अश्वत्थामाका मानमर्दन। इत्यादि।

इत्यादि बहुत प्रसंग हैं। सर्वत्र भगवान्‌की कृपासे इनकी विजय हुई, कौरववंशका नाश हुआ। वैरी कुछ न कर पाये, स्वयं नष्ट हुए। धर्मपर आरूढ़ रहनेसे हरि कृपासे उन सबोंको पग-पगपर यश प्राप्त हुआ। राज्यश्री प्राप्त हुई, चक्रवर्ती राजा हुए—यह सब सौभाग्य है। दुर्योधन तो अनर्थका उपाय करता, पर इनको पग-पगपर ये तीनों प्राप्त होते थे। वनवासके अन्तमें जब ये अज्ञातवास कर रहे थे, और वासका समय पूर्ण हुआ, उसी समय दुर्योधन अपनी चतुरंगिणी सेना लेकर मत्स्यनरेशकी गौओंको हरकर ले चला, उस समय अर्जुनने दुर्योधन, कर्ण, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, अश्वत्थामा आदि सभीको परास्त किया, कर्ण आदि तो भाग-

चले। सब धराशायी हो गए। उनके मुकुट, वस्त्र आदि अर्जुन उतार लाये। मत्स्यनरेशके पुत्रने कहा है—'आर्याः पूज्याश्च मान्याश्च प्राप्तकालं च मे मतम्। पूज्यन्तां पूजनार्हाश्च महाभागाश्च पाण्डवाः। महाभा० विराट० ७१।२४।' (अर्थात् पाण्डवलोग महान् सौभाग्यशाली हैं। ये सर्वथा श्रेष्ठ, पूजनीय और सम्मानके योग्य हैं। इनके सत्कारका हमें अवसर मिल गया है, अतः इन पूजने योग्य पांडवोंका आप अवश्य पूजन करें)। विराटने अपनी कन्याका विवाह अर्जुनके पुत्र अभिमन्युके साथ कर दिया। इत्यादि।

४ (घ) 'बरिआइँ बरै' इति। एक उदाहरण इसका दे दिया। महाभारत उदाहरणोंसे भरा है। 'बरिआइँ' मे भाव यह है कि यद्यपि उन्हे इनकी विशेष चाह न थी, तो भी ये अपनेसे हठपूर्वक इनको अपनाते थे। पाण्डव सब धर्मात्मा थे। इनकी बाल्यावस्थामें ही धृतराष्ट्रने इनका राज्य हड़प लिया और इनको अब वह राज्य न मिले, इस लोभसे दुर्योधनने इनके नाशका कोई उपाय उठा न रक्खा। धृतराष्ट्रने इनसे प्रतिज्ञा की थी कि १२ वर्ष वनवास और एक वर्ष अज्ञातवासके पश्चात् तुम्हारा राज्य तुमको लौटा दिया जायगा। परन्तु धृतराष्ट्रने अपनी प्रतिज्ञा पूरी न की। युधिष्ठिरजीने दूत द्वारा संदेश भेजा कि इन्द्रप्रस्थ और चार और नगर हमें दे दो, हम पाँचों भाई इतनेसे संतोष कर लेंगे, कुरुवंश आदिका नाश न हो। श्रीकृष्णजी भी दूत होकर गए। द्रोण, भीष्म, कृप, विदुर, परशुराम, धृतराष्ट्र, गांधारी आदि सभीने दुर्योधनको समझाया पर उसने किसीकी न मानी। परिणाम जो हुआ सब जानते हैं। पाण्डव विजयी हुए, उनको यश मिला और 'त्रैलोक्य पूज्य पावन जस सुनि सुनि लोग तर्‌यो। २३६।', 'प्रेम लखि कृष्ण करे आपने तिन्हको, अब सुजस संसार हरिहर को जैसो।१०६।'

कारण क्या ? 'प्रभुप्रसाद, कृपा रघुपति कृपालकी' कारण है। पाण्डव उनके भक्त थे और कैसे भक्त थे सो भी सुनिए। भगवान्‌ने उनसे कहा है कि तुम मुझसे अभिन्न हो और मैं तुमसे पृथक् नही हूँ—'अनन्यः पार्थ मत्तस्त्वं त्वत्तश्चाहं तथैव च। महाभा० वन० १२।४७।', तुम मेरे ही हो मैं तुम्हारा ही हूँ—'ममैव त्वं तवैवाहं', जो तुमसे द्वेष रखता है, वह मुझसे भी रखता है, जो तुम्हारे अनुकूल है, वह मेरे भी अनुकूल है—'यस्त्वां द्वेष्टि स मां द्वेष्टि यस्त्वामनु स मामनु। श्लो० ४५।'

☞ यहाँ तक संतद्रोहियोंसे भक्तोंकी रक्षा भगवान्‌के द्वारा कही। आगे संतद्रोही मात्रको उसके कर्मोंका फल बताते हैं।

टिप्पणी—५ 'सपनेहु सुख न संतद्रोही कहुँ···' इति। (क) सन्तद्रोही दुर्योधनकी कथा अंतमें देकर अत्र अन्य सभीके लिये सिद्धान्त कहते हैं। देवगुरुने इन्द्रसे यही कहा था, यथा 'जो अपराध भगत कर करई। रामरोष पावक सो जरई॥···मानत सुख सेवक सेवकाई। सेवक बैर बैरु अधिकाई।२।२१८-२१६।' भगवान्‌ने पाण्डवोंसे यह भी सनातन धर्म बताया है कि जो दूसरेके साथ छल-कपट-धोखा आदि करके सुख भोग रहा हो उसको मार डालना चाहिए—'निकृत्योपचरन् वध्य एष धर्मः सनातनः। महाभा० वन० १२।७।' जब भगवान् उसे अपना द्वेषी मान लेते हैं, तब सुख उसके भाग्यमें कहाँ ?

'सपनेहु न सुख' कहनेमें यह भी ध्वनि है कि भगवानके निर्भयकारी चरणोंकी शरणमें रहनेवाले निर्वैर सबके सुहृद भगवद्भक्तोंकी रक्षा भगवान् अपने सतर्क कालचक्र तथा अन्य उपायों द्वारा करते हुए उन्हें सुख देते हैं, किन्तु संतद्रोहीको सुख स्वप्नमें भी नहीं मिलनेका। श्रीशुकदेवजीने भी कहा है कि साधुपुरुषोंसे द्वेष करनेमें आयु, श्री, यश, धर्म, शुभलोक, सुख आदि समस्त कल्याण नष्ट हो जाते हैं। यथा 'आयुः श्रियं यशो धर्मं लोकानाशिष एव च। हन्ति श्रेयांसि सर्वाणि पुंसो महदतिक्रमः। भा० १०।४।४६।'

५ (ख) 'सुरतरु सोउ विषफलनि फरै' इति। भक्तद्रोही भगवानका द्रोही है। अतः हरिद्रोहीका-सा फल उसे मिलता है। उसको तो अमृत भी विष हो जाता है, यथा 'राखि को सकै राम कर द्रोही॥···सुधा होइ विष सुनु हरिजाना।३।२।५-६।' सुरतरु अभिमतदाता है, पर भक्तद्रोहीको उसके तले जानेपर विषही विष मिलेगा। इस कथनका तात्पर्य यह है कि जिन-जिनसे सबको सुख प्राप्त होता है उन-उनकी शरण जानेपर भी भक्तद्रोहीको सुख न मिलकर दुःख ही मिलता है। जैसे दुर्वासाजी अंबरीषके साथ द्रोहकर जब सुदर्शन चक्रसे रक्षाके लिये सर्वलोकपितामहः श्रीब्रह्माजीके तथा अपने अवतारी भगवान् शंकरके पास गए तो उन्होंने भी रक्षा न की। और की कौन कहे जब परम ब्रह्मण्यदेव, अशरणशरण आर्तिहरण, जनवत्सल, अनन्त, विश्वभावन, भगवान् विष्णुकी शरणमें गए, तो उन भगवान्‌रूप सुरतरुसे उन्हे विषरूप फल यह मिला कि जिसको शाप दिया था, जिसको भस्म करना चाहा था और जो ब्राह्मण भी नहीं वरन् क्षत्रिय था, उसीके चरणोंमें गिरकर अपराध क्षमा करानेके लिये लौटाये गए।

५ (ग) 'जोइ जोइ कूप खनैगो पर कहुँ···' इति। भगवद्भक्तोंके संबंधमें इतने उदाहरण देकर 'जौं पै कृपा रघुपति कृपालकी' तेहि मीचु

मरै' इस सिद्धान्तको पुष्ट करके अब कहते हैं कि कोई भी हो उसे किसी दूसरेके लिये (उसका नाश करनेके लिये) कुआँ न खोदना चाहिए, साधुकी तो बात ही क्या ? हमारे उपदेशको जो न मानेंगे, वे शठ हैं, अपनी हानिको नहीं समझते । वे स्वयं ही अपने खोदे हुए कुँएँमें गिरकर नष्ट होंगे । क्योंकि यह सृष्टिका साधारण नियम ही है । भगवान्‌ने 'करम प्रधान विश्व करि राखा । जो जस करइ सो तस फल चाखा ।' पापात्मा अपने ही कर्मदोषसे दग्ध हो जाता है—'प्रदह्यमानान् कर्मणा स्वेन पापान् । महाभा० उद्योग० २६।५०।'

टिप्पणी—६ 'हैं काकें द्वै सीस ईसके जो हठि जनकी सीम चरै।...' इति। (क) भाव कि समर्थ भगवान्‌के भक्तकी मर्यादाको हठपूर्वक उल्लंघन करनेवाला संसारमें कोई मनुष्य तो पैदा नहीं हुआ, क्योंकि भगवान् जिसके रक्षक हैं, उससे कौन द्रोह कर सकता है ? यथा 'सीम कि चाँपि सकै कोउ तासू । बड़ रखवार रमापति जासू । १।१२६।८।' भगवान् तुरत ही उसका सिर काट डालेंगे, वैर करके वह जीवित नहीं रह सकता । हाँ जिसके दो सिर हों, वह भले ही साहस कर सके, यह समझकर कि 'मेरे दो सिर हैं, एक कट जायगा तो क्या ? मेरे प्राण तो नहीं जायँगे, एक सिर तो बच जायगा', वह भले ही वैर करके कुछ देर बच जाय, जबतक दूसरा सिर भी न काट लिया जाय । एक सिरवाले मनुष्यकी तो मजाल नहीं कि ऐसा कर सके ।

६ (ख) 'तुलसिदास रघुबीर बाहँबल सदा निडर...' इति । यह वाक्य सबके लिये है, क्योंकि प्रारंभसे ऐसा ही कहते आ रहे हैं—'होइ न बाँको बार भगतको' 'तकै मीचु जों नीचु साधुकी', इत्यादि । सबके लिये होनेसे अपने लिये भी लागू मानते हैं । बाहुबल और अभयकर्ता गुणके संबंधसे 'रघुबीर' नाम दिया ।

'रघुबीर बाँह बल'—श्रीरघुबीरकी बाँहोंके स्मरणमात्रसे भवसागर पार हो जाता है । वे बाँहें शरणागत, आर्त और प्रणत जनोंको सदा अभय करती आई हैं, और करेंगी, वे सदा दासोंपर छाया किये रहती हैं,—यह जिनकी बान है । यथा—"सुमिरत श्रीरघुबीरकी बाहैं । होत सुगम भव-उदधि अगम अति कोउ लाँघत कोउ उतरत थाहैं ॥१॥ सकल-भुवन-मंगल-मंदिरके द्वार बिसाल सुहाई साहैं । जे पूजी कौसिक मख रिषयन्हि जनक गनप संकर गिरिजा हैं ।४। जातुधानतिय जानि बियोगिनि दुखई सीय सुनाइ कुचाहैं । जिन्ह रिपु मारि सुरारिनारि तेइ सीस उघारि दिवाई धाहैं ।६। दसमुख बिबस तिलोक लोकपति बिकल बिनाए नाक चना हैं ।

सुवस वसे गावत जिन्हके जस अमर-नाग-नर-सुमुखि सनाहैं ।७। सरनागत आरत प्रनतन्हि को दै दै अभयपद ओर निबाहैं। करि आई करिहैं, करती हैं तुलसिदास दासनि पर छाहैं ।८।" (गी० ७।१३)।—ऐसा जिन बाहोंका विरुद और कर्तव्य है, उनके बलके आश्रितका बाल बाँका कब हो सकता है? श्रीरघुनाथजीने बालिसे स्पष्ट कहा है—'मम भुज बल आश्रित तेहि जानी। मारा चहसि अधम अभिमानी ।४।९।१०।' शूर्पणखाने इस भुजबलकी प्रशंसा रावणसे की है, यथा 'जिन्हकर भुज-बल पाइ दसानन। अभय भए बिचरत मुनि कानन ।३।२२।५।' अतएव कहते हैं कि 'रघुबीर बाँह बल सदा निडर', 'काहू न डरैं'। जब यह निश्चित है तब मैं भी निडर हूँ, किसीको नहीं डरता। यथा 'कौन की त्रास करै तुलसी, जो पै राखिहैं रामु तौ मारिहै को रे। क० ७।४८।', 'तुलसी यह जानि हिएँ अपनें सपनें नहिं कालहु तें डरिहै।' तात्पर्य कि यह सिद्धान्त जानकर और श्रीरघुबीरके भक्तवात्सल्यको देखसमझकर उनके बाहुबलके आश्रित होकर सबको निर्भय हो जाना चाहिए, मैं भी निर्भय हो गया हूँ।

सू० शुक्ल—'परमात्मा अभयरूप है। इसलिये उसके सेवक अकुतोभय होते हैं। क्योंकि जिसकी प्रह्लादकी भाँति सर्वत्र परमात्मदृष्टि है, उसको डर किससे? जो अज्ञानवश भगवान्‌के भक्तसे द्वेष करते हैं, वे स्वयं द्वेषाग्निमें भस्म हो जाते हैं।'

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु ।

१३८ (४३)

कबहुँ[1] सो कर सरोज रघुनायक धरिहो नाथ सीस मेरें।
जेहि[2] कर अभय किये जन आरत बारक बिबस नाम टेरें ।१।
जेहिं कर कमल कठोर संभु-धनु भंजि जनक-संसय मेट्यो।
जेहिं कर कमल उठाइ बंधु ज्यों[3] परम प्रीति केवट भेंट्यो ।२।

---

१ कबहुँ—६६, भा०, ह०, ७४ ।कबहूँ—रा०, वे०। २ इस पद-भरमे चरणके प्रारंभमे जहाँ-जहाँ 'जेहिं' है, वहाँ ६६ और रा० मे सानुस्वार ही है, ६६ मे केवल यहाँ 'जेहि' है जो भूल भी हो सकती है अथवा किसी भावसे यहाँ ऐसा हो। ३ जिमि—भा०, वे०।

जेहिं कर कमल कृपाल गीध कहुँ उदकु[4] देइ निज[5] लोकु दियो।
जेहिं कर बालि बिदारि दास हित कपिकुलपति सुग्रींव कियो।३।
आयो सरन सभीत बिभीषनु जेहिं कर कमल तिलकु कीन्हो।
जेहिं कर गहि सर चाप असुर हति अभय दान[6] देवन्ह[7] दीन्हो।४।
सीतल सुखद छाँहँ जेहि कर की मेटति पाप ताप माया।
निसि-बासर तेहि कर सरोज की चाहत तुलसिदास छाया।५।

शब्दार्थ—'सिरपर हाथ धरना'—आर्त, प्रणत, सभीत शरणागतके सिरपर हाथ धरना अभयका आश्वासन देना है। 'रक्षा करना, सहायक होना, अभय देना' के भावमें यह मुहावरा प्रयुक्त होता है। बारक=एक बार। बिबस=बेबसी, परवशता वा पराधीनताकी दशामें। टेरना=पुकारना। उदकु=उदक क्रिया; तिलांजलि, जलदान। मृतकका शवदाह हो जानेपर उसके गोत्रवाले प्रेतको दस दिन तक तर्पण (जलदान) क्रिया करते हैं। बिदारना=विदीर्ण करना, नष्ट करना, मारना। हित=हितार्थ; लिये। कपिकुल=वानरसमुदाय, वानरवंश वा जाति। मेटना=मिटाना; नाश करना। छाँहँ; छाया=शरण, रक्षा।

पद्यार्थ—हे श्रीरघुकुलके स्वामी! हे नाथ! क्या कभी (अपना) वह करकमल मेरे सिरपर रखियेगा, जिस हाथसे आपने आर्त्त (दुःखमें पड़े हुए) भक्तोंको उनके बेबसीमें एक बार ही नाम लेकर पुकारनेपर अभय किया है।१। जिस कर-कमलसे शिवजीका कठोर धनुष तोड़कर श्रीजनकजीका संशय मिटाया, जिस कर-कमलसे भाई भरतके समान केवट (गुह निषादराज) को उठाकर परम प्रेमपूर्वक (उससे) गले लगकर मिले।२। जिस कर-कमलसे, हे कृपाल! आपने गृध्रराज जटायुको जल देकर अपना धाम दिया। जिस हाथसे (अपने) दासके हितार्थ बालिको मारकर सुग्रीवको वानरकुलका राजा बनाया।३। (रावणसे) भयभीत होकर विभीषण शरणमें आये (तब) जिस करकमलसे आपने उनका तिलक किया और जिस हाथसे धनुष-बाण लेकर असुरोंको मारकर देवताओंको अभय दान दिया।४। जिस हाथकी छाया शीतल और सुख देनेवाली है, पाप,

४ उदकु देइ—६६, रा०, ५१, मु०, दीन, प्र०। उदक दै—१५। पिंडोदक दै—भा०, वे०, ह०, ७४ (देइ)। पिंड देइ—डु०, वे०।५ निज लोकु—६६, रा०, ५१, ज०। धाम—भा०, वे०, ह०। निज धाम—प्र० ७४, १५। ६ दान—६६, रा०, ह०, ५१, प्र०, ७४। बाँह—भा०, वे०, ज०, १५। ७ देवन—६६, आ०। देवन्ह—रा०, भा०, वे०, ह०, ७४, ५१।

त्रिताप और मायाको मिटा देती है—उसी कर-कमलकी छाया रात-दिन तुलसीदास चाहता है ।५।

नोट—१ इस पदके सौष्ठवके संबंधमें साहित्यज्ञोंने अपने विचार इस प्रकार प्रकट किये हैं—"इस पदमें माधुर्य और ऐश्वर्य तथा सौशील्य और वात्सल्यका बड़ा ही मधुर मिलन हुआ है।" (वि०, दीन०)। "इस पद-भरमें आदिसे अंततक एकही-वाक्य चला गया है, पर एक सर्वनामकी भी त्रुटि नहीं होने पाई है। कैसा सुव्यवस्थित वाक्य है। इस पदका संगठन देखकर पं० रामचंद्रशुक्लजीने यहाँ तक लिख डाला है—'और कवियोंके साथ तो तुलसीका मिलान ही क्या ? 'वाक्यदोष' हिंदीमें भी हो सकते हैं, इसका ध्यान तो बहुत कम लोगोंको रहा। सूरदासजी भी इस बातमें तुलसीसे बहुत दूर हैं।" इसमें 'परिणाम' अलंकार है। (दीनजी)

टिप्पणी—१ (क) 'कबहुँ सो कर सरोज···' इति। पिछले पदमें जो कहा था कि 'तुलसिदास रघुबीर बाँहबल सदा निडर काहू न डरै' जो बाहुबलके आश्रित है वह निडर है, मुझे भी श्रीरघुवीरके उन्हीं बाँहोंका आसरा है, अब उसी भरोसेपर उस भुजाके स्पर्शकी चाहसे अपने सिरपर उनके बाँहके कर-कमलकी छायाकी प्रार्थना करते हैं। 'सो कर सरोज' के 'सो' की व्याख्या आगे पूरे पदमें 'जेहि कर अभय' से 'पाप ताप माया' तक है। (ख) 'नाथ' संबोधनसे जनाया कि मैं अनाथ हूँ, सिरपर हाथ धरकर मुझे सनाथ कीजिए। 'कबहुँ धरिहौ' अर्थात् क्या कभी मेरे ऐसे भाग्य होंगे ? यदि होंगे तो कब ? इस जीवनमे क्या कभी होगा ? मानस-में मनुजी, जटायुजी, हनुमान्‌जी और श्रीभुशुण्डीजी ऐसे बड़भागी देख पड़ते हैं। गीतावलीमें विभीषणको भी यह सौभाग्य प्राप्त होना कहा है, यथा 'तेहि रघुनाथ हाथ माथे दियो, को ताकी महिमा भनै। गी० ५।४०।'

१ (ग) 'अभय किये जन आरत' से जनाया कि मैं भी आर्त्त हूँ और आपका 'जन' (दास) हूँ, मुझे भी उसी 'कर' द्वारा अभय कीजिए। 'बारक बिबस नाम टेरें'—भाव कि आर्त्तकी पुकार सुनते ही, नाम लेकर पुकारते ही आप आर्त्तका दुःख मिटा देते है। यथा 'तस्यो गयंद जाके एक नायँ ।८३।', 'बिबसहु जासु नाम नर कहहीं। जनम अनेक रचित अघ दहहीं ।१।११९।३।' 'सरनागत आरत प्रनतनि को दै दै अभय पद ओर निबाहैं। करि आईं करिहैं करती हैं तुलसिदास दासनिपर छाहैं। गी०७।१३।', 'आरत दीन अनाथनको रघुनाथ करैं निज हाथकी छाहें। क० ७।११।', 'लिएँ बारक नाम सुधाम दियो जेहि धाम महामुनि जाहि न जू। क० ७।७।' बिबस टेरना यह है जैसे शत्रुके वशमें पड़कर (जैसे गज और द्रौपदीने

पुकारा), दुःख या पीड़ासे व्याकुल होकर, यमदूतोंके भयसे (जैसे अजामिलने), या पराधीन होने इत्यादिसे मुखसे नाम निकल जाता है।

टिप्पणी—२ 'जेहिं कर कमल कठोर...' इति। अब कुछ आर्त्तजनोंको गिनाते हैं, जिनके दुःख दूर किये। श्रीजनकजीको बड़ा दुःख और सोच था कि 'काहु न संकर चाप चढ़ावा', 'सुकृत जाइ जौं पन परिहरऊँ। कुअँरि कुआँरि रहउ का करऊँ।' (१।२५२), 'जनक सोच अनल जरत।' १३४ (३ ख)। इसीको मिटानेके लिये विश्वामित्रजीने श्रीरामजीसे कहा और शम्भुधनु टूटनेपर श्रीजनकजीका सोच मिटना कहा भी गया है। यथा 'उठहु राम भंजहु भवचापा। मेटहु तात जनक परितापा।१।२५४।६।', 'जनक लहेउ सुख सोचु बिहाई। पैरत थके थाह जनु पाई।१।२६३।४।'—यही 'संशय' है। संशयका अर्थ 'अनिश्चय, आशंका, डर' है। उनको जो कन्या कुमारी रहने अपनी प्रतिज्ञाको पूर्ति न होनेकी आशंका हो रही थी उसको मिटा दिया।

'उठाइ बंधु ज्यों परम प्रीति केवट भेंट्यो' के भाव 'भेंटेउ केवट उठि। भरि अंक भेंट्यो सजल नयन सनेह सिथिल सरीर सो।' १३५ (४ ग) में आ चुके हैं। करकमलसे धनुष तोड़ा और करकमलसे ही केवटको उठाया और दोनों करकमलोंसे ही हृदयसे लगाया।

टिप्पणी—३ 'जेहिं...कृपाल गीध कहँ उदकु...' इति। (क) जटायुपर जैसी कृपा हुई वैसी पिता आदिपर भी नहीं हुई। ये दर्शनके लिये आर्त थे। यथा 'मरत न मैं रघुबीर बिलोके तापस बेष बनाए। चाहत चलन प्रान पाँवर बिनु सियसुधि प्रभुहि सुनाए॥ बार बार कर मींजि सीस धुनि गीधराज पछिताई। गी० ३।१२।' उसी समय प्रभुके आ जानेसे भी उनको 'कृपाल' कहा; यथा 'तुलसी प्रभु कृपाल तेहि अवसर आइ गए दोउ भाई। गी० ३।१२।' पक्षीका पितासमान संस्कार करना, जलदान देना और निज धाम देना, यह सब परम कृपा है। यथा 'पितु ज्यों गीधक्रिया करि रघुपति अपने धाम पठायो। गी० ३।१६।', 'जनक ज्यों रघुनाथ ताकहँ दियो जल निज पानि।२१५।'—प्रसंग-प्रसंगकी कुछ कथायें ४३ (६ घ), ६४ (३ क), ५७ (३ ज), ६६ (३ क) में आई हैं। गी० ५।४६ में भी कहा है—'कौने गीधअधमको पितु ज्यों निज कर पिंड दियो।'

३ (ख) 'जेहि कर बालि बिदारि...' इति। यहाँ 'कर' के साथ 'कमल' विशेषण नहीं दिया गया। आगे असुर (रावण) के वधप्रसंगमें भी केवल 'कर' शब्द दिया है। इससे सूचित किया कि जहाँ दासका हित करनेमें किसीकी हिंसा नहीं होती, वहाँ 'कमल' विशेषण देते हैं और

जहाँ हिंसा करनी होती है, वहाँ यह विशेषण नहीं देते। विशेष ५८ (१ ख, घ) में देखिये। 'बालि बिदारि' कहकर उसका कारण 'दास हित' बताया। सुग्रीव आर्तशरणागत थे। बालि-सुग्रीवके वैरकी कथा 'बालि सों कत हठि बैर बिसहते' ६७ (१ घ) तथा १३४ (५ क-ख) में देखिए। 'हठि बैर बिसाहा'का भाव 'दास हित' में है। दासका हित देखते हैं, उसके अवगुणको नहीं देखते। जिस प्रकार दासका हित हो वही करते हैं, अपयशको नहीं डरते—यह दिखाया। कपिकुलपति कियो अर्थात् संसारके समस्त वानरवंशोंका राजा बना दिया। 'अपनाये सुग्रीव बिभीषन'''। १०० (८ ख-घ) भी देखिए।

टिप्पणी—४ 'आयो सरन सभीत बिभीषन''' इति। विभीषणके आते ही तिलक करनेमें 'कर कमल' कहा। अभी रावण चाहे तो श्रीजानकीजीको देकर शरण हो सकता है। दूत, प्रहस्त, मन्दोदरी, माल्यवान सभी उसको समझावेंगे। लड़ाई छिड़नेपर 'कमल' विशेषण न रह गया। दूसरे, 'कर गहि सर चाप असुर हति' देवोंके अभयदानार्थ कहा है। 'मुनि-सिद्ध-सकल सुर परम भयातुर नमत नाथ पदकंजा।१।१८६'—इस प्रकार देवता सभीत शरणागत हुए थे। अतः रावणको मारकर उन्हें अभय किया, उसीसे राज्य विभीषणको मिल गया। विभीषण सभीत थे। १३४ (५ क) देखिए। देवता शोक बिकल थे—१३४ (२ क-ख) देखिए।

५ (क) 'सीतल सुखद छाँह जेहि कर की''' इति। प्रभुके करकंजकी छाया कहनेसे करकंजको वृक्षसे उपमित जनाया। गीतावलीमें करकंजको कल्पतरुसे रूपितकर उसकी छायाको अविचल, अमल, अनामय, अविरल, ललित और छलरहित तथा 'समन सकल संताप पाप रुज मोह मान मद माया' कहा है। (गी० ७।१४)। प्रस्तुत पदमें छायाको 'शीतल सुखद' और 'मेटति पाप ताप माया' गुणवाली कहा है। इस तरह 'शीतलसुखद' का भाव गीतावलीके 'अविचल अमल अनामय अविरल ललित रहित-छल-छाया।' से जनाया, ऐसी छाया शीतल और सुखद होती ही है। और 'ताप पाप माया' उसके उत्तरार्धमें है। शीतलता दुःखद भी होती है, वह शीतलता यहाँ नहीं है। [शीतल सुखदसे अविनाशी सुख देनेवाली जनाया। माया अर्थात् अविद्या। (भ० स०, डु०)]

[वैजनाथजीका मत है कि "शीतल है, अतः दैहिक-दैविक-भौतिकादि तापोंको मेटती है और सुखद है, इससे पाप और मायाको मेटती है। अर्थात् दुःखदायक पापोंको मिटाकर लोकसुख देती है और मायाको मिटाकर परलोक सुख देती है।" श्रीकान्तशरणजी लिखते हैं कि श्रीहनुमान्जी

के चरित्रमें यह चरितार्थ भी है। श्रीरामजीने 'परसा सीस सरोरुह पानी', इससे लंका जला डाली और उनको ताप न लगी। मेघनादने 'उठि बहोरि कीन्हेंसि बहु माया' पर इनको माया न लगी।]

५ (ख) 'निसि बासर तेहि कर सरोजकी…' इति। 'तेहि कर सरोज' अर्थात् जिससे पाप, ताप और मायाका नाश हो जाता है, शीतलता और सुख प्राप्त होता है, उसी छायाकी चाह है। भाव कि मैं पाप-ताप-मायासे पीड़ित हूँ, दुःखी हूँ। मेरा यह दुःख सिरपर कर-सरोजकी छाया करके दूर कीजिए। पुनः, 'तेहि' का संबंध ऊपरके 'जेहि कर कमल कठोर' से लेकर 'ताप माया' तक सबसे भी है। [वैजनाथजी लिखते हैं कि जैसे जनकजीपर, केवट, सुग्रीव-विभीषण और देवोंपर कृपा की, उनके संकट मिटाकर उनको सुखी किया वैसे ही कलियुगके भयसे सभीत मुझ सभीत शरणागतपर कृपा कीजिए]

सू० शुक्ल—"भगवान्‌की शरणसे भक्तकी भावना शुद्ध होती है। इसलिये जैसी भावना किया करता है सत्य हुआ करती है, जैसे जनकके लिये धनुषयज्ञ।"

नोट—२ करकमलकी छाया ऐसी अमूल्य वस्तु है कि जिनको भगवान् श्रीलाञ्छन-रूपमे अपने वक्षःस्थलमे धारण करते हैं, वे लक्ष्मीजी भी उस करकमलकी लालसा करती हैं और उसके लिये विनय करती हैं। यथा "स त्वं ममाप्यच्युत शीर्ष्णि वन्दितं कराम्बुजं यत्त्वदधायि सात्वताम्। बिभर्षि मां लक्ष्म वरेण्य…। भा० ५।१८।२३।' अर्थात् आप अपने जिस भक्तवन्दित करकमलको भक्तोंके मस्तकपर रखते हैं, उसे मेरे मस्तकपर भी रखिए। आप मुझे केवल श्रीलाञ्छन-रूपसे अपने वक्षःस्थलमें ही धारण करते हैं।

॥ श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु ॥

१३९ (५०)

दीनदयाल दुरित दारिद दुख दुनी दुसह तिहुँ ताप तई है।
देव दुआर पुकारत आरत सबकी सब सुख हानि भई है।१
प्रभुके बचन बेद बुध संमत मम मूरति महिदेव-मई है।
तिन्ह की मति रिस राग मोह मद लोभ लालची लीलि लई है।२
राजसमाज कुसाज कोटि कटु कलपत[1] कलुष कुचाल नई है।
नीति प्रतीति प्रीति परमिति पति हेतुवाद हठि हेरि हई है।३

१ कलपित—भा०, वे०, ह०। कलपत— ६६, ५१, मु०, ७४। कल्पव—दीन।

आश्रम बरन धरम बिरहित जग लोक बेद मरजाद गई है।
प्रजा पतित पाखंड पाप रत अपने अपने रंग रई है।४
साहिति[2] सत्य[3] सुरीति[4] गई घटि बढ़ी कुरीति कपट कलई है।
सीदत साधु साधुता सोचति खल बिलसत हुलसति खलई है।५
परमारथ स्वारथ-साधन भई[5] अफल सकल नहिं सिद्धि सई है।
कामधेनु धरनी[6] कलि-गोमर-बिवस बिकल जामति न बई है।६
कलि करनी बरनिये कहाँ लों[7] करत फिरत बिनु टहल टई है।
तापर दाँत पीसि कर मींजत को जानै चित कहा ठई है।७
त्यों-त्यों नीचु 'नित[8] बढ़त चढ़त सिर' ज्यों-ज्यों सीलवस ढील दई है।
सरुष बरजि तरजिऐ तरजनी कुम्हिलैहै कुम्हड़े की जई है।८
दीजै दादि देखि नातो बलि मही मोद मंगल रितई है।
भरे[9] भाग अनुराग लोग कहैं[10] राम कृपा[11]-चितवनि चितई है।९
बिनती सुनि सानंद हेरि हँसि करुना-बारि भूमि भिजई है।
रामराजु भयो काजु सगुन सुभ, राजा रामु जगत बिजई है।१०
समरथु बड़ो सुजानु सुसाहिबु सुकृत सेन हारत[12] जितई है।
सुजन सुभाउ सराहत सादर अनायास सासति बितई है।११
उथपे थपन उजारि बसावन गई बहोर बिरुद सदई है।
तुलसी प्रभु आरत आरति हरि[14] अभय बाह केहि केहि न दई है।१२

---

२ साहिति—६६, श० सा०। साति—औरोमे। ३ सुसत्य—ह०। ४ सुभरीति—भा०, वे०, ५१, ७४, आ०। सुरीति—६६, रा०, ह०। ५ भइँ—६६। भईं—रा०। भई—ह०। भइ—भा०, वे०, प्र०, भ०। भये—५१, ७४, आ०। ६ धरती—भा०, वे०, प्र०। ७ लों—६६, रा०, भा०, वे०, मु०, भ०। लौं—वि०, दीन, वै०। ८ 'बढत सो चढत सिर'—भा०, वे०, प्र०। चढत सिर ऊपर—७४, ह०, आ०। नित बढत चढत सिर—६६। बढत सिर—रा०। ९, १०, ११ भरे, कहैं, अवधि—ह०, ५१, ७४, आ० (१० कहं—भ०, मु०)। भरे, कहि, कृपा—भा०, वे०। भरै, कहै, अवध—रा०। ११ अवध—दीनजी, वि०, रा०। १२ हारी—भा०, वे०। १३ सुभाउ—६६, रा० भ०।—सुभाव—भा०, वे०, आ०। १४ हरि—६६, रा०। हर—भा०, वे०, आ०।

शब्दार्थ—दुरित=पाप। दारिद (दारिद्रय)=दरिद्रता। दुनी=दुनिया, संसार। तई=तप्त हो गई। दुआर=द्वार। संमत=सहमत, अनुमत, सम्मति, राय।=जिसकी राय मिलती हो। महिदेव=भूदेव; ब्राह्मण। लीलना=निगल जाना; समूचा खा जाना। लई=लिया। कटु=कड़वा; बुरा लगनेवाले; अनिष्ट। हेतु—न्यायमें तर्कके पाँच अवयवोंमेंसे 'हेतु' दूसरा अवयव है, जिसका लक्षण है—उदाहरणके साधर्म्य या वैधर्म्यके साध्यके धर्मका साधन। हेतुवाद=सब बातोंमें हेतु ढूँढना, तर्क करना। =नास्तिकवाद, कुतर्क, नास्तिकता। पति=प्रतिष्ठा। हई—(हयना=नष्ट करना; न रहने देना)=नष्ट कर डाली। विरहित=विशेष वा सर्वथा रहित।=शून्य; विना। रई (रैना=रँगना)=रँगी हुई। अपने रंगमें रँग जाना=मनमुखी आचरण करना, जैसे कि 'मारग सोइ जा कहँ जोइ भावा'। साहिति (साहिती)=साहित्य।=एकत्र होना; मिलना; मिलन। कलई=राँगेका पतला लेप जो बरतन इत्यादिपर कसावसे बचाने या चमकानेके लिये लगाया जाता है=मुलम्मा। इसीसे 'बाहरी चमक-दमक', 'दिखाव', 'आवरण', 'ऊपरी बनावट'के भावमें इसका प्रयोग किया जाता है। सीदत=दुःख पाते हैं; कष्ट झेलते हैं; यथा 'जद्यपि नाथ उचित न होत अस प्रभु सें करिय ढिठाई। तुलसिदास सीदत निसि दिन देखत तुम्हारि निठुराई।११२।', 'सीदत तुलसिदास निसिबासर पर्‍यो भीम तमकूप।१४४।' बिलसना=विशेष रूपसे शोभायमान या भले जान पड़ना=भोगविलास आनंद वा मौज उड़ाना। हुलसना=आनंदमें फूले न समाना; उमगकर चलना; फूले फिरना। खलई=खलता, दुष्टता। सई (अ०)=कोशिश, प्रयत्न, उद्योग।=सही, सच्ची (भ०, दीन, वि०)।=बरकत (वि०)। गोमर=गौको मारनेवाला; कसाई। बई=बोई हुई। लौं=तक। टहल=सेवा, सुश्रूषा, काम। टई (टही)=युक्ति; जोड़तोड़; मतलब निकालने या प्रयोजनसिद्धिकी घात वा ताक। सरवारदेशमें 'टिटई' 'टिटहाई' शब्द 'विना प्रयोजन छेड़छाड़', 'तंग करना' अर्थमें बोला जाता है। टई=अभिमान (पं० रा० कु०)=शेखी—(ह०)।=टैयाँ, कौड़ी (वीर)।=युक्तियाँ (दीन)। दाँत पीसना=दाँतपर दाँत रखना, हिलाना या किट-किटाना। ☞पूरा अख्तियार (वश) न चलनेपर इस तरह क्रोध प्रकट किया जाता है। 'कर मींजना'—यह मुद्रा भी बेबसीकी है कि वश चले तो तुमको मसल डालें। ठई=ठाना; विचार किया। ढील देना—यह मुहावरा पतंगसे लिया गया है। पतंगकी डोर ढील दे-देकर बढ़ाते जाते हैं, जिससे पतंग आगे बढ़ सके; बढ़नेके बाद वह ऊपर चढ़ती है। ढील देना=ध्यान

न देना; बेपरवाई करना; मनमाना करनेका अवसर देना; स्वच्छन्दता देना। सिर चढ़ना = ढीठ हो जाना; मुँह लगना। सरुष = रोषपूर्वक; क्रोध-सहित। तरजना = डाँटना-दपटना। तरजनी = अँगूठेके पासकी अँगुली। जई = बतिया; छोटा कच्चा फल। कुम्हड़ा = एक फैलनेवाली बेल जिसके पत्ते बड़े गोल और रोयेंदार होते हैं; इसके फल दस-दस सेर तकके होते हैं। दादि = न्याय। रितई (सं० रिक्त) = खाली, शून्य वा रहित की हुई। भिजई = भिगो दी। सदई = सदासे ही; सदा ही।

पद्यार्थ—हे दीनदयाल! संसार पाप, दारिद्र्य, दुःख और तीनों कठिन तापोंसे तप्त हो गया है (जल रहा है)। हे देव! अत्यन्त दीन दुःखी होकर आपके द्वारपर पुकार रहा हूँ (क्योंकि) सभी लोगोंके सब प्रकारके सुखोंकी हानि हो गई है (सब सुख जाते रहे, सब संसार दुःखी है, तब आपके सिवा दुःख और किसके आगे रोया जाय)।१। प्रभो! आपका (श्रीमुख) वचन है (अर्थात् आपने स्वयं श्रीमुखसे कहा है) कि मेरी मूर्ति ब्राह्मण-मयी है (अर्थात् ब्राह्मण मेरा प्रतिरूप हैं) और (यह बात) वेद-बुध-सम्मत है (अर्थात् वेद और पंडित भी यही कहते हैं)। (सो) उनकी बुद्धिको क्रोध, राग (ममत्व, आसक्ति), मोह, मद और लोभ लालचियोंने* (ललककर) निगल लिया है—(यह तो हुई ब्राह्मणोंकी दशा)। २। राजा और उनका शासक समाज एवं क्षत्रियसमाज करोड़ों प्रकारके बुरे लगने-वाले कुसाज (अर्थात् बुरे ठाट-बाट, वेदबाह्य कर्तव्य) और नित्य-नये पापों और कुचालोंकी कल्पना (मनमानी गढ़न्त) किया करता है। नास्तिकताने (राज और धर्म) नीति, (वेद-गुरु आदिके वाक्योंमें) विश्वास, (साधु, ब्राह्मण और प्रजामें) प्रेम, (अपने-अपने वर्णाश्रमादि धर्मोंकी) मर्यादा और प्रतिष्ठाको† हठपूर्वक खोज-खोजकर नष्ट कर डाला है।३। संसार वर्णाश्रम धर्मसे नितान्त रहित हो गया (अर्थात् वर्ण, आश्रम, धर्म रह ही न गए)। लोक और वेद (दोनों)की मर्यादा जाती रही। प्रजा

---

* अर्थान्तर—(१) उनकी लालची बुद्धिको क्रोध…। (दु०, दीनजी)। (२) लालची लोभने (दु०, वीर, सू० शु०, पो०)। (३) लोभ लालचने—(वै०, भ०, वि०)।

† अर्थान्तर—१ परम्परा नीतिपर चलनेकी प्रतिष्ठाको। (वै०)। २ सामाजिक मर्यादाकी प्रतिष्ठा। (दीन)। ३ कुलमर्यादाकी प्रतिष्ठा (वि०)। ४ प्रीतिकी मर्यादा और प्रतिष्ठा। (भ०)। ५ धर्म एवं कुलकी प्रतिष्ठाकी मर्यादाका। (श्री० श०)। ६ वर्णाश्रमकी मर्यादा और उन सबोंकी प्रतिष्ठा। (दु०, भ० स०)।

(राज्यमें रहनेवाले) पतित हो गई (अपने धर्मसे गिर गई), पाखंड और पापमें परायण तथा अपने-अपने रंगमें रँगी हुई है।४। 'साहिती', सत्य और सुप्रथाएँ (सदाचार-व्यवहार) घट गईं (अर्थात् इनका ह्रास हो गया)। कुरीतियाँ और कपटका मुलम्मा बढ़ा हुआ है। सज्जन दुःख पा रहे हैं, साधुता (चितामें पड़ी) सोचा करती है (अर्थात् शोकग्रस्त है), दुष्ट मौज उड़ाते हैं और दुष्टता फूली नहीं समाती, आनंदमें उमग रही है।५। परमार्थ स्वार्थका साधन हो गया, समस्त सिद्धियाँ निष्फल हो गईं, उनमें सचाई नहीं रह गई (एवं प्रयत्न करनेपर भी वह प्राप्त नहीं होती)†, पृथ्वीरूपी कामधेनु कलियुगरूपी कसाईके पाले पड़कर व्याकुल है, बोनेपर भी नहीं जमती।६। कलियुगकी करतूत कहाँ तक वर्णन की जाय। वह बिना प्रयोजन छेड़-छाड़ किया करता है। उसपर भी (तुर्रा यह कि) दाँत पीस-पीसकर हाथ मलता है। कौन जानता है कि (उसने अपने) चित्तमें क्या ठान रक्खा है ?।७। जैसे-जैसे शीलसंकोचवश आप ढील देते जाते हैं (अर्थात् उसे दण्ड नहीं देते, तरह देते जाते हैं), तैसे-तैसे वह नीच नित्य बढ़ता और सिरपर चढ़ता जाता है। (अर्थात् ढीठ होता जाता है, अदब-लिहाज कुछ नहीं रह गया)। क्रोधपूर्वक मना करके तर्जनी दिखाकर उसे डाँट (तो) दीजिए। (वह है ही क्या ?) कुम्हड़ेकी बतिया (ही तो) है, तर्जनी देखते ही कुम्हला जायगा।८। देखकर दाद दीजिए (न्याय कीजिए), मैं बलिहारी जाता हूँ। नहीं तो‡ पृथ्वी आनन्द-मंगलसे खाली हुई समझिए। लोगोंका सौभाग्य भरपूर हो, वे प्रेममें भर जायँ और कहें कि श्रीरामजीने कृपादृष्टिसे (हम सबोंको) देखा है।९। विनती सुनकर आनन्दपूर्वक देखकर श्रीरामजीने हँसकर अपने करुणाजलसे पृथ्वीको सराबोर कर दिया (भिगो दिया)। रामराज्य हुआ, काम (सफल) हुआ, शुभ शकुन हुए। (ऐसा क्यों न हो ?) राजा श्रीरामचन्द्रजी (तो) जगद्विजयी हैं (उन्होंने कलिकालको जीत लिया)।१०। सर्वसमर्थ, सुजान,

---

† अर्थान्तर—१ 'सब साधन निष्फल हो गए। सिद्धियाँ सच्ची नही रहीं (अर्थात् सब झूठी पड गईं)। (भ०)। २—सारी सिद्धियाँ निष्फल हो रही है, उनमें कही बढती नही है। (श्री० श०)।—और आधुनिक टीकाकारोने 'भए' पाठ दिया है। वैजनाथजीने 'सई' का अर्थ 'बरकत' दिया। उसीका अनुवाद 'बढती' श्री०श० ने रक्खा है।

‡ अपना और पृथ्वीका संबंध स्मरण कर न्याय कीजिए, जिसे देखकर लोग सौभाग्यशाली होकर प्रेमपूर्वक यह कहे ••। (दीनजी)।

और सर्वश्रेष्ठ स्वामीने सुकृतरूपी सेनाको हारतेसे जिता दिया। सज्जन लोग आदरपूर्वक स्वभावकी प्रशंसा करते हैं कि बिना परिश्रम सहज ही संकटको दूर कर दिया।११। (ऐसा क्यों न करते ?) 'उखड़े हुएको स्थापित कर देने, उजड़ेको बसा देने, गई हुईको फिरसे लौटा ला देनेवाले' यह (तो) सदासे आपका बाना है। तुलसीदासजी कहते हैं कि प्रभुने आर्तका दुःख हरकर किस-किसको अभय बाँह नहीं दी। अर्थात् सभीको शरण लिया और अभय किया। १२।

नोट—१ "अबतक तो गोस्वामीजीने भगवान्‌से अपनेही कष्टोंका निवेदन किया था, परन्तु इस पदमें उन्होंने संसारमात्रका दुःख निवेदन किया है। शुद्ध आत्मपक्षकी दृष्टिसे दुःख सुखको समभावसे देखते हुए भी वे लोकके दुःखकी निवृत्तिके पूर्ण प्रयासी थे। संसारका दुःख देखकर द्रवित होते हुए भी वे निराश नहीं होते। जिसे भगवान्‌का भरोसा है, जिसे धर्ममें आस्था है उसके पास नैराश्य नहीं फटक सकता; उसके हृदयमें तो धर्मकी ज्योति जगमगाती रहेगी। कवितावलीमें भी उन्होंने संसारके दुःखकी निवृत्तिके लिये भगवानसे प्रार्थना की है—'दारिद दसानन दवाई...' (७।९७)।" (दीनजी)।

"गोसाईंजीके हृदयमे संसार-कल्याणका भाव बड़ा प्रबल था। वह दुनियाके दुःखोंको एक क्षण भी नहीं देख सकते थे। कवित्त रामायणमें भी उन्होंने इस विषयपर कुछ पद्य लिखे हैं—'खेती न किसान को...... दारिद दसानन दबाई दुनी दीनबंधु दुरित देखि तुलसी हहा करी।' (७।९७) क्या ही प्रभावोत्पादक दुःख-निवेदन है। इतने बडे राष्ट्रीय आन्दोलनके होते भी, आज गोसाईंजी-जैसा कोई राष्ट्रीय कवि नहीं है, जो भगवान्‌के कानोंमें कुछ आर्त्तनाद पहुँचा सके।" (वियोगी)।

टिप्पणी—१ 'दीनदयाल दारिद दुख दुनी...' इति। (क) पद १३७ में यह बताकर कि जिसको श्रीरघुनाथजीके बाहुबलका भरोसा है वह निडर है, फिर उस बाहुबलका भरोसा रखकर पद १३८ में आर्तजनोंकी पुकार सुनते ही उनको शीतल करने और सुख देनेवाले कर-कमलोंकी छाया अपने लिये चाही। और अब प्रस्तुत पदमें सारे संसारके दुस्सह पाप-संतापके निवारणार्थ आर्त्त होकर प्रार्थना कर रहे हैं। जो दशा संसारकी कह रहे हैं उसका कारण, आगे 'कलि करनी बरनिये कहाँ लौं' शब्दोंसे, कलियुगको बताया है। [इस तरह सूचित करते हैं कि कलियुगकी करालतासे केवल मैं ही नहीं भयातुर हूँ, किन्तु जीवमात्र भयातुर हैं। (वै०)]

१ (ख) 'दीनदयाल' से जनाया कि संसार पापतापादिसे दीन हो रहा है, अतः आप दया करें। दुरित वह पाप हैं जो छिपकर किये जाते हैं, साधारणतः 'पाप' और 'दुरित' पर्याय हैं। पापसे दुःख होते हैं, अतः दुरित कहकर दारिद्रय आदि दुःख कहे। दारिद्रय सबसे भारी दुःख है, यथा 'नहिं दरिद्र सम दुख जग माहीं।७।१२१।१३।', इससे उसे प्रथम कहकर पापजनित भय-रोग-शोकादि सामान्य दुःखोंको 'दुख' शब्दसे जना दिया। यथा 'करहिं पाप पावहिं दुख भय रुज सोक वियोग।७।१००।' तिहुँ ताप—दैहिक, दैविक और भौतिक ताप। विशेष व्याख्या पद ४० शब्दार्थ में देखिए।

१ (ग) 'देव' का भाव कि यह संकट संसारका कोई जीव दूर नहीं कर सकता, क्योंकि कलिका सर्वत्र राज्य है, कलिपर किसीका अधिकार नहीं। कलिको आपही दबा सकते हैं। बिना दिव्य शक्तिके, दैवी बलके, संसारका संकट मिट नहीं सकता। अतः आपसे पुकार करता हूँ। 'देव'—१३४(१क) देखिए। पूर्व पद १३४ में अपने लिये 'देव' से देवद्वारपर पुकार की थी; अब सबके लिये भी उन्हीसे पुकार करते हैं जिसे श्रुति 'देव' कहती है जो देव-देव हैं।

१ (घ) 'दुआर पुकारत आरत'—तुलसीदासजी द्वारपर पड़े हैं, इसीसे द्वारपर पुकार करते हैं और आर्तनाद कर रहे हैं, क्योंकि आर्तके पुकारते ही प्रभु कृपा करते हैं। यथा 'ताते हौं बार-बार देव द्वार परि पुकार करत। आरति नति दीनता कहे प्रभु संकट हरत।१३४।', 'अभय किये जन आरत बारक बिबस नाम टेरें।१३८।'–विशेष १३४ (१ क) में देखिए।

१ (ङ) 'सबकी सब सुख हानि भई है' कहकर जनाया कि धर्ममें किसीका प्रेम नहीं रह गया, संतोष नहीं रह गया, भक्ति नहीं रह गई, इत्यादि जिनसे सुख मिलता है वे ही न रह गए। यथा 'सुख चाहहिं मूढ़ न धर्मरता।७।१०२।', 'बिनु संतोष न काम नसाहीं। काम अछत सुख सपनेहु नाहीं।७।९०।१।', 'रघुपति भगति बिना सुख नाहीं।७।१२२।१४।' ऋद्धि, नवों निधियाँ, अष्ट सिद्धियाँ, ज्ञान, वैराग्य, विज्ञान, तथा मोक्ष आदि सुख भी 'सब सुख' में आ गए। यथा 'अनिमादिक सिधि अपर रिधि मोच्छ सकल सुख खानि।७।८३। ज्ञान बिबेक बिरति बिज्ञाना।...प्रभु कह देन सकल सुख सही।' (७।८४।१-४)।

टिप्पणी—२ 'प्रभुके बचन बेद बुध संमत....' इति। (क) ब्राह्मण भगवान्की प्रतिमूर्ति हैं। ब्राह्मणोंके मुखमें अर्पण किये हुए अन्न आदिसे सर्वयज्ञभुक् भगवान्की जैसी पूजा होती है वैसी अग्निमुखमें हवन किये

हुये हविसे नहीं होती, यह जो देवर्षि नारदने युधिष्ठिरजीसे कहा है, (यथा 'न ह्यग्निमुखतोऽयं वै भगवान् सर्वयज्ञभुक्। इज्येत हविषा राजन्यथा विप्रमुखे हुतैः। भा० ७।१४।१७।)', उसका तात्पर्य यही है कि ब्राह्मण भगवान्की प्रतिमूर्ति हैं।

म० भा० आश्व० वैष्णवधर्म में भगवान्ने युधिष्ठिरजी से स्पष्ट कहा है कि 'विद्वान् पुरुषोंको द्विजोंका कभी भी अपमान न करना चाहिए, क्योंकि वे मेरे स्वरूप हैं। बहुतसे अज्ञानी पुरुष इस बातको नहीं जानते कि मैं इस पृथ्वीपर ब्राह्मणोंके रूप में निवास करता हूँ। यथा 'यदहं द्विजरूपेण वसामि वसुधातले ॥', 'नावमान्या द्विजाः प्राज्ञैर्मम रूपा हि ते द्विजाः ॥', 'बहवस्तु न जानन्ति नरा ज्ञानबहिष्कृताः। यदहं द्विजरूपेण वसामि वसुधातले ॥' (गीता प्रेस संस्करण पृष्ठ ६३२१)। प० पु० पा० में आरण्यक-मुनिने भी श्रीरामजीसे कहा है—'महाराज! वेदोंके पारगामी ब्राह्मण आपके ही विग्रह हैं।'—'त्वन्मूर्तयो महाराज ब्राह्मणा वेदपारगाः। ३७।४७।' वायु पु० में भी कहा है—'एवमाह हरिः पूर्वं ब्राह्मणा मामकी तनुः। ब्राह्मणो नावमन्तव्यो बुधो बालबुधोऽपि वा। सोऽपि दिव्या तनुर्विष्णो तस्मात्तं ह्यर्चयेन्नरः ॥६५।८-६' अर्थात् भगवान्ने भी पूर्वमें कहा था कि ब्राह्मण मेरे ही शरीर हैं। ब्राह्मणका अपमान नहीं करना चाहिये, वह बालक हो या मूर्ख। क्योंकि वे सभी विष्णुके शरीर हैं। अतः मनुष्यको चाहिये कि उनकी पूजा करे।

२ (ख) 'मम मूरति महिदेवमई है' कहनेका तात्पर्य यह है कि श्रीहरि ही एकमात्र अग्रपूजाके लिये सत्पात्र माने गए हैं, वे ही समस्त जीवोंमें न्यूनाधिक भावसे विराजमान हैं, उनका अंश (तप, योग, आदि) जिसमें जितना अधिक है, वह उतना ही श्रेष्ठ है। समस्त पुरुषोंमें ब्राह्मण ही अपने तप, विद्या और सन्तोषादि गुणोंसे साक्षात् हरिका वेदरूप शरीर धारण करनेसे हरिके समान सुपात्र माना गया है। उनके यथा-योग्य भोगों द्वारा अन्तर्यामी भगवान्के पूजनका आदेश किया गया है। तब इनसे बढ़कर संसारमें कोई नहीं है। पर ये कैसे पतित हो गये हैं, सो देखिए। ब्राह्मणोंके कर्म, यथा 'शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जव-मेव च। ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्। गीता १८।४२।' अर्थात् शम, दम, तप, शौच, क्षमा, आर्जव (दूसरोंके समीप मनके अनुरूप ही बाहरी चेष्टाका प्रकट करना), ज्ञान (लोक परलोकके यथार्थ स्वरूपको समझ लेना), विज्ञान (परमतत्वके विषयमें असाधारण विशेष ज्ञान) और आस्तिकता ब्राह्मणोंके स्वाभाविक कर्म हैं।

—२ (ग) 'तिन्ह कै मति रिस राग ···' इति। भगवान्‌की प्रतिमूर्ति
जो ब्राह्मण कहे गये हैं उनके धर्म ये बतलाये गये हैं—साधु, शान्त,
निःसंग, भूतवत्सल, एकान्त भक्त, निर्वैर और समदर्शी। तप-स्वाध्याय-
संयममें रत। यथा 'ब्राह्मणाः साधवः शान्ता निःसङ्गा भूतवत्सलाः। एकान्त-
भक्ता अस्मासु निर्वैराः समदर्शिनः। भा० १२।१०।२०।'—ऐसे ब्राह्मण लोक-
पालादि देवताओं, ब्रह्मा-शंकर-हरि द्वारा वंदित और पूज्य कहे गये हैं।
(श्लोक २१)। सो शान्तिकी जगह उनमें रिस (क्रोध), असंगके बदले
राग (विषयोंमें ममत्व आसक्ति), भगवान्‌की एकान्त भक्ति और सम-
दृष्टिके बदले मोह (द्वैतबुद्धि, अज्ञान, धर्ममूढ़ता), निर्वैरता और साधुता-
की जगह मद और भूतवत्सलता (जीवमात्रपर दया) के बदले उनमें
लोभ बस गए हैं।

'लालची' को किसीने 'मति'का और किसीने 'लोभ'का विशेषण माना
है और किसीने 'लालची'का अर्थ लालच किया है। हमने 'रिस राग'
आदि सबको लालची मानकर अर्थात् सबका विशेषण मानकर अर्थ
किया है। ये सभी एक दूसरेके सहायक और बुद्धिके नाशक हैं। किसी
पदार्थके पानेको बहुत बुरी तरह इच्छा करना, ऐसी कामना करना जो कुछ भद्दी और
बेढंगी हो 'लालच' कहलाती है। ऐसी कामना करनेवालेमें ये सब दुर्गुण आ
जाते हैं। राग (विषयसंग) से काम, क्रोध, मोह आदि क्रमशः होते हैं और
मोह होनेसे बुद्धिका नाश होता है—'संमोहात्स्मृतिविभ्रमः। स्मृतिभ्रंशा-
द्बुद्धिनाशो ··। गीता २।६३।' बुद्धिका नाश ही उसको निगल जाना है।

मिलान कीजिए—"लोभात्मानो न जानीयुः ब्राह्मणा राजकिल्विषम्।
राजकिल्विषदग्धानां ब्राह्मणानां युधिष्ठिर। स्विन्नानामिव बीजानां पुनर्जन्म
न विद्यते॥" (विष्णुधर्म० ६६।५८)। अर्थात् लोभग्रस्त ब्राह्मण राजप्रति-
ग्रह दोषको नहीं देखते। युधिष्ठिर! राजाके पापमय प्रतिग्रहसे दग्ध ब्राह्मणों-
का भूने बीजोंके समान पुनः मनुष्यजन्म नहीं होता।

टिप्पणी—३ (क) 'राज समाज कुसाज कोटि कटु···' इति। ब्राह्मण
वर्णकी दशा कही। उनसे नीचे क्षत्रियवर्ण है। इस तरह 'राज समाजसे'
क्षत्रियसमाजका भाव यहाँ है। क्षत्रिय ही राजा होते थे, प्रजाकी रक्षा
करते थे। परन्तु इससे राज्य शासनमात्रका भी ग्रहण हो सकता है। इसमें
राजा और राजाके मंत्री, सेना आदि सब समाज भी आ गए।

वैजनाथजी लिखते हैं—"क्षत्रियको खड्ग-दान-तपशूर, तेजस्वी, प्रतापी,

धीर, नीतिनिपुण, विद्यामें दक्ष इत्यादि होना चाहिए, * क्षत्रियोंमें राजा शिरमौर हैं। सो उनका समाज—मंत्री, मित्र, पुरोहित, सेनप, सुभट और कामदार आदि सब समाज—अधर्मी हो गया, पापकर्मोंकी नई-नई कुचालें चलाता है। जैसे कि—व्यर्थ दोष लगाकर दंड देना, परस्त्रीहरण करना, थोड़ेसे अपराधमें सर्वस्व हर लेना, मार डालना, अनुचित दान लेना, वेश्याओंका मान और साधुका अपमान करना, चोरों ठगों डाकुओंसे धन लेकर उन्हें अभय रखना, इत्यादि। 'कोटि कटु कलपत' अर्थात् करोड़ों प्रकारके कटु वचन बना-बनाकर कहते हैं। अर्थात् गाली देकर बात कहते, सत्पुरुषोंको कुवचन कहते, झूठको सच और सचको झूठ कहते, इत्यादि 'कुसाज' साजे रहते हुए अधर्मका प्रचार करते रहते हैं।" भट्ट, वियोगी, श्रीकान्तशरण आदिने प्रायः बैजनाथजीके भावको अपने शब्दों में दिया है।

गोस्वामीजीने मानसमें इसीको यों कहा है—"···भूप प्रजासन। कोउ नहि मान निगम अनुसासन।७।९८।', 'नृप पापपरायन धर्म नहीं। करि दंड बिडंब प्रजा नितहीं।७।१०१।' दोहावलीमें भी कहा है कि दुष्ट राजा अपनी दुष्ट नीतिसे कुचाल करते हैं—'कुनृप करि करि कुनय सों कुचालि' (दो० ५१४)। बुरा समय (कलिकाल) दुष्ट राजाके द्वारा प्रजाका नाश कराता है। राजा ही भारी गोला है, उसकी विकराल अनीति ही बारूद है, पाप पलीता और काल गोलन्दाज है। (दो० ५१५)।†

---

* गीता १८।४३ मे भी कहा है—"शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।" दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्।।' शौर्य (युद्धमे निर्भयताके साथ प्रवेश करनेका सामर्थ्य), तेज (दूसरेसे न दबना), धृति (आरंभ किये हुए कर्ममे विघ्न उपस्थित होनेपर भी उसे पूर्ण करनेका सामर्थ्य), दक्षता (समस्त क्रियाके संपादन करनेका सामर्थ्य), युद्धमे न भागनेका स्वभाव, दान (अपने द्रव्यको दूसरेकी सम्पत्ति बना देने तकका त्याग) और ईश्वरभाव (अपनेसे अतिरिक्त समस्त जनसमुदायको नियमन करनेका सामर्थ्य), ये सब क्षत्रियके स्वाभाविक कर्म हैं। (श्रीरामानुज भाष्य)। मानसमे राजाओके धर्म इतनेमे कह दिये हैं—'सोचिअ नृपति जो नीति न जाना। जेहि न प्रजा प्रिय प्रान समाना।२।१७२।४।' मुखिआ मुख सो चाहिए खान पान कहुँ एक। पालइ पोषइ सकल अँग तुलसी सहित बिबेक।२।३१५। राजधरम सरबसु एतनोई। जिमि मन माँह मनोरथ गोई।'

† वियोगीजी—"बलिहारी! कदाचित् तब राज समाजकी यह दशा न रही हो, पर आज तो सवा सोलह आने यह हालत देखनेको मिल रही है। अच्छा हो, यदि यह राज्यवंश, क्षत्रियजाति, पृथ्वीसे रसातलको चली जाय।" (सं० २००१)। आज तो गोस्वामीजीकी वाणी चरितार्थ हो रही है।

३ (ख) 'नीति प्रतीति प्रीति परमिति पति''' इति। टीकाकारोंमें किसीने 'परमिति' का अन्वय 'प्रीति' के साथ और किसीने 'पति' के साथ किया है। पद्यार्थकी पाद-टिप्पणी देखिए। नीति=धर्मनीति, राजनीति आदि। 'प्रतीति'—मंत्री, मित्रादिमें, वेदशास्त्र, गुरु और सन्त आदिमें तथा ब्राह्मण और ईश्वरमें विश्वास। प्रीति अर्थात् राजा-प्रजामें, प्रजा-प्रजामें, कुटुम्ब-परिवारमें, प्रजाका ईश्वरमें, इत्यादि सबका पारस्परिक प्रेम।

नास्तिकवादने सबको नष्ट कर डाला। तात्पर्य कि अनीति (अन्याय), अविश्वास और कलह सर्वत्र फैल गया। राजा-प्रजामें नीति न रह गई, मित्र-मित्रमें भी विश्वास न रह गया, बाप-बेटेमें प्रेम न रह गया, इसी तरह और सबमें समझ लें। [भाव यह कि जहाँ नास्तिकवाद खड़ा हो गया, परमेश्वरको न माना, वहाँ धर्म कर्म रह ही कैसे सकते हैं? क्योंकि परमात्मा ही सबका मूल है। (वि०)]†

टिप्पणी—४ 'आश्रम बरन धरम बिरहित जग''' इति। (क) आश्रम चार हैं—ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यास। वर्ण भी चार हैं—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। गोस्वामीजीने वसिष्ठजी द्वारा थोड़े ही में आश्रम और वर्णके धर्म इस प्रकार कहलाये हैं—'सोचिअ बटु निज ब्रत परिहरई। जो नहिं गुर आयसु अनुसरई। सोचिअ गृही जो मोह बस करइ करमपथ त्याग।', 'बैखानस सोइ सोचै जोगू। तप बिहाइ जेहि भावइ भोगू॥२।१७३।१।', 'सोचिअ जती प्रपंचरत बिगत बिवेक बिराग।२।१७२।'—(ये क्रमशः आश्रम धर्म कहे)। ब्राह्मण और क्षत्रिय तथा राजाके धर्म टि० ३ में आ गए। वैश्य और शूद्रके धर्म यह कहते हैं—'सोचिअ बयस कृपन धनवानू। जो न अतिथि सिव भगति सुजानू॥ सोचिअ सूद्र बिप्र अवमानी। मुखर मानप्रिय ज्ञान गुमानी। २।१७२।' गीतामें इस प्रकार है—'कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्। परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्।१८।४४।' अर्थात् खेती,

† ब्राह्मण और क्षत्रियोंका भ्रष्ट होना कहकर अब एक साथ सबकी दशा आगे कहते हैं। वैश्य-शूद्रकी रीतिको अलग-अलग न कहनेका कारण यह है कि जैसे कोई राजा दूसरेके राज्यपर चढाई करता है तो किलाको प्रथम जीत लेनेसे सारा राज्य आपसे आप वशमे हो जाता है। इसी तरह कलियुग जगत्‌रूप देशमे शासन करनेको आया। उसने प्रथम धर्मका किलारूप जो ब्राह्मण और क्षत्रिय हैं, उनको जीत लिया, तो अन्य वर्ण और आश्रम सब आपही अधिकारमे आ गए। (भ० स०)। आज कांग्रेस भी वही नीति बरत रही है।

गोरक्षा और व्यापार वैश्यके स्वभावज कर्म हैं। सेवारूप कर्म शूद्रका स्वभावज कर्म है।

'विरहित जग' अर्थात् संसारमें कलिमें किसीके धर्म न रह गए। यथा 'बरन धरम नहिं आश्रम चारी। श्रुतिविरोधरत सब नर नारी। ७।९८।१।', 'सब लोग वियोग विसोक हए। बरनाश्रम धर्म अचार गए।७।१०२।'

४ (ख) 'लोक मरजाद गई'—भाव कि मातापिता-पुत्र, भाई-भाई, इत्यादिमें मर्यादा बँधी थी; वह न रह गई। यथा 'सुत मानहिं मातु पिता तब लौं। अबलानन दीख नहीं जब लौं।', 'कुलवंति निकारहिं नारि सती। गृह आनहिं चेरि निबेरि गती।' (७।१०१), इत्यादि। वेदमर्यादा गई, यथा 'कलिकाल बिहाल किए मनुजा। नहिं मानत कोउ अनुजा तनुजा।७।१०२।'

४ (ग) 'प्रजा पतित पाखंड पापरत···' इति। लोक-वेद-मर्यादा न रह गई, लोक अपने-अपने धर्माचरणोंसे गिर गए, यही 'पतित' होना है। 'पतन' का अर्थ है गिरना। धर्मसे पतित होनेसे 'पाखंड पाप रत···' हो गए। पाखड = पा (सबका पालन करनेवाला वेदत्रयी धर्म) खंड (खंडन करना)। यथा 'पालनाच्चत्रयी धर्मः पा-शब्देन निगद्यते। तं खण्डयन्ति ते यस्मात्पाखण्डास्तेन हेतुना।' (अमरव्याख्यासुधा)। दुष्ट तर्कों और युक्तियोंके बलसे विपरीत अथवा वेद विरुद्ध मतका स्थापित करना पाखण्ड है। 'पाखंडरत' अर्थात् पाखण्डी हो गए। वेदधर्मके खण्डन करनेवाले ऐसे वचन बोलते हैं जिससे समझ नहीं पड़ता कि वेदधर्म क्या है, क्या हितकर है क्या अहितकर? उनकी अन्यार्थिका युक्तियोंसे मार्गका भ्रम होता है। यथा—'साखी-सब्दी दोहरा कहि किहनी उपखान। भगति निरूपहिं कलिभगत निंदहि बेद पुरान। दो० ५५४।', 'हरित भूमि तृन संकुल समुझि परहि नहिं पंथ। जिमि पाखंड-बाद तें गुप्त होहिं सदग्रंथ।४।१४।'

४ (घ) 'पाखंड-पापरत' होनेसे लोग अपनी मनमानी करने लगते हैं। इसीसे 'पाखंडपापरत' कहकर 'अपने-अपने रंग रई है' कहा। इसीको भुशुण्डीजीने यों कहा है—'मारग सोइ जा कहुँ जोइ भावा।७।९८।३।', 'सब नर कलपित करहिं अचारा। जाइ न बरनि अनीति अपारा।। भए बरनसंकर कलि भिन्नसेतु सब लोग।···श्रुतिसंमत हरिभक्तिपथ संजुत बिरति बिवेक। तेहि न चलहिं नर मोह बस कल्पहिं पंथ अनेक।७।१००।' दोहावलीमें इसीको 'रुचि अनुहरत अचार।५४८।' कहा है।—भाव कि सब स्वतंत्र, स्वच्छन्दचारी, मनमुखे हो गए।

टिप्पणी—५ 'साहिति सत्य सुरीति गई घटि···' इति। (क) 'साहिती' का अर्थ 'मिलन', 'एकत्र होना' श० सा० में है। इस तरह इससे यहाँ परस्पर प्रेम, मेल-मिलाप, संगठन अर्थ ले सकते हैं। साहिति घट गई अर्थात् परस्पर प्रेम व्यवहारका ह्रास हो गया, प्रेम स्वार्थसहित होने लगा। सत्य घट गया, सुरीति घट गई, अर्थात् सत्यवादी और सदाचारी पुरुष लोगोंको प्रिय नहीं लगते, झूठ मसखरी बातें कहनेवाले प्रिय होते हैं; इससे सत्य कहनेवाले कम हो गए, शास्त्रोक्त आचरण करनेवाले हँसे जाते हैं, इससे वे घट गए। कुरीति और कपटका मुलम्मा बढ़ गया अर्थात् सब व्यवहार छल-कपट सहित होते हैं, भीतर कुछ है बाहर कुछ है।—'जो कर दंभ सो बड़ आचारी॥ जो कह झूठ मसखरी जाना। कलिजुग सोइ गुनवंत बखाना॥ निराचार जो श्रुतिपथ त्यागी। कलिजुग सोइ ज्ञानी सो बिरागी।७।९८।'—यह सब कुरीति है। 'साहिति' का अर्थ यदि 'साहित्य' लें तो अर्थ होगा—"सत् साहित्य, सत्य और सुन्दर रीतियाँ" अथवा 'सत्यका साहित्य और शुभ रीतियाँ'। दो० ४४७ में भी यह शब्द आया है।—'तुलसी असमयके सखा धीरज धर्म बिबेक। साहित साहस सत्यव्रत रामभरोसो एक॥' प्रस्तुत पदमें 'साहिति' पाठ है। दतियाके नवलसिंहके 'श्रीरामविलास' ग्रन्थ में इस शब्दका प्रयोग 'सामग्री' के अर्थमें बहुत बार हुआ है।

५ (ख) 'सीदत साधु साधुता सोचति···' इति। साधु सज्जन पुरुष पीड़ित हो गए। वे कैसे अधिक दुःखी हैं, यह 'साधुता सोचति' से दिखाया। अर्थात् उनके दुःखकी थाह वा सीमा न रह गई। उनको देखकर मूर्तिमान साधुता चिन्तातुर हो रही है कि अब मैं क्या करूँ? कहाँ जाऊँ? कोई मेरा दुःख सुननेवाला नहीं। साधुता किसीमें रहने नहीं दी जाती।

'खल बिलसत···' अर्थात् कलिमें दुष्ट मौज उड़ाते हैं, दुष्टता उल्लासमयी है। [खलके स्वभावके अनुकूल एक तो कलि सहायक, दूसरे अनीतिरत अधर्मी राजा और फिर वैसे ही उसके समूह साथी सहायक; इसीसे खल आनन्द भोग करते हैं और हिंसा, परहानि, कुटिलता आदि खलता आनन्दपूर्वक बढ़ती जाती है। (वै०)] भुशुण्डीजीने भी कहा है— 'जे अपकारी चार तिन्ह कर गौरव मान्य तेइ। मन क्रम बचन लबार तेइ बकता कलिकाल महुँ।७।९८।'

टिप्पणी—६ 'परमारथ स्वारथ साधन···' इति। (क) श्रीराम ब्रह्म परमार्थरूप हैं, यथा 'राम ब्रह्म परमारथ रूपा।२।९३।', 'सखा परम परमा-

रथ एहू। मन क्रम वचन रामपद नेहू ।२।९३।६।' वे स्वार्थके साधन हो गए अर्थात् लोग ब्रह्मको जो मानते हैं, उनमें जो प्रेम करते हैं, वह उनके लिये नहीं, प्रत्युत बेटा, बेटी, स्त्री, धन, धाम, ऐश्वर्य, प्रतिष्ठा आदिकी प्राप्ति तथा दुःख या अनिष्ट निवारणार्थ। यही भगवान्‌से माँगा करते हैं। पुनः निष्काम कर्म, योग, ज्ञान, भक्ति, सदाचार आदि जो भवतरणोपाय हैं वे सब परमार्थ हैं। ये साधन भी जो किये जाते हैं, वे सब लोकको रिझाने, प्रतिष्ठा पाने, भक्त आदि कहलाये जाने, पैसा कमाने, पेट भरने, इत्यादिके लिये किये जाने लगे। यथा 'सुगति साधन भई उदर भरनि ।१८४।'—१८४ (२ ग) देखिए।

६ (ख) 'भई' अफल सकल नहिं सिद्धि सई है' इति। 'भई' स्त्रीलिंग क्रिया है, इसीसे हमने इसे सिद्धिकी क्रिया मानी है। अणिमादिक जो अष्ट-सिद्धियाँ हैं वे सब निष्फल हो गई। 'नहिं सई है' अर्थात् उनमें सचाई नहीं है। अथवा, सई (प्रयत्न) करनेपर भी सिद्धि प्राप्त नहीं होती।*

६ (ग) 'कामधेनु धरनी कलि गोमर विवस...' इति। 'कामधेनु' का भाव कि पृथ्वी राजा-प्रजा सबको मनचाहा अर्थ, धर्म और काम देती है यदि राजा धर्मात्मा हो। पृथ्वीको कामधेनु कहा तो उसका बछड़ा, दुहनेवाला और दोहनपात्र तथा दूध क्या हैं—यहाँ इनका प्रसंग नहीं है, परन्तु जो जानना चाहें वे पृथु महाराजकी कथामें भा० ४।१८।१२-२६ में देख लें। वहाँ सबके मनोरथ पूरे हुए हैं। भानुप्रतापके समयमें भी 'भूप प्रतापभानु बल पाई। कामधेनु भै भूमि सुहाई ।१।१५५।१।' वही कामधेनु-रूपिणी पृथ्वी राजा परीक्षितके राज्यके समय कलियुगके आते ही उस कलिरूपी कसाईके हाथमें पड़नेसे बेबस हो गई। 'कलि गोमर विवस' कहकर वह दृश्य दिखा रहे हैं जो सरस्वतीके तीरपर श्रीपरीक्षितजीने देखा था कि एक राजवेषधारी शूद्र हाथमें डंडा लिये हुए एक गाय और बैलको अनाथकी तरह मार रहा है। कामधेनुके समान वह गौ भी शूद्रके पैरोंसे बारम्बार मार खाती हुई अति दीन अवस्थामें थी, उसके पास बछड़ा न था, आँसू बह रहे थे, शरीर सूख गया था मानो उसे चारेकी इच्छा थी। यथा 'गां च धर्मदुघां दीनां भृशं शूद्रपदाहताम्। विवत्सां साश्रुवदनां क्षामां यवसमिच्छतीम्। भा० १।१७।३।'—धर्म ही वृषभरूप धारण किये अपने

* ढु०, भ० स०—'सय' पूरी पैदावार (उपज) को कहते हैं। 'अमुक खेतमें सय नहीं रही' अर्थात् पूरी उपज नहीं हुई, ऐसा बोला जाता है। नहि सई है = फसलकी पैदावार पूरी नहीं होती।

एक ही पैर (सत्य) से विचर रहा था और पृथ्वी ही वत्सरहित गौ थी। यह सूतजीने शौनकादि ऋषियोंसे प्रथम ही बता दिया था। (भा० १।१६।१८)। और परीक्षितजी वृषभरूप धर्मके वचन सुनकर स्वयं जान गए थे कि यह धर्म है जिसके शौच, तप और दया तीन चरण कलिने नष्ट कर डाले हैं और गौरूपमें पृथ्वी है जो यह सोचकर कि अब राजाका स्वाँग बनाए हुए ब्राह्मणद्रोही मुझे भोगेंगे, रो रही है। (भा० १।१७।२१-२७)। पृथ्वीने बताया है कि समस्त भूमण्डलको पापमय कलिकालसे ग्रस्त देखकर ही मैं शोक कर रही हूँ। (भा० १।१६।३०)।

६ (घ) 'बिकल जामति न बई है' इति। गौ उत्तम चारा चरकर दुग्धवती होकर बछडेको पाकर पेन्हाती है, तब दूध देती है। इसी तरह जब राजा धर्मात्मा होता है तब उसकी प्रजावत्सलता तथा धर्मयुक्त उत्तम चरित्ररूपी चारेको पाकर पृथ्वीरूपिणी गौ दुधार होती है और तब प्रजारूपी सुन्दर बछड़ेको पाकर पेन्हाती है। यथा 'धरनि धेनु चारितु चरत प्रजा सुबच्छ पेन्हाइ। दो० ५१२।' तब वह सब प्रकारके अन्न, धान, फल आदि रूपी उत्तम दूध देती है। कसाईके हाथ पडनेसे बछड़ा छूटा, चारा छूटा, तब दूध कैसे दे? अब तो उसे ही प्राणके लाले पड़े हैं। वैसे ही कलिमें पृथ्वीपर धर्म न रह गया, पाप फैल गया, इसीसे बीज बोनेपर भी पृथ्वीमें अन्न आदि नहीं होता।—'कलि बारहि बार दुकाल परै। बिनु अन्न दुखी सब लोग मरै।७।१०१' [सत्ययुगमें एक बार बोनेसे इक्कीस बार अन्न उपजता था और कलिमें बीज जमताही नहीं, तब उपज कहाँसे हो? इससे जीविका किसीकी न रह गई; अतएव जो कुछ साधन लोग करते हैं, वह जीविकाके लिये ही करते हैं। (वै०)]

टिप्पणी—७ (क) 'कलि करनी बरनिये कहाँ लौं···' अर्थात् उसकी करनी पापमय है, कलि 'मल अवगुन आगार', 'केवल मल मूल मलीना' है। अतएव उसकी पापमय करनी अपार है, कोई कहकर पार नहीं पा सकता तब मैं कहाँ तक वर्णन करूँ, इतनेसे ही समझ लीजिए कि यह 'करत फिरत बिनु टहल टई है', बिना प्रयोजन छेड़-छाड़ करता है। कोई धर्मकार्यमें लगते हैं, तो यह जबरदस्ती उनके पीछे काम-क्रोध-लोभादिको लगाकर उनसे अधर्म करा देता है। इस कथनद्वारा अपने ऊपर बीतीका भी संकेत कर रहे हैं कि मुझे उससे कुछ सरोकार नहीं, मैं आपका नाम लेता हूँ, उसकी ओर देखता ही नहीं, यथा 'भागीरथीजल पान करौं, अरु नाम द्वै रामके लेत नितै हौं। मोको न लेनो न देनो कछू, कलि भूलि न रावरी ओर चितैहौं। क० ७।१०२', तो भी जबरदस्ती तंग कर रहा है,

यथा 'साँची कहौं कलिकाल कराल, मैं ढारो-विगारो तिहारो कहा है। कामको कोहको लोभको मोहको मोहि सों आनि प्रपंचु रहा है। क० ७। १०१।', 'हौं तौ दीन दूवरो बिगारो-ढारो रावरो न, मैंहू तैंहू ताहिको सकल जग जाहि को। काम कोह लाइकै देखाइयत आँखि मोहि · ।क० ७।१००।', पं० रामकुमारजीने 'ठई' का अर्थ 'अभिमान' किया है; अर्थात् विना प्रयोजन शेखी वघारता है, अभिमानसे भरा रहता है।

७ (ख) 'तापर दाँत पीसि कर मींजत ' ' इति। अर्थात् कामादिको लगाकर भी संतुष्ट नहीं है। क्रोधसे दाँत पीसता और हाथ मलता है—यह मुद्रा उस दशाको सूचित करती है जिसमें अपना वश नहीं चल पाता। इस मुद्रासे जनाता है कि वस चलता तो कच्चा चवा जाता, हाथोंसे मसल डालता, अच्छा फिर देख लूँगा।—इसीसे कहते हैं—'को जानै चित कहा ठई है', अर्थात् न जाने क्या कर डाले। [भाव कि अभी कुशल है, कुछ वहुत विगड़ा नहीं है, सुधार हो सकता है, क्योंकि अभी लोग धर्मका नाम तो जानते हैं, आगे धर्मका नाम भी मिटा देगा। (वै०)]

टिप्पणी—८ (क) 'त्यों-त्यों नीचु नित वढ़त चढ़त सिर···' इति। नीचको जितना ही तरह देते जाओ वह ढीठ और निडर होता जाता है, और मनमाना अत्याचार करने लगता है, यह नीचका स्वभाव है। डाँटने पर ही वह ठीक राह चलता है। यथा 'विनय न मान खगेस सुनु डाँटेहि पै नव नीच ।५।५८।' [यहाँ 'चढ़त सिर' का भाव कि आपके आश्रितोंको ही दुःख देने लगा है, ऐसा ढीठ हो गया है। (भ० स०)]

'ज्यों ज्यों सीलवस ढील दई है'—भाव कि आपने ही उसे इस युगका राजा वनाया है, अतः शील-संकोचसे आप उसको तरह देते जाते हैं, दंड नहीं देते। पर वह नीच है, नीचके साथ शील वरतनेसे वह ऊपर ही चढ़ता है, उसे डाँटमें रखने दुरदुरा देनेसे ही वह सीधा रहता है। यथा 'नीच निरादर हीं सुखद' (दो० ३५४)। [क्षमावान राजाके सिरपर नीच लोग चढ़ते हैं···। अतएव राजाको न तो वहुत गर्म और न वहुत शीतल ही रहना चाहिए।···। यथा 'क्षमामाणं नृपं नित्यं नीचः परिभवेज्जनः ·· तस्मान्नैव मृदुर्नित्यं तीक्ष्णो नैव भवेन्नृपः।··। महा० शान्ति० ५६।३९-४०।' (श्री० श०)]

८ (ख) 'सरुप वरजि तरजिऐ तरजनी ···' इति। तर्जनी दिखाना भयकी मुद्रा है। यथा 'गरजति कहा तर्जनि न तर्जति वरजति नयन सयनके कोए ।कृ० गी०।' कुम्हडेका छोटा कच्चा फल जो आदिम अवस्थाका होता है, तर्जनी दिखलानेसे मुर्झा जाता है; यथा 'इहाँ कुम्हड़-वतिया कोउ

नाहीं। जे तरजनी देखि मरि जाहीं।१।२७३।३।' 'कुम्हड़े की जई है' का भाव कि वह है ही क्या चीज, अभी आदिम अवस्थाका है, उसको दबानेके लिये कोई विशेष परिश्रम नहीं करना है। केवल तर्जनी दिखा दीजिए और किंचित् रोषयुक्त नेत्रका इशारा करके डॉट दीजिए, बस इतने ही से वह सहम जायगा, फिर भक्तोंके साथ अन्यायका साहस न करेगा।

टिप्पणी—६ (क) 'दीजै दादि देखि ना तो बलि···' इति। 'देखि' अर्थात् भक्तोंका संकट, धर्मकी हानि-ग्लानि, कलियुगका अत्याचार इत्यादि देखकर।—'कृपासिंधु बिलोकिये जनमन की साँसति साथ।२२०।' दाद देना=न्याय करना। 'ना तो०' अर्थात् यदि न्याय न कीजियेगा, तो पृथ्वी आनंदमंगलरहित हो जायगी। भाव कि न्यायकर उसे डाँट देनेसे भक्तोंके संकट दूर हो जायँगे, सज्जनोंके घर आनंदबधाये होने लगेंगे, सब आपका जय-जयकार करेंगे। यथा- दई दीनहिं दादि सो सुनि सुजन सदन बधाय। मिटे संकट सोच पोच प्रपंच पाप निकाय।२२०।'

[दीनजी 'देखि नातो' इस प्रकार अन्वय करके अर्थ करते हैं कि "आप अपना और पृथ्वीका नाता (संबंध) स्मरण करके (कि आपने वाराहरूपसे पृथ्वीको वरण करके पत्नी बनाया था) आप न्याय कीजिए (पृथ्वीको आनंदित कीजिए)।" भगवान् 'पृथ्वीपति' हैं ही। दूसरा नाता यह है कि पृथ्वी आपकी पत्नीकी माता है। श्रीजानकीजी 'भूमिजा' हैं।]

६ (ख) 'भरै भाग अनुराग··' इति। 'भरै' अर्थात् भाग्य और अनुराग भर जाय। श्रीरामजीकी कृपादृष्टिसे मोद, मंगल, सौभाग्य आदि प्राप्त होते हैं, यथा 'तुलसिदास प्रभु कृपाल निरखि जीवजन बिहाल, भंज्यो भव-जाल परम मंगलाचरे।७४।'

टिप्पणी—१० 'बिनती सुनि सानंद हेरि हँसि··' इति। (क) दीनजी लिखते हैं कि प्रार्थनाके साथही अपने विश्वासके बलपर यह मानकर कि मेरी प्रार्थना मान ली गई, गोस्वामीजी यह कह रहे हैं कि 'बिनती··'।

वैजनाथजी लिखते हैं कि जनकी बिनती सुनकर जान लिया कि कलि-कुचालरूपी अग्निसे वसुधा तप्त हो रही है। प्रभुके मनमें दया-वीरता परिपूर्ण हो आई जिसकी स्थायी दशा है 'उत्साह'। उत्साहपूर्वक आनंदमें भरकर उन्होंने कलिके बधकी इच्छा की। परन्तु जब उसकी ओर देखा तो उसे तुच्छ जानकर हँसे कि इस निर्बलको क्या मारें। ऐसा विचारकर उन्होंने हँसकर अपने करुणारूपी जलसे पृथ्वीको भिगो दिया। इस प्रकार संतप्त जनोंको शीतल कर दिया। अपनी करुणादृष्टि पृथ्वीपर डाली।

करुणागुणके प्रभावसे कलियुगको रोककर सबके दुःख मिटा दिये। (भाव कि प्रभुकी करुणा भक्तोंपर देखकर कलियुग दब गया)।

वैजनाथजीने कलिकी ओर देखकर हँसना माना है। परन्तु 'बिनती सुनि सानंद हेरि हँसि' से बिनती करनेवालेकी ओर सानंद देखना और मुस्कुराकर उसका मनोरथ पूर्ण करना भी पाया जाता है। ऐसी सुन्दर विनय सुनकर हँसे; यथा 'विनय सुनि बिहँसे अनुज सों बचनके कहि भाय।२२०।' प्रायः अन्य टीकाकारोंने भी यही अर्थ किया है।

१० (ख) 'रामराजु भयो काजु ' ' इति। रामराज्य अत्यंत सुखदायक था, आदर्श राज्य था। उस राज्यमें 'काल कर्म सुभाव गुनकृत दुःख काहुहि नाहिं' था। काल, कर्म, गुण और स्वभाव ये ही भवमें डालनेवाले भी हैं, जीवोंके समस्त दुःखोंके कारण हैं। श्रीरामजी 'काल करम सुभाउ गुन भच्छक' हैं; अतः ये चारों न रह गए। इस तरह कोई दुःख न रह गया था—'दैहिक दैविक भौतिक तापा। रामराज नहिं काहुहि व्यापा। ७।२१।' और सब प्रकारसे सब सुखी थे। 'रामराज कर सुख संपदा। बरनि न सकइ फनीस सारदा।७।२२।' (श्रीरामराज्यका वर्णन रामायणों और पुराणोंमे विस्तारसे है)। इसीसे जिस शासनमें प्रजाको अत्यंत सुख होता है, वह रामराज्य कहलाता है। यहाँ 'रामराजु भयो' कहकर जनाया कि कलिका छल-बल न रह गया। यथा 'रामराज न चले मानसमलिनके छल छाय।२२०।' रामभक्तोंके साथ जो अत्यंत अनय अपाय करता था, वह बंद हो गया।

'भयो काजु'—अर्थात् जिस कार्यके लिये बिनय की थी वह काम हो गया। 'शुभ शकुन' होने लगे। अथवा, मंगल शकुन हो रहे हैं जो कार्य होनेकी सूचना दे रहे हैं। यथा 'होत सगुन सुंदर सबहि जो जेहि कारज जात।१।२६६।' यह कहकर फिर इसका कारण बताते हैं कि ऐसा हुआ ही चाहे, क्योंकि श्रीरामचंद्रजी जगद्विजयी हैं, जगत्‌के ही भीतर (एवं आपकी मायाका कार्य) तो कलियुग भी है, अतः श्रीरामजीको जनोंपर कृपा-करुणा देख वह क्यों न दब जाता? यथा 'करम काल सुभाव गुन दोष जीव जग माया तें सो सभय भौंह चकित चहति।२४६।' [वैजनाथजी 'जगत्‌विजयी' का भाव यह लिखते हैं कि "सत्यव्रत करके सब लोक जीते। ब्राह्मणोंको दानद्वारा, गुरुजनोंको सेवाद्वारा, वीरोंको धनुष-बाणद्वारा और शत्रुओंको युद्धद्वारा जीता। यथा 'सत्येन लोकान् जयति द्विजान् दानेन राघवः। गुरूञ्छुश्रूषया वीरो धनुषा युधि शात्रवान्। वाल्मी० २।१२।२९।']

टिप्पणी—११ (क) 'समरथु बड़ो सुजानु सुसाहिबु···' इति। समर्थ हैं, अर्थात् शक्ति, बल, तेज, वीर्य, शौर्य आदि गुणसंपन्न हैं। सुजान अर्थात् चतुरशिरोमणि हैं, चातुर्यगुणपरिपूर्ण हैं, सबके हृदयकी जान लेते हैं। यथा 'साधु सुजान सुसील नृपाला।···सुनि सनमानहि सबहिं सुबानी। भनिति भगति नति गति पहिचानी॥ यह प्राकृत महिपाल सुभाऊ। जानसिरोमनि कोसलराऊ।१।२८।' सुसाहिब हैं, यह कहकर पद १५७ में की-हुई 'सुसाहिब' की व्याख्या यहाँ जना दी। अर्थात् श्रीशंकरजी जिनकी भक्ति करते हैं, जो एकबारके भी प्रणामसे सकुचा जाते हैं, जो सेवकके दोष देखकर भी खीझते नहीं, तामसी पक्षी भी जिनकी भक्ति करके त्रैलोक्यपूज्य हुए हैं, जो सुखद सुशील, शूर, शुचि, इत्यादि हैं। पद १५७ 'सेइए सुसाहिब राम सो' देखिए। क० ७।१५ में भी 'सुसाहिब' की व्याख्या है। यथा 'रूप-सीलसिंधु गुनसिंधु बंधु दीननको, दयानिधान, जानमनि बीर बाहु बोल को। श्राद्धु कियो गीध को सराहे फल सबरी के, सिला-साप-समन निबाह्यो नेहु कोल को॥ तुलसी उराउ होत राम को सुभाउ सुनि, को न बलि जाइ न बिकाइ बिनु मोल को। ऐसेहू सुसाहेब सो जाको अनुरागु न सो बड़ोई अभागो भागु भागो लोभ-लोल को॥' ८० (२ ग) 'साहिब सब बिधि सुजान' भी देखिए।

११ (ख) 'सुकृतसेन हारत जितई है'—सुकृतकी सेना वही है जिसका ऊपर क्रोध, राग, मोह, मद और लोभादि द्वारा निगला जाना कहा है। अर्थात् सात्विक कर्म, धर्म-राज-नीति, प्रीति, प्रतीति, आश्रम-वर्ण-धर्म, लोक-वेदमर्यादा, प्रेम, सत्य, सदाचार, परमार्थ साधन आदि। ये सब नष्ट किये जा रहे थे, यही हारना है। राजा श्रीरामचंद्रने सेनाको जिता दिया अर्थात् ये सब फिरसे होने लगे, शम, दम, यम, नियम, तप, दान, शौच, दया, ज्ञान, विराग, विवेक, आदि लोकवेद धर्माचारमें लोग निर्विघ्न लगने लगे।

११ (ग) 'सुजन सुभाउ सराहत सादर··' इति। सज्जनोंका काम बना, अतः उन्हींका आदर-पूर्वक प्रशंसा करना कहा गया। 'स्वभाउ सराहत' अर्थात् ऐसा श्रीरामजीका स्वभाव ही है, कलिकृत सब यातना बिना परिश्रम ही मिट गई तो आश्चर्य क्या? यथा 'निज पन राखेहु जन-मनचोरा।', 'जेहि भारु सदा अपने पनको। क०७।६।', 'आपने निवाजे की तौ लाज महाराजको, सुभाउ समुझत मन मुदित गुलाम को। क० ७।१४।', आप आर्तिहरण, शरणपाल हैं ही, अतः शरणागतकी रक्षा की।

'अनायास' का भाव कि सुकृतसेनको कृपापूर्वक बल दे दिया कि वह

मोहकी सेनाको जीत ले, जैसे कपिसेना कृपा-बल पाकर बलिष्ठ हो गई थी, यथा 'रामकृपा बल पाइ कपिंदा। भए पच्छजुत मनहुँ गिरिंदा।५।३५।', 'राम कृपा अतुलित बल तिन्हहीं। तृन समान त्रैलोकहि गनहीं।५।५५।', 'कपि जयसील राम बल तातें।७।८०।' कृपा बल पाकर वह जीत गई। कुछ परिश्रम न पड़ा।

टिप्पणी—१२ (क) 'उथपे-थपन उजारि-बसावन गई-बहोर···' इति। यह सब स्वभावकी प्रशंसा है। यह सब उनके विरुद हैं। 'उथपे-थपन' अर्थात् उखड़े हुए को स्थापित करनेवाले हैं, यथा 'उथपे तेहि को, जेहि रामु थपै, थपिहै तेहि को हरि जौं टरिहैं। क० ७।४७।' सुग्रीव और विभीषण राज्यसे बाहर निकाल दिये गए थे, कहीं इनको शान्तिपूर्वक ठहरनेकी भी जगह न थी, सो उनको राज्यपर स्थापित किया। 'उजारि-बसावन' अर्थात् उजाड़े हुएको बसा देनेवाले हैं। लोकपालादि उजाड़ दिये गये थे, उनको आपने बसाया। यथा 'दससुख बिबस तिलोक लोकपति बिकल बिनाए नाक चना हैं। सुबस बसे गावत जिन्हके जस अमर-नाग-नर-सुमुखि सनाहैं। गी० ७।१३।', 'सुरपुर नितहि परावन होई', 'दिगपालन्ह के लोक सुहाए। सूने सकल दसानन पाए।१।१८१।'—यही 'उजाड़ा' होना है। 'आयसु भो लोकनि सिधारे लोकपाल सबै तुलसी निहाल कै-कै दिये सरखतु हैं। क० ६।५८।'—यह बसाना है। 'गई बहोर' अर्थात् गई हुईको लौटा देनेवाले। यह भी विरुद है, यथा 'गईबहोर गरीबु नेवाजू।१।१३।७।' 'गईबहोर' में अहल्या, गौतम, सुग्रीव, देवता आदिको ले सकते हैं। अहल्याका पातिव्रत्य नष्ट हुआ, पतिसे वियोग हुआ, पाषाण हुई इत्यादि। उसका रूप उसको फिर मिला, वह सौभाग्यवती हुई, पति मिले। गौतमजी-को बिछुड़ी स्त्री पापरहित करके दी। यथा 'रामके प्रसाद गुरु गौतम खसम भए। गी० १।६५।' बैजनाथजी 'दंडक वन' को हरा-भरा पावन बनाना भी 'गई बहोर' में लेते हैं; वह मुनिशापसे भयावन और अपवित्र वन हो गया था, सो उसे सुहावन और पावन कर दिया।

'सदई है' अर्थात् त्रेता या इस युगमें ही नहीं, अनादिकालसे बराबर यह बाना चला आया है। ध्रुव, प्रह्लाद, गजेन्द्र, द्रौपदी, पाण्डव, इत्यादि भिन्न-भिन्न युगोंमें ही हुए, जिनमें ये विरुद बरते गए।

१२ (ख) 'तुलसी प्रभु आरत आरति हरि ' इति। तुलसीदासजी कहते हैं कि प्रभुने मेरी आर्त विनय सुनकर सब काम बना दिया, इसमें आश्चर्य क्या? यह तो वे सदा करते हैं, उनके नाम कहाँ तक गिनाये

जावें। तुम्ही बताओ, कौन ऐसा है जिसको शरण जानेपर अभय न किया हो ?

[बैजनाथजीका मत है कि "अर्थार्थियोंके माँगनेकी युक्ति है कि हे दीनदयाल प्रभु ! कलिपीड़ित सारा संसार मेरे द्वारा पुकार कर रहा है, आप शरणपाल हैं, तुरत दाद देकर लोकको सुखी करें जिसमें सब आपका यश गावें। आप अपने प्रणतपाल बानेको चरितार्थ करें, नहीं तो आपका अपयश होगा।"]

सू० शुक्ल—"जब सतोगुण दब जाता है, रजोगुण मध्यम होता और तमोगुण अधिक होता है तभी कलियुग समझना चाहिए। भगवान्‌के भक्त ऐसी अवस्थामें घबड़ाते नहीं हैं। वे गुणातीत होते हैं। सत, रज, तमकी प्रवृत्ति आया ही जाया करती है, ऐसा समझकर सदैव समभावसे स्थिर रहते हैं। गुणोंके उद्वेगमें वेही दुःखी और घमंडी होते हैं जो कि भगवान्‌से विमुख हैं और उन्हीं मूर्खोंके लिये संसारी सुख और दुःखकी सत्य प्रतीति होती है। भगवद्भक्त तो तमोगुणके उद्वेगमें भी ऐसी भावना किया करते हैं, जैसा कि इस पदमें तुलसीदासजीने की है।

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

१४०

ते नर नरक रूप जीवत जग भवभंजन-पद-बिमुख अभागी।
निसिबासर रुचि पाप असुचि मन खल मति मलिन निगम-पथ त्यागी।१
नहिं सतसंग भजन नहि हरि को श्रवन न रामकथा अनुरागी।
सुत-बित-दार-भवन-ममता-निसि सोवत अति न कबहुँ मति जागी।२
तुलसिदास हरि नाम सुधा तजि सठ हठि पिअत बिषय-बिष माँगी।
सूकर स्वान सृगाल सरिसजन* जनमत जगत जननि दुख लागी।३

शब्दार्थ—नरक = वह स्थान जहाँ पापियोंकी आत्मायें दण्ड पानेके लिये रक्खी जाती हैं। 'जे सुख संपति सरग नरक संतत संग लागी। ११० (शब्दार्थ)।' देखिए। भवभंजन = संसार (जन्ममरणकी परम्परा) का नाश करनेवाले। रुचि = प्रेम; प्रवृत्ति। असुचि = अपवित्र। बित (वित्त) = धन। जागना = सचेत होना; विषयसे वैराग्य होना। सृगाल = गीदड़।

* जन—रा० मे नही है; प्राय: और सबोमे है।

पद्यार्थ—वे मनुष्य जगत्‌में (जीतेजी) नरकरूप होकर जीते हैं, जो भव-भंजन (श्रीरघुनाथजी) के चरणोंसे विमुख (फिरे हुए, प्रतिकूल) रहते हैं और (अतएव) अभागी हैं। (आगे नरकका रूप दिखाते हैं—) उनकी रुचि रात-दिन पापमें रहती है, मन अपवित्र रहता है, उन दुष्टोंकी बुद्धि मलिन (दूषित, भ्रष्ट, पापयुक्त) होती है और वे वेदमार्गको छोड़े रहते हैं ।१। न तो सन्तोंका संग करते और न भगवान्‌का भजन। उनके कान श्रीरामजीकी कथाके रसिक नहीं होते। पुत्र, धन, स्त्री और घरकी ममता-रूपी रात्रिमें अत्यन्त (अर्थात् गहरी नींदसे बेखबर अचेत होकर) सो रहे हैं, उनकी बुद्धि कभी नहीं जागती (सचेत होती) ।२। तुलसीदासजी कहते हैं कि भगवान्‌के नामरूपी अमृतको त्यागकर वे मूर्ख हठपूर्वक विषयरूपी विष माँग-माँगकर पीते हैं। वे लोग जगत्‌में सूअर, कुत्ता और गीदड़के समान माताको दुःख देनेके लिये ही जन्म लेते हैं ।३।

टिप्पणी—१ (क) 'ते' का सम्बन्ध 'भवभंजनपदविमुख अभागी' से लेकर अन्ततक है। 'जे' का अध्याहार इन सबके साथ किया जायगा। (ख) 'नरकरूप जीवत जग'—भाव कि जिनको नरकका रूप देखना हो, जिनने उसे नहीं देखा है, वे संसारमें प्रत्यक्ष इनमें देख लें। मोहकी सेना जो काम, क्रोध, लोभ, मद आदि हैं, ये सब नरकके मार्ग कहे गये हैं। यथा 'काम क्रोध लोभादि मद प्रबल मोह कै धारि ।३।४३।', 'काम क्रोध मद लोभ सब नाथ नरक के पंथ ।५।३८।' गीतामें काम, क्रोध और लोभ नरकके द्वार बताए गये हैं, यथा 'त्रिविधं नरकस्यैतद्द्वारं···।१६।२१।' 'द्वार' शब्द मार्ग या हेतुका वाचक है। जब कामादि नरकके मार्ग या द्वार हैं तब नरक क्या है? गीता-भाष्यमें आत्मनाशक आसुरस्वभावको (श्रीरामानुजाचार्यजीने) 'नरक' कहा है—'अस्य असुरस्वभावरूपस्य नरकस्य' और कामादिको आसुरस्वभावका द्वार कहा है। श्रीशङ्कराचार्यजीने लिखा है—'तमसो नरकस्य दुःखमोहात्मकस्य द्वाराणि कामादयः।' अर्थात् दुःख और मोहरूप अन्धकारमय नरकके द्वारस्वरूप कामादि। (भाष्य गीता १६।२२)। इस प्रकार नरकरूप जीवनका अर्थ हुआ आसुरस्वभावमय, दुःख और मोह-रूप अन्धकारमय जीवन। नरकरूप जीवनकी व्याख्या स्वयं कवि आगे पूरे पदमें करते हैं।

[टीकाकारोंने 'नरकरूप जीवन' का भावार्थ यह किया है—"जीते ही मानो नरकमें पड़े हैं अथवा निश्चय नरकको जायँगे।" (वै०)]

१ (ग) 'भवभंजनपदविमुख अभागी' इति। जिनके चरणोंके स्मरण-से, नामस्मरण आदिसे जन्म-मरण छूट जाता है, उनसे विमुख हैं अर्थात् उनसे द्वेष करते हैं, जिन कामादि नरकद्वारोंको छोड़कर भगवान्‌को

भजनेका आदेश किया गया है, उनको न छोड़कर ये भवभंजन रघुनाथ-जीको ही छोड़ देते हैं, अतः ये अभागी हैं, इनका भाग्य फूट गया है। यथा—'...नरकके पंथ। सब परिहरि रघुबीर पद भजहु भजहिं जेहि संत। ५।३८', 'तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्। गीता १६।२१।', 'जाको नाम लयें छूटत भव-जन्म-मरन दुखभार।६८।', 'हरि परिहरि सोइ जतन करत मन मोर अभागी।११०।', 'तैं निज कर्मडोरि दिढ़ कीन्ही।...।१३६।'—अभागी—११० (२ घ), १३६ (३ ख) देखिए। भगवच्चरणानुरागी भाग्यवान् माने गए है। यथा 'सोइ गुनज्ञ सोई बड़भागी। जो रघुबीर-चरन अनुरागी।४।२३।७।', 'हम सब सेवक अति बड़भागी। संतत सगुन ब्रह्म अनुरागी।४।२६।१३।', 'अहह धन्य लछिमन बड़भागी। रामपदारबिंद अनुरागी।' इत्यादि।

'भवभंजनपदविमुख' में 'नरकस्य द्वार' के सम्बन्धसे 'अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः। मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः। गीता १६।१८।' का भाव आ जाता है। अर्थात् अहंकार, बल, दर्प, काम, क्रोध-का आश्रय लिये रहते हैं और मेरी निन्दा करनेवाले अपने और दूसरोंके शरीरमें स्थित मुझ ईश्वरसे द्वेष करते हैं।—(ऐसे लोग आसुरी योनियोंमें डाले जाते हैं। अतः नरकरूप हैं)। विशेष आगे नोट १ में देखिए।

१ (घ) 'निसि बासर रुचि पाप...' इति। यहाँ 'निशि' को प्रथम कहा। क्योंकि पाप प्रायः रातमें ही विशेष किये जाते है। दिनमें मनसे विशेष पाप तथा वचनसे पाप करते हैं, किन्तु रातमें कर्म द्वारा पाप करते है जो कलिमें भी क्षम्य नहीं; इस तरह उनको पापका दंड अवश्य भोगना ही पड़ता है, आसुर स्वभाववाली योनियोंमें जन्म लेना पड़ता है। पापमें प्रवृत्ति होनेसे मन अपवित्र रहता है। अपवित्र मन बुद्धिको मलिनकर उसके नाशका कारण होता है—८२ (२ ग) देखिए। यहाँ मन और मति दोनोंको कहकर दोनोंमें भेद दिखाया—५४ नोट ६ (ख) देखिए। बुद्धिके मलिन हो जानेसे वेदका अनुशासन क्या है, यह वे समझ नही पाते और इसीसे वेदपथ छोडे हुए हैं। निगमपथत्यागीसे यह भी जनाया कि मलिनबुद्धिकल्पित मार्गोंपर चलते हैं।—'सब नर कल्पित करहिं अचारा। जाइ न बरनि अनीति अचारा।७।१००।१०।' 'त्यागी' से यह भी जनाया कि उसकी निंदा करते हुए उसका त्याग करते हैं; अतः नरकमें पड़ते हैं, यथा 'कल्प-कल्प भरि एक-एक नरका। परहिं जे दूषहिं श्रुति करि तरका।७।१००।४।'—अतएव नरकरूप जीते हैं।

टिप्पणी—२ (क) 'नहिं सतसंग भजन...' इति। सत्संग, हरिभजन,

रामकथानुराग ये सभी भव छुड़ानेवाले हैं। ५७ (६ ख), ५७ (नोट १), १३६ (१० क-ख), ११५ (५ ग-घ) और ५४ (५ ञ) देखिए।

२ (ख) 'सुत बित दार भवन ममता निसि सोवत अति···' इति। श्रीरामकृपासे भव छुडानेके लिये सत्संग होता है, जिससे समस्त ममताएँ छूट जाती हैं और परावरेश भगवान् राममें भक्ति होती है, यह मुचुकुन्द-जीने भगवान्से कहा है।— 'भवापवर्गो भ्रमतो यदा भवेज्जनस्य तर्ह्यच्युत सत्समागमः। सत्सङ्गमो यर्हि तदैव सद्गतौ परावरेशे त्वयि जायते मतिः। भा० १० ५१।५४।', अतएव 'नहि सतसंग···' कहकर उसका फल कहते हैं कि ममतारूपी रात्रिमें गाढ़निद्रामें पडे सोया करते हैं। ममताको रात्रिसे यत्र-तत्र रूपित किया गया है। यथा 'ममता तरुन तमी अँधियारी। ५।४७।३।' यहाँ 'निशि' में उसी तरुण अंधकारमय रात्रिका भाव है। ममता रात्रि है, 'मैं, तैं, मोर, तोर, अहंकार' अर्थात् देहाभिमानी होना सोना है। ७३ (१ ख; २ क–ख) में देखिए। ममता करना चाहिए श्रीराम और उनके संत आदिमें और सुत दार आदिका ममत्व त्यागना चाहिए; यथा 'कै करु ममता राम सों कै ममता परहेलु। दो० ७८।', 'जननी जनक बंधु सुत दारा। तनु धन भवन सुहृद परिवारा॥ सब कै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहि बाँध बरि डोरी।५।४८।'; सो न करके उसका उलटा करता है। ममता प्रभुको भुलवा देती है, इसीसे इससे बचना चाहिए, यथा 'से किछु करहु हरहु ममता मैं फिरउँ न तुम्हहिं बिसारें।', ११२ (३ ग) और १०८ (३ घ) देखिए। ममताका बलिदान करना चाहिए, यह पद १०८ (३) में कह आए हैं। ममतासे राग और द्वेष उत्पन्न होते हैं, जिससे जीवन 'नरकरूप' हो जाताहै। 'सोवत अति०' का भाव कि कुम्भकर्णसे भी अधिक हैं, वह तो छः मासमें एक दिन जागता भी था, पर ये ऐसी गाढ़ महामोहरूपी नींदसे सो रहे हैं कि कभी जागनेवाले नहीं। दिनों-दिन अधिक अधोगतिको प्राप्त होते जाते हैं। सुत-वित आदिकी ममतासे बुद्धि मलिन हो गई है, यथा 'सुत बित लोक ईषना तीनी। केहि कै मति इन्ह कृत न मलीनी ७।७१।६।' 'कभी नहीं जागी' कहकर जनाया कि अत्यन्त मलिन महामोह-ग्रस्त हैं। विषयसे वैराग्य होना जागना है। ७३ (१ ख) देखिए। इनके हृदयमें वैराग्यका उदय कभी नहीं होता। यह नहीं सूझता कि सुतदारादि सब स्वार्थके हैं, अंतमें कोई साथ न देगा, कामाग्नि कभी बुझनेको नहीं, इत्यादि।

टिप्पणी—३ 'हरिनामसुधा तजि सठ···' इति। (क) भगवान्का नाम दिव्य अमृत है, यह देवताओंवाला अमृत नहीं है, वह अमृत प्राकृत

है, वह सदाके लिये अमर नहीं कर सकता, उस अमृतके पानकर्ताओंको स्वर्गमें रहते हुए भी क्लेश भोगने पड़ते हैं, इत्यादि। और यह (श्रीरामनामामृत) भगवत्-प्राप्ति कराकर सदाके लिये अमर कर देता है, भवभय तथा भवका नाश कर देता है, फिर जन्म-मरण नहीं होता। प्राकृत अमृत पान करनेवालोंका भव नहीं छूटता, इसीसे वे धन्य नहीं माने गए हैं और श्रीरामनामामृत पीनेवाले जीतेजी भी धन्य माने गये हैं। यथा 'धन्यास्ते कृतिनः पिबन्ति सततं श्रीरामनामामृतम्। कि० मं० श्लो० २।'

[बैजनाथजी लिखते हैं कि 'प्रभुके नाम, रूप, लीला और धाम आदि सभी कल्याणकर्ता हैं। परन्तु देशान्तर जानेका परिश्रम उठानेपर धामको प्राप्ति होती है, रूप तथा लीलाश्रवणमें भी परिश्रम होता है और रामनाम सबको सर्वत्र सब प्रकार सुलभ है तथा एकबार उच्चारणमात्रसे अमरपद देता है। अतः यहाँ सौलभ्यगुण लेकर नामको ही कहा।']

३ (ख) 'हठि पिअत०'का भाव कि जब-जब जहाँ-जहाँ जिस भी योनिमें इनका जन्म हुआ, तब-तब इन्होंने विषयहीकी चाह की, भगवान्से वही माँगते रहे हैं। यथा 'जहँ-जहँ जेहि जोनि जनम महि पताल बियत। तहँ-तहँ तू विषयसुखहि चहत लहत नियत।१३२।' पूर्व भी कहा है—'भय सूल सोक अनेक जेहि तेहि पंथ तूं हठि-हठि चल्यो।१३६।' आगे पद १६६ में भी कहा है—'त्रिजग देव नर असुर अपर जगजोनि सकल भ्रमि आयो। गृह बनिता सुत बंधु भये बहु मातु-पिता जिन्ह जायो॥ जातें निरय निकाय निरंतर सो इन्ह तोहि सिखायो। तव हित होइ कटहि भवबंधन सो मगु तो न बतायो॥ अजहुँ बिषय कहुँ जतन करत जद्यपि बहु बिधि डहँकायो।'—बारम्बार इनसे धोखा खाकर भी फिर इन्हींकी इच्छा करता है, अतः जान पड़ा कि इसे 'हठ' है। [मनके शान्त रहनेपर भी उसे उद्दीप्त कर-करके विषयोंकी ओर लगाना 'हठपूर्वक माँगकर पीना' है। (दीनजी।) अथवा, "विषय भी यों ही नहीं प्राप्त होते, उनकी कामना करनी पड़ती है और तदनुसार उपाय करनेपर प्राप्त होते हैं, यही माँगकर पीना है। शास्त्र मना करते हैं, पर यह हठ करके चाहता है।" (श्री० श०)]

३ (ग) 'बिषय बिष'—विषय और विष दोनों ही मारते हैं। इसीसे 'विषय'को 'विष' कहा गया। विषसे एक बार मरण होता है और विषयभोगसे बारम्बार जन्म और मरण होता है। विषयसुखमे मनको लगाना, विषयकी चाह और विषयभोग करना ही उसको पीना है। नामको छोड़कर विषयसेवन करना अमृत छोड़ विष पीना है। नरतन पाकर प्रभुको जानना, भक्ति करना, नाम

जपना और परम पदकी प्राप्ति कर लेना चाहिये, (यथा 'ज्ञानभवन तन दिहेहु नाथ सोउ पाइ न मैं प्रभु जाना।११४।', 'जो पाइ पंडित परमपद पावत पुरारि मुरारि को।१३५।', 'अति दुरलभ तनु पाइ कपट तजि भजे न राम मन वचन काय।८३।'), यही 'सुधा' पीना है; और ऐसा न करना सुधाका त्याग है। मानसमें भी कहा है—"नर-तन पाइ विषय मन देहीं। पलटि सुधा ते सठ विष लेहीं।७।४४।२।"—वहाँ 'सुधा' क्या है यह स्पष्ट नहीं कहा, प्रसंगसे अर्थ लगाना होता है और यहाँ 'नाम'को सुधा स्पष्ट कहा है। वहाँ विषको सुधाके बदले लेना मात्र कहा है और यहाँ हठपूर्वक माँगकर पीना भी कहा है। अमृतके बदले विष माँग लेनेसे वहाँ भी 'शठ' कहा है और यहाँ उससे भी अधिक मूर्खता की है कि पी ही लिया, अवश्य मरेगा। अतः 'शठ' विशेषण कुछ अनुचित नहीं।

नोट—१ मिलान कीजिए—'मां प्राप्य मानिन्यपवर्गसम्पदं वाञ्छन्ति ये संपद एव तत्पतिम्। ते मन्दभाग्या निरयेऽपि ये नृणां मात्रात्मकत्वान्निरयः सुसङ्गमः। भा० १०।६०।५३।'—भगवान् श्रीरुक्मिणीजीसे कहते हैं—हे मानिनी प्रिय! मोक्ष तथा संपूर्ण संपदाओंके आश्रय और अधीश्वर मुझ परमात्माको पाकर भी जो लोग केवल (विषय सुखके साधन) संपत्तिकी ही चाह करते हैं, वे बड़े ही मन्दभागी हैं, क्योंकि विषय सुख तो नरकमें (तथा नरकसमान शूकर-श्वान योनियोंमें) भी प्राप्त हो सकते हैं। परन्तु उनका मन तो विषयमें ही लगा रहता है, इसलिये उन्हें नरकमें जाना भी पड़ता है।

श्री वरवर मुनिने भी कहा है—'भक्षितं हि विषं हन्ति प्राकृतं केवलं वपुः। मन्त्रौषधमयी तत्र भवत्येव प्रतिक्रिया॥ दर्शनस्पर्शसंश्लेष विश्लेषश्रवणादपि। अप्रतिक्रियमात्मैव हन्यते विषयैर्दृढम्॥' (यतीन्द्रप्रवणप्रभाव हिन्दी अनुवाद पृष्ठ १६७)। अर्थात् विष खा लेनेसे केवल नश्वर शरीर नष्ट होता है। फिर भी उस विषको तो मन्त्र और औषधियोंके द्वारा दूर भी कर सकते हैं; किन्तु प्रतीकाररहित विषयरूप विषके दर्शन, स्पर्श, निशेष संयोग, वियोग और श्रवणमात्रसे सुनिश्चित ही अविनाशी आत्मतत्वका भी विनाश हो सकता है (वह आत्मतत्व संसारी बन सकता है)।

टिप्पणी—३ (घ) 'सूकर श्वान सृगाल सरिस' इति। यहाँ उपमा केवल इतनेमें ही दी गई है कि ये नरकरूप योनियाँ हैं और इनका जन्म माताको दुःख देनेमात्रके लिये है अर्थात् व्यर्थ है। 'सूकर सरिस' अर्थात् सूअर विष्टाको बड़ी रुचिसे खाता है, वैसे ही ये विषय भोगमें आनन्द मानते हैं। 'श्वानसरिस' यह कि कुत्ता वमन करके फिर उसे खा लेता

है, वैसे ही ये विषयभोगसे अनेक रोग, शोक, जन्ममरण आदि दुःख उठाकर फिर उसीमें प्रवृत्त होते हैं। गीदड़ सरिस यह कि जैसे वह दूसरेका मारा हुआ मांस चोरीसे जाकर खाता है, वैसे ही ये परधन-परदाररत रहते हैं। कवितावलीमें शूकर श्वान आदिसे भी इनको बुरा कहा है यथा 'तिन्ह ते खर सूकर-स्वान भले जड़ता बस ते न कहैं कछु वै तुलसी जेहि राम सों नेह नहीं सो सही पसु पूँछ विषान न द्वै' ।७।४०।

टीकाकारोंके भाव—(१) सूकर समान पराया धन और परायी स्त्री ही उनका आहार है। श्वान कुतियाके पीछे फिरताहै, ये स्त्रीरूपिणी कुतियाके पीछे फिरते हैं। गीदड़ मरे हुएका मांस खाता है, ये दूसरोंको दुःख-देना-रूपी मांस खाते हैं। सदा माताको दुःखदाई रहे, जन्मभर कुछ न किया। (भ० स०, डु०)।

(२) शूकर प्रेमपूर्वक विष्टा खाकर पुष्टांग रहता है, पीछे तलफा-तलफाकर मारा जाता है। वैसे ही विषयी कामवश परस्त्री आदि गमन कर आनन्द करता है, पीछे गर्मी-सूजाक आदि रोगोंद्वारा महादण्ड पाकर मर जाता है। श्वान अकारण ही जीवोंको काट खाता है, कौर-कौर (टुकड़े) के लिये घर-घर मारा जाता है। वैसे ही विषयी क्रोधके वश होकर सबसे वैर करता है और स्वार्थहेतु अपमान पाता है। शृगाल जीविकाहेतु फल, ईख, अन्न आदि छिपकर खा जाता है, वैसे ही विषयी लोभवश चोरी और छल आदिसे परधन हरता है। (वै०)। इस तरह वैजनाथजीने शूकरसे कामी, श्वानसे क्रोधी और शृगालसे लोभीका ग्रहण किया है। ऐसा कहकर उनको नरकरूप सूचित किया; क्योंकि काम, क्रोध, लोभ तीनों नरकके द्वार हैं।

(३) भाव कि "जैसे सूअर आदि सदा विष्टाका भक्षण करते हुए काम प्रवृत्तिके दास बने रहते हैं, इसी प्रकार वे विषयी मनुष्य आत्मदर्शनका लाभ छोड़कर विषयोंमें फँसे हुए व्यर्थ ही जी रहे हैं, उनका तो मर जाना ही अच्छा है।" (वि०)

टिप्पणी—३ (ङ) 'जनमत जननि दुख लागी' इति। बच्चा जननेके समय कठिन प्रसववेदना होती है। जन्म लेकर भगवद्भजनकर आत्माका तथा जननीका उद्धार कर ले, तो माताको वह दुःख सुखरूप हो जाय। नहीं तो अपने जन्मसे जननीको दुःख देना ही मात्र हुआ। जन्म व्यर्थ गया। माताको प्रथम तो दस मास कष्ट सहकर गर्भकी रक्षा करनी पड़ी, फिर जन्म देते समय कठिन दुःख सहना पड़ा, फिर पाल-पोसकर बड़ा करनेमें दुःख हुआ और बड़ा होनेपर इसकी हरिविमुखतासे दुःख सहना पड़ा।

अतः 'दुख लागी' कहा। ऐसे जीवनके संबंधमें तुलसीदासजी कहते हैं— 'जननी कत भार मुई दस मास, भई किन बाँझ गई किन च्वै। जरि जाउ सो जीवनु जानकीनाथ जियै जगमें तुम्हरो बिनु ह्वै। क० ७।४०।'

सू० शुक्ल—संसारमें दो प्रकार की सृष्टि है, एक दैवी दूसरी आसुरी। इस पदमें आसुरी सृष्टिवालोंका वर्णन है। (इसका विस्तार गीता अ० १६ में देखिए)।

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

१४१

रामचंद्र रघुनायक तुम्ह सों हौं[1] बिनती केहि भाँति करौं*।
अघ अनेक अवलोकि आपने अनघ नाम अनुमानि डरौं ॥१॥
पर-दुख दुखी सुखी पर-सुख ते संत सील नहिं हृदय धरौं।
देखि आन की बिपति परम सुख सुनि संपति बिनु आगि जरौं ॥२॥
भगति बिराग ज्ञान साधन कहि बहु बिधि डहँकत लोग फिरौं।
सिव सरबसु सुखधाम नाम तुअ[2] बेंचि नरकप्रद उदर भरौं ॥३॥
जानतहूँ निज पाप जलधि जिय जलसीकर सम सुनत लरौं।
रज सम पर अवगुन सुमेरु करि गुन गिरि सम रज तें[3] निदरौं ॥४॥
नाना बेष बनाइ दिवस निसि पर बित जेहिं तेहिं जुगति हरौं।
एको[4] पल न कबहुँ अलोल चित हित दै पद सरोज सुमिरौं ॥५॥
जौं आचरन बिचारहु मेरो कलप कोटि लगि अवटि मरौं।
तुलसिदास प्रभु कृपा बिलोकनि गोपद ज्यों भवसिंधु तरौं ॥६॥

शब्दार्थ—सील(शील)=स्वभाव = आचरण। आन = अन्य; दूसरा। डहँकना =छल करके धोखा देकर ठगना। यथा 'डहकि डहकि परिचेहु सब काहू। अति असंक मन सदा उछाहू। १।१३७।३।' सरबसु (सर्वस्व)=सब कुछ; एकमात्र सारा मालमता पूँजी वा संपत्ति। सीकर=कण, अर्थात् अत्यन्त लघु, छोटा, नाममात्रका। निदरना = निरादर, अपमान वा तिरस्कार करना;

१—हो, २ तुम्र, ४ एको—रा०। १हौं, २ तव, ४एको—प्रायः औरोमे। *तुकान्तोंमे रों' सर्वत्र रा० और भ० मे है औरोमे 'रौं' है। ३ तेहि—भा०, ,०वे। ४ एकौ-आ

तुच्छ ठहराना। जेहि तेहिं=जिस तिस; जैसे भी बनै तैसे। अलोल= अचंचल; स्थिर। हित दै=प्रेम लगाकर; प्रेम से; यथा 'कहाँ वह नर गयो वेगि दै बताइए' (भक्तिरसबोधिनी) में वेगिदै=शीघ्रतासे। ७५ शब्दार्थ, तथा ७५ (३ ग) भी देखिये। अवटि मरना=भ्रमना; मारे-मारे फिरना; भवप्रवाहमें संकट झेलना, चक्कर खाना। गोपद=पृथ्वीपर पड़ा हुआ गायके खुरका चिह्न। गोपद ज्यों तरना=सहज ही बिना परिश्रम पार हो जाना जैसे गौके खुरसे बने हुये गड्ढेके जलको कोई पार करे।

पद्यार्थ—हे श्रीरामचंद्रजी! हे श्रीरघुकुलके स्वामी! मैं आपसे किस प्रकार विनती करूँ? अपने अनेक पापोंको देखकर और आपके 'अनघ' (निष्पाप) इस नामको विचारकर सहम जाता हूँ (विनती करनेका साहस नहीं रह जाता)।१। पराये दुःखसे दुःखी और दूसरेके सुखसे सुखी होना, (यह) सन्तस्वभाव मैं हृदयमें नहीं धारण करता। (इसके विपरीत) दूसरेकी विपत्तिको देखकर परम सुख मानता हूँ और दूसरेकी संपत्ति (धन, ऐश्वर्य) सुनकर विना आगके (ही) जलता रहता हूँ।२। भक्ति, वैराग्य और ज्ञानके साधन कह-कहकर लोगोंको बहुत प्रकारसे ठगता फिरता हूँ। शिवजीका सर्वस्व और सुखका धाम आपका नाम बेंचकर नरकका देनेवाला अपना पेट भरता हूँ।३। हृदयमें अपने पापोंको समुद्र जानते हुए भी (दूसरेके मुखसे) जलके एक कण बराबर भी (अपना पाप) सुनते ही लड़ बैठता हूँ। दूसरेके धूलिके कणके समान (अत्यंत लघु) अवगुणको सुमेरुपर्वत (के समान बड़ा भारी) करके और उसके पर्वत समान (महत्) गुणोंका रज (धूलि) से भी अधिक (तुच्छ मानकर) तिरस्कार करता हूँ।४। (भाँति भाँतिके अनेक वेष बना-बनाकर दिनरात पराया धन जिस-तिस युक्तिसे हरण करता हूँ। एक पल भी कभी स्थिरचित्त होकर प्रेमपूर्वक आपके चरणकमलोंका स्मरण नहीं करता।५। यदि आप मेरे आचरणपर विचार करें तब तो मैं करोड़ों कल्पोंतक औंट-औंटकर मरता रहूँगा। तुलसीदासजी कहते हैं कि हे प्रभो! आपकी कृपादृष्टिसे मैं भवसागरको गौ-के खुरके समान पारकर जाऊँगा।६।

टिप्पणी—१ 'रामचंद्र रघुनायक तुम्ह सों ···' इति। (क) श्रीरामचन्द्रजी-के अनुराग विना मलका सर्वथा नाश नहीं होता, यह पूर्व कह आये हैं, यथा 'रामचंद्र अनुराग नीर बिनु मल अति नास न पावै। ८२।' और अपनेमें मलही मल भरा है, अनुराग है ही नहीं, तब विनती करनेका अधि-कार ही क्या? क्या मुँह लेकर विनती करूँ? किस बलपर विनती करूँ?

इत्यादि सोचकर उन्हीं रामचन्द्रजीसे पूछते हुये कहते हैं कि किस प्रकार विनय करूँ ? ऐसे ही अन्यत्र भी अपनी अयोग्यताका विचार करते हुये कहा है—'क्यों करि विनय सुनावौं । १४२ ।', 'कौन जतन विनती करिये । निज आचरन विचारि हारि हिय मानि जानि डरिये । १८६ ।' 'नाथ सों कौन विनती कहि सुनावौं ···। २०८ ।' 'रामचन्द्र' शब्दके भाव ४५ (१ क), ७४ (१छ) आदिमें देखिए । रघुनायक—१२५ (७) देखिए ।

['रामचंद्र रघुनायक' का भाव—आप रघुनायक हैं । स्वामीके अनुहरित सेवक होना चाहिए । आप गुणवान हैं तो सेवक भी गुणी होना चाहिए । आप राजा हैं तो प्रजा भी अनुकूल चाहिए—इत्यादि योग्यता पाकर दोनों ओर प्रसन्नतापूर्वक कार्य-व्यवहार होता है । अयोग्यतामें प्रतिकूल होनेका भय रहता है । जैसे नीतिनिपुण राजाके पास अनीतिकर्ता प्रजा यदि न्यायके लिये जाय तो आश्चर्य नहीं कि उसको दण्ड मिले । अतः मैं अपनी अयोग्यता देख सम्मुख आते डरता हूँ । आप रामचन्द्र हैं अर्थात् परात्पर परब्रह्म हैं जो लोकोद्धारहेतु धर्मात्मा रघुवंशमें अवतीर्ण हो शुद्ध धर्म धारणकर रघुवंशनायक कहलाए । (वै०)]

१ (ख)—'अघ अनेक अवलोकि आपने अनघ नाम' ···इति । 'अनेक' का भाव कि अगणित हैं । अगले पदमें कहा है कि शेषादि भी कल्पशततक उन्हें गिन नहीं सकते । मैं महान् पापी हूँ और आप 'अनघ' हैं । भगवान्‌का 'अनघ' एक नाम ही है । 'विष्णु सहस्रनाम'में भीष्मपितामहजीने नामोंमें इसे भी गिनाया है । यथा 'अनघो विजयो···', 'अमूर्तिरनघो···' (म० भा० अनु० १४६।२६; १०२।'—५१ (८ क), ५६ (८ क) देखिये । और वे निष्पाप भी हैं, यथा 'गहहि न पाप पूनु गुन दोषू ।२।२१६।' 'सर्वाघगणवर्जितः' और 'स्मृतसर्वाघनाशनः' श्रीरामचन्द्रजीके अष्टोत्तरशतनामोंमेंसे दो नाम ही हैं । (प० प० उ० २८१। ४५, ४१) ।

'अनघ नाम अनुमानि डरौं'—भाव कि अघी और अनघका संबंधही क्या ? निष्पापको पापीसे प्रयोजन ही क्या ? इसीसे शंकित हृदय होता हूँ कि अपनी इस करनीसे सम्मुख कैसे जाऊँ ? विनती कैसे करूँ ? यथा 'निज करनी बिपरीत देखि मोहि समुझि महाभय लागै ।११६।' 'पापवंत कर सहज सुभाऊ । भजन मोर तेहि भाव न काऊ । जौंपै दुष्ट-हृदय सोइ होई । मोरे सनमुख आव कि सोई ।५।४४।' 'डर' के सम्बन्धसे प्रथम ही 'रघुनायक' संबोधित किया है, क्योंकि राजासे डरना ही चाहिए ।—'नृप ज्यों डर डरिये' । आगे 'अघ अनेक' मेंसे दो-चारको गिनाते भी हैं ।

टिप्पणी—२ 'पर दुख दुखी···' इति। यहाँ सन्तोंका स्वभाव और अपना प्रतिकूल आचरण कहते हैं। वे पराया दुःख देखकर दुःखी और सुख देखकर सुखी होते हैं, यथा 'पर दुख दुख सुख सुख देखे पर। ७।३८।१।', 'विश्वोपकारहित व्यग्रचित।५७।', 'संत सहहि दुख पर-हित लागी।७।१२०।' उत्तरार्धमें इसके विपरीत अपना आचरण कहते हैं कि पराया दुख देखकर परम आनंदित होता हूँ और संपत्ति अर्थात् ऐश्वर्य सुख सुन भी लेता हूँ तो हृदयमें बिना अग्निके ईर्ष्या-डाहसे जल उठता हूँ; यथा 'सोइ बिपरीत देखि परसुख बिनु कारन ही जरिये।१८६।'— इस तरह जनाया कि मैं 'खल' हूँ। खलका ही यह स्वभाव है, यथा 'परहितहानि लाभ जिन्ह केरे। उजरे हरष, बिषाद बसेरे।१।४।२।', 'जब काहू कै देखहि बिपती। सुखी भए मानहु जगनृपती।७।४०।३।', 'खलन्ह हृदय अति ताप बिसेषी। जरहिं सदा पर संपति देखी।७।३९।३।' 'परम सुख' और 'बिनु आगि जरों' के भाव इन उद्धरणोंसे स्पष्ट हो जाते हैं कि दूसरेपर विपत्ति पड़े, इसीको अपना परम लाभ मानता हूँ और ऐसा सुखी होता हूँ मानों मुझे संसारका चक्रवर्तिराज्य मिल गया। बिना आगके जलना यह है कि सुनकर हृदय अत्यन्त अधिक संतप्त हो जाता है। 'सुनि' शब्दसे जनाया कि मैं खलसे बढ़कर 'अति खल' हूँ, वे देखकर जलते हैं और मैं सुनकर ही जल मरता हूँ। सुननेपर मेरी यह दशा होती है, तब प्रत्यक्ष संपत्ति देख लेनेपर तो ईश्वर ही जानें क्या दशा हो। विपत्तिको देखना कहकर जनाया कि प्रत्यक्ष दुःख देखकर साधारण मनुष्यको भी दया आ जाती है, पर मेरा हृदय देखकर भी दयार्द्र नहीं होता तब सुननेकी तो बातका कहना ही क्या? सुननेपर भला दया कब होने लगी!

३ 'भगति बिराग ज्ञान साधन कहि···' इति। (क) भक्ति, वैराग्य, ज्ञानके साधन कहनेका भाव कि इनकी लंबी-चौड़ी व्याख्या प्रमाण दे-देकर करते हुए कहता हूँ कि यदि हरिप्राप्ति चाहते हो तो इस तरह भजन करो। इस तरह अपनेको बड़ा भारी विद्वान्, पंडित, वेदज्ञ, शास्त्रज्ञ, भक्त, वैराग्यवान् और ज्ञानी जनाता हूँ जिसमे लोग मेरी प्रतिष्ठा करें, मुझे पूजें, धन आदि दें। यथा 'भगति ज्ञान वैराग्य सकल साधन एहि लागि उपाई। केउ किछु कहउ देउ किछु, असि बासना हृदय तें न जाई।११९।' भक्तिके साधन जैसे अरण्यकांड आदि में कहा है। यथा 'भगति कि साधन कहउँ बखानी।···।३।१६।' इस रामगीतामें वैराग्यका साधन भी है—'निज निज कर्म निरत श्रुतिरीती॥ एहि कर फल पुनि बिषय बिरागा।३।१३।६-७।' वैराग्य आदि ज्ञानके साधन हैं; यथा 'ज्ञान कि होइ बिराग बिनु।' भक्ति,

विराग, और ज्ञान स्वयं भी साधन हैं। इनकी व्याख्या पूर्व हो चुकी है। 'इहै भगति वैराग्य ज्ञान ।२०५।' भी देखिए।

३ (ख) 'सिव सरबसु सुखधाम नाम तुअ···' इति। 'नाम तुअ' अर्थात् रामनाम। यही नामकरणसंस्कारमें वसिष्ठजीने नाम रक्खा है, यथा—'सो सुखधाम राम अस नामा ।१।१९७।६।' अतः 'नाम तुअ' से यही नाम अभिप्रेत है। शिवजीने शतकोटिरामचरितको बाँटकर यही दो अक्षर स्वयं ले लिया, यथा 'सतकोटिचरित अपार दधिनिधि मथि लियो काढ़ि वामदेव नाम-घृतु है ।२५४।' यह नाम उनका सर्वस्व है, यथा 'जासु नाम सरबस सदासिव-पारवतीके। गी० १।१२।' रामनाम सुखधाम ही नहीं, किंतु सुखके सारका भी कारण है, यथा ' हेतु सुखसार को ।६६।', 'सकल सौभाग्यसुखखानि जिय जानि सठ मानि विश्वास वद वेदसारं ।४६।'

३ (ग) 'वेंचि नरकप्रद उदर भरौं' इति। नामकीर्तन ठहरौती कराकर करना, नामकी महिमाका व्याख्यान पैसा मिलनेके विचारसे करना, अथवा लोगोंको दिखानेके लिये जप करना जिसमें वे पैसा दें, इत्यादि नामको वेंचना है। आगे भी कहा है—'सो पर-कर काकिनी लागि सठ वेंचि होत हठि चेरो ।१४३।'

'नरकप्रद उदर भरौं' अर्थात् केवल उदरपूर्तिके लिये करता हूँ, इसीसे वह सब खाया-पिया नरकका देनेवाला होता है। यथा 'शिश्नोदरपर जमपुर त्रासन ।', ☞ इससे जनाया कि नामको वेंचकर पेट भरनेसे नरक मिलता है। वियोगीजीके मतानुसार भाव यह है कि "इस पापी पेटके लिये मैं तुम्हारे नामकी ओटमें अनेक पाप करता हूँ, कुछ उठा नहीं रखता।"

टिप्पणी—४ (क) 'जानतहूँ निज पाप जलधि···' इति। 'जानतहूँ' का अर्थ है 'जानते हुए भी'। 'जलधि' अर्थात् समुद्रवत् अपार और अथाह हैं, इनको कोई गिना नहीं सकता। पूर्व भी कहा है—'मैं अपराधसिंधु करुनाकर जानत अंतरजामी ।११७।' (वहाँ कहा था कि आप जानते हैं और यहाँ बताते हैं कि मैं भी जानता हूँ), 'जद्यपि मम अवगुन अपार ।११८।' जीमें जानना कहकर जनाया कि बाहर प्रकट नहीं करता, हृदयमें छिपाये रखता हूँ, यथा 'मन क्रम बचन लाइ कीन्हें अघ ते करि जतन दुरावौं ।१४२।', क्योंकि लोग जान लेंगे तो मेरी प्रतिष्ठा जाती रहेगी, भंडा फूट जायगा। इसीसे 'जल सीकर सम सुनत लरौं' अर्थात् अपने पाप प्रकट न हों, इसलिये किंचित् भी कोई दोष देकर धब्बा लगाना चाहता है तो उससे लड़ जाता हूँ कि तूने ऐसा कैसे कहा? वाद-विवादकर उसका

मुँह बंद कर देता हूँ। इस तरह पापोंको छिपाकर ऊपरसे धर्मात्मा सज्जन बनता हूँ।

४ (ख) 'रज सम पर अवगुन'''इति। पूर्वार्धमें अपने पापसमुद्रको छिपानेमें प्रवीण दिखाकर अब दूसरोंके अत्यन्त अल्प अवगुणको सुमेरुपर्वतके समान बढ़ाने और पर्वत समान भारी परगुणको अत्यन्त तुच्छ बनाकर निरादर करनेमें प्रवीण बताते हैं। भाव कि दूसरेके भारी गुणोंको निरादर करके दबा देता हूँ जिसमें कोई उनकी प्रशंसा न करें। इस प्रकार जनाया कि पर-अवगुण सुननेसे मुझे बड़ी प्रसन्नता होती है कि इसकी खिल्ली उड़ाऊँगा और परगुण सुनकर संताप होता है, उसे सह नही सकता। यथा 'पर गुन सुनत दाह परदूषन सुनत हरष बहुतेरो। आप पाप को नगर बसावत सहि न सकत पर खेरो।१४१।' [तात्पर्य कि मुझे अपना ही सब कुछ अच्छा लगता है, दूसरोंका नही, ऐसा स्वार्थी हूँ। (वि०)]

टिप्पणी—५ 'नाना वेष बनाइ'''इति। (क) नाना वेष यह कि कभी योगी बन योगकी कलायें दिखलाने लगे, कभी मौनी बने, कभी बडे दयालू बने, कभी पंडित, कभी धर्मात्मा, कभी अवधूत, साधुवेषधारी, ज्ञानी, कर्मकाण्डी आदि बने तो कभी कवि, उपदेशक, व्यास आदि बने। कभी शैव, कभी वैष्णव, इत्यादि बहुरूप धारणकर पुजाते ठगते। 'दिवस' को प्रथम कहा, क्योंकि ये वेष प्रायः दिनमें विशेष बनते हैं। दिवस निशि अर्थात् निरंतर यही किया करता हूँ। 'जेहि तेहि जुगुति' अर्थात् जिस युक्तिसे जिसका धन ठगा जा सकता, वही वेष वही युक्ति रच लेता हूँ। साधु बनकर शापका भय देकर अथवा आशीर्वाद देकर भी ठगता हूँ।

☞ फलकी आशामे बँधे हुए मनुष्यका यहाँ स्वरूप दिखाया है। वह कभी धुले वस्त्र पहनता है, और कभी फटे-पुराने मैले वस्त्र धारण करता है, कभी वीरासनसे बैठता है, कभी खुले आकाशमें रहता है। कभी चीर और वल्कल पहनता है, कभी चट्टानपर सोता बैठता है तो कभी काँटोंके बिछौनेपर। कभी राख बिछाकर सोता है, कभी भूमिपर ही लेट जाता है, कभी किसी पेड़के नीचे ही पड़ा रहता है, कभी चौकियोंपर तथा कभी नाना प्रकारकी शय्याओंपर सोता है। कभी मूँजकी मेखला बाँधे कोपीन धारण करता है, कभी नंग-धड़ंग घूमता है। कभी रेशमी वस्त्र और कभी काला मृगचर्म या बाघाम्बरसे अंगोंको ढक लेता है। कभी दिनरातमें एक बार भोजन करता, कभी दो चार छः सात आठ दस बारह दिनोंके बाद अन्न ग्रहण

करता है। कभी कन्द-मूल-फलसे निर्वाह करता है, सिद्धिप्राप्तिके लिये नाना प्रकारके कठोर नियमोंका सेवन करता है। कभी चान्द्रायणव्रत करता और अनेक प्रकारके धार्मिक चिह्न धारण करता है। कभी आश्रमोंके मार्गपर चलता और कभी विपरीतपथका आश्रय लेता है। कभी नदियोंके एकान्त तटमें, कभी निर्जन वनमें, कभी देवमंदिरमें, कभी पर्वतकन्दरामें निवास करता है। इत्यादि। (म भा. शान्ति ३०३।६-२५)।—यह सब 'नाना वेष बनाइ' कहकर जना दिया।

५ (ख) 'एको पल न कबहुँ अलोल चित...' इति। 'एक पल भी' कहनेका भाव कि परवित्त-अपहरणोपाय तथा उदरभरणोपाय आदिमें सारा समय नष्ट कर डालता हूँ, इतना (एक पलका) भी अवकाश नहीं मिलता, चित्त कभी स्थिर होकर नहीं बैठने पाता। पुनः, 'एको पल' का भाव कि यदि एक पल भी चित्त स्थिर होकर प्रभुका स्मरण, ध्यान आदि कर ले तो भी बन जाय, यथा 'मन इतनोई या तनु को परम फलु। सब अँग सुभग बिंदुमाधवछबि तजि सुभाउ अवलोकु एक पलु।६३।', 'बिगरी जन्म अनेक की सुधरत न लगै पल आधु। पाहि कृपानिधि प्रेम सों कहे को न राम कियो साधु।१६३।'

टिप्पणी—६ (क) 'जौं आचरन बिचारहु मेरो···' इति। 'जौं' सन्दिग्ध-वचन देकर जनाया कि ऐसा आपका स्वभाव है नहीं, यथा 'जोपै हरि जनके अवगुन गहते। तौ सुरपति कुरुराज बालि सों कत हठि बैर बिसहते।९७।' आपका तो स्वभाव है—'जनगुन अलप गनत सुमेरु करि, अवगुन कोटि बिलोकि बिसारन। परम कृपाल भगत चितामनि बिरद पुनीत पतितजनतारन।२०६।' अतएव विश्वास है कि मेरे आचरण पर भी ध्यान न देंगे। कदाचित् आप ध्यान दें तब तो करोड़ों कल्पोंतक मेरा उद्धार नहीं होने का। यथा 'तौ बहुकल्प कुटिल तुलसीसे सपनेहु सुगति न लहते।९७।' कोटि कल्पतक इससे कहा कि एक जन्मके ही एक-एक पाप ऐसे हैं कि प्रत्येकके लिये कल्प-कल्पतक नरकमें रहना पडेगा और मैं अनादिकालसे पाप ही पापमें रत रहा हूँ। 'अवटि मरौं'—यह मुहावरा कड़ाहमें किसी द्रव पदार्थको आगपर रखकर अवटाने (जलाने, खौलाने, गाढ़ा करने) से लिया गया है। ब्रह्माण्ड या संसार कड़ाह है (यथा 'अंड कटाह अमित लयकारी।७।९४।')। कामना अग्नि है, (यथा 'बुझै न काम अगिनि तुलसी कहुँ विषय भोग बहु घी तें।१९८'। (ज्ञान दीपकप्रसंगमें जैसे निष्कामताकी अग्निपर अवटना कहा है, वैसे ही उसके विपरीत मोहमें पड़े हुए के प्रसंगमें कामना अग्नि हुई)। संसारमें पड़े

हुए कामनाओंरूपी अग्निसे खौलाये जानेके समान संतप्त दुस्सह भवपीड़ा सहता रहूँगा, भवसे छुटकारा नहीं मिलनेका।

[वै०—'विचारहु०' का भाव कि "यदि आप सोचें कि 'जैसे इसने असत्कर्मकर पाप बढ़ाया है, वैसे ही यह सुकृत करके अपनी करनी-से उद्धार कर ले।' तो कर्म-योग-ज्ञानादि अग्निमें अपने जीवनको औटा मरूँ, सब साधन करते-करते पच मरूँ तो भी मेरा उद्धार नहीं होनेका।' (यथा 'जौ पै जिय धरिहौ अवगुन जनके। तौ क्यों कटत सुकृत नख ते मोपै बिटपबृंद अघ-बनके ।९६।' (मेरी समझमें यहाँ सुकृतसाधनकर पच मरनेका भाव नहीं है।)]

६(ख) 'कृपा-बिलोकनि गोपद ज्यों ' इति। तुलसीदासजीको प्रभुकी कृपाका ही अवलंब है—६४ (१ ख), ११६ (५ ख-ग) और १२७ (५ क) देखिए। 'गोपद ज्यों' अर्थात् जैसे गौ-के खुरसे बना हुआ गड्ढा एक बच्चा भी सहज ही लाँघ जाता है, वैसे ही प्रभुकी कृपादृष्टिसे भवसागर गोपदसे बने हुए गड्ढेके समान सहज उल्लंघनीय हो जाता है। यथा 'गोपद सिंधु अनल सितलाई। राम कृपा करि चितवा जाही ।५।५।२-३।' इसी कृपाका भरोसा अगले पदमें भी दरसाया है। यथा 'तुलसिदास प्रभु सो गुन नहिं जेहि सपनेहु तुम्हहि रिझावौं। नाथ कृपा भवसिंधु धेनुपद सम जो जानि सिर नावौं ।१४२।' पूर्व पद ११८ में कहा था कि कहनी और करनी एकसी हो तो भवसागर गोवत्सपद समान हो जाता है, यथा 'जो कछु कहिअ करिअ भवसागर तरिअ बच्छपद जैसे।'; पर मेरी रहनी और करनी एक नहीं है, मुझे तो करुणा दयाका ही भरोसा है, यथा 'तुलसिदास निज गुन बिचारि करुनानिधान करु दाया।' वैसे ही यहाँ भी कृपादृष्टिका अवलंब बताते हैं।

६ (ग) डा० माताप्रसाद गुप्त—"स्वदोषानुभूति भी रामभक्तिकी एक आवश्यक भूमिका है। कविकी यह स्वदोषानुभूति 'विनयपत्रिका' में पग-पगपर आगे आती है। यदि ध्यानपूर्वक देखा जावे तो यह दोष-बुद्धि और कुछ नहीं है, भक्तिकी अनेक आवश्यक भूमिकाओंको अवहेलना-मात्र है। इस सम्बन्धमें चार पद (१४१,१४२,१५८,२०८) ऐसे हैं कि वे भावोंकी बड़ी तीव्रताके साथ कहे गये हैं। प्रस्तुत पद १४१ क्रमशः वासनाविहीन, व्यापक प्रेम, नामानुराग, दंभ-लोभादिसे निर्विकारता तथा स्वरूपासक्तिके अभाव-सम्बन्धी है। पद १४२ मनकी निर्विकारता अर्थात् माया (अनात्म विषयों) से मनको निर्लिप्त रखने और ब्राह्मणसेवासे सम्बन्ध रखता है। पद १५८ क्रमशः मन (की) निर्विकारता और लोकसे

निरपेक्षताके तथा अनन्याश्रय बुद्धिसे सम्बन्ध रखता है और पद २०८ लोकसे निरपेक्षताके साथ अनन्याश्रयबुद्धि, नामानुराग तथा मनकी निर्विकारतासे सम्बन्ध रखता है।—अपने इन अघोंके अपरिमित विस्तारके आधारपर ही तुलसीदासजी अपने उद्धारके लिये पद ९५ में एक विनोद-पूर्ण तर्क उपस्थित करते हैं—'तऊ न मेरे अघ अवगुन गनिहैं। ...ज्यों त्यों तुलसदिास कोसलपति अपनायहि पर बनिहै'।

फलत यह स्वदोषानुभूति मुख्यतः मनकी तथा इन्द्रियोंकी—और मन भी केवल एक इन्द्रिय माना जाता है—स्वाभाविक विषय-लोलुपताके आधार पर अतिशयोक्तिका समाश्रय लेते हुये अपने ऊपर आरोपित की हुई है, और इसमें तुलसीदासजी कदाचित् अपने स्वामीका अनुकरण-मात्र करते हैं:—

'कामिन्ह कै दीनता देखाई। धीरन्ह के मन बिरति दृढ़ाई। (मानस, अरण्य ३६)"

सू० शुक्ल—"अच्छे कामोंमे अरुचि और बुरे कार्योंमें रुचि होना ही जीवत्व है। जब जीवात्मा अपने दोषोंको देख लेता है और भगवान्से उनके छूटनेकी प्रार्थना करता है, तभी मुक्त हो जाता है।"

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

१४२ (४५)

सकुचत हों[1] अति राम कृपानिधि क्यों करि बिनय सुनावों‡।
सकल धर्म बिपरीत करत[2] केहि भाँति नाथ मन भावों॥ १॥
जानत हूँ[3] हरि रूप चराचर मैं हठि नयन न लावों।
अंजनकेससिखा जुवती तहँ लोचन सलभ पठावों॥ २॥
श्रवनन्हि को फलु कथा तिहारी[4] यहु समुझौं[5] समुझावों।
तिन्ह श्रवनन्हि पर-दोष निरंतर सुनि-सुनि भरि-भरि तावों॥ ३॥

---

१ हो—६६, रा०। हौं-प्रायः औरो मे। ‡ भा०, वे०, दीन, वि० मे तुकान्तमे सर्वत्र 'वौं' है। ६६, रा०, वै०, मु०, भ० मे 'वो' है। २ करौ—ह०। ३ हूँ-६६, रा०, ५१. ७४, मु०, दीन, डु०। हाँ-भा०, वे०, ह०, वै०, भ०, वि०। ४ तिहारी-६६, रा०, ५१, भ०, ७४, दीन। तुम्हारी-भा०, वे०, ह०, प्र०, आ०। ५ समुझौ-६६। समुझो—रा०।

जेहि रसना गुन गाइ तिहारे बिनु प्रयास सुख पावौं।
तेहि मुख पर अपवाद भेक[७] ज्यों रटि-रटि जनम नसावौं ॥४॥
करहु हृदय अति बिमल बसहिं हरि कहि-कहि[८] सबहिं सिखावौं।
हौं[९] निज उर अभिमान मोह-मद खलमंडली बसावौं ॥५॥
जो तनु धरि हरिपद साधहिं जन सो बिनु काज गवावौं।
हाटक घट भरि धर्‍यौ सुधा गृह तजि नभ कूप खनावौं ॥६॥
मन क्रम वचन लाइ कीन्हें अघ ते[१०] करि जतन दुरावौं।
पर-प्रेरित[११] इरिषा[१२] बस कबहुँक[१३] कियो[१४] कछु सुभ[१५] सो जनावौं॥७
बिप्रद्रोह जनु बाँट पर्‍यो हठि सब सों बैरु बढ़ावौं।
ताहू पर निज मति बिलास सब संतन्हि माँझ गनावौं ॥८॥
निगम सेष सारद निहोरि जौं अपने दोष कहावौं।
तौ न सिराहिं कलप सत लगि प्रभु कहा एक मुख गावौं ॥९॥
जौं करनी आपनी बिचारौं तौ कि सरन हौं आवौं।
मृदुल सुभाउ सील रघुपति को सो बल मनहिं दिखावौं ॥१०॥
तुलसिदास प्रभु सो गुन नहिं जेहि सपनेहुँ तुम्हहि रिझावौं।
नाथ-कृपा भवसिंधु धेनुपद सम जो[१६] जानि सिर[१७] नावौं ॥११॥

शब्दार्थ—भावौं = अच्छा लगूँ। अंजनकेश = दीपक, दीया, चिराग। शिखा = चोटी; लौ। शलभ = पतिंगा। फल = साफल्य; सार्थकता; धर्म; लाभ। ताना, तावना = गीली मिट्टी या आटा आदिसे ढक्कन चिपकाकर

७-भरे—६६। भेक—प्राय: सबोंमे। ८ करि—मु०। ९ हो—६६, रा०, भ०। हौं—भा०, वे०, आ०। १० सो—प्र०। ११ प्रेरक—भा०। प्रेरिक—वे०। १२ इरिषा—६६, रा०। इरषा (ईर्षा)—भा०, वे०, ह०, ७४, आ०, ज०। १३ कबहूँ—ह०। १४ किय—७४, वि०। १५ सो सबहि—प्र०। १६ जो—६६, रा०, ५१ मु०, डु, वि०, वै०। सु—भा०, ह०। सो—७४। जिय—भ०, दीन। १७ सिर नावो—६६।सिरनावौं —भा०, वे०, ह०। सिरावो—रा०, ५१, मु०, डु०, भ०, दीन, वि०, ७४। वै० ने 'जो समुझि नियरावो' और प्र०, ज०, १५ मे 'समुझि जानि नियरावो' पाठ दिया है।

किसी बरतनका मुँह बंद करना जिससें भीतरकी वस्तु सुरक्षित रहे। =मूँदकर रखना, जुगाकर रखना। प्रयास=परिश्रम। अपवाद,निन्दा, दोष, अपकीर्ति। भेक=मेढक; दादुर। नसाना=नष्ट करना। साधना=आराधना करना; प्राप्तिका साधन करना। बिनु काज=अकारथ; व्यर्थ। हाटक= सुवर्ण, सोना। खनाना=खुदवाना। लाइ=लगाकर। मतिबिलास= बुद्धिका विलास।=मनोविनोद।=बुद्धिकी चेष्टासे।=मनकी मौजसे। (दीन)। माँझ=मध्य; बीचमें। निहोरि=विनती करके। मृदुल= कोमल।

पद्यार्थ—हे कृपासिंधु श्रीरामचन्द्रजी! मैं अत्यंत सकुचा रहा हूँ, (आपको) किस प्रकार विनती सुनाऊँ? (संकोचका कारण आगे बताते हैं—) मैं सब कुछ धर्मविरुद्ध करता हूँ, (तब) हे नाथ! मैं किस प्रकार आपके मनको भा सकता हूँ? ।१। यह जानते हुए भी कि चराचर (जड-चेतन सब) भगवान्‌का रूप है, मैं हठपूर्वक नेत्रोंको उधर, उस रूप या भावमें नहीं लगाता † (अर्थात् उस भावसे चराचरको नहीं देखता। प्रत्युत) जहाँ युवा स्त्रीरूपिणी दीपशिखा होती हैं वहाँ अपने नेत्ररूपी पतिंगोंको भेजता हूँ।२। 'कानोंका फल है आपकी कथा (का सुनना)'—यह मैं (स्वयं) समझता हूँ और (दूसरोंको यही) समझाता हूँ; पर मैं उन्हीं कानोंसे निरन्तर पराये दोष सुन-सुनकर (उन्हें अपने हृदयमें) भर-भरकर ता-देता हूँ। (अर्थात् यत्नपूर्वक रखता हूँ कि भूल न जाऊँ, काम पड़नेपर उन्हें निकालूँ)।३। जिस जिह्वासे आपके गुण गाकर बिना परिश्रमके ही सुख प्राप्त कर सकता हूँ, उसी मुखसे मेंढककी तरह मैं दूसरोंकी निन्दायें (दोष) रट-रटकर अपना जन्म नष्ट करता हूँ।४। सबको कह-कहकर (तो) सिखाता हूँ कि अपने हृदयको अत्यन्त निर्मल बनाओ जिसमें हरि (आकर) बसे, और मैं अपने हृदयमें अभिमान, मोह और मद (आदि) खलोंके समाजको बसाता हूँ।५। जिस(मनुष्य) शरीरको धारणकर भक्तलोग भगवत्पदप्राप्तिकी साधना करते हैं, उसे मैं व्यर्थ गँवाता हूँ। घरमें सोनेके घड़ेमें अमृत भरा रक्खा है, (किन्तु उसे) छोड़कर मैं आकाशमें कुआँ खुदवाता हूँ।६। मन-कर्म-वचन लगाकर जो पाप किये, उन्हें यत्न कर-करके छिपाता हूँ और दूसरोंकी प्रेरणासे अथवा ईर्ष्यासे कभी कदाचित् कोई शुभकर्म किया तो उसे प्रकट करता (कहता-फिरता) हूँ।७। विप्रद्रोह (तो) मानों मेरे हिस्सेमें पड़ा है, हठ करके सबसे वैर बढ़ाता हूँ। उसपर भी (तुर्रा यह कि) अपना

† 'नेत्रोमे वह रूप नही लाता'—डु., भ. स.

बुद्धिविलास सब सन्तोंके बीच गिनाता हूँ (एवं बुद्धिविलाससे अपनेको सन्तोंमें गिनाता हूँ)।८। यदि वेद, शेष और सरस्वतीसे विनती करके (उनसे) अपने दोष कहलवाऊँ, तो सैकड़ों कल्पोंतक न चुकेंगे, तब, हे प्रभो! भला एक मुखसे मैं कैसे कह सकता हूँ?।९। यदि मैं अपनी करनीपर विचार करूँ तो क्या (भला कब) मैं शरणमें आ सकता हूँ? अर्थात् तब तो आपकी शरणमें आनेका साहस कर ही नहीं सकता। (परन्तु) 'श्रीरघुनाथजीका कोमल शील स्वभाव है'—यह बल मैं मनको दिखाता हूँ। (अर्थात इस स्वभावके बलपर साहस करके शरणमें आया हूँ)।१०। तुलसीदासजी कहते हैं कि हे प्रभो! मुझमें वह गुण नहीं है जिससे स्वप्नमें भी (अर्थात् कभी भी) आपको प्रसन्न कर सकूँ। (पर) हे नाथ! 'आपकी कृपासे भवसागर गोपद समान हो जाता है', जिसे (इस विरुदको) जानकर मैं सिर नवाता (अर्थात् शरण में आया) हूँ॥ ११॥

टिप्पणी—१ 'सकुचत हौं अति राम कृपानिधि···' इति। (क) 'सकुचत' में 'अघ अनेक अवलोकि आपने ··डरों।'१४१ (१) तथा 'कहौं कौन मुँह लाइकै रघुबीर गुसाईं। सकुचत समुझत आपनी सब साइँदोहाईं।१४८।' का भाव है। 'राम कृपानिधि' संबोधनद्वारा विनयका भाव कि रीति है कि प्रार्थी अपने भाव तथा अभिलाषाको विशेषणोंद्वारा झलका देता है। यहाँ प्रार्थी डरता भी है और कृपा भी चाहता है। कहा है—'रामहि डरु करु राम सों ममता प्रीति प्रतीति। तुलसी निरुपधि रामको, भये हारहू जीति। दो० ६५।' 'सकुचत हौं राम'—इससे डर जना दिया। और प्रीति-प्रतीति निरुपधि रामजीके हो जानेकी चाहको 'कृपानिधि' विशेषणद्वारा सूचित किया। अर्थात् इसके लिये कृपाकी भिक्षा माँगता हूँ। इसीसे उपसंहारमें भी कहा है—'नाथ कृपा...'। ['राम' और 'कृपानिधि' विशेषण देकर ऐश्वर्य और माधुर्यके महत्वको दिखाकर भरोसा रखते हुए प्रार्थना करते हैं। (श्री॰श॰)। भगवानसहायजी लिखते हैं कि 'पिछले पदमें डरना कहा था। प्रभुकी आज्ञासे वह डर दूर हुआ तो विनती करनेकी रुचि हुई, किन्तु अपनी ओर देख-विचारकर संकोच हुआ, अतः 'सकुचत हौं अति' से विनय प्रारंभ किया।]

१ (ख) 'सकल धर्म बिपरीत करत···' इति। शास्त्रकी जो आज्ञा है, जिसे वेद 'विधि' कहते हैं, वह धर्म है। वेद शास्त्रमें जो 'निषेध' है, वही धर्मविरुद्ध है। मैं धर्मके विरुद्ध जो कार्य हैं वही करता हूँ। आगे कुछ उदाहरणोंद्वारा इसीको स्पष्ट करते हैं। 'केहि भाँति नाथ मन भावौं' का भाव कि भगवान् धर्मसंस्थापनार्थ ही अवतार लेते हैं, अधर्मियोंका नाश

करते हैं, श्रुतिकी मर्यादाकी रक्षा करते हैं। यथा 'जब-जब होइ धरम कै हानी।···तब-तब प्रभु धरि विविध सरीरा।···असुर मारि थापहिं सुरन्ह राखहिं निज श्रुतिसेतु।१।१२१।', 'धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे। गीता।४।८।', इससें स्पष्ट है कि धर्मविरोधी प्रभुको नहीं भाता और मेरे सब कार्य धर्मके विरुद्ध हैं, अतः मैं किस प्रकार आपको प्रिय लग सकता हूँ॥

टिप्पणी—२ (क) 'जानतहूँ हरिरूप चराचर···' इति। हरिभक्ति करनेवालेके लिये यह धर्म बताया गया है कि चराचरको हरिरूप देखे। यथा 'सातवँ सम मोहि मय जग देखा।३।३६।', 'जौ मन भज्यो चहै हरि-सुरतरु। तौ तजि विषय विकार सार भजु अजहूँ जो मैं कहौं सोई करु॥ · श्रवन कथा मुख नाम हृदय हरि सिर प्रनाम सेवा कर अनुसरु। नयनन्ह निरखि कृपासमुद्र हरि अग-जगरूप भूप सीतावरु।२०५।' जानतहूँ—इस बातको प्रार्थी जानता है, तभी तो पिछले पदोंमें भी कहा है कि 'अचर-चर-रूप हरि सर्वगत सर्वदा वसत इति वासना धूप दीजै।४७।', 'विश्वायतन ·· सर्वमेवात्र त्वद्रूप भूपालमनि।५४।' 'हरिरूप चराचर'–४७ (२ ख, ग), ५४ (३क) देखिए।

'मैं हठि नयन न लावों'—'हठ' करना चाहिए चराचरको हरिरूप देखनेमें, उसके विपरीत मैं हठ करता हूँ उस भावकी दृष्टिको रोकनेमें। चराचरको हरिरूपमें नहीं देखता, द्वैतरूपमें देखता हूँ। भाव कि चराचर-में द्वैतबुद्धिकर किसीको मित्र, किसीको शत्रु और किसीको उदासीन रूपमें देखता हूँ। 'जानते हुए भी' हरिरूपमें सबको न देखना 'हठ' सिद्ध करता है। 'नयन लगाना'=प्रीति लगाना या जोड़ना।

२ (ख) 'अंजनकेससिखा जुवती··' इति। स्त्रीके शरीरको दीपकी लौके समान कहा गया है। यथा 'दीपसिखा सम जुवति तन मन जनि होसि पतंग।३।४६।' अंजनकेश संस्कृत भाषाका शब्द है। अर्थ है 'दीपक'। दीपकका धुआँ काला होता है और लंबा। संभव है कि इससे यह नाम पड़ा हो। युवा स्त्रीके भी अंजन और केश दोनो काले, वह केशकज्जलधारिणी है। दीपककी लौ देखनेमें सुन्दर है, वैसेही युवतीका शरीर देखनेमें सुंदर है। अतः युवतीको अंजन-

---

॥ वि०—धर्मका मुख्य स्वरूप सत्य है। सत्यकी अवहेलनाकर जो कुछ भी किया जाता है, वह धर्मविरुद्ध है, सदाचार नही, कदाचार है। मिथ्याचारसे दुराचार अच्छा है। दंभ ही सब अधर्मोंकी जड है। यही इस पदसे सिद्ध होता है।

वीर०, वि०—भाव कि मैं पापात्मा हूँ और आपको धर्मात्मा ही प्यारे हैं, इसमे तुल्यप्रधान गुणीभूत व्यङ्ग है। इसीसे आपके सामने आनेमे संकोच होता है।

केशशिखा कहा। वह नेत्रोंको प्रिय लगती है, इसीसे लोचनोंको यहाँ पतिंगों-की उपमा दी। याज्ञवल्क्योपनिषत्‌मे 'केशकज्जलधारिण्यो दुःस्पर्शा लोचनप्रियाः। दुष्कृताग्निशिखा नार्यो दहन्ति तृणवन्नरम् ।६।' ऐसा कहा है। इसके 'केशकज्जल-धारिण्यो' का भाव भी 'अंजनकेश' में आ जाता है। वृद्धा स्त्रीके बाल श्वेत हो जाते हैं, उसकी ओर नेत्र नहीं जाते, इसीसे 'अंजनकेश' और 'युवती' शब्द दिये। वृद्धावस्थामें शरीरकी चमकदमक नहीं रह जाती, इसीसे उसको दीपशिखा नहीं कहते। ❀ ['अंजनकेश' का अर्थ 'अग्नि' हु०, भ० स०, भ०, वीर०, त्रि० ने किया है। यह अर्थ याज्ञवल्क्योपनिषत्‌से मिलता है। गोस्वामीजीने मानसमें दीपशिखाकी उपमा दी है और श० सा० में 'दीपक' अर्थ है, इससे हमने वही अर्थ दिया है।]

२ (ग) 'लोचन सलभ पठावौं'—दीपकको लौका देखकर पतिंगे वहाँ जाते हैं। इसीसे युवतीको देखनेके लिये नेत्रोंको पतिंगा बनाया। 'पठावौं' से यह भी जनाया कि दूर भी है, तो वहाँ ही देखनेको पहुँचता हूँ। इससे परायी स्त्रीको घूरना जनाया। मानसके उपर्युक्त उद्धरणमें 'मन' को पतंग कहा है और यहाँ लोचनको। प्रथम नेत्र आसक्त होते हैं, तब वे मनको भी वहाँ ले जाते हैं। 'दृग दिवान जेहि आदरै मन तेहि हाथ बिकान।'; अतः दोनों ही पतंग हुए। परस्त्रीपर आसक्त होना अधर्म है, यथा 'लोभी लंपट लोलुपचारा। जे ताकहिं परधन परदारा॥ पावौं मैं तिन्ह कै गति घोरा ।२।१६८।', 'परद्रोही परदाररत परधन पर-अपवाद। ते नर पाँवर पापमय देह धरे मनुजाद ।७।३९।'—भाव कि नेत्रोंको हरिरूपमें न लगाकर स्त्रियोंके घूरनेमें लगाता हूँ।

☞ 'जानतहूँ हरि रूप चराचर…' कहकर 'अंजनकेशशिखा' कहनेका भाव कि अज्ञान नष्ट होनेका जो उपाय है उसका हठ-पूर्वक त्याग करता हूँ और मोहको बढ़ानेवाली जो स्त्री उसमें अनुरागकर आत्माके नाशका उपाय करता हूँ। यथा 'यदा तु सर्वभूतेषु दारुष्वग्निमिव

❀ वियोगीजी लिखते हैं कि 'अंजनकेशशिखा' के दो अर्थ हैं—१ नेत्रोंमें अंजन लगाए, सटकारे काले केशवाली, दीपककी ज्योतिके समान कामिनी। २—काजलके समान केश ही जिस स्त्रीरूपी अग्निकी धूम्रशिखा है। साधारणतः नेत्रों और केशोंकी मोहकतापर ही कामियोंका ध्यान जाता है।

वीरकविजी अर्थ करते हैं—'जहाँ अग्निकी ज्वालारूपी युवतीके अंजन और बाल हैं।'

स्थितम् । प्रतिचक्षीत मां लोको जह्यात्तर्ह्येव कश्मलम् । भा० ३।६।३२।' (अर्थात् जिस समय जीव काष्ठमें व्याप्त अग्निके समान संपूर्ण भूतोंमें मुझे ही स्थित देखता है, उसी समय वह अपने अज्ञानरूप मलको दूर कर देता है), 'मोह विपिन कहुँ नारि बसंता ।३।४४।'

२ (घ) पतिंगे दीपशिखामें जाकर जल मरते हैं। नेत्रका जल मरना क्या है? इसका उत्तर यह दिया जाता है—(१) भगवत्रूप देखनेसे बाहर भीतरके नेत्रोंकी दृष्टि अधिक होती है सो तो देखता नहीं, स्त्रीरूपी अग्निपर जाता हूँ जहाँ भीतर बाहर दोनों नेत्रोंकी दृष्टि जाती रहती है। (भ० स०, डु०)। (२) भाव कि युवतीमें दृष्टि लगाकर आसक्त होनेसे जीव (आत्मा) का नाश करता हूँ। (वै०)। (३) मेरे नेत्र सुन्दर युवतीके रूपपर मोहित होकर लगते हैं और फिर रागवश होकर तीनों तापोंसे जलते हैं। (श्री० श०)।

और किसी टीकाकारने इस संबंधमें कुछ नहीं लिखा है। मेरी समझमें यहाँ 'पठावों' शब्द देकर प्रार्थीने इस प्रश्नका अवसर नहीं दिया। 'पठावों'से देखनेकी इच्छा होना तथा देखना मात्र जनाया। मोहित होने-की दशा अभी नहीं है, मोह हो जानेपर ही जलना होता है। यथा 'जरहिं पतंग मोह बस ।६।२६।' स्त्री 'लोचनप्रिया' है, इससे लोचन स्त्रीके पास जाता है, जैसे पतंगको दीपशिखा प्रिय है, इससे वह दीपकके पास जाता है। इतनेहीमें समता यहाँ है। इस प्रकार नेत्रेन्द्रियको दूषित बताया।

मिलान कीजिए-'दृष्ट्वा स्त्रियं देवमायां तद्भावैरजितेन्द्रियः। प्रलोभितः पतत्यन्धे तमस्यग्नौ पतङ्गवत्। योषिद्धिरण्याभरणाम्बरादिद्रव्येषु माया-रचितेषु मूढः। प्रलोभितात्मा ह्युपभोगबुद्ध्या पतङ्गवन्नश्यति नष्टदृष्टिः।' (भा० ११।८।७-८)। अर्थात् जैसे पतिंगा अग्निको देखकर उसके रूपपर लुब्ध होकर उसमें जा गिरता है, वैसे ही अजितेन्द्रिय पुरुष देवमाया-रूपिणी स्त्रीको देखकर उसके हावभावोंसे लुब्ध होकर विलासोंकी लालचसे महामोहमें पड़ जाता है। स्त्री, सुवर्ण, आभूषण और वस्त्र आदि माया-रचित पदार्थोंमें भोगबुद्धिसे आसक्त मूढ़ विवेकदृष्टिको खोकर पतङ्गकी भाँति नष्ट हो जाता है।

टिप्पणी—३ 'श्रवनन्हि को फलु कथा तुम्हारी ···' इति। (क) कानोंकी सार्थकता हरिकथाश्रवणमें है, इसी लिए ये रचे गए हैं। यथा 'कहिबे कहँ रसना रची सुनिबे कहँ किये कान। दो० २५०।' यदि इनसे कथा न सुनी गई तो ये सर्पके बिलके समान हैं और जिनके

ये कान हैं वे नर पशु हैं। यथा 'जिन्ह हरिकथा सुनी नहिं काना। श्रवनरंध्र अहिभवन समाना। १।११३।२', 'श्वविड्वराहोष्ट्रखरैः संस्तुतः पुरुषः पशुः। न यत्कर्णपथोपेतो जातु नाम गदाग्रजः। भा० २।३।१६। बिले बतोरुक्रमविक्रमान्ये न शृण्वतः कर्णपुटे नरस्य।' (अर्थात् जिसके श्रवणपथमें श्रीभगवान्‌ने कभी प्रवेश नहीं किया, उस नर-पशुको कुत्ता, ग्राम्य सूकर, ऊँट और गधेके समान कहा है। मनुष्यके जो कान कभी भगवान्‌की कथा नहीं सुनते वे बिलके समान हैं), 'ते नर नरकरूप जीवत जग भवभंजनपदविमुख अभागी।···नहि सतसंग भजन नहिं हरिको, श्रवन न रामकथा अनुरागी। १४०।'

३ (ख) 'यह समुझौं समझावौं' इति। समझते है, इसीसे पूर्व कह आये हैं कि 'कछु ह्वै न आइ गयो जनम जाय।···सुने न पुलकि तनु, कहे न मुदित मन, किये जे चरित रघुबंसराय।८३।' और आगे भी पश्चाताप किया है—'जनम गयो बादिहि बर बीति।·· कहे न सुने गुनगन रघुबरके भइ न रामपद प्रीति। हृदय दहत पछिताय-अनल अब···।२३४।' दूसरोंको समझाते भी हैं, यथा 'ते नर नरकरूप···श्रवन व रामकथा अनुरागी।१४०।', 'सुनु कान दिये नित नेम लिये रघुनाथहि के गुन गाथहि रे। क०७।२६।'

३ (ग) 'तिन्ह श्रवननिह परदोष निरंतर···'इति। परनिंदा न सुननी चाहिए, क्योंकि परनिन्दा भारी पाप है। यथा 'परनिंदा सम अघ न गरीसा।७।१२१।२२।' परनिंदा कहने-सुननेवाले पापोंके दोषको बँटा लेते हैं। म० भा० आदि पर्वमें ययातिका पुरुको यही उपदेश देना कहा है—'आक्रुश्यमानो नाक्रोशेन्मन्युरेव तितिक्षतः। आक्रोष्टारं निर्दहति सुकृतं चास्य विन्दति॥ ८७।७।' (अर्थात् यदि कोई किसीकी निन्दा करता या गाली देता हो तो वह भी बदलेमें निन्दा या गाली-गलौज न करे; क्योंकि जो गाली या निन्दा सह लेता है, उस पुरुषका आन्तरिक दुःख ही गाली देनेवाले या अपमान करनेवालेको जला डालता है। साथ ही उसके पुण्यको भी वह ले लेता है)। पद्म पु० उत्तर० में भगवान्‌ने श्रीसत्यभामाजीसे यही कहा है कि जो दूसरेकी निन्दा करता, चुगली खाता और उसे धिक्कारता है, वह उसके किये पातकको स्वयं लेकर बदलेमें अपने पुण्यको देता है—'परस्य निन्दां पैशुन्यं धिक्कारं च करोति यः। तत्कृतं पातकं प्राप्य स्वपुण्यं प्रददाति सः।११४।१७।' भा० ११७।२२ में श्रीपरीक्षित-महाराजके 'यदधर्मकृतः स्थानं सूचकस्यापि तद्भवेत्।' (अधर्मकर्ता प्राणी जहाँ जाता है वही स्थान उस अधर्मके सूचक अर्थात् देनेवालेको मिलता

है)—इस वाक्यमें भी यही भाव है कि निंदकको पाप लगता है। इससे जनाया कि मैं दूसरोंके पापोंका भी भागी अपनेको बनाता हूँ। 'निरंतर भरि-भरि'से जनाया कि परनिन्दाश्रवणमें बड़ा प्रेम है, जितनी सुनता हूँ उतनीही मानों नित्य निधि पा जाता हूँ; यथा 'जहँ कहुँ निंदा सुनहिं पराई। हरषहिं मनहुँ परी निधि पाई।७।३६।४।' निधि छिपाकर रक्खी जाती ही है। डेग, हंडा, घट आदिमें मुहरें आदि रखी जाती थीं और उनका मुँह बन्द करके गाड़ दिया जाता था। वैसे ही परनिंदारूपी निधिको मैं बड़ी हिफाजतसे जमा कर-करके रखता हूँ। आवश्यकता पड़नेपर ये निकाले जायँगे, जब परदोषकथन करना होगा।

इस तरह जनाया कि मैं असाधु हूँ, मेरी श्रवणेन्द्रिय भी मलिन है, यथा 'परनिंदा सुनि श्रवन मलिन भये।८२।'

टिप्पणी—४ '(क) जेहि रसना गुन गाइ' इति। रसना गुणगानके लिये बनी। टि० ३ (क) देखिये। गुणगान धर्म है और परअपवादगान अधर्म है, इसीसे रसनाको आगे उपदेश दिया है—'काहे न रसना रामहिं गावहि। निसि-दिन परअपवादकथा कत रटि-रटि राग बढ़ावहि॥ नरमुख सुंदर मंदिर पावन बसि जनि ताहि लजावहि।२३७' गुणगानसे अनायास सुख होता है, यथा 'जगमंगल गुनग्राम राम के। 'अभिमत दानि देवतरुबरसे। सेवत सुलभ सुखद हरि-हरसे।१।३२।११।', 'मम गुनग्राम-नाम-रत गत ममता मद मोह। ताकर सुख सोइ जानइ परानंदसंदोह ७।४६।'

४ (ख) 'तेहि मुख पर अपवाद भेक ज्यों' इति। कहा जाता है कि मेंढकके जीभ नहीं होती। वह बिना जीभके रट लगाये रहता है। इसीलिये जो जिह्वा रामगुणगान न करके व्यर्थ अपवाद आदि बकती है वह दादुरजीभ कही गई, मानों वह जिह्वा जिह्वा नहीं है, व्यर्थ चमड़ेका टुकड़ा है। यथा 'जो नहि करै रामगुन गाना। जीह सो दादुर जीह समाना।१।११३।६', 'कर न रामगुन गान जीह सो दादुर जीह सम। दो० ४३।', 'जिह्वासती दादुरिकेव सूत न चोपगायत्युरुगायगाथाः। भा० २।३।२०।'(अर्थात् जो जिह्वा हरिकथाका गान नहीं करती, वह मेंढककी जीभके समान व्यर्थ है)।

४ (ग) 'जनम नसावौं'—निंदा करनेसे नरक मिलता है, जैसे भारी पूज्यकी निंदा की जाती है, वैसा ही भारी नरक और तामस योनियोंमें नरकरूप जन्म मिलता है। यथा 'हर गुर निंदक दादुर होई। जन्म सहस्त्र पाव तन सोई॥ द्विजनिंदक बहु नरक भोग करि। जग जनमै बायस सरीर धरि॥ सुरश्रुतिनिंदक जे अभिमानी। रौरव नरक परहिं ते प्रानी॥ होंहि उलूक संतनिंदारत। मोहनिसा प्रिय ज्ञान भानुगत॥ सब कै निंदा जे जड़

करहीं। ते चमगादुर होइ अवतरही ।७।१२१' अतः जन्मका नष्ट होना कहा।

वै०—भक्ति अनुकूल पक्ष हरिगुणगानमें 'रसना' शब्द दिया और प्रतिकूल पर-अपवादगानमें केवल 'तेहि मुख' कहा (रसना न कही)। इस भेदसे जनाया कि उसके मुखमें मानों जिह्वा है ही नहीं। इसीसे बिना जिह्वावाले मेंढकसम मुख कहा जिसका शब्द कर्कश और वृथा है।

टिप्पणी—५ (क) 'करहु हृदय अति बिमल बसहि हरि···' इति। निर्मल हृदयमें ही भगवान् निवास करते हैं। यथा 'हरि निर्मल मलग्रसित हृदय असमंजस मोहि जनावत। जेहि सर काक कंक बक सूकर क्यों मराल तहँ आवत।१८५।', 'बिमलहृदि-भवन-कृत सांति पर्य्यंक सुभसयन विश्राम श्रीरामराया।४७।'

'करहु अति बिमल' का भाव कि जितने मोहजनित मल काम, क्रोध, मद, लोभ, मान, अहंकार, विषय वासना आदि हैं जो हृदयको मलिन करते हैं वे एक भी न रह जायँ। यथा 'मोहजनित मल लाग बिबिध विधि···। हृदय मलिन बासना मन मद ··।८२।', 'काम कोह मद मान न मोहा। लोभ न छोभ न राग न द्रोहा॥ जिन्ह कें कपट दंभ नहिं माया। तिन्हकें हृदय वसहु रघुराया।२।१३०।१-२।' हृदय विमल तभी माना जाता है जब श्रवणादि इन्द्रियाँ प्रभुमें ही लग जाती हैं। श्रवण कथासे, नेत्र दर्शनाभिलाषा एवं दर्शनसे, रसना गुणकीर्तनसे और नासिका प्रसादके सुवाससे कभी तृप्त नहीं होते। प्रभु कभी भूलते नहीं, सदा उनका ही आशा-भरोसा रहता है। ऐसी अवस्थाओंमें प्रभु हृदयमें बसते हैं। अ० दोहा १२८ (४)–१३१ देखिए। यह कह-कहकर सबको सिखाता हूँ। प० पु० पुण्डरीकोपाख्यानमें भी कहा है—'रागादि दूषिते चित्ते न तिष्ठति जनार्दनः। नैव हंसो रतिं धत्ते कदाचित् कर्दमाम्भसि।' इत्यादि प्रमाण दे-देकर लोगोंको सिखाता हूँ।—विशेष १२६ (५ ख) में देखिए।

५ (ख) 'हौं निज उर अभिमान···' इति। दूसरोंको धर्मकी शिक्षा देता हूँ और स्वयं उसके विपरीत आचरण करता हूँ। इस तरह 'पर उपदेस कुसल बहुतेरे। जे आचरहिं ते नर न घनेरे।६।७७।२।' यह कहावत अपनेमें चरितार्थ दिखायी। यहाँ 'अति बिमल' का अर्थ खोल दिया कि 'अभिमान, मोह, मद आदि रहित' करना चाहिए। 'खलमंडली'—काम-क्रोध आदि सब खल हैं। यथा 'कामादि खलदल गंजनं।' ४८ (५ क) देखिए। इनका गिरोह वा समाज होनेसे मंडली कहा। (श्री० श० का मत है कि अभिमान आदिके अनेक भेद इनकी मंडलियाँ है)। 'बसावौं' का भाव-कि

जिनको हृदयसे निकाल देना चाहिए, उन्हींको हृदयमें ला-लाकर रखता हूँ कि यहाँ से न जायँ।

टिप्पणी—६ 'जो तनु धरि हरिपद साधहिं जन · ' इति। (क) 'जो तनु' अर्थात् मनुष्य-तन, क्योंकि इसी शरीरमें कर्मका अधिकार है, चाहे वह अपना संसाररूपी वृक्ष बढ़ावे और चाहे संसारकी जड़को काटकर हरिको प्राप्त कर ले। जीवको बार-बार बाँधनेवाली संसाररूप वृक्षकी कर्मरूप जड़ें मनुष्यलोकमें ही होती हैं, क्योंकि मनुष्यत्वकी अवस्थामें किये हुए कर्मोंके द्वारा ही जीव मर्त्यलोकमें मनुष्य, पशु आदि और स्वर्गादिमें देव आदि बनता है। देव आदि योनियाँ भोगयोनियाँ हैं, उनमें कर्माधिकार नहीं है। मनुष्यतनसे ही साधन करके जीव मोक्ष, अव्यय हरिपद प्राप्त कर सकता है, अन्य शरीरसे नहीं। यथा 'साधन धाम मोक्ष कर द्वारा।७।४३।८।', 'नरतन भववारिधि कहँ बेरो।७।४४।८।' अतः इसे पाकर भक्त हरिपदप्राप्तिका साधन करते हैं।

'हरिपद' इति। जो प्राप्त किया जाय उसका नाम 'पद' है—'पद्यते गम्यते इति पदम्।' अर्थात् हरि। इसीको परम पद, अव्यय पद आदि भी कहते हैं। 'संतसंसर्ग त्रयवर्गपर परम पद' ५७ (७ ड) देखिए। हरिपद-प्राप्ति नरतनसे ही होती है। यथा 'जो पाइ पंडित परम पद पावत पुरारि मुरारिको। १३५ (१)।' 'साधहिं' का अर्थ 'उपासना करते हैं' यह भी होता है। भगवान्‌के शरण हो सब काम्यकर्म भी करता हुआ उनकी कृपासे मनुष्य उस अव्ययपदको पा जाता है, यथा 'सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः। मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्। गीता १८।५६।' उपासनाके अतिरिक्त ज्ञान, योग, भगवदर्पण निष्काम कर्म, त्रिगुणमय भोगोंमें अनासक्ति, जप, तप, दान आदि सब इसके साधन हैं। प्रभुने अपनी प्राप्तिका सुगम साधन श्रीलक्ष्मणजीसे अरण्यकांडमें स्वयं कहा है—'सुगम पंथ मोहि पावहि प्रानी।३।१६।५।' से 'तिन्ह के हृदयकमल महँ करउँ सदा विश्राम।३।१६।'तक।

६ (ख) 'सो बिनु काज गँवावौं' व्यर्थ खो रहा हूँ, हरिप्राप्तिके साधन नहीं करता, परलोक नहीं बना लेता कि जिसके लिये आपने कृपा करके यह शरीर दिया है। इससे जनाया कि मैं कृतघ्न हूँ, मंदमति हूँ और आत्माका नाशक हूँ। यथा 'कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥···जो न तरै भवसागर नर समाज अस पाइ। सो कृतनिंदक मंदमति आत्माहन गति जाइ।७।४४।'—'कत खोवत अकाथ'—८४(१ ख) में देखिए।

६ (ग) 'हाटक घट भरि धर्यौ सुधा गृह···'इति। तात्पर्य इतना ही है कि नर तन पाकर हरि-प्राप्तिके साधन भजन आदि न करके विषयमें रत हो उसे व्यर्थ खोना ऐसा ही है जैसे घरमें स्वर्णघटमें रक्खा हुआ अमृत या जल छोड़कर प्यास बुझानेके लिये आकाशमें कूप खुदवाना। बाबू शिव-प्रकाश और बैजनाथजीने जो उपमेय और उपमान लिखे हैं, उनमेंसे भ०, वि०, दीन, वीर आदिने बाबू शिवप्रकाशको और किसी-किसीने बैजनाथ-जीको कुछ हेरफेरसेअपनाया है।

	घर	स्वर्णघट	सुधा	नभ	कूप खुदाना	जल
बु०,भ०स०	×	नर शरीर	भगवत् पद	विषय	विषयप्राप्ति का उपाय	पिषयसे सुखकी आशा
भ०	×	,,	सच्चिदानंदरूप	संसार	सुखरूपी जलके लिए उपाय	×
वि०	×	सोनेके समान शरीर	आत्मस्वरूप	जगत्	काम-कांचन रूपी मृगजलकी खोजमे फिरना	
दीन	×	कंचनसी देह	,,		क्षणभंगुर विषयोकी खोजमे लगना	
वीर	×	×	रामनाम		विषय सेवन करना	सुखप्राप्तिकी इच्छा प्यास
बै	देह	शुद्ध हरि सबंधीजीव	हरिरूप	संसार	सुखोपाय	
श्री०श०	देह	सात्विक हृदय	भगवान्, भक्ति	संसार	विषयके लिये प्रयत्नशील होना	सुख

श्री० श०—सात्विक बुद्धि और चित्तसे ज्ञानोपासना होती है और उससे ब्रह्मका साक्षात्कार होता है। अतः सात्विक हृदय सोनेका घट है।

नोट—१ हृदयमे ही भगवान्, आत्मस्वरूप, रामनाम तथा रामभक्ति रहते हैं। ये सब अमृतरूप हैं। यथा 'परिहरि हृदय कमल रघुनाथहि बाहर फिरत बिकल भयो धायो।२४४।', 'सहज सुख निकटहिं रहत दूरि जनु खोयो।२४५।', 'अपनेहि धाम नाम सुरतरु तजि बिषय बबूर बाग मन लायो।२४४।', 'संकर हृदय भगति भूतलपर प्रेम अछयबट भ्राजै। गी०७।१५।', 'तब रह राम भगति उर छाई।७।१२२।११।', 'ब्रह्म पियूष मधुर सीतल जौं पै मन से

रस पावै। तौ कत मृगजल रूप विषय कारन निसि बासर धावै।११६', 'तुलसिदास हरिनाम सुधा तजि सठ हठि पियत विषय विष मागी।१४० (३)', 'पेट भरि तुलसिहि जेवाइअ भगति सुधा सुनाजु।२१६।'

२ सूरदासजी यों कहते हैं—'परम गंगजल छाँडि पियासो नभ में कूप खनावै।' परन्तु इस उक्तिसे गोसाईंजीकी 'हाटक घट' वाली युक्ति अधिक मनोहारिणी है, सर्वाङ्ग सुंदर सूक्ति है। (वि०)।

टिप्पणी—७ 'मन क्रम वचन लाइ कीन्हें अघ…' इति। (क) पाप मन कर्म, और वचन तीनोंसे होते हैं। विशेष व्याख्या 'कलुष मेरे कृत करम वचन अरु मन के' ९६ (२ ख) में देखिये। "पापोंको छिपाता हूँ" कहकर उत्तरार्ध में सुकृतोंको प्रकट करना कहते हैं। यह भी शास्त्र-विरुद्ध कर्म है। पापोंको प्रकट करनेसे पापोंका और सुकृतको प्रकट करनेसे सुकृतोंका नाश होता है। यथा 'तुलसी राम कृपालु सों कहि सुनाउ गुन दोष। होइ दूबरी दीनता परमपीन संतोष। दो० ६६।', 'तस्मादेतत् प्रयत्नेन कीर्तयेत् क्षयकारणात्' (म० भा० आश्व०), 'छीजहिं निसिचर दिन अरु राती। निज मुख कहें सुकृत जेहि भाँती।६।७१।३।', 'यज्ञोऽनृतेन क्षरति तपः क्षरति विस्मयात्। आयुर्विप्रापवादेन दानं च परिकीर्त्तनात्।' (मनु० ४।२३७); (अर्थात् झूठसे यज्ञ और विस्मयसे तपस्या नष्ट होती है, विप्रनिंदासे आयुर्बल और अपने आप कीर्तन करनेसे दान नष्ट होता है)। तात्पर्य कि जिससे अपनी हानि है वही मैं करता हूँ। अन्यत्र भी यही कहा है, यथा 'कपट करौं अंतरजामिहुँ सों अघ व्यापकहि दुरावौं।१७१।', 'किये सहित सनेह जे अघ हृदय राखे चोरि। संग बस किये सुभ सुनाये सकल लोक निहोरि।१५८।'

महा० भा० आश्वमे० अध्याय ९२ के अन्तर्गत वैष्णवधर्म कहते हुए भगवान्‌ने बताया है कि "(पुण्य और पापमेंसे) जिसको गुप्त रक्खा जाता है, उसकी वृद्धि होती है और जिसका वर्णन कर दिया जाता है, उसका क्षय होता है। पापको दूसरोंसे कहने और उसके लिये पश्चात्ताप करने-से प्रायः उसका नाश हो जाता है। इसी प्रकार धर्म भी अपने मुँहसे दूसरोंके सम्मुख प्रकट करनेसे नष्ट होता है। इसलिये सदा पापको प्रकट करना और धर्मको गुप्त रखना चाहिए।" यथा "गूहितस्य भवेद् वृद्धिः कीर्तितस्य भवेत् क्षयः। ख्यापनेनानुतापेन प्रायः पापं विनश्यति। तथा कृतस्तु राजेन्द्र धर्मो नश्यति मानद॥… तस्मात् संकीर्तयेत् पापं नित्यं धर्मं च गूहयेत्॥"

महा० भा० अनुशासनपर्वान्तर्गत दानधर्मपर्वमें अ० १०२ में भीष्म-

पितामहजीके इस संबंधमेंके वाक्य स्मरण रखने योग्य हैं। वे कहते हैं—"दुष्ट मनुष्य जानबूझकर किये हुए पापकर्मोंको भी दूसरेसे छिपानेका प्रयत्न करते हैं; किन्तु महापुरुषोंके सामने अपने किये हुए पापोंको गुप्त रखनेके कारण वे नष्ट हो जाते हैं—'विनश्यन्ति गूहमाना महाजने ।५४।' 'मुझे पाप करते समय न मनुष्य देखते हैं और न देवता ही देख पाते हैं'—ऐसा सोचकर पापसे आच्छादित हुआ पापात्मा पुरुष पापयोनिमें ही जन्म लेता है।—'न मां मनुष्याः पश्यन्ति, न मां पश्यन्ति देवताः। पापेनापिहितः पापः पापमेवाभिजायते ।५५।' जैसे सूदखोर जितनेही दिन बीतते हैं, उतनी ही वृद्धिकी प्रतीक्षा करता है। उसी प्रकार पाप बढ़ता है, परन्तु उस पापको यदि धर्मसे दबा दिया जाय तो वह धर्मकी वृद्धि करता है। जैसे नमककी डली जलमें डालनेसे गल जाती है, उसी प्रकार प्रायश्चित्त करनेसे तत्काल पापका नाश हो जाता है। इसलिये अपने पापको न छिपाए। छिपाया हुआ पाप बढ़ता है।—'तस्मात् पापं न गूहेत गूह्मानं विवर्धयेत् ।५८।' यदि कभी पाप बन गया हो, तो उसे साधु पुरुषों-से कह देना चाहिए। वे उसकी शान्ति कर देते हैं।—'कृत्वा तत साधुष्वा-ख्येयं ते तत् प्रशमयन्त्युत ।। ५८ ।।'

७ (ख) ' करि जतन दुरावौं'–पापोंके छिपानेसे प्रयत्न करना पड़ता है, क्योंकि पाप छिपते कम हैं, शीघ्र प्रकट हो जाते हैं, फिर जो दूसरेके दोषों-को रटा करता है भला उसके शत्रु उसका दोष ढूँढ़नेमें कब चूकने लगे।

७ (ग) 'परप्रेरित इरिषा वस कबहुँक ' इति। इससे जनाया कि शुभ कर्म करनेकी श्रद्धा, इच्छा और उत्साह मुझमें नहीं है। कदाचित् कभी महात्माका संग पड़ गया तो उनके कहनेसे उनके शील, संकोच या दबावसे कभी कुछ शुभकर्म हो गया, यज्ञ, दान, कीर्तन, आदिमें कुछ चंदा दे दिया, (यथा 'संग बस किये शुभ ।१५८।) अथवा, किसी दूसरेकी बड़ाई सह न सकनेके कारण दूसरेने यदि कुछ शुभ कर्म किये जिससे उसकी कीति फैलने लगी तो उसकी कीर्त्तिको दबानेके लिये मैंने भी उससे बढ़कर कुछ कर दिया और फिर उसका ढिंढोरा पीटता हूँ जिसमें सब जान जायँ। यही ईर्ष्यावश करना है। 'कबहुँक' और 'कछु' से जनाया कि सुकृत कभी कदाचित् ही भूले भटके हुआ सोभी अल्प। पापके संबंधमें 'मन कर्म वचन' और 'कीन्हें' शब्द देकर जनाया कि बड़े प्रेमपूर्वक किये और अगणित किये।

टिप्पणी—८ 'बिप्रदोह जनु बाँट पर्यो ' ' इति। (क) भगवान्का वचन है कि 'मम मूरति महिदेवमई है', फिर विप्र पूज्य हैं, यथा 'बिप्र पूज्य अस

गावहिं संता ।३।३४।१।' उनकी सेवासे भगवान् प्रसन्न होते हैं, यथा 'हरितोषन व्रत द्विज सेवकाई । ७।१०६।११।'; उनकी करुणा-कृपासे मनुष्य भवपार हो जाता है, यथा 'द्विज देव गुर हरि संत बिनु संसार पार न पाइये ।१३६(१२)।' अतः उनसे प्रेम करना चाहिए, विप्रमें प्रेम करना भी हरि-भक्ति है, यथा 'प्रथमहिं बिप्र चरन अति प्रीती ।३।१६।६।'; परंतु मैं इसके विपरीत उनसे द्रोह करता हूँ। द्रोह जैसे कि क्या हम तुमसे कुछ कम हैं, 'जानै ब्रह्म सो विप्रवर आँखि देखावहि डॉटि ।', 'कौड़ी लागि लोभबस करहि विप्र गुर घात ।७।६६।'†

८ (ख) 'जनु बॉट परेउ' कहकर जनाया कि संसारमें जितना भी द्रोह संभव है, वह सब द्रोह सब प्रकारसे करता हूँ, संसारमें सबसे अधिक विप्रद्रोही मैं ही हूँ, दूसरा नहीं। 'हठि' का भाव कि मैं बिना प्रयोजन सभी विप्रोंको छेड़ा और तंग किया करता हूँ, देखकर जलता हूँ, वे मेरे पास नहीं आते तो मैं ही उनके पास जाकर ऐसी बातें करता हूँ कि वैर बढ़ जाय। 'विप्रद्रोह जनु बॉट पर्‍यो' कहकर 'सब सों' कहनेसे यहाँ 'सब विप्रों-से' वैर, यह अर्थ विशेष संगत है। परन्तु यह भी अर्थ हो सकता है कि 'हठपूर्वक सबसे ही वैर करता हूँ और विप्रद्रोह तो मानों मेरे ही हिस्सेमें पडा है।' (वैजनाथजी आदिने ऐसा ही अर्थ किया है)। इस तरह अपनेको असाधु जनाया। विप्र-प्रेम संतगुण है, विप्रद्रोह असंतलक्षण है। यथा 'गुरुगोविंद विप्रपद प्रेमा ।३।४६।३।' (संत), 'विप्रद्रोह परद्रोह बिसेपा ।७।४०।८।' (असंत)।

दूसरे अर्थमें 'सब सों वैरु बढ़ावों' का भाव यह है कि सबको हरि-रूप मानना सबमें एक समान अपने इष्टको देखना चाहिए, इस तरह सबको समान भावसे देख किसीसे वैर न करना चाहिए। सबको समान भावसे देखना यह भक्तका धर्म है, यथा 'सातव सम मोहि मय जग

† महा० भा० आश्व० वैष्णवधर्ममें बताया है कि विप्रकी निंदा करनेवाला मनुष्य कुत्तेकी योनिमें जन्म लेता है, दोषारोपण करनेमें गदहा, तिरस्कार करनेमें कृमि और उसके साथ द्वेष करनेसे वह कीडेकी योनिमें जन्म लेता है, अतः उसका कभी अपमान न करे। यथा–'श्वत्वं प्राप्नोति निन्दित्वा परीवादात् खरो भवेत् । कृमिर्भवत्यभिभवात् कीटो भवति मत्सरात्'' 'तस्मादेतत् प्रयत्नेन नावमन्येत बुद्धिमान् ।।'–यह भगवद्वाक्य है। मैं उसके प्रतिकूल करता हूँ। विप्र भगवान्‌के स्वरूप हैं अतः उनसे द्रोह करना भगवान्‌से द्रोह करना है, यथा 'तर्जयन्ति च ये विप्रान् क्रोशयन्ति च भारत । आक्रुष्टस्तर्जितश्चाहं तैर्भवामि न संशयः । वैष्णवधर्म ।'

देखा ।१।२६।६।' ऐसा करनेसे किसीसे वैर नहीं होता, यथा 'निज प्रभुमय देखहि जगत केहि सन करहि बिरोध ।७।११२।' सो न करके मैं सभीसे बैर करता हूँ। सबसे वैर करना भारी पाप है, यथा 'सरन गएँ प्रभु ताहु न त्यागा। बिस्वद्रोहकृत अघ जेहि लागा ।५।३९।७।'

[भाव कि सबमें समभावसे प्रीति करे और विप्रको अधिक माने यह धर्म है। मैं साधारणतः सबसे बरबस बैर बढ़ाता हूँ, किसीकी निंदा करता, किसीको हानि पहुँचाता, किसीको संकटमें डालनेका उपाय रचता हूँ और ब्राह्मणोंका हठ कर-करके अपमान, निन्दा, निरादर करता हूँ। (वै०)]

८ (ग) 'ताहू पर निज मति बिलास···' इति। 'ताहू पर'—भाव कि इतने मात्रसे मैं संतोष नहीं मान लेता। उनकी निंदा आदि करके संतोंमें अपनी बुद्धिकी चमत्कारी गिन-गिन कर दिखाता हूँ। अर्थात् मेरी बुद्धि तो इतनी भ्रष्ट है, पर संतोंके बीचमें मैं अपनी बुद्धिको बड़ी सुन्दर और उत्तम सिद्ध करता हूँ। [भाव कि बुद्धिकी प्रवीणतासे (अर्थात् झूठी छल चतुरतासे धर्म, कर्म, विराग, ज्ञान, भक्ति आदिकी वार्ताकर, अपने सिद्धान्तका प्रतिपादन करके) अपनेको सब संतोंकी श्रेणीमें गिनाता हूँ। (वै०, वि०, दीन, भ०]—तात्पर्य कि मेरी दुष्टताका पार नहीं। पद २०८ में भी कहा है—'कुटिल सतकोटि मेरे रोम पर वारिऔं साधुगननी मैं पहिले ही गनावों। परम बर्बर खर्ब गर्ब पर्वत चढ्यो, अज्ञ सरवज्ञ जनमनि जनावौं।'

टिप्पणी—९ 'निगम सेष सारद निहोरि ’इति। पूर्व भी ऐसा ही कह आए हैं, यथा 'हारहि अमित सेष सारद श्रुति गिनत एक-एक छन के ।९६।' भेद केवल इतना है कि वहाँ केवल एक क्षणके पापके गिननेमें अमित शेषादिको लगाना कहा था, क्योंकि वहाँ अवगुणोंके गिनानेका प्रसंग ही था और यहाँ केवल अपनी असमर्थता और पापोंकी अधिकता ही दिखानेका प्रयोजन है। 'निहोरि' का भाव कि हरिगुणगान छोड़कर दूसरे पाप क्यों गिनने लगे, इससे उनकी बिनती करना पड़ेगी, एहसान लेना पडेगा, तब स्यात् वे कहनेको स्वीकार करें।

१० (क) 'जौं करनी आपनी बिचारौं···' इति। भाव कि मेरी करनी ऐसी भ्रष्ट है, जिसका कुछ नमूना ऊपर दिखा चुका, इस करनीको लेकर किस मुखसे आपके सम्मुख जा सकता हूँ। टि० १ (क) देखिये। 'जौं' का भाव कि इसीसे मैं अपनी करनीका

विचार न करके शरणमें आ रहा हूँ। भाव यह कि करनीके बलपर नहीं आया, किसी और ही बलसे शरणमे आया हूँ। वह बल उत्तरार्धमे बताते हैं।—

१० (ख) 'मृदुल सुभाउ सील रघुपतिको सो बल…' इति। 'मृदुल' अर्थात् अत्यन्त कोमल हैं, किसीको दुःखी देख नहीं सकते, देखतेही चित्त दयार्द्र हो जाता है, सोचने लगते हैं कि क्या करूँ जिससे इसका दुःख दूर हो, प्रणाम करते ही सकुचा जाते हैं, अवगुण पर तो दृष्टि ही नहीं देते, कैसा ही अपराधी क्यों न हो सम्मुख जाने पर सब क्षमा कर देते हैं।—यह उनका स्वभाव है। यथा 'छलहि छाँड़ि सुमिरे छोह किये ही है।१३५।', 'मैं जानउँ निज नाथ सुभाऊ। अपराधिहु पर कोह न काऊ ।२।२६०।५।', 'जन अवगुन प्रभु मान न काऊ। दीनबंधु अति मृदुल सुभाऊ।७।१।६।', 'सकुचत सकृत प्रनाम किये हूँ।१७०।' अतएव अपराधी और डरे हुए भी उनका आश्रय ले सकते है यह 'मृदुल' स्वभावका बल हुआ। 'शील'—बड़ोंका छोटोंके साथ बिना किसी प्रकारके प्रतिबंध या रुकावटके मिलना सौशील्य गुण है।—विशेष 'सुनि सुभाउ सील सुजस जाचन जन आयो।' ७८ (४ ग) देखिए। 'सो बल मनहि दिखावों'—भाव कि अपनी करनीसे तो मन फिर पड़ता है, उधर नहीं जाता, किन्तु 'मृदुल' और सुशील' ये प्रभुके गुण सम्मुख ले आते हैं। इसी तरह श्रीभरतजीके संबंधमे कविने कहा है—'समुझि मातु करतब सकुचाहीं।…जब समुझत 'रघुनाथ सुभाऊ'। तब पथ परत उताइल पाऊ।' (२।२३३ (७) से २३४ (६) तक)। भाव कि मनको आपका स्वभाव बनाकर कहता हूँ कि 'तोसे पसु पाँवर पातकी परिहरे न सरन गये रघुवर ओर निबाहू।२७५।', 'जनि डरपहि तोसे अनेक खल अपनाये जानकीनाथ।८४।' अतः संकोच न कर, सम्मुख हो जा, देख वे क्या कहते हैं—'सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं।'

टिप्पणी—११ (क) 'सो गुन नहि जेहि सपनेहुँ…' इति। रिझानेवाले गुण नहीं हैं। ऊपर धर्म और धर्मप्रतिकूल दोनों कर्म कुछ गिनाये। इनमे-से चराचरको हरिरूप देखना, श्रवणको कथामें लगाना, रसनासे गुण-गान करना, हृदयका अति विमल होना, हरिप्राप्तिके साधन करना तथा विप्रप्रेम—ये गुण रिझानेवाले हैं। इन गुणोंसे प्रभु हृदयमें बसते हैं। महर्षि वाल्मीकिजीने प्रभुके निवासस्थानोंमे इन गुणोंको भी गिनाया है। यथा क्रमशः—'सरग नरक अपबरग समाना। जहँ तहँ देख धरें धनु बाना ॥'; 'जिन्हके श्रवन समुद्र समाना। कथा तुम्हारि सुभग सरि नाना। भरहिं निरंतर होंहि न पूरे।…'जसु तुम्हार मानस बिमल

मानत नहीं[२] निगम अनुसासन त्रास न काहू केरो।
भूली[३] सूल करम को लहुन तिल ज्यों बहु बारनि पेरो ॥२॥
जहँ सतसंग भगति[४] माधव की सपनेहुँ करत न फेरो।
लोभ-मोह-मद-काम-क्रोधरत तिन्ह सों प्रेमु[५] घनेरो ॥३॥
पर-गुन सुनत दाह पर-दूषन[६] सुनत हरषु बहुतेरो।
आपु पाप के[७] नगर बसावत सहि न सकत पर खेरो ॥४॥
साधन-फल श्रुतिसार नाम तव भवसरिता कहँ बेरो।
सोई[८] पर-कर काकिनी लागि सठ बेंचि होत हठि चेरो ॥५॥
कबहुँक[९] हौं संगति सुभाउ नें जाउँ सुमारग नेरो।
तब करि क्रोध संग कुमनोरथ देत कठिन भट-भेरो ॥६॥
एक हौं दीन मलीन हीन मति बिपति जाल अति घेरो।
तापर सहि न जाइ करुनानिधि मन को दुसह दरेरो ॥७॥
हारि पर्‌यो करि जतन चहूँ[१०] बिधि ताते हौं[११] कहत सबेरो।
तुलसिदास यह[१] त्रास मिटै प्रभु[१२] देहु हृदयँ तुम्ह डेरो ॥८॥

शब्दार्थ—अनेरो (अ+नेरो)=निकट नहीं=दूर-दूर; इधर-उधर, व्यर्थ।=निकम्मा; अन्यायी, दुष्ट। यथा 'तोहि स्याम की सपथ जसोदा

---

२ नही—रा०, भा०, वे०, ह०,७४, प्र०, ज०। नाहि—श्रा०। ३ भूली—रा०, भा०, वे०। भूल्यो—श्रा०, ७४। ४ भगति—रा०। भक्ति—भा०, वे०। भजन (माधव को)—ह०। कथा—श्रा०, ७४, ५१। ५ प्रेमु—रा०। प्रेम—श्रा०। नेह—भा०, वे०, ७४। ६ उर अतर दोप—भा०। उर बाढ़त परदोप—वे०। परदूषन सुनत-औरोमे।७ के—रा०, प्र०, ह०, १५, ज०। को—प्रायः औरोमे। ८ सोइ—रा०, भा०, भ०, ह०, ज०। सो—श्रा०,७४। ९ कबहुँ कहूँ—भा०, ७४, कबहुँक सत—वे०। कबहुँक हो (हौ)—प्रायः औरोमे। १० चहूँ–रा०, भा०, वे०, ह०। विविध—७४। बहुत—५१, श्रा०। ११ हौं—रा०। हौ—भा०, वे०, ह०। ज०, ७४ अ, मे 'हो (हौं)' कुछ नही है। १२ की—भा०, वे०। भव—ह०। प्रभु—ज०। यह—रा०,५१,७४, श्रा०। १३ 'जब हृदय करहु तुम'—श्रा०, ५१। जब करहु हृदय महँ—भा०, ७४। प्रभु देहु हृदयँ तुम्ह डेरो—रा०, | इत्यादि कई प्रकारके पाठभेद हैं।

आइ देख गृह मेरो । जैसी हाल करी यहि ढोटो छोटो निपट अनेरो ।' अनुशासन=आज्ञा । 'कोल्हूमें डालकर पेरना' मुहावरा है । अर्थात् बहुत अधिक कष्ट पहुँचाकर प्राण लेना । यहाँ भाव है—'बार-बार जन्ममरणरूपी दुःख देना । कोल्हू—तिल, सरसों, ईख आदि पेरनेका यंत्र जिसमें तिल आदि डालकर तेल निकालते हैं । यह लकड़ी, लोहे या पत्थरका डमरूके आकारका बहुत बड़ा होता है । इसके बीचमें थोड़ा खोखला होता है जिसे कूंडी कहते हैं और पेंदेमें छेद होता है जिससे तेल बाहर रक्खे हुए बरतनमें गिरता है । पेरना=दो भारी तथा कड़ी वस्तुओंके बीचमें डालकर किसी तीसरी वस्तुको इस प्रकार दबाना कि उसका रस निकल आवे ।=बहुत कष्ट देना । फेरा करना=घूमते-फिरते जा पहुँचना; चक्कर लगाना । फेरा=चक्कर । खेरा (खेड़ा)=दो चार घर का पुरवा; यथा 'बन प्रदेस मुनिबास घनेरे । जनु पुर नगर गाउँ गन खेरे ।' घनेरा=बहुत घना । बेरो=बेड़ा । काकिनी (सं० काकिणी)=घुँघुची, गुंजा; कौड़ी । नेरो=निकट । भटभेरा=धक्का; ठोकर; यथा 'सुगम उपाय पाइबे केरे । नर हतभाग्य देहिं भटभेरे ।७।१२०।१२।' घेरो=घिरा; चारों ओरसे छेंका, फँसा, जकड़ा या बँधा हुआ । दरेरा=रगड़ा । हारना=थक जाना; साहसका जाता रहना; पस्त होना । सबेरो—सवेरे ही; अर्थात् अभी इसका उदय ही हुआ है, अभी से; प्रथमसे ही । यथा 'ताही तें आयो सरन सबेरे ।१८७,' 'हरिपद बिमुख काहूँ न लह्यो सुख सठ यह समुझ सबेरो ।८७।'

पद्यार्थ—हे श्रीरामजी ! हे रघुबीर ! हे गोसाईं ! सुनिए । मेरा मन अनीतिमें लगा हुआ है । आपके चरणकमलोंको छोड़कर यह अन्यायी रात-दिन व्यर्थ इधर-उधर फिरता रहता है ।१। न तो वेदोंकी आज्ञा मानता है और न किसीका डर है । कर्मरूपी कोल्हुओंमें तिलके समान बार-बार पेरा गया, (वह सब) कष्ट भूल गया ।२। जहाँ सत्संग होता है, भगवान्‌की भक्ति होती है, वहाँ स्वप्नमें भी (कभी भी) फेरा नहीं लगाता । जो लोभमोहमदकामक्रोधमें अनुरक्त रहते हैं उन्हींसे (इसका) बहुत गहरा प्रेम है ।३। पराया गुण सुनकर हृदयमें जलन और पराया दोष सुनकर बहुत अधिक हर्ष होता है । स्वयं तो पापके नगरके-नगर बसाता है, पर दूसरेका खेड़ा (के समान अल्प पाप भी) नहीं सह सकता ।४। आपका नाम (जो सब) साधनोंका फलस्वरूप वेदोंका सारतत्व और संसाररूपी नदी (को पार करने) के लिये बेड़ा रूप है, उसीको यह शठ दूसरोंके हाथ कौड़ीके लिये (अर्थात् कौड़ीके

बदलेमें) बेंचकर हठ करके उनका गुलाम बनता है।५। यदि कभी संगतिके (संतसंग द्वारा प्राप्त स्वभावसे * (वा, संगतिके कारण अथवा साधारण स्वाभाविक ही) मैं सन्मार्ग (सत्पथ) के निकट (पहुँच भी) जाऊँ, तो संग (विषयासक्ति) क्रोध करके (मनको तुरत) कुत्सित (सांसारिक) मनोरथरूपी कठिन ठोकर दे देते हैं † ।६। एक तो मैं दीन, मलिन, बुद्धिहीन और विपत्तिके जालमें अत्यंत फँसा हुआ हूँ, उसपर भी, हे कृपानिधान ! मनका कठिन रगड़ा, (यह) सहा नहीं जाता ।७। चारों प्रकारसे मैं यत्न कर-करके हार गया, इससे मैं अभी प्रथमही कहे देता हूँ । हे प्रभो ! तुलसीदासके हृदयमें आप डेरा डाल दीजिये, (जिससे) उसका यह त्रास मिट जाय ।८।

टिप्पणी—१ (क) 'सुनहु राम रघुबीर गुसाईं' इति । जब मनुष्य बहुत घबड़ा जाता है, तब स्वाभाविक वह इसी तरह कई नाम लेकर पुकार उठता है, वैसे ही यहाँ मनके दुस्सह दरेरोंसे त्रस्त होकर पुकार करते हैं । 'राम' अर्थात् सबमें रमने और सबको अपनेमें रमानेवाले परब्रह्म परमात्मा हैं । रघुबीर अर्थात् दयावीरता, पराक्रमवीरता आदि पंचवीरतायुक्त हैं । 'दीन' 'विपत्ति जाल अति घेरो' होनेसे उससे छुडानेके लिये यह विशेषण दिया । 'राम' कहकर 'रघुबीर' कहनेसे यह भी जनाया कि आप ही रघुकुलावतीर्ण राम हैं, उन्हीं वीर राघवेन्द्रसे यह प्रार्थना है । 'गुसाईं' से शक्तिमान् समर्थ शरणागत हितकारी स्वामी जनाया । मन तथा इन्द्रियसंभव दुःखके निवारणार्थ विनय होनेसे 'इन्द्रियोंके स्वामी' अर्थ भी है । विशेष 'यह बिनती रघुबीर गुसाईं' १०३ (१ क), 'केसव कारन कवन गुसाईं ।' ११२ (१ क), 'जयति धार्मिक धुरधीर रघुबीर ।'४४ (४ ध) में देखिए । आगे 'करुनानिधि' संबोधनद्वारा करुणा कृपाकी प्रार्थना होनेसे भी 'गुसाईं' संबोधन दिया यथा 'बलि जाउँ हों राम गुसाईं । कीजै कृपा आपनी नाईं ।१६५।'

---

*सतसंगसे अथवा प्रेमवश—(वि०) । † अर्थान्तर—१ तो यह मन क्रोध करके मुझको खोटे मनोरथ विषय आदिक रूपी कठिन धक्का देते हैं (ड०, भ०स०) । २ तब कुमनोरथ जो साथ हीमे लगा रहता है बडा ही जबरदस्त धक्का पहुँचाता है । (दीन) ।३ तो यह क्रोध, विषयासक्ति और बुरे मनोरथ करके बडे-बडे कठिन धक्के देता (श्री श०) । ४ तब क्रोध करके बुरी इच्छायें साथ दे दुर्जय बीरोको भिडा देती हैं । (सू० शु०) । ५ तब दुष्टोका संग, क्रोध और कुमनोरथोको उत्पन्न कर मुझको करी धक्का देते हैं । (चरखारी) ।

'मन अनीतिरत मेरो' कहकर आगे 'चरनसरोज बिसारि' से लेकर 'कठिन भटभेरो' तक मनके अन्याय कहे हैं।

१ (ख) 'चरन सरोज बिसारि···' इति। जो चरणकमल सब रसोके उपासकोके केन्द्र हैं, जिनका लालन श्रीजानकीजी करती हैं, जिन्हे श्रीलक्ष्मणजी अपने वक्षस्थलपर धरकर सोया करते थे, जिनको भगवान् शंकर अपने हृदयमे छिपाकर रखते हैं, मुनियोके मनमधुप जहाँ लुभाये रहते हैं, श्रीहनुमानजी जिनकी सदा सेवा करते हैं, इत्यादि तथा जिन चरणोका चिन्तन न करनेसे कही भी कोई आश्रय नही मिलता, (यथा—'इहै कह्यो सुत बेद चहूँ। श्रीरघुबीरचरनचितन तजि नाहिन ठौर कहूँ।८६।'), उनको यह भुलाकर इधर उधर फिरता है। चरणचिन्तन जीवका धर्म है, क्योंकि जीव सदासे भगवान्का किंकर है, चरणसेवक है।६१ (१) नोट १ (ख), १३६ (१ ग) तथा 'जीव भवदंघ्रिसेवक।'५८ (६ क) देखिए। पूर्व उसे शिक्षा दे भी आये हैं—'सुमिरु सनेह सहित सीतापति। रामचरन तजि नहिन आन गति।१२८।', 'हरिपदबिमुख काहूँ न लह्यो सुखु सठ यह समुझु सबेरो।८७।', 'जौं बिनु जोग जज्ञ व्रत संजम गयो चहहि भव पारहि। तौ जिनि तुलसिदास निसि बासर हरिपदकमल बिसारहि।८५।'—निशि-दिन न बिसारनेकी शिक्षा दी, उसके विपरीत यह निशिदिन बिसारे रहता है।—यह अन्याय है।

टिप्पणी—२ (क) 'मानत नहीं निगम अनुसासन···' इति। वेदाज्ञा नहीं मानता, इस कथनसे जनाया कि वेदोंकी निंदा करता है, वेदमार्गको छोड़कर कुमार्गमें चलता है, कराल कलिकालके गुण इसमें आ गए हैं। यथा 'जे जनमे कलिकाल कराला। ··चलत कुपंथ वेदमग छाँड़े। कपट कलेवर कलिमल भाँड़े। बंचक भगत कहाइ राम के। किंकर कंचन कोह काम के॥ तिन्ह महँ प्रथम रेख जग मोरी।१।१२।' कलिका यह भी एक धर्म है—'श्रुति बिरोधरत सब नर नारी।७।९८। ··कोउ नहिं मान निगम अनुसासन।७।९८।१-२।'

'त्रास न काहू केरो' इति। वेद भगवान्के वाक्य हैं, (यथा 'निगम निज बानी।६।१५।४।'), सहज श्वास हैं, यथा 'जाकी सहज स्वास श्रुति चारी। सो हरि पढ़ यह कौतुक भारी।१।२०४।५।' वेदाज्ञाका उल्लंघन करनेसे भगवान् दंड देंगे, सो इसको उनका भी भय नहीं। पुनः वेदोंमें विधि और निषेधके फल भी दिये हैं उनका डर नहीं। यथा 'कल्प-कल्प भरि एक-एक नरका। परहि जे दूषहि श्रुति करि तरका।७।१००।'

नरकोंमें पड़ने एवं यमयातना आदिका डर नहीं। तथा लोक परलोकके नाशका, भवभ्रमण आदिका डर नहीं। राजा स्वयं कलिका चेला हो रहा है, अतः उसके डरका तो प्रश्नही नहीं। इससे यह भी जनाया कि वेदाज्ञाका उल्लंघन बड़े उत्साहसे करता है, उससे प्रसन्न होता है। [यदि कहो कि इसे कभी दंड नहीं मिला, इसीसे निर्भय है; दण्ड मिलता तो अवश्य आज्ञा मानता, तो उसपर कहते हैं—'भूली सूल ···'। (वै०, अ०)]

२ (ख) 'भूली सूल करम कोल्हुन्ह···' इति। अर्थात् दण्ड तो इसे बहुत बार मिला। अनेकों बार बुरे-बुरे कर्मोंका फल इसे भोगना पड़ा है। कर्मभोगमें उसे बहुत यमयातना मिली और बारंबार मिली, पर वह पीड़ा इसे भुला गई, इसीसे किसीका डर नहीं। कर्म-कोल्हूका रूपक वैजनाथ-जीने इस प्रकार निबाहा है कि कोल्हूमें तिल पेरकर खरी और मैल निकालकर शुद्ध तेल ले लिया जाता है। वैसे ही जीवमें जब अधिक पाप बढ़ता है तब उसे यमपुरमें कर्मभोगरूप यमसाँसति मिलती है— यही कर्मरूपी कोल्हूमें डालकर पेरा जाना है। कर्मभोग यमयातना द्वारा पापरूपी खली और अवगुणरूपी मैल निकाल देने पर शुद्धजीवरूपी शुद्ध तेल रह गया।"—(यहाँ मलग्रस्त जीव तिल है)।

[म० भा० शान्तिपर्वमें भी तिल और कोल्हूका रूपक आया है। कुछ अंश यहाँ उद्धृत किया जाता है। संसारचक्र और जीवात्माका वर्णन करते हुए गुरुजीने शिष्यसे बताया है कि "जीव कर्मोंका संग्रह करता है। कर्मोंसे वासना और वासनाओंसे पुनः कर्म होते हैं। इस प्रकार यह अनादि, अनन्त महान् संसारचक्र चलता रहता है। यह जन्म-मरणका प्रवाहरूप संसार चक्रके समान घूम रहा है। आसक्ति इस चक्रका धुरा है। जैसे तेली लोग तेलसे युक्त होनेके कारण तिलोंको कोल्हूमें पेरते हैं, इसी प्रकार यह सारा जगत् आसक्तिग्रस्त होनेके कारण अज्ञानजनित भोगों द्वारा दबा-दबाकर इस संसारचक्रमें पेरा जा रहा है। यथा 'स्निग्धत्वात् तिलवत् सर्वं चक्रेऽस्मिन् पीड्यते जगत्। तिलपी-डैरिवाक्रम्य भोगैरज्ञानसम्भवैः॥' (म० भा० शा० २११।६)] ☞जीव अहंकारके अधीन होकर तृष्णाके कारण कर्म करता है और वह कर्म आगामी कार्य-कारण-संयोगमें हेतु बन जाता है। कर्म ही बारंबार गर्भवास आदि संसारचक्रके कारण होते हैं। शुभाशुभ कर्म अवश्य भोगने पड़ते हैं। मनुजीने भी यह सिद्धान्त बृहस्पतिजीसे इन शब्दोंमें कहा है—'प्रणीतं कर्मणा मार्गं नीयमानः पुनः पुनः। प्राप्नोत्ययं कर्मफलं प्रवृत्तं धर्ममाप्तवान्॥ म० भा० शां० २०४।१५', जिसने प्रवृत्तिप्रधान पुण्य-पापमय

कर्मका आश्रय लिया, वह जीवात्मा कर्मोंद्वारा कर्ममार्ग पर बारंबार लाया जाकर (अर्थात् संसारचक्रमें भ्रमाया जाकर) सुख-दुःखरूप कर्म-फलको प्राप्त होता है। भीष्मपितामहजी भी कहते हैं कि मनुष्यने जैसा कर्म किया है, वह उसके पीछे लगा रहता है, कोई भी कार्य करते समय भी कर्म-संस्कार उसका साथ नहीं छोड़ता, सदा छायाके समान उसके पीछे लगा रहता है। वह अपने कर्मोंका फल सदा अकेला ही भोगता है। (शान्ति १८०।८-१६) ।—इसीसे गोस्वामीजीने कर्मको तेलीके कोल्हूकी उपमा दी।—५७ (८ ख), १०३ (३ क) भी देखिए।

'भूली सूल'—वह पीडा भूल गई। जीवको न तो यही याद रहता है कि मेरे अनेक बार जन्म हुए और न यही स्मरण रहता है कि मुझे यमयातना मिली है। इसका ज्ञान तो भगवान् उसे गर्भमें देते हैं, तब वह प्रार्थना करता है, किन्तु गर्भसे बाहर आते ही वह उसे भूल जाता है—यह पद १३६ में बताया जा चुका है।

टिप्पणी—३ 'जहँ सतसंग भगति माधव···' इति। (क) सत्संग से शठ भी सुधर जाते हैं; भगवान्‌की कथा आदिमें प्रेम होता है, संसार निवृत्त हो जाता है, यथा 'सठ सुधरहिं सतसंगति पाई। पारस परस कुधातु सुहाई।१।३।६।', 'सतसंगति संसृति कर अंता।७।४५।६।' संतोंके दर्शन-स्पर्श-समागमसे पापका नाश होता है, मद-मोह-लोभादि सहज हीमें दूर हो जाते हैं—पद १३६ (१०) में यह कहा गया है। इसी प्रकार भगवद्भक्ति जहाँ होती है, वहाँ जानेसे कथाश्रवण, हरि-नामयशकीर्तन, आदि सुननेसे भगवान्‌के चरणोंमें प्रेम होता है जिससे कल्मष दूर हो जाते हैं। इसीसे भगवान् शंकर और महर्षि अगस्त्यजीने भी भक्ति और सत्संग (भक्ति योग है और सत्संग क्षेम है) दोनोंका वर माँगा है। —५७ (६ ख; ८ ग) देखिए। वहाँ जाता ही नहीं, इसीसे 'चरणसरोज' में प्रेम नहीं होता। सत्संग और हरिभक्ति जहाँ हों वहाँ जाना चाहिए, यथा 'यह बिचारि तजि कुपथ कुसंगति चलु सुपंथ मिलि भले साथ। देखु रामसेवक सुनु कीरति रटहि नाम करि गान गाथ।८४।' यह न करके इसके विपरीत करता है। इसको सिखाता हूँ कि कुसंगति छोड़ पर इसे कुसंग प्रिय है, यही आगे कहते हैं। सत्संगसे भक्ति होती है; यथा 'बिनु सत्संग भगति नहि होई।' (१३६), इसीसे सत्संगमें न जानेकी बात कहकर तब भक्तिकी बात कही।

३ (ख) 'लोभ-मोह मद···' इति। यही कुसंग है। लोभी, मोही,

अभिमान वा मदमें चूर, कामी और क्रोधियोंसे प्रेम होनेसे यह भी वैसा ही हो रहा है। यह संगति दिखाई । म. भा. आदि. ७६।१२ में कहा है कि जो अकारण किसीके साथ द्वेष करते हैं और दूसरोंकी निन्दा करते रहते हैं, उनके बीचमें सत्पुरुषका निवास नहीं होना चाहिए; क्योंकि पापियोंके संगसे मनुष्य पापात्मा हो जाता है।—'अकारणाद् ये द्विषन्ति परिवादं वदन्ति च। न तत्रास्य निवासोऽस्ति पाप्मभिः पापतां व्रजेत् ।'—इस तरह कामी-क्रोधी-लोभी-मानी आदिका संग कहकर जनाया कि मैं पापात्मा हो गया। भा० ५।५ मे ऋषभदेवने भी कहा है कि स्त्रीसंगियोंका संग ही नरकका द्वार है—'तमोद्वारं योषितां सङ्गिसङ्गम्।२।' पूर्व लिखा जा चुका है कि जैसा संग होता है वैसा ही रंग चढ़ता है।

टिप्पणी—४ (क) 'परगुन सुनत दाह···' इति । अर्थात् दूसरेकी प्रशंसा सह नहीं सकता । इससे जनाया कि दूसरोंसे ईर्ष्या करता है। पराया दोष सुनना अत्यन्त प्रिय लगता है, इससे उसके सुननेमें हर्ष होता है । यथा 'काहू की जौं सुनहि बड़ाई। स्वास लेहिं जनु जूड़ी आई।७।४०।२।', 'जहँ कहुँ निंदा सुनहिं पराई। हरषहिं मनहुँ परी निधि पाई।७।३६।४।'—यह असंत लक्षण मनका दिखाया।

४ (ख) 'आपु पापके नगर बसावत···'इति । 'के' कहकर बहुत नगर जनाये । नगरके नगर बसाए, अर्थात् पापोंकी थाह नहीं, मनमें पापही पाप भरा हुआ हैं । नगर बहुत बड़े-बड़े होते हैं, एक-एकमें लाखों मनुष्य बसते हैं। खेड़ेमें दो चार ही बसते हैं । औरोंका अल्प पाप भी सुनता हूँ तो उसको भारी बनाकर उनकी खिल्ली उड़ाता निंदा करता हूँ । इसमें पद १४१ के 'जानत हूँ निज पाप जलधि जिय जल सीकर सम सुनत लरों । रज सम पर अवगुन सुमेरु करि गुन गिरि सम रज तें निदरों।' का भाव है ।

टिप्पणी—५ 'साधन फल श्रुतिसार नाम तव···' इति ।(क) रामनाम सब साधनोंका फल है। इसमें पद ४६ के 'भक्ति वैराग्य विज्ञान सम दान दम नाम आधीन साधनमनेकं ॥ तेन तप्तं तेन दत्तमेवाखिलं तेन सर्वं कृतं कर्मजालं। जेन श्रीरामनामामृतंपानकृतमनिशमनवद्यमवलोक्य कालं ॥' तथा पद १३१ के 'रामनाम लेत होत सुलभ सकल धरम'का भाव है। नाम श्रुतिसार है, यथा 'एहि महँ रघुपति नाम उदारा। अति पावन पुरान श्रुतिसारा।१।१०।१।', 'मानि विश्वास वद वेदसारं' ४६ (१)। यह भवसागर तरनेके लिए बेड़ारूप है। दसबीस लट्ठे या बाँस आदिको

एकमें अलग-अलग रखकर बाँधकर नदीमें तैराया जाता है, उसीको वेडा कहते हैं, उसपर बैठकर नदी पार करते हैं। वैजनाथजी लिखते हैं कि वेड़ेमें न तो कारीगरीका काम और न उसके डूबनेका डर, वैसे ही रामनाममें न तो किसी बिधि-बिधानका काम और न उसके आधार पर भवमें डूबनेका डर। अतएव वेड़ाकी उपमा दी।

५ (ख) 'सोइ परकर काकिनी···' इति। भाव कि रामनाम ऐसा उत्तम अमूल्य पदार्थ है। ऐसी अमूल्य वस्तु कौड़ी मोल फेंकना उसका अनादर है, अपमान करना है। काकिनी (कौड़ी) यह एक पैसेमें वीस गंडे अर्थात् अस्सी मिला करती थी। आजसे साठ सत्तर वर्ष पूर्वकी बात है। वैजनाजी 'काकिणी पण तुर्यांशे इति मेदिनी', यह प्रमाण देकर कौड़ीको पैसेका चतुर्थांश लिखते हैं। पण प्राचीन कालमें ग्यारह या बीस माशेका एक ताँबेका सिक्का होता था। काकिणीसे तात्पर्य वहुत अल्प तुच्छ वस्तुसे यहाँ है। 'काकिनी लागि' अर्थात् बहुत अल्प धनके लिए। 'सोइ परकर···वेचि' में 'शिव सरवस सुखधाम नाम तुअ बेंचि नरकप्रद उदर भरों' का भाव है—१४१ (२ख-ग) देखिए। ऐसा अधर्म, अन्याय करना, लाभ हानिको नहीं समझता, अमूल्यरत्नको कौड़ीके लिये बेंचता है, यह मूर्खका ही काम है। अतः शठ कहा।

५ (ग) 'होत हठि चेरो' इति। 'हठि' का भाव कि इसको बारबार मैं शिक्षा देता हूँ कि "रामनाम 'सकल सौभाग्य सुखखानि' है, 'रामनाम छाड़ि जो भरोसो करै और रे। तुलसी परोसो त्यागि माँगै कूर कोर रे'. यह भूखेके लिये माँ-बापके समान भरपेट भोजन देनेवाला है, कल्पवृक्षके समान सभी मनोरथोंको पूर्ण करनेवाला है, सब ऋद्धि-सिद्धि इसी एक साधनसे प्राप्त हो जाती हैं, इत्यादि," फिर भी यह नाम ले-लेकर कोड़ी-कौड़ी माँगता फिरता है। मेरा उपदेश नही मानता। 'होत चेरो' से जनाया कि नामको वेचता ही नहीं हूँ, किन्तु उस ग्राहकका गुलाम भी बन जाता हूँ, वह गुलाम बनाना भी नहीं चाहता, तो भी मैं हठपूर्वक खुशामद कर-करके जबरदस्ती गुलाम वन जाता हूँ; उसका बड़ा कृतज्ञ होता हूँ।

टिप्पणी—६ 'कवहुँक हों संगति सुभाउ तें···' इति। 'संगति सुभाउ' का भाव कि मेरा स्वभाव ऐसा नहीं है कि कभी सुपन्थ पर चलूँ, किन्तु दैवयोगसे कभी सन्तोंका संग हो गया, तो उनके संगसे कुछ देरके लिये सन्मार्गपर चलनेकी इच्छावाली वृत्ति आ गई; सत्संगसे स्वभाव ऐसा हो गया। यथा 'सठ सुधरहिं सतसंगति पाई'। (मनको शठ ऊपर कह आये ही हैं)। सङ्गद्वारा प्राप्त स्वभावसे सुमार्गके निकट जाता हूँ। 'नेरो'

से जनाया कि सत्पंथपर चलनेकी इच्छा हुई, चलना चाहा, पर उसपर चलने नहीं पाता। इसका कारण आगे कहते हैं कि 'तव करि क्रोध…'। मनकी जो विषयासक्ति है वह कुपित होकर मनको फिर कुमनोरथोंमें लगा देती है, संगतिसे जो सुंदर भाव वा स्वभाव आ गया था उसको धक्का लगते ही स्वभाव फिर जैसा-का-तैसा हो गया। यह खलता दिखाई। मिलान कीजिए 'खलउ करहिं भल पाइ सुसंगू। मिटइ न मलिन सुभाउ अभंगू।१।७।४।' से। खल तो सुसंगसे भला कर भी लेते हैं पर मैं तो उनसे भी गया-बीता हूँ।

यदि मनको कर्ता मानें तो अर्थ होगा कि 'मन क्रोध करके कुमनोरथका संग ले कठिन धक्का दे देता है' (इससे 'मुझको' या 'संगति सुभाउ' को धक्का देना कहा जायगा)। यदि दीनजी के मतानुसार 'संग कुमनोरथ' (साथके कुमनोरथ)का धक्का देना मानें तो मनको धक्का देना कह सकते हैं।—तात्पर्य सबका एक ही है।

हृदयमें कुत्सित विषयोंके मनोरथोंकी तरंगोंको उठा देता है—यही धक्का देना है।

टिप्पणी—७ (क) 'एक हौं दीन मलीन…'इति। दीन, मलिन और बुद्धिहीन तथा विपत्तिमें पड़ा होना ऊपर दिखा आये हैं। चरनसरोज बिसारनेवाला दीन, मलिन और सदा दुःखी रहता है और मैं उन चरणोंको बिसारे हूँ, अतः दीन-दुःखी हूँ। यथा 'अति दीन मलीन दुखी नित हीं। जिन्ह कें पद-पंकज प्रीति नहीं।७।१४।' (यह शिवजीका वाक्य है)। 'अति दुखी नितहीं' ही 'विपत्तिजालसे घिरा होना' है। मलिनता 'लोभमोहमदकामक्रोधरत तिन्ह सों प्रेमु घनेरो'से 'सहि न सकत पर खेरो' तक कही है। 'हीन मति' (बुद्धिहीनता) 'साधनफल…बेंचि होत हठि चेरो'में स्पष्ट है।

[वै०—दीन अर्थात् पुरुषार्थहीन हूँ। पापोंके कारण मलिन हूँ। बुद्धिहीन हूँ। इसीसे हानि, रोग, दरिद्रतादि विपत्तिजालमें पड़ा हूँ। अर्थात् पुरुषार्थ होता तो सत्कर्म करता, सुकृती होता तो सुख मिलता, सुबुद्धि होती तो विचार, विवेक, संतोष-आदि शुभ गुण होते। ये एक भी नहीं हैं, इसीसे महाविपत्ति है।]

७ (ख) 'ता पर सहि न जाइ करुनानिधि…' इति। मेरी उपर्युक्त दशा हो रही है, ऐसी अवस्था देखकर तो मनको चाहिए था कि सुधारने सँभालनेका यत्न करता, अनीति त्यागता, किन्तु वह अब भी और रगड़ता जाता है। उसका यह रगड़ा असह्य है। [दरेरा अर्थात् कुत्सित

मनोरथ जो कामादिका प्रहार करते हैं उसकी कठिन चोट, सही नहीं जाती। भाव कि यह जीवकी स्थिरता और आनन्दको नष्ट किये डालता है। (वै०)] अतएव आपसे करुणाकी प्रार्थना है। आप करुणासागर हैं, अपने जनोंका दुःख देख स्वयं दुःखी होकर तुरन्त दुःख हर लेते हैं। मैं आपका जन हूँ और मेरी दशा करुणाजनक है। अतः आप करुणा-दृष्टि डालकर मुझे कष्टसे उबारैं। यथा 'जे नाथ करि करुना बिलोके त्रिविध दुख ते निर्बहे।७।१३।'

टिप्पणी—८ 'हारि परयो करि जतन चहूँ विधि···' इति। 'चहूँ' विधियें साम, दाम, भर्त्सना और दंड चार विधि हैं। आगे पद १४५ और १४७ में भी कहा है—'सम सेवा छल दान दंड हौं रचि उपाय पचि हारयो।', 'मिले रहैं मारयो चहैं कामादि सँघाती। मो बिनु रहैं न मेरिये जारैं छल छाती॥ बसत हिये हित जानि मैं सबकी रुचि पाली।···' इन उद्धरणोंसे भी 'चहूँ विधि' पाठ शुद्ध सिद्ध होता है। विशेप व्याख्या उन पदोंमें की जायगी। यह पाठ प्राचीनतम पोथियोंका है भी।—['बहुत' पाठान्तर आधुनिक प्रतियोंमें है। 'बहुत'से विवेक विराग, संतोष, विचार, समता, शान्ति और ज्ञान आदि यत्न वैजनाथ-जीने लिखे हैं।]—'हारि परयो'से जनाया कि सब यत्न निष्फल हुए, एक भी विधि कारगर (सफल) न हुई, मेरा कोई कर्तव्य न चला, समझा-बुझाकर दण्ड देकर थक गया; अब कोई आश्रय सिवाय आपसे कह देनेके नहीं है, अतः आपसे कहता हूँ। ऐसा हो पूर्व कह आये हैं। यथा 'मेरो मन हरि हठ न तजै। निसि दिन नाथ देउँ सिख बहु विधि करत सुभाव निजै।···हौं हारयो करि जतन विविध विधि अतिसय प्रबल अजै। तुलसिदास बस होइ तबहि जब प्रेरक प्रभु बरजै।८९।'— इसीके सब भाव यहाँ हैं।८९ (४ क–ख) देखिए। आप डाँट दें, बस यह ठीक हो जाय, यह वहाँ कहा था; और यहाँ दूसरा उपाय कहते हैं कि हृदयमें डेरा डालिए।

'सबेरो'का भाव कि अभी आरंभिक अवस्था है, इससे थोड़ेमें ही सँभाला जा सकता है; आपको कोई विशेष उपाय न करना पड़ेगा। केवल 'देहु हृदय महँ डेरो', इतने मात्रसे काम बन जायगा। आप प्रभु अर्थात् समर्थ स्वामी है।

'यह त्रास'—अर्थात् जो ऊपर कह आए हैं—'मनको दुसह दरेरो।' [वै०—मनकी कुटिलताका त्रास। मन प्रभु पद छोड़ कुमार्गमें रत है, अतः कामादि मुझको भवसागरमें डालेंगे, यह डर है। मेरे हृदयमें

आप वास करेंगे तो आपके डरसे कामादि ठग आपही भाग जायँगे। शुद्ध मनको कैदकर अपनी परिचर्यामें लगा लीजिए तब सब बात बन जाय।]

नोट—१ इस पदमें दंभका प्राबल्य, मनकी अधर्मासक्ति, विरक्तिका उद्दीपन, जीवकी असमर्थता और भगवत्कृपाका बड़ा ही सुन्दर वर्णन किया गया है। (वि०)।

२—सू० शुक्ल—"यद्यपि यह मन गुण-अवगुण, सत्य-असत्य, आदि दोनोंको देखता है परंच यह अज्ञानसे हुआ है और अज्ञान ही का रूप है। इसलिए सत्यकी ओर इसकी रुचि नही होती, किन्तु यह असत्य हीकी ओर दौड़ता है। जब वह भगवान्‌की कृपासे सत्यकी ओर झुक पड़ता है तो उसमें यथार्थ आनन्द मिलनेसे फिर सारे असत्य पदार्थ कडुवे हो जाते हैं और वह परमात्मामें ही लीन हो जाता है। इससे मन, बुद्धि, चित्त और अहंकारमें भगवान्‌के ठहरनेकी प्रार्थना करिये।"

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

१४४

सो धौं को जो नाम लजा[1] तें नहिं राख्यो रघुबीर।
कारुनीक बिनु कारन ही हरि हरी[2] सकल भव भीर॥१॥
बेद बिदित जग बिदित अजामिल बिप्रबंधु अघधाम।
घोर जमालय जात निवारयो सुत-हित सुमिरत नाम॥२॥
पसु पाँवर अभिमानसिंधु गज ग्रस्यो आइ जब ग्राह।
सुमिरत सकृत सपदि आये[3] प्रभु हरयो दुसह उर दाह॥३॥
ब्याध निषाद गी[4] गनिकादिधक अगनित अवगुनमूल।
नाम ओट तें राम सबनि[5] की दूरि करी सब सूल॥४॥

१ लजा—रा०, भा०, वे०, ५१, ह०, प्र०। लाज—७४, आ०। २ हरी—रा०, ७४, ह०, ५१, मु०। हरहि—भा०, वे०, वि०, प्र०। हरी-दीन। हरहु—वै०। हरहि-भ०। ३ आये-रा०, आ०। आयो-भा०, वे०। ४ गीध—रा०, भ०, ह०, ब०, प्र०, दीन, वि०। गृध्र—मु०, वै०। गिद्ध—भा०।

केहि आचरन घाटि हौं[6] तिन्ह तें रघुकुलभूषन भूप।
सीदत तुलसिदास निसि बासर परयो भीम तम कूप ॥५॥

शब्दार्थ—कारुनीक = करुणा करनेवाला। भीर = भय। बिप्रबंधु = वह ब्राह्मण जो अपने धर्मसे च्युत (गिर गया) हो; ब्राह्मणाधम। जमालय (यमालय) = यमराजका स्थान; यमलोक। निवारना = रोक देना; रक्षा करना; बचाना। सकृत = एक बार। सपदि = उसी समय; शीघ्र; तुरंत। ओट = आड़; बहाना; व्याज; शरण। यथा 'ओट रामनामकी ललाट लिखि लई है।' (बाहुक), 'कैसेउ पाँवर पातकी जेहि लई नाम की ओट। गाँठी बाँध्यो राम सो परिख्यो न फेरि खर खोट ॥१६१॥' घाटि = घटा हुआ; न्यून; कम। सीदत = दुःख पाता है; कष्ट झेलता है। यथा 'सीदत साधु साधुता सोचति ॥१३६॥' भीम = भयंकर।

पद्यार्थ—हे रघुवीर! भला ऐसा कौन है जिसकी रक्षा आपने अपने नामकी लज्जा (प्रतिष्ठा रखनेके विचार) से न की हो? विना कारणही करुणा करनेवाले हे हरि! आपने सबका सब भवभय विना कारण हर लिया ॥१॥ वेदोंमें विदित है और जगत्‌में प्रसिद्ध है कि पापोंका निवास-स्थान विप्राधम अजामिलको वेटेके (बुलानेके) लिये (उसका नारायण) नाम स्मरण करते ही (अर्थात् वेटेका नारायण नाम ले पुकारते ही, आपने) घोर यमलोकको जाते हुए रोक (बचा) लिया ॥२॥ नीच और अभिमानके समुद्र पशु गजेन्द्रको जब ग्राहने आकर ग्रस लिया, तब उसके एक बारके स्मरण करते ही, हे प्रभो! आप तुरंत आ गए और उसके हृदयके दुस्सह संतापको हर लिया ॥३॥ व्याध, निषाद, गृध्र और गणिका आदि असंख्यों अवगुणोंके मूल थे। हे श्रीरामजी! नामकी ओटसे आपने उन सबोंकी सब पीड़ायें दूर कर दीं ॥४॥ हे रघुकुलके भूषण (रघुकुलश्रेष्ठ) राजन्! मैं उनसे किस आचरणमें कम हूँ? (अर्थात् उनसे किसी प्रकार कम पापी नहीं हूँ)। (फिर भी मैं) तुलसीदास भयंकर (मोहरूपी) अंधकूपमे पड़ा हुआ रात-दिन कष्ट झेल रहा हूँ ॥५॥

नोट—१ इस पदका १४३वें पदसे पूर्वापरका संबंध जान पड़ता है। उसके अंतमें जो यह कहा है कि 'यह त्रास मिटै डेरो' उसपर यह शंका हो सकती है कि 'पापमय हृदयमें डेरा कैसे होगा?' उसीके समाधानमें यह पद लिखा हुआ जान पड़ता है। (दीनजी; वियोगीजी)।

---

५ सबनि—रा०, ५१, आ०। सबन्हि—मु०, ७४। सबन—भा०, वे०, ह०, वै०।
६ हौं—प्रायः औरोंमे।

टिप्पणी—१ (क) 'सो धौं को' ऐसा कौन है ? भाव यह कि ऐसा एक भी उदाहरण नहीं है, जहाँ आपने रक्षा न की हो, शरणमें न लिया हो। पदके अन्तमें जो प्रार्थना करनी है, उसकी भूमिका इस प्रकार उठाकर जना रहे हैं कि मैं भी इसीका अवलंब लेकर आया हूँ कि आपको अपने नामकी लज्जा है।

१ (ख) 'नाम-लज्जा तें'—भगवन्नामका भारी यश वेदों, पुराणों, स्मृतियों, आदिमें गान किया गया है। श्रीसीतारामनामप्रतापप्रकाश ग्रंथमें इसके अगणित प्रमाण लिखे हैं। 'मानस-पीयूष' में नामवन्दना प्रकरणमें बालकांड २२ (८) में भी बहुत प्रमाण उद्धृत हैं। यहाँ उनको उद्धृत करनेकी आवश्यकता नहीं, यहाँ प्रसंग केवल यह है कि उस यशकी लज्जा श्रीरघुवीरको बहुत भारी है। लज्जाका भाव कि उस यशमें बट्टा या धब्बा न लगने पावे, वह यश सुरक्षित रहे, इसका बराबर श्री रघुवीरको खयाल (ध्यान) रहता है। 'राख्यो' (रक्षा की, शरणमें ले लिया) के संबंधसे 'रघुवीर' संबोधन दिया। दयावीरता और पराक्रमवीरता रक्षामें कारण हैं। नामकी प्रतिष्ठाकी रक्षाके कुछ उदाहरण आगे देकर दिखाते हैं कि उसमें कितने उदार हैं। भक्तमालमें देवा पंडाजीने भी कहा है—"बड़ेई दयाल सदा भक्त प्रतिपाल करैं, मैं तो हौं अभक्त, ऐपै सकुचायो हियो है। 'झूठे सनबंधहूँ ते नाम लाजै मेरोई जु तातैं सुख साजै यह दरसाय दियो है।"

१ (ग) 'कारुनीक बिनु कारन ही ...' इति। कारुणीक हैं, अर्थात् करुणामय स्वभाव है, यथा 'करुनामय रघुनाथ गोसांई। बेगि पाइअहिं पीर पराई।२।८५।२।'; इसीसे बिना कारण ही भवभय हर लेते हैं। 'बिनु कारन' यह कि और लोग सेवा, पूजा, बलि, भेंटआदि पानेपर कुछ करुणा करते हैं, यथा 'पूजा लेत देत पलटें सुख हानि लाभु अनुमाने।२३६।' 'भजन्ति ये यथा देवान् देवा अपि तथैव तान्। प० पु० पा० ८४।२७।', 'सेवा अनुरूप फल देत भूप कूप ज्यों, बिहूने गुन पथिक पिआसे जात पथके। क० ७।४४।' परन्तु 'बिनु सेवा जो द्रवै दीनपर राम सरिस कोउ नाहीं।१६२।' दीन जनोंकी पीर दूसरोंको नहीं होती। क्लेशहरणसंबंधसे 'हरि' नाम दिया। सब पीड़ाओंसे भारी पीड़ा 'भव' की पीड़ा है, अतः उसीको कह देनेसे अन्य साधारण पीड़ाएँ भी उसमें आ गईं।

टिप्पणी—२ 'बेद बिदित जग बिदित अजामिल ...' इति। (क) वेदोंके उपबृंहण स्वरूप श्रीमद्भागवतमें कथा होनेसे वेदविदित कहा और संसारमें सब जानते हैं, इससे जगबिदित कहा। ऊपर जो 'बिनु कारन' कहा उसीको इस उदाहरणसे स्पष्ट करते हैं। अजामिलकी कथा,

५७ (३ क), ६७ (४ क-ख) में देखिए। 'विप्रबंधु अघधाम'—दासीका पति होकर उसने अपने समस्त विप्रधर्मकर्मोंको डुबा दिया था और निंदित कर्मोंके कारण पतित, व्रतहीन और नरकगामी, ब्रह्मतेजको नष्ट करनेवाला, निर्लज्ज पापी था; यथा 'पापो ब्रह्मघ्नो निरपत्रपः। भा० ६।२।३४।', 'एवं स विप्लावितसर्वधर्मा दास्याःपतिः पतितो गर्ह्यकर्मणा। निपात्यमानो निरये हतव्रतः। भा० ६।२।४५।' अतः 'विप्रबंधु०' कहा।

२ (ख) 'घोर जमालय जात निवार्यो...' इति। यमदूत अजामिलको यमपुर ले जानेके लिए उसके जीवको जब खींच रहे थे, उसी समय भगवत्-पार्षदोंने उनको बलपूर्वक रोक दिया था। यथा 'यमप्रेष्यान्विष्णुदूता वारयामासुरोजसा। भा० ६।१।३१।' दूतोंने यमराजसे भी कहा है कि उन्होंने बलात्कारसे हमारे पाशोंको तोड़कर उसे छुड़ा दिया—'व्यमोचयन्पातकिनं छित्त्वा पाशान्प्रसह्य ते। भा० ६।३।६।', 'पापखानि जियं जानि अजामिल जमगन तमकि तई हो ताको भेते। लियो छोड़ाइ चले कर मीजत पीसत दाँत गए रिस रेते।२४१।'

२ (ग) 'सुत हित सुमिरत नाम' इति। अजामिलने अपने बेटेको उसका नारायण नाम लेकर पुकारा था। यथा 'वक्रतुण्डानूर्ध्वरोम्ण आत्मानं नेतुमागतान्॥ दूरे क्रीडनकासक्तं पुत्रं नारायणाह्वयम्। प्लावितेन स्वरेणोच्चैराजुहावाकुलेन्द्रियः॥ भा० ६।१।२८-२९।' (अर्थात् जिनके मुख टेढ़े-टेढ़े और रोम उठे हुए हैं, वे भयानक पुरुष उसे वहाँ लेने आए। उन्हें देखकर विह्वल हो उसने दूर खेलते हुए अपने नारायण नामक पुत्रको अत्यंत उच्चस्वरसे चिल्लाकर पुकारा।) 'विशेष ६६ (३ग-घ) में देखिए। उसने न तो भगवान्को पुकारा और न भगवान्में उसका चित्त ही था, चित्त बेटेमें था। न तो वह भगवान्की शरण ही गया और न कभी उसने भगवान्का स्मरण किया। भगवान्का एक नाम 'नारायण' भी है। नामजापकपर कृपा की, तो क्या? वह तो उचित है, उनका कर्तव्य ही है, वह कृपा तो 'कारण कृपा' है। जिसने उनको स्मरण न कर उस नामवाले अपने बेटेको पुकारा, उसकी भवभीर मिटाई, यह 'बिनु कारन ही' कृपा है। यह करुणा है। इसी तरह राक्षसोंके तारनेमें शिवजीने प्रभुको करुणाकर कहा है, यथा 'उमा राम मृदुचित करुनाकर। बयर भाव सुमिरत मोहि निसिचर। देहिं परमगति सो जिय जानी। अस कृपाल को कहहु भवानी।६।४४।'—ठीक वैसे ही भगवान् अपने नामकी लज्जा यहाँ तक रखते हैं कि आपके नामराशी आपके नामका कोई दूसरा भी संकटमें पुकारा जाता है, तो आप यह मान लेते हैं कि यह हमको ही पुकारता है,

हमारा ही तो नाम लेता है, और इस नामके व्याजसे उसको तार देते हैं। ☞ इससे उपदेश मिलता है कि गृहस्थोंको अपने पुत्रादिका नाम भगवान्‌के नामपर रखना चाहिए। उस बहानेसे भी जो भगवन्नाम मुँहसे निकलता है, उसे भी भगवान् अपने नामका स्मरण मान लेते हैं— यही है 'कारुनीक बिनु कारन भवभीर हरना'। पुनः भाव कि जब ऐसा नाम लेनेसे भी उसकी प्रतिष्ठा रखते हैं, तब प्रेमपूर्वक उनका ही जो स्मरण करेगा, उसकी भवभीर क्यों न हरेंगे ? आगे भी कहा है--'कैसेंहु नाम कहो कोउ पावढ सुनि सादर आगें होइ लेते।२४१।'

टिप्पणी--३ 'पसु पाँवर अभिमान सिंधु गज…' इति। पशु गजेन्द्रकी कथा ८३ (६ ग), ९३ (२ क-ख) में देखिए। गज पशु है, विषयी और स्तब्धबुद्धि होता है, यथा 'तमोऽन्धं यथा गजः स्तब्धमतिः स एव। भा० ८।४।१०।' वह बड़ा मदान्ध था--'कलभांश्च दुर्मदो। भा० ८।२।२६।' इसीसे 'पाँवर अभिमानसिंधु' विशेषण दिया। ६४ (३ ग) देखिए। बलके अभिमानमें एक हजार दिव्य वर्ष तक जलमें ग्राहसे लड़ता रहा था। तब तक कभी भी भगवान्‌का स्मरण उसने नहीं किया। जब हार गया तब उस संकटमें पुकारा, सो भी एक ही बार पुकारा। इतने ही से उसका दुःख दूर कर दिया--'आरति निवारी प्रभु पाहि कहें पील को। क० ७।१८।' संकट ही नहीं दूर किया किन्तु उसको अपना पार्षद भी बना लिया।-'तस्यो गयंद जाके एक नाय।' सपदि आये प्रभु--९३ (२ क-ख) देखिए।

टिप्पणी—४ 'ब्याध निपाद गीध गनिकादिक…'इति। (क) ब्याध—५७ (३ख), ६४ (३ घ) देखिए। गीध—खग ६४ (३क), निषाद—१०६ (२ क-ख) में और गणिका—६४ (३ख) में देखिए। 'आदिक' में उपल, भालु, निशाचर, शवर, श्वपच, यवन और कोल-भील तथा और भी अवगुणमूल पुरुष आ गए जो नामकी ओटसे तरे। सब अवगुणमूल थे अर्थात् शम-दम-दया-दानहीन थे--पूरा पद १०६ देखिए।

४ (ख) 'नाम ओट तें राम सबनि की…' इति। नामका आश्रय लेनेसे, नामके व्याजसे, नाम लेनेसे सबके दुःख श्रीरामजीने दूर किये। यथा 'नाम लियें रामु किए परम-पावन सकल…।', 'कोल खल भिल्ल जमनादि खसे राम कहें नीच है ऊँच पद कै न पायो।' (पद १०६)। नामकी आड़से, इस बहानेसे कृपा करते हैं जिसमे कोई अन्याय न कहे। कैसे भी कोई नाम कहेगा उसे तार देंगे यह नियम बना दिया है।

टिप्पणी—५ (क) 'केहि आचरन घाटि हौं तिन्ह तें…' इति। किस

आचरणमें उन लोगोंसे घटा हुआ हूँ ? अर्थात् जितने भी दुराचार इन सबोंमें हैं वे सब मुझमें उनसे कई डिगरी (गुणा) अधिक मात्रामें हैं, किसी भी दुराचारकी मात्रा कम नहीं है। इसी तरह कवितावलीमें अपने को अजामिलसे अधिक कहा है और पद ६६ में भी उसीका संकेत है कि नामकी महिमा ध्यानमें लाइयेगा तो अजामिलकी भाँति मेरा भी उद्धार कीजियेगा। यथा "जौ चित चढ़ै नाम-महिमा निज गुनगन पावन पन के तौ तुलसिहि तारिहौ बिप्र ज्यों दसन तोरि जमगनके।" अजामिल मोहमद-माता था, दासीमें रत था, वेदधर्म-त्यागी था, उसने सुत-हित नाम लिया था, उससे मैं अधिक हूँ। कुमतिरूपिणी दासीमें रत हूँ, पेट-प्रिय रूपी प्रियपुत्रहित नाम लेता हूँ। इत्यादि। यथा 'मोहमद मात्यो रात्यो कुमति-कुनारिसों, बिसारि वेद-लोक-लाज आँकरो अचेतु है। भावै सो करत मुँह आवै सो कहत कछु काहूकी सहत नाहि सरकस हेतु है। तुलसी अधिक अधमाईहू अजामिल तें···पेट-प्रियपूत हित रामनामु लेतु है। क० ७।८२।'—विशेष ६६ (३ घ) में देखिए। गज अभिमानसिंधु था, मेरा अभिमान भी कम नहीं—'भावै सो करत···। क० ७।८२।' ऐसा अभिमानी कि कलिको ललकार देता हूँ, यथा 'जानि कै जोरु करौ परिनाम तुम्हैं पछितैहौ पै मैं न भितैहौं। क० ७।१०२।' उसे ग्राहने ग्रसा था, मुझे कर्म स्वभावादिने ग्रसा है। यथा 'करम सुभाउ काल काम कोह लोभ मोह ग्रह अति गहनि गरीबु गाढ़े गह्यो हौ। २६०।'—प्रार्थीने दो-के दोष गिनाये, इससे हमने इन दोनोंसे कुछ मिलान दिखा दिया। व्याध-निषादादिसे अधिक अवगुणमूल होना आगे भी कहा है, यथा 'मेरे पासंगहू न पूजिहैं ह्वै गए, हैं, होने खल जेते।२४१।'—इस उदाहरणमें सब आ गए।

'तिन्ह तें' कहकर प्रार्थी अपनेको उन्हींकी पंक्तिका अधिकारी सूचित करता है,—७७ (३ घ), ११२ (२) देखिए।

[पुनः, 'केहि आचरन घाटि' का भाव कि वे सब सत्ययुग, त्रेतामें हुए जब धर्मका अधिक प्रचार था, तब लोग कहाँ तक पापी हो सकते ? उस समयके जो पापी होते रहे होंगे वह गए-बीते-भी आजकलके धर्मात्माओंसे कम नहीं होंगे। मैं कलियुगका पापी हूँ, अतएव उनसे अधिक हूँ। (वै०)] और युगोंमें सत्व, रजकी प्रधानता थी, तमोगुण स्वल्प था और कलि तो मलागार ही है, यथा 'सुद्ध सत्व समता बिज्ञाना। कृत प्रभाव प्रसन्न मन जाना॥ सत्व बहुत रज कछु रति कर्मा। सब बिधि सुख त्रेता कर धर्मा॥ बहु रज स्वल्प सत्व कछु तामस। द्वापर धर्म हरष भय मानस॥ तामस

बहुत रजोगुन थोरा। कलि प्रभाव बिरोध चहुँ ओरा। ७।१०४।'—अतः प्रार्थीने अपनेको अधिक कहा।

५ (ख) 'रघुकुलभूषण भूप'—भाव कि रघुकुलके सब राजा धर्मात्मा, विरुदके पक्के और नीतिनिपुण हुए और आप उन सबोंकी शोभा बढ़ानेवाले भूषणरूप हुए, सर्वश्रेष्ठ हुए, आपने गृध्र और उलूकका, बक-उलूकका तथा श्वान और यतीका न्याय किया। यथा 'बग उलूक झगरत गये अवध जहाँ रघुराउ। नीक सगुन बिवरिहि झगर होइहि धरम निआउ।३७। जती-श्वान-संबाद सुनि सगुन कहब जिय जानि। हसबंस-अवतंस पुर बिलग होत पय पानि।३८। रामाज्ञाप्रश्न सर्ग ६।', 'जेहि कौतुक बक स्वान को प्रभु न्याव निबेरो।१४६।', 'स्वान-खग-जति-न्याउ देख्यो आपु बैठि प्रबीन गी० ७।३४।', 'श्वान कहे तें कियो पुर बाहिर जती गयंद चढ़ाई। १६५।' गृध्रोलूकविवाद प्रसंग पंडित पुस्तकालय संस्करणके वाल्मी० ७।५६ के पश्चात् प्रक्षिप्त सर्ग ३ मे है। रामाज्ञाप्रश्नके उद्धरणमें धर्मन्यायके संबंधसे 'हंसबंस अवतंस' नाम है, अवतंसका अर्थ है भूषण। वही नाम यहाँ देकर सूचित किया कि मेरा भी न्याय कीजिए। जिस न्यायसे उनको अपनाया वही मेरे साथ होना चाहिए।

५ (ग) 'सीदत तुलसिदास निसिबासर'''इति। इससे जनाया कि आप बड़े निष्ठुर हैं, यथा 'तुलसिदास सीदत निसिदिन देखत तुम्हारि निठुराई।११२।' मुझे भी आपके नामका ही अवलंब है, यथा 'नामु लै उदरु भरै एक दासी दास कहाइ।४१।', 'जनु कहाइ नाम लेत हौं। ४२।', 'रामनाम तुलसीको जीवन अधार रे।६७।' इत्यादि। विशेष ६८ (५ ख) में देखिए। रातदिन पीड़ित हैं, इसीसे बारंबार उसके लिये प्रार्थना करते आये हैं, यथा 'पाहि मामीस संतापसंकुल सदा दास तुलसी प्रनत रावनारी।५४।', 'प्रनतपालक राम परम करुनाधाम पाहि मामुर्विपति दुर्विनीतं।५६।', 'त्राहि रघुवंसभूषन कृपाकर कठिन काल विकराल कलित्रासत्रस्तं।५६।', 'ग्रसत भवव्याल अतित्रास तुलसीदास त्राहि श्रीराम उरगारि-जानं।६१।', 'तुलसिदास प्रभु हरहु दुसह, दुख करहु लाज निज पनकी।६०।', 'तुलसिदास यह दारुन दुख भंजहु राम उदार।६३।', 'यह बड़ि त्रास दास तुलसी प्रभु नामहुँ पाप न जारो।६४।', 'द्वैतरूप तमकूप परौं नहिं से किछु जतन बिचारी।११३।' इत्यादि। नामकी लज्जा भी दिलाई। यथा "जो चित चढ़ै नाम महिमा'''।६३।' तब भी आपने अबतक मेरा दुःख न हरा, मैं भयंकर अंधकूपमें पड़ा गल रहा हूँ। 'तमकूप'—११३ (४ ग) में देखिए। देहाभिमान द्वैतबुद्धि, हम-हमार इत्यादि भयंकर तमकूप है।

विषयासक्त होना, कामक्रोधादिरत होना इत्यादि सब इसीमें आ गए। भवकूप भी यही है।

सू० शुक्ल—आर्तभक्तके यही लक्षण हैं कि जब उसको संसार दुःखमय प्रतीत होता है और उसमें वैराग्य होता है, तो उससे छूटनेके लिये परमात्माकी शरण लेता है और भगवान् उसे उबार लेते हैं।

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

१४५ (४२)

कृपासिंधु जन दीन दुआरें दादि[1] न पावत काहे।
जब जहँ[2] तुम्हहिं पुकारै[3] आरत तब तिन्ह के दुख दाहे ॥१॥
गज प्रहलाद पंडुसुत[4] कपि सबको रिपु संकट मेट्यो।
प्रनत बंधुभय विकल बिभीषन उठि सो भरत ज्यों भेंट्यो ॥२॥
मैं तुम्हरो लै नाउँ[5] गाउँ एक उर आपने बसायो।
भजनु बिबेकु बिरागु लोग भले करम[8]-करम करि ल्यायो[6] ॥३॥
सुनि रिस भरे कुटिल कामादिक करहिं जोरु बरिआईं।
तिन्हहिं उजारि नारि अरि धनु पुर राखहिं[9] राम गोसाईं ॥४॥
सम सेवा छल दान[10] दंड हौं[11] रचि उपाय पचि हार्‌यो[12]।
बिनु कारन कें[13] कलह बड़ें[14] दुख प्रभु सों प्रगटि[15] पुकार्‌यो[12] ॥५॥

१ दाद—७४। २ जब-ज०। जेहि-१५। ३ पुकारे-६६, भ०। पुकारत-रा०, भा०, वे०, ह०, ७४, आ०। ४ पंडुसुत-६६, रा०, प्र०, ह०, भ०, ७४। पांडुसुत-भा०, वे०, आ०, ५१। ५ नाउँ गाउँ-६६, रा०, भा०, वे०, भ०। नाम ग्राम-ह०, ७४, आ०। ६ बसायो, ल्यायो-६६, रा०। बसायो, ल्यायो—भ०। बसावो, ल्यावों-औरोंमे। ७ भले-६६, रा०, ह०, आ०। भल—भा०, वे०, मु०, ५१, ७४, प्र०। ८ कर्म कर्म—ह०, मु०, भा०, वे०। क्रम क्रम—वै०, वि०। करम करम-६६, रा०, ७४, भ०, दीन। ९ राखे-ह०। १० दंड दान—ह०। ११ हूँ-ह०, भा०, वे०। हो-६६, रा०। हौ-आ०, ५१, ७४। १२ हारे, पुकारे-भा०, वे०। १३ कें—६६। के-रा०, आ०। को-भा०, वे०, वि०, ७४, ह०। १४ बड़ें-६६, रा०। बड़े-भा०, भ०। बड़ो-आ०, ह०, ७४, वे०। १५ प्रकटि—वै०, भ०।, प्रगटि—६६, रा०, दीन, वि०, ७४। प्रगट—भा०, वे०। प्रकट—मु०।

सुर स्वारथी अनीस अलायक निठुर दया चित नाहीं।
जाउँ कहाँ को बिपति निवारकु भवतारकु जग माहीं ॥६॥
तुलसी जदपि पोच तौ[16] तुम्हरोइ[17] और न काहू केरो।
दीजै भगति बाँह बारक[18] जो सुबस बसै अब[19] खेरो ॥७॥

शब्दार्थ - दादि (दाद) = न्याय। करम-करम = क्रमसे एक-एक करके = उचित रूपसे धीरे-धीरे; शनैः शनैः। करम (क्रम) = किसी कार्यके एक अंगको पूरा करनेके बाद दूसरे अंगको पूरा करनेका नियम। भले लोग = भलेमानस, सज्जन। जोरु (जोर) करना = बलका प्रयोग करना। जोर = बल। = अत्याचार, जुल्म, ज्यादती, यहाँ इसी अर्थमें प्रयुक्त है। उजारि (उजाड) = उजाड़कर। उजाडना = तितर-बितर करना; तहस-नहस करना, वीरान करना। राखना = बसाना। सम, सम सेवा = सामनीति। छल = भेदनीति। रचि = रचकर; सजकर; कुशलपूर्वक करके। पचना = जी तोड़ परिश्रम करना। कलह = झगड़ा-टंटा; विवाद। अनीस (अन् ईश) = असमर्थ। अलायक = अयोग्य; निकम्मा; नालायक। निठुर (निष्ठुर) = दयारहित; कठोर। निवारक = छुड़ानेवाला। तारक = तार देने, पार कर देनेवाला। बाँह देना = सहारा वा सहायता देना। बारक = एक बार। यथा 'बारक बिलोकि बलि कीजै मोहि आपनो। १८०।', 'बारक कहिये कृपालु तुलसिदास मेरो ।७८।', 'बारक बलि अवलोकिये कौतुक जन जो को।१४७।' सुबस = सुखपूर्वक। यथा 'सुबस बसिहि फिरि अवध सुहाई ।२।३६।३।' खेरा = पुरवा।

पद्यार्थ—हे दयासागर! यह दीन जन आपके द्वार पर दाद क्यों नहीं पाता (अर्थात् उसकी पुकार क्यों नहीं सुनी जाती, सुनी जाती तो न्याय होता ही)? जब और जहाँ आर्त जनोंने आपको पुकारा तब (वहीं-वहीं आपने) उनके दुःख भस्म कर दिये।१। गजेन्द्र, प्रह्लाद, पाण्डुपुत्र (पाण्डव) और वानर (सुग्रीव आदि) सबकी शत्रुकृत आपदायें आपने मिटा दीं। भाई (रावण) के भयसे व्याकुल शरणागत विभीषणके

१६—तौ—६६, भ०; १५। तौ-वै०, भा०, वे०, मु०, डु०। तउ-रा०, दीन, वि०, ह०, ७४। १७ तुम्हरोइ-६६, रा०, प्र०, भ०। तुम्हरो-प्रा०, भा०, वे०।१८ बारक जो-६६। बारेक ज्यो-रा०, मु०। बारक ज्यो-वै०, वि०, वे०। वैरक ज्यो-भा०, दीन, भ०, डु०। वैरक बलि—७४। १९ यह-ह०।

प्रणाम करते ही उठकर उसे श्रीभरतजीके समान छातीसे लगाकर (प्रेमसे) मिले ।२। मैंने आपका नाम लेकर एक ग्राम (रामपुरवा) अपने हृदयमें बसाया और उसमें भजन, विवेक, वैराग्य (आदि) भले लोगोंको क्रम-क्रमसे ले आया (वसाया) ।३। यह सुनकर कुटिल कामादि (खोटे लोग) क्रोधमें भरकर बलात् जुल्म-जोर कर रहे हैं (सताते हैं)। हे गोसाईं श्रीरामजी ! उन्हें (भले लोगोंको) उजाड़कर वे उस पुरमें स्त्री, शस्त्र और धनको रखते हैं ।४। साम-सेवा, छल, दान और दण्डके (अनेक) उपाय रच-रचकर मैं परिश्रम करके हार गया। बिना प्रयोजनके झगड़े-टंटेसे बड़े संकटमें, हे प्रभो ! मैंने सामने आकर खुलकर आपसे पुकार की है ।५। (यदि कहें कि बहुतसे देवता हैं, उनके पास जाकर पुकार करो, तो उसपर कहते हैं—) देवता स्वार्थी (मतलबके यार), असमर्थ, किसी योग्य नहीं, कठोर हृदय हैं। उनके चित्तमें दया नहीं है। (तब मैं कहाँ जाऊँ ? संसारमें विपत्तिका निवारण और भवपार करनेवाला (दूसरा) कौन है ? ।६। यद्यपि तुलसीदास पोच (नीच, बुरा) है, तो (भी) तुम्हारा ही है और किसीका नहीं। एक बार इसे अपनी भक्तिरूपी बाँह अर्थात् भक्तिका सहारा दे दीजिये, जिससे अब (यह) पुरवा सुखपूर्वक बस जाय ।७।

टिप्पणी—१।(क) 'कृपासिंधु जन दीन...' इति। पिछले पदोंमें कई बार पुकार कर आये हैं और पद १४३,१४४ में भी पुकार की थी, इसीसे अब कहते हैं कि 'दादि न पावत काहे'। पिछले पदमें नामलज्जा और प्रभुकी करुणाका सहारा लेकर प्रार्थना की थी। अब केवल प्रभुकी कृपाकी शरण लेते हैं, इसीसे 'कृपासिंधु' कहकर विनय उठाई। कृपाके समुद्र हैं, अगाध कृपा आपमें भरी है, 'जासु कृपा नहि कृपा अघाती'—ऐसे होकर भी कृपा नहीं करते, यह आश्चर्य है; इसीसे प्रश्न करते हैं। 'जन दीन' कहा, क्योंकि दीन सेवकों पर आप दया करते हैं। यथा—'तू दयाल दीन हौं ।७९।', 'सेवा बिनु गुनविहीन दीनता सुनाये। जे जे तै निहाल किये फूले फिरत पाये ।८०।' दुआरें—अर्थात् सम्मुख आकर पुकार करनेपर तो सुनना चाहिए था, जब तक सम्मुख न हुआ था तब तक बात दूसरी थी; यथा 'जब लगि मैं न दीन दयाल तैं, मैं न दास तैं स्वामी। तब लगि जे दुख सहेउँ कहेउँ नहि। ... अब न तजें बनि आवै ।११३।' 'दादि न पावत काहे'—भाव कि वह कृपा क्यों नहीं करते ? पद ९३ के 'कृपा सो धौं कहाँ बिसारी राम। जेहि करुना सुनि श्रवन दीन दुख धावत हौ तजि धाम।' का भाव भी इसमें है।

१ (ख) 'जब जहँ तुम्हहिं पुकारे'……'इति। जब अर्थात् सभी युगोंमें, दिन-रात किसी भी समय, किसी भी अवस्था इत्यादिमें। 'जहँ' अर्थात् 'जहाँ' कहीं भी, जल थल नभ कहीं भी जिस स्थान पर आर्तजन हैं। एवं 'जहाँ' अर्थात् जिस जगहका नाम लेकर, जैसे द्रौपदीने द्वारकानाथ कहकर पुकारा तो वहींसे यहाँ आये जहाँ वह थी। यथा "द्वारकाके नाथ' जब बोली तब साथ हुते द्वारकासों फेरि आए, भक्त वाणी नए हैं।" (भक्तिरसबोधिनी भक्तमाल टीका)। भाव कि मैं तो द्वारपर ही पुकार रहा हूँ, मेरे लिये आपको कहीं दूर जाना भी नहीं है। 'जब जहँ तुम्हहिं'' यह प्रभुका स्वभाव उनको जनाया।

२ (क) 'गज प्रह्लाद पंडुसुत कपि सबको'……'इति। गजने त्रिकूटाचलपर सरोवरके जलमें डूबते समय महिमावान् भगवान्की शरण ली—'तं दुरत्ययमाहात्म्यं भगवन्तमितोऽस्म्यहम्। भा० ८।३।२१।' अतः सर्वदेवमय जगन्निवास भगवान वहाँ प्रकट हुए थे। प्रह्लादजीने मुलतानमें खंभके भीतर अपने रक्षकको बताया, वहींसे प्रभु उनके लिये वहीं सभामंडपमें प्रकट हुए। पाण्डवोंने जब जहाँ स्मरण किया वहीं आकर रक्षा की— कथायें १३७ (४ ख) तथा ६७ (१ ग) में आ चुकी हैं। सुग्रीवकी रक्षा ऋष्यमूक पर्वत तथा किष्किन्धामें जाकर की। वानर-भालु जब शत्रुसे पीड़ित हो (लंकामें) पुकारते तब तब रक्षा की। गजकी ग्राहसे, प्रह्लादकी हिरण्यकशिपुसे, पांडवोंकी दुर्योधनादिसे, सुग्रीवकी बालि और वानरोंकी राक्षसयोद्धाओंसे रक्षा की।

२ (ख) 'प्रनत बंधुभय बिकल बिभीषन'—बिभीषण रावणसे भयभीत था; यथा 'आयो सरन-सुखद पदपंकज चोंथे रावन बाजके। गी० ५।२६।', 'आयो सरन सभीत बिभीषन''।१३८।', 'बिषम बिषाद बारिनिधि बूड़त थाह कपीस कथा लही। गी० ५।३१।'

२ (ग) 'उठि सो भरत ज्यों भेंट्यो' इति। 'भरत ज्यों' अर्थात् आनंदप्रेमसे परिपूर्ण, अहमिति बिसराकर, भुजाओंको पसारकर। यथा 'रामहि करत प्रनाम निहारि कै। उठे उमँगि आनंदप्रेमपरिपूरन बिरद बिचारि कै॥ भयो बिदेह बिभीषन उत, इत प्रभु अपनपौ बिसारि कै। भली भाँति भावते भरत ज्यों भेंट्यो भुजा पसारि कै। गी० ५।३६।' 'भरत ज्यों' पर 'जेहि कर कमल उठाइ बंधु ज्यों परम प्रीति केवट भेंट्यो' १३८ (२) तथा १३५ (४ ग) 'भरि अंक भेंट्यो'' मे भी देखिए। 'उठकर' मिलना भी गी० ५।३६ से स्पष्ट है।

टिप्पणी—३ 'मैं तुम्हरो लै नाउँ गाउँ एक''' इति। (क) यहाँ गाँव

बसानेके रूपकद्वारा अपना आचरण कहते हैं। गाँव कहाँ वसा ? उसके निवासी कौन हैं ? गाँवका नाम क्या है ? यह सब बताते हैं। हृदयरूपी स्थलपर 'रामपुरवा' (वा, वैजनाथजीके मतानुसार 'रामखेड़ा') नामका ग्राम बसाया। 'तुम्हरो लै नाउँ' तुम्हारा नाम लेकर कथनसे रामनामसंबंधी नाम धरना सूचित किया। भजन, विवेक, विराग उसके निवासी हैं। रामपुरमें बुरे लोग नहीं होते थे, इसलिये मैंने भी अपने रामपुरवामें उत्तम उत्तम लोगोंको बसाया।

[वैजनाथजीने इस रूपकको और बढ़ाया है—"सुमति परिखा, शरणागतिका भरोसा रौनी और उस (हाता) के भीतर मोद, विश्वास, समता, शान्ति, दैन्य, दया और थिरता आदि सुंदर मंदिर बनाकर नवधा आदि भक्ति (भजन)-परिवार, निर्वृत्तिका परिवार (विवेक, विचार, धैर्य, संतोष, सत्य और शील आदि और उनकी स्त्रियों ब्रह्मविद्या, क्षमा, तृप्ति, साधुता, लज्जा और श्रद्धा आदि तथा उनके पुत्र ज्ञान, आर्जव, आनंद, निष्कपटता, सुयश, प्रकाश आदि) इत्यादि बंधु-स्त्री-पुत्र-पुत्रवधूओं सहित विवेक राजाके परिवारको एक-एक करके क्रमसे ले आकर बसाता हूँ।"]

३ (ख) 'करम-करम करि ल्यायो' से प्रथम भजन, फिर विवेक तब वैराग्यका होना जनाया। अतः यहाँ 'विवेक' में सदसत् विचारका अर्थ है, सदसद्विवेक होनेपर वैराग्य होता है। वैराग्यके बिना ज्ञान नहीं होता, यथा 'ज्ञान कि होइ बिराग बिनु ।७।८६।' भजन करनेवालोंको भगवान् बुद्धियोग देते हैं, यथा 'तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्। ददामि बुद्धियोगं तं···। गीता १०।१०।' वही बुद्धियोग यहाँ 'विवेक' है। विवेक होनेपर वैराग्य होता है। मनुशतरूपाजीके हृदयमें प्रथम विचार उठा, तब उन्हें वैराग्य हुआ। यथा 'होइ न बिषय बिराग भवन बसत भा चौथपन। हृदय बहुत दुख लाग जनम गयउ हरि भगति बिनु ।१।१४२। बरबस राज सुतहि तब दीन्हा। नारि समेत गवन बन कीन्हा।'

टिप्पणी—४ (क) 'सुनि रिस भरे कुटिल···' इति। कामक्रोधादि सब विवेकके शत्रु हैं। यथा 'मम हृदय भवन हरि तोरा। तहँ बसे आइ बहु चोरा॥···तम मोह लोभ अहंकारा। मद क्रोध बोधरिपु मारा। अति करहिं उपद्रव नाथा। मर्दहिं मोहि जानि अनाथा।·· लूटहिं तसकर तव धामा ।१२५।' जैसे भजन-विवेकादिको भले लोग कहा वैसे ही यहाँ कामादिकको कुटिल अर्थात् बुरे लोग जनाया। यहाँ Personification (मूर्तरूप) द्वारा मूर्तिमान जनाकर उनका सुनना और रिसमें भर जाना कहा। शत्रु अपना अधिकार छिनते देख क्रोधपूर्वक जोर-जुल्म करता

ही है। उपर्युक्त उद्धरणमें अति उपद्रव करना, मर्दन करना तथा धामको लूटना जो कहा है, वही यहाँ 'जोरु बरिआई' करके गाँवको उजाड़ना है। भजन आदिको लूट ले गए, स्थान इनसे खाली हो गया।

४ (ख) 'नारि अरि धनु पुर राखहि ··' इति। कामादिका रिसाना और गाँवका उजाड़ना कहा। उजाड़कर किसको वहाँ बसाते हैं, यह बताते हैं। कामादिके अनुकूल जो हैं, वही बसाये जाते हैं। ऊपर तीन भले लोगोंका नाम दिया और यहाँ तीन बुरे लोगोंका नाम दिया, अतः कामादिसे भी काम, क्रोध और लोभ तीनको ही लेनेसे संगति अच्छी बैठती है। काम कुपित होकर अपने परम बल तथा अपने सदा अनुकूल रहनेवाली 'नारि'को रखता है। क्रोध अपने मित्र 'अरि'को और लोभ धनको बसाता है। तात्पर्य कि काम परदारमें प्रेम उत्पन्न करता है, विघ्न होनेसे क्रोध आकर शत्रु पैदा कर देता है और लोभ परधन लेनेमें लगा देता है। 'तब करि क्रोध संग कुमनोरथ देत कठिन भटभेरो।१४३।' का भी भाव 'सुनि रिस भरे···' में है। 'नारि'ने भजन, शत्रु (द्वैतबुद्धि) ने विवेक और धनने वैराग्यको नष्ट किया।

'राम गोसाईं'— 'सुनहु राम रघुबीर गुसाईं' १४३ (१) में देखिए।

टिप्पणी—५ 'सम सेवा छल दान दंड··' इति। (क) पद १४३ में कहा था 'हारि परयो करि जतन चहूँ बिधि', वैसे ही यहाँ भी चार विधि कहीं। यहाँ दो राजाओंका झगड़ा है। राजा नीतिसे काम लेते हैं। गोस्वामीजीने चार गुण वा नीति राजाओंकी कही हैं। यथा 'मुकुट न होहिं भूप गुन चारी ॥ साम दान अरु दंड बिभेदा। नृप उर बसहिं नाथ कह बेदा ॥ नीति धर्मके चरन सुहाए ।६।३७'—इसके अनुसार सम-सेवा (साम), छल (भेद), दान और दंड चारों नीतियोंका प्रयोग कहा— [दीनजी और वियोगीजी तथा वीरकविने साम और सेवा दो पृथक्-पृथक् उपाय माने हैं। भट्टजीने 'सम-सेवा'का अर्थ 'साम' किया है। बैजनाथजी अर्थ करते हैं कि 'सम (मित्रता) हेतु कामादिकी सेवा की। भाव कि उनसे विनती की, समझाया कि मुझे क्षमा करो। जब न माने तब उनसे छल किया।' बैजनाथजी राजनीतिके सात अङ्ग लेते हैं, "यथा 'साम दानं च भेदश्च दण्डोपेक्षेन्द्रजालकम्। मायोपाया सप्त परे निक्षिपेत्साधनायतान् ।।'(अग्निपुराण) * और कहते हैं कि छलमें भेद, उपेक्षा

---

* अग्नि पु० २४१।४६ मे भगवान् श्रीरामने श्रीलक्ष्मणजीको राजनीतिका उपदेश करते हुए कहा है कि शत्रुको जीतनेके लिये राजा इन सात उपायोको प्रयोगमे लाये।

(अन्याय या युद्धसे शत्रुको कुछ व्यसन बढ़ाकर उसकी बढ़तीको मिटा देना), इन्द्रजाल (मंत्र-यंत्र) और माया ये चारों आ गए। इन उपायोंसे भी न माने तब इनकी रुचिके अनुकूल कुछ कर्मरूप दान दिया, अर्थात् कुछ विषयभोग भी दिया। फिर भी न माने तब दंड दिया। अर्थात् शम, दम, उपराम, तितिक्षा आदि साधन इनको दबानेके लिये किये]—छल शब्द पद १४६ में भी आया है, यथा 'मैं कह्यों तब छल-प्रीति कै माँगें उर डेरो।'—यह छल कामादिका है। वैसे ही मैं कपटमय प्रीति उनको दिखाकर उनसे माँगता हूँ कि भजन-विवेक-विरागको भी रहने दो, मैं तो तुम्हारा स्नेही हूँ, तुम्हें विषयभोग देता रहूँगा, ये बिचारे भी कोनेमें पडे रहेंगे तो क्या ? इस तरह छलकर भजनकर उनको मारनेका उपाय करना 'छल' है। पद १४७ में 'बसत हिये हित जानि मैं सबकी रुचि पाली' कहा है, वही यहाँ 'दान' है।

५ (ख) 'बिनु कारन कें कलह बडे दुख ' इति। बिनु 'कारन' का भाव कि मैंने तो उनसे बिगाड़ भी नहीं किया, उनकी रुचि भी रक्खी, पर वे मुझे मिलकर भी मारते हैं, यथा 'मिले रहैं मार्‌यो चहैं कामादि सँघाती। मो बिनु रहैं न मेरिये जारैं छल छाती॥···कियो कथकको दंड हों ।१४७।', 'हौं न कबूलत बाँधिकै मोल करत करेरो ।१४६।', 'बड़े दुःख'—भाव कि थोड़ा-बहुत दुःख होता, तो सह लेता, आपको कष्ट न देता, किन्तु मुझे असह्य दुःख है। अतएव मैं सामने आकर खुलकर पुकार रहा हूँ। इस प्रकार अपनी पुकारको आर्त्तकी पुकार जनाई, क्योंकि उपक्रममें कहा है कि 'जब जहँ तुम्हहि पुकारै आरत तब तिन्हके दुख दाहे'। मैं आर्त हूँ, मेरा दुःख दूर कीजिए।

टिप्पणी—६ (क) 'सुर स्वारथी अनीस···' इति। देवता मतलबके यार हैं, सदा अपना स्वार्थ उनको प्रिय है, असमर्थ हैं, अयोग्य हैं; क्योंकि स्वयं मायावश भवप्रवाहमें बह रहे हैं—८६ (४घ), १०१ (३क-ख), १०७ (३ग) और १०८ (५ख) में विस्तारसे लिखा जा चुका है। देवताओंका हृदय कठोर है, उन्हें दूसरोंके दुःखपर दया नहीं। गजेन्द्रको सब देखते रहे, उसकी पुकार सुनते रहे, फिर भी उन्होंने रक्षा न की। यथा 'एवं गजेन्द्रमुपवर्णितनिर्विशेषं ब्रह्मादयो विविधलिङ्गभिदाऽभिमानाः। नैते··· ।भा० ८।३।३०' (अर्थात् गजेन्द्रने किसी देवविशेषका नाम न लेकर इस प्रकार स्तुति की। ब्रह्मादि देवताओंको अपनी-अपनी पृथक्-पृथक् मूर्तिके भेदका अभिमान होनेसे वे उसे छुड़ाने नहीं आए), 'रहे संभु बिरंचि सुरपति लोकपाल अनेक। सोक-सरि बूड़त करीसहिं

दई काहूँ न टेक।२१७', 'ठोंकि बजाइ लखे गजराज, कहाँ लौं कहौं केहि सों रद काढ़े।क० ७।५४।'

६ (ख) 'जाउँ कहाँ को बिपतिनिवारक····'इति। 'जाउँ कहाँ' अर्थात् और कहीं ठिकाना नहीं है, हो तो बतलाइए? यही भाव पूर्व 'जाउँ कहाँ तजि चरन तुम्हारे।१०१।' में दिखा आये हैं। 'को बिपति-निवारक' अर्थात् विपत्तिनिवारक आपके सिवा दूसरा नहीं, हो तो बताइए। 'कहु केहि कहिअ कृपानिधे भवजनित बिपति अति।११०।' का भाव यहाँ भी है। दूसरा नहीं है; यथा 'मुनि सिद्ध सुरेसु गनेसु महेसुसे सेवत जन्म अनेक मरै।।····मन सों पनु रोपि कहै तुलसी, रघुनाथ बिना दुख कौन हरै।। क० ७।५५।', '—दोष-दुख दारिद दलैया दीनबंधु राम, तुलसी न दूसरो दयानिधानु दुनी मैं। क० ७।२१।'

टिप्पणी—७ (क) 'तुलसी जदपि पोच तो तुम्हरोइ' इति। यद्यपि मैं पोच (पामर, नीच) हूँ; यथा 'तुलसी सो पोच न भयो है, नहि ह्वैहै कहूँ, सोचैं सब याके अघ कैसे प्रभु छमिहैं।क० ७।७१।'; तो भी मैं आपका ही हूँ, यथा 'लोग कहैं अरु हौंहु कहौं जन खोटो खरो रघुनायक ही को।क० ७।५६।', 'जानत जहान मन मेरेहू गुमान बड़ो, मान्यो मैं न दूसरो न मानत न मानिहौं। क० ७।६२।', 'एक ही भरोसो राम रावरो कहावत हौं। क० ।७।६२।' आपका ही हूँ दूसरेका नहीं, इस कथनका भाव यह है कि इस नेहनातेका निर्वाह आप करें। यथा 'तुलसी तिहारो मन बचन करम, तेहि नाते नेह-नेमु निज ओर तें निबाहिए।क० ।७।७६।' पुनः भाव कि आप तो 'तवास्मि', मैं तुम्हारा हूँ, इतना कहनेपर ही शरणागतको अभय दान देते हैं, यह आपका विरुद है और मैं तो आपका हूँ ही, सब जानते हैं और आप भी जानते हैं, तब मेरी पुकारपर तो अवश्य ही ध्यान देना था।

☞बुरा-भला जैसा भी हो श्रीरामजीका हो जाय तो उसका कल्याण अवश्य हो जाता है यही समझकर प्रार्थीने 'जदपि पोच तो तुम्हरोइ' कहा। यथा 'जैसो तैसो रावरो केवल कोसलपाल। तौ तुलसी को है भला तिहूँ लोक तिहुँ काल। दो० ९४।'

७ (ख) 'दीजै भगति बाँह बारक···' इति। अर्थात् एक बार अपनी भक्तिरूपी बाँह मुझे दे दीजिये अर्थात् मेरे हृदयमें भक्ति स्थापित कर दीजिये। भक्तिके प्रतापसे रामखेड़ा फिर स्वतंत्रता तथा सुखपूर्वक बस जायगा। भक्तिसे माया डरती है, उसके प्रतापसे कामादिक सब भाग जायँगे और विवेक वैराग्य आदि भले लोग (सद्भाव) आ बसेंगे,

दुःख रह ही न जायगा। यथा 'खल कामादि निकट नहिं जाहीं। बसइ भगति जाके उर माहीं॥ रामभगति मनि उर बस जाके। दुख लवलेस न सपनेहुँ ताके।७।१२०।' वह भक्ति बिना आपकी कृपाके मिलती नहीं, यथा 'सो मनि जदपि प्रगट जग अहई। राम कृपा बिनु नहिं कोउ लहई।' इसीसे माँगते हैं—'दीजै'। प्रभुके बाँहका बल मिलनेपर जीव निडर हो जाता है। यथा 'तुलसिदास रघुबीर बाहुबल निडर काहू न डरै।१३७।' इसीसे भक्तिको बाँह कहकर माँगा।

नोट—भा०, डु० आदि ने 'बैरक' पाठ दिया है। दीनजी उस पाठका भाव यह लिखते हैं—'प्राचीन कालमें यह रीति थी कि जब कोई व्यक्ति कोई नगर बसाना चाहता था तब राजासे आज्ञा लेता था। राजा यदि मंजूर (स्वीकार) करता था तो अपने नामका झंडा उसे देता था, जिसको वह व्यक्ति उस नगरके स्थानपर खड़ा कर देता था। उस झंडेको देखकर सब जन समझ जाते थे कि यह नगर राजाकी स्वीकृतिसे बसाया जा रहा है। फिर कोई भी उस नगरके बसानेमें रोकटोक वा विघ्नबाधा नहीं करता था।' 'बैरक' का अर्थ 'झंडा' किया है।

वियोगीजी—"यह पद वर्तमान भारतपर खूब घटता है। जबतक इसपर भगवत्-कृपा न होगी, तबतक यहाँसे खलमंडली नहीं जा सकती और न स्वतन्त्रतापूर्ण स्वराज्य ही हो सकता है। प्रत्येक स्वाधीनचेताको इस पदका हृदयसे पारायण करना चाहिए। आर्त भारतीयोंका अन्तर्नाद सुनकर प्रभु अवश्य कृपा करेंगे।"

सू० शुक्ल—" कामक्रोधादि षट् विकारोंके होते हुए धन, कुटुम्ब आदिमें ही राग-द्वेष हुआ करता है। श्रवण-कीर्तनादि भक्तिके अंग तथा ज्ञान, वैराग्यकी स्थिति नहीं होने पाती और विना परमात्मदृष्टिके विकारोंका दूर होना कठिन है, इसलिये परमात्माकी शरणहीका अवलंब लेना चाहिए।"

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

१४६

हौं[1] सब बिधि राम रावरो चाहत भयो चेरो।
ठौर-ठौर साहिबी[2] होति है ख्याल काल[3] कलि केरो॥१॥

---

१ हो—रा०, ज०, डु०। हौं—औरोंमें। २ साठि—ह०, १५। साचि—रा० कु०। सौदा होनेमें सचाईके लिये सट्टा लिखा जाता है, उसे साचि कहते हैं। ३ कलिकाल—रा०।

काल करम इंद्रिय[4] विषय गाहकगन घेरो।
हौं न कबूलत बाँधि कै[5] मोल करत करेरो ॥२॥
बंदिछोर तेरो[6] नाम है बिरुदैत बड़ेरो।
मैं कह्यो तब छल प्रीति कै माँगे[7] उर डेरो ॥३॥
नाम ओट आजु[8] लगु[9] बच्यो मलजुग जग जेरो।
अब गरीब न जमोगिऔ[10] पाइबो न हेरो ॥४॥
जेहि कौतुक बक[11] स्वानको प्रभु[12] न्याउ[13] निबेरो।
तेहि कौतुक[14] कहिऔ कृपालु तुलसी है मेरो ॥५॥

शब्दार्थ—साहिबी=स्वामिपना, ठकुराई, प्रभुता। ख्याल=खेल, यथा 'कंत बीस लोयन विलोकिए कुमंत-फलु ख्याल लंका लाई कपि राँड़ की सी झोपरी। क० ६।२७।'=विचार; अनुरोध। गाहकगन=ग्राहकों (मोल लेनेवालों) के झुण्ड। कबूलना=स्वीकार करना। करेरा=कड़ा; खरा, चोखा; बहुत बड़ा। बंदि=बंधन। बिरुदैत=बानेबंद; बाना धारण करनेवाले; यशस्वी। बड़ेरो=बहुत बड़ा। मलजुग=पापोंका युग=कलियुग। जेरो-जेर कर डाला। जेर फारसी शब्द है। जेर करना=नीचा दिखाना; पस्त वा वशमें कर लेना; जीत लेना। जमोग=किसी दूसरेके द्वारा किसी दूसरेकी बातका समर्थन। देहाती लेन-देनकी एक

---

४ इंद्रिय—रा०, ह०, ५१, ज०, ७४, आ०। इद्री—भा०, वे०, दु०, प्र०, १५। ५ कै—रा०, ह०, ७४। कै—भा०, वे०, आ०। ६ तव—७४, मु०। ७ मागें—रा०, वि०, दीन, भ० स०। माँगे—भा०, वे०, मु०, ५१, दु०, वै०, भ०, पो०। माग्यो—ह०, ज०, १५। माँगेउ—७४, प्र०। ८ अब—७४, आ०, ५१। अजु—ह०। आजु—रा०, भा०, वे०, प्र०, ज०, १५। ९ लगु—रा०। लग—दु०, भ० स०। लगि—प्रायः औरोंमे। १० जन पोपिये—वै०, भ०, दीन, त्रि०। न जमोगिअै—रा०, भा०, वे०, दु०, मु०, ज०, प्र०, ७४, १५। ११ खग—वै०। १२—'प्रभु' १५ मे नही है। १३ न्याउ—रा०, ज०, १५। न्याव—भा०, वे०, ह०, ७४, आ०। न्याय—५१, भ०। १४—हेतुक—वै०।

रीति जिसके अनुसार कोई जमींदार किसी महाजनसे ऋण लेनेके समय उसके चुकानेका भार उस महाजनके सामने अपने काश्तकारोंपर छोड़ता है और काश्तकारोंसे लगानके मद्धे उसका चुकाना स्वीकार करा देता है। (श० सा०)। जमोगना=सरेखना; सामना करा देना। (रा० कु०)। =सामना कराके बातकी तसदीक (सचाई) करा देना। (श० सा०)। न्याउ (न्याय)=इंसाफ, फैसला। निबेरना=निबटाना; चुकाना; निर्णय करना।

पद्यार्थः--हे श्रीरामजी! मैं सब प्रकारसे आपका गुलाम होना चाहता हूँ। (परन्तु यहाँ तो) स्थान-स्थान, घर-घर ठकुराई हो रही है (अर्थात् जिधर देखिए, उधर ही लोग मेरे स्वामी बनना और मुझे मोल लेना चाहते हैं), यह कलिकालका खेल (सर्वत्र) हो रहा है।१। (उसीके अनुरोध वा प्रेरणासे) काल, कर्म, इन्द्रिय और इन्द्रियके (शब्दादि) विषयरूपी ग्राहकोंके झुण्डने मुझे घेर रक्खा है। मैं (उनके हाथ बिकना, उनकी गुलामी) स्वीकार नहीं करता, (तब वे) मुझे बाँधकर (मेरे) करारे दाम लगाते हैं। (अर्थात् कहते हैं कि जो तू माँगे सो देंगे। स्वर्ग, इन्द्रपद, कुवेरपद, ब्रह्मपद इत्यादि जो मूल्य माँगे वही देकर लेंगे, पर लेंगे हमही)।२। जब मैंने उनसे कहा कि 'आप (श्रीरामजी) का नाम बंधनोंको छुड़ानेवाला और बड़ा बानाबंद है' (अर्थात् यह यश उनका जगत्‌में प्रसिद्ध है। वे मुझे तुम्हारे बंधनसे छुड़ा लेंगे, मैं उन्हीका दास हूँगा, तुम्हारा नहीं), तब वे (डरकर) कपट-प्रेम दिखाकर हृदयमें (कुछ काल) टिकनेके लिये स्थान माँगने लगते हैं।३। कलियुगने संसारको जेर कर डाला है, नामके सहारे मैं आजतक बचा। अब मुझ गरीब (दीन, बेचारा) का उससे सामना न कराइये, (उसके अधिकारमें, उसके पाले न छोड़िये) नहीं तो (कामादिके पाले पडनेपर) फिर आप खोज करनेपर भी न पाइयेगा (ये मेरा रहा-सहा सब धन ले लेंगे, मैं आपके योग्य न रह जाऊँगा, मेरा सर्वनाश हो जायगा)।४। प्रभो! जिस कौतुक (लीला, खेल) से आपने बगले और कुत्तेका न्याय किया था, उसी कौतुकसे, हे कृपाल! कह दीजिए कि तुलसीदास मेरा (सेवक) है।५।

टिप्पणी—१ 'हौं सब बिधि राम ' ' इति। (क) पिछले पदमें न्याय और भक्ति माँगी, वैसे ही इस पदमें न्याय और अपनानेकी प्रार्थना है। 'सब बिधि' अर्थात् मन-कर्म-वचनसे जिस भी नातेसे आप दास बनाना स्वीकार करें उसी नातेसे, आदरसे वा अनादरसे वा जिस भी प्रकारसे

आप शरणमें रखना स्वीकार करें, इस सब प्रकारसे मैं गुलाम बनूँगा, पर आपका बनूँगा, यही चाह है। यथा 'वचन मन कर्म गत सरन तुलसीदास ।५३।', 'खोटो खरो राम रावरो हों रावरी सों रावरे सों झूठों क्यों कहोंगो, जानो सबही के मन की। करम वचन हियें कहों नहीं कपटु किये, ऐसी हठ जैसी गाँठि पानी परें सन की। ७५।', 'तोहि मोहि नाते अनेक मानिये जो भावे। ज्यों-त्यों तुलसी कृपाल चरन सरन पावै ।७६।' भाव यह कि आपको छोड़ दूसरा कोई नहीं है जो मुझे शरण दे। अतएव जैसे भी आप अपनावें उसीमें मैं प्रसन्न रहूँगा। यथा 'भएहुँ उदास राम मेरें आस रावरी। १७८।', 'दीनबंधु दूरियौ किए दीनको न दूसरो सरन ।२५७।', 'तोसों प्रभु जो पै कहूँ कोउ होतो। तौ सहि निपट निरादर निसिदिन रटि लटि ऐसो घटि को तो ।१६१।'

स्मरण रहे कि ऋषियोंने आत्मस्वरूपका वर्णन इस प्रकार किया है—'दासभूतास्स्वतः सर्वे ह्यात्मानः परमात्मनः। नान्यथा लक्षणन्तेषां बन्धे मोक्षे च विद्यते ॥' (अर्थात् सभी आत्मायें परमात्माके स्वाभाविक दास हैं। अन्यथा मोक्ष और बंधनका दूसरा कोई कारण नहीं), 'स्वोज्जीवनेच्छा यदि ते स्वसत्तायां स्पृहा यदि। आत्मदास्यं हरेस्स्वाम्यं स्वभावञ्च सदा स्मर ॥' (यदि तुम्हें अपने मोक्षकी इच्छा और अपनी सत्ता रखनी हो तो अपनेमें भगवान्की दासता और भगवान्में स्वामित्व इन दोनों स्वभावोंका सदा स्मरण करो।)—('श्रीयतीन्द्रप्रवण प्रभाव' से उद्धृत)। —इसीसे गोस्वामीजी भी सब प्रकार श्रीरामजीके दास होना चाहते हैं। ५८ (६क), ६१ नोट १ ख तथा १३६ (१ ग) में भी देखिये।

१ (ख) 'ठौर ठौर साहिबी होति ···' इति। भाव यह कि मैं तो आपकी ओर चलता हूँ, पर मार्गमें ठौर-ठौर पर अनेक स्वामी मिलते हैं जो मुझे पकड़कर अपना गुलाम बनाना चाहते हैं। यह कलि-युगका खेल हो रहा है। तात्पर्य कि उसकी प्रेरणासे सब इन्द्रियविषय मुझपर अपना अधिकार जमाना चाहते हैं। [पुनः 'ख्याल काल कलि केरो' का भाव कि अन्य युगोंका यह विचार रहता था कि जीव उत्तम गति पावे, इससे जब कोई पुरुष परतम स्वामीका सेवक बनने जाता था, तो छोटे स्वामी उसको अपना सेवक बनानेका प्रलोभन न दे सकते थे; किन्तु कलियुगका विचार रहता है कि जीव नीच गति पावे। अतएव मार्गमें अनेक स्वामी बुलाकर अनेक प्रलोभन दिखाकर मुझे अपना गुलाम बनाना चाहते हैं। (वै०)]

२ (क) 'काल करम इंद्रिय विषय ···' इति। वे साहिबकौन हैं

यह बताते हैं। आपकी भक्तिमें कौन बाधक हैं, यह कहते हैं। काल कर्म आदि ही खरीदार स्वामी हैं, ये सब चारों तरफसे घेरकर मुझे लालच दिखाकर मुझे अपना दास बनाना चाहते हैं।

२ (ख) 'हौं न कबूलत बाँधिकै'—मैं उनकी गुलामी नहीं स्वीकार करता। यथा 'सुनिए कराल कलिकाल भूमिपाल तुम्ह, जाहि घालो चाहिए, कहौ धौं, राखै ताहि को। हौं तौ दीन दूबरो, बिगारो-ढारो रावरो न, मैं हूँ तै हूँ ताहिको, सकल जगु जाहि को। काम कोह लाइ कै देखाइयत आँखि मोहिं, एते मान अकसु कीबेको आपु आहि को। साहेबु सुजान जिन्ह स्वानहूको पच्छु कियो, राम-बोला नामु, हौं गुलामु राम साहिको। क० ७।१००।' न राजी होने पर कालकर्मादि बाँधते हैं। यथा—'करम सुभाव काल काम कोहु लोभ मोह ग्रह अति गहनि गरीबु गाढ़े गह्यो हौं। छोरिबेको महाराज, बाँधिबेको कोटि भट'''।२६०।'

२ (ग) 'मोल करत करेरो'—भारी-भारी प्रलोभन दिखाते हैं। [काल कहता है कि मेरे अनुकूल चलनेवाला सुखी रहता है और प्रतिकूल सदा दुःखी रहता है। कर्म कहता है कि सुख हमारे अधीन है, बिना कर्म किये सुख नहीं मिलता, कर्म सबको अनिवार्य है, भगवान्‌ने 'कर्म प्रधान बिश्व करि राखा'। इस समय कलिका राज्य है, अतः उसके अनुकूल कर्म करो तो सुख मिले। चोरी, ठगी, छल-कपटसे बिना परिश्रम धन प्राप्त होगा और धनसे सभी सुख मिल जायँगे। अकारण क्रोध, पर-अपवाद, पराई हानि करनेसे सब तुम्हें डरेंगे, तुम्हारा आतंक सबपर जम जायगा। परस्त्रीमें रमण करनेसे सुन्दर भोग प्राप्त होगा। श्रवणादि इन्द्रियाँ अपने-अपने विषय सामने लाकर बड़ा लालच देती हैं। (वै०)] ☞ स्वर्गादि लोकोंका सुख, ब्रह्म पद आदि कड़े दाम हैं।

२ (घ) काल शुभाशुभ संचित कर्मोंके द्वारा इन्द्रियोंको विषयोंमें लगाता है। इसीसे काल, कर्म, इन्द्रिय और विषय क्रमशः कहे।

टिप्पणी—३ (क) 'बंदिछोर तेरो नाम है'''' इति। नाम बंदिछोर है, यथा 'नाम अजामिल साखि नास बंधन ते खोलै।' (भक्तमाल छप्पय ६८), 'जौ चित चढ़ै नाम महिमा निज गुन-गन पावन पनके। तौ तुलसिहुँ तारिहौ बिप्र ज्यौं दसन तोरि जमगनके।६६।', 'पापखानि जिय जानि अजामिल जमगन तमकि तईंहो ताका भेजे। लियो छोड़ाइ चले कर मीजत'''।२४१।', 'श्वपच खल भिल्ल जमनादि हरिलोकगत नामबल विपुल मति मल न परसी। ४६।' नाम बड़े विरदैत हैं, यश संसारमें प्रसिद्ध है, यथा 'रामनाम जपजाग कियो चाहों सानुराग काल कैसे दूत भूत कहा

मेरे सान हैं। सुमिरे सहाइ राम लपन आखर दोउ, जिन्हके समूह साके जागत जहान हैं।' (बाहुक ३६), 'रामनाम नरकेसरी कनककसिपु कलिकाल। जापक जन प्रहलाद जिमि पालिहि दलि सुरसाल ।।२७।', 'नाम कलिकलुष भंजनमनूपं ।४६।'

३ (ख) 'छल प्रीति कै माँगै उर डेरो' इति। कालकर्मादि नामकी महिमा जानते हैं, महिमाकी चर्चा होते ही दबक जाते हैं। यथा 'काल करम गुन सुभाव सबके सीस तपत। रामनाम महिमा की चरचा चले चपत।', 'राम राम राम राम राम राम जपत। मंगल मुद उदित होत कलिमल-छल छपत।', (१३०)। इसीसे काल-कर्मादि मेरी बात सुनते ही दब गए और दीनता दिखाने लगे और यह देखकर कि कोई चाल इनसे चल न सकेगी, कपट प्रेम दिखाने लगे अर्थात् ऊपरसे मेरे हितैषी प्रेमी मित्र बनकर कहते हैं कि हमें अन्तःकरणमें एक कोनेपर रहने दो, हम तुम्हारे श्रवण, कीर्तन, अर्चन, वन्दनादि भजनमें सहायता करेंगे; क्योंकि भजन तो बिना कर्म-काल आदिके हो ही नहीं सकता। समयके अनुसार जप-तप आदि साधन होते हैं। श्रवण-नेत्र-कर-पदादि इन्द्रियोंसे ही भजन होता है और बिना कर्म किये सिद्धि प्राप्त नहीं होती। शरीरको स्वस्थ रखनेके लिये अनुकूल विषय भोगकी भी आवश्यकता है, 'तन बिनु बेद भजन नहि बरना।'—इस प्रकार, ऊपरसे प्रेम दिखाते हैं; परन्तु यह दिखावामात्र है, भीतर कपट है कि किंचित् भी असावधान पावें तो इसे सांसारिक विषयोंमें लगाकर नष्ट कर दें। यदि इन्हें बसने देता हूँ तो ये अपना काम बना लेंगे। यथा 'तहँ बसे आइ बहु चोरा। ''मर्दहिं मोहि जानि अनाथा।'' लूटहिं तसकर तव धामा।१२५।', 'मिले रहैं मारयो चहैं कामादि सँघाती। मो बिनु रहैं न, मेरिये जारैं छल छाती।१४७।'—यही कपट है। न जानें कब ये धोखा दे दें।

टिप्पणी—४ (क) 'नाम ओट आजु लगु बच्यो'' ' इति। भाव कि आपके नामका प्रबल प्रताप है (प्रमाण ऊपर आ चुके हैं) और मुझे उसीका अवलंब रहा है, इसीसे बचता रहा। यथा 'रामनामको प्रताप जानियत नीके आप, मोको गति दूसरी न बिधि निरमई।२५२।', 'नामके प्रताप बाप आजु लौं निबाही नीकें।क० ७।८०।'

'मलजुग जेरो'—भाव कि संसारभरको इसने वश कर रक्खा है, इस कारण जी दहल रहा है कि यह शत्रु हृदयमें साथ रहता है, कहीं मुझे

भी न घाल डालें, कहीं इनका गुलाम न बन जाऊँ। यथा 'कलिकी कुचालि देखि दिन-दिन दूनी देव, पाहरूई चोर हेरि हिय हहरानु है। क० ७।८०।'

४ (ख) 'अब गरीब न जमोगिऐ...' इति। काल-कर्मादिका संग होनेसे दुःखी दीन हूँ. अतः अब मुझे जमोगा-सरीखा न बनाइए, इनका सामना न कराइये। अर्थात् इनके अधिकारमें मुझे न छोड़िए, इनसे व्यवहारका सम्बंध वा संयोग न कराइये। इनका सामना करके मैं इनसे पार न पा सकूँगा, इनसे पल्ला छुटाना असंभव हो जायगा। ये मेरा सर्वनाश ही कर देंगे, खोजनेसे भी मेरा पता न मिलेगा, न जाने कहाँ किस घोर नरकमें किस योनिमें पड़ा रहूँगा।

नोट—१ वैजनाथजीकी छपी पुस्तकके मूलमें 'जन पोषिये' पाठ है। सम्भवतः इसीको देखकर भट्टजी, दीनजी, वियोगीजीने वही पाठ रक्खा है। परन्तु टीकामें वैजनाथजीने 'अब न जमोगिये' पाठ देकर उसीका अर्थ भी किया है कि 'कलियुगकी अमलदारी (शासन, अधीनता) में मुझको न रखिए।'—इससे स्पष्ट है कि मूलका पाठ 'न जमोगिये' ही था, प्रकाशकोंने उसको बदल दिया, पर इतनी बुद्धि न थी कि टीका भी पाठानुकूल करते।

वैजनाथजी 'न जमोगिये' पर भाव यह लिखते हैं कि "यदि आप कहें कि जमोगमें न रक्खें तो कलियुगसे नजर भेंट पूजा कैसे पावेंगे? तो उसपर कहते हैं—'पाइबो न हेरो'। अर्थात् मेरी गरीबीपर दयादृष्टि डालिए, भेंट पूजा पानेपर दृष्टि न दीजिए। तात्पर्य कि उसके शासनसे निकालकर मुझे अपनी गुलामीमें रखिए, नहीं तो कलियुग कुपित है ही, मुझे किसी-न किसी दिन खा जायगा।"

श्रीकान्तशरणजी इसीको इस प्रकार लिखते हैं—"मुझे इसके अधीन न रखिए। यदि कहा जाय कि मेरा ऋणत्रय आदि कर कैसे प्राप्त होगा? उसपर कहते हैं कि आमदनीकी ओर न देखिए, मुझे अपनी सेवकाईमें रखिए, जिस शरीरके साथ तीनों ऋण हैं, वह आपकी सेवामें आयुभर रहेगा, इससे दिवालेके विधानसे मैं मुक्त हो जाऊँगा।"—फिर इसी 'दिवाला विधान' का अत्यंत विस्तार उन्होंने किया है।

टिप्पणी—५ (क) 'जेहि कौतुक बक स्वान...' इति। 'बक' पाठ ही सब पोथियोंमें मिलता है। श्रीरामाज्ञाप्रश्न सर्ग ६ में भी कविने बक-उलूकका झगड़ा लिखा है। यथा 'बग उलूक झगरत गए, अवध जहाँ रघुराउ। नीक सगुन बिबरिहि झगर, होइहि धरम निआउ।२७।', अतएव यही पाठ ठीक है और कहीं न कहीं किसी ग्रंथमें बक-उलूकका प्रसंग

होगा। पौराणिक बतला सकेंगे। केवल बैजनाथजीने 'खग' पाठ दिया है। संभवतः उन्होंने गीतावलीके 'श्वान-खग-जति-न्याउ देख्यो आपु बैठि मर्दान। ७।२४।' के आधारपर यह पाठ रखा हो। अन्य टीकाकारोंने पाठ तो 'बक' ही रखा है, पर कथा वाल्मीकीय प्रक्षिप्तके गृध्र-उलूक की ही दी है जो इस प्रकार है--सर्ग ५९ (प्रक्षिप्त सर्ग ३) वाल्मी० 'उत्तरकाण्ड—

एक रम्य वनप्रदेशमें जहाँ नदियाँ, वृक्ष, सिंह व्याघ्रादि तथा कोकिलादि पक्षी भी बहुत थे वहीं एक उल्लूके घरमें ही एक गृध्र भी रहता था। गृध्रके जीमें पाप आ गया। उसने उल्लूसे कहा कि यह घर मेरा है, इसीपर दोनोंमें कलह हो गया। गृध्रने कहा कि राजीवलोचन श्रीराम सब लोकोंके राजा हैं, यदि यह घर तेरा है तो चलकर उनसे न्याय करा ले। यह निश्चय करके दोनों परस्पर विद्वेषी कोपाविष्ट होकर श्रीरामजीके यहाँ गए और चरणोंको स्पर्शकर प्रणाम किया—'तौ परस्परविद्वेषात् स्पृशतश्चरणौ तदा। श्लो० ६।' गृध्रने 'सुराणामसुराणां च प्रधानस्त्वं मतो मम॥ ७।' से लेकर 'अमर्षी दुर्जयो जेता सर्वास्त्रविधिपारगः।११।' तक स्तुति करके फिर अपना झगड़ा सुनाया कि मैंने अपने बाहुबलसे घर बनाया। उल्लूने उसपर अधिकार जमा लिया। राजन्! आप मेरी रक्षा करें—'ममालयं पूर्वकृतं बाहुवीर्येण राघव। उलूको हरते राजंस्तत्र त्वं त्रातुमर्हसि।१२।' उसकी बात समाप्त होनेपर उल्लूने श्रीरामजीकी बड़ी स्तुति की (श्लोक १३ से २५ तक) जिसमें उसने श्रीरामजीको अवतार सूचित करते हुए फिर 'समः सर्वेषु भूतेषु स्थावरेषु चरेषु च।१९। शत्रौ मित्रे च ते दृष्टिः समतां याति राघव। धर्मेण शासनं नित्यं व्यवहारे विधिक्रमात्।२०।''दुर्बलस्य त्वनाथस्य राजा भवति वै बलम्।' दुर्बलों और अनाथोंका बल राजा ही होता है, आप हम लोगोंके भी नाथ हैं, धार्मिक हैं, मेरी सुनवाई कीजिए—यह कहकर फिर उसने कहा कि महाराज! यह गृध्र मेरे घरमें घुसकर रहने लगा और अब मुझको ही बाधा करता है—'ममालयप्रविष्टस्तु गृध्रो मां बाधते नृप।' यह सुनकर श्रीरामजीने अपने आठो नीतियुक्त सर्वशास्त्र विशारद महात्मा मंत्रियोंसे विचार करनेको कहकर फिर गृध्रसे पूछा—'कति वर्षाणि वै गृध्र तवेदं निलयं कृतम्।२९। एतन्मे कारणं ब्रूहि यदि जानासि तत्त्वतः।' अर्थात् हे गृध्र! कितने वर्षोंसे तुमने यहाँ घर बनाया है (अर्थात् इसमें रहते हो), यदि ठीक-ठीक जानते हो तो इसका कारण बताइए। गृध्रने उत्तर दिया कि जबसे यह पृथ्वी मनुष्योंसे परिपूर्ण हुई तबसे यह घर मेरा है। उल्लूने कहा—राजन्! जब यह पृथ्वी वृक्षोंसे सुशोभित हुई तभीसे यह मेरा घर है। दोनोंकी सुनकर श्रीरामजीने

सभासदोंसे मुखातिब होकर उन्हें सभासदोंका सत्य कर्तव्य—'न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धा, वृद्धा न ते ये न वदन्ति धर्मम्। नासौ धर्मो यत्र न सत्यमस्ति न तत् सत्यं यच्छलेनानुविद्धम् ।३३।' इत्यादि—बताकर उनसे उनका सत्य सम्मत पूछा। उन्होंने यह सम्मत कहा—'उलूकः शोभते राजन् न तु गृध्रो महामते ।३७।' अर्थात् हे महामते! राजन्! उल्लू शोभित हो सकता है, पर गृध्र नहीं। मंत्रियोंका सम्मत सुनकर श्रीरामजीने पुराणोंका प्रमाण देकर सृष्टिक्रम जैसा पुराणोंमें लिखा है कहा (श्लोक ४० से ४३ तक)। उसमें बताया कि वृक्षोंकी सृष्टि प्रथम हुई है और मनुष्योंकी पीछे। अतः यह घर उल्लूका है, गृध्रका नहीं। गृध्र दूसरेका घर हरनेवाला होनेसे दण्डनीय है। यह पापी है, दुर्विनीत और महा अन्यायी है। वधयोग्य है।—(प्रसंग प्रस्तुत पदका इतना ही है। आगे आकाशवाणीका उल्लेख है कि गौतममुनिद्वारा गृध्र शापित है, आप वध न करके इसको छूकर शापमुक्त कर दें। श्रीरामजीके स्पर्श से उसे दिव्यदेह प्राप्त हुई)। (पंडित पुस्तकालय संस्करणसे)।

'श्वान' के न्यायकी कथा वहीं प्रक्षिप्त सर्ग १-२ में है।

श्रीलक्ष्मणजीने द्वार पर एक कुत्तेको रोते हुए देख उससे पूछा कि क्या चाहते हो? उसने कहा कि मैं फरियाद लेकर दादके लिये आया हूँ, आप 'सर्वभूतशरण्याय' श्रीराघवसे निवेदन कर दें। श्रीलक्ष्मणजीसे यह सुनकर श्रीरामजीने उसे शीघ्र दरबारमें लानेकी आज्ञा दी। उसके आने पर उन्होंने उससे अपना कार्य निर्भय होकर कहनेकी आज्ञा दी। उसने स्तुति करके निवेदन किया कि भिक्षु सर्वार्थसिद्धने बिना कारण तथा बिना अपराधके मुझे मारा है। यह सुनकर श्रीरामजीने सर्वार्थसिद्ध विप्रको बुलवाया और उससे पूछा कि इस कुत्तेने तुम्हारा क्या अपराध किया जो तुमने इसको डंडेसे मारा। यह प्रश्न करके विप्रको क्रोधके दोष आदि भी बताए। तब विप्रने कहा कि भिक्षाका समय हो गया था, मैं भिक्षाके लिये फिर रहा था, यह बीच मार्गमें बैठा था, मैंने इससे कहा हट, हट, किन्तु यह न हटा और मार्गके विषम स्थलमें भूँकने लगा। मुझे भूख लगी थी, भिक्षाको देर हो रही थी। इससे मुझे क्रोध आ गया, मैंने इसपर प्रहार किया। हे राजराजेन्द्र! मुझ अपराधीको दण्ड देकर आप शुद्ध करलें; आपके द्वारा दण्ड मिल जानेसे फिर मुझे नरकका भय न रह जायगा।—'क्रोधे तु क्षुधयाविष्टस्तदा दत्तोऽस्य राघव। प्रहारो राजराजेन्द्र शाधि मामपराधिनम् ।२६। त्वया शस्तस्य राजेन्द्र नास्ति मे नरकाद्भयम्।'

तब श्रीरामजीने समस्त सभासदोंसे उनका सम्मत माँगा। भृगु,

अंगिरस्, वसिष्ठ आदि सबने कहा कि ब्राह्मण दण्डसे अवध्य है– 'अवध्यो ब्राह्मणो दण्डैरिति शास्त्रविदो विदुः। ३३।' सबको विचारनिमग्न देख श्वानने कहा कि आपने प्रतिज्ञा की है 'किं ते कार्यं करोम्यद्य, विस्रब्धं ब्रूहि मा चिरम् ।२।१३।' अतः यदि आप मुझपर प्रसन्न हैं, तो मुझे यह वर दीजिए (अर्थात् जो मैं कहता हूँ वह कर दीजिये) कि इस ब्राह्मणको कालिंजरके शिव मन्दिरका मठाधीश बना दीजिए। यह सुनकर श्रीरामजी ने उसे मठके आधिपत्यपर अभिषिक्त कर दिया। ब्राह्मण हाथीपर चढ़कर-प्रसन्नतापूर्वक वहाँ गया।—(इस पदका कथा-प्रसंग इतनाही है। आगे मंत्रियोंने इस दंडविधानपर मुस्कुराकर श्रीरामजीसे प्रश्न किया है कि यह तो दण्ड नहीं है, यह तो वरदान है। श्रीरामजीके कहनेपर कि कुत्तेसे ही कारण पूछा जाय, कुत्तेने कहा कि पूर्व मैं उस मठका महंत था। शिवनिर्माल्य भोजन करता था। मैं देवविप्रको पूजता था, सदाचारी शीलसंपन्न परोपकारपरायण था, तब भी मुझे श्वान होना पड़ा और यह विप्र तो क्रोधी, अधर्मी और अहितरत इत्यादि है, यह तो अपनी सात-सात पीढ़ियांको भी पतित कर देगा।)। बक श्वानके न्यायमें 'प्रभु' संबोधित किया, क्योंकि पशु-पक्षियोंका न्याय मनुष्य राजा करे, यह संभव नहीं। मन्त्रीकी बुद्धि जिसमे चकरा गई उसमें आप ही समर्थ हुए।

५ (ख) 'तेहि कौतुक कहिऔ कृपाल···' इति। जैसे कौतुकपूर्वक उनका न्याय किया, वैसेही कौतुकपूर्वक मेरा न्याय कीजिए। जैसे वृक्षकी सृष्टि प्रथम कहकर उल्लूका न्याय किया और विप्रको क्रोधी अन्यायी कहकर कुत्तेका बताया दण्ड देकर कुत्ते का न्याय किया, वैसे ही 'तुलसीदास अनादिकालसे मेरा दास है' यह कहकर 'कलिके कालकर्मादि' का अधिकार मेरे हृदयपरसे हटा दीजिए। पुनः यह तुलसीदास मेरा दास है, वह स्वभावतः इस मार्गपर आरूढ है, तुमने क्रोधपूर्वक उसे बांधा और तंग किया, यथा 'सुनि रिस भरे कुटिल कामादिक करहि जोर बरिआई", 'हों न कबूलत बाँधिकै मोल करत करेरो'। अतः तुम्हे दण्ड दिया जायगा। फरियादी यह दण्ड दिलाना चाहता है कि आप उससे कह दें कि 'तुलसी मेरा है'। देखनेमे तो यह दण्ड है नही, पर कलि और उसके परिकर इतनेसे कभी तुलसीदासके निकट भी न आ सकेंगे। यथा 'खीझि रीझि बिहँसि अनख क्यों हूँ एकबार 'तुलसी तू मेरो' बलि कहियत किनु॥ जाहि सूल निरमूल होहि सुख अनुकूल महाराज राम रावरी सों तेही छिनु।२५३।', "डरत हौं देखि कलिकाल को कहरु। कहेही बनैगी कै कहाए बलि जाउँ राम, 'तुलसी तू मेरो हारि हिये न हहरु।'२५०।"—इन उद्धृत पदोंमें प्रार्थीकी विनय है कि आप मुझसे यह कह दें कि 'तू मेरा है' तो भी काम बन

जायगा; क्योंकि इससे शरणागतिकी स्वीकृति हो जानेसे मैं निर्भय हो जाऊँगा। क्योंकि 'राम कहहिं जेहि आपनो तेहि भजु तुलसीदास।' के अनुसार फिर तो शत्रु बाधक न होकर भजनमें सहायक बन जायगा। 'सीम कि चाँपि सकै कोउ तासू। बड़ रखवार रमापति जासू ।१।१२६।८।' पूर्व भी यह प्रार्थना कर आये हैं। जैसे यहाँ अपनेको 'गरीब' कहा है—'अब गरीब न जमोगिऔ', वैसे ही पूर्व भी गरीब बनकर प्रार्थना की है। यथा 'तू गरीबको निवाज हौं गरीब तेरो। बारक कहिये कृपाल तुलसिदास मेरो '७८।'—विशेष ७८ (६ ग-घ) में देखिए।

नोट—२ प्रार्थीको इस न्यायका बड़ा बल है। इस न्यायका बल लेकर उन्होंने कलिको डाँटा भी है। यथा 'सुनिए कराल कलिकाल भूमिपाल···। मैंहूँ तेंहूँ ताहिको सकल जगु जाहि को॥ कामु कोहु लाइकै देखाइयत आँखि-मोहि, एते मान अकसु कीबेको आपु आहि को। साहिबु सुजान जिन्ह स्वानहू को पच्छु कियो, रामबोला नामु हौं गुलाम रामसाहि को। क० ७।१००।'

मू० शुक्ल—गीध और ब्राह्मणकी जबरदस्ती थी, इससे उल्लू और श्वानकी बात मानकर गीध और ब्राह्मणको दंड दिया। इसी भाँति बुरा काल, बुरे कर्म और इन्द्रियोंके विषय जबरदस्त हैं और हृदयमें ही रहते हैं। जीवात्मा गरीब सेवक है। यदि उनसे इसकी रक्षा न की जायगी तो अधोगति होनेसे चैतन्यसे जडता भावमें जानेसे उसका पता नहीं लगेगा।

दीनजी—इस पदमें तुलसीदासजीकी शब्द गढ़नेकी कला देखने योग्य है। उन्होंने फारसी शब्द, जेरसे 'जेरो' पूर्ण क्रिया बना ली है।

वियोगीजी—इस पदमें गोसाईंजीने 'साहिबी, ख्याल, कबूलत और करेरा' इन उर्दू शब्दोंका प्रयोग किया है। और ये प्रयोग, बोलचालकी भाषामें आनेसे, बड़े ही सुहावने जान पड़ते हैं।

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

१४७

कृपासिंधु तातें रहौं[१] निसि दिन मनु मारें।
महाराज लाज आपुही निज जाँघ उघारें॥१॥

---

१ रहौं—रा०, भा०, वे०, मु०, भ०, ड०, भ० स०। रहो—वै०, वि०, ह०, १५, दीन। रहउँ—७४।

मिले[२] रहैं मार्यो चहैं कामादि सँघाती।
मो बिनु रहैं न मेरियै जारैं छलि[३] छाती ॥२॥
बसत हियें हित जानि मैं सबकी रुचि पाली।
कियो कथक[४] को दंड हौं जड़ करम कुचाली ॥३॥
देखी सुनी न आजु लौं अपनायति[५] असी।
करहिं सबै सिर मेरही फिरि परति अनैसी ॥४॥
बड़े अलेखी लखि परे[७] परिहरे न जाहीं।
असमंजस मो[८] मगन हौं लीजै गहि बाँहीं ॥५॥
बारक बलि अवलोकिये कौतुक जन जीको।
अनायास मिटि जाइगो[९] संकट तुलसी को ॥६॥

शब्दार्थ—मन मारे = उदास, दुःखी वा खिन्न चित्त। = मनके वेगको दबाये रक्खे; मन मसोसे। यथा 'कहँ लगि सहिय रहिय मन मारे। नाथ साथ धनु हाथ हमारे।२।२२८।' आपुही = अपनेको ही। जाँघ = घुटने और कमरके बीचका अंग। उघारना = खोलना; नंगा करना। निज जाँघ उघारना = अपना परदा अपने हाथों खोलना; अपने घरकी छिपानेयोग्य बातको स्वयं प्रकट कर देना। सँघाती = साथी। मो = मेरे। छाती जारना = जी जलाना; हृदय संतप्त करना; मानसिक पीड़ा पहुँचाना। पालना = भंग न करना; अनुकूल आचरणद्वारा किसी बातका निर्वाह करना। कथक = एक जाति है जिसका काम गाना, बजाना और नाचना होता है। नट। दंड = डंडा। अपनायति = अपनापन; आपसदारीका संबंध; आत्मीयता। अनैसी = बुराई; जो इष्ट न हो; बुरा परिणाम। सिर पड़ना =

२ मिले—रा०, भा०, वे०, दीन, वि०, मु०, ह०, ७४। मिल्यौ—डु०, ५१, वै०। ३ छलि—रा०, १५, प्र०। छल—भा०, वे०, ह०, ७४, आ०। ४ कथक—रा०, वे०, ह०। कथिक—भा०, आ०, ७४, प्र०। ५ अपनायति—रा०, डु०, वै०, भ० स०। अपनायत—मु०, ५१, भ०, ७४, दीन, वि०। अपनाइत—भा०, वे०, ह०। ६ मेरही—रा०, भा०, वे०, वै०, ५१, मु०। मेरेई—भ०। मेरेही—७४, ह०, दीन०, वि०। ७ परे—डु०, दीन, वि०। परई—७४। परे—भ०। परे—श्रीरोमे। ८ मो—रा०, भा०, वे०, भ०। मे—५१, ह०, ७४, वै०, दीन०, वि०, मु०। ९ जाहिगो—भा०। जाहिगे—वे०। जाइगो—रा०, वै०, ह०, ५१, भ०, दीन०, वि०। जायगो—७४, डु०, मु०।

हिस्सेमें आना; उत्तरदायित्व वा जिम्मेदार किया जाना। अलेखी=गड़बड़ मचानेवाला; अँधेर करनेवाला; अन्यायी। (श० सा०)।—यह शब्द केवल पद्यमें प्रयुक्त मिलता है। 'अलेख' (सं० अलक्ष्य) का अर्थ 'अदृश्य; छिपे रहनेवाले' भी होता है। यह अर्थ 'लखि परे...' से संगत भी है। मों=में। मगन=डूबा हुआ।

पद्यार्थ—हे कृपासागर! हे राजाधिराज महाराज! अपनी जाँघ खोलनेसे अपने हीको लज्जा लगती है, इसीसे मैं रात-दिन मन-मसोसे रहता हूँ (किसीसे हृदयका भेद कहता नहीं) ।१। मेरे साथी कामादि मुझसे मिले भी रहते हैं और मुझे मारना भी चाहते हैं। मेरे बिना वे रह नहीं सकते और (साथ रहें तो) धूर्ततासे मेरी ही छाती जलाते हैं।२। हृदयमें निवास होनेसे उनको (घरका ही) हितैषी जानकर मैंने सबोंकी रुचि रक्खा (अर्थात् जो उन्होंने कहा, वही मैंने किया, भरपूर उनका भोग किया)। (परन्तु) इन जड़ कर्मवाले कुचालियोंने मुझे कत्थकका दंड बना रक्खा है * ।३। आजतक मैंने ऐसी अपनायत न तो देखी ही है, न सुनी। (कर्म) सब करते वे हैं और उसका बुरा परिणाम सब मेरे ही मत्थे मढ़ा जाता है अर्थात् अनिष्ट फल मुझे भोगना पड़ता है।४। वे बड़े 'अलेखी' हैं, लख

---

* श्री. श. ने 'कथिक कोदंड' पाठ ग्रहण कर अर्थ किया है—"परन्तु (इस कर्मसे तो) मैंने इन जड़ कर्म करनेवाले कुचालियोको कत्थककी कमानीके समान कर रखा है [वह कमानी सारंगीके साथही उसीकी खूँटी एवं झोलीमे रहती है और फिर उसी सारंगीको रेता करती है। वैसेही ये कामादि मेरेही हृदयमे रहते हैं और मुझेही तंग किया करते हैं। ये जड़ कर्मी हैं, बहुत समझाने-बुझानेपर भी अपने कर्म (आदत) नही छोड़ते"] वे 'कोदण्ड' का अर्थ 'सारंगी बजानेवाली कमानी, जिससे रेतकर सारंगी बजाई जाती है'—ऐसा करते हैं और लिखते हैं कि "कमान धनुषका पर्यायी है इससे उस कमानी को यहाँ 'कोदण्ड' कहा।"—भाव तो अच्छा है, प्रश्न 'कोदण्ड' के अर्थका है। अन्य सबोमे को और दण्ड पृथक्-पृथक् शब्द हैं और उपर्युक्त अर्थ किया है।

'जड कर्म कुचाली' के अर्थ—(१) कामादि कर्म कुचाली जड। (पं० रा० कु०)।२ 'जड जो कर्म और खोटो चालवाले' अर्थात् कर्मोंने।' (डु०, भ० स०)।३ जड़ कुचाली कर्म—(ह०)।४ वे कुमार्गी मूर्खताका काम करनेवाले। (वीर)।५ ये कर्म ऐसे जड़ और कुचाली हैं कि इनने। (च०)।६ दुष्ट कर्म करानेवाले कुचालियोने। (भ०)। ७ दुष्टो और कुचालियोने। (दीन, वि०, पो०)।

पड़नेपर भी त्यागे नहीं जाते❀! (अर्थात् इनका त्याग करना अपनी शक्तिके बाहर है)। मैं असमंजस (द्विविधारूपी समुद्र) में डूब रहा हूँ, बाँह पकड़ (कर मुझे निकाल) लीजिए।५। मैं बलिहारी जाता हूँ। (जरा) एक बार (तो) दासके हृदयका कुतूहल (तमाशा) देख लीजिए। (बस) तुलसीदासका संकट सहज ही बिना परिश्रमके मिट जायगा। ६।

टिप्पणी—१ 'कृपासिंधु तातें रहौं निसि…' इति। पूर्व पद १४५ से बराबर अपने हृदयकी दशा कहकर दाद (न्याय) की प्रार्थना करते आ रहे हैं। यथा 'दादि न पावत काहे', 'जेहि कौतुक बक-स्वानको न्याउ निबेरो।…'। सुनवाई नहीं हुई। अतएव कहते हैं कि आप दयासागर हैं, आप सुनते नहीं तो क्या करूँ; दुःख सहता हूँ, मन मसोसकर रह जाता हूँ, किसीसे कहता नहीं। न कहनेका कारण बताते हैं कि अपना पर्दा खोलनेसे अपनेको लाज लगती है। लज्जा क्या लगती है और जाँघ उघारना क्या है? कामादिका गुलाम हूँ, पर कहता-फिरता हूँ कि रामका गुलाम हूँ, जगत् मुझे महामुनि, रामभक्त समझता है, अतः अपने घरका भंडा फोड़नेसे अपनीही बुराई होगी, इस लज्जासे कहता नहीं कि लोग क्या कहेंगे। पुनः, आप अपनाते नहीं, कलिने मुझे दबा लिया है, मैं उसको, अपनेको रामगुलाम कहकर फटकारता रहता हूँ पर आप मेरी तरफसे उदासीन हैं, अतः मन मारे रहता हूँ। यथा 'प्रभुको उदास भाव जनको पाप प्रभाव…। मैं तो दियो छाती पवि लियो कलिकाल दबि…।२५६।' यदि भेद खोलता हूँ तो भंडा फूट जायगा और तब तो कलि मुझे न छोड़ेगा। अतएव आप शीघ्र कृपा करें।क० ७।७० के 'बचन बनाइ कहौं हौं गुलाम रामको। नाथहू न अपनायो, लोक झूठी ह्वै परी…। आपनी भलाई भलो कीजै तौ भलाई न तौ तुलसीको खुलैगो खजानो खोटे दामको।' का भाव भी इसमें है।

[टीकाकारोंके मत—(१) अपना पाप दोष अपने मुखसे कहते

❀ कामादिक मानसरोग हैं जो सबके हृदयमें अलक्ष्यरूपसे रहते हैं। मानसमें कहा है—'मानसरोग कछुक मैं गाये। हहिं सबके लखि बिरलेन्ह पाये॥ जाने ते छीजहिं कछु पापी। नास न पावहिं जन परितापी।७।१२२।'—इसीके आधारपर हमने यह अर्थ किया है। प० रामकुमारजी आदिने अर्थ किया है कि "ये बड़े बेहिसाबी अर्थात् अन्यायी जान पड़े, परन्तु छोड़े नहीं जाते।" और अर्थ—'बड़े अन्यायी हैं, लख नहीं पड़ते।' (वै०)। "अलेखी" (अर्थात् अज्ञानदृष्टिसे) देखनेमें नहीं आते और जो (ज्ञानदृष्टिसे) दीख भी पड़ें।" (भ०, वि०)। 'अज्ञानके मारे इनकी चाल समझमें नहीं आती।' (वि०)।

लज्जा लगती है, इसीसे सदा शोच करता हुआ उदासीन रहता हूँ। (वै०, भ०)। (२) अपनी करनीसे दुःख हो तो क्या किया जाय ? (भ० स०)]

२ (क) 'मिले रहैं मारयौ चहैं....' इति। कामादिको सँघाती कहा, क्योंकि ये सदासे शरीरके साथ हैं, यथा 'मेरे जान जब तें हौं जीवह्वै जनम्यो जग, तब ते बेसाह्यो दाम लोह कोह काम को। मन तिनही की सेवा, तिनही सो भाउ नीको। क० ७।७०।' 'मिले रहैं ...' में पद १४६ के 'छल प्रीति कै सॉगै उर डेरो' के भाव हैं—१४६ (३ ख) तथा १२५ (५ ख) भी देखिए। कामादि मनुष्योंसे विषयभोग कराकर उन्हें नरकमें डालते हैं, भवप्रवाहसे फिर वे बच नहीं सकते; यही मारना है। यथा 'कामक्रोध मद लोभ सब नाथ नरक के पंथ ।५।३८।', 'कामी भवकर पंथ ।७।२३।'

२ (ख) 'मो बिनु रहैं न · ' इति। मेरे बिना रह नहीं सकते। जबसे जीव शरीरधारी होकर अनेक नामोंवाला हुआ तभीसे कामादिभी उसके साथ हैं। शरीर न रहनेपर इनका अस्तित्व नहीं रहता। अतः 'मो बिनु रहैं न' कहा। [जबतक मुझमे 'जीवत्व' भाव है, तभीतक कामादिका अस्तित्व है। (वि०)। जीवकी स्पृहापर ही इनकी सत्ता है, यदि यह स्पृहा न करे तो ये रह ही नहीं सकते। अतः मेरे ही अधीन इनकी स्थिति-प्रवृत्ति है। (श्री० श०)]

२ (ग) 'मेरिऔ जारैं छलि छाती'—भाव कि कामादि सदा हृदयको संतप्त किये रहते हैं, इनके कारण छाती जला करती है, ये एक क्षण विश्राम नहीं लेने देते। विषयाग्नि सदा हृदयमें धधकती रहती है। यथा 'अगनित गिरि कानन फिरयो बिनु आगि जरयो हों। २६६।' [जिस पत्तलमें खाते, उसीमें छेद करते हैं। (वि०)। कामादि रजोगुणसे होते हैं और राजस सुख परिणाममें दाहक है; यथा 'विषयेन्द्रिय-संयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्। परिणामे विषमिव···। गीता १८।३८.' (श्री० श०)]

टिप्पणी—३ 'बसत हियें हित जानि···' इति। हृदयमें बसते हैं, इससे इन्हें हितैषी जाना। [कामादि शरीरनिर्वाहके अंग हैं, अतएव हितैषीरूपसे हृदयमें रहते हैं, ऐसा जानकर। (श्री० श०)] सबकी रुचि रक्खी अर्थात् उनके भोग उनको दिये। *

---

* कामकी रुचि रखनेको स्त्रीसे संभोग किया, परदाररत हुआ। सबसे बैरकर क्रोधकी रुचि पाली। लोभके लिये ठगी, बटमारी और परधनापहरणमे लगा। (गौ०)। मोहके लिये अहंकार करता हूँ। (भ०)

'कियो कथक्को दंड'''इति। इस पर टीकाकारोंके भाव दिये जाते हैं-

(१) कत्थक लड़केको नचाता है, उसीसे उसकी जीविका है, उसीको अज्ञाती बनाए रखता है। (पं० रा० कु०)। ☞ जैसे कत्थक अपनी लकड़ीके इशारेसे नाच नचाते हैं, वैसे ही ये मुझे नाच नचाते रहते हैं, जिधर चाहते हैं उधर ही ले पटकते हैं। (दीन, वि०, पो०)

(२) नाचनेवाले कत्थक डण्डेमें घुँघुरू बाँधकर लड़केको नाच सिखाते हैं। लड़का उस लकड़ी (के इशारे) के अनुसार नाचता है। (कु०, भ० स०); वैसे ही ये मुझे लकड़ी बनाकर मेरे मनको नचाते है। (भ०)।

(३) वीरकवि लिखते हैं कि डण्डेमें घुँघुरू लगाकर उससे राग सिखानेमें "तालका संकेत करते हैं अर्थात् वह डंडा स्थिर नहीं रहने पाता—छन ऊपर छन नीचे धावत, जैसे नटका बेटा।"—बाबू शिवप्रकाशने लिखा है 'कि वह डंडा अत्यन्त चंचल रहता है, वैसे ही इन्होंने मुझे अति चंचल कर रखा है'। संभवतः उसीसे वीरकविने लिया है।

(४) वै०—कथकके दंढ समान मुझे जड़ कर दिया और कुचाली कर दिया। दंडमें जड़ता स्वाभाविक होती है। "देहेन्द्रिय कत्थक समाज विषयसुखरूपी जीविकाहेतु देहके संग दण्ड-समान जीव फिरता है। कामादि व्यापारसे कुचाली है।"

(५) चरखारी टीकाकार—"कथिक (= कहनेमात्रको) दंड (= इन्द्रधनुष) बनाया है जो कहिने ही मात्र है, परन्तु पराक्रम सों वृथा है, ऐसे ही इनने मोको वृथा करो।"

(६) श्री० श० ने 'कथिक को दण्ड' पाठ देकर अर्थ किया है। पदार्थकी पाद-टिप्पणी देखिए।

टिप्पणी—४ 'देखी सुनी न आज लों अपनायति'' इति। अपनपौ उत्तरार्धमें दिखाते है कि संगमें रहकर विषयभोग आदि कराते हैं तथा बिगाड़ते अन्याय करते तो ये हैं, (ये मनको प्रेरितकर इन्द्रियोंको विषय भोगोंमे लगाते हैं, इन्द्रियाँ विषय सुख लूटती है) और उनका बुरा फल जीवको भोगना पड़ता है। जिससे दुःख मिलता है, उसका साथ नहीं किया जाता; परन्तु इनके कारण चौरासी भोगनेपर भी इनका साथ नहीं छूटता—ऐसा अपनपौ कहीं अन्यत्र देखा सुना नहीं जाता।

५ 'बड़े अलेखी लखि परे'' इति। (क) 'पदार्थकी पाद-टिप्पणीमें इसके अर्थ और भाव देखिए। विवेकदृष्टिसे विचार करनेपर इनकी परख मिलती है कि ये अवगुणी हैं, इनका संग त्याग देना चाहिए। फिर भी त्याग किये नहीं जाते। संग रखना चाहता नहीं और साथ छूट नहीं

पाता। यही असमंजस है कि क्या करूँ, अपना कुछ वश नहीं ?

५ (ख) 'मगन हौं लीजे गहि बाँहीं' इति। डूबना कहकर असमंजस-को समुद्र जनाया। डूबनेसे बचनेके लिये नाव, बेड़ा, जहाजका आजाना यत्र-तत्र कहा गया है। यहाँ नाव आदि न कहकर बाँह पकड़कर निकालने की प्रार्थना है। इसमें भाव यह है कि मैं सर्वथा अशक्त हूँ, नाव पकड़कर चढ़नेकी शक्ति भी नहीं है, मेरी बाँह स्वयं पकड़कर मुझे आप बाहर निकाल लें। पद १४५ में प्रार्थना थी कि 'दीजै भगति-बाँह बारक जो सुबस बसै अब खेरो', अर्थात् प्रभुसे भक्तिरूपी बाँहका सहारा रामखेड़ा को सुखपूर्वक बसानेके लिये माँगा। और यहाँ केवल कृपाका आश्रय लेते हैं. इसीसे आरंभ 'कृपासिंधु' संबोधनसे किया है। आप कृपा करके मेरी बाँह पकड़कर निकाल लीजिए, खेड़ाको सुबस बसानेकी भी अब चाह नहीं। शीघ्रातिशीघ्र बाँह पकड़नेसे काम बनेगा जैसे गजको सरोवरसे निकाला था।

६ 'बारक बलि अवलोकिए कौतुक ''इति। (क) पदके प्रारंभमें प्रथम चरणमें 'कृपासिंधु' और दूसरेमें 'महाराज' संबोधन आए हैं। 'लीजै गहि बाँहीं' में कृपा चाही। और अब 'महाराज' संबोधनका कार्य कहते हैं। राजा कौतुकप्रिय होते हैं, अतः मैं आपको कौतुक दिखाता हूँ। वह कौतुक मेरे अन्तःकरणरूपी भूमिपर हो रहा है। इसे एक बार देख लेनेसे काम बन जायगा। कौतुक देखकर इनाम दिया जाता है, मुझे यह इनाम देखतेही प्राप्त हो जायगा कि संकट न रह जायगा।

६ (ख) 'बलि' मैं बलिहारी जाता हूँ, आप पर निछावर होता हूँ। भाव कि आप जैसे बने कृपा करके मेरी विनती स्वीकार करें। अथवा यह वाक्य व्यवहारमें यों ही बोल दिया जाता है वैसे ही यहाँ भी समझ लें। अन्यत्र भी कहा है—'बारक बिलोकि बलि कीजै मोहि आपनो। १८०।', 'बलि जाउँ हौं राम गुसाईं। कीजै कृपा आपनी नाईं। १६५।' कृपावलोकनकी प्रार्थना पूर्व भी की है, यथा 'तुलसिदास प्रभु कृपा बिलोकनि गोपद ज्यों भवसिंधु तरौं। १४१।' आगे प्रार्थना यह भी की है कि किसी भी भाँतिसे देखिए, यथा 'केहू भाँति कृपासिंधु मेरी ओर हेरिये। १८१।', 'जौं चितवनि सौंधी लगी चितइये सबेरे। २७३।' प्रस्तुत पदमें 'कौतुक' दिखाते हैं, अतः केवल 'अवलोकिए' कहा, परन्तु 'बलि' में कृपाका संकेत हो जाता है। अन्यत्र अपनी (तुलसीकी) ओर देखनेकी प्रार्थनायें हैं, अतः वहाँ कृपादृष्टि चाही है—'कबहुँ कृपा करि रघुबीर मोहू चितैहो। २७०।'

वियोगीजी--इस पदमें विषयोंका प्राबल्य दिखाया गया है। कामादि विषय बडे धोखेबाज हैं। इनके मनपर चलें तो निर्वाह नहीं, और इनसे अलग रहें तो भी निबाह नहीं। ये नाच नचाकर भी नहीं छोड़ते। जीवको इनके अधीन होकर नाना कष्ट भोगने पड़ते हैं। बड़ी विडम्बना है, कुछ कहा नहीं जाता। भगवत्कृपासे ही इन सबोंसे पिण्ड छूट सकता है, अन्यथा नहीं।

सू० शुक्ल—सेवकमे, 'करौं सदा तिन्ह कै रखवारी। जिमि बालक राखै महतारी', ऐसा तो विश्वास होना चाहिए और कामक्रोधादिपर सदा दृष्टि रखकर उनके उद्वेगकी सहनशीलता होनी चाहिए।

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु

१४८

कहौं[1] कौन[2] मुँह लाइ कै रघुबीर गुसाईं।
सकुचत समुझत आपनी सब साँइँ दोहाई[4] ॥१॥
सेवत बस, सुमिरत सखा सरनागत सो[5] हौं।
गुनगन सीतानाथ के चित करत न हौं[6] हौं ॥२॥
कृपासिंधु बंधु दीन के[7] आरत हितकारी।
प्रनतपाल बिरुदावली सुनि जानि बिसारी ॥३॥
सेइ न धेइ न सुमिरि कै[8] पद प्रीति सुधारी।
पाइ सुसाहिब राम सों भरि पेट बिगारी ॥४॥

---

१ कहो—रा०, ह०। कहौं—भा०, वे०, श्रा०। २ कोन—रा०, मु०, डु०, भा०, वे०। कौन—प्रायः औरोमे। कवन—ह०, ५४। ३ कै—रा०, भा०, वं०, श्रा०। के—७४, ह०। ४ दुहाई—मु०, डु०, वे०, वि०। दोहाई—रा०, भा०, भ०, दीन, ह०, ७४। द्रोहाई—वे०, प्र०,। ५ सोहो—रा०, ज०। सोहौं—वे०, ५१; ह०, प्र०, डु०। सो हौ—दीन, वि०। सौहो—७४। सौहौं—भा०, मु० वे०, भ०। ६ हो हो—रा०, ज०। हौ हो—७४। हौ हौ—भा०, वे०, श्रा०। ७ को—रा०, ह०, प्र०, १५, ज०। के—भा०, वे०, श्रा०, ७४। ८ के—भा० वे०, वं०, मु०, डु०, ह०, ७४, भ०। कै—रा०, वि०, दीन, प्र०। ९ नेवाजु—ह०, ७४।

नाथ गरीबनिवाजु हैं मैं गही न गरीबी।
तुलसी प्रभु निज ओर तें बनि परै सो कीबी ॥५॥

शब्दार्थ—मुंह लाइ=मुँह लेकर वा लगाकर। द्रोहाई (दोहाई)=द्रोहता, विरुद्ध आचरण। यथा 'स्वामीकी सेवकहितता सब कछु निज साइँ दोहाई। १७१।' धेइ=ध्यान करके। 'ध्यान' से धेना या धेयना क्रिया बनाई गई है। सेइ=सेवा करके। भरिपेट=अघाकर; भरपूर; भलीभाँति। कीबो=कीजिए। यथा 'कहि आयो कीबी छमा निज ओर निहारी।२४।' बन पड़ना=हो सकना। सोहौं (सौहौं)=सन्मुख। यथा 'तुलसी प्रभु को परिहर्‌यो सरनागत सोहौं।१५०।'

पद्यार्थ—हे रघुबीर! हे गोसाईं (स्वामिन्)! मैं कौन मुँह ले वा लगाकर (आपसे कुछ) कहूँ? अपनी सब स्वामि-द्रोहता समझकर सकुचा रहा हूँ। (भाव कि आपने मेरे साथ कैसे-कैसे उपकार किये और मैं आपसे बिमुख ही बना रहा)।१। श्रीसीतापति रघुनाथजी सेवा करनेसे वशमें हो जाते हैं, स्मरण करनेसे सखा मान लेते एवं सखा-सहायक बन जाते हैं और शरणागत होते ही सम्मुख (अर्थात् अनुकूल) हो जाते हैं।* आपके इन गुणगणोंको मैं चित्तमें नहीं लाता (कभी स्मरण नहीं करता)।२। आप कृपाके समुद्र हैं, दीनजनोंके बंधु हैं, आर्तजनोंका हित और शरणागत (एवं प्रणाम करनेवाले) का पालन करनेवाले हैं—(इत्यादि) बिरुदावलीको सुनकर और जानकर भी मैंने (जानबूझकर) भुला दिया।३। न तो सेवा करके, न ध्यान करके और न स्मरण ही करके मैंने आपके चरणोंमें प्रेम सँवारा अर्थात् दृढ़ प्रीति की। हे श्रीरामजी! आप सा सुन्दर स्वामी पाकर मैंने आपसे बिगाड़ किया तथा अपनी भरपेट बिगाड़ी। (अर्थात् चाहिए तो था कि बिगड़ीको भी बना लेता, सो न करके जो बिगड़नेमे कमी थी, वह भी पूरी कर ली)।४। हे नाथ! आप गरीबनिवाज हैं (गरीबोंपर कृपा करते हैं। परन्तु) मैंने गरीबी ग्रहण ही नहीं की (मुझमें दीनता आई ही नहीं तो आप कृपा कैसे करते?)। हे तुलसीके प्रभु (वा, तुलसीदासजी कहते हैं कि हे प्रभो)! अपनी ओरसे जो आपसे बन पड़े, सो कीजिए।५।

---

* दीनजी और वि० ने 'सो हौं' पाठ लेकर अर्थ किया है। अर्थ—१ मैं हूँ तो ऐसे स्वामीकी शरण जो 'सेवत…सखा'? (दीनजी)। शरणमे आनेसे सामने प्रकट हो जाते हैं। (वि०)—किन्तु यह अर्थ 'सोहौं' को एक शब्द माननेपर ही होगा। संभव है कि प्रेसवालोंने 'सो' 'हौं' को अलग कर दिया हो।

टिप्पणी—१ (क) 'कहौं कौन मुँह लाइ···'इति। भाव कि इस मुँह-से तो कहनेमें लज्जा लगती है, क्योंकि इस शरीरसे तो कोई सत्कर्म सदाचार आदि हुए ही नहीं।···यह मुहावरा है। इसका भाव वही है जो दूसरे चरणमें कविने स्वयं कहा है—'सकुचत···'। पूर्व जो कहा था कि 'तुम्ह सों हौं बिनती केहि भाँति करौं। अघ अनेक अवलोकि आपने··· ।१४१।', 'सकुचत हौं अति राम कृपानिधि क्यों करि बिनय सुनावौं। ···।१४२।', इनके भाव तो यहाँ है ही, साथ ही लज्जा होना भी यहाँ जनाया है। लज्जा से मुँह सामने नहीं किया जाता। रघुबीरसे जनाया कि आप दया और दान दोनोंमे वीर हैं और गुसाईं हैं, अपराधो पर भी कभी कोप नहीं करते। तो भी विनती करनेका साहस नहीं होता।

१ (ख) 'सकुचत समुझत आपनी सब ' इति। संकोच अपनी ओरसे है। आप तो सदा जीवको अपनानेके लिये हाथ फैलाये रहते हैं, * पर यह अपनी करनी समझकर सम्मुख होते डरता है। यथा 'जौं करनी आपनी बिचारौं तौ कि सरन हौं आवौं।१४२।' 'अपनी सब साइँदोहाई'-सब स्वामिद्रोहता, स्वामिविमुख आचरण वही हैं जो पद १३६ (६-७), पद १४२ 'सकल धर्म विपरीत करत' से 'जौं करनी आपनी बिचारौं' तक, पद १४३ 'चरनसरोज बिसारि निहारे···।' और पद १७१ इत्यादि पदोंमें प्रार्थी ने स्वयं कहे हैं। प्रभुने तो सुरदुर्लभ नरतन दिया कि साधन-कर भवपार हो जाय; गर्भमें ज्ञान दिया तब मैंने प्रतिज्ञा की कि 'अब जग जाइ भजौं चक्रपानी।', परन्तु मैं ऐसा कृतघ्न कि आपके सब उपकार भुला दिये, आपसे विमुख होकर विषयोंका गुलाम बना। यथा 'राम तुम्ह से सुचि सुहृद साहिबहि मैं सठ पीठि दई। गरभबास दस मास पालि पितुमातुरूप हित कीन्हों।···पल पलके उपकार रावरे जानि बूझि सुनि नीकें। भिद्यो न कुलिसहु तें कठोर चित कबहुँ प्रेम सियपीके। स्वामीकी सेवकहितता सब कछु निज साइँदोहाई।१७१।', इत्यादि सब साइँद्रोहता है।

'समुझत' से जनाया कि इसके पूर्व न समझ पड़ी थी, अब समझ पड़ी है, समझने पर संकोच हो रहा है कि मैं तो सर्वथा विमुख रहा, क्या मुँह लेकर कहूँ कि कृपा करें।☞पूर्व भी अपनेको साईंद्रोही कहा है, यथा 'हौं तो साईंद्रोही पै सेवकहित साईं ।७२।' सेवकपर स्वामीके उपकार और अपना स्वामिद्रोह ७२ (१ ख) में भी लिखेगए हैं।

* यथा 'भृत्यानुग्रहकातरम्' (भा० ३।२८।१७), 'कृत्स्नप्रसादसुमुखं स्पृहणीयधाम' (भा० ३।१५।३९) अर्थात् जो भक्तोंपर कृपा करनेके लिये (आतुर) रहते हैं। वे कृपा करनेके लिये पूर्णतया उद्यत प्रतीत होते थे।

[स्वामीके प्रभावको जानकर उन्हें भुलाना तथा उल्टे उन्हें ही दोष देना आदि स्वामीसे द्रोह करना है। पद २५८ देखिए। स्वामिद्रोहीकी बड़ी बुरी गति होती है, यथा 'हौं लमुक्त साईं द्रोहिकी गति छार-छिया रे।३३।'-(श्री० श०)]

टिप्पणी—२'सेवत बस सुमिरत सखा…'इति। (क) सेवासे वशमें हो जाते हैं; यथा 'कपि सेवा बस भए कनोड़े।१००।', 'सेवक भयो पवनपूत साहिब अनुहरत। ताको लिये नाम राम सबको सुढर ढरत।१३४।' स्मरण करनेसे सखा बना लेते हैं तथा सखा-सहायक बन जाते हैं। पूर्व कह आए हैं कि 'सुमिरे सकुचि रुचि जोगवत जन की।७१।' स्मरणकर्ताके ऐसे मित्र हो जाते हैं कि सदा उसके मनकी रुचिको ही देखा करते हैं कि जो इच्छा हो वह पूरी करूँ। उसकी सहायता करते हैं, जैसे गजादिके स्मरण करते ही उसकी रक्षा की। शरणागतके सम्मुख होते हैं अर्थात् उसकी ओर पीठ नहीं देते, उससे मुँह नहीं फेरते, प्रत्युत सब अपराध भूल जाते हैं और कृपा करते हैं। यथा 'तदपि सरन सनमुख मोहि देखी। छमि सब करिहहि कृपा बिसेषी॥ सील सकुच सुठि सरल सुभाऊ। कृपा सनेह सदन रघुराऊ।२।१८३।' उसका त्याग कभी नहीं करते, यथा 'कोटि बिप्रबध लागहि जाहू। आएँ सरन तजउँ नहिं ताहू।५।४४।', 'मम पन सरनागत भयहारी', 'सरनागत बच्छल भगवाना' (सुं० ४३)। 'सेवत बस', 'सुमिरत सखा', 'सरनागत सोहौं' से क्रमशः सौलभ्य, सौहार्द और सौशील्य गुण दिखाए।

२ (ख) 'गुनगन सीतानाथके…' इति। सीतानाथ (सीतापति) के भाव १०० (१ क), १२८ (१ ग) में देखिए। सीतापति कहकर उनको 'शीलनिधान सुसाहिब' जनाया। 'उद्भव-स्थिति-संहार-कारिणी क्लेशहारिणी सर्वश्रेयस्करी' के भी ये नाथ हैं। अतः उनके गुणगणोंका स्मरण करना उचित है, पर मैं चित्तमें नहीं लाता।

टिप्पणी—३ 'कृपासिंधु बंधु दीनके' इति। 'चित करत न हौं हौं' की ही अब व्याख्या करते हैं कि आपके विरुद (यशावली) मैंने सुने हैं और जानता भी हूँ कि आप दयाके समुद्र हैं, आप कृपा करते अघाते नहीं; क्योंकि आप जानते हैं कि जीवमात्रका पालन करनेमें आपके सिवा दूसरा कोई समर्थ नहीं है, दीनोंकी सहायता करनेमें बंधु समान हैं, (यथा 'होहिं कुठायँ सुबंधु सहाए'), आर्तजनोंका हित करनेवाले हैं (गजेन्द्र और द्रौपदी आर्त थे, उनके संकट दूर किये) और शरणागतपालक हैं, प्रणाम करते ही अभय कर देते हैं (जैसे विभीषणको)। यह यश सुने हैं और उदाहरणोंसे जानता हूँ। फिर भी इन गुणोंका आश्रय लेकर शरण

नहीं होता।—यही चित्तमें न लाना और विसारना है।

४ (क) 'सेइ न धेइ न सुमिरि कै···' इति। 'सेवा आदि द्वारा प्रीति न सँवार ली, दृढ़ न कर ली',-इस कथनसे जनाया कि सेवा, ध्यान और स्मरणसे प्रेम दृढ़ होता है। इसीसे सेवा आदिका उपदेश यत्रतत्र किया है। यथा 'जो मन भज्यो चहै हरि सुरतरु।···श्रवन कथा मुख नाम हृदय हरि सिर प्रनाम सेवा कर अनुसरु।२०५।', 'सुमिरिश्र नाम रूप बिनु देखे। आवत हृदयं सनेह बिसेपे। १।२१।६।', 'समुझि समुझि गुनग्राम रामके उर अनुराग बढ़ाउ।१००।' भगवान्के जन सेवा आदि करते हैं, इससे वे प्रेमरस जानते हैं, यथा 'प्रेमभगतिरस हरिरस जानहिं दास।२०३।' ये तीनो (सेवा आदि श्रीभरतजीमें दिखाई हैं। यथा 'नित पूजत प्रभु पाँवरी।१।३२५।' (सेवा) 'पुलक गात हिय सिय रघुबीरू' (ध्यान), 'जीह नामु जप लोचन नीरू' (१।३२६।१ स्मरण)। ❀

४ (ख) 'पाइ सुसाहिब राम सों···' इति। भाव कि कृपासिंधु, दीनबंधु अर्थात् सहज सखा सहायक आदि गुणोंवाले उत्तम स्वामीको पाकर उनकी सेवा करके बिगड़ीको सुधार लेना था, सो न करके उनसे विमुख हुआ। यथा 'ऐसेहु साहिब की सेवा तू होत चोरु रे।···मुनि मन अगमु सुगमु माय बाप सो। कृपासिंधु सहज सखा सनेही आप सो॥ लोक वेद विदित बड़ो न रघुनाथ सो··' इत्यादि (पूरा पद ७१)। पद १५७ में 'सुसाहिब' की व्याख्या और उनकी सेवाका उपदेश है—'सेइये सुसाहिब राम सो। सुखद सुसील सुजान सूर सुचि सुंदर कोटिक काम सो।' सुस्वामीको पाकर भी उनसे उनकी सेवा-स्मरण आदि करके संबंध न कर उनसे विमुख हो कपट-कुचाल कर लोक-परलोक बिगाड डाला। यथा 'राख्यो राम सुस्वामी सों नीच नेह न नातो। ··कियो करैगो तोसे खलको भलो। ऐसे सुसाहिब सों तू कुचाल क्यों चलो।१७६।', 'राम तुम्हसे सुचि साहिबहिं मैं सठ पीठि दई।···कपट करौं अन्तरजामिहुँ सों अघ व्यापकहि दुरावौं।१७१।', 'मैं तो बिगाड़ी नाथ सों आरतिके लीन्हें।१४६।'

❀वै०—'सेइ'=देह बुद्धिसे सेवक सेव्य भावसे प्रेमपूर्वक सेवा-पूजा करके। धेइ अर्थात् जीवबुद्धि रखकर अंश-अंशीभावसे इन्द्रिय मन आदि बटोरकर शुद्ध जीवकी प्रीति प्रभुके चरणोंमें लगाकर। सुमिरि कै अर्थात् आत्मबुद्धि करके सिंधु-तरंगवत् भावसे स्मरण करके।" सेवामें वंदन कीर्तन आदि छः अंग हैं—१०७ (६ ग) देखिए। स्मरणके अनेक लाभ १२८ (१ क) में दिखाये जा चुके हैं।

४ (ग) 'भरि पेट बिगारी' अर्थात् स्वामिद्रोहताका जो फल है वह मुझे मिला; मेरा जीवन नरकरूप हो गया, विधाता वाम हो गए, इत्यादि। यथा 'ते नर नरकरूप जीवत जग भवभंजनपदबिमुख अभागी ।१४०।', 'तुलसी ऐसे प्रभुहि भजै जो न ताहि बिधाता बाम सो ।१५७।' स्वामिद्रोहता और उसका परिणाम ऊपर आ चुका है। ❀ प्रभुसे भी भरपूर बिगाड़ की (प्रमाण ऊपर आ चुके हैं)। पुनः यथा 'जानि पहिचानि मैं बिसारे हौं कृपानिधान, एते मान ढीठ उलटो देत खोरि हौं।···।२५८'

५ 'नाथ गरीबनिवाज ···'इति । (क) भाव कि गरीबके लिये आप 'गरीबनिवाज' हैं, पर मैं गरीब बना ही नहीं, दीनता मुझमें छू भी नहीं गई तब मैं 'गरीबनिवाजी' का अधिकारी ही कहाँ? दीन होकर शरणमें जाता तो आप अवश्य निवाजते, कृपा करते। तात्पर्य कि दोष मेरा ही है, आपका नहीं। गरीबी न ग्रहण की अर्थात् मैं अहंकार, मान और मदमें डूबा रहा।

५ (ख) 'निज ओर ते बनि परे सो कीबी' इति। आगे पद १९५ में भी इसी भावकी विनय है। यथा 'बलि जाउँ हौं राम गुसाईं। कीजे कृपा आपनी नाईं॥' और पूर्व भी कहा है कि 'मेरो भलो कियो राम अपनी भलाईं। हौं तो साईंद्रोही पै सेवक-हित साईं।७२।' भाव यह कि यद्यपि मैं स्वामिद्रोही हूँ तथापि हूँ आपका ही। आप सेवकहितकारी हैं, जैसे पूर्व अपनी सेवकहितता गुणसे मेरा हित किया था, वैसेही अब भी अपनी ओरसे मेरा हित कीजिए।७२ (१ क) देखिए। अपनी ओरसे अर्थात् अपने कृपासिंधु, दीनबंधु, पतितपावन, अशरणशरण, कारणरहित कृपाल आदि गुणोंकी विरुदावलीपर दृष्टि देकर। इस तरह विनय करते हैं, क्योंकि जानते हैं कि अनेकोंका भला अपनी ओरसे करते आये हैं और मेरा भी कर चुके हैं, अतः विश्वास है। यथा 'राम भलाई आपनो भल कियो न काको। जुग-जुग जानकिनाथको जग जागत साको।१५२।', 'मेरो भलो कियो···।७२।', 'मोहिसे बंचकको कृपाल छल छाड़िकै छोह कियो है॥···स्वामीकी सेवकहितता सब कछु निज साईं दोहाई।··· एतेहु पर हित करत नाथ मेरो, करि आयो अरु करिहै। तुलसी अपनी ओर

❀ "भरि पेट बिगारी'— "असत् कर्म करते-करते जीवके परिपूर्ण नाशका उपाय बाँध लिया। पाप कर्मोंसे पेट भर गया, सुकृतके लिये जगह ही न रह गई, तब शरणागतिके आचरण कैसे बन सकें; कुटिल स्वभावसे मान, मद, वैर, विरोध भरा है।"—(वै०)।

जानियत प्रभुहि कनोडोइ भारिहै ।१७१।'— तात्पर्य यह है कि अपना कल्याण स्वयं कर सकूँ, यह मेरी शक्तिके बाहर है।

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु ।

१४६

कहाँ जाउँ कासो कहौं[1] और ठौर न मेरे[2] ।
जनम गँवायो तेरेही[4] द्वार किंकर तेरे[3] ॥१॥
मैं तो बिगारी नाथ[5] सौं[6] आरति[7] के लीन्हे ।
तोहि कृपानिधि क्यों बनै मेरी सी कीन्हे ॥२॥
दिन दुरदिन दिन दुरदसा दिन दुख दिन दूषन ।
जौं[8] लौं तू न बिलोकिहैं रघुबंस बिभूषन ॥३॥
दई पीठि बिनु डीठि मैं[9] तू बिश्वबिलोचन ।
तो सो तुही न दूसरो नत सोच बिमोचन ॥४॥
पराधीन देव दीन हौं[10] स्वाधीन गुसाईं ।
बोलनिहारे सों करै बलि बिनय कि झाईं ॥५॥
आपु देखि मोहि देखिये जन जानिये[11] साँचो ।
बड़ी ओट रामनामकी जेहि लई[12] सो बाचो ॥६॥

---

१ कहो—रा०, डु०, भ० स०। कहौं—भा०, वे०, आ० ।२—३ मेरो, तेरो—दीन, वि० ।४ तेरही—रा० । तेरई—वे० । तेरेहि (द्वार में०)-दीन, वि० । तेरेई (द्वारे)-भा० । (द्वार) तव प्रभु-मु० । तेरेही-ह०, वै०, ७४, डु०, ५१।५ नाथ रा०, ५१, ह०, ७४, आ० । राम-भा०, वे०, प्र०, ज०, १५।६ सौं—रा० । सो-भा०, वे, आ०, ५१। सो—७४, ह०, १५, ज० । ७ स्वारथ-भा०, वे०, ह०, ७४, प्र० । आरति—रा०, ५१, आ०। ८ जौ—रा०, ७४, भ० । जब-५१, आ० । ९ मैं-रा०, ७४, आ०, ५१ । हौं-भा०, वे०, भ०, ह०, प्र० । १० हो—रा०, डु०, भ० स० । हौं—प्रायः औरोंमे ।
११ जानिये—रा०, भा०, वे०, ह०, ज० । जानिय— ७४ । मानिय—आ० ।१२ लई—भा०, वे०, ७४, दीन, वि० । लइ - रा० । लयो - वै०, भ०, ५१, मु० ।

रहनि रीति[13] राम रावरी नित हिय हुलसी है।
ज्यों[14] भावै[15] त्यों करु कृपा तेरो तुलसी है ॥७॥

शब्दार्थ—गँवाना=बिता देना; व्यतीत करना, खोना। लीन्हे=कारण; यथा 'गये जे सरन आरति के लीन्हें।६।';=लिये। क्यों=कैसे, कभी नहीं। क्यों बनै=क्योंकर फब सकता है?=कदापि उचित नहीं। मेरी सी=जैसा मैंने किया है, उसीके अनुकूल।=मेरे (करनीके) समान। अर्थात् जैसेको तैसा। कीन्हे=करनेसे। दुर्दिन, दुर्दशा=बुरे दिन, बुरी दशा (दुर्गति)। दूषण=दोष। दिन=प्रतिदिन; दिनों दिन; नित्य प्रति। यथा 'दानी बड़ो दिन देत दयें बिनु वेद बड़ाई भानी।५।' डीठि (डीठ)=दृष्टि; देखनेकी शक्ति। अर्थात् ज्ञानदृष्टि। बिनु डीठि=दृष्टिहीन; अंधा। पीठि (पीठ) देना=विमुख होना; मुँह मोड़ना।-यह मुहावरा है। विश्वविलोचन=संसारमात्र जिसका नेत्र है एवं सारे संसारका नेत्र। अर्थात् सर्वज्ञ, सर्वद्रष्टा। नत=प्रणत, शरणागत; प्रणाम करनेवाला। झाँईं—प्रतिबिंब, परछाईं। यथा 'ससि महँ प्रगट भूमिकै झाँईं।६।१२।'=प्रतिध्वनि; प्रतिशब्द; बोल या वचनका प्रतिबिम्ब। वह शब्द जो किसी बाधक पदार्थसे टकरानेके कारण लौटकर अपने उत्पन्न होनेके स्थानपर फिरसे सुनाई पड़ता है। इसे फारसीमें 'आवाज़ बाज़गश्त' और अँगरेजीमें ईको (Echo) कहते हैं। आपु=अपनेको; अपनी ओर। रहनि=रहन-सहन; चाल-ढाल, आचार। रीति=व्यवहार। हुलसना=उमड़ना; आनन्द देना; उल्लास पैदा करना। यथा 'संभु प्रसाद सुमति हिय हुलसी।'

पद्यार्थ—कहाँ जाऊँ? किससे कहूँ? मेरा और कहीं ठिकाना नहीं। (मुझ) तेरे किंकर (सेवक) ने तेरे ही द्वारपर सारा जीवन बिता दिया।१। नाथ! आपकी दुहाई। मैंने तो आर्ति (आर्त वा दुखी होने) के कारण अपनी बिगाड़ी (अपना जीवन नष्ट किया, आपसे विमुख रहा)*परन्तु हे कृपानिधान! आपको मेरा सा करना कैसे उचित हो सकता है?।२। हे रघुकुल विभूषण। जबतक आप (मेरी ओर कृपादृष्टिसे) न देखेंगे, तबतक नित्यप्रति दुर्दिन, दिनोंदिन ही दुःख और नित्य ही दूषण लगे रहेंगे।३। मैंने आपको पीठ दी आपसे विमुख हुआ,

लियो—डु०, भ० स०।१३ रामरीति—रा०, प्र०, ज०।१४,१५ ी, तो—रा०।

*अथ यह भी हो सकता है—'हे नाथ! मैंने आपसे आर्तिके कारण बिगाडा'। 'सौं' का अर्थ सौगंद है। 'सो' का अर्थ 'सौगंद' और 'से' दोनो हो सकता है।

क्योंकि) मैं दृष्टिहीन (अंधा) हूँ, परन्तु आप तो विश्वमात्रके नेत्र हैं। प्रणतका शोक छुड़ानेवाला आपके समान आपही हैं, दूसरा नहीं ।४। हे देव ! मैं तो पराधीन और दीन हूँ और हे गुसाईं (स्वामिन्) ! आप स्वतंत्र हैं। मैं बलिहारी जाता हूँ, (भला कहिए तो) क्या बोलनेवालेसे उसका (वा, उसके वचनका) प्रतिबिंब विनय कर सकता है ? (कदापि नहीं । ।५। आप अपनी ओर देखकर (तब) मुझे देखिए और (रामनामकी ओटसे) सच्चा दास जानिए। रामनामावलंब बड़ा भारी अवलंब है, जिसने (यह बड़ी ओट) ली वह बच गया (जन्ममरणसे छूट गया) ।६। श्रीरामजी ! आपका रहन-सहन और रीति मेरे हृदयमें नित्य ही उमड़ती और आनंद देती रहती है। जैसे आपको अच्छा लगे, वैसे कृपा करें; तुलसीदास आपका है ।७।

टिप्पणी—१ 'कहाँ जाउँ कासों कहौं···' इति। (क) पिछले पदमें विनय की थी कि 'प्रभु निज ओर तें बनि परे सो कीबी'। अब उसीको लेकर कहते हैं कि यदि आप मेरी यह विनय नहीं स्वीकार करते तो आपही बतायें कि 'कहाँ जाउँ···'। (ख) कहाँ जाउँ ? भाव कि मुझसे अगुण, अयोग्य, पतित, स्वामिद्रोहीको कोई दूसरा पूछनेवाला नहीं; दूसरा कहीं होता तो आपको बार-बार क्यों पुकारता। यदि कोई आप-सा हो तो बताइए जहाँ जाऊँ ? यथा 'जौं पै कहुँ कोउ बूझत बातो। तौ तुलसी बिनु मोल बिकातो ।१७७।', 'जौं पै दूसरो कोउ होइ। तौ हौं बारहि बार प्रभु कत दुख सुनावौं रोइ।···आपु से कहुँ सौंपिऐ मोहिं जौं पै अतिहि घिनात। दास तुलसी और बिधि क्यों चरन परिहरि जात ।२१७।', 'तौ हौं बार बार प्रभुहि पुकारि कै खिझावतो न जो पै मोको होतो कहूँ ठाकुर ठहरु ।·५०।' (ग)-'कासों कहौं'— भाव कि क्या कोई ऐसा है जिसका पतितपावन नाम हो, जिसको दीन प्रिय हो, जिसने बिरुदकी रक्षा हेतु हठ हठकर अधमोंका उद्धार किया हो, जिसने वानर-भालु-निषादादिको अपना मित्र बनाया, जिसने सकल अंग-विहीनको शरणमें लिया हो, जो आपके समान सुखद सुप्रभु, शीलनिधान, शरणागतप्रिय. सर्वज्ञ, समर्थ, प्रणतपाल और सबका स्वामी हो ? (पद १०१, १५४, १६२, १७७, १७६, २७४)। मेरी समझमें तो ऐसे एक आपही हैं, अतः आपको छोड़ किससे कहूँ ? और सब तो स्वयं मायाके वशमें हैं, भवप्रवाहमें बह रहे हैं—'प्रभु अकृपाल कृपाल अलायक जहँ जहँ चितहि डुलावौं ।२३२।', 'देव दनुज मुनि नाग मनुज सब माया बिबस बिचारे ।१०१।', 'और सकल सुर असुर ईस सब खाये उरग छहूँ ।८६।' (घ) 'और ठौर न मेरें'—भाव कि मेरे

आपही एकमात्र गति हैं, आपके सिवा मेरा सच्चा हितैषी कोई नहीं। अतः न भी अपनायें तो भी मेरे तो एकमात्र अवलंब आप ही हैं आपको छोड़ कहीं जानेका नहीं। यथा 'मेरे रावरिऐ गति है रघुपति बलि जाउँ।१५३।', 'रामराय रावरे बिनु मेरे को हितू साँचो।२७७।', 'भयेहूँ उदास राम मेरे आस रावरी।१७८।', 'जौ तुम्ह त्यागो राम हौं तो नहि त्यागों।१७७।' भाव कि अन्यत्र कहीं ठिकाना नहीं है अतएव अपने यहाँ वास दीजिये। (ङ)—'जनम गँवायो तेरे ही द्वार...' इति। भाव कि जन्म तो आपके ही द्वारकी गुलामीमें समाप्त हुआ, आपका किंकर कहाया, दूसरे किसीकी ओर ताका भी नहीं। यथा 'सेए न दिगीस न दिनेस न गनेस गौरी, हितु कै न माने बिधि हरिऊ न हर।२५०।', 'साँच कैधौं झूठ मोको कहत कोउ कोउ, राम रावरो होंहुँ तुम्हरो जनु कहावौं।२०८।'; सारा जीवन बीत गया यहीं, तो अब कहीं जाने योग्य नहीं हूँ। मेरा अब कौन है? अब तो जो कुछ कहना है सो आपसे ही, दूसरेसे नहीं। पुनः, 'किंकर तेरें' का भाव कि जब तक आपका किंकर न था, तबतक दुःख सहे सो उचित ही था, पर किंकर होनेपर तो मेरा निर्वाह करना चाहिए। यथा 'उचित अनाथ होइ दुखभाजन, भयो नाथ किंकरु न हों। अब रावरो कहाइ न बूझिये सरनपाल सासति सहों।...।तुलसी-प्रभु जब तब जेहि तेहि बिधि राम निबाहे निरबहों।२२१।', 'और मेरे को है काहि कहिहों।२३१।'

टिप्पणी—२(क) 'मैं तो बिगारी नाथ...' इति। पिछले पदमें कहा था 'पाइ सुसाहिब राम सों भरि पेट बिगारी।', क्या बिगाड़ किया, यह १४८ (४ख-ग) में देखिए। अब यहाँ उस बिगाड़का कारण बताते हैं—'आरति'। आर्त होनेसे मैंने बिगाड़ किया, आपके साथ कुचाल की और अपना लोक-बिगाड़ा। आगे भी कहा है कि 'आरत स्वारथी सब कहैं बात बावरी।१७८।', भाव कि इसलिये आप बुरा न मानें। यथा 'रहत न आरतके चित चेतू।२।२६६।', 'अति आरत अति स्वारथी अति दीन दुखारी। इनको बिलग न मानिये बोलहि न बिचारी।३४।'

[दुःखके वश रहा अर्थात् एक तो पूर्वके कर्मोंसे स्वभाव नष्ट था, उसपर कलिकी प्रेरणासे कामादिने घेरा, और विषयोंने मन सहित इन्द्रियोंको वशमें कर लिया। ऐसी विपत्तिमें पडे मुझ अल्पज्ञ जीवको बनने-बिगड़नेकी सुध कैसे रह सकती थी। सब बिगाड़ अज्ञानदशामें हुआ, इससे अनुचित नहीं है। (वै०)]

२ (ख) 'तोहि कृपानिधि क्यों बनै'''इति। आप तो दयाके समुद्र हैं, जीवपर सदा अहैतुकी कृपा करते आये और करते हैं, यह आपका बाना है। अतः आपको तो अपना विरुद पालन करना चाहिए, मेरे अवगुणों पर ध्यान न देना चाहिए। विमुखके साथ विमुखका-सा वर्ताव करना आपको नहीं फबता। मुझ विमुखको अपनी अगाध कृपासे सुधार लेना ही आपको फबेगा। मैं आपसे विमुख हूँ, तो आपको मुझसे विमुख न होना चाहिए।

३ 'दिन दुरदिन दिन दुरदसा'''इति। दोष, गुण, कर्म, काल आदि सब प्रभुके अधीन हैं। दुर्दिन, दुर्दशा, दुःख, दोष आदिके कारण माया, मोह, काल, गुण, स्वभाव हैं। अतः यदि प्रभु कृपा दृष्टि जीवपर डाल दें, तो ये सब डरकर भाग जायँ; इसीसे 'विलोकिये' यह प्रार्थना है, कृपावलोकन न होनेसे ये नहीं जानेके। यथा 'नाथ हाथ माया प्रपंच सब जीव दोष गुन करम काल। तुलसिदास भलोपोच रावरो नेकु निरखि कीजे निहाल।१५४।', 'प्रभुकी विलंब अंब दोष दुख जनैगी।१७६।'

४ 'दई पीठि बिनु डीठि मैं...' इति। अंधा मार्ग छोड़कर दूसरे मार्ग पर चला जाय, तो ठीक है, उसे मार्ग देख पड़ता नहीं तो वह क्या करे? इसी प्रकार मैं ज्ञान-विरागरूपी नेत्रोंसे रहित हूँ। मोह अज्ञानने मुझे अंधा बना दिया; यथा 'मोह न अंध कीन्ह केहि केही।' ज्ञान दृष्टि न होनेसे आपको न देख पाया, कुमार्गपर चल पड़ा, कामादिके वश हो भवपंथमें पड़ गया। अतः मैं बेबस था। पर आप तो विश्वमात्रके नेत्र हैं अर्थात् सबके बाह्यान्तरके प्रकाशक हैं, सबके नेत्र आपसे ही प्रकाशित होते हैं, आप सर्वज्ञ हैं, सर्वद्रष्टा हैं, यथा 'सब कर परम प्रकासक जोई। राम अनादि अवधपति सोई। १।११७।६।' आप मुझे कुमार्गसे हटाकर सुमार्गपर कर दे सकते थे, वैसी दृष्टि मुझे दे दें जिससे विमुख न हो सकूँ। आपके समान प्रणतके शोकको मिटानेवाला दूसरा नहीं है। यथा 'साहिब सरनपाल सबल न दूसरो।', 'बोलको अचल नत करत निहाल को' (१८०); अतएव मुझपर दया कीजिये। यथा 'तोसों नतपाल न कृपाल न कँगाल मोसों, दयामें बसत देव सकल धरम। २४६।'

५ (क) 'पराधीन देव दीन हौं...' इति। अर्थात् आप ब्रह्म हैं, स्वतन्त्र हैं। मैं जीव हूँ, परतंत्र हूँ, मायाके वश हो जानेवाला हूँ। यथा 'परबस जीव स्वबस भगवंता।७।७८।७।', 'माया बस परिछिन्न जड़ जीव कि ईस समान।७।१११।' आप मायाके प्रेरक हैं, वह आपको वशमें

नहीं कर सकती, परन्तु जीवको अपने वश करके उसके स्वरूपको तथा आपको भुलवा देती है। यथा 'माया प्रेरक सीव।३।१५।', 'सो माया प्रभु सों भय भाषै।१।२००।', 'माया बस स्वरूप बिसरायो। तेहि भ्रम तें दारुन दुख पायो।१३६।', 'तव मायावस फिरौं भुलाना। तातें मैं नहिं प्रभु पहिचाना।४।२।६।' पराधीन होनेसे जीव दीन है, उसे सुख कहाँ? यथा 'सो मायाबस भयउ गुसाईं। बँध्यो कीर मरकट की नाईं।७।११७।३।', 'फिरत सदा माया कर प्रेरा। काल कर्म सुभाव गुन घेरा।७।४४।५।', 'तव बिषम माया बस सुरासुर नाग नर अग जग हरे। भवपथ भ्रमत अमित दिवस निसि काल कर्म गुननि भरे।७।१३।', 'देखा जीव नचावै जाही।१।२०२।४।' नाच नाचते नाचते फिरा हूँ, यथा 'नाचत ही निसि दिवस मर्यो।६१।', 'पराधीन सपनेहुँ सुख नाहीं'—वह तो नचानेवालेके अधीन है। मायाके प्रेरक प्रभु ही हैं, यह ऊपर लिखा गया है। प्रभु उसीके द्वारा जीवको नचाते हैं। इससे उनको भी नचानेवाला कहा गया है। यथा 'नट मरकट इव सबहि नचावत। रामु खगेस वेद अस गावत। ४।७।२४।', 'उमा दारु जोषित की नाईं। सबहि नचावत रामु गोसाईं। ४।११।७।' यहाँ 'स्वाधीन गुसाईं' को साथ कहनेसे प्रभु को ही नचानेवाला जनाया है।

५ (ख) 'बोलनिहारे सों करे···' इति। बोलनेवालेसे प्रतिबिंब क्या विनय कर सकता है? इसका अर्थ दो प्रकारसे किया जाता है। एक यह कि बोलनेवाले अर्थात् शरीरधारी चेतन जीवका प्रतिबिंब उसके अधीन है। प्रतिबिंबका नियम है कि शरीरधारी जो आचरण करे वह (छाया) भी उसके अनुसार करे, उसको अपना कोई सामर्थ्य नहीं है कि और कुछ कर सके (या अपने बिंबसे कुछ कह सके कि ऐसा न करो)। वैसे ही नचानेवाले के अधीन मेरा नाच है।—यह अर्थ वै०, दु०, वीरकवि और भ० स० ने किया है।

दूसरा अर्थ यह है कि "बोलनेवालेसे उसकी झाँईं अर्थात् उसके बोल (वचन) का प्रतिबिंब, क्या विनय कर सके, वह तो उसके अधीन है।"- यह अर्थ पं० रामकुमारजीने किया है।

दोनों अर्थों में 'बोलनिहारे' चैतन्यघन परम प्रभु श्रीरामजी हैं और 'झाईं' जड़ जीव है। [यहाँ कहना तो इतना ही है कि मैं जड़ जीव प्रभुसे विनती कैसे कर सकता हूँ? इसीको इस प्रकार घुमाकर कहनेसे यहाँ 'ललित अलंकार' है। मैं विनय करके आपको कैसे प्रसन्न कर सकता हूँ? (वीर)। भाव यह है कि बिना ईश्वरकी प्रेरणाके जीव

क्या कर सकता है? आप कृपादृष्टिसे देखकर प्रेरणा करके मुझसे उचित आचरण करा लीजिए। (वै०)। जीव शेष है, भोग्य है, अंश है, इत्यादि। ईश्वर शेषी है, भोक्ता है, अंशी है, इत्यादि। शेषको कोई अधिकार नहीं है कि वह शेषीसे कह सके कि मुझे इस तरह न भोग कीजिए। भोक्ता शेषी जिस प्रकार चाहे भोग करे।' यहाँ मेरी समझमें उदाहरणका भाव केवल इतना है कि जैसे प्रतिबिंब बोलनेवालेके अधीन है, वैसे ही मैं आपके अधीन हूँ।

श्रीकान्तशरणजीका मत है कि "जैसे बोलनेवालेकी परछाईंमें भी उसीके बोलनेकी चेष्टाएँ प्रकट होंगी परछाईं कोई दूसरे शब्दोंका निर्माण नहीं कर सकती, वैसे ही मैं जो कुछ प्रार्थना भी करता हूँ, यह भी आपके ही प्रकट किये हुए शब्द हैं। तात्पर्य कि आप इन्द्रियोंके स्वामी हैं, मेरी इन्द्रियोंसे चाहें तो अनुकूल आचरण करा लें। मैं केवल दीनता प्रकट करनेके अतिरिक्त और कुछ करनेमें स्वतंत्र नहीं हूँ।"

वियोगीजी—"यहाँ सांख्यतत्त्वका प्रतिपादन किया गया है, न कि अद्वैत वेदान्तका। इसपर उन्हें विचार करना चाहिए जो गोसाईंजीको अद्वैतवादी या मायावादी कहनेका दुःसाहस करते हैं। पराधीन शब्दसे ब्रह्म (?) एवं माया दोनोंका ही पराधीनत्व सिद्ध होता है।"

टिप्पणी—६ 'आपु देखि मोहि देखिऔ···' इति। (क) प्रथम आप अपनी ओर देखें कि आप कितने बड़े हैं, आपकी कैसी विरुदावली है, आप अपने कृपा, दया, भक्तवात्सल्य, करुणा, अधमोद्धारण, पतितपावन, सौशील्य आदि गुणोंपर दृष्टि डालिए। तत्पश्चात् मुझे देखिए कि मैं कैसा छोटा हूँ, दीन, पतित आदि हूँ, फिर भी नामकी ओट लिये पड़ा हूँ, नामकी ओट लेनेसे मुझे अपना सच्चा सेवक जानिए। यथा 'अति अनन्य जे हरिके दासा। रटै नाम निसि दिन प्रति स्वासा। वै० सं० ३६।'—यह अनन्य सेवकका लक्षण है। देख लेनेपर फिर आप अवश्य कृपा करेंगे, यथा 'अंत मेरो हाल हेरि यों न मनु रहैगो', 'बाँकी बिरुदावली बनैगी पालेही कृपाल' (२५६)।

[वै०—"सिद्ध पुरुष मंत्र प्रेरणा करके छाया पुरुषसे सब कार्य करा लेते हैं, इस न्यायसे आप प्रथम मुझपर कृपादृष्टिसे देखें तब मुझे देखें। भाव कि तब यदि मुझमें शरणागतिके सब आचरण देख पड़ें, तो मुझे सच्चा जन मानिये। क्योंकि मुझे भरोसा है कि 'बड़ी ओट···'।']

६ (ख) 'बड़ी ओट रामनामकी···' इति। हमने 'बड़ी ओट राम-

नामकी' को देहलीदीपक मानकर 'जन जानिऔ साँचो' के साथ भी लिया है। रामनामका अवलंब भारी ओट है। 'कैसेउ पाँवर पातकी जेहि लई नामकी ओट। गाँठी बाँध्यो राम सो परिख्यो न फेरि खर खोट ।१६१', 'कैसेहुँ नाम लेहि कोउ पाँवरु सुनि सादर आगे होइ लेते ।२४१' मैंने भी उसकी ओट ली है। यथा 'बड़े कुसमाज राज आजु लों जो पाये दिन, महाराज केहू भाँति नाम ओट लई ॥ रामनामको प्रताप जानियत नीके आपु, मोको गति दूसरी न निरमई ।२५२', 'प्रसाद राम नामके पसारि पाय सूति हैं ॥क०७।६६।' अतएव विश्वास है कि आप कृपा करेंगे ही, यथा 'रामनाम सों प्रतीति प्रीति राखे कबहुँक तुलसी ढरैंगे राम आपनी ढरनि ।१८४' जिसने नामका अवलंब लिया उसका भवभय जाता रहा, यथा 'सोधों को जो नामलाज ते नहि राख्यो रघुबीर ।१४४' अतः मेरी भी रक्षा होगी।

टिप्पणी—७ (क) 'रहनि रीति राम रावरी⋯' इति। "उज्वलता, गुरुता, धर्मनीति आदि जिस आचरणपर आप रहते हैं, उसे 'रहनि' कहते हैं। जिस व्यवहारसे मंत्री, मित्र, सेवक और प्रजा आदिसे बर्ताव करते हैं, वह 'रीति' है।" (वै०)। रहनी यह है कि क्रोध जानते ही नहीं; धीर, गंभीर, सत्यसंध, अमान तथा मानद, स्वयं उठकर दूसरोंको आदर देनेवाले, किसीसे भी घृणा न करनेवाले, सुशील, जनवत्सल, सुकृतज्ञ आदि हैं। रीति यह देखी कि दीनता निवेदन करते ही सब अपराध क्षमा कर देते हैं; सेवकका कोई नाम ले लेता है तो उसपर भी बड़ी कृपा करते हैं—(इसीपर कहा है—'जाने बिनु राम रीति पचिपचि जग मरत ।१३४।); कोई किंचित् सेवा कर देता है तो उसके एहसानसे दब जाते हैं; स्नेहको अंततक निबाह देते हैं। गीध और भीलिनीका श्राद्ध किया, निपादको सखा बनाया, वानरोंको मित्र बनाया और उनको 'खास साहलो' बना लिया। आपकी सब रीति पावन है, यथा 'सुमिरन ही मानै भलो पावन सब रीति ।१०७' (देवताओंकी रीति अपावन है, पहले अपनाते हैं फिर उसीका नाश कराते हैं। यथा 'जूड़े होत थोरे ही थोरेही गरम'। 'प्रीति न प्रवीन, रीतिके मलीन'⋯। रीझिरीझि दिये बर खीझिखीझि घाले घर, आपने की न काहू को सरम ।२४६।')।—यह रहनि-रीति हृदयमे करम तेरे मेरे मन गड़े जाते हैं। हुलसती है, मेरी भी निभ जायगी।

पद १८० में जो कहा है कि 'चंन-कर्म' भी 'रहनि रीति' तो है कि ऐसे स्वामीकों ⋯धु-पूत दूत दसकंध

सराध कियो सबरी जटाइको। लंकजरी जोहैं जिय सोच सो विभीषन को, कहौ ऐसे साहिब की सेवा न खटाइ को। क० ७।२२।' पद २५० में भी कहा है कि आलसी अभागोंको आपने पाला-पोसा है, आर्तकी पुकारपर कभी विलंब नहीं किया, यह "रीति सुनि रावरी प्रतीति प्रीति रावरे सों'—यही उल्लास है।

भाव यह है कि अपनी इस रीतिकी रक्षा करते हुए जो आपसे बन पड़े वह मेरे लिये भी कीजिए, क्योंकि मैं आपका ही हूँ। यथा 'राखें रीति आपनी जो होइ सोई कीजे बलि, तुलसी तिहारो घरजायक है घरको। क० ७।१२२।'

७ (ख) 'ज्यों भावे त्यों करु कृपा…' इति। जैसे भावे तैसे अर्थात् 'कृपा, कोप, सद्भाव, धोखेहु, तिरछेहु' किसी प्रकारसे मेरी ओर देखिए। यथा 'जो चितवनि सोंधी लगै चितइए सवेरे। तुलसिदास अपनाइए कीजै न ढील अब जीवन अवधि निति नेरे।२७३।' ऊपर जो कहा है कि 'दिन दुरदिन…। जौलों तू न बिलोकिहै', उसीके अनुसार यह भाव कहा गया।

'तेरो तुलसी है' अर्थात् 'तवास्मि'। भाव कि अपनेको भलाई सब करते हैं, यथा 'अपनो आपने को भलो कहु सो को जो न चहत।१३३।', इस न्यायसे कृपा कीजिए। फिर आपकी तो यह प्रतिज्ञा ही है कि 'सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते। अभयं सर्वभूतेभ्यो ददामि…'। भाव कि 'अब रावरो कहाइ न बूझिऐ दास सासति सहत।'

सू० शुक्ल—इस पदमें सेवककी स्थिति बतलाई है। ऐसा भाव आनेसे भगवान अवश्य ही कृतार्थ कर देते हैं।

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

१५०

रामभद्र मोहि आपनो सोच है अरु नाहीं।
जीव सकल संताप को[1] भाजन जग माहीं॥१॥
नातो बड़े[2] समर्थ[3] सों एक ओर[4] किधों[5] हूँ।

१ को–रा०, भा०, वे०, ह०, १५। के–५१, ज०, ७४, श्रा०।२ बड़े–रा० ७४, ५१, श्रा०। बडो–वे०, ह०, ङु०, प्र०, ।३ समत्थ–रा०। समर्थ–औरोंमें।४ ओर–भा० वे०, प्र०। ५ धों–रा०, मु०, ङु०, ५१। धौं–भा०, वे०, श्रा०।

तोकों मोसे अति घने मोकों एकै[6] तूँहूँ ॥१॥
बड़ी गलानि हानि[7] हियें सरबज्ञ[8] सुसाईं ।
कूर कुसेवक कहत हौं[9] सेवक की नाईं ॥३॥
भलो पोच रामको[10] कहैं मोको[11] सब नर नारी ।
बिगरैं[12] सेवक स्वान सों[13] साहिब सिर गारी ॥४॥
असमंजसु मन को मिटै सो उपाउ[14] न[15] सूझै ।
दीनबंधु कीजै सोइ[16] बनि परै जो[17] बूझै ॥५॥
बिरुदावली बिलोकियै तिन्हमें कोउ[18] हौं[19] हौं ।
तुलसी प्रभु को[20] परिहरयो सरनागत सो[21] हौं ॥६॥

शब्दार्थ--भद्र=कल्याणस्वरूप । भाजन=पात्र; योग्य । यथा 'लखन कहा जस भाजनु सोई । नाथ कृपा तव जापर होई ।१।२४०।२।' समत्थ=समर्थ । किधौंहूँ=न जाने । तूंहूं=तू ही, तू भी । घने=बहुत । कूर=निकम्मा जो किसी कामका न हो; कुटिल । नाईं=समान; सी । गारी (गाली)=दुर्वचन; निन्दा; बदनामी; कलंक वा लांछन ।

६ एके तू हूं-रा० । एकै तूं-भा०, वे०, ह० । इक तो हू-डु०, ५१, मु०, वै०, भ० । एकइ तू-७४।७ हानि हियें-रा० । हानि हिए है-भा०, वे० । हिय हानि है-७४, भ०, दीन, वि० । हानि है हिये—डु०, भ० स०, मु०, गौ० । ८ सुसाईं--रा०, भा०, वे०, मु०, ७४, डु०, भ० स०, ह० । गुसाईं—डु०, वै०, भ०, दीन, वि० । ९ हो--रा०, डु०, भ० स० । हौ—भा०, वे०, आ० । हैं—ह० । है—७४, १५ । १० राम को कहैं—रा०, ह०, ५१, डु०, वै०, ७४ (कहइँ), दीन, वि० । कहैं रामको—भा०, वे०, प्र०, मु०, भ०, ज० । ११ मोको—रा०, भा०, वे०, प्र०, ज० । मोहिं—ह०, ५१, ७४, आ० । १२ बिगरै--रा०, ह०, ज० । बिगरे--भा०, वे०, आ० । बिगरी—१५।१३ सो--रा०, ७४ । सो--भा०, वे०, ह०, ज० । ज्यो कि—मु० । ज्यो--आ० । १४ उपाउ—रा०, डु०, वै०, ७४ । उपाइ--ह० । उपाय--भा०, वे०, भ०, वि०, दीन, ज , १५।१५ नहि—ह० । १६ सोइ बनि--रा०, वि० । सोई बनि—ह०, ५१, ७४, आ० । सोइ बन—भा०, वे० । १७ सो--ह०, ज० । १८ कोइ—५१, डु०, भ० स०, वै०, । कोई—भ० । को--मु० । कोउ--रा०, आ० । कोऊ—भा०, वे० । १९-२१ हौं हौं, सोहो--रा० । हौ हौं, सौ हौ—७४ । हौ हौ, सो हौ-ह०, आ० । हो हौं सो हौ—भ० । होहूं, सोहूँ-भा०, वे० । २० बयो—ह०,१५ ।

पद्यार्थ—हे श्रीरामभद्रजी! मुझे अपना शोच है भी और नहीं भी। (क्योंकि) संसार में जीव समस्त संतापोंका पात्र है ।१। नाता (तो) वडे समर्थ (स्वामी) से (किया) है (पर) न जाने एक ओरका (ही तो नहीं) है *। तुझको मुझ ऐसे अत्यन्त वहुत हैं (परन्तु) मेरे लिये (तो) एकमात्र (एक ही) तू ही है ।२। आप सर्वज्ञ हैं, सुन्दर स्वामी हैं और मैं कुटिल निकम्मा कुत्सित सेवक हूँ पर वातें करता हूँ उत्तम सेवककी सी,—यह वड़ी ग्लानि मेरे हृदय में है और हानि (अर्थात् इसे मैं अपनी हानि मानता हूँ) ।३। भला हूँ या वुरा (पर) सव स्त्री पुरुष मुझको 'रामका' (अर्थात् रामदास) कहते हैं। सेवक वा श्वानसे (तो) विगड़ती है (पर) लांछन स्वामीके सिर मढ़ा जाता है ।४। जिससे मेरे मनका असमंजस मिटे वह उपाय मुझे नहीं सूझता। हे दीनवंधु! आप वही कीजिए जो आपसे वन पड़े (हो सके) जो आपको समझ पड़े ‡ ।५। (तनिक अपनी) विरुदावली पर दृष्टि डालिये, (देखिए) उनमेंसे मैं भी कोई हूँ? (अर्थात् उनमें कहीं मेरी भी समाई है, किसीमें मुझे स्थान मिल सकता है? भाव कि देखनेसे उनमें कोई योग अवश्य लग जायगा)। तुलसीदासजी कहते हैं कि शरणागतको सदा सम्मुख प्रभुने किसका, एवं

---

*अर्थान्तर—(१) अथवा एक ओर मैं (अधम दास) हूँ। भाव कि कहाँ आप इतने वडे स्वामी और कहाँ मैं अधम सेवक हूँ। (वीर) ।२ (शोच इस वातका है कि तुझ) वडे समर्थ से नाता सो क्या एकही (केवल मेरी ही) ओरसे है। (वै०, भ०, डु०, भ० स०, पो०) ।३ परन्तु यह तो वतलाइये कि आपने भी अपने संवधियोंकी श्रेणीमे मुझे एक तरफ स्थान दिया है या नहीं। (दीनजी)। ४ पर यह तो वतलाओ कि क्या आप जैसे वड़े समर्थसे सिर्फ एक ही ओरसे सवध है? क्या जिस प्रकार मैं आपको अपना मानता हूँ वैसे आप मुझे न मानेंगे? एकाङ्गी प्रेम रक्खेंगे क्या? (वि०) ।५ मेरा नाता वडे समर्थ स्वामी आपसे है, यह नाता एक (मेरी) ही ओरसे है, अथवा (सचमुच) है। अर्थात् आपने भी मान लिया है। (श्री० श०)।

‡अर्थान्तर—वही कीजिए जिसमे वव पडे वह आप वूझें (विचारें), अथवा मुझे वूझ पडे। (पं० रा० कु०)—यह अर्थ 'वनि परे सो वूझै' पाठका जान पड़ता है।

प्रभुने किस सम्मुख शरणागतका, परित्याग किया ? (किसी का भी तो नहीं । तब मेरा त्याग क्यों करेंगे ?) ❀❀ ६।

टिप्पणी—१ 'रामभद्र मोहि आपनो सोच...' इति। (क) 'रामभद्र' संबोधन देकर 'मोहि आपनो सोच है' कहनेका भाव कि आप कल्याण-स्वरूप हैं, जगत्के अभ्युदयके कारणभूत हैं, सदा सबका दारुण दुसह दुःख दूर कर कल्याण करते आये हैं, यह यश सुनकर मैं भी शरणमें आया, (यथा 'दुखित देखि संतन्ह कह्यो सोचै जनि मन माहूँ । तोसे पसु पाँवर पातकी परिहरे न सरन गयें रघुबर ओर निबाहूँ ।२७५।', 'पाहि पाहि राम पाहि रामभद्र रामचंद्र श्रवन सुजस सुनि आयो हौं सरन । दीनबंधु दीनता दरिद्र दाह दोष दुख दारुन दुसह दर दरप हरन ।२४८।', परन्तु मेरा कल्याण नहीं हो रहा है, मेरी सुनवाई नहीं हो रही है। शोचका कारण आगे और भी कहते हैं, यहाँ 'रामभद्र' शब्दकी उपयुक्ततामें यह भाव कहा गया।

☞ स्मरण रहे कि श्रीराम, रामचन्द्र और रामभद्र ये श्रीरघुनाथजीके मुख्य नाम हैं। भगवान् शंकरने अष्टोत्तरशत नामोंमें सर्वप्रथम इन्हींको गिनाया है। यथा 'ॐ श्रीरामो रामचन्द्रश्च रामभद्रश्च शाश्वतः। राजीवलोचनः श्रीमान् राजेन्द्रो रघुपुङ्गवः ॥' (प० पु० उत्तर २८१। ३०)। गोस्वामीजीने इन तीनों नामोंका प्रयोग विनयमें किया है। पद ७४ में कहा था कि श्रीरामचन्द्रजी भद्रसिन्धु और दीनबंधु हैं; यथा 'भजि उदार रामचंद्र, भद्रसिंधु दीनबंधु वेद बदत रे।' इन्हीं दो गुणोंको

❀❀अर्थान्तर—१ (कदाचित् विरुदावलीमे कही सबंध न मिलनेसे आप मुझे त्याग दे तो) प्रभुका त्यागा हुआ तुलसी सामने शरणागत होकर पड़ा रहूँगा (अन्यत्र न जाऊँगा, तब तो कृपा करनी ही पडेगी) ।—(वै०, भ०, वि०, दीनजी) ।२—प्रभुसे त्यक्त होनेपर भी तुलसी शरणमे प्राप्त होकर सम्मुख ही रहेगा। अथवा, यदि किसी विरुदावलीमे न स्थान पाने योग्य निश्चित होऊँ, तो मैं बताता हूँ कि "मैं तो शरणागत तुलसी हूँ जिसने आपसे प्रभुको छोड़ दिया है अर्थात् आप जैसे स्वामीसे विमुख है।" (डु०, भ० स०)। ३ "दास न सही तो सन्मुख शरण आया हुआ तुलसी आपके द्वारा त्यागा जीव है।"। यहाँ संबध सूचित करने की व्यञ्जना है कि दासका सम्मान नही प्राप्त है, किन्तु आपसे तिरस्कृत होनेका नाता तो अवश्य है। तुलसी आपको छोड़कर अब अन्यत्र नहीं जा सकता। यह गूढ व्यंग्य है। (वीर)। ४ अर्थ यों भी हो सकता है—(मेरा यह नाता तो है ही कि—) तुलसी 'सम्मुख शरणमे प्राप्त प्रभुसे त्यागा हुआ' है।

लेकर यहाँ विनय कर रहे हैं। प्रारंभमें 'रामभद्र' संबोधन है, अन्तमें 'दीनबन्धु'।

स्कन्द पु० ब्राह्मखण्ड सेतुमाहात्म्य प्रसंगमें सूतने कहा है कि रावण-वधके पश्चात् दण्डकारण्यके मुनि श्रीरामजीके दर्शनको आये और उनकी स्तुति की। उन्होंने स्तुति करते हुए कहा है—'जगत्के अभ्युदयके कारणभूत आप श्रीरामभद्रको नमस्कार है'।

१ (ख) 'अरु नाहीं।...' इति। शोच नहीं भी है, इसका कारण बताते हैं कि संसारमें जीव संतापोंके पात्र हो रहे हैं। सबको अपने शुभाशुभ कर्मोंका फल भोगना पड़ता है, सभी भोग रहे हैं तब मुझे क्यों न भोगना पड़े? जो सबकी दशा है वही मेरी है, अतएव शोच करना व्यर्थ है, यह समझकर संतोष हो जाता है, इससे शोच नहीं है। संतापके पात्र हैं, यथा 'जीव करम बस सुख-दुख-भागी।२।१२।४।', 'दुख-सुख जो लिखा लिलार हमरें जाब जहँ पाउब तहीं।१।६७।' (श्रीपार्वतीजीने 'अस विचारि सोचहि मति माता'—यह कहकर उसका कारण 'दुख-सुख...' यह बताया है),—५७ (८ ख), १४३ (२ ख) देखिए। भगवान् ऋषभदेवने भी अपने पुत्रोंसे कहा है कि 'सर्वत्र जन्तोर्व्यसनावगत्या' अर्थात् 'जीवको सर्वत्र दुःख ही उठाना पड़ता है' यह विचार करे। (भा० ५।५।१०)।

सू० शुक्ल—"जीवके लिये सोच होना और सोच न होना दोनों है, क्योंकि परमात्मासे अलग हो जानेसे तो सोच है और जीव दुःखरूप है ही, तो इसमें सोच क्या? 'सोच नहीं' इसलिये कि सर्वशक्तिमान परमात्मा व जीवात्माका पूरी रीतिसे सम्बन्ध है। अर्थात् अज्ञानसे जीवदशामें है, वास्तवमें परमात्मासे भिन्न नहीं है; ऐसी भावनासे 'न शोचति न कांक्षति'। 'सोच' इसलिये कि जीवदशामें बहुरूपकी प्रतीति, असमर्थ होके भी भक्तशिरोमणि मानना मनका द्विविधा आदि।"

नोट—'अपना सोच नहीं है' इसमें यह भी भाव कहा जाता है कि आपका सोच अवश्य है कि आपकी अपकीर्ति न हो। यथा 'आपनो न सोचु स्वामी-सोच ही सुखात हौं। क० ७।१२३।', 'चिंता मोहि अपार, अपजस जनि होइ तुम्हार।१८५।', 'मेरी तो थोरी है, सुधरैगी बिगरियौ, बलि राम रावरी सों, रही राम रावरी चहत।२५६।'

टिप्पणी—२ (क) 'नातो बडे समर्थ सों...' इति। आप बडे समर्थ हैं, आपसे नाता जोड़ा। यथा 'साहिब सरनपाल सबल न दूसरो।१८०।' 'तोहि मोहि नाते अनेक मानिये जो भावै।७९।', 'नातो नेहु नाथ सों

करि सब नाते नेह बहैहौं ।१०४।' 'स्वामी समरथ ऐसो हौं तिहारो जैसो तैसो ।२५३।' 'एक ओर किधौंहूँ' अर्थात् कहीं एकांगी, एकतर्फ़ा तो नहीं है ? (पूर्व मनको उपदेश कर आये हैं कि 'एक अंग मग अगम गवन करि बिलमु न छन-छन छाहें। तुलसी हित अपनो अपनी दिसि निरुपधि नेम निबाहें ।६५।'—संभव है कि इससे यह विचार उठा हो कि मैंने तो नाता जोड़ा, पर प्रभुने न माना हो)। और भाव टीकाकारोंके पद्यार्थकी पाद-टिप्पणीमें आ गए हैं।

२ (ख) 'तोकों मोसे अति घने ···' इति। 'एक ओर किधौंहूँ' इस संदेहका कारण वा समाधान करते हैं कि मेरे ऐसे तो आपके बहुत हैं, अतः आपको मेरी पर्वाह क्या ? मेरी पूछ क्यों करने लगे ? परन्तु 'मोको एकै तूं हू', मेरे लिए तो तूही एक ही है दूसरा नहीं। यथा 'तुलसी तिहारो तुम्ह ही पै तुलसीके हित, राखि कहिहै तो ह्वै है माखी घिय की। २६३।', 'दीनबंधु दूरियौ किये दीनको न दूसरो सरन ।२५७।' 'और मेरे को है काहि कहिहौं ।२३१।', 'भयेहुँ उदास राम मेरें आस रावरी ।१७८।', 'गरैगी जीह जौं कहौं और को हौं ।२२६।'

३ 'बड़ी गलानि हानि ··' इति। 'ग्लानि हानि' है, यह आप जान सकते हैं, जानते हैं, क्योंकि सर्वज्ञ हैं, भीतर बाहरकी सबकी जानते हैं, आपसे कुछ छिपा नहीं है। यथा 'झूठो क्यों कहौंगो जानो सबही के मनकी ।७५।' क्या ग्लानि है, यह उत्तरार्धमें कहते हैं कि 'कूर कुसेवक ···'। मैं हूँ तो कुटिल और कुसेवक, पर बातें करता हूँ जैसा कुछ सुसेवक कहा करते हैं। श्रीराम सुस्वामी हैं और मैं कुसेवक हूँ, यथा 'राम सुस्वामि कुसेवक मोसो ।१।२८।४।' शंकरजी जिनकी सेवा चाहते हैं, मुनि आदि को भी जो ध्यानमें अगम हैं आप ऐसे सुस्वामी हैं; यथा 'सुमिरि सप्रेम नाग जासों रति चाहत चंद्रललाम सो ।१५७।' भला सुस्वामीका कुसेवकसे नाता कैसा ? फिर भी मैं सेवक बनता हूँ और सुसेवकोंका-सा फल चाहता हूँ, यथा 'चाहत मुनि मन अगम सुकृत फल मनसा अघ न अघाति। २३३।', 'राग-रोष-इरिषा-कपट-कुटिलाई भरे तुलसी-से भगत भगति चाहैं रामकी ।क०७।११६।'

श्रीयामुनाचार्यजीने भी कहा है—'धिगशुचिमविनीतं निर्दयं मामलज्जं परमपुरुष! योऽहं योगिवर्याग्रगण्यैः। विधिशिवसनकाद्यैर्ध्यातुमत्यन्तदूरं तव परिजनभावं कामये कामवृत्तः। आलवंदार ४७' अर्थात् हे परमपुरुष प्रभो! मुझ अपवित्र, धृष्ठ, (उद्दण्ड) निष्ठुर एवं निर्लज्जको बार-बार धिक्कार है, जो कामाचारी होकर भी आप जैसे, योगियोंमें श्रेष्ठ

ब्रह्मा-शिव-सनकादिके भी ध्यानमें न आनेवाले, भगवान्की परिजनभावनाकी (एकान्त भृत्तभावकी, परिकर होनेकी) कामना करता हूँ।

['ग्लानि हानि' पर टीकाकारोंके भाव—'मैं तो सेवक बना समर्थ स्वामीका और उनके भरोसे हूँ। परन्तु यदि वे मुझे सेवक नहीं मानते तो आगे बड़ी हानि है, यह सोचकर बड़ी ग्लानि है कि स्वामी सर्वज्ञ हैं और मैं छली नमकहराम कुसेवक होता हुआ उत्तम सेवक को-सी बना-बनाकर कहता हूँ, उनसे छिपेगा नहीं। अतः शोच है कि मेरी कैसे बनेगी।' (वै०) प्रायः भट्टजी, वियोगीजी, श्रीकान्त-शरणजीने यही भाव अपने-अपने शब्दोंमें कहे हैं। किसीने लिखा है कि प्रेम कम हो जानेका भय है, यह हानि है।] दीनजी लिखते हैं कि कुसेवक होकर सुसेवककी-सी बातें करना, इसे मैं एक हानि भी मानता हूँ।—मेरी समझमें इसीको हानि कहा है और इसमें भाव यह है कि मुझे अपने योग्य सेवक बना लीजिए। यथा 'लोग कहैं और हौंहु कहौं जन खोटो खरो रघुनायक ही को। रावरी राम बड़ी लघुता, जसु मेरो भयो सुखदायक ही को॥ कै यह हानि सहौ बलि जाउँ कि मोहू करौ निज लायक ही को। आनि हिये हित जानि करौं, ज्यों हौं ध्यान धरौं धनुसायक ही को। क०७।५६।', 'दूरि कीजै द्वार ते लालची लबार प्रपंची, सुधा सो सलिल सूकरी ज्यों गहडोरिहौं॥ राखिए नीके सुधारि…।२५८।'

टिप्पणी—४ (क) 'भलो पोच रामको कहैं मोको…' इति। सब लोग मुझे 'रामका' कहते हैं, पूर्व भी तथा अन्यत्र भी यह बात कही है, यथा 'लोगु कहै रामको गुलामु हौं कहावौं।७२।' और मैं भला-बुरा जो भी हूँ पर हूँ आपका ही; यथा 'साधु कै असाधु कै भलो कै पोच, सोच कहा का काहूके द्वार परौं, जो हौं सो हौं रामको। क० ७।१०७।' 'भलो पोच' कहकर 'रामको कहैं…' कहनेका भाव कि मैं भला हूँ या बुरा, यह तो आपही जानते हैं, दूसरे क्या जानें? पर कहते सब मुझे आपका ही हैं। इसमें अभिप्राय यह है कि आप भी यह जानकर कि मैं आपका हूँ मुझे अपना लीजिए। यथा 'तुलसी है बावरो सो रावरोई रावरी सौं, रावरेऊ जानि जिय कीजिए जु अपने।क० ७।७८।'

४ (ख) 'बिगरैं सेवक स्वान सों…' इति। यह लोकरीति दिखाते हैं कि सेवक और कुत्ते तो काम बिगाड़ते हैं (बुराई करते है। दूसरोंको हानि पहुँचाते हैं), पर गाली पाता है उनका निरपराध स्वामी। सेवक और कुत्तेके दोषोंका उत्तरदायित्व स्वामीके मत्थे मढ़ा जाता है कि ऐसा कुसेवक, ऐसा कटहा कुत्ता क्यों रक्खा? भाव कि मेरे दोष खुलनेपर

दूषण आपको लगेगा;—यह भी शोच मुझे है कि मेरे कारण आपकी अपकीर्ति होगी। अतः शीघ्र सुधार लीजिए। देखिए, भगवान्‌ने श्रीसनकादिकजीसे कहा है कि मेरे अनुचरों द्वारा आपका जो तिरस्कार हुआ है, उसे मैं अपनेही द्वारा किया हुआ समझता हूँ। क्योंकि सेवकोंके अपराध करनेपर लोग उनके स्वामीका ही नाम लेते हैं। उसका वह अपयश उसकी कीर्तिको इस प्रकार दूषित कर देता है, जैसे चर्मरोग त्वचाको।—"तद्धीत्यात्मकृतं मन्ये यत्स्वपुम्भिरसत्कृताः॥ यन्नामानि च गृह्णाति लोको भृत्ये कृतागसि। सोऽसाधुवादस्तत्कीर्तिं हन्ति त्वचमिवामयः। भा० ३।१६।४-५।"—["लोग यह कहेंगे कि देखो तो रामका भक्त होकर यह विषयोंकी भक्ति कर रहा है, शायद राम भी ऐसे ही कार्योंका समर्थन करते हैं। भाव कि मुझे विषयोंके फंदेसे मुक्त कीजिए।" (दीनजी)। "यदि मैं खोटाई करूँगा तो लोग कहेंगे कि बुरा हो उस रामका, जिसके ऐसे-ऐसे नीच सेवक हैं।" (वि०)]

५ (क) 'असमंजसु मन को मिटै …' इति। द्विविधा-ऊपर कह आए हैं। 'यह दुविधा कि मैं खोटा हूँ, अतः मालिकपर भी बट्टा लगता है, खरा हो नहीं सकता, क्योंकि स्वभावसे ही मुझमें खोटाई भरी है। यह भी चाहता हूँ कि मैं चाहे जैसा बना रहूँ, पर मेरे कारण मालिककी बदनामी न हो, सो भी नहीं हो सकता, दिनरात इसी असमंजसमें पड़ा सोचा करता हूँ।" (वि०)। 'सो उपाउ न सूझै'—भाव कि यदि कहा जाय कि सुसेवक बननेका उपाय क्यों नहीं करते, उपाय करके शुद्ध हो जा; तो उसपर कहते हैं कि मैंने अनेक उपाय सोचे पर हार गया,—'करतहु सुकृत न पाप सिराहीं'। पूर्व मनके सुधारके संबंधमें यह बात कह आये हैं। यथा 'हौं हारयो करि जतन बिबिध बिधि अतिसय प्रबल अजै।८६।', 'हारि परयो करि जतन चहूँ बिधि ताते कहत सबेरो। १४३।'; वैसे ही यहाँ 'असमंजस' मिटानेके संबंधमें अनेक उपायोंको सोचना कहा। यहाँ करना नहीं कहते, केवल सोचना और उनको विचारकी कसौटी पर परखना जनाया, परखमें वे कोई इस योग्य नहीं देख पड़े। अतः 'उपाउ न सूझै' कहा।

५ (ख) 'दीनबंधु कीजै सोइ बनि परै….' इति। भाव कि सब पुरुषार्थ करके मैं हार गया, अब बहुत दीन हूँ और आप दीनबंधु हैं, अतः आप स्वयं ही वही उपाय करें जो आपकी समझमें आवे तथा जो आपसे बन पड़े। एक अर्थ यह भी हो सकता है कि 'जो सूझने से बनत बन जाय वही उपाय सोचिए', परन्तु

विशेषता पूर्वोक्त अर्थमें ही है। पूर्व भी कह आए हैं— 'तुलसी प्रभु निज ओर ते बनि परै सो कीबी ।१४१।', भेद केवल इतना है कि वहाँ 'विरुदावली सुनि जानि बिसारी' और 'मैं गही न गरीबी' दशा थी और अब दीन हैं, दीनबन्धु जानकर विरुदावलीका सहारा लेकर विनय की है। अब सब 'छरुभार' प्रभुके ऊपर छोड़ रहे हैं।

[वियोगीजी लिखते हैं कि "यही बन पड़ेगा कि सेवकपर कृपा करेंगे। क्योंकि यदि दंड देंगे तो संसार हँसेगा और कहेगा कि ये कैसे राम हैं, जो अपने सेवककी ऐसी दुर्दशा देख रहे हैं। इसमें भी बदनामीका डर है। इसलिये कृपा ही करते बनेगी"। क्या बन पडेगा, इस प्रश्नका यहाँ प्रयोजन नहीं है, फिर भी इसका उत्तर गोस्वामीके अन्य पदोंमें है। यथा 'कहेही बनैगी कै कहाए बलि जाउँ राम तुलसी तू मेरो....। २५०।', 'बारक कहिये कृपाल तुलसी है मेरो ।१४६।', 'असमंजस मों मगन नो लीजै गहि बाँहीं। बारक बलि अवलोकिए कौतुक जन जी को। अनायास मिटि जाइगो संकट तुलसीको ।१४७।', 'तुलसिदास निज गुन विचारि करुनानिधान करु दाया ।१७८।' इत्यादि।]

टिप्पणी—६ "विरुदावली विलोकिये ..." इति। (क) पतितपावन प्रणतपाल, अशरण-शरण ये आपके बाँके विरुद हैं। (२१०)। दीनबंधु, कृपासिंधु, आरत-हितकारी, आश्रितवात्सल्यजलधि, करुणानिधान, शरणागतपालक आदि आपके अगणित विरुद हैं। इन विरुदोंमें देखिए कि इनमें मेरा कहीं स्थान है। अर्थात् पतित, प्रणत, अशरण, दीन, कृपाका पात्र, आर्त, आश्रित, कृपण, शरणागत आदिमेंसे कोई भाव मुझमें हो तो अपने उस विरुदको चरितार्थ कीजिए। प्रार्थीने अपनेमें सब भाव दिखाये हैं। पद ७९,९४,२४२ आदि देखिए।

६ (ख) 'तुलसी प्रभु को परिहर्‌यो...' इति। पिछले पदमें कहा है कि प्रभु 'सुमिरत-सब्जा' और 'शरणागत सोहों' हैं, वही यहाँ कहते हैं कि 'शरणागत सोहों' प्रभुने किसका कभी त्याग किया है, तब मुझ शरणागतका त्याग कैसे करेंगे, मैं भी शरण सम्मुख हूँ, अतएव विरुदपर विचारकर अवश्य कृपा करेंगे। यथा 'तदपि सरन सनमुख मोहि देखी। छमि सब करिहहि कृपा बिसेषी ।२।१८३।'—अन्य अर्थों और उनके भावोंको पदार्थकी पाद-टिप्पणीमें देखिए।

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

१५१ (४१)

जो पै चेराई रामकी करतो[1] न लजातो।
तो तूं दाम कुदाम ज्यों कर-कर न बिकातो ॥१॥
जपत जीह रघुनाथ को नाम नहिं[2] अलसातो।
बाजीगर के सूम ज्यों खल खेह न खातो ॥२॥
जौं[3] तूं मन मेरें कहें राम काम[4] कमातो।
सीतापति सनमुख सुखी सब ठीयँ[5] समातो ॥३॥
राम सोहाते तोहि जो तूं सबहि सोहातो।
काल करम कुलि[7] कारनी * कोऊ न कोहातो[8] ॥४॥
रामनाम अनुराग ही जिय जो रतिआतो।
स्वारथ-परमारथ-पथी तोहि सब पतिआतो ॥५॥
सेइ साधु सुनि समुझि कै पर-पीर पिरातो।
जनमकोटि को कँदैलो[9] हृद हृदय थिरातो ॥६॥
भव मग अगम अनंत है बिनु स्रमहिं सिरातो।
महिमा उलटे नामकी मुनि कियो[10] किरातो ॥७॥
अमर अगम तन पाइ सो जड़ जाय न जातो।
होतो मंगलमूल तू अनुकूल बिधातो ॥८॥
जो मन[11] प्रीति प्रतीति सों रामनामहिं रातो।

---

१ करते–७४, वै०, डु० ।२ न–मु० ।३ जो–भ०, ५१, वै०, मु० । ४ राम काम–रा०, भा०, वे०, डु०, ह०, प्र०, ज०, ७४ । रामनाम–५१, आ० । हरिनाम–मु० । ५ ठांव—आ० । ठाउँ—ह०, ७४ । ठायँ—रा०, भा०, बे० । ६-८ सुहातो, कुहातो—भा०, वे०, मु०, वै०, ७४ (कोहातो) । * इसके पूर्वका पाठ सं० १६६६ का नही है, वह पन्ना १७ मे था जो पन्ना पोथीमे नही है । इसके आगेसे उस पोथीका पाठ है । ७ कुलि–रा०, भा०, प्र०, डु०, १५, ज० । कुल–वे०, ह०, आ० । ९ कँदैलो–६६, रा०, भा०, वे०, डु०, दीन । कांदलो–ह०, ७४, आ० । १० किये–वे०, डु० । भयो–भ० । कियेउ–७४ । ११ जन–भा०, वे०, ह०, रा०, १५, प्र०, ज० । मन–६६, ७४, आ० ।

तुलसी राम प्रसाद[12] सो तिहुँ[13] ताप न[14] तातो ॥६॥

शब्दार्थ—चेराई=सेवा; गुलामी; दासत्व। लजातो=शरमाता; संकोच करता। कुदाम=खोटा रुपिया पैसा आदि कोई सिक्का। दाम=खरा सिक्का। बिकाना=बेचा जाना। ('हाथों हाथ बिकाना' मुहावरा अच्छे अर्थमें प्रयुक्त होता है, वह अर्थ यहाँ नहीं है। विशेष टिप्पणीमें देखिए)। हाथ बिकना=गुलाम होना। अलसाना=आलस्य (सुस्ती) वा प्रमाद करना। बाजीगर=मदारी; इन्द्रजाल वा जादूका खेल करनेवाला। खेह=धूल; राख। कहें=कहनेसे, उपदेशसे। काम=सेवा। कमाना=कर्म संचय करना; उद्यम या धंधा करके धन संचय करना। रामकाम कमाना=रामदास होना; रामसेवारूपी धन संचय करना। समाना=प्रवेश वा पैठ होना। सब ठाँय समाना=सर्वत्र आदर होना। कारनी (सं० कारण वा करणसे)=करानेवाला; प्रेरक। कुलि कारनी=सब कुछ करानेवाले। यहाँ काल कर्मके साहचर्यसे इस शब्दसे गुण-स्वभाव आदि अभिप्रेत हैं। तन्त्रानुसार प्रकृति, काल, आकाश, तेज, जल, वायु आदि पदार्थों को 'कुल' कहते हैं। कोहाना=रूठना; क्रुद्ध होना। रतिआना=प्रेम करना; अनुरक्त होना; लगन लगाना। पथी=पथिक; यात्री। पतिआना=विश्वास करना। यथा 'गुर पितु मातु न जानउँ काहू। कहउँ सुभाउ नाथ पतिआहू ।२ ७२।४।' पिराना=पीड़ित वा दुःखी होना। पीर=पीड़ा; दुःख। कँदैला=गँदला; मलयुक्त; मलिन। ह्रद=कुंड; तालाब। थिराना=निर्मल हो जाना। सिराना=समाप्त वा खतम होना; चुक जाना। जाय=व्यर्थ। रातो=रंग जाता, प्रेम करता। तातो=तप्त होता; जलता। प्रसाद=प्रसन्नता; कृपा।

पद्यार्थ—(रे मन!) यदि तू श्रीरामचन्द्रजीकी सेवा करते न लजाता (शरमाता), तो खरा सिक्का होकर खोटे सिक्केकी तरह हाथ-हाथ (एकके हाथसे दूसरेके हाथोंमें) न बिकता फिरता।१। यदि जिह्वासे श्रीरघुनाथजीका नाम जपनेमें आलस्य न करता, तो, अरे दुष्ट! बाजीगरके सूम (कंजूस) के समान तू धूल न फाँकता।२। रे मन! यदि तू मेरे कहनेसे रामसेवारूपी कर्मधर्म संचय करता अर्थात् रामदास होता, तो श्रीसीतापतिके सम्मुख और सुखी होकर सभी स्थानोंमें तेरा प्रवेश होता

---

१२ प्रताप—रा०, भा०, वे०, ह०। प्रसाद—६६, ५१, आ०, ७४। १३ ते—भा०, वे०, ७४, ह०। सो—६६, रा०, ५१, ज०, आ०।१४ नसातो—ह०, मु०, ५१। न तातो—६६, रा०, भा०, वे०, आ०।

(अर्थात् सब तेरा आदर और तुझसे प्रेम करते)।३। यदि श्रीरामजी तुझे अच्छे लगते, तो तू सबको अच्छा लगता। काम, कर्म, गुण, स्वभाव आदि जो सबके प्रेरक हैं—ये तथा कोई भी तुझपर रुष्ट न होते (अर्थात् तेरे प्रतिकूल न होते)।४। रे जीव (या मन)! यदि तू रामनामानुराग-हीसे लगन लगाता प्रीतिमान होता (अर्थात् रामनामानुरागहीकी उत्कट चाह जीमें होती), तो स्वार्थमार्गी तथा परमार्थमार्गी सभी तुझपर विश्वास करते (अर्थात् स्वार्थपरायण एवं परमार्थी जीव दोनों ही आदर करते)।५। साधुसेवा करके, (वे दयालु होते हैं, उनके मुखसे उपदेश) सुन और समझकर पराये दुःखसे दुःखी होता, करोड़ों जन्मोंका गँदला हृदयरूपी कुण्ड थिराकर निर्मल हो जाता।६। भवमार्ग बड़ा कठिन और अनन्त (जिसका अन्त नहीं) है, वह विना परिश्रमके (सहज हीमें) चुक जाता। (देख) उलटे नाम (मरा-मरा) की महिमा कि उसने किरात (भील, व्याध) को मुनि बना दिया। (तब शुद्ध नामकी महिमा क्या नहीं कर सकती?)।७। रे मूर्ख! देवदुर्लभ शरीर जो तूने पाया, वह व्यर्थ न जाता। तू मंगलका मूल होता और विधाता तेरे अनुकूल हो जाते।८। तुलसीदासजी कहते हैं—रे मन! यदि तू प्रेम और विश्वास-पूर्वक रामनामहीमें रँग जाता, तो श्रीरामजीकी कृपासे तीनों तापोंसे न जलता।९।

टिप्पणी—१ 'जो पै चेराई रामकी…' इति। पूर्व कह आये हैं कि 'ऐसेहु साहिब की सेवा तूं होत चोरु रे।७१।'; उसी संबंधसे यहाँ कहते हैं कि तू उनकी सेवा करनेमें लजाता है, इसीसे तू खोटे सिक्केकी तरह मारा-मारा फिरता है। यदि सेवा करनेमें लज्जा न लगती तो द्वार-द्वार मारा-मारा न फिरता। यहाँ 'दाम-कुदाम ज्यों' यह उदाहरण देकर जनाया कि जैसे खरा सिक्का होनेपर भी यदि वह सरकारी टकसालसे बाहर (अस्वीकृत) कर दिया जाता है, तो वह खोटा माना जाता है, फिर उसे कोई न लेता है न रखता है। जिसके पास वह होता है वह तुरन्त दूसरेके हाथ औने-पौने बेंच देता है और फिर वह दूसरा भी तीसरेको छलसे अथवा किसी तरह दे देता है, कोई पास नहीं रखता। किन्तु जब वह सरकारी कोषमें पहुँच जाता है, तब वहाँ वह शुद्ध कर लिया जाता है और खरा सिक्का बनकर टकसालसे निकलता है। तब उसको सब ग्रहण करते हैं। ऐसे ही जीव श्रीरामजीका किंकर है, उनका अंश है, शेष है, इत्यादि। जबतक वह अपने स्वरूपमें स्थित रहा, स्वरूपको भूला नहीं, तबतक वह टकसाली सिक्का खरा 'दाम' रहा।

मायाके चक्करमें पड़कर वह अपने स्वरूपको भूल गया, स्वामीका कैंकर्य छोड़ देह और घरमें मैं-मेरापन कर देहाभिमानी हो विषयोंका किंकर हो गया। यही 'दाम' का 'कुदाम' हो जाना है। अब 'राम'-सरकारकी टकसालका न रह गया। अब कोई उसका आदर नहीं करता, सर्वत्र अनादरित हो रहा है, द्वार-द्वार मारा-मारा फिरता है। वही यदि फिर प्रभुकी शरणमें चला जाय, उनका सेवक हो जाय, तो फिर वह 'दाम' हो सबके आदरका पात्र हो जाय; क्योंकि प्रभुकी प्रतिज्ञा है—'करउँ सद्य तेहि साधु समाना'। टकसाली दामको सभी गाँठमें बाँध लेते हैं।

['कर-कर न बिकातो'—भाव कि—(१) अच्छे सेवकको सभी अपनाते हैं, बुरेको कोई नहीं रखता। (रा० कु०)। (२) ईश्वरांश होनेपर भी अनेक योनियोंमें जन्म ले-लेकर इधर-उधर भटकता फिरता है। (दीनजी, वि०, पां०। एक योनिसे दूसरी, दूसरीसे तीसरीमें इत्यादि)। (३) कामक्रोधादिके वशमें होकर जगह-जगह दुर्दशा न भोगता। यहाँ 'ललित अलंकार' है। (वीर)। (४) दाम अर्थात् चाँदी, सोनेका खरा माल। कुदाम अर्थात् राँगा, सीसा आदि। निरादर न होता अर्थात् काम क्रोधादि के हाथ न पड़ जाना। (डु०, भ० स०)]

२ (क) 'जपत जीह रघुनाथको नाम…' इति। रघुनाथका नाम= राम नाम। यथा 'बंदौं नाम राम रघुबरको।१।१९।१।' कलियुगमें जिह्वासे जपनेका विशेष माहात्म्य है। यथा 'अन्तर्जपन्ति ये नाम जीवन्मुक्ता भवन्ति ते। तेषां न जायते भक्तिर्न च रामसमीपका:॥ जिह्वयाऽप्यन्तरेणैव रामनाम जपन्ति ये। तेषां चैव पराभक्तिर्नित्यं रामसमीपका:॥' (महारामायण ५२।७१-७२)। अर्थात् किसी वाणीका आश्रय लेकर अन्तर्निष्ठ होकर जो नाम जपते हैं, वे जीवन्मुक्त हो जाते हैं, किन्तु उनको श्रीराम-सामीप्यकारिणी पराभक्ति नहीं मिलती है। जो अन्तःकरणके अनुराग सहित जिह्वासे नाम जपते हैं, उनको नित्य ही भगवत्सान्निध्यकारिणी प्रेम-पराभक्ति प्राप्त होती है। पुनश्च यथा 'भर्जनं भवबीजानामर्जनं सुखसम्पदाम्। तर्जनं यमदूतानां रामरामेति गर्जनम्।' (रामरक्षास्तोत्र ३६)। अर्थात् 'राम राम' ऐसा गर्जन करना संपूर्ण भवबीजोंको भून डालनेवाला, समस्त सुख-संपत्तिकी प्राप्ति करानेवाला तथा यमदूतोंको भयभीत करनेवाला है।

'नहिं अलसातो' अर्थात् नियमपूर्वक नाम जपता, प्रेम करके निरन्तर नेम लेकर नाम जपता।

२ (ख) 'बाजीगरके सूम ज्यों…' इति। बाजीगर (और भाँड़

जब किसीके यहाँ खेल दिखाते हैं और वह कुछ नहीं देता अथवा देनेमें कंजूसी करता है, तो वे कपड़े या काठका एक पुतला (जो वे अपने पास बनाये रखते हैं) रखकर उसका नाम सूम कहकर खेल दिखाते हैं और कहीं-कहीं उस पुतलेका नाम वही रखते हैं जो उस सूमका है। बाजीगर उस पुतलेका अपमान करता है, अपशब्द कहकर लोगोंको सुनाता और उसके मुँहपर धूल झोंकता है तथा जहाँ जाता है वहाँ उस पुतलेको धूल फँकाता है।—उदाहरणसे जनाया कि जैसे बाजीगरका 'सूम' द्वार-द्वार धूल फाँकता है, वैसे ही तू द्वार-द्वार अपमानित न होता, तेरी दुर्दशा न होती। यहाँ नाम जपनेमें आलस्य करना बाजीगरका सूम बनना है। आलस्य जापककी सूमता है। द्वार-द्वार भीख माँगना, विषय-सुखके लिये देवताओंसे प्रार्थना करना, विषयोंके कारण अपमानित होना, ठोकरें खाना इत्यादि 'धूल फाँकना' है। आलस्य न करते तो क्या होता? धूल फाँकनेके बदले मलाई खानेको मिलती, परोसा आगे धरा मिलता, इत्यादि। यथा 'जौं श्रीपति महिमा बिचारि उर भजते भाव बढ़ाए। तौ कत द्वार-द्वार कूकर ज्यों फिरते पेट खलाए।१६८।', 'आस बिबस खास दास ह्वै नीच प्रभुनि जनायो। हा-हा करि दीनता कही बार-बार परी न छार मुँह बायो। असन बसन बिनु बावरो जहँ तहँ उठि धायो। ।२७६।', 'छाछीको ललात जे, ते राम-नामके प्रसाद खात खुनसात सोंधे दूधकी मलाई हैं। क०७।७४।', 'सो हौं सुमिरत नाम सुधारस पेखत परुसि धरो।२२६।',

टिप्पणी—३ (क) 'जौं तूं मन मेरे कहें राम काम'''' इति। 'मेरे कहें' से पाया गया कि पूर्व कहा है। यथा 'मन मेरे मानहि सिख मेरी। जो निज भगति चहै हरि केरी।१२६।', 'आपनी न बूझि न कहे को राडरोरु रे।७१।' यहाँ 'सेवा' ही 'काम' (कर्म) है। 'कमातो' कहकर 'सेवारूपी कर्म' को धन सूचित किया। 'ऐसेहु साहिबकी सेवा तूं होत चोरु रे' को ही लेकर यहाँ 'रामकाम कमातो' कहा, अर्थात् तूने रामसेवाधन नहीं कमाया। यदि कमाता तो क्या होता, यह अगले चरणमें कहते हैं। [वीरकविजीने 'रामचन्द्रजीसे सरोकार (सम्बन्धस्थापन) की कमाई' अर्थ किया है]।

३ (ख) 'सीतापति सनमुख सुखी''''' इति। 'सीतापति सनमुख०' के दो प्रकारसे अर्थ होते हैं—'तू सीतापतिके सम्मुख (शरण) होनेसे सुखी होता'। रामसेवा करना सम्मुख होना है। दूसरा अर्थ है कि सीतापतिके अनुकूल (प्रसन्न) होनेसे तू सुखी हो जाता, क्योंकि वे 'मुनिमन अगम'

होते हुए भी सेवकके लिये 'सुगमु माय बापु सो' और 'सुमिरें सकुचि रुचि जोगवत जन की ।७१।'

३ (ग) 'सब ठाँयँ समातो'—अर्थात् सब तेरा आदर-सम्मान और तुझसे प्रेम करते। ऊपर जो 'चेराई' न करनेसे कुदामकी तरह मारे-मारे फिरना कहा है, उसीके संबंधसे यहाँ सर्वत्र सबका प्रेम और आदर कहा। [सम्मुख होनेसे लोकमें सुखी होकर परलोकमें साकेतादि सब स्थानोंमें निवास पाता। लोक भी बन जाता और परलोक भी। (वै०, वि०)]

☞स्मरण रहे कि भगवान् भक्तवत्सल हैं। गौ जैसे अपने वत्सको चाटकर शुद्ध कर लेती है, दूध पिलाती है, उसको सब प्रकार रक्षा करती है, उसी प्रकार भक्तोंपर अनुग्रह करनेके लिये सदा विकल भगवान् हम-जैसे सकाम भक्तोंको भी उनकी कामनायें पूर्ण करते और भवसागरसे रक्षा भी करते हैं। यथा 'अप्येवमार्य भगवान् परिपाति दीनान् वाश्रेव वत्सकमनुग्रहकातरोऽस्मान् ।।भा० ४।९।१७।' श्रीरामसेवासे संसारी कामनायें भी पूर्ण होतीं और भव भी पार होता;—यही 'सुखी' होना है।

टिप्पणी—४ 'राम सोहाते तोहि जो···' इति। (क) 'जो' से सूचित किया कि तुझे श्रीरामजी सुहाते नहीं। यथा 'जौंपै मोहिं राम लागते मीठे।१६९।', 'जो पै रामचरन रति होती।१६८।', 'नाहिंन चरन रति ताहि तें सहौं बिपति।१६७।' (ख) 'तू सबहि सोहातो'—जो भगवान्को जिस भावसे भजता है, भगवान् भी उसे वैसे ही भजते हैं (गीता ४।११)। अतः जिनको वे सुहाते हैं, वे प्रभुको भी सुहाते हैं और प्रभु सर्वभूतमय, अगजगमय हैं तथा सबके प्रेरक एवं नियंता हैं; अतः उनकी प्रेरणासे उनका कृपापात्र जान सभीको वह अच्छा लगने लगता है। प० पु० पा० ८४।३० में नारदजीने भी कहा है कि सर्वदेवमय हरिके संतुष्ट होनेपर सारा जगत् संतुष्ट हो जाता है,—"तुष्टं च सकलं तुष्टे सर्वदेवमये हरौ ॥

☞श्रीरामजीमें प्रेम होनेसे सब प्रेम करते हैं, यह यहाँ कहा। इसी तरह रामविमुख होनेसे सब दुरिया देते हैं। यथा 'बरषा को गोबर भयो को चहै को करै प्रीति। तुलसी तू अनुभवहि अब रामबिमुखकी रीति। दो० ७३।', 'धरि निजरूप गयउ पितु पाहीं। रामबिमुख राखा तेहि नाहीं ॥ काहू बैठन कहा न ओही।··· मातु मृत्यु पितु समन समाना।...मित्र करइ सत रिपुकै करनी। ता कहँ बिबुधनदी बैतरनी ॥ सब जग ताहि अनलहु ते ताता जो रघुबीर बिमुख सुनु भ्राता।२।'

४ (ग) 'काल करम कुलि कारनी···' अर्थात् काल, कर्म और कुल

(प्रकृति, गुण, स्वभाव आदि) जो सब जीवके प्रेरक हैं, ये क्रोध न करते अर्थात् प्रतिकूल न होते। जीव काल आदि द्वारा प्रेरित हो भवभ्रमण करता है, यथा 'फिरत सदा माया कर प्रेरा। काल करम सुभाउ गुन घेरा ।७।४३।' जिस मायाकी प्रेरणासे काल आदि जीवको वशमें कर नाच नचाते हैं, वह माया प्रभुसे डरती है, यथा 'करम काल सुभाव गुन दोष जीव जग माया तें सो सभय भौंह चकित चहति।··· छोड़ति छोड़ाये तें गहाये तें गहति ।२४६।' तथा ये सब प्रभुके अधीन हैं, यथा 'नाथ हाथ माया प्रपंच सब जीव दोष गुन करम काल। तुलसिदास भलो पोच रावरो नेकु निरखि कीजिये निहाल ।१५४।' अतएव जब प्रभुको जीव सुहाता है, तब सबके प्रेरक तो प्रभु ही हैं, उनकी प्रेरणासे वे भी जीवके अनुकूल रहते हैं। काल कर्म आदि सब प्रभुके आज्ञाकारी हैं; यथा 'विधि हरि हर ससि रवि दिसिपाला। माया जीव करम कुलि काला॥ करि बिचार जियँ देखहु नीके। राम रजाइ सीस सबहीके। २।२५४।'—प्रस्तुत पदके 'कोऊ न' में उद्धरणके विधि-हरि-हर तथा लोकपाल और माया आदि भी आ गए और 'काल, कर्म, कुल' तो हैं ही। 'कोऊ न कोहातो' में यह भी भाव है कि तब तो क्रोध करके वे 'कुछ कर ही न सकते थे, क्योंकि वे स्वयं डर जाते कि ऐसा करनेसे प्रभु हमें खा ही जायँगे। सनकादिकजीके वाक्य हैं कि श्रीरामजी 'रघुकुलकेतु सेतु-श्रुति-रच्छक। काल करम सुभाउ गुन भच्छक' हैं (७।३५।८)।

मैत्रेयजीने ध्रुवजीके प्रसंगमें विदुरसे बताया है कि जिस प्रकार जल स्वयं ही नीचेकी ओर बहने लगता है, उसी प्रकार मैत्री आदि गुणके कारण जिससे भगवान् प्रसन्न होते हैं, उसके आगे सभी जीव झुक जाते हैं। यथा 'यस्य प्रसन्नो भगवान् गुणैर्मैत्र्यादिभिर्हरिः। तस्मै नमन्ति भूतानि निम्नमाप इव स्वयम्। भा० ४।६।४७।' भगवान्‌की शरणमें फिर बाधा नहीं होती,—'सुखी मीन जे नीर अगाधा। जिमि हरि सरन न एकउ बाधा। ४।१७।१।'

टिप्पणी—५ (क) 'रामनाम अनुराग ही जिय···' इति। हमने 'जिय' को संबोधन माना है। यहाँ भी 'जो रतिआतो' कहकर जनाया कि रामनामानुरागकी चाह इसे नहीं है, यह रामनाममें अनुराग नहीं करता; 'जिय' और 'मन' को पूर्व शिक्षा भी दी है; यथा 'राम राम जपि जीय सदा सानुराग रे ।६७।', 'भलो भली भाँति है जो मेरे कहे लागिहै। मन राम नाम सों सुभाय अनुरागिहै ।७०।' 'रतिआतो' का भाव कि उसमें प्रीति करता, लगन लगाता अर्थात् रामनाममें अनुरागपूर्वक लग

जाता। साधकोंके लिये लय लगाकर जप करना कहा भी है; यथा 'साधक नाम जपहिं लय लाएँ। होहि सिद्ध अनिमादिक पाएँ ।१।२२।४।'

५ (ख) 'स्वारथ परमारथ पथी···' इति। स्वार्थपथी अर्थात् स्वार्थके चाहनेवाले, स्वार्थके साथी, जैसे कि माता, पिता, भाई, बहिन, स्त्री, पुत्र, कन्या आदि। परमार्थपथी अर्थात् परमार्थमार्गी, परमार्थके साथी जैसे कि गुरु, संत, भगवद्भक्त। [अथवा, स्वार्थ (लोक) के साथी प्रतिष्ठा, ऐश्वर्य, बड़ाई, अर्थ-धर्म-काम, व्यावहारिक समस्त गुण। परमार्थ (परलोक) के संगी ज्ञान, वैराग्य, विवेक, सत्संग, उपासना, श्रद्धा, विश्वास आदि। (वै०, वीर कु०)]—'तोहि सब पतिआतो' सब विश्वास करते। विश्वास होनेसे प्रेम होता है, लोग सहायक होते हैं, साथ देते हैं। अतः भाव यह है कि ये सब तेरा साथ अंत तक निबाहते, न स्वार्थकी कमी होती न परमार्थकी।

टिप्पणी—६ 'सेइ साधु सुनि समुझि कै···' इति। (क) इस अंतरामें तथा आगे अंतरा ७,८ में भी 'जो' (जौं) शब्द नहीं आया है, इसलिये इन तीनों अन्तराओंको ऊपरके 'रामनाम अनुरागही जिय जो रतिआतो' से संबंधित और उसका लाभ भी मान सकते हैं। अर्थात् रामनाममें लगन होनेसे ये सब बातें स्वयं प्राप्त हो जातीं कि तू साधुसेवा करने लगता, उनके उपदेश सुनता समझता जिससे पराये दुःखसे दुःखी होता और करोड़ों जन्मोंका मल जो हृदयमें लगा है दूर हो जाता; इत्यादि।

६ (ख) 'सेइ साधु···' से जनाया कि न साधुसेवा करता, न उपदेश सुनता और न परपीर पिराता है, इत्यादि। यथा 'राग रोष इरिषा बिमोह बस रुची न साधु समीति। कहे न सुने गुनगन रघुबरके भइ न रामपद-प्रीति ।२३४।', 'सेये नहिं सीतापति सेवक सुमति भले भगति भाय ।८३।', 'परदुख दुखी सुखी परसुख तें संत सील नहि हृदय धरौं। देखि आनकी बिपति परम सुख० ।१४१।' संत दयावान् होते हैं, 'पर दुख द्रवहिं सुसंत पुनीता', अतः उनकी सेवासे वे जीवोंपर दयाका उपदेश करते, जिसे सुन-समझकर तू भी दयावान हो जाता। पुनः, पूर्व कहा है—'सेवत साधु द्वैत भय भागे। तव रघुनाथचरण लय लागे ।१३६।' सेवासे आत्म-विषयक ज्ञान प्राप्त होनेसे द्वैतबुद्धि न रह जाती, सब प्रभुमय देख पड़ते, निज सहज स्वरूपसे अनुराग होता, तब परपीड़ा आप ही छूट जाती।—विशेष १३६ (११ क) में 'सेवत साधु' पर देखिए।

६ (ग) 'जनम कोटिको कँदेलो···' इति। भगवान्‌के चरणोंको भुला देनेसे जीवके हृदयमें विविध प्रकारका मलभार लगा है जिससे वह

गँदला नावदान-सा हो गया है। यथा 'मोह-जनित मल लाग बिबिध बिधि···। हृदय मलिन बासना मान मद···। सब प्रकार मलभार लाग निज नाथ चरन बिसराये ।८२।' अनन्त जन्मोंका मल है, अनादिकालसे ही यह थिर नहीं हुआ। यथा 'तबही तें न भयउ हरि थिर जब तें जिव नाम धस्यो ।६१।', 'सदा मलीन पंथके जल ज्यों कबहुँ न हृदय थिराने ।२३५।' साधु सेवासे श्रीरामजीमें अनुराग होनेसे सब मल बह जाता है, हृदय निर्मल और थिर हो जाता है। यथा 'रामचंद्र अनुराग-नीर बिनु मल अति नास न पावै ।८२।' और ऊपर साधुसेवासे श्रीरघुनाथजीके चरणोंमें अनुराग होना कह आये हैं ही। इस तरह नामद्वारा यह सब होकर हृदय थिर होता है।—'नामसों प्रतीति प्रीति हृदय सुथिर थपत ।१३०।'

६ (घ) यदि इस अंतराको ऊपरसे संबंधित न मानें, तो अर्थ होगा कि 'यदि तू साधुसेवा करके सुन-समझके परपीर पिराता तो···' ।—(कई टीकाकारोंने यही अर्थ किया है)। साधुसेवाका यह परिणाम (हृदयका थिराना) इस अर्थके अनुसार है। १३६ (११ क) में हम दिखा चुके हैं कि साधुसेवासे आत्मविषयक ज्ञान होनेसे जीवका मोह नष्ट होता है, वह समस्त प्राणियोंको अशेषरूपसे श्रीराममय ही देखने लगता है। उस समय वह ज्ञानवान् पुण्य-पापोंको धोकर निर्मल होकर परम पुरुषकी समता पा जाता है। यथा "तथा विद्वान् पुण्यपापे विधूय, निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति। मु० ३।१।३।"—इस भाँति 'सेइ साधु···'से ही अन्य सब बातें प्राप्त हो जाती हैं।

टिप्पणी—७ 'भवमग अगम···' इति। भव (जन्म-मरण-परम्परा) को मार्गसे रूपित किया; इसीसे उसे अगम (जिसपर चलना बड़ा कठिन है) और कभी न चुकनेवाला कहा। अगमता पाठक वैसीही समझ लें जैसी संसारको कान्तारका रूपक देकर तथा अंतमें भवको आपगासे रूपित करके बताई है। पद ५६ देखिये। पद ५८ प्रवृत्तिलंकाका रूपक है, प्रवृत्ति भवमें डालती है, अतः भवकी अगमता उससे समझमें आ जायगी। दुर्घटता पद ६० से भी अनुमानमें आ जाती है। अनन्तता यह है कि एक तो चौरासी लक्ष योनियाँ है, एक-एक योनिमें जीव न जाने कबतक कर्मोका भोग करता रहा है, ८४ भोग लेनेपर यदि करुणावरुणालयकी करुणासे इसने नरतन पाया तो भी पूर्वाभ्यासवशात् पुनः पुण्यपापमें रत होकर फिर चौरासीमें पड़ा, इस परम्परासे अनन्त कल्पोंतक इससे छुटकारा नहीं मिलता, इस मार्गका अन्त नहीं पा सकता। रामनामसे भवपंथ अनायास समाप्त हो जाता है, उसमें कर्म, ज्ञान, योग आदिके

क्लेश नहीं उठाने पड़ते। रामनामका गर्जन 'भव'के बीजको ही भून डालता है—'भर्जनं भवबीजानां' (रामरक्षास्तोत्र)। बिनु श्रम सिराने के उदाहरणमें उलटे नामका ही माहात्म्य दिखाते हैं कि व्याधने मरा-मरा जपा सो मुनि हो गया। यथा 'जहाँ बालमीकि भए व्याध तें मुनिंदु साधु, मरा-मरा जपें सिख सुनि रिषि सातकी। क० ७।१३८।'—कथा ५७ (३ च) और ६४ (३ घ) में देखिए। भाव कि तब अनुरागपूर्वक नामजपसे भवमग समाप्त होनेमें आश्चर्य क्या ? यथा 'सोई रामनाम जो सनेह सों जपत जनु, ताकी महिमा क्यों कही है जाति अगमै। क० ७।७६।'

८ (क) 'अमर अगम तनु पाइ सो जड़ ' 'इति। भाव कि श्रीसीतापतिके चरणोंमें स्नेह, रामनामजप, रामभजन (सेवा) इत्यादि ही से नरतनकी सार्थकता है, अन्यथा वह व्यर्थ हो जाता है। यथा 'मनुजदेह सुरसाधु सराहत सो तो सनेह सिय-पी कें।१७५।', 'जो अनुराग न रामसनेही सों, तो लह्यो लाहु कहा नरदेही सों।१६४।', 'कछु है न आइ गयो जनम जाय। अति दुर्लभ तनु पाइ कपट तजि भजे न राम मन वचन काय।८३।', 'भयो सुगम तोको अमर अगम तनु समुझि धौं कत खोवत अकाथ।'''रटहि नाम करि गान गाथ।८४।,'—विशेष ८३ (१) में देखिए।

८ (ख) 'होतो मंगलमूल तू''' ' इति। रामनाम मंगलमूल है, यथा 'मोद मंगलमूल अति अनुकूल निज निरजोसु। रामनाम प्रभाव सुनि तुलसिहुँ परम परितोप।१५६।' श्रीरामजी भी मंगलमूल हैं और उनके चरित, धाम, भक्ति सभी वैसे ही हैं। यथा 'मंगलमूल राम सुत जासू।२।२।५।', 'मंगलायतन रामजसु।१।३६१।', 'सब बिधि पुरी मनोहर जानी। सकलसिद्धिप्रद मंगलखानी।१।३५।', 'रघुपति भगति सुमंगलमूला।२। २४३।७।' अतएव रामनामजपसे, रामसेवा (भजन) से, श्रीरामपदानुरागसे तुझे भी वे वैसा ही कर देते। देख उनके चरणस्पर्शसे वन भी मंगलरूप हो गए, यथा 'मंगलरूप भयो बन तब ते। कीन्ह निवास रमापति जब ते।४।१३।५।', 'सो बन सैल सुभाय सुहावन। मंगलमय अति पावन पावन।२।१३९।३।' श्रीरामपदप्रेम सकल सुमंगलोंकी खान है। यथा 'प्रीति प्रतीति रामपदपंकज सकल सुमंगलखानी।१६४।', अतः तू सुमंगलखानि हो जाता। उनका नाम जपनेसे 'मंगल मुद उदित होत।१३०।', अतः तू भी मंगलमूल हो जाता।

८ (ग) 'अनुकूल बिधातो'—वाम विधाता भी अनुकूल (दाहिने) हो जाते हैं, प्रतिकूलता छोड़कर मंगलसाज सज देते हैं। यथा 'वाम विधि

भालहू न करमदाग दागिहै। ७०।', 'नाम लेत दाहिनो होत मन बाम बिधाता बाम को।१५६।', 'नाथ कुसल-कल्यान-सुमंगल बिधि सुख सकल सुधारि कै। देत, लेत जे नाम रावरो, बिनय करत मुख-चारि-कै। गी० ५।३६।' (अर्थात् विधाता कुशल, कल्याण, सुमंगल आदि समस्त सुख नामजापकको भली-भाँति प्राप्त कर देते हैं और अपने चारों मुखोंसे उसकी विनती करते हैं), 'तुलसी प्रीति प्रतीति सों रामनाम-जपजाग। किएँ होइ बिधि दाहिनो देइ अभागेहि भाग। दो० ३६।', 'तेरे हेरें लोपै लिपि बिधिहू गनक की। क०७।२०।'

टिप्पणी—६. 'जो मन प्रीति प्रतीति सों···' इति। भाव कि श्रद्धा, विश्वास और प्रेम होना आवश्यक है। 'बिनु परतीति होइ नहि प्रीती' और 'प्रीति बिना नहि भगति दिढ़ाई ।७।८९।'—के अनुसार प्रीति-प्रतीति बिना मन नाममें न लगेगा। इससे बार-बार प्रीतिप्रतीतिपर जोर (Stress) दिया है। यथा 'सकल सौभाग्य-सुख-खानि जिय जानि सठ मानि विश्वास वद बेदसारं ।४६।', 'तुलसी बिनु परतीति प्रीति फिरि-फिरि पचि मरै मरो सो ।१७३।', 'प्रीति प्रतीति जहाँ जाकी तहँ ताको काज सरो ।२२६।', 'तुलसी प्रीति प्रतीति सों रामनाम जप' (उपर्युक्त)। इत्यादि। प्रीतिप्रतीतिसे नामजप करनेसे श्रीरामजीकी कृपा होती है, तीनों ताप नहीं लगते अर्थात् हृदय शान्त और शीतल हो जाता है। यथा 'रामनामके जपे पै जाइ जियकी जरनि।···रामनाम सों प्रतीति प्रीति राखे कबहुँक तुलसी ढरैंगे राम आपनी ढरनि।१८४।', दास रता एक नाम सों···दहै न दुखकी आगि। वै० सं० ४२।', 'नाम सों प्रतीति प्रीति हृदय सुथिर थपत ।१३०।', 'नामके प्रताप न त्रिताप तन दाहिए। क० ७।७६।' इसके विपरीत नाममें प्रीति प्रतीति न होनेसे कलिकाल निगल लेता है, त्रिताप व्यापते हैं, इत्यादि; यथा "नामसों प्रीतिप्रतीति विहीन गिल्यो कलिकाल कराल न चूको।·राखिहैं राम सो जासु हिएँ तुलसी हुलसै बलु आखर दू को। क० ७।९०।', 'राम राम राम जीय जौ लौं तूं न जपिहै। तो लौं जहाँ जैहै तहाँ तिहुँ ताप तपिहै ।६८।'

सू० शुक्ल—"मनके वशमें न रहनेसे ही सब खराबी है। जब मन एकाग्र होता है, तब मनुष्यको स्वयं आनन्दकी प्रतीति होती है और मनको एकाग्र करना ही परम पुरुषार्थ है और यही मुक्ति है। परंतु बिना युक्तिके मन वशमें नहीं आता, इसके वश करनेकी युक्ति योगवासिष्ठमें बतलाई गई है कि बिना आत्म-दर्शनके मन वशमें नहीं आता और बिना मनको वशमें किये आत्मदर्शन नहीं होता; इसलिये आत्म-दर्शन और

मनका एकाग्र करना दोनों साथही साथ वैराग्यपूर्वक अभ्यासद्वारा होता है और कोई उपाय नहीं है।"—(नोट—गोस्वामीजीका मत यह नहीं है। उनका मत है कि नामजपसे सब कुछ हो सकता है। थोड़ासा जीवन होता है, मनको वश करनेके अन्य उपाय करनेमे यह तन व्यर्थ गँवाना है)।

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

(१५२)

राम भलाई आपनी भल कियो न काको।
जुग-जुग जानकिनाथ[1] को जग जागत साको ॥१॥
ब्रह्मादिक बिनती करी कहि दुख बसुधाको।
रविकुलकैरव[2] चंद भो आनंद सुधा को ॥२॥
कौसिक गरत तुषार ज्यों तकि तेज तिया[3] को।
प्रभु अनहित हितको दियो फल कोप कृपा को ॥३॥
हर्‌यो[4] पाप आपु जाइ कै संतापु सिला को।
सोच[5] मगन काढ्यो सही साहिब मिथिला को ॥४॥
रोषरासि भृगुपति धनी अहमिति ममता को।
चितवत भाजन करि लियो उपसम-समता को ॥५॥
मुदित मानि आयसु चले बन मातु पिता को।
धरमधुरंधर धीर सो[6] गुन सील जिता को ॥६॥
गुह गरीब गत ग्याति हूँ जेहि [7]जिउ न भखा को।
पायो पावन प्रेम ते सनमान सखा को ॥७॥
सदगति सबरी गीधकी सादर करता को।
सोचसींव सुग्रीव को[8] संकट हरता को ॥८॥

---

१ जानकीनाथ—रा०, ५१, ह०, १५। जानकिनाथ—भा०, वे०, आ०। २ रघुकुल—भा०। ३ त्रिया—रा०। ४ हत्यो—भा०. वे०, भ०। ५ सोक—भा०, १५। ६ रा०, डु०. वै०, ज० मे 'सो' है। धुर—भा०, वे०, आ०, ७४। ७ जेहि जिउ (जिव—भा०, वे०—ह०, ७४, आ०। जीव जेहि—रा०, डु०, मु० (जिव)। ८ को—रा०, भा०, वे०। के—५१, ज०, अ०, ७४।

राखि बिभीषन को सकै असि काल गहा को / तिहि काल कहां को †[९] ।
आजु बिराजत, राज हो[१०] दसकंठ[११] जहां को ॥९॥
बालिस बासी अवध के बूझिअै न खाको ।
ते पाँवर पहुँचे तहाँ जहँ[१२] मुनि-मन थाको ॥१०॥
गति न लहै रामनाम सों विधि[१३] सो सिरजा को ।
सुमिरत कहत प्रचारि कै वल्लभ गिरिजा को ॥११॥
अकनि अजामिल की कथा सानंद न भा को ।
नाम लेत कलिकालहूँ हरिपुरहि न गा को ॥१२॥
रामनाम महिमा करै काम[१४] भूरुह आको ।
साखी बेद पुरान है तुलसी तन ताको ॥१३॥

शब्दार्थ—भल = भला; हित । साका जागना = कीर्तिका जगमगाना; प्रसिद्धि होना । साका (शाका) = प्रसिद्धि; कीर्तिका स्मारक; यश; कीर्ति । वसुधा = पृथिवी । भो = हुआ; यथा 'बिनु संभुकृपा नहि भो विवेक ।१६।' तुषार = ओला, बर्फ । अहमिति = अहंकार । धनी = महाजन, मालदार । तिया = स्त्री (ताड़का) । उपशम = इन्द्रियनिग्रह; शान्ति; निवृत्ति । जिता = जीता । को = किसने । गत ग्याति (ज्ञाति) = जाति-हीन; अन्त्यज; जिसकी किसी जातिमें गणना न हो । जिउ (जीव) = जीवजन्तु । सदगति (सद्गति) = मुक्ति; उत्तम गति । हो = था । गहा = ग्रहण कर लिया; पकड़ लिया । बालिश = मूर्ख; नासमझ; यथा 'कुलहि लजावै बाल, बालिस बजावैं गाल, कैधौं कूर कालबस, तमकि त्रिदोषे हैं । गी० १।६५।' खाको—खाक (रज; धूलिकण) बराबर भी; कुछ भी । थाको—थाकना = हार मान जाना; थक जाना । = लुभाये रहना, ठहरना । सिरजना = रचना; पैदा करना । प्रचारि = ललकारकर; डंकेकी चोटपर; बलपूर्वक । अकनि (आकर्णन) = सुनकर । सानंद = आनंदित ।

९ † असि काल गहा को–भा०, वे०, ह०, ७४, भ०, दीन, वि० । तिहि (तेहि) काल कहांको–रा०, डु०, ज०, वै०, ६१, मु० । १० हो–रा०, वै०, डु०, भ० । होइ–७४ । है–भा०, वै०, ह०, मु०, दीन, वि० । ११ दसकंध–ज० । १२ जहाँ–रा० । १३ विधि सो–रा०, ज०, श्रा० । सम विधि–भा०, वे०, ७४, ह० । १४ कामभूरुह आको–भा०, वे०, ज०, ७४, आ० । कामद भूरुहा को–ह० । काम भूरु आंको–रा० ।

भूरुह = पृथ्वीसे उत्पन्न होनेवाला; वृक्ष। आको (आक) = अकौड़ा; मदार। कामभूरुह = कल्पवृक्ष।

पद्यार्थ—श्रीरामचन्द्रजीने अपनी भलाईसे किसका भला नहीं किया? (अर्थात् सभीका तो किया)। युग-युगसे श्रीजानकीनाथजीका (यह) यश जगत्‌में जगमगा रहा है।१। ब्रह्मादिकने पृथ्वीका दुःख कहकर विनती की, तब सूर्यवंशरूपी कुईंको खिलानेवाले आनन्दरूपी अमृतपूर्ण चन्द्र (श्रीरामजी प्रकट) हुए।२। विश्वामित्रजी स्त्री (ताड़का) का तेज देखकर नित्य ही ओलेके समान गले जाते थे। प्रभुने अनहित (शत्रु ताड़का) को मित्रका (सा) फल और कोपमें कृपाका फल दिया।३। शिला (पाषाणरूपमें पड़ी हुई अहल्या) के पाप और संताप स्वयं (वहाँ) जाकर हरे। चिन्ता (रूपी सागर) में डूबे हुए मिथिलापति (श्रीजनकजी) को सत्य ही उसमेंसे निकाल लिया।४। क्रोधके राशि (ढेर, समूह), अहंकार और ममता (रूपी धन) के धनी। (अर्थात् अत्यन्त क्रोधी, अहंकारी और ममतारत) परशुरामजीको देखतेही देखते (अर्थात् बातकी बातमें; बातोंही बातोंमें) शान्ति और समताका पात्र बना लिया।५। माता (कैकेयी) और पिताकी आज्ञाको प्रसन्नतापूर्वक मानकर प्रसन्न-प्रसन्न वनको चल दिये। वे धर्मकी धुरा धारण करनेमें धीर हैं। गुण और शीलमें इनको किसने जीता है? (एवं) इनके समान गुण और शीलको किसने जीत लिया है?।६। बेचारा और जातिका गया-बीता भी (कुजाति) गुह (निषादराज) ने, जिसने कौन-सा जीव न खाया होगा, पवित्र प्रेमसे सखा का (सा) आदर-सम्मान पाया।७। शबरी और गीधकी आदरपूर्वक सद्‌गतिकर्ता (परमपद देनेवाला श्रीरामजीके सिवा दूसरा) कौन है? शोक और चिन्ताकी सीमा (हद) सुग्रीवका संकटहर्ता कौन है? (श्रीराम ही तो हैं)।८। विभीषणको कौन रख सकता? ऐसा कालग्रस्त कौन था? (उस समय विभीषणको रख सकता ऐसा कहाँ और कौन था?)। दशग्रीव रावण जहाँका राजा था, उस राज्य पर आज (वही विभीषण) विराजमान हैं।९। अवधके (कुछ) मूर्ख निवासी जिनमें खाक बराबर भी समझ न थी एवं जो खाक बराबर भी नहीं समझे जा सकते थे* वे नीच

---

*अर्थान्तर—"अवधवासी कोई-कोई महा निकृष्ट थे, उनका हाल न पूछिए, क्योंकि उनके चरित्र कौन कहे? उनका नाम लेने योग्य नहीं, संज्ञासे समझ लीजिए। खाक = रज। इस पर्य्याय से 'रजक' अर्थात् धोबीको जनाया। वह ऐसा नष्ट था कि उसने श्रीकिशोरीजीकी निंदा की।" (वै०)।

वहाँ (उस लोकमें) पहुँचे जहाँ मुनियोंके मन हार मान जाते हैं अर्थात् मुनियोंके मन भी वहाँ नहीं पहुँच पाते।*।१०। रामनामसे जो सद्गतिको न प्राप्त हो सके वह कौन है जिसे ब्रह्माने (ऐसा) उत्पन्न किया हो ? (कोई भी तो नहीं)। श्रीगिरिजाजीके प्यारे पति श्रीशंकरजी (स्वयं रामनामका) स्मरण करते हैं और (दूसरोंसे) प्रचार कर कहते हैं†।११। अजामिलकी कथा सुनकर कौन आनंदित नहीं हुआ ? कलिकालमें भी नाम लेता हुआ कौन हरिलोकको नहीं गया ? ।१२। रामनामकी महिमा मदारको कल्पवृक्ष कर देती है। वेदपुराण इसके साक्षी हैं। (प्रत्यक्ष प्रमाण) तुलसीकी ओर देखिए (कि क्यासे क्या हो गया) ।१३।

टिप्पणी—१ 'राम भलाई आपनी···' इति। (क) पिछले पदमें रूप 'जो पै चेराई रामकी करतो···' और रामनामकी महिमाका उपदेश दिया, अब प्रस्तुत पदमें दोनोंके प्रमाण देते हैं। (ख) श्रीरामजीने अपने भलप्पन (भले स्वभाव) से सबका भला किया, यथा—'रावरी भलाई सबही की भली भई। २५२।', 'मेरो भलो कियो राम आपनी भलाई।७२।', 'राम निकाई रावरी है सबही को नीक। १।२६।', 'आपनी भलाई भलो कियो नाथ सबही को।गी० ५।७।' (श्रीसीतावाक्य), 'कृपा भलाई आपनी नाथ कीन्ह भल मोर। दूषन भे भूषन सरिस सुजसु चारु चहुँ ओर। २। २६८।' (श्रीभरतवाक्य)। 'वह 'भलाई' क्या है ?' —यह आगे उदाहरणोंसे समझाया है। सेवकके अपराधोंको न देखना, शत्रुका भी भला करना, परदुःखको न देख सकना, तुरत उसके निवारणका उपाय कर देना, शील मृदुल करुणामय स्वभाव इत्यादि, 'भलाई' से भला करते आये हैं। (ग) 'जुगजुग जानकिनाथ···' इति। युग-युगमें यह कीर्ति ख्यात है। वेदों, पुराणों, इतिहास ग्रन्थों, रामायणोंमें यश गान किया गया है। यहाँ केवल त्रेतामें अवतार लेनेपरके कुछ उदाहरण देते हैं। [सब युगोंमें नाम, रूप, लीला और धामादिका प्रताप प्रतिदिन नित्य नवीन प्रकाशमान होता जाता है। (वै०)]

२ (क) 'ब्रह्मादिक बिनती करी···' इति। ब्रह्मादिकी विनतीमें पृथ्वीके दुःखका निवेदन मानसके 'पालन सुर धरनी अदभुत करनी', 'सो करउ अघारी चिंत हमारी' तथा 'जानि सभय सुर भूमि सुनि बचन···'

---

*"जहाँ जानेसे मुनियोका भी मन थक गया (जिसकी यथार्थ कल्पना न कर सके)।" (दीनजी)।

†दूसरोको सुना-सुनाकर उसका प्रचार करते हैं। (दीनजी)।

इन उद्धरणोंसे स्पष्ट है। कथा 'बिकल ब्रह्मादि सुर सिद्ध संकोचबस···' ४३।'; 'का सुनि सकुचे न···' १३४ (२ क-ख) में देखिए। [वसु=धन। पृथ्वी धनको धारण करती है, अतः वसुधा नाम है। परन्तु रावण आदिके पापसे अब 'बये न जामै धान' की दशा आ गई है—ब्रह्मादिने इस तरहके पृथ्वीके दुःख सुनाये। (श्री० श०)] (ख) 'रबिकुलकैरव चंद भो···' इति। कुमोदिनी चन्द्रमाको देखकर प्रफुल्लित होती, खिल उठती है। इसलिये सूर्यवंशपर कुमोदिनी-पुष्पका आरोप कर श्रीरामचन्द्रजीपर चन्द्रमा और आनन्दमें 'सुधा' (अमृत) का आरोपण किया। प्राकृतचन्द्र अमृतपूर्ण है और यह (श्रीराम) चन्द्र आनंदरूपी अमृतसे पूर्ण है। यथा 'जो आनदंसिधु सुखरासी। १।१९७।', 'राम सहज आनंद निधानू। २। ४१।५।' वह चन्द्रमा एक पक्षमें सुख देता है और सबको नहीं, किन्तु यह आनन्दपूर्णचन्द्र 'सीकर ते त्रैलोक्य सुपासी' हुआ। इसके आते ही रविकुलमें आनन्द उमड़ पड़ा। यथा 'हरषित महतारी मुनिमनहारी अद्भुत रूप बिचारी', 'हरषित जहँ तहँ धाईं दासी।', 'दसरथ पुत्रजन्म सुनि काना। मानहुँ ब्रह्मानंद समाना।', 'परमानंद पूरि मन राजा' तथा सब पुरवासी आनंदमें मग्न हो गए—'आनंदमगन सकल पुरबासी', । 'ब्रह्मानंद मगन सब लोई', (१।१९२-१९४) ।—यहाँ परंपरितरूपक अलंकार है।

'कैरव-चंद्र' पर विशेष 'रघुबंस कुमुद सुखप्रद निसेस' ६४ (२ क), 'प्रनतजन कुमदबन इंदुकरजालिका' ४८ (५), और 'कृष्णाकुल कुमुद राकेश' ५२ (७ घ) में देखिए। [चन्द्रमा प्रकाश और शीतलत्व प्रदान करता है, श्रीरामजीने सुन्दर निर्मल यश प्रकाशित किया और सतत देवादिको शीतल किया। (वै०)। प्रकाशसे अविद्या अंधकार मिटा, काम-क्रोध-मद-मान-मत्सर-मोह-आदि चोरोंको कुछ करते न बन पड़ता था, काल-कर्म-गुण-स्वभावरूपी शरदातपका हरण हुआ, 'धर्मतड़ाग ज्ञान बिज्ञाना। ए कैरव बिकसे बिधि नाना' और सुख, संतोष, वैराग्य, विवेकादि चकोर सुखी हुए—इस प्रकार भी कह सकते हैं]

टिप्पणी—३ 'कौसिक गरत तुषार ज्यों···' इति। ओला या बर्फ सूर्यके तेज (ताप) से गलने लगता है। बड़े-बड़े बर्फके पहाड़ गलकर गिर पड़ते हैं तब 'तुषार' की बात ही क्या? इसी भाँति ताड़काके तेजसे ये गले जाते थे [अर्थात् उसके तेजके सामने विश्वामित्रजी अपना पराजय देख चिन्ताके मारे निष्प्रभ हो गए। (दीनजी)], यथा 'नीच निसाचर देत दुसह दुख, कृस तन ताप तयो। सापे पाप नये निदरत खल····। छन में सब सोच गयो। गी० १।४७।', 'गाधितनय मन चिंता ब्यापी।१।२०६।५।',

विशेष १३४ (३ क-ख) में देखिए। ताड़का आश्रित मुनिकी शत्रु थी, अतः वह श्रीरामजीकी भी शत्रु थी। यथा 'सेवक बैर बैरु अधिकाई ।२।२१९।२', 'मम भुजबल आश्रित तेहि जानी। मारा चहसि अधम अभिमानी ।४।९।१०।' (यह वालीसे प्रभुने कहा है)। उसको बाणसे मार डाला सही, पर उसको सद्गति दी जो फल मित्रों, प्रेम करनेवालोंको देते हैं (जैसे शरभंग, गृध्रराज, शबरी आदिको)। यथा 'दीन जानि तेहि निज पद दीन्हा ।१।२०९।६।' कोपमें अथवा कोपके बदले कृपाका फल दिया। इसमें दो भाव निकलते हैं—एक तो यह कि वह शत्रु थी, क्रोध करके आई थी। उसपर क्रोध करके उसे यमलोकको भेजना था, सो न करके जो आपकी कृपाका फल है 'सद्गति' वह उसको दी; यथा 'रामकृपा बैकुंठ सिधारा ।३।९।१।' (शरभंग)। दूसरा भाव यह कि कोप करके उसके प्राण हर लिये। आपके कोपमें भी कृपाका फल मिलता है, यथा 'निरबानदायक क्रोध जाकर ।३।२६।' प्रभुने (वाल्मीकीयमें) वालिसे कहा है कि राजा द्वारा दण्ड पाकर मनुष्य पापसे निर्मल हो जाता है, मैंने बाणद्वारा तेरा पाप नष्ट कर दिया। शुद्ध हो जानेपर उन्हें सुकृतीका फल मिलता है—'राजभिर्धृतदण्डाश्च कृत्वा पापानि मानवाः। निर्मलाः स्वर्गमायान्ति सन्तः सुकृतिनो यथा। वाल्मी० ४।१८।३१।' प्रभुके बाणने ताड़काको पापरहित कर तामसी शरीर छुड़ा दिया और कृपा करके 'निजपद' दिया।—इस चरणमें बताया कि तब जो उनका सेवक होगा उसको निज पद क्यों न देंगे, उसका भला क्यों न करेंगे?

टिप्पणी—४ 'हर्‍यो पाप आपु जाइकै…' इति। (क) अहल्या के पाप, शाप, संताप पर १३४ ३ क-ख), ४३(३ ख-ग), १०० (४ क) देखिए। पाषाण आपतक जानेमें असमर्थ था, आप स्वयं कृपा करके वहाँ गए; यथा 'साधनहीन दीन निज अघवस सिला भई मुनिनारी। गृह तें गवनि परसि पद पावन घोर श्राप ते तारी ।१६६।' (ख) 'सोच मगन काढ्यो…'—श्रीजनकजीकी प्रतिज्ञापूर्त्तिकी चिंता आदि पर १३४ (३ क-ख) देखिए। 'मगन' और 'काढ्यो' शब्द देकर यहाँ शोचको समुद्रवत् जनाया और श्रीरामजीका उन्हें बाँहबलसे निकालना कहा, बाहुबलसे धनुषको तोड़कर प्रभुने प्रतिज्ञाको पूर्ण करा दिया। 'सही' फारसी शब्द है, 'सचमुच' 'यथार्थ' इसके अर्थ हैं; 'सही सलामत' अर्थात् 'स्वस्थ' अर्थ भी यहाँ ले सकते हैं। सही-सलामत निकाल लिया, किंचित् भी हानि न होने पाई, तुरंत डूबते ही निकाल लिया।

५ (क) 'रोषरासि भृगुपति धनी…' इति। परशुराम रोषराशि (महा-

क्रोधी) थे, क्रोधकी मूर्ति ही थे। यथा 'दुसह-रोष-मूरति भृगुपति अति, नृपति-निकर-खयकारी। गी०१।१०६।', 'बाल ब्रह्मचारी अति कोही।१। २७२।६।' अहंकार और ममताके धनी थे, यही उनका धन था, इसीका व्यापार करते थे। अर्थात् महान् अहंकारी थे (यथा 'कठिन कुठारधार धरिवेको धीर ताहि, वीरता-विदित ताको देखिए चहतु हौं।...छोनीमें न छाड्यौ छोनिपको छोना छोटो, छोनिप-छपन बाँको बिरुद बहतु हौं। क०१। २०।') और शिवधनुपर बड़ा ममत्व था, यह श्रीलक्ष्मणजीके 'येहि धनुपर ममता केहि हेतू।१।२७१।८।' से स्पष्ट है। मानसमें परशुराम-प्रसंगभर अहंकार और ममताका प्रमाण है।

मैं महान् बलवान् वीर हूँ, अजित हूँ, लोकविजयी हूँ, सहस्रबाहु आदिके गर्वका तोड़नेवाला हूँ, मैंने पृथ्वीको एक्कीस बार निःक्षत्रिय किया है, मेरा सामना कौन कर सकता है? मैं पृथिवीको उलट सकता हूँ— 'उलटउँ महि जहँ लहि तव राजू'। यह 'अहमिति' रूप धन है। और अपनेको बाल ब्रह्मचारी अति कोही, क्षत्रियकुलसंहारक ब्राह्मण, शार्ङ्ग-धनुपके धारण करनेमें समर्थ मानकर दूसरोंसे वैर कर राग-द्वेषमें रत होना यह देहाभिमान भी ममता है। देहाभिमानसे ही शिवचापमें ममता थी, स्वस्वरूप तथा परस्वरूप भूले हुए थे। बाल ब्रह्मचारी मुनिमें अहंकार क्रोध, ममत्व आदि दोष माने गए हैं।

५ (ख) 'चितवत भाजन करि लियो...' इति। 'चितवत' देखते ही का भाव यहाँ 'देखते-देखते, बातोंही बातोंमें' है। पर श्रीरामजी जब-जब इनसे बोले तब इनकी ओर देखकर ही बोलते थे और उनको देखने तथा उनके बोलनेपर प्रायः वे कुछ शान्त हो जाते थे। यथा 'रामहि चितइ रहे थकि लोचन', 'रामवचन सुनि कछुक जुड़ाने।' अन्तमें जब उन्होंने श्रीरामजीको कटु वचन कहे और युद्ध करनेको कहा तब भी प्रभुने यही कहा कि 'कर कुठारु आगे यह सीसा॥ जेहि रिस जाइ करिअ सोइ स्वामी। मोहि जानिअ आपन अनुगामी।' इत्यादि; और गूढ़ वचनोंमें उनको उनका स्वरूप तथा धर्म भी इंगित किया। इसपर भी वे न समझे और अहंकारमें फिर कटु बोले तब भगवान्ने क्षात्रधर्म अपना कहकर उसीमें अपने स्वरूपका संकेत किया। 'विप्र वंसकै असि प्रभुताई' में उनकी ओर देखना और उनको विप्र प्रभुताई दिखाना दोनों आ जाते हैं। बस इतनेसे ही 'उघरे पटल-परसु-धर मतिके।', वे शान्त हो गए, क्रोध एकदम न रह गया। अहंकार जो क्षत्रियनाशक होनेका था तथा धनुषपर जो ममत्व था, वह भी श्रीरामजीको पहचान लेनेसे न रह गया, उनके बदले समताभाव आ गया।

उ   ार समताके पात्र बना लेनेमें प्रभुके 'देव एक गुन धनुष हमारे नव गुन परम पुनीत तुम्हारे।' तथा 'बिप्रबंस कै असि प्रभुताई। अभय होइ जो तुम्हहि डेराई।' इन वाक्योंका संकेत कवि यहाँ कर रहे हैं। भाव यह कि इन शब्दोंसे जनाया कि युद्ध आदि ब्राह्मणका स्वधर्म नहीं है, यह धर्म हमारा है। हम अपने धर्मपर आरूढ़ हैं, कालसे भी युद्धमें पीछे नहीं हटनेके, परंतु विप्रको पूज्य मानकर आपके कटु वचन सहते हैं। इसी तरह आप भी अपने धर्मपर आरूढ़ हूजिए, पर-धर्मसे विरत हूजिए। आपका धर्म है—"शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च। ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्। (गीता १८।४२)। आप अपने इन नौ गुणोंको धारण करें।—उनको स्वधर्ममें रत कर देनाही 'उपशम समता' का पात्र बनाना है, इनके पात्र हुए, इसीसे तो श्रीरामजीकी स्तुति कर क्षमा माँग 'भृगुपति गये बनहि तप हेनू', नवों गुणोंके अर्जनमें लगे।

६ (क) 'मुदित मानि आयसु चले···' इति। माता कैकयी और पिताकी आज्ञासे वनको गए। यथा 'अस कहि प्रभु सब कथा सुनाई। जेहि जेहि भाँति दीन्ह बन रानी॥ तात बचन पुनि मातु हित···।२।१२५।', 'सुनु जननी सो सुत बड़भागी। जो पितुमातु बचन अनुरागी॥ मुनिगन-मिलन बिसेषि बन सबहि भाँति हित मोर। तेहि महँ पितु आयसु बहुरि संमत जननी तोर।२।४१।'

'करहु रामपर सहज सनेहू। केहि अपराध आजु बन देहू।२।४६।६।'—(यह कैकयीकी प्रिय विप्रबधुओं आदिने कैकयीसे कहा है)। 'मुदित' होना उपर्युक्त श्रीरामवाक्य (२।४१) से स्पष्ट है। मानसके 'पिता दीन्ह मोहि कानन राजू। जहँ सब भाँति मोर बड़ काजू॥ आयसु देहि मुदित मन माता।२।५३।', 'मो कहँ दरस तुम्हार प्रभु सब मम पुन्य प्रभाउ।२।१२५।', 'आयसु देइअ हरषि हिय कहि पुलके प्रभु गात।२।४५।', 'मुख प्रसन्न चित चौगुन चाऊ।२।५१।' तथा श्रीदशरथमहाराजके 'तिलक को बोल्यो, दिये बन, चौगुनो चित चाउ। हृदय दाडिम ज्यों न बिद्र्यो समुझि सील सुभाउ। गी०२।५७।' (इस पश्चातापके) वाक्य भी 'मुदित' के प्रमाण हैं।

६ (ख) 'धरमधुरंधर धीर सो···' इति। यहाँ आज्ञा मानकर बन जानेके प्रसंगमें ये गुण कह रहे हैं। यहाँ प्रभुका इन बातों पर ध्यान है—(१) पिताका धर्म निबहे उनका सत्यव्रत न जाय। उन्होंने (पिताने) केकयीजीसे यह कहकर कि 'रघुकुल रीति सदा चलि आई। प्रान जाहु बरु बचन न जाई' वर देनेकी प्रतिज्ञा की है;—'दुइ कै चारि मागि मकु लेहू।' (२।२८) (२) माता कैकेयीका वचन रहे, माताने कहा है कि 'मैंने वर माँगा है जिसे

सुनकर राजाको शोक हुआ, उन्हें तुम्हारा संकोच है; अतः 'सकहु त आयसु धरहु सिर मेटहु कठिन कलेसु ।२।४०।' इसपर श्रीरामजीने कहा है 'सुनु जननी सोइ सुत बड भागी । जो पितु मातु बचन अनुरागी । जौं न जाउँ बन ऐसेहु काजा । प्रथम गनिअ मोहि मूढ़ समाजा ।२।४१-४२।' तथा (३) अपना वचन तथा धर्म निबहे; इत्यादि । इसीसे प्रसंगमें 'धर्मधुरंधर धीर' विशेषण दिए । धीरता भी प्रसंगके प्रारंभसे देखी गई है । यथा 'करुनामय मृदु राम सुभाऊ । प्रथम दीख दुख सुना न काऊ । तदपि धीर धरि समउ विचारी । २।४०।', फिर निज माता से विदा माँगने गए, माताके 'सुख मकरंद भरे श्रियमूला' स्नेहमय वचन सुनकर भी 'रामम्न भँवर न भूला' तब वक्ताओंने 'धरमधुरीन' विशेषण देकर कहा है 'धरमधुरीन धरमगति जानी । कहेउ मातु मन अति मृदु बानी ।२।५३।' माताने आशीर्वाद देते हुए यही विशेषण दिया है, यथा 'तुम्ह करुनाकर धरमधुरीना । २।५७।' फिर पितासे विदा माँगते हुए उनसे कहा है 'तात किएँ प्रिय प्रेम प्रसादू । जसु जग जाइ होइ अपवादू ।' और उनके धर्मकी रक्षा की है, किसी भी तरह बन जानेसे रुके नहीं, तब कविने यह विशेषण दिया है । यथा 'लखी रामरुख रहत न जाने । धरम धुरंधर धीर सयाने ।२।७८।' और राजाने उस समय उनको 'धीर' विशेषण भी दिया है । यथा 'जौं नहिं फिरहिं धीर दोउ भाई । सत्यसंध दृढ़ब्रत रघुराई ।२। ८२।१।'—इस तरह आद्यन्त प्रसंगभरमें धर्मधुरंधरता और धीरताका संबंध होनेसे ये विशेषण दिये गए । पूर्व भी इस प्रसंगमें यह विशेषण दिया है, यथा 'जयति धार्मिक धीर धुर धीर रघुवीर गुरु मातु पितु बंधु वचनानुसारी ।४३।' गुण और शीलका स्मरण श्रीदशरथजीने इस प्रसंगमें किया है । यथा 'राम रूप गुन सील सुभाऊ । सुमिरि सुमिरि उर सोचत राऊ । राज सुनाइ दीन्ह बनबासू । सुनि मन भयउ न हरष हरासू ।२।१४९।', 'तिलकको बोल्यो दिये बन''''हृदय दाडिम ज्यों न बिदर्यो समुझि सील सुभाउ । गी० २।५७।' –यही शील गुण इस प्रसंगभरमें है, पूर्व पद १०० में शील स्वभावके प्रसंगमें इसे भी कहा गया है, यथा 'कह्यो राजु बनु दियो नारिबस गरि गलानि गयो राउ । ता कुमातु को मन जुगवत ज्यों निज तन मरम कुघाउ ।'—प्रसंग इतनेका ही है, और यों तो पद १०० तथा अयोध्याकांडभरमें उदाहरण भरे हुए हैं । गुण—४४ (३ ख), ४३ (१ ज), ६५ (६ क) में देखिए । गुण और शीलमें इनके समान दूसरा कोई नहीं है, यथा 'प्रभु तरुतर कपि डार पर ते किय आपु समान । तुलसी कहूँ न राम से साहिब सीलनिधान ।१।२९।', 'सुमिरि राम के गुनगन नाना । पुनि पुनि हरष भुसुंडि सुजाना ।।''''अस

सुभाउ कहुँ सुनउँ न देखउँ। केहि खगेस रघुपति सम लेखउँ।७।१२४।१-४।'

टिप्पणी—७ 'गुह गरीब गत ग्यातिहूँ...' इति। (क) गुहके संबंधमें कहा गया है कि वह 'लोक वेद सब भाँतिहि नीचा। जासु छाँह छुइ लेइय सींचा।२।१६४।३', 'कपटी कायर कुमति कुजाती। लोक-वेद बाहेर सब भाँती।२।१६६।१', 'हिंसारत निषाद तामस नर पसु समान बनचारी।१६६।', 'परम अधम निषाद, पाँवर, कौन ताकी कानि।२१५।', यह भीलोंका राजा था। यह बहुत छोटा राजा था और हिंसारत होनेसे महापापी था, (यथा 'हिंसा पर अति प्रीति तिन्हके पापहि कवनि मिति।१।१८३।')। कोई सुकृत साधन न होनेसे 'गरीब' कहा गया। 'जिउ न भखाको' अर्थात् कोई भी जीव ऐसा नहीं जिसे इसने न खाया हो, यह सर्वभक्षी था। इसकी प्रजाने स्वयं कहा है—'हम जड़ जीव जीवगनघाती।२।२५१।'—विशेष १६६ (३ क) में देखिए।

७ (ख) 'पायो पावन प्रेम ते सनमान सखाको' इति। इसका पवित्र प्रेम शृङ्गवेरपुरमें प्रभुके वहाँ पहुँचते ही दृष्टिगोचर होता है—'करि दंडवत भेंट धरि आगे। प्रभुहि बिलोकत अति अनुरागे।' इसीपर कवि तुरंत कह उठते हैं 'सहज सनेह बिवस रघुराई'। कुशलप्रश्न हो चुकनेपर वनवासका समाचार सुने बिना ही वह अपना सब कुछ प्रभुको समर्पण करता है—'देव धरनि धन धाम तुम्हारा। मैं जन नीचु सहित परिवारा।२।८८।' स्वयं अपने हाथसे कोमल साँथरी प्रभुके शयनके लिये बनाकर बिछाई, रातभर श्रीलक्ष्मणजीके साथ बैठकर पहरा दिया। उसकी जो बातें श्रीलक्ष्मणजीसे रातभर हुई हैं उनसे उसका प्रेम मानस में पढकर देख लीजिए। श्रीभरत-जीके संबंधमें शंका होनेसे वह उनसे रामप्रेमके नाते लोहा लेनेको तैयार हो जाता है—'सनमुख लोह भरत सन लेऊँ। जियत न सुरसरि उतरन देऊँ। समर मरन पुनि सुरसरि तीरा। रामकाजु छनभंगु सरीरा।... स्वामिकाज करिहउँ रन रारी। जस-धवलिहउँ भुवन दस चारी।२।१९०।', इत्यादि। इसका प्रेम निष्कपट था, निस्स्वार्थ था। इस प्रेमके कारण उसको सखाका-सा सम्मान सर्वत्र मिला और प्रभुने भी उसे सखा माना। यथा 'रामसखा सुनि संदनु त्यागा।...करत दंडवत देखि तेहि भरत लीन्ह उर लाइ।...।२।१९३।', 'रामसखा रिपि बरबस भेंटा।२।२४३।६।', 'तुम्ह मम सखा भरत सम भ्राता। सदा रहेहु पुर आवत जाता।७।२०।३।'

८ (क) 'सदगति सबरी गीधकी...' इति। इनकी कथायें पूर्व ४३ (६ घ), ८७ (३ ज) तथा १३८ (३क) में आ चुकी है। 'सादर'में श्राद्ध करना, पिंडादक देना आदि सब भाव आ गए। कोई और ऐसा प्रभु नहीं हुआ

जिसने हिंसक पक्षी और अधम शबरजातिकी स्त्रीके मृतक कर्म किये हों।
(ख)—'सोचसींव सुग्रीवको संकट हरता को'—भाव कि रावण भी वालिसे डरता था। हनुमान्‌जी ऐसे महाबलवान सदा साथ रहे वे भी सुग्रीवके कष्ट न छुड़ा सके। सुग्रीव वालिके भयसे चिन्तातुर था,—'नतग्रीव सुग्रीव' २७ (२) देखिए। सुग्रीवकी कथायें पूर्व १०० (६ क), १३४ (५ क), ६७ (१घ) में आ चुकी हैं।

६ (क) 'राखि विभीषन को सकै···' इति। रावणने विभीषणको लात मारकर निकाल दिया और उसको घरका भेदी तथा राक्षसकुलका विरोधी समझकर उसके प्राण लेनेपर तुला था। तीनों लोक रावणसे भयभीत थे, कोई भी तो विभीषणको शरण न दे सकता था। जो शरण देता उसीको रावण मार डालता। विशेष ६६ (२ ग), १३४ (५ क), १४५ (२ ख-ग), ४३ (७च) देखिए।

६ (ख) हो=था। 'आजु बिराजत' कहा, क्योंकि श्रीरामजीने उन्हें कल्पान्तपर्यन्त राज्य दिया है। यथा 'करेहु कलप भरि राजु तुम्ह०। ६।११५।' 'बिराजत' में शोभापूर्वक विराजनेका भाव है। ये निशिचर-कुलभूषण हुए हैं, यथा 'धन्य धन्य तैं धन्य बिभीषन। भयहु तात निसिचरकुल भूषन। बंधुबंस तैं कीन्ह उजागर। भजेहु राम सोभा सुख-सागर।६।६३।८-९।'

'राज हो दसकंठ जहाँको' का साधारण अर्थ यही है कि जिस लंकाका राजा रावण था उस (राज्यपर आज विभीषण विराजमान हैं)। पर 'वि-राजत' (विशेष शोभायमान है) के संबंधसे गीतावलीके प्रमाणा-नुसार यह भाव-विशेष भी निकलता है कि रावण जिस लंकापति-पदको पाकर पाप, कलंक और क्लेशोंका कोष बना था, उसी पदको पाकर विभीषण संपूर्ण दोषदलोंका दलन करके संसारके भूषण बन गए—'कलुष-कलंक-कलेस-कोस भयो जो पद पाय रावन रनी। सोइ पद पाइ बिभीषन भो भव-भूषन दलि दूषन-अनी। गी० ५।३९।'

टिप्पणी—१० (क) 'बालिस बासी अवधके··' इति। यहाँ कई टीका-कारोंने 'बूझिऐ न खाको' से रजक (धोबी) का ही ग्रहण 'बालिस बासी' से किया है। परन्तु 'के' और 'ते' बहुवाचक शब्द हैं। इन शब्दोंसे सूचित किया है कि कई लोगोंने श्रीसीताजीके संबंधमें कुवचन कहे थे।'रामाज्ञाप्रश्न' ग्रंथमें भी कविने ऐसा ही कहा है। यथा 'राम कुचरचा करहिं सब, सीतहि लाइ कलंक। सदा अभागी लोग जग, कहत सकोचु न संक॥ सतीसिरोमनि सीय तजि, राखि लोग-रुचि राम।' (सर्ग ६।३९-४०)। वाल्मीकीयमें भी 'एवं बहुविधा वाचो वदन्ति पुरवासिनः। नगरेषु च सर्वेषु राजजन-

पदेषु च ।७।४३।२०।' ऐसा भद्रने श्रीरामजीसे कहा है। 'वदन्ति पुरवासिनः' के अनुसार यहाँ 'बासी अवधके' कहा गया। बालिश (मूर्ख) से 'रामाज्ञाप्रश्न' के 'अभागी', 'कहत सकोच न संक' का भाव है। इन्होंने सीताजीकी निंदा की। इन्हें खाक बराबर भी समझ न थी, इन्होंने विचार न किया कि समस्त देव मुनिवृंद इनकी स्तुति कैसे करते यदि इनमें कलंक होता, ग्यारह हजार वर्ष बीत गए अब आज हम कलंक लगाते हैं उनको, जिनकी अग्निपरीक्षा भी हुई थी और ब्रह्मादिकने जिनके सतीत्वकी साक्षी दी थी। इस निंदाको कविने 'अघओघ' कहा है, यथा 'सियनिंदक अघओघ नसाए।१।१६।३।'—निंदा पाप है, इससे कविने भी न लिखा कि क्या निंदा की। इसलिए हम भी उसे नहीं लिखते। वाल्मीकीय ७।४३, अध्यात्म रा० ७।४, पद्म पु० पातालखंड आदिमें तथा अन्य टीकाओं-में उसके जिज्ञासु देख लें। अध्यात्ममें विजयनामक दूतने श्रीरामजीके पूछनेपर कहा है कि सभी लोग ऐसा कहते हैं—'सर्वे वदन्ति ते।४६।' और पद्म पु० में केवल एक धोबीका निंदा करना है—केवल इतना भेद है, शेष सब बातें एकसी हैं। ❀

☞यहाँ प्रसंग चल रहा है केवल 'राम भलाई आपनी भल कियो न काको' का, अतएव उतने प्रसंगके ही भाव यहाँ लिखे जा रहे हैं।

१० (ख) 'ते पाँवर पहुँचे···'इति। भाव कि जिसको नरक भी अपने यहाँ रखनेमें सकुचाते, ऐसे नीच मूर्ख तुच्छ अज्ञानियोंको भी सुखपूर्वक अपने लोकमें निवास दिया, यह केवल आपके भलप्पनका परिचय दे रहा है। बुरा है तो क्या? है तो अपनी प्रजा ही।—यह कौन राजा या देवता सोचता? 'जहँ मुनिमन थाको'—जिस धामतक मुनियोंके मन भी नहीं पहुँच पाते, अथवा मुनिमन वहीं ठहरते हैं, उसके लालायित रहते हैं; उसीकी याचना करते रहते हैं; उस परमधामको, उस विशोक (शोकरहित) लोकको गए। यथा 'पावहिं गति जो जाचत जोगी।६।४४।३।', 'पुनि मम धाम पाइहहु जहाँ संत सब जाहिं।३।११५।' (संत जहाँ जाते हैं वही धाम प्रभुने उन नीचों निंदकोंको दिया), 'गीध गयउ हरिधाम।३।३२। गीध अधम खग आमिष भोगी। गति दीन्हीं जो जाचत जोगी।' बँगलामें 'थाकना' का अर्थ ठहरना है। भाव दोनों अर्थोंका एक ही है कि मुनिदुर्लभ गतिको प्राप्त हुए, दुर्लभ है, इसीसे याचना करते रहते हैं।

❀वियोगीजी लिखते हैं कि "यहाँ धोबीसे तात्पर्य अवश्य है, पर वह स्पष्टतः व्यक्त नहीं किया है। सभव है, गोसाईंजीने उस दुष्टका नाम अपने मुखसे न लिया हो, क्योंकि उन्होंने श्रीसीतापरित्यागपर कुछ लिखा नहीं है।"

टिप्पणी—११ 'गति न लहै राम नाम सों'''इति। अर्थात् विधाताकी सृष्टिभरमें कहीं एक भी उदाहरण ऐसा नहीं है जहाँ रामनाम लेनेपर सद्गति न हुई हो एवं न हो। 'सिरजा को' मे पशु-पक्षी भी आ गए, मनुष्यकी तो बात ही क्या ? तोता, मैना भी राम राम कहकर मुक्त हो गए'। †

श्रीशिवजी स्वयं स्मरण करते हैं, यथा 'अहं भवन्नाम गृणन्कृतार्थो वसामि काश्यामनिशं भवान्या। मुमूर्षमाणस्य विमुक्तयेऽहं दिशामि मंत्रं तव रामनाम॥' (अ० रा० ६।१५।६२) तथा 'स्मरन् सदाऽहं तव रामनाम, वसामि काश्यामनिशं भवान्या।' और प्रचारकर कहते हैं। भाव कि काशीमे जीव-जन्तुओंके कानमें रामनाम देकर सबको मुक्त करते हैं, यही ललकारकर नामकी महिमा कहना है कि देखो मैं उसीसे कीट-पतंगादि तकको मुक्त करता हूँ। यथा 'कहत मुनीस महेस महातम उलटे सूधे नामको।१५६।', 'संभु सिखवन रसनहूँ नित रामनामहि घोसु। दंभहू कलि नामु कुंभजु सोचसागर सोसु।१५६।', 'भरत महेस उपदेस हैं कहा करत, सुरसरि तीर कासी धरम धरनि। रामनामको प्रताप हर कहैं, जपैं आपु, जुगजुग जाने जग वेदहूँ बरनि।१८४।', "इह पुरुषमजानतां पुराणं नियति वशेन निमीलितां दयालुः। उपदिशति पतिस्स्वयं पशूनामुपनिषदामपि दूरगं रहस्यम्। सं० सू०।" अर्थात् विशेष प्रमाण पूर्व पद ४ आदिमें आ चुके हैं। इस अंतरामें तथा आगे नामका माहात्म्य कहा है।

१२ (क) 'अकनि अजामिल'''' इति। अर्थात् अजामिलकी कथा सुननेसे अधमाधमको भी प्रभुकी शरण जानेका साहस होता है और उसे विश्वास हो जाता है कि प्रभु अपने भले स्वभावसे मेरा उद्धार अवश्य करेंगे। इस तरह उसकी प्रीति प्रतीति नामजपमें होती है। वह सोचता है कि बेटेका नाम लेनेसे अजामिल तर गया, तब साक्षात् प्रभुका ही नाम जपनेसे वे मेरा उद्धार क्यों न करेंगे, यह समझकर आनंद होता है। यथा 'रामनाम प्रभाव सुनि तुलसिहुँ परम संतोप।१५६।', 'अजामिलका प्रसंग ५७ (२ क), ६७ (४ क-ख) में देखिए। इस कथासे नामजप करनेवालेको यमसाँसतिका भय नहीं रह जाता, इसीसे चित्तको आनंद होता है।

१२ (ख) 'कलिकालहूँ'का भाव कि यह शंका न करो कि यह तथा अन्य प्रसंग तो सत्ययुग, त्रेता, द्वापरके थे, तब लोगोंमें सत्वगुण भी था और कलियुग तो 'केवल मलमूल मलीना' है, तब इस युगमें वैसा माहात्म्य

† 'अविकारी वा विकारी वा सर्वदोषैकभाजनः। परमेशपदं याति रामनामानुकीर्तनात्'। (वै०, भ०)।

न होगा। कलिमें तो इसका ही विशेष माहात्म्य है, यथा 'चहुँ जुग चहुँ श्रुति नाम प्रभाऊ। कलि बिसेषि नहि आन उपाऊ।१।२२।८।'

१३ 'रामनाममहिमा…' इति। मदार ऐसा वृक्ष भी कामतरुसमान अर्थ-धर्मादिका दाता हो जाता है। [मदारको डाल, पत्ते, फूल और फल सभी स्वादरहित होते हैं, इसीसे उसे कोई पूछता नहीं। रामनामकी महिमासे वह कल्पवृक्ष हो जाता है, जिसकी चाह सुर, असुर, नर, नाग सभी करते हैं। भाव कि अधम, पतित, कुटिल, आलसी जीव जिनसे धर्म-कर्म कुछ नहीं होता, जिनके निकट कोई नहीं जाता; ऐसे निकम्मे भी रामनाम स्मरण कर उत्तम पावन धर्म, कर्म, ज्ञान और भक्तिके प्रचारक बन जाते हैं। इसके साक्षी वेदपुराण हैं। (वै०)] और प्रत्यक्ष प्रमाण मैं स्वयं हूँ, प्रत्यक्ष प्रमाणसे विश्वास दृढ़ हो जाता है, इससे अपनेको प्रमाणमें देते हैं। भाव कि देखो, मैं क्या था और क्या हो गया ? यह नामका ही प्रभाव है। पूर्व भी अपनेको प्रमाणमें दे आये हैं, यथा 'पावन किय रावनरिपु तुलसिहु से अपत।१३०।', 'छली मलीन हीन सबही अंग तुलसी सो छीनछामको। नामनरेस प्रताप प्रबल जग जुगजुग चलत चामको। ९९।', 'मंदमति कुटिल खलतिलकु तुलसी सरिस भयो न तिहुँ लोक, तिहुँ काल कोऊ।…।१०६।'—इस प्रकार 'मदार'से परम पापी, छली, मलिन, कुटिल, मंदबुद्धि, सब विधि तथा सब साधनहीन खलशिरोमणि लोगोंको जनाया। वे भी कल्पवृक्ष हो गए, अर्थात् महामुनियोंसे भी पूजनीय तथा तरण-तारण और अर्थ-धर्म-काम-मोक्षके दाता हो गए। यथा 'नाम लियें रामु किए परम पावन सकल, तरत नर तिन्हके गुन गान कीन्हे।१०६।'—विशेष ९९ (४ ङ), १३० (५ ग) और १०६ (६ क-च) में देखिए।

आक (मदार, धतूरा) कसैला, उष्ण, गुरु तथा मन्दाग्नि और वात-कारक माना गया है। यह विषप्रयोग और मादकताके लियेभी काममें लाया जाताहै। इसको खानेवाला पागल वा उन्मत्त-सा फिरता रहता है। इसका दूध नेत्रमें लगानेसे मनुष्य अंधा हो जाता है। इसीसे अपनेको पूर्व आक समान होना कहकर जनाया कि मैं ऐसा विषैला था कि निकम्मा जानकर मेरे पिता, कुटुम्बी, पुरवासी आदि सभीने मेरा त्याग दिया, कि इसका पालन करनेसे हम भी न मर जायँ। यथा 'अगुन अलायक आलसी जानि अधनु अनेरो। स्वारथके साथिन्ह तज्यो तिजरा को-सो टोटकु औचट उलटि न हेरो॥ भगतिहीन वेदबाहिरो लखि कलिमल घेरो। २७२।', 'तनुज तज्यो कुटिल कीट ज्यों तज्यो मातु पिता हूँ। काहे को रोस दोस काहि धौं मेरे ही अभाग,

मोसों सकुचत सब छुइ छाहूँ ।२७५।'—वही अब नाम के प्रताप से मैं जगत्‌को तारनेवाला मानाजाता हूँ। देखिए, नाभाजीने क्या लिखा है— 'रामचरनरसमत्त रटत अहनिसि व्रतधारी। संसार अपारके पारको सुगम रूप नवका लयो। कलि कुटिल-जीव निस्तार हित वाल्मीक तुलसी भयो।' (भक्तमाल छप्पय १२९)।

[श्री० श० लिखते हैं कि पूर्व मेरे आचरण पर दृष्टि देनेवाले नष्ट हो जाते थे, वही मैं श्रीरामचरितका वक्ता हुआ; यथा 'जानहि सियरघुनाथ भरतको सील सनेह महा है। कै तुलसी जाको रामनाम ते प्रेमनेम निबहा है। गी० २।६४।'–इस चरितसे बहुतोंके ज्ञानरूपी नेत्र खुलते हैं।]

वियोगीजी—इस पदमें गोसाईंजीने क्रमशः रामायणका संक्षिप्त वर्णन किया है। इस पदको यदि 'विनय-रामायण' कहें, तो असंगत न होगा। विनयपत्रिकामें ऐसे अनेक अमूल्य पद-रत्न भरे पड़े हैं।

सू० शुक्ल—'कोटि बिप्रबध लागहि जाहू। आएँ सरन तजउँ नहि ताहू। सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहि तबहीं।'—ऐसी प्रतिज्ञा और माहात्म्य परमात्मामें है, इसलिये मनुष्यको चाहिए कि विश्वास करके भगवान्‌के शरण होवे।

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

१५३

मेरें रावरिऐ[1] गति है रघुपति बलि जाउँ।
निलज[2] नीच निरधन[3] निरगुन कहँ जग दूसरो न ठाकुर ठाउँ। १
हैं घर-घर भवँ[4] भरे सुसाहिब सूझत सबनि[5] आपनो दाउँ।
बानर-बंधु[6] बिभीषन-हित बिनु कोसलपाल कहूँ न समाउँ। २

---

१ रावरीऐ—रा०,५१ (रावरीये)। रावरियैं—डु०, वे०, ७४। रावरिए—भा०, वे०, भ०, मु०। रावरिये—दीन, वि०। २ निलज—आ०। निजर—रा०। निडर—भा०, वे०, ह०, ७४, प्र०। ३ निर्गुन निर्धन—भा०, वे०, दि०। निरधन निरगुन—रा०, ज०, ५१, आ०। ४ भव—रा०, ५१, मु०, ७४, डु०, प्र०, ज०। बहु—भा०, वे०, ह०, भ०, वि०, दीन। ५ सबहि—७४, ह०। सबनि—प्राय. औरोमे। सबन—भा०, वे०। ६ बधु— रा०, ५१, ७४, आ०, प्र०, ज०, १५। भाखु–भा०, वे०, ह०।

प्रनतारति भजन जन-[७]रंजन सरनागत पवि पंजर[८] नाउँ।
कीजै दास दास तुलसी अब कृपासिंधु बिनु मोल बिकाउँ।३।

शब्दार्थ—मेरें=मुझे; मुझको। रावरिऐ=आपकी ही। गति=आश्रय अवलंब। ठाकुर=स्वामी। ठाउँ=स्थान। भव=संसार। भरे हैं=भरे पड़े हैं; इनकी कमी नहीं है। समाउँ=समाई; शरण; भरती या गुजर। दाउँ (दाँव)=अनुकूल संयोग; कार्य साधनकी युक्ति; चाल, मतलब गाँठनेका ढंग। जीतका पाँसा या कौड़ी। पवि=वज्र। पंजर=पिंजड़ा। नाउँ=नाम। मोल=मूल्य; किसी पदार्थ के बदलेमें जो द्रव्य बेचनेवालेको दिया जाता है। बिकाना=बिकना=मूल्य लेकर किसी वस्तुको देना; बेचा जाना। 'बिनु मोल बिकना' मुहावरा है, अर्थ है 'विना दामका गुलाम बनना'।

पद्यार्थ—हे श्रीरघुनाथजी! मैं बलिहारी जाता हूँ। मुझे तो आपका ही अवलंब है। निर्लज्ज, नीच, निर्धन, निर्गुण (गुणहीन) के लिये संसार में न तो दूसरा कोई स्वामी है और न कोई दूसरा ठिकाना ही।१। संसारमें घर-घर अच्छे-अच्छे स्वामी भरे पड़े हैं (इनकी कमी नहीं है), (पर) सबको अपना ही दाँव सूझता है। वानरके बंधु (सहायक) और विभीषणका हित करनेवाले कोशलपुरी (अयोध्या) के स्वामीके सिवा (निर्लज्ज आदिकी) कहीं भी समाई नहीं है।२। आप प्रणत (आश्रित) के दुःखोंके हरनेवाले और भक्तोंको आनंद देनेवाले हैं। आपका नाम शरणागतोंके (रक्षाके) लिये वज्रका पिंजड़ा है। हे दयासागर! मैं बिना मूल्यके (आपके हाथ) बिकता हूँ। (अर्थात् आपका स्वार्थरहित निष्काम गुलाम होता हूँ), अब मुझ तुलसीदासको अपना दास बना लीजिए।३।

टिप्पणी—१ (क) 'मेरें रावरिऐ गति है···' इति। तुलसीदासजी श्रीरामजीके अनन्यगतिक भक्त थे, यह उन्होंने स्वयं कहा है। यथा 'रामु मातु पितु बंधु सुजन गुरु पूज्य परमहित। साहेब सखा सहाय नेह नाते पुनीत चित। देस कोसु कुलु कर्म धर्म धन धाम धरनि गति। जाति पाँति सब भाँति लागि रामहि हमारि पति॥ परमारथ स्वारथ सुजस सुलभ राम तें सकल फल। कह तुलसिदास, अब, जब-कबहुँ एक राम तें मोर भल। क० ७।११०।' श्रीरामजीके सिवा स्वप्नमें भी दूसरेका अवलम्ब नहीं, उनके सब कुछ 'राम' ही हैं। पूर्व भी कहा है—'तुलसिदास न बिसारिऐ मन-कर्म-बचन जाके सपनेहुँ गति न आनकी। ४२।', 'रघुपति आन न मोरे।१०६।'—विशेष ४२ (३ घ) में देखिए। यह कहकर दूसरे चरणमें

७ रंजन जन—रा०। रजन मुर—ज०। ८ पिंजर—ज०।

उसका कारण बताते हैं कि 'निलज...न ठाकुर ठाउँ'। निर्लज्ज अर्थात् जो उन्हीं कर्मोंको बार-बार करता है जिनसे वह पूर्व बार-बार दुःख पा चुका है, किसीके समझानेसे नहीं छोड़ता। नीच अर्थात् अधमरत, निर्धन अर्थात् कंगाल तथा सुकृतरूपी धनसे रहित। निर्गुण अर्थात् कृपा, दया, शम, दम, विवेक, वैराग्य आदि गुणोंसे रहित।—ऐसोंके लिये कोई संसारमें पूछनेवाला नहीं, कोई अपनी सेवामें रखनेवाला नहीं, कहीं उसको ठिकाना नहीं। यह कहकर अपनेको इन अवगुणोंसे युक्त जनाया। यथा 'अगुन अलायक आलसी जानि अधनु अनेरो। स्वारथ साथिन्ह तज्यो तिजरा-को-सो टोटकु औचट उलटि न हेरो।२७२।', 'निलजता पर रीझि रघुवर देहु तुलसिहि छोरि।१५८।' (इस पदमें निर्लज्जता दिखाई है), 'तदपि अधम विचरत तेहि मारग कबहुँ न मूढ़ लजै।८६।' इत्यादि।

१ (ख) 'दूसरो न ठाकुर ठाउँ'—भाव कि परलोककी बात तो दूर रही, लोकमें भी कहीं ठिकाना नहीं। यही बात पद २७२में अगुण अलायक आदिके संबंधमें कही है। यथा 'सुनहु राम बिनु रावरे लोकहुँ कोउ न कहूँ हितू मेरो।' इससे यह भी जनाया कि उत्तम सेवक, गुणी, धनी आदिको ही अन्य सब चाहते हैं और निर्गुण आदिका पालन आपने ही किया है। यथा 'गनिहि गुनिहि साहिब चहै सेवा समीचीनको। अधन अगुन आलसिन्हको पालिबो फबि आयो रघुनायक नवीनको।२७४।'—विशेष 'और ठौर न मेरें' १४६ (१ घ) में देखिए।

टिप्पणी—२ 'हैं घर घर भव भरे सुसाहिब...' इति। (क) स्वामी तो घर-घर हैं अर्थात् बहुतेरे हैं, इनकी कमी नहीं है, जहाँ देखो तहाँ मिलते हैं। यथा 'सुर नर मुनि नाग असुर साहिब तो घनेरे।७८।', 'ठौर-ठौर साहिबी होति है।१४६।'; परन्तु सब अपने ही स्वार्थको ताकते हैं। यहाँ 'सुसाहिब' शब्दमें व्यंग्य है कि वे अपनेको वैसा समझते हैं, पर वस्तुतः वे हैं 'कुसाहिब'।

२ (ख) 'सूझत सबनि आपनो दाउँ'—यह मुहावरा जूएके खेलसे लिया गया है। सभी जुआरियोंको अपनी ही कौड़ी वा पाँसा, अपना ही दाँव सूझा करता है, (यथा 'सूझ जुआरिहि आपन दाऊ।२।२५८।१।')। वह कह उठता है कि मेरी कौड़ी पड़ी, मेरा दाँव है, इत्यादि। भाव कि सब अपना ही स्वार्थ देखते हैं। यथा 'सुर नर मुनि सबकै यह रीती। स्वारथ लागि करहि सब प्रीती।४।१२।२।', 'तापसको बरदायक देव, सबै पुनि बैरु बढ़ावत बाढ़ें। थोरेंहि कोपु कृपा पुनि थोरेंहि, बैठि कै जोरत तोरत ठाढ़े। क० ७।५४।', 'और भूप परखि सुलाखि तौलि ताइ लेत।क० ७।२४।',

'स्वारथ हित भूतल भरे मन मेचक तनु सेतु ।१६०।', 'हैं सुर सिद्ध मुनीस जोगविद बेद पुरान बखाने । पूजा लेत देत पलटे सुख हानि लाभु अनुमाने ।२३६।'—१६३ (२ क) में भी देखिए।

२ (ग) 'वानरबंधु बिभीषन हित' इति। यहाँ विभीषणके साहचर्यसे 'वानर'से विशेषतः सुग्रीवसे तात्पर्य है। सुग्रीवको श्रीराम और श्रीभरतजीने 'भाई' करके माना भी है। यथा 'त्वमस्माकं चतुर्णां तु (वै) भ्राता सुग्रीव पञ्चमः। वाल्मी० ६।१३०।४५।' (पंडित पु० सं०)। (गी० प्र० ६।१२७।४७)। निलज नीच आदिमें यहाँ वानर और विभीषण दो उदाहरण देते हैं। वानरके संबंधमें ये वाक्य कविने स्वयं दिये हैं—'असुभ होइ जिन्हके सुमिरे तें वानर रीछ बिकारी।१६६।', 'कपि चंचल सबही बिधि हीना।५।७।', सुग्रीव निर्धन थे ही, नीचता और निर्लज्जता प्रकट है कि जिस अपराधसे बालिका वध करवाया वह स्वयं किया; बड़े भाईकी स्त्रीमें रत हुये। श्रीरामजीसे जो प्रतिज्ञा की थी उसे भूल गये—'रामकाज सुग्रीव बिसारा।४।१६।'—ऐसेके बंधु बने। विभीषणजीने भी वही कुचाल की। राज्यसे निकाले जानेसे निर्धन थे ही। निशाचर होनेसे नीच कहे गए; राक्षस भजनके अधिकारी नहीं माने जाते, यथा 'रिपुको अनुज विभीषन निसिचर कौन भजन अधिकारी।१६६।', 'होइहि भजन न तामस देहा।३।२३।५।' निर्गुण थे, रावणने उन्हें 'सहज भीरु' कहा है, (५।५) तथा 'अनुज हमार भीरु अति सोऊ।६।२३।३।'—ऐसेका हित किया, मित्र बने। इन दोनोंको शरण तीनों लोकोंमें देनेवाला कोई न था।

२ (घ) 'बिनु कोसलपाल कहूँ···' इति। आर्त्तों-अनाथोंपर दया करने, पशु-पक्षियोंके भी पालन करने (वक. श्वान, गृध्र, उलूक आदिकी कथा पूर्व आ चुकी है), एकमात्र सब जीवोंके स्नेही होने तथा इतने बड़े कि ब्रह्मादिक जिनके सेवक हैं ऐसे होकर भी नीच निर्गुणोंको अपनानेसे 'कोसलपाल' नाम दिया। यथा 'आरत-अनाथ नाथ कोसलपाल कृपाल।७३।', 'एक सनेही साँचिलो केवल कोसलपाल।१९१।', 'अजहूँ अपने रामके करतब समुझत हित होइ। कहँ तू कहँ कोसलधनी, तोको कहा कहत सब कोइ।··· का सेवा सुग्रीव की···। भजन बिभीषनको कहा···।१९३।', 'मीत पुनीत कियो कपि भालुको, पाल्यो ज्यों काहु न बाल तनू जो। सज्जन सींव बिभीषन भो, अजहूँ बिलसै बर बंधु वधू जो। कोसलपाल बिना तुलसी सरनागतपाल कृपाल न दूजो। क्रूर कुजाति कुपूत अघी सबकी सुधरै जो करै नर पूजो। क० ७।५।'—क्रूर कुजाति आदिकी समाई इसी दरबारमें है। वानर और निशाचरको मित्र बनानेवाला दूसरा कोई नहीं सुना गया। यथा 'कीबेको

विसोक लोक लोकपालहु ते सब, कहूँ कोऊ भो न चरवाहो कपि भालुको। पविको पहारु कियो ख्यालही कृपाल राम, बापुरो विभीषनु घरौंधा हुतो बालुको। क० ७।१७।'

टिप्पणी—३ (क) 'प्रनतारतिभंजन जनरंजन...' इति। किसी-किसी टीकाकारने नामके ही ये सब विशेषण माने हैं अर्थात् नाम प्रणतारति-भंजन, जनरंजन और शरणागत-पविपंजर है। नामनामीमें भेद नहीं, अतः यह भी अर्थ हो सकता है।

'पवि पंजर नाउँ' इति। शरणागतकी रक्षाके लिये आपका नाम वज्रके पिंजड़ेका काम करता है। अर्थात् आपके नामजापकपर कोई बाधा सफल नहीं हो सकती, नाम उसका अमोघ कवच है।

३ (ख) बैजनाथजी लिखते हैं—"श्रीरघुनाथजीके नाममें प्रणव आदि बीज आदिमें देकर, नामको चतुर्थ्यन्त नमः सहित उच्चारण कर सिरसे लेकर पदपर्यन्त सर्वाङ्गकी रक्षा करता जाइ, तो देहपर मानों वज्रके पिंजड़ाका आवरण (कवच) हो जाता है। उसपर देव, दैत्य, ब्रह्मराक्षस, भैरव, कुष्माण्ड आदि किसीकी भी बाधा नहीं व्यापती। महर्षि विश्वामित्र-जीने 'वज्रपंजर' नामका कवच बनाया है जो श्रीरामरक्षास्तोत्र नामसे प्रसिद्ध है—

"शिरो मे राघवः पातु भालं दशरथात्मजः।४। कौसल्येयो दृशौ पातु विश्वामित्रप्रियः श्रुती। घ्राणं पातु मखत्राता मुखं सौमित्रिवत्सलः।५। जिह्वां विद्यानिधिः पातु कण्ठं भरतवन्दितः। स्कन्धौ दिव्यायुधः पातु भुजौ भग्नेशकार्मुक.।६। करौ सीतापतिः पातु हृदयं जामदग्न्यजित्। मध्यं पातु खरध्वंसी नाभिं जाम्बवदाश्रयः।७। सुग्रीवेशः कटिं पातु सक्थिनी हनुमत्प्रभुः। ऊरू रघूत्तमः पातु रक्षः कुलविनाशकृत् ।८। जानुनी सेतुकृत्पातु जङ्घे दशमुखान्तकः। पादौ विभीषणश्रीदः पातु रामोऽखिलं वपु.।९। एतां रामबलोपेतां रक्षां यः सुकृती पठेत्। स चिरायुः सुखी पुत्री विजयी विनयी भवेत्।१०। पातालभूतलव्योमचारिणश्छद्मचारिणः। न द्रष्टुमपि शक्तास्ते रक्षितं रामनामभिः।११। (रामेति रामभद्रेति रामचन्द्रेति वा स्मरन्। नरो न लिप्यते पापैर्भुक्तिं मुक्तिं च विन्दति।१२। जगज्जैत्रैकमन्त्रेण रामनाम्नाभिरक्षितम्। य. कण्ठे धारयेत्तस्य करस्था सर्वसिद्धयः। १३) वज्रपञ्जरनामेदं यो रामकवचं स्मरेत्। अव्याहताज्ञः सर्वत्र लभते जयमङ्गलम्।१४।" —यह श्लोकबद्ध स्तोत्र है, परन्तु इसको पढ़ने की विधि इस प्रकार है --"ॐ रां राघवाय नमो मे शिरः पातु रां ॐ।१। ॐ क्लीं दशरथात्मजाय नमो मे भालं पातु क्लीं ॐ।२। ॐ ह्रीं कौशल्येयाय नमो मे दृशौ पातु ह्रीं ॐ।३।ॐ ऐं विश्वा-

मित्रप्रियाय नमो मे श्रुति पातु ऐं ॐ।४ ॐ क्षौ मखत्राताय नमो मे घ्राणं पातु क्षौ ॐ।५।ॐ श्री ।मित्रवत्सलाय नमो मे मुख पातु श्री ॐ।६। ॐ आ विद्यानिधये नमो मे जिह्वां पातु आ ॐ।७।ॐ क्रो भरतवंदिताय नमो मे कण्ठं पातु क्रो ॐ।८।ॐहुँ दिव्यायुधाय नमो मे स्कन्धौ पातु हुँ ॐ।९।ॐ फट् भग्नेशकार्मुकाय नमो मे भुजौ पातु फट्ॐ।१०। ॐ फट् मनानयेनमो मे करौ पातु फट्ॐ।११। ॐ हुं जामदग्निजिते नमो मे हृदयं पातु हुं ॐ।१२।ॐ क्रों खरध्वंसिने नमो मे मध्यं पातु क्रों ॐ।१३।ॐ आं जाम्बवदाश्रयाय नमो मे नाभि पातु आं ॐ।१४। ॐ श्री सुग्रीवेशाय नमो मे कटि पातु श्रीं ॐ।१५। ॐ ह्रौं हनुमत्प्रभवे नमो मे सक्थिनी पातु ह्रौं ॐ।१६। ॐ ऐं राक्षसकुलविनाशकृते रघूत्तमाय नमो मे ऊरु पातु ऐं ॐ।१७। ॐ ह्रीं सेतुकृते नमो मे जानुनी पातु ह्रीं ॐ।१८। ॐ क्लीं दशमुखान्तकाय नमो मे जङ्घयोः पातु क्लीं ॐ।१९। ॐ रां विभीषणश्रीदाय नमो मे पादौ पातु रां ॐ।२०। ॐ रां रामाय नमो मेऽखिलं वपुः पातु रां ॐ।२१।"—इस विधिसे श्रीरघुनाथजीके नाम पढ़ते अङ्ग प्रत्यङ्गका न्यास करनेसे सबल देव आदि तो बाधा कर ही नहीं सकते, तब तुच्छ देव और जादू टोना आदि किस गिनती में हैं। (वै०)

३ (ग) 'कीजै दास ··' इति। निर्लज्ज आदिके आश्रय प्रणतारतिभंजनादि-गुणसंपन्न दूसरा कोई नहीं है, आपका नाम शरणागतके लिये पविपंजर है। अतः मुझे भी आपकी ही गति है। अतएव मुझे अब दास बना लीजिए। आप कृपासिंधु हैं, भाव कि मुझे आप अपनी ओरसे अपने कृपा-गुणसे अपनाइए।

'बिनु मोल बिकाऊँ' में भाव यह है कि दूसरोंके हाथ मूल्य लेकर भी नहीं बिकना चाहता, यद्यपि वे बहुत कुछ मूल्य (स्वर्ग आदि विषय) देनेको कहते हैं—(यथा 'मोल करत करेरो। १४६।')। आपका मुफ्त (बेदाम) का गुलाम बनना मंजूर है, लोक-परलोक किसीकी भी चाह नहीं है। कवितावलीमें भी कहा है—'तुलसी उराउ होत रामको सुभाउ सुनि, को न बलि जाउ न बिकाउ बिनु मोल को। ७। १५।'—इसी स्वभावको देखकर बिना मूल्य बिकता हूँ।

नोट—१ 'केकावलि' में मयूरकवि (मोरोपन्त) जी कहते हैं "तरे न तमुच्या वलें भवमहानदी नाविका, तुम्हीं च मग आतरास्तव सला सुदीनाविका। २२।"—इसमें मयूरजी अपनेको भवनदी पार उतारनेकी प्रार्थना करते हैं, पर जब उनको यह स्मरण हुआ कि नावका किराया देनेके लिये तो मेरे पास कुछ भी नहीं है तब अपने उपास्यदेवसे कहते हैं कि आप मुझ दीनको बेच डालें और नावकी उतराई वसूल कर लें।

गुसाईंजी कहते हैं कि मुझे अपना दास बना लीजिये, खरीद लीजिये—

(और जो कहे कि ऐसे नीचको मोल लेनेसे क्या लाभ तो) हे कृपासिंधु! मैं बिना ही मोलके बिकनेको तैयार हूँ—बिना स्वार्थके आपका दास होना चाहता हूँ। बिकनेकी कल्पना तथा पर्याय उद्देश्य दोनोंके एक ही हैं। दोनों में श्रीरामप्राप्तिका स्वार्थ विद्यमान है। गोस्वामीजीके बिना मोल बिकनेमें भी आन्तरिक स्वार्थ—इच्छा अवश्य है। वे भी यही चाहते हैं कि किसी न किसी तरह रामचरण तक पहुँच हो जाय।

। श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु ।

१५४

देव दूसरो कौन[1] दीनको दयालु॥।

सीलनिधान सुजान-सिरोमनि सरनागत-प्रिय प्रनतपालु। १

को समरथ[2] सरबज्ञ सकल-प्रभु सिव-सनेह-मानस-मरालु।

को[3] साहिब[4] किए[5] मीत प्रीति-बस खग निसिचर कपि भील भालु। २

नाथ हाथ माया प्रपंच सब जीव दोप गुन करम कालु।

तुलसिदास भलो[6] पोच रावरो नेकु निरखि कीजै निहालु। ३

शब्दार्थ—मानस = मानस-सर = मानसरोवर। हाथमें होना = वशमें, अधिकारमें वा अधीन होना। मीत = मित्र। नेकु = जरासा; टुक; तनिक। निहाल = कृतार्थ, पूर्णकाम।

पद्यार्थ—हे देव! दीनों पर दया करनेवाला, शीलनिधान, सुजानोंमें शिरोमणि, शरणागतपर प्रेम रखनेवाला (अर्थात् जिसको शरणागत प्रिय हैं) और प्रणतका पालन करनेवाला (आपके सिवा) दूसरा कौन है? (कोई भी तो नहीं है)।१। समर्थ (सर्वशक्तिमान्), सर्वज्ञ (सबके हृदयकी एवं सब कुछ स्वतः जाननेवाला), सब (चराचर) का स्वामी और शिवजीके स्नेह (स्निग्ध प्रेम) रूपी मानसरोवरका हंस कौन है? (आप ही तो हैं, दूसरा नहीं)। किस स्वामीने प्रेमके वश होकर पक्षी (जटायु), निशाचर (विभीषण), वानर (सुग्रीव आदि), भील (गुह निषादराज) और भालु (ऋक्षराज जाम्बवान् आदि) को मित्र बना लिया? (आपहीने तो बनाया, अन्य किसीने नहीं)।२। हे नाथ! आपके (ही)

१ कौनु–रा०। को–ह०, ज०, १५। कौन—प्राय. औरोमे। ॐ रा०, भ०, दीन, वि० मे इस पदभरमे तुकान्त 'लु' है, प्रायः औरोमे 'ल' है। २ सर्वज्ञ समथ-भा०, वे०। ३ केहि–ह०। ४ साहिब–रा०, आ०, भा०, वे०। साहेब—५१, १५, ७४। ५ किए–रा०। किये–ह०, ५१, ज०, आ०। किय–भा०, वे०, मु०, ७४। ६ भलो—रा०, ह०, आ०। भल–भा०, वे०, प्र०, मु०, ७४, भ०।

हाथमें माया, मायाका सारा प्रपंच (पसारा, सृष्टि, पंचतत्त्व आदिका विस्तार), सभी जीव, दोष, गुण, कर्म और काल हैं। (यह) तुलसीदास भला-बुरा (जैसा कुछ भी है) आपका ही है। टुक (इसकी ओर) देखकर इसे निहाल कर दीजिए। (इतनेसे ही यह कृतार्थ हो जायगा)।३।

टिप्पणी—१ 'देव दूसरो कौन...' इति। (क) यहाँ कण्ठध्वनिसे काकु-द्वारा विपरीत अर्थ प्रकट होता है कि ऐसा दूसरा कोई नहीं है। यहाँ 'वक्रोक्ति अलंकार' है। (ख) 'देव' संबोधन से जनाया कि आप अपने दिव्य गुणोंसे सब लोकोंको प्रकाशित किये हुए हैं। माया, प्रपंच आदि आपकी क्रीड़ायें हैं। दिवु धातुसे क्रीड़ादि दस अर्थयुक्त 'देव' शब्द है, इस तरह 'देव'=क्रीड़ा करनेवाले। १३४ (१ क), ५२ (१ क) देखिए। दया, शील आदिकी व्याख्या कई बार हो चुकी है। निस्स्वार्थ हित करना दया है। दीन, हीन, मलीन आदिको भी आदर देना, अपनाना शील गुण है। पद १०० देखिए। 'सुजान' वे हैं जो लोगोंकी वाणीसे उनकी भक्ति, गति, नम्रता आदि पहचान लेते हैं, यथा 'साधु सुजान सुसील नृपाला। ईस-अंस-भव परम कृपाला। सुनि सनमानहि सबहिं सुबानी। भनिति भगति नति गति पहिचानी। यह प्राकृत महिपाल सुभाऊ।१।२८।' और आप तो स्वयं परमात्मा हैं, आप प्राकृत नहीं हैं। आप सुजानोंमे सर्वश्रेष्ठ हैं। (वैजनाथजीका मत है कि सब विद्यायें, सब भाषायें, समस्त पशु-पक्षी आदिकी भी बोली और भाषा जानते हैं, जब जिसका समय आता है उसका व्यवहार करते हैं। यह चातुर्यगुण है। जो जैसा आता उनसे उसके अनुकूल उसीकी भाषामे वार्ता करते हैं। अतः सुजानशिरोमणि कहा)।— 'साहेबु कहाँ जहान जानकीसु सो सुजान। क० ७। १६।'

२ (क) 'को समरथ सरवज्ञ...' इति। 'सकल-प्रभु' सबके स्वामी हैं। यथा 'ईसनके ईस महाराजन के महाराज, देवनके देव देव! प्रानहुके प्रान हौ। कालहूके काल महाभूतनके महाभूत, कर्महू के करम, निदानके निदान हौ। क० ७।१२६।', 'हरि-हरहि हरता बिधिहि बिधिता श्रियहि श्रियता जेहि दई ।१३५।' विशेष 'सबको प्रभु' १०७ (५ ग) में देखिए। शिवजीके स्निग्ध प्रेम-रूपी मानससरके हंस हैं; अर्थात् शिवजीके प्रेमके वश होकर उनके हृदयमें सदा विहार और वास करते हैं। हंस मानसरोवरमे ही रहते हैं, उसे छोड़कर कहीं जाते नहीं। यथा 'जहँ तहँ काक उलूक बक, मानस सकृत मराल। २।२८१।', 'सुरसर सुभग-बनज-बनचारी। डाबरजोगु कि हंस-कुमारी। २।६०।', इत्यादि। वैसेही आप शंकरजीके निर्व्यलीक शुद्ध प्रेमपूर्ण हृदयमें बसते हैं।

२ (ख) 'को साहिव किए मीत…'इति। यहाँ भी वक्रोक्ति अ ंकार है। इसमें 'वानर बंधु विभीषन हित' वाला भाव है १५३ (० ग) देखिए। भाव कि यह पुनीत गाथा आपकी है। यथा 'कपि भालु मानो मीत कै, पुनीत गीत साके सव साहेब समत्थ के। क० ७।२४'

३ (क) 'नाथ हाथ माया प्रपंच…' इति। माया, प्रपंच, ‌ ग, दोष, गुण, कर्म और काल सव श्रीरामके अधीन हैं, आज्ञाकारी हैं। 'काल करम कुलि कारनी कोऊ न कोहातो' १५१ (४ ख) तथा 'काल कर्मगति अगति जीव कै सव हरि हाथ तुम्हारें।' ११२ (३ क) में देखिए। वही भाव यहाँ है। [प्रपंच=पंचतत्त्वरचित सृष्टि; अथवा, पंच प्रकारकी माया—अविद्या (जो जीवको वहकाती है), विद्या (जो जीवके चैतन्य करती है), संधिनी (जो जीव और ईश्वरकी संधि मिलाती है), संदीपिनी (जीवके हृदयमें ईश्वरका प्रकाश डालनेवाली), और आह्लादिनी (जीवके अन्तःकरणमें परब्रह्मका आनंद उत्पन्न करनेवाली) अथवा देहाभिमानके कारण जो भी लोकव्यवहार है वह सब 'मायाप्रपंच' है (वै०)।—१२१ (५क,) ८४ (४ क) भी देखिये। 'नाथ हाथ'—भाव कि दुःखमें सुख, सुख में दुःख, गुणी को अवगुणी, अवगुणी को गुणी, शुभका फल अशुभ, अशुभका फल शुभ, कुकालमें सुकाल और सुकालमें कुकाल, इत्यादि जो आप जव चाहें इच्छामात्रसे कर सकते है—ऐसे आप सवल समर्थ हैं। (वै०)]

३ (ख) 'तुलसिदास भलो पोच रावरो…' इति। पूर्व भी कहा है 'तुलसी जदपि पोच तो तुम्हरोइ और न काहू केरो' १४५ (७ क), 'भलो पोच रामको कहै सोको सव' १५० (४ क-ख)। वे ही सव भाव यहाँ हैं। 'नेकु निरखि कीजै निहाल'—भाव कि किंचित्कृपादृष्टिसे मेरा सव काम वन जायगा। पूर्व भी कहा है 'वारक वलि अवलोकिये कौतुक जन जी को। अनायास मिटि जाइगो संकट तुलसी को।' १४७ (६); दोनोंमें भावसाम्य है। वहाँ 'महाराज' संबोधनके संवंधसे 'कौतुक' दिखाते हैं और यहाँ दयाल, शीलनिधान आदिके संवंधसे केवल कृपावलोकनकी चाह प्रकट की है, क्योंकि अभी-अभी पूर्व निरख लेनेका फल स्मरण करा आए हैं कि अहंकार और ममतारत परशुरामजीको अपने भलप्पनसे अपनी चितवनसे साधु वना दिया था, यथा 'रोषरासि भृगुपति धनी अहमिति ममताको। चितवत भाजन करि लियो उपसम समता को।१५२।' उसीको स्मरणकर 'नेकु निरखि' की प्रार्थना है। प्रभु देख लेंगे तो अवश्य भवजाल काट देंगे। यथा 'तुलसिदास प्रभुकृपाल निरखि जीवजनविहाल भंज्यो भवजाल परम मंगलाचरे।७४।'

। श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु ।

१५५ (राग सारंग)

विस्वास एक रामनामको ।

मानत नहीं[1] प्रतीति अनत ऐसोइ सुभाउ[2] मन बाम को ।१।

पढ़िबो पर्‌यो न छठी छमत रिग जजुर[3] अथर्वन साम को ।

व्रत तीरथ तप सुनि सहमत पचि मरै करै तनु छाम को ।२।

करमजाल कलिकाल कठिन आधीन सुसाधित दाम को ।

ज्ञान बिराग जोग जप[4] तप भय लोभ मोह कोह[5] कामको ।३।

सब दिन सब लायक भयो[6] गायक रघुनायक गुनग्रामको ।

बैठे नाम कामतरु तर डर कौन[7] घोर घन घाम को ।४।

को जानै को जैहै जमपुर को सुरपुर परधाम को ।

तुलसिहि[8] बहुत भलो लागत जग जीवन रामगुलामको ।५।

शब्दार्थ—अनत=अन्यत्र । पढ़िबो=पढ़ना । छठी=जन्मसे छठे दिनकी पूजा, यथा 'छठी बारहीं लोक बेद बिधि करी सुबिधान बिधानी । रामलषन रिपुदवन भरत धरे नाम ललित मुनि ज्ञानी । गी० १।४।' 'छठीमें न पड़ना'—यह मुहावरा है, अर्थ है 'भाग्य वा प्रकृतिमें न होना वा लिखा जाना । छ-मत=षट् शास्त्र अर्थात् वैशेषिक, न्याय, सांख्य, योग, पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा (वेदान्त) । रिग=ऋक्‌वेद । जजुर=यजुर्वेद । छाम=क्षीण, दुबला । करमजाल=कर्मकांड; कर्मोंका समूह वा जाल । सहमत=सहम (डर) जाता है । घोर घन=अत्यन्त भयंकर वा कड़ा तीक्ष्ण । घन=प्रचुर; बादल । सुसाधित=सहजमें सुंदर रीतिसे साधा वा संपादित किया गया होना ।=न्यायसे मिला हुआ अर्थात् उत्तम दाम=द्रव्य; धन । तर=तले; नीचे । परधाम=भगवद्धाम । जीवन=वह दशा जिसमें प्राणी अपनी इन्द्रियों द्वारा चेतन व्यापार करते हैं ।=रहन-सहन ।=जीना ।

---

१ नही प्रतीति—रा०, भा०, वे०, प्र०, ज०, ७४, छु०, वै०, मु०, ५१ । नहीं परतीति—भ० । नहि परतीति—ह०, दीन, वि० । २ सुभाउ—रा०, ह०, भ० । सुभाव—भा०, वे०, ज० । ३ जजु न—रा० । जजुर—औरोमे । ४ को—रा०, भा०, वे, १५, प्र०, ज० । तप—ह०, ७४, आ०, ५१ । ५ कोह—रा० भा०, वे०, ह०, १५ । मद—७४, ज० । ६ भयो—रा० । गुन—दीन, ह० । भए—भा०, वे०, प्र०, ७४ । भव—आ०, ५१ । ७ कोन—रा० । कवन—७४ । ८ तुलसी—ज०, १५ ।

पद्यार्थ—'एकमात्र रामनामका ही विश्वास है, अन्यत्र विश्वास नहीं मानता (करता)'*—मेरे टेढ़े (कुटिल) मनका ऐसा ही स्वभाव है। १। मेरी छठीमें मेरे भाग्यमें छहो शास्त्रों, ऋक्, यजुः, अथर्वण तथा साम वेदों का पढ़ना नहीं लिखा गया। व्रत (उपवास आदि), तीर्थाटन, और तप (का नाम ही) सुनकर डर जाता है कि अरे, इनमें परिश्रम कर-करके कौन मरे, कौन शरीरको क्षीण करे अर्थात् गलावे।२। कर्मकाण्ड कलिकालमें कठिन है, उनका सुन्दर रीतिसे साधा जाना (वा, न्यायसे प्राप्त) द्रव्यके अधीन है। ज्ञान, वैराग्य, योग और जपको लोभ, मोह, क्रोध और कामका भय रहता है। ३। श्रीरघुनाथजीके गुणग्रामका गानेवाला सदा सब योग्य हुआ है। नामरूपी कल्पवृक्षके तले बैठे हुएको भयंकर तीक्ष्ण घामका क्या डर ?†। ४। कौन जानता है कि कौन नरकको जायगा, कौन स्वर्गको और कौन भगवद्धामको। (अन्तमें अपना सिद्धान्त कहते हैं कि मुझ) तुलसीदासको तो इस संसारमें रामगुलामका जीवन (अर्थात्) श्रीरामजीका दास बनकर जीवन व्यतीत करना बहुत अच्छा लगता है। ५।

टिप्पणी—१ 'बिस्वास एक रामनामको' इति। अन्यत्र (अन्य साधनोंमें) विश्वास न होने और रामनाममें विश्वास माननेके कारण पूर्व पद ४६, पद ६५-७०,१२८-१३१,१५१-१५२ में कह आये हैं, इस पदमें भी आगे कहते हैं और आगे भी बहुतसे पदों १५६,१६०,१६३ 'नाहिन आवत और भरोसा', १८४,२२५,२२६ 'भरोसो जाहि दूसरो सो करो' इत्यादिमें कविने स्वयं कहे हैं। 'मानत नहीं' से जनाया कि और लोग कर्मकाण्ड, ज्ञान, योग आदि पर जोर देते हैं, पर मेरा मन नहीं मानता। 'करमठ कठमलिया कहैं ज्ञानी ज्ञान-बिहीन। तुलसी त्रिपथ बिहाइ गो रामदुआरे दीन। दो० ९९।'—इस दोहेसे अनुमान होता है कि कर्मकाण्डी आदि ऐसा कहते हों। 'भरोसो जाहि दूसरो सो करो।''करम उपासन ज्ञान बेदमत सो सब भाँति खरो।'' प्रीति प्रतीति जहाँ जाकी तहँ ताको काज सरो' से भी इसकी पुष्टि होती है। पर मेरा मन उनकी नहीं मानता—'आनो भलो रामनाम हि ते तुलसिहि समुझि परो। २२६।', 'साधत साधु लोक परलोकहि सुनि गुनि जतन घनेरें। तुलसीके

---

* १ पं० रामकुमारजीका अर्थ—'जैसी अन्यत्र प्रतीति है वैसा ही विश्वास एक रामनाममे नही मानता।" २—"विश्वास एक नामका ही नही मानता; प्रतीति अन्यत्र (दूसरे साधनोमे है)" (डु०, भ० स०)।

†'घन' का अर्थ किसी किसीने 'बादल' ही यहाँ लेकर अर्थ किया है कि 'भयंकर बादलो और घामका क्या डर ?' घने बडे-बडे बटोकी छायामे वर्षामे भी रक्षा होती है।

अवलंब नामहीको एक गाँठि कोटि फेरें। २२७।' नहीं माननेके संबंध से मनको 'वाम' कहा।

२ (क) 'पढ़िबो पर्‌यो न छठी'...इति। एकमात्र नामका विश्वास होनेका कारण कहते हैं कि वेद-शास्त्रका अध्ययन मेरे भाग्यमें विधाताने नहीं लिखा। (पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि छठीके दिन ब्रह्मा कर्माङ्क लिखते हैं)। भाव कि यदि वेद-शास्त्र पढ़ा होता तो संभव था कि मन बाम न रहता, कुछ सीधा हो जाता, उनका मत धारण कर लेता। [षट्शास्त्रोंके सिद्धान्त और उनके प्रतिपादक महर्षियोंके नाम इस प्रकार हैं। वैशेषिक मत परमाणु प्रधान, न्यायमत द्रव्य प्रधान, सांख्य 'प्रकृति-पुरुष-प्रधान', योग ईश्वर-प्रधान, पूर्वमीमांसा कर्म प्रधान और उत्तरमीमांसा-मत ब्रह्म-प्रधान है। इनके प्रतिपादक क्रमशः कणाद, गौतम, कपिल, पतञ्जलि, जैमिनि और व्यास हैं। (वि०)]

२ (ख) 'ब्रत तीरथ तप ...' इति। वेद-शास्त्रका पढ़ना भाग्यमें नहीं था, इससे बुद्धिकी मंदता और ज्ञानकी अयोग्यता अपनेमें दिखाई। ब्रतादिसे डरनेमें देहाभिमान दिखाया कि ब्रत उपवासादि, तपस्या घाम-वर्षा-शीत आदि सहन करना और तीर्थाटनमें कंटक कंकड़ वन पहाड़ बीहड़में पैदल जाना बड़ा कष्टप्रद होता है, शरीर क्षीण हो जाता है, देहके लोभसे ये कोई रुचते नहीं। इससे इनमें श्रद्धा नहीं।

३ (क) करमजाल कलिकाल कठिन...' इति। कर्मको जाल बताया। भाव यह कि कर्मकाण्ड तो कर्मोंका ऐसा समूह है कि उसमें पड़कर फिर उस जालसे निकलना कठिन है। *नित्य, नैमित्तिक और काम्य तीनों प्रकारके कर्मोंके विधान ऐसे कठिन हैं कि कलियुगमें उनका निबाहना कठिन है [देखिए अभी यह हाल है कि शुद्ध घी औषधि सेवनके लिये भी मिलना दुर्लभ है, तब यज्ञ, नित्य हवन, धूप, दीप-आदि कैसे हो सकते हैं?] फिर उनका साधना द्रव्याधीन है। मेरे पास कौड़ी नहीं जो इन्हें कर सकूँ। यदि कहो कि संसारमें बहुत धनी हैं, वे द्रव्य लगायेंगे, तो उसका उत्तर भी 'सुसाधित' ही शब्दमें है कि द्रव्य कर्मकाण्डके लिये न्यायोपार्जित और शुद्ध होना चाहिए। (हमने 'सुसाधित' को क्रिया और विशेषण दोनों

---

*'कर्मजाल', यथा अर्थपञ्चके—'तत्र कर्म परिज्ञेयं वर्णाश्रमानुरूपतः। नित्यं नैमित्तिकं काम्यं त्रेधा कर्म फलार्थिनाम्। यज्ञो दानं तपो होमं व्रतंस्वाध्यायसंयमः। संध्योपास्तिजपः स्नानं पुण्यदेशाटनालयम्। चान्द्रायणाद्युपवासश्चातुर्मास्यादिकानि च। फलमूलाशनश्चैव समाराधन तर्पणम्।' इत्यादि। (वै०)।

मानकर अर्थ किया है)। सो आजकल ऐसे धनके धनी मिलने कठिन हैं। अतः कर्मकाण्डमें श्रद्धा नहीं है।

'कर्मजाल'—'तेन सर्वं कृतं कर्मजालं' ४६ (८ ख), 'तरु कर्म संकुल' ५९ (२ ख), ९७ (३ ग) देखिए।

३ (ख) 'ज्ञान बिराग जोग जपको भय···' इति। ज्ञान (विवेक) राजा है, वैराग्य उसका मंत्री है, यम नियम ब्रह्मचर्य, जप, योग, धर्म, सदाचार आदि उसकी सेना हैं। (१।८४।७-८)। मोह (महामोह) भी राजा है, काम-क्रोध-मद-लोभादि उसके मंत्री और सेना हैं, यथा 'काम-क्रोध-लोभादि मद प्रबल मोह के धारि। ३।४३।' एक दैवी संपत्तिका राजा है, दूसरा आसुरीका। दोनोंमें परस्पर बैर बना रहता है। अतः ज्ञान आदिको सदा मोह आदिका भय रहता है। बैजनाथजी लिखते हैं कि "ज्ञानको मोहका भय है, अर्थात् आत्मस्वरूपमें देहाभिमान बाधक है। वैराग्यको लोभका भय है, अर्थात् संसार-सुख त्याग करनेमें परधनपर मनका लगाना बाधक है। योगमें क्रोधका भय है, भाव यह कि इसमें मनको स्थिर रखना चाहिए, ईर्ष्या और वैर आदि इसके बाधक हैं। जपको कामका भय। भाव कि मंत्रानुष्ठानविधिमें परस्त्रीपर मनका जाना बाधक है। सब बाधक सबल हैं और कलिमें सब साधक जीव निर्बल हैं, तब निर्वाह कैसे संभव हो सकता है? (बै०)।"—अतः इनमें श्रद्धा नहीं रह गई। लोभ मोहादि सभीका भय ज्ञान-विरागादि सभीको होना भी कह सकते हैं। 'तात तीनि अति प्रबल खल काम क्रोध अरु लोभ। मुनि बिज्ञानधाम मन करहिं निमिष महँ छोभ। ३।३८।', 'कोपेउ जबहि बारिचरकेतू।···ब्रह्मचर्ज ब्रत संजम नाना। धीरज धरम ज्ञान बिज्ञाना। सदाचार जप जोग बिरागा। सभय बिबेक कटकु सबु भागा। भागेउ बिबेकु सहाय सहित··। १।८४।', 'काम कोह मद लोभ मोह मिलि ज्ञान बिराग हरो सो। १७३।' तथा पद १८७ प्रमाण हैं।

४ (क) 'सब दिन सब लायक भयो···' इति। श्रीरघुनाथजीके गुणोंका गानेवाला सब योग्य हो जाता है। इससे जनाया कि गुणग्रामके कीर्तनसे काम-क्रोध-लोभ-मोह नष्ट हो जाते हैं, इनसे श्रीराममें अनुराग होता है, प्रभु प्रसन्न होते हैं, ज्ञानविरागव्रत धर्मादि सब स्वयं आ जाते हैं। यथा 'काम कोह कलिमल करिगनके। केहरिसावक जनमन-बनके।', 'हरन मोह तम दिनकर-कर-से', 'जननि जनक सियरामप्रेम के। बीज सकल ब्रत धरम नेमके।', 'सद्गुर ज्ञानबिराग जोगके' इत्यादि। (ये सब गुणग्रामकी फलश्रुति है जो मानस १।३२ में कही गई है)। इसीसे पूर्व

कहा है—'समुझि समुझि गुनग्राम रामके उर अनुराग बढ़ाउ। तुलसिदास अनायास रामपद पाइहै पेम पसाउ।१००।' और यही तो वेदादिके पठन, व्रत, तीर्थ, तप, ज्ञान, योग, जप आदिका फल है; यथा 'जप तप नियम जोग निज धर्मा। श्रुतिसंभव नाना सुभ कर्मा। ज्ञान दया दम तीरथ-मज्जन। जहँ लगि धर्म कहत श्रुति सज्जन। आगम निगम पुरान अनेका। तव पदपंकज प्रीति निरंतर। सब साधन कर फल यह सुंदर। ७ ४६ '— यह फल केवल गुणग्रामसे प्राप्त हो जाता है तथा गुणगायक 'सब लायक' माना जाता है। यथा 'दच्छ सकल लच्छन जुत सोई। ७।४६।', 'सोइ सर्बज्ञ गुनी सोइ ज्ञाता। सोइ महि मंडित पंडित दाता।···श्रुति सिद्धांत नीक तेहि जाना। ७।१२७।'

४ (ख) 'बैठे नाम कामतरु तर··' इति। वृक्षके तले पहुँचनेपर तीक्ष्ण घामकी तपन नहीं लगती। वैसे ही रामनामरूपी कल्पवृक्षकी छायामें अर्थात् नामावलंब लेनेपर संसारके घोर संतापका डर नहीं रह जाता। यथा 'काल करम गुन सुभाव सबके सीस तपत। रामनाममहिमाकी चरचौ चले चपत। १३०।', 'सकुचत समुझि नाम महिमा मद लोभ मोह कोह कामो। रामनाम जप निरत सुजनपर करत छाँह घोर घामो। २२८।' जब तक नामजपनिष्ठ नहीं होता तभी तक इनका डर है। यथा 'राम राम राम जीय जौलौं तू न जपिहै। तौलौं जहाँ जैहै तहाँ तिहूँ ताप तपिहै। ६८।'— यहाँ संसार सूर्य है, भवताप जन्म-मरण परंपरा आदि घोर सघन घाम है। नामनिष्ठ होनेसे भवभय नहीं रहता। [(वि०)—तात्पर्य कि उन्हें न तो संसारी विपत्तियाँ ही सता सकती हैं और न पाप-संताप ही, क्योंकि उनकी समस्त मनस्कामनायें पूरी हो जाती हैं।]

टिप्पणी—५ (क) 'को जानै को जैहै ··' इति। ऊपर अन्य साधनोंमें श्रद्धा न होनेके कारण (अपनी मंदबुद्धि, व्रतादिके क्लेश, कर्मकाण्डकी कठिनता और ज्ञानादिकी बाधाएँ इत्यादि) कह आए, अब बताते हैं कि वे किसी प्रकार किये भी जायँ तो भी उनका फल भी निश्चित नहीं, कि शरीरावसानपर नरक मिलेगा, या स्वर्ग या परधाम? आगे पद २३६ में दिखाया है कि राजा नृग वेदबोधित दान-यज्ञ करके गिरगिट हुए। तप करके अजरअमर होनेपर भी नमुचि फेनसे मरा।

५ (ख) 'तुलसिहि बहुत भलो···' इति। उपर्युक्त कारणोंसे अन्यत्र विश्वास नहीं, यह दिखाकर अब अपना सिद्धान्त कहते हैं कि संसारमें रामगुलामोंका जीवन बहुत अच्छा प्रतीत होता है। [प्रह्लाद, ध्रुव, अम्बरीष और विभीषणादि भगवद्भक्तोंका जीवन देख लीजिए। प्रह्लादको दुःख

देनेवाले हिरण्यकशिपुको नृसिंह हो मारकर भक्तको राज्यसुख भोग कराया, वह तो मुक्त हुआ ही, किन्तु उसकी कई पीढ़ियाँ भी मुक्त हुईं। ध्रुवको राज्यसुखभोग और अन्तमें अविचल ध्रुवलोक प्राप्त हुआ। अंबरीपका अहित ताकनेवाले दुर्वासा ऋपिकी क्या गति हुई, भगवान्ने राजाको इसी शरीरसे अपना धाम दिया। शिवजीने दश सहस्र जन्म लेनेका शाप दिया, वह भी भगवान्ने उनको न लगने दिया। विभीपण-जीको कल्पपर्यन्त राज्य और अंतमें अपना धाम दिया। इत्यादि। इसीसे रामगुलामका जीवन अच्छा लगता है और रामनाममें विश्वास रखकर रामगुलाम बना हूँ जिससे लोक और परलोक दोनों बनेंगे। (वै०)]

भाव यह है कि जगत्‌में रामगुलाम होकर जीवन व्यतीत करे अर्थात् नरकका भय, स्वर्ग और परधामकी इच्छा छोड़कर भजन करे, यही जीवनका फल है। (भ० स०)।

सू० शुक्ल—"जब जीने-मरनेके सारे सोच छोड़ भगवान्‌के नाम हीको सर्वस्व आनन्ददाता समझ विश्वाससे प्रेम करे और सर्वत्र सर्वब्रह्महीकी प्रतीति हो, वही परमात्माका प्रेमी व कृतार्थ है।"

त्रियोगीजी—'तुलसिहिं' '—यहाँ गुसाईंजी 'हरिमय जगत्'को वैकुण्ठ आदिसे भी बढ़कर समझ रहे हैं। संसारका महत्त्व इस युक्तिसे स्पष्ट हो जाता है। उनके लिये 'रामगुलाम'का जीवन स्वर्गीय जीवनसे अधिक महत्वका है। अहमद भी कुछ ऐसा ही कहते हैं—'कहा करौं वैकुंठ ले, कल्पवृच्छकी छाँह। अहमद ढाक सराहिए, जो प्रीतम-गल-बाँह।'

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

१५६

कलि नाम कामतरु रामको[1]

दलनिहार दारिद दुकाल दुख दोप घोर घन घामको। १
नाम लेत दाहिनो होत मन बाम बिधाता बामको।
कहत मुनीस महेस महातम उलटे सूधे[2] नामको। २
भलो लोक परलोक तासु जाके[3] बल ललित ललामको।
तुलसिहुँ[4] जग जानियत नामे—तें[5] सोचं[6] न कूच मुकामको। ३।

---

१ ज० मे पदभरमे तुकान्तमे 'के' है। २ सीधे—भा०, वे०, ७४, १५, ज०, प्र०। सूधे—रा०, ह०, ५१, आ०।३ जाके है—रा०, १५। जाके—औरोमे। ४ तुलसिहु—रा०, भा०, वे०, ह०, मु०। तुलसी—७४, ज०, आ०। ५ सुनामते-ज०। सोनामहीते-रा०। सुनामहि-प्र०, १५। नाम ते-औरोमे। ६ नीच-रा०, प्र०, १५। ७ अनियत-रा०।

शब्दार्थ—दलनिहार = दल डालने (नाश करने) वाला। दुकाल = दुर्भिक्ष; अकाल। दाहिनो = दाहिना; अनुकूल। कहना = प्रकट करना। = ललकार कर प्रकट करना। सूधे (सीधे) = अक्षरक्रममें उलट-पलट किये बिना। = शुद्ध। ललित ललाम = सुन्दर रत्न; यथा 'हिय निरगुन नयनन्हि सगुन, रसना राम सुनाम। मनहु पुरट-संपुट लसत तुलसी ललित ललाम। दो० ७।' = 'सुंदरसे भी सुंदर'—(वि०, दीन)। जानियत = जानता है। कूच = प्रस्थान; चल देना; मृत्यु। मुकाम = पड़ाव; संसारमें ही पड़ा रहना। = कूचका उलटा। को = का।

पद्यार्थ—कलियुगमें श्रीरामजीका नाम कामनाओंका देनेवाला वृक्ष (कल्पवृक्ष) है। दारिद्र्य, दुर्भिक्ष, दुःख और दोषरूपी भयंकर सघन घासका † नाशक है। १। वाम विधाताका प्रतिकूल मन (भी) नाम लेते ही दाहिना हो जाता है। मुनीश्वर वाल्मीकिजी (अपने जीवनचरित्रद्वारा) उलटे नामका और श्रीमहादेवजी सीधे नामका माहात्म्य ललकारकर प्रकट कर रहे हैं। (अर्थात् इनके जीवनसे माहात्म्य प्रत्यक्ष प्रकट हो रहा है)। २। जिसको (इस) सुंदर रत्नका अवलंब है उसके लोक और परलोक (दोनों ही) भले हैं (अर्थात् बने बनाये हैं; दोनोंमें उसका भला है, दोनों सुखद हैं)। तुलसीदासको भी संसार जानता है कि* नाम (केवल) से जीने-मरनेका शोच नहीं है। ३।

टिप्पणी—१ 'कलि नाम कामतरु···' इति। (क) पिछले पदमें जो कहा था—'विस्वास एक राम नामको' उसीको इस पदमें भी दृढ़ करते हैं। वहाँ रामनामको कामतरु कहा था, 'बैठे नाम कामतरु तर'; वैसेही यहाँ भी उसे कामतरु कहा है; किन्तु वहाँ धर्म, कर्म, ज्ञान आदि साधनोंका कलिकालमें निर्वाह असंभव बताया था और यहाँ नामकी महिमा कहते हुए बताते हैं कि नामरूपी कल्पवृक्ष क्या फल देता है। कलियुगमें यही सब कामनाओंका देनेवाला है। यथा 'रामनाम कामतरु देत फल चारि रे। ६७।'

१ (ख) 'दलनिहार दारिद दुकाल···' इति। पिछले पदमें 'बैठे नाम-कामतरु तर डर कौन घोर घन-घामको' कहा था। वह घोर-घन-घाम क्या है, यह यहाँ बताते हैं। दारिद्र्यादि सब 'घोर घन घाम' हैं; ['दारिद' =

† अर्थान्तर—दुःख और सांसारिक घनघटा (विपत्तियों) तथा कड़ी धूप (ताप-संताप) का (वि०, दीन०)।

* ऐसा भी अर्थ हो सकता है कि—'जगत्‌में तुलसी भी जानता है कि'।

भोजन-वस्त्र आदिकी संकीर्णता, कंगाली। दुकाल=दुर्घट समयका आगमन, जैसे कि अतिवृष्टि या अनावृष्टि (सूखा पड़ जाना) आदिसे महँगी या भूखे मरनेकी दशाका प्राप्त हो जाना। दुःख अर्थात् हानि, वियोग, रोग, शत्रु-संकट और बंधन आदि। दोष=हिंसा, चोरी, पर-अपवाद, परस्त्रीरति, परहानि, इत्यादि वेदप्रतिकूल आचरण। (वै०)]' घोर घन घाम—१५५ (४ ख) देखिए। दारिद्र्य, दुर्भिक्ष, दुःख और दोष ये सब दैहिक, दैविक, भौतिक तापोंके अन्तर्गत आ जाते हैं, इसलिये ये सब 'घोर घन घाम' हैं। रामनाम अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष देकर इन सबका नाश कर देता है। अर्थसे दरिद्रता और दुर्भिक्षका कष्ट मिट जाता है। कामसे कामनाएँ पूर्ण होती हैं। धर्मसे दुःख दोष (पाप) दूर होते हैं और अन्तमें मोक्ष होनेसे भवदुःख भी दूर होते हैं।

[वैजनाथजी आदि कई टीकाकारोंने 'दारिद्र्य दुकाल, दुःख, घोर दोष और घोर घन घाम (अर्थात् संसाररूपी सूर्यकृत जन्ममरण और तीनों ताप आदि)'—ऐसा अर्थ किया है। दारिद्र्य, दुर्भिक्ष वा आपत्ति-काल मिटाकर लोकमें सुख और संसार दुःख और पापको नष्ट कर परलोक बना देते हैं—(भ० स०)]

टिप्पणी—२ 'नाम लेत दाहिनो होत…' इति। (क) वाम विधाता अनुकूल हो जाते हैं, पूर्व पद ७० में केवल इतना कहा था कि 'वाम विधि भालहू न करम-दाग दागिहैं' [७० (३ ख) में इसके भाव देखिए। वे भाव इसमें भी हैं], और यहाँ यह भी बताते हैं कि वे वामता छोड़कर अनुकूलता बर्तने लगते हैं। पद १५१ में भी कहा है 'रामनाम अनुरागही जिय जो रतिआतो।…होतो मंगलमूल तू अनुकूल विधातो।' पद ७० और १५१ मे मनको उपदेश करते हुए नामका प्रभाव कहा गया है। और यहाँ अपने दृढ विश्वासके कारणमे यह महिमा कह रहे हैं। यह तीनो पदोमे सूक्ष्म भेद है। क० ७।७५ में भी कहा है 'होत देखि दाहिनो सुभाउ विधि वामको।'

२ (ख) 'कहत मुनीस…' इति। 'कहत' का अर्थ यहाँ 'ललकारकर प्रकट करना' अथवा केवल 'प्रकट करना' दोनों ही संगत है। व्याध 'मरा मरा' जपकर 'मुनीश्वर वाल्मीकि' हो गया। इस तरह वाल्मीकिजीने 'मरा, मरा' का माहात्म्य प्रकट किया कि देखो इन युगल नामाक्षरोंकी महिमा कि उलटा नाम जप करनेसे मैं क्या हो गया, तब शुद्धकी महिमाका कहना ही क्या? शिवजी सीधा नाम 'राम' लेकर कालकूट पीकर भी अमर हो गए, यथा 'नामप्रभाउ जान सिव नीको। कालकूट फलु दीन्ह अमीको।१।१९।८', 'नाम प्रसाद संभु अविनासी।१।२६।१।' वे नामका प्रताप आचरणसे तथा

कहकर प्रकट करते हैं। यथा 'कासी मरत जंतु अवलोकी। जासु नाम बल करउँ बिसोकी ।१।११६।१।', 'कहत प्रचारिकै वल्लभ गिरिजाको ।१५२ (११)।', 'रामनामको प्रताप हर कहैं ।१८४।'—मुनीश और महेशका प्रमाण दिया कि मुनियोंमें इनसे बड़ा कौन है कि जो 'बालमीक भए ब्रह्म समाना' और देवताओंमें महेश समान समर्थ कौन है, इनके आगे अन्य प्रमाणोंकी अपेक्षा नहीं। इस चरणमें 'क्रमालंकार' है। वाल्मीकिजीकी कथा ५७ (३ च), ६४ (३ घ), १५१ (७) में है।

३ 'भलो लोक परलोक तासु...' इति। (क) नामावलंबसे लोक-परलोक दोनोंमें भला होता है। यथा 'रामनाम ललित ललाम कियो लाखनिको, बड़ो कूर कपूत कौड़ी आधको। क० ७।६८।', 'रोटी लूगा नीकें राखै ।७६।' इत्यादि लोक हित है। परलोक भी बनता है ऐसा वेद कहते हैं, यथा 'आगेहु के वेद भाषे भलो ह्वै है तेरो ।७६।', 'ताको भलो अजहूँ तुलसी जेहि प्रीति प्रतीति है आखर दू की। क० ७।८६।' प० पु० उत्तर० में भगवान् शंकरने श्रीपार्वतीजीसे कहा है—'येन केनापि भावेन चिन्तयन्ति जनार्दनम्॥ इहलोके सुखं भुक्त्वा यान्ति विष्णोः सनातनम् ।१८८।२१-२२।' अर्थात् जिस किसी भावसे भी जो भगवान् जनार्दनका चिन्तन करते हैं, वे इस लोकमें सुख भोगकर अन्तमें विष्णुके सनातन धामको जाते हैं। स्मरण रहे कि 'जनार्दन' भी श्रीरामका एक मुख्य नाम है। यथा 'जानकीवल्लभो जैत्रो जितामित्रो जनार्दनः।' (प० पु० उ० ७८१।३१)। विष्णु-मासमें अवतार होनेसे भी विष्णु नाम है।

३ (ख) 'तुलसिहु जग जानियत...' इति। तुलसीदासको भी कूच-मुकामका सोच नहीं है। मरनेपर क्या होगा, इसका सोच नहीं। क्योंकि वेद कहते हैं कि 'भलो ह्वैहै तेरो'। अतः आनंदित रहता हूँ, निश्चिन्त हूँ। यथा 'ताते आनँदु लहतु हौं ।७६।' पुनः, यथा 'तुलसीकी साहसी सराहिए कृपाल राम, नामकें भरोसें परिनामको निसोच है। क० ७।८१।' संसारमें जीवन कैसा व्यतीत होगा, (अथवा, वै०, दीनजी आदिके मतानुसार गर्भवास, आवागमन आदि होगा), इसका भी सोच नहीं है। यथा 'प्रसाद रामनाम के पसारि पाँय सूतिहौं। क० ७।६६।'—अतएव मुझे एक रामनामका ही विश्वास है।—"नीकें कै ठीक दई तुलसी, अवलंब बड़ी उर आखर दू की। क० ७।८८।'

नोट—१ 'सो नामहि ते नीच न कूच मुकाम को' यह पाठ संभवतः पं० रामकुमारजीकी पोथीका भी है और रा०, प्र०, १५ का तो है ही। इसका अर्थ पं० रामकुमारजीने यह लिखा है—"तुलसी ऐसे नीचको भी कि

जिसका कूच और मुकाम नहीं है अर्थात् जिसको न तो कहीं जानेका ठिकाना है और न कहीं रहनेका ठिकाना, नामके प्रभावसे जगत् जानता है।"

२ 'तुलसी' पाठ श्री० श० ने तथा आ० ने रखकर अर्थ किया है कि 'तुलसीदासजी कहते हैं कि संसार जानता है कि···'। बाबू शिवप्रकाशका अर्थ यह है—"जिसे कूच-मुकाम अर्थात् दीन-दुनियाकी खबर (सोच) नहीं, उस तुलसीको जगत् केवल नामसे जान गया अर्थात् प्रसिद्ध हो गया।" (डु०, भ० स०)।

सू० शुक्ल—"जब जीने-मरनेके सारे सोच छोड़ भगवान्‌के नामहीको सर्वस्व आनन्ददाता समझ विश्वाससे प्रेम करे और सर्वत्र शब्द ब्रह्मही की प्रतीति हो वही परमात्माका प्रेमी व कृतार्थ है।"

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

१५७

सेइअै सुसाहिब राम सो।
सुखद सुसील[1] सुजान सूर सुचि सुंदर कोटिक काम सो।१।
सारद सेष साधु महिमा कहैं[2] गुनगनगायक साम सो।
सुमिरि सप्रेम नाम जासों रति चाहत चन्द्रललाम सो।२।
गमन बिदेस न लेस[3] कलेस को सकुचत सकृत प्रनाम सो।
साखी ताको[4] बिदित बिभीषनु बैठो है[5] अबिचल धाम सो।३।
टहल सहल[6], जन महल महल, जागत चार्‌यो[7] जुग जाम सो।
देखत दोष न खीझत रीझत सुनि सेवक गुनग्राम सो।४।
जाके[8] भजे तिलोक तिलक भये त्रिजग जोनि तन तामसो।
तुलसी ऐसे प्रभुहि भजै जो न[9] ताहि बिधाता बाम सो।५।

---

१ सुजान सुसील—भा०, वे०। सुसील सुजान—प्रायः औरोंमे। २ कह—७४, मु०। कहि—भा०, वे०, प्र०, ज०। कहै—रा०। कहैं -ह०, १५, आ०। ३ कलेस लेस नहि-७४। ४ के—ज०। ५ है—मु०, ७४ मे नही है। सगीतज्ञ विचार करें। ६ सहज—डु०, वै०, दीन, वि०। सहल—प्राय औरोंमे। ७ चारचो—रा०। चारिउ—ज०, भ०। चारो-भा० वे०, आ०। ८ जाको—डु०, वै०। जाके—औरोंमे। ९ नहि—१५,७४। न-औरोंमें।

शब्दार्थ—सो = सरीखा; सदृश; ऐसे। चंद्रललाम = चन्द्र है भूषण जिनका = चन्द्रशेखर शिवजी। विदेश = परदेश; जन्मभूमि छोड़कर बाहर अन्यत्र। सहल = सुगम; सहज। टहल = सेवा। महल-महल = मौके-मौके (अवसर-अवसर) पर; = घर-घर। हृदयरूपी महल महल है। जागत = जागते रहते हैं; पहरा देते रहते हैं। = सहायताके लिये सदा सावधान वा तत्पर रहते हैं। खीझना = रुष्ट होना; कुढ़ना। तामसो = तमोगुणी भी। त्रिजग = तिर्यक् = पशु-पक्षी आदि। ताहि सो = उससे ही।

पद्यार्थ—श्रीराम ऐसे सुन्दर उत्तम स्वामीकी सेवा कीजिए, जो सुखके देनेवाले, सुशील (अत्यन्त शील स्वभाववाले), सुजान, वीर, विशुद्ध और करोड़ों कामदेवोंके समान सुंदर हैं। १। शारदा, शेष और संत जिनकी महिमा कहते हैं और सामवेद ऐसे जिनके गुणगायक हैं। जिनका नाम सप्रेम स्मरणकर चन्द्रशेखर शिवजी-ऐसे जिनसे प्रीतिकी चाह (इच्छा) करते हैं (अर्थात् उनके चरणोंमें प्रेम हो, इसकी याचना किया करते हैं) । २। (वे सुलभ ऐसे हैं कि उनकी सेवा या उनके लिये कहीं) विदेशगमन (की आवश्यकता) नहीं अर्थात् कही जाना नहीं पड़ता और न लेशमात्र क्लेश ही है*, वे एक बारके प्रणामसे ही सकुचा जाते हैं (सोचने लगते हैं कि इसके बदलेमें क्या उपकार करूँ)। साक्षात् विभीषणजी इसके साक्षी (गवाह,प्रमाण) विदित हैं (सब जानते हैं कि) वे अविचल धाममें (एवं धाममें अचल) बैठे हुए हैं। ३। उनकी सेवा सुगम वा सुलभ है। जनका महल (हृदय) उनका महल है। वे उसमें चारों युगोंमें (अष्टयाम वा रात्रिके चारों) याम जागते रहते हैं†। दोष देखकर भी खीझते नहीं। सेवकके गुण-

---

*यह अर्थ डु०, भ० स० और दीनजीने किया है। अर्थान्तर—१ (धर्मधुरीण ऐसे हैं कि पिताकी आज्ञा मानकर विदेश अर्थात् वनको गए), वनगमनने उन्हें तनिक भी दुःख न हुआ। (वै०)।—यही अर्थ भ०, वि०, पौ०, श्री० श० ने अपनाया है। २—परलोक जानेके क्लेश छू भी नहीं जाते। (सू० शु०)। ३—(रामनामके प्रभावसे) विदेश-यात्रामे लेशमात्र कष्ट नहीं होता। (वीर)।

† अर्थ—१ जन (की रक्षाके) लिये महल-महल अर्थात् सर्वत्र वक्त-बेवक्त चारो युगोरूपी चार प्रहरकी रातमे जागते रहते हैं (कभी रक्षामे असावधान नही रहते)। २ जन (उनकी सेवा करके) महल-महल मे चारो पहरमे संसार रात्रिमे जागते हैं। (डु०, भ० स०)। ३ भक्तोके घर-घर चारो युग और आठो पहरमे विख्यात हैं। (वीर)। ४ वही सेवासे सरल होके भक्तोके हृदय-हृदयमे चारो (सब) दिन उदय रहता है। (सू० शु०)। ५ (प्रणाममात्रसे अपना मानकर उसकी रक्षा कैसी करते हैं

समूह सुनकर प्रसन्न होते हैं।४। तुलसीदासजी कहते हैं (वा, अरे तुलसी!) जिनका भजन करके तिर्यक्योनिवाले था तामसी शरीरवाले जीव (भी) त्रैलोक्यशिरोमणि (तीनों लोकोंमें सर्वश्रेष्ठ, सबके सिरताज) हो गए; ऐसे प्रभुको जो नहीं भजता विधाता उसके ही प्रतिकूल हैं।५।

टिप्पणी—१ 'सेइऐ सुसाहिब रामसो ' इति। (क) 'राम ऐसे सुसाहिब' का भाव कि सुसाहिब तो बहुतसे बनते हैं और कहे भी जाते हैं, अपने-अपने स्वामीको सभी सुसाहिब कहते हैं (यथा 'बडे एक-एकतें अनेक लोक लोकपाल, अपने-अपनेको तो कहैगो घटाइ को।' क० ७।२२), ऐसे सुसाहिब तो बहुत हैं, यथा 'हैं घर-घर भव भरे सुसाहिब।',पर वे श्रीरामजीके समान सुसाहिब नहीं हैं; क्यों नहीं हैं यह पद १५३ (२ क-ख) में देखिए—'सूझत सबनि आपनो दाउँ' इत्यादि। और यहाँ बताते हैं कि 'राम' सुसाहिबमे क्या गुण हैं, जिससे उन्हीके सेवक बनना चाहिए।

१ (ख) 'सुखद सुसील सुजान ' इति। इनमेसे पूर्व भी कुछ गुण कह आये हैं, यथा 'सीलनिधान सुजानसिरोमनि सरनागतप्रिय प्रनतपालु। को समर्थ सर्वज्ञ…।' १५४ (१ २) में इनके भाव आ गए हैं। शरणागत प्रिय और प्रणतपाल हैं, अतः सबको सुखद हैं। 'सूर' (वीर) ऐसे कि ब्रह्मा, शिव, लोकपाल सभी रावणसे पीड़ित थे, आपने उसको मारकर सबका संकट दूर किया। 'शुचि'=अपहत पाप्मा; अर्थात् पवित्र, पापमुक्त अथवा उपकार करते समय प्रत्युपकारकी आकांक्षा न करनेवाले या बिना तारतम्यके भक्तिमात्रसे प्रसन्न होनेवाले। =पावन (पवित्र करनेवाले), यथा 'पावनः सर्वभूतानां त्वमेव रघुनन्दन। वाल्मी० ७।८२।६।' (समस्त प्राणियोंको पवित्र करनेवाले तो, हे रघुनन्दन! आपही हैं'—यह महर्षि अगस्त्यका वाक्य है), 'पावनःसर्व देहिनाम्। श्लो० १२।', 'अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थां गतोऽपि वा यः स्मरेत् पुण्डरीकाक्षं स बाह्याभ्यन्तरः शुचिः॥' (मनुष्य अपवित्र हो या पवित्र अथवा किसी भी दशामें क्यों न स्थित हो जो कमलनयन भगवान्‌का स्मरण करता है, वह बाहर और भीतर सब ओरसे पवित्र हो जाता है। प०पु० पा० ८०।११।—इनके स्मरण-से जीव पवित्र होते हैं)। पुन, आपकी सब रीति पावन है, यथा 'पावन सब रीति। १०७।'—इत्यादि भावोंसे 'शुचि' कहा। अन्यत्र भी यह विशेषण

कि) जनके घर-घर वा घट-घटमे चारो पहर चारो युगोमे जागते (रक्षा करते) हैं। (वै०)' वि०, पो०, श्री स०)। ६—जनका महल (हृदय) जिनका महल है। चारो युगो चारों याममें जिनका प्रताप प्रकट है। (पं० रा० कु०)।

आया है। यथा 'तजन चहत सुचि स्वामि सनेही। २।६४।३', 'राम तुम्ह से सुचि सुहृद साहिबहि मैं सठ पीठि दई। १७१।' वाल्मीकिजीके पूछने-पर नारदजीने 'यशस्वी ज्ञान सम्पन्नः शुचिर्वश्यः समाधिमान्।' ये गुण भी श्रीराममें बताये हैं। (वाल्मी० १। ।१२)।

१ (ग) 'सुंदर कोटिक काम सो'—सौन्दर्यमें करोड़ों कामदेवोंसे चढ़े चढ़े हैं।—'सौंदर्य सुखमारूप निज मनोभवकोटि गर्वहारी' ४४ (३ घ), 'कंदर्प अगनित अमित छबि नव नील नीरद सुंदरं। ४५ (२)।', 'मदन-मद-मथन सौंदर्जसीमातिरम्यं' ५३ (४ ख)', 'सुठि सुंदर' १०७ (१ ग) देखिए। सुखद हैं अर्थात् सबको सुख देते हैं तथा सब प्रकारके सुख देते हैं। यथा 'देइ सकल सुख दुख दहै आरत जन बंधु।१०७।'

२ 'सारद सेष साधु महिमा कहैं...' इति। (क) शारद, शेष और साधु क्रमशः प्रधान वक्ता ब्रह्मलोक, पाताल और मर्त्यलोकके हैं। इस तरह तीनों लोकोंके वक्ताओंका महिमा कहना-जनाया। शारदाही तो सबकी जिह्वा पर बैठकर कहलाती हैं ऐसी वक्ता हैं। शेष दो सहस्र जिह्वासे निरन्तर भगवद्गुण कहा करते हैं, ऐसे वक्ता कीर्तनकर्ता हैं। साधु 'अमितबोध', 'सत्यसार कबि कोबिद जोगी', 'बिगत संदेह' और 'बोध-जथारथ-बेद-पुराना' होते हैं। (३।४५-४६)। इनका कथन सत्यका सार और निश्चित सिद्धान्त होता है। ये सब आपके गुण गाते हैं, (गुणोंसे ही महिमा जानी जाती है, गुणकथन महिमाकथन है)। सभी वेद आपके गुणगायक बंदी (भाट) हैं, यथा 'बंदी बेष बेद तब आए जहँ श्रीराम। लखेउ न काहू मरम कछु लगे करन गुनगान।७।१२।' वेदोंने स्वयं कहा है कि 'हम तव सगुन जस नित गावहीं।७।१३।' जैसे प्रत्येक लोकके एकही एक प्रधान वक्ताका नाम दिया, वैसेही वेदोंमें सर्वश्रेष्ठ गुणगायक 'साम' का नाम देकर और सबोंको भी जना दिया। सामवेदको भगवान्‌ने अपना रूप कहा है, यथा 'वेदानां सामवेदोऽस्मि। गीता १०।२२।' शारदादि सबके गुणगानके प्रमाण, 'सेष श्रुति सारदा संभु नारद सनक गनत गुन अंत नहि तव चरित्रं।' ५० (६ क-ख), 'आगम निगम कहैं रावरेइ गुनग्राम' ५७ (३ ख), 'गायंति तव चरित सुपवित्र श्रति सेप सुक संभु सनकादि मुनि' ५२ (१ घ) में देखिए।

२ (ख) 'सुमिरि सप्रेम नाम...' इति। इस कथनसे श्रीरामजीके नामद्वारा उनकी महिमा कहते हैं कि दीन-क्षीण चन्द्रमाको जिन्होंने आश्रय देकर अपना भूषण बना लिया ऐसे दीनवत्सल समर्थ शंकरजी उनका नाम सप्रेम स्मरण किया करते हैं। क्यों उनका नाम जपते हैं?

क्या कामना है ? यह 'रति चाहत'से बताया। अर्थात् उनको सांसारिक या पारलौकिक कोई कामना नहीं है, वे निष्काम भक्त हैं। नामद्वारा अपना संबंध उनसे जापक-जाप्यका जोड़ते हैं, वह इसलिये कि इस संबंधसे प्रभु कृपा करके अपने चरणोंमें प्रेम प्रदान करेंगे। यथा 'रामनाम सों प्रतीति प्रीति राखे कबहुँक तुलसी ढरैंगे राम आपनी ढरनि। १८४।' राज्याभिषेकके समय नामका संबंध दिखाकर ही इन्होंने प्रेमकी याचना की है। यथा 'तव नाम जपामि नमामि हरी।'''महिपाल बिलोकय दीन जनं॥ बार बार बर मॉगउँ हरषि देहु श्रीरंग। पदसरोज अनपायनी भक्ति सदा सतसंग। ७।१४।'— अतः 'सुमिरि नाम' 'रति चाहत' कहा।

३ 'गमन बिदेस न लेस कलेसको ''' इति। (क) अन्तरा १ में उनके दिव्य कल्याण गुण कहे, अन्तरा २ में उनकी महिमा कही। ऐसे महिमेवानतक दीन गरीबकी पहुँच कब संभव है ?—इस शंकाके निवारणार्थ उनका सौलभ्य दिखाते हैं कि 'गमन बिदेस न', 'क्लेशका लेश न' और 'सकुचत सकृत प्रनाम सो'। अर्थात् उनके लिये कहीं जाना-आना नहीं, वे तो सर्वत्र है, यथा 'सब दिन सब देस सबहीके साथ सो। ७१ (३)।'; फिर उनकी उपासनामें किंचित् क्लेश नहीं होता, यथा 'काय न कलेसु लेसु लेत मानि मन की। ७१ (५)।' और केवल एक बार प्रणाम कर देनेसे सब कुछ देकर भी सकुचाते रहते हैं कि हमने कुछ न दिया। ऐसे सुकृतज्ञ है। यह कहकर उत्तरार्धमें उसका प्रमाण देते हैं।—आगे भी यह गुण कहा है; यथा 'त्यों न राम सुकृतज्ञ जे सकुचत सकृत प्रनाम कियेहूँ। १७०।'— वहाँ भी देखिए।

३ (ख) 'साखी ताको बिदित बिभीषन''' इति। 'साखी'का भाव कि मैं झूठ नहीं कहता, ऐतिहासिक प्रमाण भी है और सभी उसे जानते हैं। विभीषण उनके पास क्या लेकर गए थे ? प्रणाम द्वारा शरण हुए थे, बस इतना ही तो किया था। इतने हीसे लंकेश बनाकर भी प्रभुको कितना संकोच हुआ, सो विदित है। यथा 'त्राहि त्राहि आरतिहरन सरन-सुखद रघुबीर। ५।४५। अस कहि करत दंडवत देखा॥ तुरत उठे प्रभु हरष बिसेषा॥'' भुज बिसाल गहि हृदय लगावा।''', 'कहा बिभीषन लै मिल्यो कहा दियो रघुनाथ। दो० १६५।', 'जो संपति सिव रावनहि दीन्हि दिएँ दस माथ। सोइ संपदा विभीषनहि सकुचि दीन्हि रघुनाथ॥ दो० १६३। अविचल राज विभीषनहि दीन्ह राम रघुराज। अजहुँ बिराजत लंकपुर तुलसी सहित समाज। दो० १६४।', 'लंक जरी जोहै जिय सोच सो विभीषनको। क० ७।२२।'

'बैठो है अविचल'से यह भी सूचित किया कि आगेके लिये भी

निश्चिन्त हैं, यह भय नहीं है कि लोकैश्वर्य भोगनेपर कहीं जाना हो, क्योंकि प्रभु अभय कर गए हैं, वर दे गये हैं कि 'पुनि मम धाम पाइहहु जहाँ संत सब जाहिं। ६।११५।'—विभीषणको प्रमाणमें देनेका भाव कि ऐसे सुकृतज्ञ स्वामीकी सेवामें सब निवह जाते हैं;—'कहो ऐसे साहेबकी सेवा न खटाइ को। क० ७।२२।'

४ 'टहल सहल, जन-महल महल…' इति। (क) इसमें सौलभ्य दिखाते हैं। सेवा सहल है। पूर्व भी कहा है—'बलि पूजा मागै नहीं, चाहै एक प्रीति। सुमिरन ही मानै भलो…। १०७।' वह भाव यहाँ भी है। प्रेमसे स्मरण करनेसे वे जनके महल (हृदय एवं घर)को अपना ही महल मान लेते हैं; उसमें सदा रहकर वे जनकी रक्षा करने लगते हैं। उसके हृदयमें विकारोंको आने नहीं देते और जो आ जाते हैं उनसे जनकी रक्षा किया करते हैं। चारों युगों तथा रात-दिन आठों पहर यह करते आये हैं और करते हैं। यदि 'चारों'को 'याम'के साथ भी मानें, तो चारों पहर रात्रिमें जागना अर्थ होगा। भाव कि संसार मोहरूपी रात्रिमें सोता रहता है, प्रभु उसके हृदयमें बैठकर पहरा देते हैं, मोहसे रक्षा करते हैं। यथा 'तुलसीकी, बलि, बार-बारहीं सँभार कीबी, जद्यपि कृपानिधानु सदा सावधान हैं। क० ७।६०।'

४ (ख) 'देखत दोष न खीझत…' इति। दोष देखकर भी अप्रसन्न नहीं होते, इससे जनाया कि एक तो वे दोष सुनते नहीं और सुन भी लें तो मनमें कब लाने लगे, जब कि देखकर भी वे उसे मनमें नहीं लाते। मनमें लाते तो अवश्य रुष्ट होते। यथा 'अपने देखे दोष सपनेहुँ राम न उर धरे। दो० ४७।' सेवकके गुण सुनकर रीझते हैं। 'रीझ'से जनाया कि ऐसे प्रसन्न होते हैं कि बार-बार सुनानेको कहते हैं। यथा 'प्रवत जस बरनत सुनत कहत फिरि गाउ। १००।' 'रीझत सुनि'से यह भी जनाया कि जो सेवकके गुणोंको सुनाता है उसपर भी रीझते हैं। यथा 'सेवक भयो पवनपूत साहिब अनुहरत। ताको लिये नाम राम सबको सुढर ढरत। १३४।'

५ 'जाके भजे तिलोक-तिलक भये ' इति। (क) तिर्यक् योनि जीव ज्ञानशून्य तमोगुणविशिष्ट होते हैं। 'जद्यपि मीन पतंग हीनमति। ९२ (१ क)' में देखिए। गीधराज तिर्यक्योनि हिंसक तमोगुणी था, सो उसको त्रैलोक्य शिरोमणि कर दिया, वानर-भालु-निशिचर तामस तनधारी भी श्रीरामजीकी भक्तिसे तारण-तरण हो गए, उनका सुयश तीनों लोकोंमें हो रहा है। यथा 'त्रिजगजोनिगत गीध जनम भरि खाइ कुजंत जियो हौं। महाराज सुकृतीसमाज सब ऊपर आजु कियो हौं। गी० ३।१४।', 'सिला गुह गीध

कपि भील भालु रातिचर ख्यालही कृपाल कीन्हे तारन तरन। २४८।', ६६ (२ ग) देखिए।

५ (ख) 'तुलसी ऐसे प्रभुहि ...' इति। 'ऐसे' अर्थात् उपर्युक्त गुणोंवाले। 'ऐसे प्रभुको जो न भजे' अर्थात् इनको छोड़ दूसरोंको भजे। उससे विधाता रुष्ट हैं, उसके प्रतिकूल हैं, उसे भवमें ही डालना चाहते हैं—यह समझ लो। इससे जनाया कि उपास्यके सब गुण श्रीराममें ही हैं औरोंमें नहीं। जो गुण ऊपर कहे हैं वे अन्यमें नहीं हैं - श्रीरामजी सुखद, सुशील, सुजान, शुचि हैं और देवताओंमें ये गुण नहीं हैं, वे तो थोड़ेमें प्रसन्न होते हैं और अपराध देख थोड़े हीमें गर्म हो मारनेका उपाय कर डालते हैं, कृपापात्र बनाकर फिर उसीपर कोप करते हैं। उनकी रीति मलिन है, पावन नहीं, इत्यादि। यथा 'जूडे होत थोरेही थोरेही गरम। प्रीति न प्रवीन, नीतिहीन, रीतिके मलीन'। रीझि-रीझि दिये वर, खीझि-खीझि घाले घर, आपने निवाजे की न काहू को सरम। २४६।' श्रीरामजी शूरवीर हैं, पाँचों वीरताओंसे युक्त हैं, जिसपर एक बार कृपा कर दी फिर उसको सबसे तथा आपनेसे अभय करके सदा उसकी रक्षा बाहरके तथा हृदयस्थ भीतरके शत्रुओं, माया और उसकी सेनासे भी करते हैं, योग और क्षेम दोनोंमें समर्थ हैं। देवता स्वयं मायावश हैं, वे रक्षा कैसे कर सकेंगे? यथा 'ईसनि दिगीसनि जोगीसनि मुनीसनि हूँ, छोड़ति छुड़ाये ते, गहाये तें गहति। २६६।' संसारमें कामदेव सबसे सुंदर माना जाता है, इसीसे सौंदर्यमें उसकी उपमा दी जाया करती है यथा 'कामु से रूप। क० ७.४३.', सो ऐसे असंख्यों कामदेवोंकी शोभा मिलकर भी श्रीरामजीके सौन्दर्यकी छटाको नहीं पा सकती।—इसी भाँति अन्य गुण भी अन्य स्वामियोंमें नहीं हैं। किसीके भी तो सेवक पशु पक्षी तथा तामस तनधारी अन्य जीव त्रैलोक्यतिलक, प्रातःस्मरणीय तारण-तरण नहीं माने गए हैं।—अतएव कहते हैं कि श्रीराम-ऐसे प्रभुका ही भजन करना सबको उचित है।

५ (ग) इस पद्में परम जाप्य, परम उपास्य, परम इष्टदेवके लक्षण बताये हैं। सौन्दर्य सबके मनको आकर्षित करता है, प्राणीमात्रको सुंदर पदार्थ देखकर आनन्द मिलता है; अतएव 'सुंदर' कहकर यह गुण दिखाया। सौंदर्य भी हो पर यदि वह भवमे डालनेवाला हो तो सुखद नहीं, किन्तु दुःखद सिद्ध होगा, इससे 'शुचि' 'सुखद' और शंकरजीके उपास्य आदि कहकर महिमावान दिखाया। ऐसा भी सही, पर यदि हृदयकी नहीं जानता तो प्रेमीका भला वह क्या कर सकेगा? अतः 'सुजान' कहा। बड़ी महिमा है, बड़े-बड़े उनके उपासक हैं, तब अधम, पतित, दीन, हीन, मलिन पापीकी पहुँच वहाँ कब संभव? अतएव 'सुशील' कहकर यह शंका मिटाई।

सुन्दर, सुजान, सुशील आदि भी हुए पर यदि हमारी बाह्याभ्यन्तर शत्रुओंसे रक्षा न कर सके तब वे उपास्य नही हो सकते; अतः 'सूर' कहा। वे महान् वीर हैं, अतः उपास्य होने योग्य हैं। इनके भजनसे सब कामनाएँ पूर्ण होंगी। यथा 'बीर महा अवराधिऔ साधें सिधि होइ। सकल काम पूरन करै जानै सब कोइ। १०८।'—इस प्रकार श्रीरामजीको परम उपास्य बताकर उपदेश करते हैं कि 'सेइऔ सुसाहिब राम सों'। यह शिक्षा न माननेका परिणाम भी पदके अन्तमें बताये देते हैं कि 'ताहि सो बिधाता बाम' हैं, उनके भाग्य फूटे हैं। यथा 'जो न भजइ रघुबीर-पद जग बिधि बंचित सोइ।२।१८५।', 'जिन्हकर मन इन्ह सन नहिं राता। ते जन बंचित किये बिधाता।१।२०४।२।', 'अस प्रभु सुनि न भजहिं भ्रम त्यागी। नर मतिमंद ते परम अभागी।६।४४।६।'

वै०—उसको ब्रह्मा टेढ़ा है। अर्थात् अनेकों जन्मोंके पापसमूहोंका फल-रूप महान् दुःख उसके भाग्यमें लिख दिया है, इस दुर्भाग्यके कारण उसका मन हरिभजनमें नहीं लगता।

सू० शुक्ल—"विधाता या दैव भाग्यको कहते हैं और भाग्य पूर्वजन्मके पुरुषार्थको कहते हैं तथा पुरुषार्थ कर्म करने को कहते हैं। भगवान्‌की सेवा न करना विपरीत कर्म, विपरीत पुरुषार्थ, बिपरीत भाग्य, विपरीत दैव है। परमात्मा राम सज्जन, शूर, शुद्ध, सुंदर, अगम्य, प्रेमरूप, शीलवान् आदि सारी अच्छाइयोंके रूप हैं। उनके सेवकमें भी उन्हींके-से सब अच्छे गुण होते हैं, परंच इनका अभिमान न परमात्मामें है और न उनके सेवकमें ही; इसलिये भक्तके दोष भी गुण हो जाते हैं।...निरभिमान होकर समत्व योगका सेवन करना ही भक्तकी भक्ति है। इस भजनसे यह भाव कभी नहीं हो सकता कि दोष करनेसे परमात्मा क्रोध नहीं करता है इसलिये दोष करते रहो व राम-राम करते जावो।...जिसमें अनन्य भाव और यथार्थ दृष्टि है, उससे यदि काल, कर्म, स्वभावके वश दुराचार भी हो जाता है, तो वह 'सुदुराचार' कहलाता है, जैसे दुर्वासा ऋषिका क्रोध तथा विभीषण, सुग्रीव आदि के दोष।"

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु

१५८ (राग नट)

कैसे देउँ नाथहि खोरि।

काम-लोलुप भ्रमत मन हरि भक्ति परिहरि तोरि।१।

बहुत प्रीति पुजाइबे पर पूजिबे पर थोरि।

देउँ[1] सिख सिखयो न मानै[2] मूढ़ता असि[3] मोरि ।२।
किये सहित सनेह जे अघ हृदय राखे[4] चोरि ।
संग बस किये[5] सुभ सुनाए सकल लोक निहोरि ।३।
करों जो कछु धरों सचि-पचि सुकृत-सिला बटोरि ।
पैठि उर बरबस दयानिधि दंभ लेत अजोरि[6] ।४।
लोभ मनहिं नचाव कपि ज्यों गरे आसा डोरि ।
बात कहौं बनाइ बुध ज्यों बर बिराग निचोरि ।५।
एतेहु[7] पर तुम्हरोइ कहावत लाज अँचई घोरि ।
निलजता पर रीझि रघुबर देहु[8] तुलसिहि छोरि ।६।

शब्दार्थ—खोरि=दोष । लोलुप=किसी बातके लिये उत्सुक और चंचल । पुजाइबे=पुजाने । पुजाना=आदर-सम्मान प्रतिष्ठा प्राप्त करना; भेंट चढ़वाना । पूजना=दूसरेके आगे सिर झुकाना; उसका बड़ा मान आदर करना । सचना=संचय या जमा करना । सचि-पचि=यत्नपूर्वक परिश्रमसे सैंतकर रखना । शिला :—फसल कट जानेपर किसान गल्ला ('अनाज') उठा ले जाता है । जब उसकी समझमें खेतमें कुछ नहीं रह गया, तब जो दाने दरारों आदिमें या इधर-उधर कहीं पड़े रह जाते हैं उन्हें बीनकर शिलावृत्तिवाले विरक्त महात्मा उससे शरीरकी रक्षा करते हैं ।—इस भूमिमेंसे दाना-दाना बीननेके कामको शिलावृत्ति कहते हैं और अनाजके उस कणको शिला कहते हैं । अजोरि=प्रकाश (उजाला) करके । अँजोर=प्रकाश, उजाला । यथा 'रवि सनमुख खद्योत अँजोरी ।२।११।२.' पुनः, अँजोरना (हि० अँजुरी)=(अंजलि भरभरकर) छीनना, हरना वा चुरा लेना । सूरदासजीके पदोंमें इस अर्थमें यह शब्द बहुत आया है ।

१ देउँ—रा०, भा०, वे०, १५, भ० । देत—ह०, ७४, श्रा० । २ मानै—रा० । मानै—मु०, ह० । मानत—भा०, वे०, ज०, श्रा० । ३ असि—रा०, ५१, ७४, ज०, श्रा० । मति—भा०, वे०, ह०, प्र० । ४ राखे—रा०, भा०, वे०, वै०, ७४, दीन, वि० । राखें—डु०, मु०, ५१ । राखत—भ० । राखो—ज० । ५ किये—ह०, श्रा० । किए—रा० । किय—भा०, वे०, मु०, ७४ । ६ अजोरि—रा०, वै०, मु०, ५१, ज०, १५ । अँजोरि—भा०, वे०, श्रा० । ७ एतेहु—रा० । इतो पै—७४ । इतेहुँ—भा०, वे०, ह०, डु०, मु० । एतेहुँ—५१, श्रा०, प्र०, ज० । ८ देहि—मु० । लेहु—प्र०, १५, ज० । देहु—औरोंमे ।

लेत अजोरि = छीन लेता है। = खोज लेता है (दीनजी)। घोरि = घोलकर। अँचई = पी गया। "घोलकर पी जाना" मुहावरा है। = शरबतकी तरह पी जाना, अर्थात् सहजमें नष्ट कर देना; कुछ भी बाकी (बचा हुआ) न रहने देना। अँचना = आचमन करना; पीना। घोरना (घोलना) = पानी या और किसी द्रव पदार्थमें किसी वस्तुको हिलाकर मिलाना।

पदार्थ—हे नाथ! मैं आपको दोष कैसे दूँ? हे हरि! मेरा मन आपकी भक्तिको छोड़कर कामनाओंके वश चंचल होकर (इधर-उधर) भटकता फिरता है। १। पुजानेमें तो बहुत प्रेम है, पूजनेमें बहुत कम प्रीति है। (जो) शिक्षा देता हूँ (उस) शिक्षाको (स्वयं) नहीं मानता हूँ। मेरी ऐसी मूर्खता है। २। जो पाप मैंने प्रेमपूर्वक किये, उन्हें हृदयमें चुराकर रक्खा है और जो (कभी सत्संग वा सज्जनोंके) संगके कारण शुभ (काम) किये उन्हें सारे संसारको प्रार्थना कर-करके सुनाता हूँ (भाव कि कोई मेरे ढिंढोरा पीटनेपर भी नहीं सुनता, तो मैं बिनती करता हूँ कि ज़रा सुन लीजिए, बड़ी कृपा होगी)। ३। जो (इने-गिने) कुछ सुकृत (पुण्य कर्म) करता हूँ उन शिलाओंको (शिलाकी तरह) बटोरकर यत्नपूर्वक संचय करके रखता हूँ। (किन्तु) हे दयासागर! दंभ हृदयमें बलात् प्रवेशकर उजाला करके खोज निकालता है (भाव कि उनको दंभके कारण छिपाना कठिन है, दंभके प्रकाशसे सुकृत नष्ट हो जाते हैं, क्योंकि दंभके कारण स्वयं ही सबसे कहता फिरता हूँ)। ४। लोभ (रूपी मदारी) आशारूपी डोरी गलेमें लगाकर मनको बंदर सरीखा नचाता है और बातें पंडितोंकी-सी श्रेष्ठ वैराग्यका सार निचोड़ी हुई बना-बनाकर कहता हूँ। ५। इतनेपर भी आपका ही कहलाता हूँ, लज्जाको (तो मानो) घोलकर पीलिया है। हे रघुकुलश्रेष्ठ! (इस) निर्लज्जतापर रीझकर तुलसीदासको छोड़ दीजिए (अर्थात् भवबंधनसे मुक्त कर दीजिए)। ६।

नोट—१ पिछले पदमें 'सुसाहिब राम' में उपास्य इष्टदेवके आवश्यक लक्षण दिखाकर जीवको उनका भजन करनेका उपदेश देकर न भजन करनेवालेको अभागा बताया। दूसरोंको तो उपदेश देते हैं और स्वयं उसपर नहीं चलते, स्वयं क्या करते हैं यह बताते हुए पुनः विनय करते हैं।

टिप्पणी—१ 'कैसे देउँ नाथहि खोरि।...' इति। (क) मुझे विधाता वाम है, तो इसमें स्वामीका दोष नहीं। स्वामी तो सुखद सुशील आदि सर्वगुणसंपन्न हैं। मैं उचित औषधि नहीं करता जो बताई गई है, तब इसमें दूसरे का दोष क्या? यथा 'प्रबल भवजनित त्रैव्याधि भेषज भक्ति। ५७ (६)', 'जस आमय भेषज न कीन्ह तस दोस कौन दरपानी। १२२।'

तिर्यक् तामसतनधारी भी 'जब राम सुसाहिब' का भजनकर त्रैलोक्यतिलक हो गए, तब मैं भी भजनकर वैसा हो जाता, पर मैं आपसे विमुख हूँ; अतएव आपका दोष नहीं। पूर्व भी कहा है 'नाहिन कछु अवगुन तुम्हार अपराध मोर मैं माना। ज्ञान भवन तन दिएहु नाथ सोउ पायउ न मैं प्रभु जाना। वेनु करिल श्रीखंड बसंतहि दूपन मृषा लगावै। साररहित हतभाग्य सुरभिपल्लव सो कहहु किमि पावै।११४।'—किंतु दोनों पदोंमें किंचित् भेद स्पष्ट है। वहाँ भाग्यको दोष दिया कि चन्दन तो सबको चंदन बनाता और बसंत सबको नये पल्लव देता है, वेणु साररहित और करील भाग्य-रहित है, इससे उनको लाभ नहीं होता। दोष तो कह ही डाला कि 'केहि कारन दया न लागी', किन्तु फिर सँभलकर 'नाहिन कछु औगुन तुम्हार' कहा। दूसरे, वहाँ अपना दोष यह कहा था कि 'मैंने प्रभुको जाना नहीं'। परन्तु यहाँ ये दोनों बातें नहीं हैं, यहाँ प्रभुको बिल्कुल निर्दोष कहते हैं, सारा दोष अपना मानते हैं। यहाँ प्रभुको सुसाहिब जान गए हैं तब भी जानबूझकर उनसे विमुख हो रहे हैं, यह 'भक्ति परिहरि तोरि' से सूचित किया है। पद ११७ में भी कुछ ऐसा ही कहा है—'हैं हरि कवन दोष तोहि दीजै।०'।

१ (ख) 'काम लोलुप भ्रमत मन···' इति। हरिभक्ति क्लेशहारी है, यह 'हरि' शब्दके साहचर्यसे दिखाया। सो उसका त्याग किया। वासनायें जो भवमें डालनेवाली हैं उनके वश हो विषयोंके पीछे-पीछे दौड़ता फिरता है, अतः अपनी करनीसे संसृतिक्लेश भोगा ही चाहे। इसमें आपको कैसे दोष दिया जा सकता है ?

२ 'बहुत प्रीति पुजाइबे पर···' इति। अब अपने दूसरे दोष कहते हैं। पुजानेका बड़ा मन रहता है; यथा 'केउ किछु कहउ देउ किछु, असि बासना हृदय तें न जाई।११६।' सबसे प्रतिष्ठा और भेंट-पूजाकी चाह बहुत है। पूजने पर बहुत कम प्रेम रहता है। इससे जनाया कि मान और मद दोनों दोष मुझमें हैं, ये ही दोनों दूसरोंको पूजनेमें बाधक होते हैं। इस प्रकार हृदयकी मलिनता दिखाई। यथा 'हृदय मलिन बासना मान मद।८२।'

वैजनाथजी इसका भाव यह लिखते हैं—'पूजा भजन ध्यान आदि जो मैं करता हूँ वह इसीलिये करता हूँ कि लोग मुझे महात्मा जानकर पूजें, शुद्ध रामप्रीत्यर्थ पूजन भजन नहीं करता। इसीसे जहाँ कोई देखनेवाला नहीं होता वहाँ पूजा-भजन बहुत थोड़ा करता हूँ और जहाँ देखनेवाले होते हैं वहाँ बहुत भजन पूजन करता हूँ।'

दूसरोंको शिक्षा देता हूँ और स्वयं उसका पालन नहीं करता। इससे जनाया कि कथनी-करनी एक-सी नहीं। अतः भवसागरके योग्य ही हूँ। यथा 'जो कछु कहिअ करिअ भवसागर तरिअ बच्छपद जैसें। रहनि आन बिधि; करिअ आन, हरिपद सुख पाइअ कैसें। देखत चारु मयूर बयन सुभ, बोलि सुधा इव सानी। सविष उरग आहार निठुर अस, यह करनी वह बानी।११८।'—इसके भाव भी यहाँ आ जाते हैं। ऐसा करना मूर्खता है।

इस अंतरासे दिखाया कि सेवक बनना गुण है सो न चाहकर मैं अभिमानी स्वामी बननेकी इच्छा रखता हूँ, जो दोष है। यथा 'सासु ससुर गुरु मातु पितु प्रभु भयो चहै सब कोइ। होनो दूजी ओर को सुजन सराहिअ सोइ। दो० ३६१।' किसी ने खूब कहा है—'धर्मोपदेशसमये सर्वे व्याससमा द्विजाः। तनुष्ठान समये मुनयोऽपि न पण्डिताः।' वही मुझमें लागू है।

२ 'किये सहित सनेह जे अघ…' इति। (क) 'सहित सनेह' से जनाया कि पापोंमें स्वाभाविक मनकी प्रवृत्ति है, इसीसे उनको जानबूझकर मन-वचन-कर्मसे करता हूँ। मन-कर्म-वचन तीनों लगाकर करना ही 'स्नेहसहित' करना है। इसीसे पूर्वभी कहा है कि 'मन क्रम बचन लाइ कीन्हे अघ ते करि जतन दुरावौं।१४२।' वहाँ 'सहित सनेह' न कहकर केवल 'मन क्रम बचन' शब्द दिये और यहाँ 'मन कर्म वचन' न कहकर केवल 'सहित सनेह' कहा। इस प्रकार दोनोंको पर्याय जनाया। 'हृदय राखे चोरि', चुराकर अन्तर-गुफामें रक्खे हैं—इस कथन से जनाया कि उनको बड़े प्रयत्नपूर्वक छिपाकर रखता हूँ जैसे चोर चोरीकी वस्तु बहुत गुप्त स्थानमें रखते हैं, नहीं तो पकड़े जायँ, दंड मिले। वैसे ही भंडा फूटनेपर प्रतिष्ठा न रह जायगी—'उघरे अंत न होइ निबाहू'। अतः बहुत छिपाये रखता हूँ। पाप करना दोष और पापका छिपाना दोष। उनके प्रकट कर देनेसे उनका प्रायश्चित्त हो जाता सो नहीं करता।—विशेष १४२ (७ क-ख) देखिए।

३ (ख) 'संग बस किये सुभ…' इति। भाव कि शुभकर्म तो करता ही नहीं, कदाचित् कभी किसी सज्जनका संग हो जानेसे कुछ पुण्य हो भी गया तो उसका डंका पीटता फिरता हूँ कि सब लोग सुन लीजिए मैंने ये ये पुण्य किये हैं। यह भी दोष है, क्योंकि इससे सुकृत नष्ट हो जाते हैं। इनको गुप्त रखना चाहिए।—१४२ (७ क, ग) में देखिए। वे ही भाव यहाँ भी हैं। 'संग बस' में १४२ (७) के 'पर प्रेरित' का भाव है।

इस अन्तरामें यह भी दिखाया है कि जीव पुण्यका फल सुख चाहते हैं, पर पुण्यकी इच्छा नहीं करते। इसी तरह पाप करते हैं, पर पापके फलकी इच्छा नहीं करते, वही हाल मेरा है।—'पुण्यस्य फलमिच्छन्ति पुण्यं नेच्छन्ति मानवाः। पापस्य फलनेच्छन्ति, पाप कुर्वन्ति यत्नतः।', 'सुख-मिच्छन्ति ते मूढाः नेच्छन्ति सुखकारणम्। दुःखं नेच्छन्ति कुत्रापि तद्धेतु सततं कृतम्॥' (वायु पु०, माघमाहा० अ० २।४-५)॥

४ 'करों जो कछु धरों....' इति। सुकृतको शिलाकी उपमा देकर जनाया कि बहुत ही कम सुकृत करता हूँ, उसके बटोरने बीननेमें परिश्रम भी होता है और वह सुकृतशिला भी वही संचित करता हूँ जिसको कोई पूछनेवाला भी नहीं, पर जैसे शिलोञ्छवृत्तिवालेका तो वही आधार है, वैसे ही मेरे पेट भरनेका वही आधार होनेसे मैं उनका अभिमानी बनता हूँ। वस्तुतः वे धर्म-कर्म नहींके बराबर हैं, पर मैं दम्भी हूँ, दंभके कारण मुझसे रहा नहीं जाता, मैं उन्हें कहता फिरता हूँ। झूठ-मूठ अपनेको धर्मात्मा प्रसिद्ध करना, यही दंभ है। यथा 'दम्भो धर्मो ध्वजोच्छ्रयः। म० भा० वन० ३१३। ९०।' और कहने से सुकृत नष्ट हो जाते हैं। हृदय में सुकृतशिलाको दंभके कारण गुप्त न रख पाना, यही दंभका हृदयमें बरबस प्रवेश है। 'लेत अजोरि' अर्थात् दंभ प्रकाशित कर देता है वा 'अंजलि भर-भरकर शिलाओंको बाहर निकाल लाता है। यहाँ ललित अलंकार है।

[श्री० त्रा०—'धरों संचि पचि....'—उन्हें सदा चित्तमें रखता हूँ। अर्थात्, उनपर कर्तृत्वाभिमान और ममता रखता हूँ, उनमें आसक्ति एवं फलेच्छा रखता हूँ।]

'दयानिधि' का भाव कि मैं दीन हूँ, आप दयासिंधु हैं; 'तू दयाल दीन हौं' यह नाता मेरा आपसे है, मुझपर दया कीजिए।

५ (क) 'लोभ मनहि नचाव कपि ज्यों....' इति।—मदारी बंदरको पकड़कर उसके गलेमें डोर बाँधकर उसे जैसा चाहे वैसा नाच नचाता है। यहाँ मन कपि है, लोभ मदारी है और आशा डोर है। लोभ वस्तु-प्राप्तिकी आशा-द्वारा मनको नचाया करता है, मनको विषयोंमें लगाये हुए द्वार-द्वार नचाता फिरता है। पद ९१ में नाचका रूपक दे आये हैं। यथा 'नाचत ही निसि दिवस मर्यो। बहु-बासना विविध कंचुकि भूषन-लोभादि भर्यो।—देव दनुज मुनि नाग मनुज नहिं जाँचत कोउ उबर्यो।' ९१। देव दनुजादिके सामने लोभ-मदारीने आशासे नचाया। आगे पद २७६ में भी कहा है—'आस-बिबस खास-दास ह्वै नीच प्रभुनि जनायो। हा-हा करि दीनता कही द्वार-द्वार बार-बार परी न छार मुँह बायो।' इसीको

नाच कहा है, यथा 'सौंच कहौं नाथ कौन सो जो न मोहि लोभ लघु निलज्ज नचायो।२७१।' आशा बड़ी बुरी बला है, यह क्या न करा डाले। इसीसे बराबर इसके त्यागका उपदेश दिया है। यथा 'तुलसिदास सब आस छाड़ि करि होहि रामको चेरो।१६३।', 'अब नाथहिं अनुरागु जागु जड़ त्यागु दुरासा जी तें। बुझै न काम-अगिनि तुलसी (कहुँ विषय भोग बहु घी तें।१९८।'

५ (ख) 'बात-कहौं बनाइ बुध ज्यों—' इति। लोभ और वैराग्य परस्पर विरोधी हैं। 'वर विराग' वह है जिसमें तीनों गुणोंका सर्वथा त्याग हो जाता है। यथा 'कहिअ तात सो परम बिरागी। तृन सम सिद्धि तीनि गुन त्यागी।३।१५।' हूँ तो लोभी किन्तु वर्णन ऐसे करता हूँ कि जैसे कोई परम वैराग्यवान् पंडित कहे। इससे जनाया कि वचनमात्र वैराग्य है, करनी लोभी लोलुपकी है, अपनेको भारी पंडित और त्यागी संत जनाकर लोगोंको ठगता हूँ। यथा 'भक्ति विराग ज्ञान साधन कहि बहु बिधि डहँकत लोग फिरौं।१४१।', 'ताहू पर निज मति बिलास सब संतन्हि माँझ गनावौं।१४२।' (कथनी कुछ करनी कुछ, यह दोष होनेसे भवतरण असंभव है क्योंकि भवतरणोपाय तो यह है कि 'जो कछु कहिअ करिअ' तब 'भवसागर तरिअ बछपद जैसे।११८।'

६ 'एतेहुँ पर तुम्हरोइ कहावत—' इति। यही भाव 'गोपद बुड़िबे जोग करम करौं, बातनि जलधि थहावौं। अति लालची काम किंकर मन मुख रावरो कहावौं।२३२।', 'नाम की ओट लै पेट भरत हौं पै कहावत चेरो।२७२।', इत्यादिमें है। यही निर्लज्जता है कि 'स्वाँग सूधो साधुको कुचाल कलि ते अधिक, परलोक फीकी मति लोक-रंग-रई।', फिर भी कहता और कहलवाता हूँ कि मैं आपका ही हूँ, 'मोको गति दूसरी न विधि निरमई'। इसीको प्रार्थीने अपनी निर्लज्जता कहकर उसीको रीझने योग्य गुण बताया है, यथा 'खीझिबे लायक करतब कोटि-कोटि कटु, रीझिबे लायक तुलसीकी निलजई।२५२।' उसी भावसे यहाँ 'निलजतापर रीझि रघुबर' यह प्रार्थना की है। 'रघुबर' से राजा और दानी जनाया। दानी राजा जब किसीपर रीझते हैं तो भारी बखशीश देते हैं। 'देहु तुलसिहि छोरि'—यह पारितोषिक रीझिपर माँगते हैं। अथवा, राजाको नट, बहुरूपिया, भाँड़, कलावत आदि स्वाँग दिखाया करते हैं, वैसे ही मैंने यह निर्लज्जताका स्वाँग आपको दिखाया है। मैंने अपनी गति-भर सुंदर स्वाँग दिखाया है। आप मेरी गति पहिचानकर मेरा रीझद्वारा सम्मान कीजिए, क्योंकि राजाओंका स्वभाव है कि 'सुनि, सनमानहिं सबहि सुबानी। भनिति भगति नति

गति पहिचानी। १।२८।' और आप तो 'सुजानशिरोमणि कोशलराज' हैं। पद ६१ में रहीमका श्लोक भी इस भावका दिया गया है—'आनीता नटवन्मया तव पुरः…'। [भाँड़ निर्लज्ज होते हैं। निर्लज्ज नाचनेवाले भाँड़ राजाओंके यहाँ रहते हैं और (निर्लज्ज चरित दिखाकर) इनाम (रिझवार, बख्शीश, पारितोषिक) पाते हैं। वैसे ही मैं आपका निर्लज्ज भाँड़ हूँ। (यह समझकर मुझे बख्शीश दीजिए, संसारबंधनसे छुड़ा दीजिए।) (छु०, भ० स०)] ['देहु छोरि'—भाव कि "मैं तो काम-क्रोध-लोभादि फंदोंसे दृढ़ करके अपने जीवको बाँधता जा रहा हूँ और आपसे कहता हूँ कि मुझे छोड़ दीजिए, तो आप कैसे छोड़ें।"—(वै०)]

सू० शुक्ल—इसमें अपनी दोषदृष्टिसे मुक्ति बतलाई है। जब जीव अपने दोष देख लेता है और उसपर ग्लानि करके भगवान्‌की शरण होता है, तो मुक्त हो जाता है, क्योंकि जबतक अहं बंधनसे बँधा है, मायामें दोषदृष्टि नहीं होती, तभी-तक संसारी क्लेश है।

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

१५९ (१३६)

है प्रभु मेरोई सबु दोसु।
सीलसिंधु कृपालु नाथु[1] अनाथ-आरत-पोसु। १।
बेष बचन बिरागु मनु[2] अघ-अवगुनन्हि[3] को कोसु।
रामप्रीति-प्रतीति-पोलो कपट-करतब ठोसु। २।
रागु रंगु कुसंग ही सों साधु संगति रोसु।
चहत केहरि-जसहि सेइ सृगाल ज्यों खरगोसु। ३।
संभु सिखवनु रसनहूँ नित रामनामहि घोसु।
दंभहूँ कलि नामु[4] कुंभजु[5] सोचसागर सोसु। ४।
मोद-मंगलमूल अति अनुकूल निज निरजोसु।
रामनाम प्रभाव सुनि तुलसिहुँ[6] परम परितोसु[7]। ५।

१ नाथु—६६। नाथ—रा०, भा०, वे०, श्रा०। २ मनु—६६, रा०। मन—भा०, वे०, श्रा०। ३ अवगुनन्हि—६६, ७४, भ०। अवगुननि—रा०, भा०, वे० श्रा०। ४ नामु—६६, भ०। नाम—भा०, रा०, वे०, श्रा०, ७४। ५ कुंभजु—६६, भ०। कुंभज—औरोंमें। ६ तुलसिहुँ—६६, श्रा०। तुलसीहुँ—रा०। तुलसिहि—७४। तुलसी—भा०, वे०। ७ परितोषु—भा०, वे०। परितोसु—६६, भ०। संतोसु—रा०, ह०, श्रा०। संतोष—५१, ब०।

शब्दार्थ—दोसु = दोष। पोसु (पोष) = पालन पोषण रक्षा करनेवाले। कोसु = कोष, खजाना। पोला = जिसके भीतर खाली जगह हो। = खोखला, सुल्खल। अर्थात् अन्तःसार शून्य, हीन वा रहित। ठोसु = खूब भरा हुआ। इसका प्रयोग पोलेके विरुद्ध भाव प्रकट करनेके लिये लंबी, चौड़ी, मोटी घनात्मक वस्तुओंके संबंधमें होता है। रोसु = रोष; चिढ़; क्रोध। केहरि = सिंह। जस (यश) = कीर्ति। शृगाल = गीदड़। रसन = रसना, जिह्वा। घोसु = घोंषु = बारंबार जोर-जोर उच्चारण कर। = रट। सोसु (शोषणकर्ता) = सोखने वा सुखा देनेवाला। कुंभज = घटज = अगस्त्यजी। निज = निजका; अपना। = सच्चा, यथार्थ। निरजोसु (सं० निर्यास) = निचोड़; निर्णय; निश्चय। यथा 'राम तुम्हहिं प्रिय तुम्ह प्रिय रामहिं। यह निरजोसु दोसु बिधि बामहिं। २।२०१।८।' परितोष = संतोष = वह प्रसन्नता जो किसी बड़ी अभिलाषाके पूर्ण होनेसे उत्पन्न हो।

पद्यार्थ—प्रभो! सब दोष मेरा ही है। हे नाथ! आप तो शीलके समुद्र, कृपाल, अनाथोंके नाथ तथा अनाथों और दुःखियोंके पालन-पोषण करनेवाले हैं।१। मेरा वेष और वचन (तो) वैराग्यका है, (किन्तु) मन पापों और अवगुणोंका खजाना है। रामप्रेम, रामविश्वाससे (तो) खाली है और कपट कर्तव्योंसे ठोस (ठूस-ठूँसकर परिपूर्ण भरा) है।२। कुसंग होके प्रेमसे रँगा हुआ है, सन्तोंकी संगतिसे चिढ़ और कुढ़न रहती है। जैसे खरगोश गीदड़की सेवा करके सिंहका यश चाहता है (यह कर्म मेरा वैसा ही है)।३। श्रीशंकरजीका उपदेश है कि "जिह्वासे ही रामनामको नित्य रट, कलियुगमें दंभसे भी (लिया हुआ) नाम भवशोकरूपी समुद्रको सोख लेनेके लिये अगस्त्यरूप है।४। (नाम) अत्यन्त आनंद-मंगलका मूल तथा (भक्तोंके लिये) अत्यन्त अनुकूल है, यह मेरा (शंकरका) निजका निश्चित सिद्धान्त है।"—रामनामका (यह) प्रभाव सुनकर मुक्त तुलसीदासको भी परम संतोष है।५।

टिप्पणी—१ 'है प्रभु मेरोई सबु दोसु…' इति। (क) पिछले पदमें कहा था—'कैसे देउँ नाथहिं खोरि'। उस कथनसे यह झलकता है कि जीव प्रभुको ही दोष लगाता है, अपना दोष नहीं मानता। यथा 'नाइ चरन सिरु कह कर जोरी। नाथ मोहि कछु नाहिंन खोरी। अतिसय प्रबल देव तव माया। छूटइ राम करहु जौं दाया। ४।२१।', 'कालहि कर्महि ईश्वरहि मिथ्या दोष लगाइ। ७।४३।'; वैसे ही मेरा मन भी दोष लगानेको करता है, पर सोचने-विचारनेसे समझ पड़ता है कि आपको दोष देना अनुचित है, अतः विचारते हुए कहा कि 'कैसे देउँ नाथहि खोरि'। फिर न दोष देनेमें जो

कारण हैं, वे भी कहे। फिर भी अभी रिझानेकी वस्तु अपनेमें है, यह पुरुषार्थ है। वह है 'निर्लज्जता', इसीपर रिझवार माँगते हैं। इससे सिद्ध हुआ कि अभी उपायशून्य शरणागति नहीं हुई। अतएव प्रस्तुत पदमें सर्वथा अपना दोष स्वीकार करते हैं। निष्काम नामजपमें ही परम संतोष हो गया।

१ (ख) 'सीलसिंधु कृपालु नाथु' इति। भाव कि आप तो आश्रितोंके हितके लिये शीलसिंधु, कृपाल आदि विरद धारण किये हुए हैं। आप शीलरूपी जलसे परिपूर्ण समुद्र हैं, जिसमें सब विधि दीन मलीन, महान् अधमाधम भी आश्रय पा जाते हैं, जो उस समुद्रके पास जाते हैं। आप कृपाल हैं, सम्मुख होते ही जीवके सब अपराध क्षमा करके उसपर कृपा करते हैं, अब तक सन्मुख न हो पानेका दोष आप अपने ऊपर मान लेते हैं; क्योंकि इस गुणसे आपका दृढानुसंधान रहता है कि जीव असमर्थ है, एकमात्र हम ही उसकी रक्षाके लिये समर्थ हैं। आप अनाथ-नाथ तथा अनाथ-आर्तपोष हैं किन्तु मैं इनमेंसे किसीका पात्र न बना। यथा 'पतित-पावन हित आरत-अनाथनिको, निराधारको अधार दीनबंधु दई। इन्हमें एकौ न भयो। १५२।' तात्पर्य कि आपमें कोई वैषम्य नहीं, मैंने जैसे कर्म किये, वैसा फल भोग रहा हूँ।

२ 'बेष बचन बिराग' इति। (क) 'बेष बिराग' अर्थात् सीधे-सादे विरक्त साधुका वेष बना लिया है। केवल एक कोपीन धारण किये कमण्डलु लिये फिरता हूँ। तात्पर्य कि मनमें वैराग्य नहीं है, मनमें तो विषयोंका अनुराग है, केवल दिखावमात्र वैरागी हूँ। 'बचन बिराग'—अर्थात् बातें परम वैराग्यवानोंकी-सी करता हूँ, पर करनी उसके प्रतिकूल है। इसमें 'बातें कहीं बनाइ बुध ज्यों, बर बिराग निचोरि। १५८ (५ ख) के भाव हैं। यह तन (कर्म) और वचनकी मलिनता कही। 'मन अघ अवगुनन्हिको कोसु' से मनकी मलिनता कही। [अवगुण अर्थात् काम-क्रोध-मद-लोभ-ईर्ष्या-कटुता-दुर्वाद-आलस्य-निद्रा आदि। (वै०)] ये अव-गुण आदि रामप्राप्तिके बाधक हैं। यथा 'बेष बिसद बोलनि मधुर मन कटु करम मलीन। तुलसी राम न पाइऐ भएँ बिषय जल मीन। दो० ९५३।'

२ (ख) 'राम प्रीति प्रतीति पोली' इति। श्रीरामजीमें प्रीति और विश्वास होना चाहिए। अर्थात् सब ममताओंको एकत्रकर उन्हें प्रभुमें लगाना जीवका कर्तव्य है। मनकी वृत्तिको श्रीरामप्रेमरसमें भिगोये रहना चाहिए। बिना रामप्रेमके जीवन व्यर्थ है, यथा 'रामसे प्रीतमकी प्रीतिरहित जीव जाय जियत। १३२।' इसी तरह 'रामप्रीति पोली' कहकर जन्म व्यर्थ

खोना बताया। विश्वास भी भक्तिके लिये आवश्यक है, 'बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती', सो यह भी नहीं है। शरणागतिमें 'रक्षामें विश्वास' होना ही चाहिए। प्रभु मेरी रक्षा अवश्य करेंगे, जब तक यह दृढ़ विश्वास न हो, कोई भी पूरा भक्त नहीं हो सकता। (२)

'कपट करतब ठोसु'—कपट प्रत्येक करनीमें ठूस-ठूसकर भरा है। यथा 'कपट करौं अंतरजामिहुँ सों अघ ब्यापकहि दुरावौं। १७१।' रामकिंकर कहाकर मनको विषयोंका किंकर बनाये रहना इत्यादि सब 'कपट करतब' है। 'बेष बचन बिराग' आदि जो ऊपर कह आए वह, सब भी कपट ही है। मिलान कीजिए—'बेष बिरागको राग भरो मन। क० ७।१३७।'

३ 'राग रंग कुसंग ही सों' इति। (क) कुसंग अर्थात् जो काम-क्रोधादिमें रत हैं उनकी संगतिमें प्रेम है, उन्हींके रंगमें मैं रँग रहा हूँ अर्थात् वैसा ही हो रहा हूँ। जिनका संग न करना चाहिए, उनका संग करता हूँ। 'साधु संगति रोष' अर्थात् शान्त, मायारहित, भगवद्भक्त और सद्गुण-संपन्न पुरुषोंका संग कर्तव्य है, सो नहीं करता हूँ। नरकगामियोंका साथ करता हूँ और भव छुड़ानेवालोंको देखकर चिढ़ता हूँ। इसमें पद १४२ (३) के 'जहँ सतसंग भगति माधवकी सपनेहु करत न फेरो। लोभ-मोह-मद-काम-क्रोधरत तिन्हसों प्रेम घनेरो।' के भाव हैं। विशेष वहीं देखिए।

(३ ख) 'चाहत केहरि जसहि' इति। अपने उपर्युक्त कर्मको दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हैं। यहाँ कुसंग शृगाल है, केहरि साधुसंग है और खरगोश स्वयं हैं। गीदड़ डरपोक होता है। वह भला दूसरेकी रक्षा क्या करेगा? वह तो अपनी ही रक्षा नहीं कर सकता। वैसे ही कुसंगी स्वयं ही कायर है, भवबंधनमें पड़ा हुआ है, वह अपने संगीका भव कैसे छुड़ा सकता है? उसके संगसे तो अपना ही नाश है। यथा 'को न कुसंगति पाइ नसाई। रहइ न नीच मतें चतुराई। २।२४।८।' यहाँ भव गजेन्द्र है, गजेन्द्रोंको विदीर्ण करनेका यश सिंहको ही प्राप्त है। वैसे ही सत्संग ही भवका नाशक है। यथा 'सत्संगति संसृति कर अंता। ७।४५।६।' गीदड़के संगसे खरगोश हाथीको मार नहीं सकता, तब उसे हाथीके मारनेवाले सिंहका यश कैसे प्राप्त हो सकता है? वैसे ही कुसंगियोंका संग करके मैं साधुसंगियोंका यश प्राप्त करना चाहता हूँ, भवका नाश करना चाहता हूँ, यह कब संभव है? यहाँ 'उदाहरण अलंकार' है। इस कथनमें 'वाच्य-सिद्धाङ्ग गुणीभूत व्यंग्य' है।

भावार्थान्तर—(१) सियार तो खरगोशका भक्षण करनेवाला है,

यश दूर रहा, उसे तो अपने प्राणोंसे हाथ धोने पड़ेंगे। इसी प्रकार कुसंगसे कीर्ति कमानेकी इच्छा करनेवालेको कीर्तिके बदले अपकीर्ति ही मिलेगी। वह मेरे थोड़ेसे गुणका भी नाश कर देगा। (भ०, वि०)। (२) "साधु सिंहवत् होते हैं, वे अपने मनरूपी हाथीको वशमें रखते हैं, इसका उन्हें यश प्राप्त रहता है, अपने संगीको अपने समान कर लेते हैं, यथा 'निज संगी निज सम करत'''। वै० सं० १८। (श्रो०श०।)।" (३) 'केहरि जस' अर्थात् भगवद्भक्तोंमें अपनी गणना चाहता हूँ। (म० स०)]

४ 'संभु सिखवन रसनहूँ नित'''' इति। (क) 'रसनहूँ'का अर्थ यहाँ 'रसनाहीसे' विशेष संगत है और प्रायः यही अर्थ टीकाकारोंने भी किया है। भाव यह है कि मन नहीं लगता तो न सही, मनके सुधारमें यह थोड़ी-सी आयु न बिता दे, जिह्वा हीसे रट लगा दे; बस इतनेसे ही सब बिगड़ी बन जायगी। कैसेहूँ नाम जिह्वासे उच्चारण होते ही संचित शुभाशुभ कर्म नष्ट हो जाते हैं। यथा 'प्रमादादपि संस्पृष्टो यथानलकणो दहेत्। तथौष्ठपुटसंस्पृष्टं हरिनाम दहेदघम्।' (स्कं०काशी० पूर्व २१।५७)। अर्थात् प्रमादसे भी अग्निका स्पर्श हो जानेसे जैसे अग्नि जला देता है, वैसे ही रामनामका होंठोंसे स्पर्श होते ही वह पापोंको भस्म कर देता है। तब जानकर भी नाम लेनेसे वह क्यों न भस्म करेगा, चाहे दंभ हीसे दूसरोंको दिखाने या पुजानेके लिये ही क्यों न रटा जाता हो।

[वैजनाथजी 'रसनहूँ'का भाव यह लिखते हैं कि "केवल अन्तःकरणके ही भरोसे न रहो, जिह्वासे नित्य रटो। यदि कहो कि 'बिना अन्तःकरणकी शुद्धिके केवल मुखसे रटनेसे क्या हो सकता है?' उसीपर कहते हैं कि 'दंभहू'''। (वै०)]

४ (ख) 'दंभहूँ कलि नाम-कुंभज''' इति। 'कलि'का यहाँ नाम देकर जनाया कि कलिमें अन्य उपाय अपाय हैं, दंभसे किये हुए अन्य साधन कलिमें 'राखके होमके समान' व्यर्थ हैं। नाम ही ऐसा समर्थ है कि कलि कैसेहूँ रामनाम लेनेवालेका भी आदर करता है। यह गुण इस युगका दिखाया। यथा 'गुनउ बहुत कलिजुग कर बिनु प्रयास निस्तार॥ कृतजुग त्रेता द्वापर पूजा मख अरु जोग। जो गति होइ सो कलि हरिनाम ते पावहिं लोग। ७।१०२।', 'कलिजुग सम जुग आन नहिं जो नर कर बिस्वास। ७।१०३।', 'भाय कुभाय अनख आलसहूँ। नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ। १।२८।१।'

प० पु० पाताल खण्डमें दंभसे स्मरण करनेके संबंधमें श्रीशेषजीके ये वाक्य हैं।—"शृणु द्विज महाबुद्धे दम्भेनापि स्मृतो हरिः। ददाति मोक्षं सुतरां किं पुनः दम्भवर्जनात्॥ यथाकथंचित् रामस्य कर्तव्यं स्मरणं परम्।

येन प्राप्नोति परमं पदं देवादिदुर्लभम्। ६७।७८-७९।" (अर्थात् महाबुद्धिमान् वात्स्यायनजी! सुनिये। दम्भपूर्वक स्मरण करनेपर भी भगवान् श्रीहरि मोक्ष प्रदान करते हैं, फिर यदि दम्भ छोड़कर उनका भजन किया जाय तब तो कहना ही क्या है? जैसे भी हो, श्रीरामचन्द्रजीका निरंतर स्मरण करना चाहिए; जिससे उस परम पदकी प्राप्ति होती है, जो देवता आदिके लिये भी दुर्लभ है); "रामं स्मृत्वा महाभागं पापिनः परमं पदम्। प्राप्नुयुः परमं स्वर्गं शक्रदेवादिदुर्लभम्॥ ते धन्या मानवा लोके ये स्मरन्ति रघूत्तमम्। ते क्षणात् संसृतिं तीर्त्वा गच्छन्ति सुखमव्ययम्। ६८।३०-३१।" (अर्थात् महाभाग श्रीरामका स्मरण करके पापी भी उस परम पद या परम स्वर्गको प्राप्त होते हैं; जो इन्द्र आदि देवताओंके लिये भी दुर्लभ है। संसारमें वे ही मनुष्य धन्य हैं, जो श्रीरघुनाथजीका स्मरण करते हैं। वे लोग क्षणभरमें इस संसार-समुद्रको पार करके अक्षय सुखको प्राप्त होते हैं।)

धर्मराजने महाराज विपश्चित जनकसे कहा है कि जो मूढ़बुद्धि दंभ, द्वेष अथवा उपहासवश भी कभी भगवान् रामका स्मरण नहीं करते; उन्हींको मैं नरकोंमें डालता हूँ।—'यो रामं मनसा वाचा कर्मणा दम्भतोऽपि वा। द्वेषाद्वा चोपहासाद्वा न स्मरत्येव मूढधीः॥ तं बध्नामि पुनस्त्वेषु निक्षिप्य श्रपयामि च।' (प० पु० पा० ३०।४८-४९)। इससे स्पष्ट है कि दंभसे भी स्मरण करनेवाला यमराजके अधिकारसे बाहर है।

अगस्त्यजीने सहजहीमें समुद्रका जल पीकर उसे सुखा डाला।—४२ नोट ७,४० (३ ग) में देखिए। वैसे ही नाम शोचसागरको सुखा डालता है। यथा 'नामु लेत भवसिंधु सुखाहीं। १।२५।४।' 'शोच'में लोक-परलोक सभीके शोच आ गए। 'नाम-कुंभज'में 'सम अभेद रूपक अलंकार' है।

'दंभहूँ'में बिना दीक्षा आदिके भी नामजपका समावेश हो जाता है। बिना दीक्षाके भी यह फल प्राप्त हो जाता है। यथा 'नो दीक्षा न च दक्षिणां न च पुरश्चर्यामनागीक्षते, मन्त्रोऽयं रसनास्पृशेव फलति श्रीरामनामात्मकः।' (रामगीतगोविन्द)।

५ 'मोद-मंगल-मूल...' इति। (क) रामनाम आनंदमंगलकी जड़ है। जैसे वृक्ष मूलके आधारपर रहता है, वैसे ही मुद-मंगलरूपी वृक्ष बिना रामनामके स्थित नहीं रह सकते। रामनाम मोदमंगलमूल है, यथा "सुभको सुभ, मोद मोदको 'राम' नाम सुनायो। गी० १।६।", 'राम राम राम राम राम राम जपत। मंगल मुद उदित होत, कलिमल छल छपत।१३०।', 'सुमिरत सुख सुकृत बढ़त, अघ अमंगल घटत।१२९।'

५ (ख) 'अति अनुकूल निज निरजोसु' इति। यहाँ 'निज' के अर्थ और अन्वयमें टीकाकारोंमें मतभेद है। "रामनाम निज (अपने) भक्तोंपर अत्यन्त प्रसन्न रहता है।" (वै०, रा० कु०, भ०, दु०, भ० स०)। 'निरजोसु' = निरजोख = जो जोखा या तौला न जा सके।—यह अर्थ वै०, दु०, भ०, भ० स० ने किया है। अर्थात् उसका प्रभाव अतुल है। भट्टजीने इसको 'अति अनुकूल'का विशेषण मानकर अर्थ किया है—'ऐसा भारी प्रसन्न रहता है जिसकी तुलना नहीं।' पं० रामकुमारजीने अर्थ किया है कि 'रामनाम मोद-मंगलका मूल है और अपने भक्तोंको अत्यन्त अनुकूल है, यह निश्चय है।' दूसरे शब्दोंमें "(रामनाम) निश्चय ही मोदमंगलमूल और अपने भक्तोंको अति अनुकूल है।" 'निरजोसु'का यही अर्थ है—शब्दार्थसे प्रमाण दिया गया है।

'निज'का अर्थ 'सच्चा', 'ठीक-ठीक', 'विशेष करके' भी होता है। यथा 'अब विनती मम सुनहु शिव जौं मो पर निजु नेहु। १।७६।', 'मन मेरे मानहि सिख मेरी। जो निज भगति चहै हरि केरी। १२६।', 'देखु बिचारि सारु का साँचो, कहा निगम निजु गायो। २००।' इस प्रकार 'निज निरजोसु'का अर्थ होगा 'ठीक निश्चय है', 'विशेष करके निश्चित है', 'निश्चित सिद्धांत है'।

'निज'का अर्थ साधारणतया 'अपना' होता है। इस तरह अर्थ होगा—'यह मेरा निजका सिद्धान्त है।' 'निज'का यह अर्थ दीनजी और वियोगीजी तथा श्रीकान्तशरणजीने भी किया है। फिर भी इनके अर्थोंमें भी मतभेद है। दीनजी और वियोगीजी 'निज'से प्रार्थी कविको लेकर अर्थ करते हैं—"यह मेरा निश्चय है कि मेरे लिये वह (रामनाम ही) अत्यन्त अनुकूल है।" और श्री० श० का अर्थ है कि "शिवजीका यह निजी निर्णय है कि श्रीरामनाम 'मोदमंगल' तथा सब प्रकारसे अत्यन्त अनुकूल साधन है।"

☞ दासकी समझमें 'दंभहू कलि' से लेकर 'निज निरजोसु' तक शिवजीका ही वाक्य है, क्योंकि अगले चरनमे 'सुनि तुलसिहुँ…'कहा है।

[वीरकविजीका अर्थ—"यह ठीक निश्चय है रामनामका जाप करनेसे आनंद और मंगलके मूल अधिक पक्षमें रहते हैं।"]

'अति अनुकूलता' यह है कि स्वार्थ-परमार्थ सब कुछ देते हैं, 'लोकलाहु परलोक निबाहू' हैं। निज सिद्धान्त है, इसका प्रमाण है कि इसीसे उन्होंने शतकोटिरामचरितका मंथन कर 'राम' नामको स्वयं ले लिया। यथा 'सतकोटि चरित अपार-दधिनिधि मथि लियो काढ़ि बामदेव नाम घृतु है। २५४।'

५ (ग) 'राम नाम प्रभाव सुनि' इन शब्दोंसे स्पष्ट है कि उपर्युक्त प्रभाव दूसरेसे सुना। वे सब वाक्य शिवजीके हैं। —'तुलसिहुँ परम परितोषु'—अर्थात् मुझे भी निश्चय हो गया कि मेरा भी शोचसागर सूख जायगा, मोद-मंगल होगा, लोकपरलोक दोनों बनेंगे; क्योंकि मैं भी रामनाम तो रटता ही हूँ, दम्भ हीसे सही तो क्या हर्ज! मेरा भला अवश्य होगा। यहाँ चमत्कारमें व्यंग्यार्थ और वाच्यार्थ बराबर तुल्यप्रधान गुणीभूत व्यंग्य है। पुनः 'परम परितोषु' से जनाया कि बस मुझे अब कामना नहीं है। निष्काम नाम रटूँगा।

(सू० शुक्ल—"दंभसे भी नामके जप करनेका माहात्म्य कहनेका भाव यह है कि किसी कामनासे पाखण्ड रचा जावे, तो वह पाखण्ड अनर्थकारी होता है; परंच जो निष्कामनासे नामका जप किया जावे, तो उसमें मन स्थिर होनेके लिये किसी पाखंडके द्वारा भी हो, तो वह पाखंड पाखण्ड नहीं है; किन्तु चित्त एकाग्र होनेसे एक युक्ति ही है।")

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु ।

१६०

मैं हरि पतितपावन सुने ।

हम[1] पतित, तुम्ह पतितपावन दोउ बानक बने ॥ १ ॥

ब्याध गनिका गज अजामिल साखि निगमनि भने ।

और अधम अनेक तारे जात कापैं[2] गने ॥ २ ॥

जानि नाम अजानि लीन्हें नरक जमपुर मने ।

दास तुलसी सरन आयो[3] राखिये[4] आपने[5] ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—बानक = बानावाले; बानावंद। बाना = अंगीकार किया हुआ धर्म, विरुद, स्वभाव। बनना = जैसा चाहिए वैसा होना। कोई विशेष पद या अधिकार ग्रहण करना। साखि = साक्षी, गवाही। निगमनि—निगमों

---

१ हम—भा० ('हौं' पर हरताल देकर 'हम' लिखा है), रा०, ह०, बक्सर। 'हम' का प्रयोग पद ९७ और १८९ में भी है—'हम केहि भाँति निवहते' 'हमसे वृषभ खोजि खोजि नहते'; 'हमहि दिहल करि कुटिल करमचंद मंद मोल बिनु डोला रे।' हौं—बे०, प्र०, १५। हो—ज०। मैं—५१, ७४, भा०। २ कापे—रा०। कापै—ह०, ५१, भा०। का पहि—भा०, बे०, ७४, ज०। का पहँ—प्र०। ३ आये—ह०। ४ राखिये—रा०, प्र०, ह०, ५१, ज०, भा०। राखि ले—भा०, बे०, १५, ७४। ५ अपने—११, बे०, ज०। आपने—औरोंमें।

(वेदों) में; वेदोंने । भनना = कहना । कापैं = किससे । मने (यह अरबी शब्द है । मुमानियत) = वर्जित; मना वा रोका हुआ । आपने = अपनी शरणमें ।

पदार्थ— हे हरि ! मैंने आपको पापियोंको पवित्र करनेवाला सुना है । हम पतित हैं और आप पतितपावन हैं, दोनों बानाबंद बने हैं । १ । वेद व्याध, गणिका, गजेन्द्र और अजामिलकी साक्षी दे रहे हैं । और भी अनेक पापियोंको तारा है, वे किससे गिने जा सकते हैं ? (अर्थात् उनकी गणना नहीं हो सकती) । २ । जानकर अथवा बिना जाने नाम लेनेसे नरक और यमपुर (उनके लिये) वर्जित है । दास तुलसी (भी) शरणमें आया है, (इसे) अपनी शरणमें रख लीजिए । ३ ।

टिप्पणी—१ 'मैं हरि पतितपावन सुने । ···' इति । (क) पिछले पदमें 'रामनाम प्रभाव सुनि तुलसिहुँ परम परितोसु' होना कहा था । अब प्रस्तुत पदमें प्रभुको 'पतितपावन' बाना धरनेवाले सुनकर पतित और पतितपावन संबंध जोड़कर भी शरणमें आते हैं, साथ ही नामका भी सहारा लेते हैं । (वैजनाथजीका मत है कि पिछले पदमें परम संतोष होना जो कहा था, उसका कारण इस पदमें कहते हैं) । (ख) 'पतितपावन सुने'—कहाँ सुना ? वेदोंसे सुना यह आगे स्वयं कहते हैं और पूर्व भी कह आए हैं, यथा 'पतित-पुनीत दीनहित असरनसरन कहत श्रुति चारो । ६४ (२) ।'

१ (ग) 'हम पतित तुम्ह पतितपावन ···' इति । इस चरणमें दोनोंका बानाबंद होना कहते हैं । हरिका बिरुद है 'पतितपावन' । यथा 'जौ जग बिदित पतितपावन अति बाँकुर बिरद न बहते । तौ बहु कल्प कुटिल तुलसी-से सपनेहुँ सुगति न लहते । ६७ (५) ।', 'पतितपावन प्रनतपाल असरनसरन बाँकुरे बिरुद बिरिदैत केहि केरें । २१० ।' हम पतित हैं, यथा 'तौ बहु कल्प कुटिल तुलसी से···। ६७ (५) ।', 'तुलसी अधिक अधमाई हू अजामिल तें ताहूमें सहाय कलि कपटनिकेतु है । क० ७ । ८२ ।'

१ (घ) 'दोउ बानक बने' इति । 'बहु बार जनमि जग नरक बिदरि निकरयो हौं । २६७ ।', 'दै दै धका जमभट थके टारयो न टरयो हौं । २६७ ।' पाप अनादि कालसे करते आये, न जाने कितने बार नरक गए, किन्तु वहाँसे निकलनेपर फिर भी वही कर्म करते गए और कर रहे हैं, छोड़ते नहीं ।—यही 'पतित' का बाना धारण करना है ।

हमने पाप करनेका बाना और आपने पापियोंको पवित्र करनेका बाना धारण किया है । दोनोंका संयोग हो गया । देखें कौन बाजी लेता है ?

हमें पावन करनेपर ही आपकी बानेबन्दी बनी रह सकेगी, शोभित होगी।—यह भाव है। पुनः, दूसरा भाव यह है कि 'दोउ बानक बने' अर्थात् दोनोंका बाना (बनाव-बनत) बन गया. (खूब मीज़ान पटेगी)। पतित पतितपावनको ढूँढता है, पतितपावन पतितको ढूँढता है, सो दोनों एक दूसरेको मिल गए। अतः दोनोंकी कामनाएँ पूरी होंगी। (यह अर्थ ड़ु० और भ० स०के अर्थके अनुसार है)। [वैजनाथजीने 'बानक'का अर्थ 'वणिक, व्यापारी' किया है। भाव कि दोनों ओरके व्यापारियोंको पूर्ण लाभ होगा। हम तुम्हारे ग्राहक हैं, तुम हमारे ग्राहक हो। यह अच्छा मेल मिला। (वै०, भ०, वि०, दीनजी)। श्री० श० ने 'व्यापारी' अर्थ छोड़कर शेष भावको अपनाया है। चरखारी टीकाकारने अर्थ किया है—'हम और तुम बानिकके वेष-रूपमें दोनों व्यक्ति अच्छे बने हैं, तुम अधम-उधारनमें पूरे (पूर्ण) और हम पूरे अधम हैं।]

२ 'व्याध गनिका गज···' इति। व्याध, गज, अजामिलके प्रसंग ५७ (३ च), ५७ (३ झ), ६४ (३ घ), ६३ (२ क, ख), ८३ (६ ग) में और गणिकाकी कथा ६४ (३ ख) में देखिए। 'साखि निगमनि भने'—अर्थात् वेदोंने पतितपावन विरुदके प्रमाणमें व्याधादिके उद्धारको दिखाया है। वेदोंने जो प्रमाण दिये हैं, इनके अतिरिक्त और भी बहुत पतित जिन्हें आजतक आपने तारे हैं, वे भी साक्षी हैं। 'जात कापैं गने'—अर्थात् इनकी संख्या नहीं की जा सकती, असंख्यों हैं। इस अंतराके उत्तरार्धमें 'और अधम अनेक तारे' कहकर जना दिया कि व्याधादि भी अधमोद्धारके साक्षी कहे गए हैं।

३ (क) 'जानि नाम अजानि लीन्हें···' इति। 'जानि' अर्थात् यह जानता है कि मैं नाम ले रहा हूँ अथवा नामका प्रभाव जानकर नाम ले रहा है। 'अजानि' अर्थात् उसके मुखसे भगवान्का नाम निकल रहा है, वह यह नहीं समझता कि मैं भगवान्का नाम ले रहा हूँ; जैसे अजामिलने लड़केका 'नारायण' नाम लिया और यही जानता था कि लड़केको पुकार रहा हूँ। जमुहाई आनेपर सहसा बिना जाने नामका उच्चारण हो जाता है। किसीको धिक्कारनेमें 'रामराम' मुँहसे निकल जाता है। इत्यादि 'अजानि' नाम लेना है। दोनों अवस्थाओंमें उच्चारकके समस्त पाप भस्म हो जाते हैं. जैसे अग्निको जाने या न जाने स्पर्श होनेसे वह जला देता ही है। १५६ (४ क) देखिए। पाप न रह गए तब नरकका अधिकार न रह गया। 'नरक जमपुर मने' अर्थात् यमदूतोंके पाशका अधिकारी नहीं रह जाता। यथा 'नाम रटो जमपास क्यों जाउँ, को आइ सकै जमकिंकर

नेरे। क० ७।६२।', 'नाम बल क्यों बसों जम-नगर नेरें। २१०।', 'हरि-रित्यवशेनाह पुमान्नार्हति यातनाम् ।१५। अज्ञानादथवा ज्ञानादुत्तमश्लोकनाम यत्। सङ्कीर्तितमघं पुंसो दहेदेधो यथानलः ।१८। यथागदं वीर्यतममुपयुक्तं यदृच्छया। अजानतोऽप्यात्मगुणं कुर्यान्मन्त्रोऽप्युदाहृतः। १६।' (भा० ६।२)। अर्थात् विवश होकर भी जो 'हरि' ऐसा कहता है, वह यातनाका अधिकारी नहीं है। जैसे अग्नि ईंधनको जला देती है, वैसे ही उत्तम श्लोक भगवानके नामका कीर्तन जानकर किया जाय अथवा बिना जाने, वह पुरुषके संपूर्ण पापोंको भस्म कर डालता है। बलवान् औषधिका गुण बिना जाने भी स्वेच्छासे सेवन कर लेनेपर लाभ करता ही है, वैसे ही मन्त्रोच्चारण करनेसे अपना फल करेगा ही।

३ (ख) 'दास तुलसी सरन...' इति। व्याध आदिके नाम लेकर शरणमें आना कहनेमें यह भी ध्वनि है कि जिस खेड़ेमें उन्हें रक्खा है, उसीमें मुझे भी रखिए। यथा 'बैरख बाँह बसाइए पै तुलसी घरु व्याध अजामिल खेरें। क० ७।६२।', 'काहेको रीझिअ पै; तुलसिहुँ सों है सोइ सगाई। क० ७।६३।', 'दास तुलसिहि बास देहु अब करि कृपा, बसत गज गीध व्याधादि जेहि खेरें। २१०।'

'जानि नाम अजानि लीन्हें'का अर्थ साधारण यह भी होता है कि 'अजानि नाम लीन्हें नरक जमपुर मने' है, यह जानकर तुलसीदास शरण आया है। 'जानि'को दो बार अन्वय कर लेनेसे उपर्युक्त पूर्व अर्थमें भी 'यह जानकर' अर्थ आ जायगा।

३ (ग) 'राखिये आपने'—शरण आया कहकर 'राखिये...' कहनेका भाव कि अपने यहाँ रखिए, अपनी शरणमें रखिए, अपनाकर रखिए अर्थात् अपना लीजिए, अपने चरणोंमें रख लीजिए। यथा 'तुलसिदास निज भवनद्वार दीजै रहन पर्यो ।६१।', 'आपनो कबहुँ करि जानिहो ।२२३।', 'को तुलसी से कुसेवक संग्रह्यो ।२३०।'; 'सो तुलसी कियो आपनो गरीब नेवाज। १६१।', 'राम राखिए सरन राखि आए सब दिन।' 'तुलसी तू मेरो बलि कहियत किन। २५३।' ('तू मेरा है', यह कह देना भी शरणमें रखना ही है); 'बिरुदकी लाज करि दास तुलसिहि लेहु अपनाइ अब देहु जनि बावों। २०८।', 'तुलसिदास अपनाइए कीजै न ढील अब। २७३।' गीतावलीमें विभीषणजीने 'सुजस सुनि श्रवन हौं नाथ आयो सरन।' कहकर प्रार्थना की है कि 'राखिए मोहि सौमित्रि सेवित चरन' (५।४३), वैसे ही यहाँ 'राखिये आपने' कहा है।—ये सभी भाव इन दो शब्दोंमें हैं।

सू० शुक्ल—जानमें नाम लेनेका भाव यह है कि जबतक शरीरमें प्राण

है शुद्ध भावनासे नाम जपनेसे अन्तःकरण शुद्ध होगा, चित्त स्थिर होगा जिससे स्वयं परमात्मा साक्षात्कार हो जावेगा। अजानमें अर्थात् मरनेके समय जब होश नहीं रहता, उस समय नामोच्चारणसे अजामिल सरीखा कैसा भी पातकी हो उसकी कुगति नहीं होती। प्रतिदिन नाममें अभ्यास बढ़ाना चाहिए जिसमें मरते समय सुगमतासे नाम मुखसे निकल आवे। भगवान् पतितपावन तो अवश्य हैं किन्तु जीव अपनेको पतित नहीं समझता। जब जीव समझ लेता है कि मैं पतित हूँ तब भगवान् उसका उत्थान अवश्य करते हैं।

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

१६१† (राग मलार)

तोसो प्रभु जौं[1] पै कहुँ[2] कोउ होतो।
तौ सहि निपट निरादर निसि दिन रटि[3] लटि ऐसो[4] घटि कोतो।१।
कृपा-सुधा-जल-दानि[5] मानिबो[6] कहौं[7] सो साँच निसोतो।
स्वाति-सनेह-सलिल-सुख-चाहत[8] चित चातक को[9]-सो पोतो।२।
कालकरम बस मन-कु[10]-मनोरथ कबहुँ कबहुँ कछु भोतो।
ज्यों मुदमय बस[11] मीन बारि तजि उछरि भभरि[12] लेत[13] गोतो।३।

---

† ह० मे यह १६२वाँ पद है और यहाँका १६२वाँ पद उनका १६१वाँ पद है। १ जौ–रा०, ७४। (पद १३७ मे भी 'जौ पै' है)। डु०, भ० स०। जो–भा०, वे०, श्रा०। २ कहुँ–रा०, भ०, दीन, वि०। कहूँ–भा०, बे०, श्रा०। ३ रटै–रा०। ४ ऐसो (ऐसो)–रा०, भा०, बे०, श्रा०। अस–मु०, ७४। ५ दानि–रा०, भा०, बे०, मु०, भ०, ७४, ज०। दान–डु०, ह०, १५, वै०, दीन, वि०, भ० स०। ६ मानिबो–रा०, भा०, डु०, ७४, च०, ज०। माँगिबो–वे०, ह०, श्रा०। ७ कहौं–रा०, भ०, वे०। कहो–भा०, वे०। कहे–मु०, डु०। कहौ–ह०, दीन, वि०। ८ चाह–रा०। चाहत–प्रायः औरोमे। ९ को सो–रा०, भा०, बे०, ह०, प्र०, भ०, ज०। को–दीन, वि०, ७४। सो–मु०, डु०, वे० (मूलमे 'मो' छपा है पर अर्थमे 'सो' है)। मो–सू० शु०। १० मन कुमनोरथ–रा०, ह०, ज०, ५१, ७४, श्रा०। मनो मनोरथ–भा०। मनहु मनोरथ–वे०। मनको मनोरथ–प्र०। ११ वस–रा०, ज०, भ०। बसि–भा०, बे०, ह०, ७४, श्रा०। १२ भभरि-भभरि–रा०। भभरि–प्रायः औरोमे। मु० मे नही है। १३ लेत–रा०, डु०, दीन, वि०, वे०, ह०, ज०, ५१। लेतो–भा०, वे०, भ०। ले–प्र०। लेइ–७४। लेत भर–मु०।

जितो[14] दुराउ दास तुलसी उर क्यों कहि आवत ओतो।
तेरे राज राय-दसरथके लयो[15] बयो बिनु जोतो।४।

शब्दार्थ—निपट=अत्यंत; नितान्त। लटना=अधिक श्रमसे निकम्मा हो जाना; दुर्बल वा अशक्त हो जाना। यथा 'रटत-रटत रसना लटी, तृषा सूखिगे अंग। दो० २८०।' घटि=घटिया; निकम्मा; नीच।=घाटा, कमी, हानि। कोतो=कौन था।=कौन-सी; क्या। निसोतो=खालिस; बेमेल; खरा। पोतो=छोटा बच्चा। भोतो (भोना=होना)=हुआ वा होता था। उछरि=उछलकर; बाहर-ऊपर आकाशकी ओर निकलकर। भभरि= भड़भड़ाकर; घबड़ाकर; डरकर। गोतो (गोता)=डुबकी। ओतो=उतना। दसरथके=श्रीदशरथजीके पुत्र, यथा 'महाराज दसरथके रंक राय कीन्हें। ७८।', 'राय दसरथके तू उथपन थापनो।१८०।', 'कुसमय दसरथके दानि तैं गरीब निवाजे।८०।'-४४ (२ ख) देखिए। लयो-लयना (लुवना) =काटना, लुनना। जोतना=हल चलाकर खेतीके लिये जमीनको मिट्टी खोदना और उसे बीज बोने योग्य करना। बयो=बोये हुए। बोना= बीजको जमनेके लिये जुते हुए खेत या भुरभुरी की हुई जमीनमें छितराना।

पद्यार्थ—यदि तुझ-सा (आपके समान) स्वामी कहीं भी कोई होता, तो 'नितान्त अपमान सहकर रात-दिन (तेरा) नाम रट-रटकर सूखता, क्षीण होता' ऐसा नीच कौन था (वा ऐसा क्या घाटा था) ? ।१। कृपामृत-रूपी जलके देनेवाले (मेघ) ! जो मैं कहता हूँ उसे खरा सत्य मानिये‡ (इसमें झूठका मेल नहीं है) कि मेरा चित्त चातकपोत (शिशुचातक) के समान स्नेहरूपी स्वातीके सुखरूपी जलकी चाह करता है। (अर्थात् मेरा चित्त-चातकपोत आपके अनुरागजलका प्यासा है)।२। काल और कर्मोंके प्रभावसे कभी-कभी कुछ कुमनोरथ मनमे होते* (तब) जैसे मछली जलमें आनन्दमय बसती है, (कभी-कभी) उसे छोड़कर उछलकर फिर भड़भड़ाकर उसीमें गोता लगाती है। (वैसेही मैं) गोता लेता हूँ। ३। जितना दुराव (छिपाव; कपट) दास तुलसीके हृदयमें है, उतना

---

१४ जितो—र०, भा०, वे०, ह०, ७४, मा०। जेतो—प्र०, १५, ज०। १५ लबउँ—७४।

‡ अर्थान्तर—'कृपारूपी अमृतको मेघ मानकर यह निरा सत्य कहता हूँ।' (वीर)

* विशेष अर्थान्तर टि० ३, नोट १ मे देखिए।

† 'मुदमयको किसीने 'बारि' का और किसीने 'मीन' का विशेषण माना है।

कैसे कहनेमें आ सकता है। राजा दशरथके पुत्र! आपके राज्यमें (तो) बिना जोते-बोये (ही खेतसे अन्न) काटा गया है। ४॥

टिप्पणी—१ 'तोसो प्रभु जौं पै कहुँ···' इति। (क) 'तोसो प्रभु' अर्थात् निर्लज्ज, गुणहीन, नीच, निर्धन आदिका ग्राहक, उनको पूछनेवाला; प्रणतारतिभंजन, जनरंजन, दीनदयाल, शीलनिधान सुजानशिरोमणि, शरणागत तथा प्रणत दीनोंपर ममत्व रखनेवाला, सर्वसमर्थ, सर्वज्ञ, प्रीतिको पहचाननेवाला, सबका प्रभु, गरीबनिवाज, मायापार, सबसे बड़ा, धोखेसे भी जिसका नाम लेनेसे यमसासतिसे जीव छूट जाता है, जिसकी भक्ति करनेसे पशु-पक्षि और अन्य तामसी शरीरवाले भी त्रैलोक्यतिलक हो गए, सुखद, सौन्दर्यसीमा, कृपाल, दयाल, सुकृतज्ञ, शरणमें आये हुएको कभी भी न छोड़नेवाला, इत्यादि उपास्य इष्ट गुणवाला। (पद १५३, १५४, १५७, ७१, १०१, २१६, २१७)। (ख) 'जौंपै कहुँ होतो'—अर्थात् कहीं भी कोई नहीं है। यथा 'तुलसी कहूँ न रामसे साहिब सीलनिधान। १२६।', 'दास तुलसी दीनपर एक रामही के प्रीति।२१६।', 'सद्गुनसिंधु-स्वामि सेवक-हितु कहुँ न कृपानिधि सों लहौं। २२२।', 'नाहिन नाथ अकारनको हितु तुम्ह समान पुरान श्रुति गायो। २४३।', 'भली भाँति पहिचाने जाने साहिब जहाँ लौं जग···। २४६।', 'बिदित त्रिलोक तिहुँकाल न दयाल दूजो, आरत प्रनतपाल को है प्रभु बिनु। २५३।'

१ (ग) 'तौ सहि निपट निरादर···' इति। इतनी बिनती करते चले आते हैं, तो भी प्रभु सुनते नहीं, उदासीन बने हैं, समर्थ होते हुए भी त्यागे हुए हैं, तब भी प्रार्थी द्वारसे हटता नहीं, यही निरादर सहना है। यथा 'प्रभुको उदासभाव।२५६।', 'साहिब उदास भये दास खास खीस होत। २६०।', 'तुम्ह जनि मन मैलो करो लोचन जनि फेरो। २७२।', 'यह सामर्थ अछत मोहि त्यागहु नाथ तहाँ कछु चारो। ६४।', 'प्रभु सों कहत सकुचात हौं परौं जनि फिरि फीको। २६५।', 'जौं तुम्ह त्यागो राम हौं तो नहिं त्यागों। परिहरि पाँय काहि अनुरागों। १७०।',—ये उदाहरण अनादरित होकर सूचित करते हैं। द्वारपर पड़े रहने भी नहीं देते, फिर भी प्रार्थी हठ किये हैं, हटता नहीं। यथा 'तुलसिदास निज भवनद्वार प्रभु दीजै रहन पर्यो। ९१।', 'द्वार हौं भोर हीको आजु। रटत ररिहा आरि···। २१६।', 'पनु करिहौं हठि आजु तें रामद्वार पर्यो हौं। २६७।', 'दीनबंधु द्वारे हठ ठनियत है। १८३।' इसका कारण ऊपर बता चुके। पद २६० में भी कहा है—'अनत चह्यो न भलो, सुपथ सुचाल चल्यो, नीके जिय जानि इहाँ भलो अनचह्यो हौं।'—(यहाँ स्पष्ट निरादर है)।

१ (घ) 'निसि दिन रटि लटि···' इति। अगले अन्तरामें अपने चितको चातक-शिशुकी उपमा दी है और पूर्व भी मनको चातकवृत्ति धारण करनेका उपदेश देकर 'एक अंग मग अगम गमन' करनेको कहा है। (६५)। चातक अनादर सहता है, रट लगानेसे उसकी रसना तथा शरीर लट जाते हैं, फिर भी वह स्वातिजलबिन्दु छोड़ दूसरी ओर नहीं ताकता। यथा 'रटत रटत रसना लटी तृषा सूखिगे अंग।', 'तुलसी जासु न दीनता सुनी दूसरे नाथ।' (दो० २८०, २८८)। चातक मेघको ही सर्वोत्तम दानी समझता है, इसीसे उसीका याचक बना। यथा 'तुलसी चातक चतुर भो जाचक जानि सुदानि। दो० ३००।'—अतएव उसीके अनुसार प्रार्थी अपनी अनन्यता और उसका वही कारण यहाँ दिखा रहा है। चातक मेघको ही 'सुदानी' मानता है, वैसे ही प्रार्थी दूसरेको नहीं मानता, इसीसे आपसे ही रट लगाए है, आपका ही नाम रटता है, शरीर लट गया फिर भी दूसरा द्वार नहीं ताकता; यथा 'रटत-रटत-लटयो, जाति-पाँति-भाँति-घटयो···अनत चह्यो न भलो।२६०।', 'रटत ररिहा०।२१६।'

१ (ङ) 'ऐसो घटि कोतो'—निरादर नीच ही सहते हैं, आत्माभिमानी क्यों निरादर सहने लगा? जिसको कोई पूछनेवाला होगा, कहीं ठिकाना होगा, वह कभी अपमान सहकर किसीके यहाँ पड़ा नहीं रह सकता। पर मैं सहता हूँ, क्योंकि 'तेरे मुँह फेरे मोसे कायर कपूत कूर लटे लटपटेनिको कौन परिगहैगो? (२५६)।

टिप्पणी—२ 'कृपा-सुधा-जलदानि मानिवो···' इति। (क) चातक मेघसे स्वातिजलको चाहता है। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि मेरा चित्तरूपी चातकशिशु कृपामृत मेघरूप आपसे स्नेहरूपी स्वातीका सुखरूपी जल चाहता है अर्थात् आपकी कृपासे आपके चरणोंके अनुरागका सुख चाहता है। (ख) 'मानिवो, कहाँ सो सौंच निसोतो' अर्थात् यह जो मैं कहता हूँ यह निरा सत्य है। इसे आप सत्य मानें। (ग) यहाँ 'परंपरितरूपक अलंकार' है।

३ 'काल करम बस मन कुमनोरथ···' इति। (क) ऊपर कहा कि मनका मनोरथ तो सदा यही है कि चित्तको अनुरागका सुख मिले, यह सत्य है, इसमें संदेह नहीं। अन्यत्र भी कहा है। यथा 'मनोरथ मनको एकै भाँति। चाहत मुनिमन-अगम सुकृत-फल मनसा अघ न अघाति। २३३।', 'तुलसी-चातक आस राम-स्याम-घन की।७५।', 'हेतुरहित अनुराग राम पद बढ़ौ अनुदिन अधिकाई।१०३।', 'तुलसी या चित चातकहि तऊ तिहारी आस। दो० २७८।' अनुरागकी चाह है, क्योंकि जानते हैं कि

'रामचंद्र अनुरागनीर बिनु मल अति नास न पावै ।८२।', 'पावन प्रेम रामचरन जनम लाहु परम ।१३१।', 'रामसे प्रीतमकी प्रीतिरहित जीव जाय जियत ।१३२।'

३ (ख) 'मन कुमनोरथ कबहुँ कबहुँ…'—भाव कि चाह तो यही है जो ऊपर कही, किन्तु मनमें कभी-कभी इस चाहको, इस सुखको छोड़ अन्य मनोरथ हो उठता है, इसीसे उसको बार-बार शिक्षा भी देनी पड़ती है। यथा 'चितु कहै रामसीय पद परिहरि अब न कहूँ चलिजैहौं ।१०४।', 'मन मधुपहि पनु कै तुलसी रघुपति पदकमल बसैहौं ।१०५।', 'रामनाम नव नेह-मेहको मन हठि होहिं पपीहा ।…एकअंग मग अगम गमन करि बिलमु न छन छन छाहैं ।६५।' (क्षण-क्षण छाँह लेना कभी-कभी कुमनोरथका होना है)। चाह तो यही है, इसीसे मनको अन्याश्रय होनेसे रोकते भी हैं जब वह इधर-उधर जाने लगता है। यह चाह रहते भी काल-कर्मके प्रभाव-से यह किंचित् असावधान होनेपर संधि पातेही अपने स्वभाव पर आ जाता है।

३ (ग) 'ज्यों मुदमय बस मीन बारि, तजि…'इति। मनमें अन्याश्रय होते ही क्या दशा होती है, वह इस चरणमें कहते हैं। मछली अगाध जलमें सुखपूर्वक रहती है। कभी-कभी उछलकर बाहर आ जाती है, तो वह क्षणभर भी जलका वियोग सह नहीं सकती, मृत्यु होनेके भयसे छटपटा-कर तुरन्त फिर जलमें गोता लगाती है। वैसा ही मेरा चित्त अन्याश्रय होते ही छटपटा जाता है, फिर उसी अनुराग-सुखकी चाह करता है। रुचि होनेपर भी कुमनोरथ अनुराग-सुखसे वंचित रखते हैं। मिलान कीजिए—'तन सुचि मन रुचि मुख कहौं जन हौं सियपी को। केहि अभाग जानौं नहीं जो न होइ नाथ सों नातो-नेह न नीको ।२६५।' [सूरदासजीने भी कुछ ऐसा ही कहा है—'मेरो मन अनत कहाँ सचु पावै। जैसे उड़ि जहाज को पंछी, पुनि जहाज पै आवै।' बेचारी मछली जाय तो कहाँ? उसके लिये तो जल ही सर्वस्व है। (वि०)]

नोट—१ श्रीकान्तशरणजीका मत है कि 'कुमनोरथ' पाठ नितान्त अशुद्ध है, क्योंकि 'जितो दुराउ…' इस चरणसे यहाँ अपने दोष-कथनका प्रसंग है। ऐसा नहीं कि कभी-कभी ही 'कुमनोरथ' हो जाते हैं।" इसलिये उन्होंने भा० दा० का 'मनो मनोरथ' पाठ लेकर 'मनो' का अर्थ 'मनसे भी' किया है। उन्होंने 'जलदान माँगिबो' पाठ अंतरा २ में रक्खा है और उसका संबंध 'काल करम…' से लगाकर यह अर्थ किया है—"यह कृपाअमृतरूपी जलदान माँगना इसका कैसा है, यह मैं खरा सत्य कहता हूँ कि काल

और कर्मके वशमें निरंतर रहकर आनंद माननेवाले मेरे मनसे भी वह मनोरथ जो कभी-कभी होता है वह ऐसा ही है जैसे जलमें आनंदपूर्वक रहनेवाली मछली कभी···।"

मेरी समझमें यदि इस शंकाको ठीक मानें और कभी-कभी अन्याश्रयका 'जितो दुराउ' से असंगत मानें तो 'कु' को 'को' या 'का' का अपभ्रंश मानकर अथवा प्रह्लाददासवाली हस्तलिखित पोथीका 'को' पाठ ग्रहणकर यह अर्थ कर सकते हैं—"कालकर्मवशीभूत मनका कभी-कभी ऐसा मनोरथ होता है; तब जैसे मछली जलमें आनंदपूर्वक रहकर (कभी-कभी) उसे छोड़कर उछलकर छटपटाकर (फिर) गोता लेती है।"—इस अर्थमें कोई शब्द ऊपरसे बढ़ाने नहीं पड़ते। भाव कि वैसे ही मैं तुरत छटपटाकर फिर अन्याश्रय वा विषयसुखमें डूब जाता हूँ। ☞ 'भभरि लेत गोतो' को अन्वयमें दो बार लेनेसे 'ज्यों' का संबंध पूरा लग जाता है—'ज्यों···त्यों मैं भभरि लेत गोतो।'

टिप्पणी—४ 'जितो दुराउ दास तुलसी उर···' इति। (क) भाव कि चाह तो मेरी यही है, पर 'मनसा अघ न अघाति'। उच्च कोटिके संत क्षण भर भी मन प्रभुके चरणोंसे हटजानेको महान् पाप, महान् अनर्थ, महान् स्वामिद्रोहता, कपट और मृत्युसे भी अधिक मानते हैं। वैसे ही कवि अपने मनमें कभी कभी अन्याश्रय होनेको महान् कपट मानते हैं। देखिए सर्वसम्मत भक्तशिरोमणिजी क्या कहते हैं—'मोहि समान मैं साइँ दोहाई।२।२६८।', 'जौं करनी समुझै प्रभु मोरी। नहि निस्तार कलपसतकोरी।७।१।५।'

४ (ख) 'तेरे राज राय दसरथके···' इति। भाव यह कि आपके राज्यमें तो 'त्रेताँ भइ सतजुग कै करनी।' 'ससि संपन्न सदा रह धरनी' (७।२३।६)। सत्ययुगमें एक बार बोनेपर फसल काट ली जाती थी, फिर बिना बोए कई बार पृथ्वी अन्न देती थी।

इसीको लेकर कहते हैं कि 'लुनियत वई' तो सभीके राज्यमें होता है, जो बोता है वह काटता है, जिसने बोया नहीं उसे अन्न कहाँसे काटनेको मिलेगा? पर आपके राज्य में तो बिना बोये ही लोगोंको अन्न काटनेको मिला। मुझे उसीका भरोसा है, मैं भी आपकी ही प्रजा हूँ, आपही मेरे राजा हैं। मैं रामराज्यमें हूँ। यथा 'आलसी अभागे मोसे तै कृपाल पाले-पोसे, राजा मेरे राजा राम, अवध सहरु॥ सेए न दिगीस न दिनेस, न गनेस गौरी, हितु कै न माने विधि हरिऊ न हरु।२५०।' अन्य स्वामियोंकी उपासनामें तो बिना बोये-जोते मिलता नहीं।—तात्पर्य कि साधनहीन हूँ,

अवगुणोंसे भरा हूँ तो भी हूँ तो तुम्हारे राज्यमें, बिना सुकृतसाधनके ही मुझे 'स्वातिसुधा सलिलसुख' रूपी अन्न दीजिए।

[(१) पूजा, पाठ, तीर्थ, जप, व्रत, तप और दान आदि सुकर्नोंका करना जोतना है। भजन और ध्यान आदि करना बोना है। बिना इनके किये परिपूर्ण लोकसुख सहित परलोकमें मुक्ति प्राप्त करना बिना जोते-बोये काट लेना है। (वै०)। (२) सच्ची चाहना बीज-वपन है। साधन जोताई है। (श्री० श०)]

आचार्य स्वामी सीतारामशरणजी—'तेरे राज राय दसरथके···।'इति। गोस्वामीजी श्रीराघवेन्द्रकी प्रजा बनकर रहना चाहते हैं तथा श्रीराम-राज्यकी प्रजा बनकर साधनके बिना भगवत्प्राप्ति चाहते हैं। तात्पर्य यह है कि श्रीअवधके जड़-चेतन सभी जीव श्रीरामजीके साथ बिना साधनके ही साकेत गए। तभी तो पूर्वाचार्योंने पूछा है:—"त्वामामनन्ति कवयः करुणामृताब्धे, ज्ञान क्रिया भजनलभ्यमलभ्यमन्यैः। एतेषु केन वरदोत्तर कोसलस्थाः, पूर्वं सदूर्वमभजन्त हि जन्तवस्त्वाम् ॥'अर्थात्—'हे करुणाके सागर!. ऋषि-मुनिगण कर्म-ज्ञान एवं उपासनासे आपकी प्राप्ति बतलाते हैं। किन्तु इन तीनों साधनोंमेंसे एक भी साधन इन अयोध्याके कीड़े-मकोड़े दूब आदि जड़ जीवोंने नहीं किया फिर भी उनको आपकी प्राप्ति हुई। इससे सिद्ध हुआ कि यहाँकी प्रजाको श्रीरामजी अपनी कृपासे ही अपने धाम ले गए। 'प्रजा सहित रघुवंसमनि, किमि गवने निज धाम' का यही भाव है।

दूसरा भाव यह भी है कि 'शरणागति' का अर्थ है प्रभुके धाममें पहुँचना। दण्डकारण्यके ऋषियोंने श्रीरामजीके उनके राज्यके वासी अपनेको बताया है:—'ते वयं भवता रक्ष्याः भवद् विषयवासिनः, नगरस्थो जनस्थो वा त्वन्तो राजा जनेश्वरः॥ वाल्मी० अरण्यकाण्ड।'——यहाँ 'भवद् विषयवासिनः' से स्पष्ट है कि ऋषिगण प्रजा बनकर प्रभुसे रक्षा चाहते हैं।

श्रीविभीषणजीने भी धामकी ही शरणागति की है—'आजगाम मुहूर्तेन यत्र रामः सलक्ष्मणः। वाल्मी० ६।१७।१।'—रामं नाजगाम किन्तु यत्र रामः तत्स्थलमाजगाम। अर्थात् केवल श्रीरामके पास नहीं आए किन्तु जिस स्थलपर श्रीरामजी थे उस स्थलपर आए। फिर बिना जोते-बोये वस्तुओंकी प्राप्ति तो प्रजाको होनी ही चाहिये।

नोट—२ 'मन कु (को) मनोरथ' पाठमें भाव यह होगा कि यदा-कदा सत्संगके प्रभावसे कभी मन सुमार्गकी ओर गया तो तुरंत कालकर्मवश घबड़ाकर फिर विषयोंमें लग जाता है। यथा 'कबहुँक हौं संगति सुभाउ तें

जाउँ सुमारग नेरो। तब करि क्रोध संग कुमनोरथ देत कठिन भट भेरो। १४३।', 'विषय वारि मन मीन भिन्न नहिं होत कबहुँ पल एक'। विषयसे बाहर होते ही छटपटा जाता है। मन तो ऐसा कपटी है और चित्तमें चाह श्रीचरणानुरागसुखकी है। दोनों विरोधी हैं, तब कैसे चाह पूरी हो? इसका समाधान अन्तिम चरणमें किया है—'तेरे राज ...'।

सू० शुक्ल—'बिना जोते बोये' अर्थात् सर्वत्यागसे आनंदकी प्राप्ति है, विषयसुखकी भाँति उपायोंसे परिश्रम नहीं करना पड़ता—ऐसे रामराज्यमें भी यह स्थिर नहीं होता है तो इसके छलका क्या ठिकाना है। इससे जैसे जलमें पपीहाको प्रेम होता है वैसा ही मुझे परमात्मप्रेम दीजे तभी निस्तार होगा।

श्रीसीतारामचन्द्राभ्यांनमः श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

१६२ (राग सोरठ)†

ऐसो को उदार जग माहीं।

बिनु सेवा जो द्रवै[1] दीन पर राम सरिस कोउ नाहीं ॥१॥

जो गति जोग बिराग जतन करि नहिं पावत मुनि ज्ञानी।

सो गति देत[2] गीध सबरी कहुँ प्रभु न बहुत[3] जिय जानी ॥२॥

जो संपति दससीस अरपि[4] करि रावन सिव पहँ[5] लीन्ही।

सोइ[6] संपदा बिभीषन कहुँ[7] अति सकुच सहित हरि[8] दीन्ही ॥३॥

तुलसिदास सब भाँति सकल सुख जो चाहसि मन मेरे।

तौ भजु राम काम सब पूरन करैं[9] कृपानिधि तेरे[10] ॥४॥

---

† रा०, भा०, वे०, प्र०, ज० मे 'सोरठ' है। ह० और ७४ मे 'रामकली' है। १ द्रवै—रा०, ह०, ५१, आ०, ७४। द्रवे—भा०, वे०, मु०। द्रवत—प्र०, ज०। २ देत—रा०, आ०। दई—भा०, वे०, ह०, ७४, भ०। दइ—ज०। ३ बहुत जिय जानी—रा०, ५१, आ०। अधिक जिय जानी—ह०, ज०। अधिक करि मानी—भा०, वे०, प्र०, ७४। ४ अरपि करि—भा०, वे०, आ०। अरपि के—७४। साधि करि—रा०, डु०, भ० स०। ५ पँ—रा०, डु०, भ० स०। पहि—ह०, ७४। पहँ—भा०, वे०, आ०। ६ सोइ—रा०, भा०, वे०, सो—ज०, ५१, १५, आ०। ७ जनको—ह०। कहुँ अति—प्रायः औरोंमे। ८ प्रभु—ह०, प्र०, १५। हरि—रा०, भा०, वे०, ७४, आ०। ९ करैं—रा०, ५१, आ०। करहि—भा०, वे०, ह०, ७४। १० मेरे, तेरे रा०, प्र०, दीन। मेरो तेरो—प्रायः औरोंमे।

शब्दार्थ—अरपि=अर्पण करके। अरपना=चढ़ाना, देना। पहँ=से।

पद्यार्थ—संसारमें ऐसा उदार (दूसरा) कौन है? जो विना सेवाके दीनपर पसीजै, कृपा करे (ऐसा) श्रीरामजीके समान कोई नहीं है।१। ज्ञानी मुनि योग-वैराग्य आदि साधन करके (भी) जो गति नहीं पाते, वह गति गीध (जटायु) और शबरीको देते हुए प्रभुने उसे (उस दुर्लभ-गतिकी देनको) मनमे कुछ बड़ी बात नहीं समझी।२। रावणने अपने दश शिर अर्पण करके जो ऐश्वर्य शिवजीसे पाया, वही ऐश्वर्य बहुतही सकुचाते हुए भगवान्ने विभीषणको दिया।३। तुलसीदासजी कहते हैं कि रे मेरे मन! यदि तू सब प्रकार सब सुख चाहता है, तो श्रीरामजीका भजन कर। वे दयासागर तेरी सब कामनायें पूरी करेंगे।४।

टिप्पणी—१ 'ऐसो को उदारु…' इति। (क) 'उदार'—'करि विराग तजि विकार भजि उदार रामचंद्र'—७४ (१ च-छ) देखिए। 'उदार' से अभिमतदातार, रुचि देखकर उससे अधिक ही देनेवाला, देकर भी सकुचनेवाला कि हमने कुछ न दिया,—ऐसा दानी सूचित किया।

१ (ख) 'बिनु सेवा जो द्रवै…' इति। बिना सेवा केवल दीनता देखकर पसीजनेवाला दूसरा नहीं, यह 'द्रवै दीनपर' कहकर जनाया। 'दीनको दयाल दानि दूसरो न कोई' ७८ (१ क), 'सेवा बिनु गुन विहीन दीनता सुनाये। जे जे तैं निहाल किये फूले फिरत पाये।' ८० (४ क-ख), 'कुसमय दसरथके दानि तैं गरीब निवाजे।८०।' 'काहू तो न पीर रघुबीर दीनजन की।' ७५ (२ ग) देखिए, इनमें यही बात कही है।

२ (क) 'जो गति जोग…' इति। श्रीरामजीने शबरीजीसे यह बात स्वयं कही है—'जोगिबृंद दुरलभ गति जोई। तो कहुँ आजु सुलभ भइ सोई।३।३६।८।', भगवान् साक्षात् सामने खड़े हैं, वह उनका दर्शन करती हुई चरणोंको हृदयमें धारण कर 'हरिपद लीन भइ जहँ नहि फिरे।३।३६।' गीधराजको गोदमें लिये, अपनी जटाओंसे उसके अंगकी धूल पोंछ रहे हैं, वह दर्शन करते हुए प्राण छोड़ तुरत हरिरूप हो, स्तुति कर प्रभुके धामको जाता है। प्रभु दोनोंकी श्राद्ध-क्रिया अपने हाथसे करते हैं। इत्यादि। यह दुर्लभ सद्गति किसी ज्ञानी मुनिको नहीं मिली। इसकी तो बात ही क्या, ध्यानमें भी प्रभुको कभी ही कभी यत्न करनेसे पाते हैं। यथा 'जिति पवन मनु गो निरस करि मुनि ध्यान कबहुँक पावहीं।४।१०।', 'जो मूरति सपने न बिलोकत मुनि महेस मन मारि कै। गी० ५।३६।

२ (ख) 'न बहुत जिय जानी' इति। श्री जटायुजीका पितासे भी अधिक सम्मानकर मुनि दुर्लभ गति देकर भी सोचते हुए कि हमने तो

आपको कुछ दिया नहीं, देखिए वे क्या कह रहे हैं—'तनु तजि तात जाहु मम धामा। देउँ काह तुम्ह पूरनकामा।३।३१।१०।' निज धाम जो दिया वह अपना दिया नहीं मानते, उसके संबंधमें तो कहते हैं कि 'तात कर्म निज तें गति पाई। परहित बस जिन्हके मन माहीं। तिन्ह कहुँ जग दुर्लभ कछु नाहीं।३।३१।७-८।'—इस प्रकार जो जटायुने श्रीसीताजीकी रक्षामें आत्म-समर्पण कर दिया, उस सेवाके बदलेमें कुछ न दिया,—यह समझकर ऋणी बने रह गए।

इसी प्रकार शबरीजीको मुनि दुर्लभ गति देकर भी उसे उसकी भक्तिका फल कहते हैं। यथा 'नव महुँ एकउ जिन्हके होई। नारि पुरुष सचराचर कोई। सोइ अतिसय प्रिय भामिनि मोरें। सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरें। जोगिवृंद···।३।३६।', उसने जो 'फल सुरस अति' खिलाये उस से वाके ऋणी बन गए।

३ 'जो संपति दससीस···' इति। 'दससीस' को दो बार अन्वयमें लेनेसे 'दससीस दसशीश' इस तरह कर्ता, कर्म दोनों आ जाते हैं। 'अरपि करि'—अर्पण करना कहकर जनाया कि सिर काटने और चढ़ानेमें किंचित् कष्ट न मानकर उत्साहपूर्वक शिवजीको चढ़ा दिया जैसे कोई फूल चढ़ाता है। रावण संपत्ति-प्राप्तिके लिये इतना उत्सुक था। दश शिरके मूल्यमें उसको यह संपत्ति (लंका और केवल ७१ चतुर्युगी राज्य) मिली। उत्साहपूर्वक अर्पण करनेके संबंधमें हनु०८।५२-५४ में रावणके कुछ वाक्य हैं—शिरोंपर प्रहार करते समय मेरे दशो शिर, 'मैं पहले, मैं पहले। मुझे पहले काटो, मुझे पहले काटो', यह कहते हुए त्रिपुरारिके आगे भूमिपर गिरे थे।—'येऽहं पूर्विकया प्रहारमभजन्मां छिन्धि मां छिन्धि मां। छिन्धीत्युक्ति पराः पुरारि पुरतो लंकापतेर्मौलयः।५३।'—विशेष 'मानसपीयूष' में 'जान उमापति जासु सुराई। ६।२५।२।' में देखिए।

मेरी समझमें 'अरपि करि' और 'दस सीस' के संबंधसे यहाँ इतना ही प्रसंग है। उधर दस शिर अर्पण करना और इधर शरणागति वा प्रणाम अर्पण करना। यदि इससे रावणका भारी क्लेश सहकर संपत्तिका प्राप्त करनेका भाव लें, तो मानसमें उसके तपका वर्णन और उसके अन्तमें सिरोंका वारंबार अपने हाथों काटनेपर शिवजीका प्रसन्न होकर वर देनेके प्रमाणमें गीतावलीके 'बार कोटि सिर काटि, साटि लटि रावन संकर पै लई। सोइ लंका लखि अतिथि अनवसर राम तृनासन-ज्यों दई।५।३८।' को ले सकते हैं। तात्पर्य कि श्रीरामजीने अनवसरका अतिथि जानकर तृणके आसनके समान लंका उनको दी।

श्रीरघुनाथजीने लंकाका राज्य प्रणाममात्रसे दे दिया। प्रणाममात्रसे इतना दिया, पर संकोचसहित दिया कि हमने कुछ न दिया। क्योंकि रावणकी भोगी हुई अपवित्र संपत्ति ही तो दी, फिर वह लंका भी जली-भुनीही तो दी, पर यहाँ वनवासमें हमारे पास है ही क्या जो दें। 'लंक जरी जोहें जिय सोचु सो बिभीषनको। क० ७।२२।' जो हमने दी वह तो इसीके घरकी है, इसे देकर हमने इसका क्या उपकार किया। दोहावलीमें इसका संकेत मिलता है। यथा 'बलकल वसन असन फल तृनसज्या द्रुम प्रीति। तिन्ह-समयन लंका दई यह रघुबरकी रीति।१६२।' मानसमें कहा है 'जो संपति सिव रावनहि दीन्हि दिए दस माथ। सोइ संपदा बिभीषनहि सकुचि दीन्हि रघुनाथ।५।४६।'

'लीन्हीं' और 'दीन्हीं' में भाव भरा है कि रावणने दस सिर देकर बदलेमें लंका आदि ली और विभीषणको भगवान्‌ने आते ही वही वस्तु बिना सेवाके दे डाली। रावण अमर न हुआ और विभीषण अमर कर दिये गए, कल्पपर्यन्त राज्य मिला—यह सब अधिक मिला, फिर भी संकोच गया नहीं।

☞ इससे श्रीरामजीके सौशील्य, औदार्य और सुकृतज्ञता गुण दिखाए। यह भी सूचित किया कि भारीसे भारी तपसे भी प्रभुकी शरणागतिका माहात्म्य अधिक है। 'सकुचि' से श्रीरामजीने अपने शरणका माहात्म्य लक्ष्य कराया है।

['जो गति····जानी' यह उदारता परलोक-सुख देनेकी है और 'जो संपति···दीन्ही' यह उदारता लोकमें ऐश्वर्य और अन्तमें निज धाम देनेकी है।]

४ (क) 'तुलसिदास सब भाँति···' इति। 'सकल सुख' में अणिमादिक सब सिद्धियाँ, नवों निधियाँ, ज्ञान, वैराग्य, विज्ञान, ऋद्धि, अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष सब आ जाते हैं। विशेष ४६ (१ ग) 'सकल सौभाग्य सुख खानि' तथा 'सुखसार' ६६ (४ घ) देखिए। पद ४६ शब्दार्थ भी देखिए। 'मन मेरे' कहकर अपने मनके मिष सब जीवोंको उपदेश देते हैं।

४ (ख) 'तौ भजु राम'—अर्थात् रामभजनसे सब प्रकार सब सुख प्राप्त होते हैं। यथा 'नाथ कुशल-कल्यान सुमंगल बिधि सकल सुख सुधारि कै। देत, लेत जे नाम रावरो···। गी० ५।३६।' यह भी जनाया कि 'सकल' सुख रामभक्तिसे ही मिल सकते हैं, अन्य साधनोंसे नहीं।

४ (ग) 'काम सब पूरन करें···' इति। इस वाक्यसे जनाया कि परात्पर परब्रह्म उपास्य इष्टदेव ये ही हैं, इन्हींमें सब कामनाओंके पूर्ण

करनेका सामर्थ्य है, अतएव इनका भजन कर, उनकी कृपाकी थाह नहीं, भजन करनेसे तुरत कृपा करते हैं, इत्यादि। यथा 'बीर महा अवराधिअे साधें सिधि होइ। सकल काम पूरन करै जानै सब कोइ।' [१०८ (१) ख तथा १०७ (६) क-ख 'को कोटिक कामन।' में देखिए], 'भजत कृपा करिहहिं रघुराई। १।२००।६।', 'यो विद्धाति कामान्' (कठ० २।५।१३)।

सू० शुक्ल—"परमात्माके आनन्दसे सर्वोपरि आनन्द प्राप्त होता है तो विषयसुखको क्या कहना है; वह तो सिद्धियोंद्वारा सेवककी भाँति भक्तकी सेवा किया करता है। इसमें परमात्माका भजन करना ही मुख्य है।"

। श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु ।

१६३

एकुइ[1] दानिसिरोमनि साँचो।
जिहिं[2] जाँच्यो[3] सो जाचकता बस फिरि बहु-नाच न नाचो।१।
सब स्वारथी असुर सुर नर मुनि कोउ न देत बिनु पाए।
कोसलपाल कृपाल कलपतरु द्रवत सकृत सिरु नाए।२।
हरिहुँ और अवतार आपने राखी बेद बड़ाई।
लै चिउरा[4] निधि दई सुदामहिं जद्यपि बाल-मिताई।३।
कपि सबरी सुग्रीव बिभीषन को-को[5] न कियो अजाची।
अब तुलसिहि दुख देति दयानिधि दारुन आस पिसाची।४।

शब्दार्थ—बहु नाच न नाचो=(यह मुहावरा है)=द्वार-द्वार फिरना एवं बहुत कष्ट उठाना न पड़ा। बेद बड़ाई=वेदमर्यादा कि जो देवे सो पावे, जो बोवे सो काटे। चिउरा (च्युड़ा)=एक प्रकारका चर्वण जो हरे भिगोये या उबाले हुए धानको कूटनेसे बनता है। अजाची (अयाची)= संपन्न; पूर्णकाम। पिशाची=डाइन; चुड़ैल।

पद्यार्थ—सच्चा दानियोंमें शिरोमणि (दानिश्रेष्ठ) एक ही है। जिस-किसीने भी उनसे माँगा, फिर वह याचकतावश (दरिद्रता वा भिखमंगा-

१ एकुइ—रा०। एकइ-ह०, ७४। एकै—भा०, वे०, आ०। २ जिहिं—रा०। जिहि—भा०, वे०, मु०, वै०, भ०। जेहि—ह०। जेइ—आ०। ३ जाँचो—भा०, वे०, मु०। ४ चिउरा—रा०, भा०, ५१, ७४, आ०। चाउर—प्र०, १५। चूड़ा—ज०। तंडुल—वे०, ह०। ५ को को न—रा०, डु०, भ० स०। को नहिं-प्रायः औरोंमे।

पनेसे अधीन होकर) बहुत नाच न नाचा । १ । असुर (दैत्य, दानव, राक्षस), देवता, मनुष्य और मुनि सब स्वार्थी (मतलबी) हैं, कोई विना (कुछ पूजा-सेवा) मिले नहीं देता । (परन्तु) कोशलपति (श्रीरामचन्द्रजी) कृपाल कल्पवृक्ष हैं एक बार मस्तक झुकाने (प्रणाममात्रसे) पसीज जाते (कृपा करते) हैं । २ । भगवान्‌ने भी अपने अन्य अवतारोंमें वेदमर्यादा रक्खी है (उसकी रक्षा की है, उसका पालन किया है) । च्यूड़ा लेकर (तब) सुदामाजीको संपत्ति दी है यद्यपि (उनसे) बालपनेकी मित्रता थी । ३ । बानर (श्रीहनुमानजी आदि), शबरीजी, सुग्रीवजी और विभीषण (आदि) किस-किसको आपने याचनारहित (सर्वसंपन्न, पूर्णकाम) नहीं कर दिया ? (सभीकी तो सब कामनायें आपने पूर्ण कर दीं) । हे दयासागर ! अब (मुझ) तुलसीदासको भयंकर आशारुपिणी चुड़ैल दुःख दे रही है । ४ ।

टिप्पणी—१ 'एकुइ दानिसिरोमनि ···'इति । (क) एक ही सच्चा है कहकर जनाया कि दानि शिरोमणि और भी माने जाते हैं (जैसे रन्तिदेव, बलि, बाष्कलि, हरिश्चन्द्र, दधीचि, शिवि, मोरध्वज आदि मनुष्यों, ऋषियों और असुरोंमें । श्रीशिवजी देवोंमें । भगवान्‌के अवतारोंमें परशुराम आदि) । सबोंमें सच्चे दानिश्रेष्ठ श्रीराम ही हैं । इसीकी व्याख्या आगे करते हैं ।

१ (ख) 'जिहि जाँच्यो सो···'इति । श्रेष्ठता दिखाते हैं कि जिसने भी आकर माँगा फिर उसे दूसरे द्वारपर जाना न पड़ा, उसकी समस्त कामनाएँ यहीं पूर्ण हो गईं, उसकी याचकता ही मिट गई, दुबारा माँगनेकी आवश्यकता ही न रह गई; वह पूर्णकाम हो गया । पूर्व भी कहा है—'तोहि माँगि माँगनो न माँगनो कहायो ।' ७८ (४), 'को माँगिवो निवारै । अभिमतदातार कौन' ८० (१), 'परम उदारहि । ८५ (२) ।', 'ऐसो को उदार जग माहीं' १६२ (१) देखिए । क० ७।२८ में कहा है कि याचकता अर्थात् कामनारूपी दरिद्रता कँगालपना सारे संसारको जला रही है, वह याचकता ही श्रीरामजीके समीप जाकर माँगनेसे, भस्म हो जाती है अर्थात् फिर याचकपना छूट जाता है । यथा 'जेहि जाचत जाचकता जरि जाइ, जो जारति जोर जहानहि रे ।'

१ (ग) 'बहु नाच न नाच्यो' इति । प्रभुका याचक बननेके पूर्व बहुत नाच कौन नाच नाचते रहे, यह पूर्व पद ९१ में बता आए हैं—'नाचत ही निसि दिवस मर्यो ।···बहु बासना विविध कंचुकि भूषन लोभादि भर्यो । चर अरु अचर गगन-जल-थलमें कौनु स्वाँगु न कर्यो ।' ९१ (२) में देखिए । 'जिहि जाच्यो···नाच्यो' से यह जनाया कि अन्य

देवी-देवता आदिसे याचना करनेपर दरिद्रता बनी ही रहती है। यथा 'आस बिबस खास दास ह्वै, नीच प्रभुनि जनायो। हा-हा करि दीनता कही द्वार-द्वार बार-बार परी न छार मुँह बायो।…नाथ हाथ कछु नाहिं लग्यो लालच ललचायो। साँच कहौं नाच कौन सो जो न मोहि लोभ लघु निलज नचायो।२७६।', 'देव दनुज मुनि नाग मनुज नहिं जाँचत कोउ उबरयो। मेरो दुसह दरिद्र दोष दुख काहू तो न हरयो।६१।', 'लोभ मनहि नचाव कपि ज्यों गरे आसा डोरि।१५८।', इत्यादि। इन उद्धरणोंसे 'याचकता', 'नाच', अन्य स्वामी और नाचना क्या हैं, यह सब स्पष्ट हो जाते हैं। [पुनः, श्रीरामजी उसको ऐसा करदेते हैं कि उसकी याचकता तो छूट ही जाती है और वह स्वयं ऐसा दानी हो जाता है कि दूसरोंकी याचकता छुटा दे, जैसे श्रीहनुमान्‌जीको चारों फल देनेवाला और जगत्‌-पूज्य बना दिया। (वै०)]

२ (क) 'सब स्वारथी असुर सुर…' इति। सब मतलबके यार हैं, प्रथम बहुत बड़ी पूजा, सेवा, जप, तप, बलि-भेंट आदि ले लेते हैं तब कुछ थोड़ा-सा देते हैं। यथा 'दुसरो भरोसो नहिं बासना उपासनाकी, बासव बिरंचि सुर (नर) मुनि गन की। स्वारथके साथी मेरे हाथी स्वाने लेवा देईं, काहू तो न पीर रघुबीर दीन जन की।' (७५ (२ ख) देखिए), 'बिबुध सयाने पहिचाने कैधौं नाहीं नीके, देत एक गुन लेत कोटि गुन भरि सो। २६४।', सुर नर मुनि सबकै यह रीती। स्वारथ लागि करहिं सब प्रीती। ४। १२। २।', 'भूतानां देवचरितं दुःखाय च सुखाय च।…२६। भजन्ति ये यथा देवान् देवा अपि तथैव तान्। छायेव कर्मसचिवा (साधवो दीनवत्सलाः)। २७।' (प० पु० पा० ८४) श्रीअम्बरीषजी श्रीनारदजीसे कहते हैं देवताओंका चरित प्राणियोंके लिये कभी दुःखका कारण होता है और कभी सुखका। जो देवताओंकी जैसी सेवा करते हैं, देवता भी उसी प्रकारका सुख पहुँचानेकी चेष्टा करते हैं। जैसे छाया शरीरके साथ सदा रहती है वैसे ही देवता कर्मानुसार सहायता करते हैं (किन्तु साधु स्वभावसे ही दीनोंपर दया करते हैं)।

म० भा० शान्ति० में भी कहा है—'अर्थार्थी जीवलोकोऽयं न कश्चित् कस्यचित् प्रियः। सख्यं सोदर्ययोर्भ्रात्रोर्दम्पत्योर्वा परस्परम्। १५२। कस्य-चिन्नाभिजानामि प्रीतिं निष्कारणामिह।…प्रियो भवति दानेन प्रियवादेन चापरः। १५४। मन्त्रहोमजपैरन्यः कार्यार्थं प्रीयते जनः। उत्पन्ना कारणे प्रीतिरासीन्नौ कारणान्तरे।१५५। प्रध्वस्ते कारणस्थाने सा प्रीतिर्विनिवर्तते।' (अ० १३८)। अर्थात् 'यह जीवजगत् स्वार्थका ही साथी है। कोई किसीका

प्रिय नहीं है। दो सगे भाइयों तथा पति और पत्नीमें भी जो परस्पर प्रेम होता है, वह भी स्वार्थवश ही है। इस जगत् में किसीके भी प्रेमको मैं निष्कारण (स्वार्थरहित) नहीं समझता। ''कोई दान देनेसे प्रिय होता है, कोई प्रिय वचन बोलनेसे प्रीतिपात्र बनता है और कोई कार्यसिद्धिके लिये मन्त्र, होम एवं जप करनेसे प्रेमका भाजन बन जाता है। किसी कारणको लेकर उत्पन्न होनेवाली प्रीति जबतक वह कारण रहता है, तबतक बनी रहती है। इस कारणका स्थान नष्ट हो जानेपर उसको लेकर की हुई प्रीति भी स्वतः निवृत्त हो जाती है।'—१५३ (२ क-ख) भी देखिए।

२ (ख) 'कोसलपाल कृपाल कलपतरु ···' इति। हमने 'कृपाल' को कल्पतरुका विशेषण माना है, 'कृपाल और कल्पतरु' यह साधारण अर्थ तो सभी करते हैं। कल्पतरु अर्थ-धर्म-काम ही देता है और वह माँगनेपर ही, अन्यथा नहीं। यथा 'जाइ निकट पहिचानि तरु छाँह समन सब सोच। माँगत अभिमत पाव जग राउ रंक भल पोच। २।२६७।' श्रीकोशलपतिजी 'कृपाल कल्पतरु' हैं, ये केवल उनको कहींसे भी प्रणाम कर दे तो इतनेमें ही सकुचा जाते हैं कि इसे क्या दें और बिना माँगे ही अर्थ-धर्म-काम और मोक्ष भी दे देते हैं। यथा '(त्यों न) राम सुकृतज्ञ जे सकुचत सकृत प्रनाम कियेहूँ। १७०।', 'भलो मानिहैं रघुनाथ जोरि जो हाथ माथो नाइहै। ततकाल तुलसीदास जीवनजन्मको फलु पाइहै। १३५।' ['कोसलपाल' का भाव कि यावत् पृथ्वीपर राजारूपसे लगभग बारह हजार वर्षके रहे तबतक प्रजाको पुत्रवत् पाला और जब लीला संवरणकर परधाम जाने लगे तो चर अचर सारी प्रजाको अपने साथ परधामको ले गए। ऐसे कृपागुण-मन्दिर हैं। (वै०)]—१३५ (५ ङ) और 'सुरतरु' ७७ (७ ग) तथा ५४ शब्दार्थ देखिए। कोसलपाल—७६ (२ ङ), १५३ (२ घ) देखिए।

३ 'हरिहुँ और अवतार आपने ' इति। (क) 'हरिहुँ' कहकर सूचित किया कि ऊपर जिन दानियोंको गिनाया वे तो स्वार्थरत हैं, पर भगवान्‌के जितने भी अवतार हैं वे सब निस्स्वार्थ हित करते हैं। दश मुख्य अवतारोंमें मीन, कमठ, वाराह, नृसिंह, बलि-बंध वामन ये पाँच तो थोड़ी देरके लिये आए और देवकार्य करके चले गए। परशुराम आवेशी अवतार केवल क्षत्रिय-संहारके लिये हुआ। दो ही अवतारोंमें विशेष लीलायें हुईं। श्रीकृष्णजी ने १२५ वर्षतक लीलायें कीं। द्वापरमें जो असुर नरराजोंके वेषमें आये थे उनका संहार करना था और जिनकी कामनायें द्वापरमें श्रीकृष्णावतार लेकर पूरी करनेका वचन श्रीरामजीने दिया था उनकी कामनायें पूर्ण करनेके लिये भी यह अवतार श्रीरामजीने लिया। परन्तु इस अवतारमें भी रामावतारकी उदारता नहीं थी, यह यहाँ दिखाते हैं।

३ (ख)—'राखी वेद बड़ाई'—वेदमर्यादा रक्खी। वेद कहते हैं 'जो दे सो पावै'। यथा 'दानि बड़ो दिन देत दये बिनु वेद बड़ाई भा ५।' (पद ५ टि० १ (क) देखिए), 'करै जो करम पाव फल सं निगम नीति असि कह सबु कोई। २।७७।८।' आगे इसीका उदाहरण देते

३ (ग) 'लै चिउरा निधि दई...' इति। इसमें दो बातें दिखाई 'लेना तब देना', 'पहलेसे बचपनसे ही जो मित्र था उससे प्रथम ले तब ऐश्वर्य देना'।

यहाँ दानशीलताके प्रसंगमें केवल इन बातोंको लेकर उत्कृष्टता दिखाई मित्रका गुण है कि 'देत लेत मन संक न धरई। बल अनुमान सदा हित क ।४।७।५।'—इसमें प्रथम 'देत' गुणकी प्रशंसा है। श्रीसुदामाजी तथा भगव श्रीकृष्णजी दोनों गुरुकुलमें गुरु श्रीसांदीपनजीके यहाँ सम्मिलित रहते उनकी सब सेवा करते थे, साथ-साथ वनसे लकड़ी लाने जाते, इत्यादि (भा० १०।८० देखिए)—उसी समयसे दोनों मित्र थे। मित्रके आने भगवान्‌ने गुरुजीके यहाँ रहते समयकी बातें कहीं और गुरुका आश वाद भी कहा कि "मैं तुम दोनोंपर प्रसन्न हूँ, इसलिये इस लोक औ परलोकमें तुम्हारे मनोरथ सिद्ध हों...'—'तुष्टोऽहं भो द्विजश्रेष्ठा' सत्य सन्तु मनोरथाः।...। भा० १०।८०।४२।', इत्यादि। सुदामाजीके उत्तर देने कि सत्यसंकल्प आपके साथ मैं गुरुजीके यहाँ रहा, तब हमने अपना क ल बना लिया, मुझे किसी बातकी भी कमी कैसे रह सकती है? (श्लो०४४ फिर भी भगवान्‌ने उनसे कहा कि 'आप मेरे लिये क्या भेंट लाये हैं? भक्त मु प्रेमपूर्वक यदि थोडी-सी भी वस्तु देते हैं, तो वह मेरी दृष्टिमे बहुत है। जो भक्तिभा पूर्वक मुझे पत्र, पुष्प, फल, जल कुछ भी अर्पण करता है तो उस शुद्धचि ऐसी भक्तकी प्रेमपूर्वक अर्पण की हुई वह भेंट मैं प्रसन्नतासे स्वीका करता हूँ।"—"किमुपायनमानीतं ब्रह्मन्मे भवता गृहात्। अण्वप्युपाहृ भक्तैः प्रेम्णा भूर्येव मे भवेत्।...। भा० १०।८१।३। पत्रं पुष्पं फलं तोयं य मे भक्त्या प्रयच्छति। तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः।४।" उनके सकुचानेपर भगवान्‌ने स्वयं चिथडेमें बँधे हुए च्यूडेको यह कहते हुए छी लिया कि तुम तो मेरी बडी प्यारी भेंट लाए हो, और तुरन्त एक मुट्ठी च्यूडा मुँह डाल लिया। इस एक मुट्ठीके बदलेमें लोक-परलोकमें सब संपत्तियोंक भोग प्राप्त कर दिया। यथा 'एतावतालं विश्वात्मन्सर्वसम्पत्समृद्धये अस्मिँल्लोकेऽथवामुष्मिन्पुंसस्त्वत्तोषकारणम्। श्लो० ११।' (यह श्रीरुक्मिणीजीने भगवान्‌का हाथ दूसरी मुट्ठी लेते ही पकड़कर कहा है)।— च्यूड़ा लेकर खाकर तब सपत्ति मित्रको दी; इसीसे यहाँ दानमे वेदमर्यादा रखकर दान

दिना कहा। प्रथम देकर तब मित्रकी वस्तु लेते तो कदाचित् ऐसा न कहते, वह तो मित्र-भावमें अपनी ही वस्तु है हो। अन्यथा भगवान्‌के सभी अवतारोंमें सभी ऐश्वर्य गुण है। सभी याचकको बिना कहे ही संपत्ति दे देते हैं, सभी अपने बहुत दिये-हुएको थोड़ा और सुहृदोंके थोड़े दिये-हुएको बहुत मानते हैं। यथा 'नन्वब्रुवाणो दिशते समक्षं याचिष्णवे भूर्यपि भूरिभोजः।'''। किंचित्करोत्युर्वपि यत्स्वदत्तं सुहृत्कृतं फल्ग्वपि भूरिकारी। भा० १०।८१।३४-३५।' (ये श्रीसुदामाजीके वाक्य हैं)।

☞स्मरण रहे कि भगवान्‌के सभी विग्रहो, सभी अवतारोंमें भेद नहीं है, सभी पूर्ण हैं, सभी सर्वशक्तिमान् हैं, सभी समस्त दिव्य कल्याणगुणसंपन्न हैं, पर जिस कार्यके लिये जो अवतार होता है, उसमे उसी कार्यके अनुकूल गुणोका प्राकट्य होता है। फिर भक्तोका विनोद भी तो भगवान्‌के साथ हुआ करता है। वही विनोद भी यहाँ है। रूपा-वन्यता भी इससे ध्वनित होती है।

[वैजनाथजीका मत है कि 'श्रीकृष्णावतारमें प्रभुने दर्शनमात्रसे ऐश्वर्य और मुक्ति किसीको नहीं दी। केवल सुदामाजीको ऐश्वर्य दिया सो च्यूड़ा लेकर तब दिया। पहले पाकर पीछे तो शिवादि भी देते हैं। रही मुक्ति सो तो अपने संगी उद्धव आदिको भी नहीं दी। साधन उपदेश किये, साथ न ले गए।—अर्थात् यह सौलभ्य और उदारता उस अवतारमें नहीं प्रकट की गई। श्रीरघुनाथजी परिवार प्रजा आदिको अपने साथ ही ले गए।']

भागवतमें 'पृथुक तण्डुल' शब्द आया है। यथा 'पृथुकतण्डुलान्' (८१।८), 'पृथुकतण्डुलाः' (८१।९), 'पृथुकैकमुष्टिं' (८१।३५)' इसका अर्थ पण्डित पुस्तकालयकी टीकामें 'चिउड़ा' किया है। श० सा० में 'पृथुक' का अर्थ यही है। सुदामाजीका कुछ प्रसंग ९९ (२ ग) में आ चुका है।

४ 'कपि सबरी सुग्रीव बिभीषन'''' इति। (क) 'को-को नहि कियो' कहकर इसके अतिरिक्त औरोंको भी अयाची बनाना सूचित किया है। अठारह पद्म यूथप वानर सबको अभय दान दिया, यथा 'निज निज गृह अब तुम्ह सब जाहू। सुमिरेहु मोहि डरपेहु जनि काहू। ६।११७।५।' सब सखाओंको परिवारभरसे अधिक प्रिय माना है। यथा 'अनुज राज संपति बैदेही। देह गेह परिवार सनेही। सब मम प्रिय नहि तुम्हहि समाना, मृषा न कहउँ मोर यह बाना। ७।१६।' शबरी भीलिनीको, पंपासरका जल उसके चरणस्पर्श द्वारा शुद्ध कराकर, लोकमें बहु मान्य किया और दर्शन-मात्र देकर मुक्ति दी। सुग्रीवको हनुमान्‌जीकी प्रार्थनासे कि सुग्रीव भक्त है, 'दीन जानि तेहि अभय करीजे', आपने मित्र बनाया और उसका

संकट दूर कर उनको ऐश्वर्य दिया और राज्य सुखभोग कराके अंतमें अपने साथ अपने धामको ले गए। विभीषणको शरणमें आते ही तिलक कर 'लंकेश' कहकर संबोधित किया, फिर स्वयं रावणको सपरिवार सदल मारकर कल्पपर्यन्त राज्यसुखभोग और अन्तमें धामकी प्राप्तिका वर दिया। 'को-को' में पाषाण अहल्या, गुह निषाद, केवट, कोल-किरात-भील-भालु, मगवासी चर अचर, दण्डकारण्य और मारीच आदि आ गए। यथा 'पाहन पसु पतंग कोल भील निसिचर काँच तें कृपानिधान किये सुवरन। दंडक पुहुमि पाँय परसि पुनीत भई···। २५७।', 'सिला गुह गीध कपि भील भालु रातिचर ख्यालही कृपाल कीन्हें तारन तरन। २४८।', 'केवट खग सबरि सहज चरनकमल न रत। सनमुख तोहि होत नाथ कुतरु सुफर फरत। १३४।'

४ (ख) 'अब तुलसिहि···' इति। 'आशा' में सब प्रकारकी सांसारिक विषयोंकी आशायें जना दीं। 'तुलसिदास सब आस छाड़ि करि होहि रामको चेरो।' ८७ (४ क, ग), 'और आस विश्वास' १०३ (१ ख) देखिए। आशा मनुष्यको खा लेती है, इसीसे उसे 'पिशाचिनी' की उपमा दी। यह बड़ी भयंकर होती है। 'दारुण' का अन्वय 'दुख देति' और 'आस···' दोनोंके साथ है। आशा दारुण दुःख देती है। यथा 'तुलसी अद्भुत देवता आसा देवी नाम। सेए सोक समर्पई विमुख भए अभिराम। दो० १५८।', 'आशा हि परमं दुःखं नैराश्यं परमं सुखम्। भा० ११।८।४३।' आशाके त्यागसे, उससे विमुख होनेसे ही सुख होता है, इसीसे निवेदन करते हैं कि विषयोंसे सुखप्राप्तिकी आशायें मुझे दारुण दुःख दे रही हैं। भाव कि मैं आपकी उदारता सुनकर याचना करने आया हूँ, मेरा दुःख दूर कीजिए जिससे मुझे भी अब 'बहु नाच न नाचना पड़े'। 'दयानिधि' का भाव कि याचना करनेमात्रसे निर्हेतु दया करते हैं, मैं भी उस दयाका भिखारी हूँ। आशाका परित्यागरूप भिक्षा चाहता हूँ।—यहाँ व्यङ्गार्थ वाच्यार्थके बराबर तुल्यप्रधान गुणीभूत व्यङ्ग है।

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

१६४ (१०६)

जानत प्रीति रीति रघुराई।
नाते सब हाते करि राखत राम सनेह सगाई॥१॥

नेह निबाहि देह तजि दसरथ कीरति अचल चलाई ।
ऐसेहुँ[1] पितु तें अधिक गीधपर ममता गुन गरुआई ।२।
तिय बिरही सुग्रीव सखा लखि प्रानप्रिया बिसराई ।
रन परयो बंधु बिभीषन ही को सोचु हृदयँ अधिकाई ।३।
घर गुरुगृहँ प्रिय सदन सासुरें भइ जब जबँ[2] पहुनाई ।
तब तबँ[3] कहँ[4] सबरीके फलनिकी रुचि माधुरी न पाई ।४।
सहज सरूप कथा मुनि बरनत रहत सकुचि सिर नाई ।
केवट मीत कहे सुख मानत बानर-बंधु बड़ाई* ।५।
प्रेम-कनोड़ो[5] रामसो[6] प्रभु तिभुअन[7] तिहुँ काल[8] न भाई ।
तेरो[9] रिनी हौं[10] कह्यो कपि सों ऐसी मानिहै[11] को सेवकाई ।६।
तुलसी राम सनेह सील सुनि जौं न भगति उर आई ।
तौ तोहि जनमि जायं जननी जड़ तनु-तरुनता गँवाई ।७।

शब्दार्थ--रीति=पद्धति । हाते करना=तोड़ देना, छोड़ देना । सगाई=संबंध; नाता । निबाहना=लगातार पालन या रक्षा करना; (संबंधको) बराबर बनाए रखना, त्रुटि न होने देना । चलाना=स्थापित करना; बराबर बनाये रखना । गरुआई=गौरव; बड़प्पन । तियबिरही=स्त्रीसे वियोग होनेके कारण दुःखी । अधिकाई=बढ़ती; विशेषता; अधिकता । पहुनाई=निमंत्रित या संबंधीका सत्कार; मेहमानदारी; दावत । रुचि=स्वाद; चाह; खानेकी इच्छा; भूख । माधुरी=मिठास । सहज सरूप

१ ऐसेउं-भा०, वे० । ऐसे-मु० । अैसेहु-रा० । अैसेहुँ-६६ । ऐसेहुँ-आ० । २ जहँ-भा०, वे०, प्र०, ७४, आ० । जब-६६, रा०, ह०, ज० । ३ तब-६६, रा०, भा०, वे०, ह०, ज० । तहँ-५१, ७४, आ० । ४ कहँ-६६, रा०, भ० । कहे-डु०, वै० । कहि-औरोमे । * यह चरण ६६ मे छूट गया है । ५ कनोड़ो-६६ । कनौडे-ह०, ज०, १५ । कनौडो-प्रायः औरोमे । ६ से-१५ । सरिस-७४ । ७ त्रिजग-७४ । तिभुअन-६६, रा० त्रिभुवन-औरोमे । ८-लोक-६६ (लेखप्रमाद है) । ९ रिनी तोर-५१, मु०, वै० । १०--६६, रा० भ० मे यही पाठ है । शेष प्रतियोमे पाठ एकसा नही है । भा० मे 'कह्यो हो कपि सो ऐसी को मानिहै' है । वे० मे 'हों' नही है शेष ६६ का पाठ है । ११ 'निहि'--वै०, ५१, दीन, ७४ मे है । मानहि-वि० । मानिहै-६६, रा०, डु०, भ०, ह० ।

(स्वरूप) = सत्-चित्-आनन्द ब्रह्मस्वरूप। बड़ाई = बड़प्पन; प्रशंसा। कनोड़ा = प्रेमसे दबने, एहसान माननेवाले कृतज्ञ। दब जानेवाले। जनमि = पैदा करके। तरुणता = युवावस्था; जवानी।

पदार्थ—प्रीतिकी रीति श्रीरघुनाथजी ही जानते हैं। श्रीरामचन्द्रजी सब (देह संबंधी तथा अन्य) नातोंको छोड़कर प्रेमके नातेको रखते हैं (की रक्षा करते हैं)‡।१। श्रीदशरथजीने प्रेम निबाहकर शरीर छोड़कर अचल कीर्ति स्थापित की—ऐसे भी पितासे अधिक ममता गीधपर की—(यह प्रीति-रीति जाननेके) गुणका गौरव है†।२। सखा सुग्रीवको स्त्री-वियोगसे दुःखी देखकर (अपनी) प्राणप्रिया श्रीजानकीजीके विरह)को भुला दिया। रणमें भाई (मूर्छित) पड़ा था, (उस दशामें भी) विभीषणकी ही चिन्ता उनके हृदयमें बहुत बढ़ी हुई थी।३। (अपने) घरमें, गुरुजीके घरमें, प्रिय मित्रोंके एवं प्रियाजीके महलोंमें, तथा ससुरालमें जब-जब आपकी दावत हुई, तब-तब आप कहा करते थे कि श्रीशबरीजीके फलोंका स्वाद एवं वैसी भूख और वह मिठास नहीं मिली।४। जब मुनि आपके ब्रह्म सच्चिदानन्द स्वरूपका वर्णन करते तब सकुचाकर सिर नीचा करके रह जाते। 'केवट मीत' (केवटके सखा, ऐसा) कहे जानेपर सुख और वानर-बंधु कहे जानेपर अपनी बड़ाई मानते हैं।५। हे भाई! प्रेमके एहसानसे दब जानेवाला तीनों लोकों और तीनों कालोंमें श्रीरामसमान (दूसरा) प्रभु नहीं है। 'वानरसे कहा कि मैं तुम्हारा ऋणी हूँ' (भला कहिए तो) सेवाको ऐसा मान कौन देगा?।६। तुलसीदासजी कहते हैं कि श्रीरामजीका शील और प्रेम सुनकर यदि हृदयमें भक्ति न आई तो, रे मूर्ख! तेरी माताने तुझे व्यर्थ पैदा करके अपने तनका यौवन खो दिया।७।

टिप्पणी १ (क) 'जानत प्रीति रीति...' इति। प्रीतिकी पद्धति जानते हैं अर्थात् प्रेमीके साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए तथा उसके साथ

‡ 'कर रखना' संयोज्य क्रिया भी है। उसके अनुसार अर्थ होगा,—'स्नेहके नातेके आगे सब नाते छोड़ देते हैं।' दोनो अर्थ ठीक हैं।

† अर्थान्तर १ ममता की और पितासे (पिता की अपेक्षा) गुण और गरुआई भी अधिक माना। पं० रामकुमार। २ उसपर ममता, गुण और गरुआई दिखाए। (ह०। ३ जटायु प्रति अपने प्रेम और बड़प्पन का भाव दर्शित किया। दीन)। ४ ममत्व और शील-गंभीरता दिखाई, अथवा उसके करतबका बड़ा एहसान माना। (वै०, वि०, भ०)। ५ अपनताके प्रभावका भारीपन दिखाया। (वीर)।६ जटायु-पर ममता की कि उसके गुण गरुवाने लगे। (सू० शुक्ल)।

स्वयं प्रेमका निवाहना, यह रघुनाथजी ही जानते हैं। अन्यत्र भी कहा है—'राम प्रीतिकी रीति आप नीके जनियत है। १८३।', 'नीति प्रीति परमारथ स्वारथु। कोउ न राम सम जान जथारथु। २।२५४।५।', वैसे ही यहाँ भी 'जानत रघुराई'में 'नीके जानत' तथा 'राम समान यथार्थ प्रीतिकी रीति एवं प्रीति कोई और नहीं जानता' ये भाव हैं। आगे इस यथार्थ रीतिको दिखाते हैं।

१ (ख) 'नाते सब हाते करि राखत ···' इति। 'नाते सब'में देह संबंधी सब नातों (माता, पिता, भाई, सुहृद, स्त्री आदि) के अतिरिक्त ब्रह्मण्यदेव, शरणपाल, आर्त्तजनरक्षकवाले नाते भी भक्तवात्सल्यके नातेके आगे त्याग देते हैं। वे सब कुछ छोड देते हैं, पर प्रेमके नातेको नही छोड सकते। प्रेमीकी अपेक्षा ये कोई भी प्रिय नही हैं। भगवान्‌ने दुर्वासाजीसे यह भक्तपरवशता कही है। वह यह कि 'जो स्त्री पुत्र, घर, बन्धु, प्राण और धनको छोड़कर मुझमें मन लगाये हैं, मैं उनके वैसे ही वशमें रहता हूँ जैसे पतिव्रता स्त्रियोंके वशमें उनके पति रहते है। ऐसे भक्तोंको छोड़ मैं अपने शरीर या लक्ष्मीको भी नहीं चाहता। वे मेरे सिवा कुछ नहीं जानते और मैं उनके सिवा कुछ नहीं जानता।' (भा० ९।५।६३-६८)। श्रीरघुनाथजीने स्वयं भी कहा है—'ताते मोहि तुम्ह अति प्रिय लागे। मम हित लागि भवनसुख त्यागे। अनुज राज संपति बैदेही। देह गेह परिवार सनेही। सब मम प्रिय नहिं तुम्हहि समाना।७।१६।', 'जिन्हके हौं हित सब प्रकार चित नाहिन और उपाउ। तिन्हहि लागि धरि देह करौं सब, डरौं न सुजस नसाउ। गी० ५।४५।'—लोग क्या कहेंगे, इसकी भी पर्वाह नहीं करते। आज भी कितने ही शवरीके फल जलके खानेपर नाक सिकोड़ते और बालिवधके औचित्यपर शंका करते हैं।

२ (क) 'नेह निबाहि देह तजि दसरथ ···' इति। 'नाते हाते करि राखत' के उदाहरण अब देते हैं। श्रीदशरथजी पिता हैं। उन्होंने राम-वियोग होनेपर आयु शेष रहते हुए भी शरीर न रक्खा। यथा 'सो तनु राखि करब मैं काहा। जेहि न प्रेम पनु मोर निबाहा।' यह सोचकर तुरत 'राम राम कहि राम कहि राम राम कहि राम। तनु परिहरि रघुबर-बिरह राउ गयउ हरिधाम।२।१५५।' इस प्रकार प्रेम निबाहा, यथा 'ऐसे सुतके बिरह अवधि लौं जौं राखौं यह प्रान। तौ मिटि जाइ प्रीति की परमिति, अजस सुनौं निज कान। .. तुलसिदास तनु तजि रघुपति हित कियो प्रेम परवान। गी० २।५६।' श्रीरघुनाथजीके प्रेममें शरीर त्यागनेसे अचल कीर्ति हुई। यथा 'जिअन मरन फलु दसरथ पावा। अंड अनेक अमल जसु

छावा। जिअत राम-विधु-बदन निहारा। राम बिरह करि मरनु सँवारा। २।१५६।१-२।' 'बिधि-हरि-हरु सुरपति दिसिनाथा। बरनहिं सब दसरथ गुन गाथा।२।१७३।७।'

२ (ख) 'ऐसेहुँ पितु तें अधिक...' इति। श्रीदशरथजी पिता थे, उनका श्रीरामजीमें पुत्र विषयक प्रेम था। उन्होंने अपने 'सत्य' के प्रेमको भी निवाहा और पुत्रके प्रेमको भी निबाहा। सत्यकी रक्षाके लिये पुत्रका और पुत्रमें सत्यप्रेम होनेसे तनका त्याग किया। जटायु पक्षी था, उससे देह-सम्बन्ध न था। प्रथम-प्रथम उससे पंचवटीमें भेंट हुई। उसने दृढ़ प्रेम दरसाया और दोनों भाइयोंकी अनुपस्थितिमें श्रीसीताजीकी रक्षाकी सेवा अपने ऊपर ली—'गीधराज सैं भेंट भइ बहु बिधि प्रीति बढ़ाइ।३।१३।', 'सोऽहं वाससहायस्ते भविष्यामि यदीच्छसि। इदं दुर्गं हि कान्तारं मृगराक्षससेवितम्। सीतां च तात रक्षिष्ये त्वयि याते सलक्ष्मणे। वाल्मी० ३।१४।३४।' ('तात! यदि आप चाहें तो मैं आपके निवासमें सहायक होऊँगा। यह दुर्गम वन मृगों तथा राक्षसोंसे सेवित है। लक्ष्मण सहित आप यदि अपनी पर्णशालासे कभी बाहर चले जायँ तो उस अवसरपर मैं देवी सीताकी रक्षा करूँगा।'—यह जटायुने कहा था। श्रीरघुनाथजीने उसकी बात स्वीकार कर ली। यथा 'स तत्र सीतां परिदाय मैथिलीं सहैव तेनातिबलेन पक्षिणा।...श्लो० ३६।' मैथिलीजीको उनके संरक्षणमें सौंप दिया।) श्रीसीताजीकी रक्षामें गीधराजने त्रैलोक्यविजयी रावणसे लोहा लिया, उसमें आत्मसमर्पण कर दिया।—केवल शुद्ध प्रेमके नाते। 'अधिक गीधपर ममता' यह कि गीधको गोदमें लिया, जटाओंसे धूल पोंछी, वहीं दिव्य देह हरिरूप दे फिर अपना धाम दिया, अपने हाथों उसका दाह-संस्कार, पिण्डदान, जलदान तथा स्वर्गप्राप्ति करानेवाले पितृसम्बन्धी मन्त्रोंका जप आदि सब किया—यह गौरव श्रीदशरथजीको नहीं प्राप्त हुआ। विशेष उद्धरण आदि पूर्व प्रसंगानुसार १३८ (३क), ४३ (६घ), आदि में आ चुके हैं।

२ (ग) 'गुन गरुआई'—हमने 'यह (जानत प्रीतिरीति) गुणका गौरव है' यह अर्थ किया है। अर्थात् यह स्नेह-संबधका गौरव है कि पितासे अधिक गीधपर ममता की।

[अन्य अर्थोंके भाव—"उसने परहितके लिये देह वार दी यह बड़ा गुण माना और पितासे इनको अधिक गरू माना। भाव यह कि श्रीदशरथजीने सत्यको ग्रहणकर ईश्वरको त्यागा, रामानुरागी होकर कैकेयीमें आसक्त हुए, इससे प्रभुने इनके प्रेमको हलका माना। धर्मको अधिक मानकर ईश्वरको त्यागा, इससे गुणमें हलका माना और गीध भक्तिको ही

अधिक मान दृढ़ पकड़े रहा, सीताजीकी रक्षामें प्राण दे दिये, इस गुणको प्रभुने अधिक भारी माना।" (वै०)।—परन्तु मेरी समझमे यहाँ श्रीमहाराजजीका हलकापन दिखाना कवि-अभिमत नही है। केवल देह-सम्बन्धी नातोकी अपेक्षा स्नेहनातेको अधिक भावना दिखाते हैं; इसीसे 'अैसेहुँ पितु ते अधिक' शब्द दिये। गी० २।७२ मे पिताके गौरवके सम्बन्धमे कहा है—'निज कर खाल खैंचि या तनु तें जौ पग पानही बनावौ। होउँ न उरिन पिता दसरथतें, कैसे ताके वचन मेटि पति पावौ।']

३ (क) 'तियबिरही सुग्रीव सखा ···' इति। भाव यह कि स्वयं अपनी प्राणप्रियाके विरहमें परम दुःखी थे। परन्तु सुग्रीवसे मित्रता हुई और उन्होंने श्रीजानकीजीके गिराये हुए पट भूषण लाकर दिये, तब भी 'पट-उर लाइ सोच अति कीन्हा। ४।५।' वह विरह ताजा हो गया। परन्तु जब मित्रने अपना स्त्री-विरह प्रकट किया। यथा 'रिपु सम मोहि मारेसि अति भारी। हरि लीन्हेसि सरबसु अरु नारी।४।६।११।', तब वे अपने विरह दुःखको एवं प्राणप्यारीको भुलाकर एकदम कह उठे 'सुनु सुग्रीव मारिहउँ बालिहि एकहि बान', 'सखा सोच त्यागहु बल मोरें' और किंचित् विलम्ब न सह सके, तुरत सुग्रीवको साथ ले जाकर वालिवध कर उनको राज्य और स्त्री दिलाई। फिर चतुर्मासा प्रवर्षण-गिरिपर वितानेतक उनको भलीभाँति भोगविलास करने दिया। ☞यहाँ 'प्राणप्रिया' को इतने दिन भुलाना इस देह-सम्बन्धको वानरके प्रेमके नातेकी अपेक्षा 'हाते करि रखना' दिखाकर 'जानत प्रीति-रीति रघुराई'को प्रमाणित किया।

३ (ख) 'रन परयो बंधु···' इति। अब देहसंबंधी भाई अनन्य प्रेमी श्रीलक्ष्मणजीके नातेसे अधिक विभीषणके प्रेमनातेको गौरव देना दिखाते हैं। भाईको शक्ति लगी, वे मूर्छित पड़े हैं, सूर्योदयके पूर्व संजीवनी नहीं आती तो वे जीवित न हो सकेंगे। भाईके लिये विलाप कर रहे हैं, पर किस लिये? केवल विभीषणके लिये। यथा 'घायल लखनलाल लखि बिलखाने रामु, भई आस सिथिल जगन्निवासदील की। भाईको न मोहु, छोह सीयको न तुलसीस, कहैं मैं विभीषनकी कछु न सबील की। क० ६।५२।', 'तीय हरी रन बंधु परयो, पै भरयो सरनागत-सोच हियो है। क० ६।५३।', 'मेरो सब पुरुषारथ थाको। बिपतिबँटावन बंधु बाहु बिनु करौं भरोसो काको॥···ह्वैहै कहा विभीषनकी गति, रही सोच भरि छाती। गी० ६।७।'†—भाव यह कि लक्ष्मणजीके न जीवित होनेसे मैं जी नहीं सकता, क्योंकि

---

† वाल्मी० ६।४९ मे भी यह पश्चात्ताप है। यथा 'तत्तु मिथ्या प्रलप्तं मां प्रधक्ष्यति न संशयः। यन्मया न कृतो राजा राक्षसानां विभीषणः। श्लो० २२।' अर्थात् मैं विभीषणको राक्षसोंका राजा न बना सका; अतः मेरा वह झूठा प्रलाप मुझे सदा जलाता रहेगा, इसमे संशय नही है।

घर क्या मुँह लेकर लौटूँगा, मेरे प्राण जानेपर सीताजी प्राण छोड़ देंगी, तब सुग्रीव भी सेना सहित लौट जायँगे। विभीषणजी बिचारेको कौन आश्रय देगा? यही बड़ा शोच हृदयमें है। आश्रितके लिये अपने तथा परिवारसे भी अधिक चिन्ता करना, दुःखी होना दिखाकर 'जानत प्रीति···' को दृढ किया।

४ 'घर गुरु गृहं प्रिय सदन··' इति। अब चौथे प्रेमनाते वाली शबरी भीलिनीकी अपेक्षा घर, गुरुगृह आदिके प्रेमनातेको न्यून कर मानना दिखाकर 'जानत प्रीति···' को पुष्ट करते हैं। भीलिनीके फल बड़ी रुचि और भूखके साथ सराह-सराहकर खाये थे, यह सुनकर माता कौसल्या, माता कैकेयी, माता सुमित्राजी आदिने बडे प्रेमसे विविध व्यंजन बना-बनाकर खिलाए, श्रीअरुन्धतीजी गुरुपत्नी, सुहृदों, श्रीसीताजी, श्रीसुनयना अंबाजी आदिने बुला-बुलाकर पहुनई की। परन्तु सर्वत्र आपने भोजनकी प्रशंसा तो की, किन्तु अन्तमें यही कहा कि वह मिठास, वह स्वाद नहीं मिला जो भीलिनीके फलोंमे मिला था। श्रीरामजी दण्डकारण्यके ऋषियोंको छोड़कर इस भीलिनीके प्रेमप्रणको जानकर इसके ही यहाँ आए। प्रेम गी० ३।१७ में देखिए।—'अनुकूल अंबक अंब ज्यों निज डिभ-हित सब आनिकै। सुंदर सनेह सुधा सहस जनु सरस राखे सानिकै। छन भवन छन बाहर, बिलोकति पंथ भूपर पानि कै।'—यह दशा और प्रेमरीति उसकी नित्यकी थी। जब दोनों भाई आ गए, तब पाँवड़ेके लिये उसके पास क्या था? कुशासनके सिवा आसन कौन था? उसके पास केवल प्रेम था, उसने 'प्रेमपट-पाँवड़े देत, सुअरघ बिलोचन बारि। आश्रम लै दिए आसन पंकज पाँय पखारि। पदपंकजात पखारि पूजे, पंथश्रम बिरहित भए। फल-फूल-अंकुर-मूल धरे सुधारि भरि दोना नए।' प्रभु उन्हें ज्यों-ज्यों खाते, उनमें ऐसा स्वाद पाते कि शरीर प्रेमसे पुलकित हो जाता था, खानेकी रुचि बढ़ती ही जाती थी, न जाने कहाँ की भूख आ गई थी कि खाते अघाते न थे। देव और मुनि सिहाते हुए कहते थे—'केहि रुचि केहि छुधा सानुज माँगि-माँगि प्रभु खात। प्रभु खात माँगत देत सबरी राम भोगी जाग के।'—विशेष कथा पूर्व पद ४३, १५२ आदिमें आ चुकी है।

[(वै०)—"घर अर्थात् जहाँ ऋद्धि-सिद्धि सब दासी हैं। गुरु वसिष्ठ जिनके यहाँ कामधेनु है, सब सिद्धियाँ जिनके हाथमें हैं उनके घर। प्रिय सदन श्रीकिशोरीजीके महलमें, त्रैलोक्यईश्वरी, परम पतिव्रता। सासुरे योगिराज विदेहजी सिद्धियाँ जिनकी इच्छामें हैं उनके घरमें। सर्वत्र शबरीके फलकी ही प्रशंसा की। भाव कि औरोंमे अपनी श्रेष्ठताका मान रहा जो स्नेहमे धब्बारूप है और शबरी नीच मानरहित थी इससे उसका प्रेम सर्वोपरि शुद्ध था।"]

५ (क) 'सहज सरूप कथा मुनि···' इति। जब-जब मुनि आपके सच्चिदानंद स्वरूपका वर्णन करते तब सुख न मानते, सकुचाकर सिर नीचा कर लेते। महर्षि वाल्मीकिजी, अत्रिजी, अगस्त्यजी, भरद्वाजजी आदिने आपको ब्रह्म जानकर स्तुति की है, प्रभु सुनकर सकुचाते रहे हैं, कुछ बोले नहीं। यथा 'लाभ अवधि सुख अवधि न दूजी। तुम्हरें दरस आस सब पूजी। २।१०७।५-८।···सुनि मुनि बचन राम सकुचाने।' (भरद्वाजजी), 'श्रुतिसेतुपालक राम तुम्ह जगदीश माया जानकी।···रामसरूप तुम्हार बचन अगोचर बुद्धिपर।··· चिदानंदमयदेह तुम्हारी।···।२।१२६।८ से १२८ तक। सुनि मुनि बचन प्रेमरस साने। सकुचि राम मन महँ मुसुकाने।' (वाल्मीकिजी), 'जानउँ महिमा कछुक तुम्हारी।३।१३।५।' से 'संतत दासन्ह देहु बड़ाई।' तक। (अगस्त्यजी)– इसपर प्रभु कुछ बोले नहीं, यही संकोच जनाता है। इत्यादि।

५ (ख) 'केवट मीत कहे सुख मानत···' इति। जो कोई आपको ब्रह्म सच्चिदानंद कहता है तो उसे अपना बड़प्पन नहीं मानते और न उससे आपको सुख होता है. किन्तु जब कोई आपको 'केवट-मीत' या 'वानर बंधु' कहकर पुकारता है तो आप प्रेमसे पुलकित हो जाते हैं और अपनेको बहुत बड़ा मानते हैं, इसे अपनी बड़ाई समझते हैं।

☞ स्मरण रहे कि भगवान् पावन-पावन, धनिक-बंधु, आदि नहीं है, वे तो 'पतित-पावन', 'दीनबंधु', 'अधम-उधारण', 'आर्तजनबंधु', 'भाव-प्रेम-गाहक', 'शरणागतपालक', 'आश्रितवात्सल्य जलधि' इत्यादि ही हैं—यह यहाँ स्पष्ट कर दिया है। इसीसे वे इन नामोंसे प्रसन्न होते हैं।

[(वै०)—'सिर नवा लेनेका भाव कि हम तो अपना ऐश्वर्य छिपाये मनुष्योंमें मिले सबको आनंद दे रहे हैं, मुनि हमारा ऐश्वर्य क्यों प्रकट करते हैं। यह विचारकर सिर नवा लेते हैं जिसमें ऐश्वर्य न प्रकट करें। अपनेसे अधिक सेवकको बड़ाई देना यह प्रेमकी रीति है। केवट और वानरोंसे मित्रता माधुर्य्यका भूषण है, इसीसे प्रसन्न होते हैं।']

६ 'प्रेम कनोड़ो राम सो···' इति। प्रेमसे वशमें हो जाने, प्रेमके एहसानसे दब जानेवाले, प्रेमीके हाथ बिक जानेवाले ऐसा प्रेम-सुकृतज्ञ श्रीरामसमान भूत भविष्य-वर्तमानमें त्रैलोक्यमें कोई न हुआ, न है और न होगा' यह 'जानत प्रीति-रीति रघुराई' का अर्थ स्पष्ट किया। यह कहकर प्रमाण देते हैं कि तीनों कालोंमे ऐसा दूसरा कौन हुआ है जिसने वानर-सेवकसे ऐसा कहा हो कि मैं तुम्हारा ऋणी हूँ। है कोई ? सेवककी सेवाको इतना गौरव किसने दिया है ? सभी वानरोंसे तो कहा ही है—'तुम्ह अति कीन्हि मोरि सेवकाई। मुखपर

केहि विधि करउँ बड़ाई।···।७।१६।' और हनुमान्‌जीसे तो यहाँ तक कहा है कि 'प्रति उपकार करउँ का तोरा। सनमुख होइ न सकत मन मोरा। सुनु सुत तोहि उरिन मैं नाहीं।५।३२।'—विशेष 'कपिसेवा बस भये कनौड़े कह्यो पवनसुत आउ। दीबेको न कछू रिनियाँ हौं, धनिक तूं पत्र लिखाउ। १०० (७ क-ख) में देखिए। 'राम सो न'—पद १९१ में भी कहा है—'पेम कनौड़ो राम सो नहि दूसरो दयाल।'

७ 'तुलसी राम सनेह सील सुनि···' इति। (क) इससे जनाया कि ऊपर जो कुछ कहा गया वह सब भक्तो प्रति श्रीरामजीका स्नेह और सौशील्य है। 'महतोऽपि मन्देन सहचैरन्ध्रेण वर्तनं सौशील्यम्' महान् होकर भी महा साधारण चेतनोंके साथ कुछ भेद मालूम न पड़े ऐसे बर्तावका नाम 'सौशील्य गुण' है। हिसक गीध, अधम जाति भीलिनीके यहाँ फल मूल जल ग्रहण करना, एकको पिता दूसरेको मातासे अधिक मान देना, वानर और राक्षसको भरतादि भाइयोंसे अधिक मानना यह सब शील गुण है। पद १०० में वानर और विभीषणके अपनानेमें शीलकी प्रशंसा कविने की है। १०० (७-८) देखिए। प्रीति-रीतिके तो सब उदाहरण हैं ही। श्रीरामजीसे जो प्रेम करते हैं उनके साथ वे भी कैसा अधिक स्नेह करते हैं, यह तो प्रस्तुत पदका प्रसंग ही है। अतएव स्नेह और शीलका सुनना कहा।

७ (ख) 'जौं न भगति उर आई' अर्थात् श्रीराममें प्रेम न हुआ'—कथनका भाव कि श्रीरामजीके शील स्वभाव और प्रेमकी रीतिको सुनकर अनुराग उनमें उत्पन्न होना चाहिए। रामजीके गुणोंके स्मरणसे अनुराग बढ़ता है, यथा 'समुझि समुझि गुनग्राम रामके उर अनुराग बढ़ाउ। तुलसिदास अनायास रामपद पाइहै पेम-पसाउ।१००।' इससे जनाया कि सुनकर स्मरण करना और समझना चाहिए, इससे प्रेम अवश्य होगा। एक कानसे सुनकर दूसरेसे निकाल देगा तो भक्ति नहीं होगी। पुनः भाव कि रामप्रेमरीति जबतक नहीं जानी तबतक संसारमें पच-पच मरा, यथा 'जाने बिनु रामरीति पचि-पचि जग मरत।१३४।'; पर अब तो हमने तुझको रीति कह सुनाई है, अब तो उनकी भक्ति कर। यदि सुन लेने पर भक्ति न उत्पन्न हुई, तो तेरी माँने जो दश मास कष्ट उठाकर तुझे जन्म दिया वह व्यर्थ हुआ। जन्म देनेमें युवावस्थाका यौवन नष्ट हुआ। यथा 'रामभगत महुँ जासु न रेखा। जायँ जिअत जग सो महि भारू। जननी जौवनबिटप कुठारू।२।१६०।७-८', 'न ध्यातं पदमीश्वरस्य विधिवत्संसारविच्छित्तये···।··· मातुः केवलमेव यौवनवनच्छेदे कुठारा वयम्॥' (भर्तृहरि वै० शतक ४५)

(अर्थात् हम लोगोंने संसारसे पार होनेके लिये परमेश्वरके चरणका ध्यान नहीं किया। अतः हम लोग तो बस माताके यौवनरूपी वनका नाश करने-वाली कुल्हाड़ी हो गए)। बालक उत्पन्न होनेसे यौवन उतर जाता है। यदि पुत्र भगवद्भक्त हुआ तो वह माताके यशको बढ़ाता है जिससे यौवनकी पूर्ति हो जाती है। श्रीसुमित्राजीने भी कहा है कि रामविमुख पुत्र पैदा करनेसे तो बाँझ ही भली थी।—'नतरु बाँझ भलि बादि बिआनी। २।७५।२।'

नोट—गीध, वानर आदि से मित्रता दिखानेमे अभिप्राय यह भी है कि उत्तम कुलमे जन्म, सुन्दरता, वाक्-चातुरी, बुद्धि और आकृति—इनमेसे कोई भी गुण भगवान्‌को प्रसन्न करनेका कारण नही है। गीधादि उपर्युक्त गुणोसे रहित थे, फिर भी उन्होने अपने प्रेमसे भगवान्‌को प्रसन्न कर लिया। अतएव कोई भी कैसा ही पापी, अन्त्यज, निर्बुद्धि, कुरूप आदि क्यो न हो, सबके लिये श्रीरामका शील स्वभाव खुला हुआ है, आओ और शरण होकर भवपार हो जाओ।

सू० शुक्ल—"इसमें ज्ञानसे प्रेमको अधिक बतलाया है। यद्यपि ज्ञान और भक्तिमें भेद नहीं है, दोनों एक ही हैं, तो भी साधनाके क्रमसे भेद है। जिसमें ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय, ध्याता-ध्यान-ध्येय आदि त्रिपुटीका केवली-भाव प्रतीत हो, उस अन्तिम दशाको ब्रह्मज्ञान कहते हैं और परमात्मा रामका यही स्वरूप है। भक्ति या प्रेमकी दशा यह है कि जगदीश्वर सर्वरूप है। इसलिये किसी एक देखे, सुने या ध्यान किये हुए पदार्थमें परब्रह्मकी भावनासे प्रेमके द्वारा दृढ़तासे चित्तको लगा देना कि सारा जगत् उसी पदार्थमय प्रतीत होने लगे सो भगवान् उसी स्वरूपमें हो जाते हैं। इसीको पराभक्ति कहते हैं। परंच राग, द्वेष, इच्छा, काम क्रोधादि विकारोंका सर्वथा त्याग दोनों मार्गोंमें होता है। शबरी आदि तथा तुलसीदास भी ऐसे ही थे, क्योंकि ऐसा कभी नहीं हो सकता कि कामनाओंका तो दास हो और वचनमात्रसे राम, राम कहके भक्त बने।"—(दीन उनसे बहुत अंशमें सहमत नहीं हैं)।

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

१६५ (१११)

रघुबर रावरी[1] इहै बड़ाई।
निदरि गनी आदर गरीब पर करत कृपा अधिकाई॥१॥

१ सबरी—६६, रा०, ह०, ५१। रावरि—भा०, वे०, ७४, प्रा०।

थके देव साधन करि सब सपनेहु न[2] दई[3] दिखाई।
केवट कुटिल भालु कपि कौन तप[4] किये सकल सँग भाई ॥२॥
मिलि मुनिवृंद फिरत[5] दंडक वन सो चरचौ[6] न चलाई।
बारहिं बार गीध सबरी की बरनत प्रीति सुहाई ॥३॥
स्वान कहे तें कियो पुर बाहिर जती गयंद चढ़ाई।
तिय[7] निंदक मतिमंद प्रजा रजि[8] निज नयँ[9] नगर बसाई ॥४॥
एहि देवान[10] दिन दीन कनिगरे रीति सदा चलि आई।
दीनदयाल दीन तुलसी की काहुँ न सुरति कराई ॥५॥

शब्दार्थ—निदरि = निरादर करके; पर्वाह न करके; उनपर कम ध्यान देकर। गनी (अर्बी शब्द है) = धनी; जिनको धन, भजन या साधन आदिका अभिमान है। गरीब = दीन, दरिद्र, साधन-संपत्ति-हीन। दई = दया।= ईश्वर; देवता, यथा 'आह दई मैं काह नसावा।२।१६३।' = दिया। सँग भाई = भाई-भाईका संबंध। (दीन)।= साथ भाई-चारा–(वि०)।= सगा भाई–(वीरकवि)। चरचौ = चर्चा भी। = बातचीत भी। चर्चा चलाना = बात (जिक्र) छेड़ना। जती (यती) = संन्यासी। गयंद = हाथी; यथा–'बोधिबेको मद-गयंद रेनुकी रजु बटत।१२६।' देवान (दीवान, दिवान) = दरबार, यथा 'केहि दिवान दिन दीनको आदरु अनुराग बिसेषि।१६१।', 'मारे बागवान, ते पुकारत देवान गे, उजारे बाग अंगद, देखाए ० ५।३१।' दिन = प्रतिदिन; नित्य; सदा। कनिगर [ ) + = बनाने वा करनेवाला)]= अपने नामकी लज्जा रखनेवाला; प्रतिष्ठा- बूझिए न दास दुखी

,ज०। देइ–भ०।
०। ४ कौन तप,
–रा०, भा०, वे०,.
०। फिरै–भा०, वे०,.
चरच्यो–भा०, वे०।
बै०, मु०, ७४। ८
। १० यह पाठ ६६,

पद्यार्थ—हे रघुवर ! आपको यही बड़ाई है कि आप धन-बल-ऐश्वर्य-संपन्नका निरादर करके गरीबोंका आदर और उन्हींपर विशेष कृपा करते हैं ।१। देवता सब साधन कर-करके थक गए (पर आपने उनपर) स्वप्नमें भी दया न दिखाई† । कुटिल केवट-भालु-वानरोंके कौन तपसे उन सबोंको संगी और भाई बना लिया (अर्थात् उनसे भाई-भाईका संबंध कर लिया, सगे भाईके समान माना) ? ।२। मुनियोंके वृन्द (झुण्ड, समूह) में मिलकर आप उनके साथ दंडकवनमें फिरते रहे—(सो) उसकी चर्चा भी न की (प्रत्युत) गीध, जटायु और शबरीजीकी सुन्दर-सुहावनी प्रीतिका बारबार बखान करते रहे ।३। कुत्तेके कहनेसे संन्यासीको हाथी पर चढ़ाकर नगरके बाहर कर दिया । (नगरसे निकाल दिया) । श्रीसीताजी-की निन्दा करनेवाली मन्दबुद्धि प्रजाको अपने नीतिसे अथवा नये नगरमें रचकर बसाया (वा, नया नगर रचकर बसाया) ।४। इस दरबारमें सदा दीनोंके प्रति अपने (दीनबंधु, गरीबनिवाज आदि) नामोंकी लज्जा रखनेकी रीति (पद्धति, परिपाटी, परंपरा) चली आई है‡। (परन्तु) हे दीनदयाल ! (जान पड़ता है कि) दीन तुलसीकी याद आपको किसीने नहीं दिलाई ।६।

टिप्पणी—१ 'रघुबर रावरी इहै बड़ाई···' इति । (क) पिछले पदमें श्रीरघुनाथजीके स्नेह और शीलकी प्रशंसा करते हुए कहा था कि 'केवटमीत कहे सुख मानत बानर बंधु बड़ाई', उसी बड़प्पनको लेकर अब प्रार्थना करते हैं । वहाँ देह-नातोंकी अपेक्षा नेहनातेको अधिक मान्य दिखाया । अब इस पदमें जितने भी कर्मकाण्डाभिमानी, ज्ञानाभिमानी तथा मानी धनी प्रतिष्ठावान् हैं; उन सबोंकी अपेक्षा दीनों गरीबोंको अधिक मान देना दिखाते हैं । (ख) 'इहै बड़ाई'—भाव कि कोई दानशीलता, कोई क्षमाशीलता, कोई सत्यसंधता, कोई शरणपालता और कोई शूरवीरता इत्यादि गुणसे अपना बड़प्पन मानते हैं एवं संसार उस गुणसे उनको बड़ा मानता है; परन्तु आपका बड़प्पन यही है

† 'दई' प्राचीनतम पाठ है और कतिपय पोथियोंमें है । इसके अनुसार यह अर्थ किया गया । 'दई' का प्रयोग 'दयी' दयावान अर्थमें भी कविने किया है । यथा 'पतितपावन हित आरत अनाथनि को, निराधारको अधार दीनबंधु दई । २५२ ।' इसके अनुसार 'दयावान न दिखाई पड़े' अर्थ होगा । 'ईश्वर' अर्थ भी है, कोशमें इसके बहुत प्रमाण दिये हैं । 'ईश्वर न दिखाई दिये' अर्थ होगा । वै०, डु० ने 'दिये' अर्थ किया है । औरोंने अर्थ की अड़चन से 'दिये' या 'देत' पाठ ग्रहण किया है ।

‡ दीनही मर्यादावाले होते हैं, यह रीति सदासे चली आती है । (श्री० श०)

कि आप दीनोंपर कृपा करते और इसीमे सुख मानते हैं—यह बड़प्पन किसी और मे नही। (ग) गनी और गरीब दोनोंके कुछ नाम आगे स्वयं कहते हैं। 'कृपा अधिकाई'—भाव कि आदर और कृपा तो सभीपर है पर साधारण है और दीनोंपर तो कृपा दिनोंदिन अधिक होती है—'जासु कृपा नहि कृपा अघाती।'

२ 'थके देव साधन करि...' इति। (क) देवता इन्द्र-कुबेरादि लोकपाल दिक्पालने बहुत दिव्यवर्षों तक यज्ञ तप आदि सब साधन किये, किन्तु प्रभुने दयादृष्टि न डाली। ('दई' का अर्थ दया करनेसे यह अर्थ होता है। 'ईश्वर' अर्थ होनेसे 'ईश्वर न दिखाई दिये' अर्थ होगा)। ये गनी थे, इनको अपने परम अधिकारी होनेका, ऐश्वर्यसम्पन्न तथा राजा और लोकपाल होनेका, अपने यज्ञों तपस्याओं आदि साधनोंका एवं अपने-अपने उच्च पदोंका अभिमान था; यथा 'मोहि रहा अति अभिमान। नहि कोउ मोहि समान। ६। ११२।' (इन्द्रवाक्य), 'हम देवता परम अधिकारी। ६। १०६।' (सुर सिद्ध वाक्य)। ये भक्त न थे, यथा 'स्वारथरत तव भगति बिसारी। ६। १०६।', 'धिग जीवन देवसरीर हरे। तव भक्ति बिना भव भूलि परे। ६। ११०।' (ये ब्रह्माजीके वाक्य हैं)।—

२ (ख) 'केवट कुटिल भालु कपि...' इति। ये सब दीन थे। कुटिल सबके साथ है। निषादकी प्रजाके वचन हैं—'हम जड़ जीव जीवगन-घाती। कुटिल कुचाली कुमति कुजाती। सपनेहु धरमबुद्धि कस काऊ। २। २५०।' निषाद कैसा था, उसके मुखसे सुनिये—'कपटी कायर कुमति कुजाती। लोक वेद बाहेर सब भाँती। २।१९६।१।' वानर तो स्वभावसे ही चंचल होते हैं। ये सब न तो रूपवान थे, न इनमें वीरता थी (वीर होते तो हनुमान्‌जी सुग्रीवके साथ रहकर भी बालीसे सुग्रीवकी रक्षा क्यों न कर लेते), पशु कामी कुटिल थे। इन लोगोंने तप, यज्ञ आदि भी न किये थे। इत्यादि। अतएव इनको किसी प्रकारका अभिमान न हो सकता था। किन्तु ये दीन थे, दीनताके साथ ये श्रीरामजीके सम्मुख हुए थे। अतएव गनियोंपर दया नहीं दिखाई और इनपर नित्य अधिक-से-अधिक कृपा की। उनका निरादर किया और इनका आदर किया। 'आदर-कृपा अधिकाई' यह कि पहले तो वचनसे आदर किया, बहुत दिन तक साथ रक्खा, सखा बनाया, अपनी कीर्तिमें साझी बनाया, (यथा 'मोहि सहित सुभ कीरति तुम्हारी परम प्रीति जो गाइहैं। संसारसिंधु अपार पार प्रयास बिनु नर पाइहैं। ६।१०५।') फिर घरपर लाकर गुरुवसिष्ठ आदिसे राज-सभामें इनको सखा बताकर प्रशंसा की और भाइयोंसे भी अधिक प्रिय

कहा, और खास महलमें सबको आदरपूर्वक रक्खा। इस गुणपर कविने कहा है—'तुलसी सुभाय कहै, नाही कछु पच्छपातु कीने ईस किए कीस-भालु खास-माहली। क० ७। २३।', फिर जब बिदाई होने लगी, तब तो यहाँ तक कह दिया कि 'अनुज राज संपति बैदेही। देह गेह परिवार सनेही॥ सब मम प्रिय नहिं तुम्हहिं समाना। मृषा न कहउँ मोर यह बाना। ७।१६।'—यह 'कृपा अधिकाई' का भाव है। अन्तमें अपने धामको दिया। यहाँ तक संग निबाहा। गनीको स्वप्नमें दर्शन न दिया, उनपर दया न की और इनको स्वयं जाकर अपनाया। उनको साधनसे भी न मिले और इनपर बिना साधन केवल दीन होनेसे यह कृपा की। मिलान कीजिए—'सहे सुरन्ह बहु काल बिपादा। नरहरि किए प्रगट प्रहलादा। १।२६५।५।' ☞ देवता भी जब दीन होकर विनती करते हैं, तब उनपर भी कृपा करते हैं, किन्तु ऐसी नहीं। क्योंकि उनकी यह दीनता केवल स्वार्थहित होती है।

३ 'मिलि मुनिबृंद फिरत···' इति। (क) 'फिरत दंडकबन'से जनाया कि श्रीभरद्वाजजी, श्रीवाल्मीकिजी, श्रीअत्रिजी, गुप्त तापस आदि जो दंडक-वनमें पहुँचनेके पूर्व मिले, उनसे यहाँ तात्पर्य नहीं है। 'मिलि मुनिबृंद फिरत' प्रसंग 'मुनिवरवृंद विपुल सँग लागे। ३।६।५।' से प्रारंभ होता है। बस इस समयसे मुनिबृंदके साथ रहे। मिलनेके बाद साथ नहीं छोड़ा, 'सकल मुनिन्हके आश्रमन्हि जाइ-जाइ सुख दीन्ह। ३।६।' उन्होंने क्रमसे एक-एक महर्षिका आश्रम जा-जाकर देखा। किसीमें दस मास रहे, कहीं एक वर्ष, कहीं चार मास, कहीं पाँच, कहीं छः, कहीं सात और कहीं आठ मास, इत्यादि रीतिसे प्रसन्नतापूर्वक रमण करते ऋषियोंको सुख देते दश वर्ष बीत गए।—'रमतश्चानुकूल्येन ययुः संवत्सरा दश। परिसृत्य च धर्मज्ञो राघवः सह सीतया। वाल्मी० ३।११।२७।'—इतना दीर्घकाल दण्डकारण्यके मुनिवरोंके साथ बीता। सुतीक्ष्णजी ऐसे प्रेमी ऋषिके यहाँ गए, उनके पूजा-सत्कारको भी ग्रहण किया; उनके साथ मार्गमें भक्तिका वर्णन करते हुए महर्षि अगस्त्यजीके यहाँ आए—'मुनि अगस्ति कर सिष्य सुजाना। नाम सुतीछन रति भगवाना। मन क्रम बचन रामपद सेवक। सपनेहुँ आन भरोस न देवक। ३।१०।१-२।' ऐसे भक्तको 'लिए संग बिहँसे दोउ भाई॥ पंथ कहत निज भगति अनूपा। ३।१२।४-५।'—किन्तु औरोंकी तो बात ही क्या, इनकी भी कभी चर्चा न की। ये सब 'गनी' हैं। ये सब कर्म, उपासना और ज्ञान आदि तपोधनके धनी थे।

[इनकी चर्चा क्यों न चलाई, इस संबंधमें वैजनाथजीका मत है कि 'उनमें धर्म, कर्म, योग, तप और ज्ञान आदि क्रियाओंका मद था, अपनी

श्रेष्ठताका अभिमान था। इसीसे उनका निरादर किया।' (वै०, वि०, श्री० श०)। मेरी क्षुद्रबुद्धिमें यह प्रश्न यहाँ उठता ही नहीं। यहाँ केवल एकका 'गनी' होना और दूसरेका 'गरीब' होना मात्र दिखाना है, ग़नीसे कहीं अधिक आदर और अधिकसे अधिक कृपा दीनपर करते हैं—उनकी चर्चा भी न की और गीधादिकी प्रीतिका बारंबार बखान किया। ☞इससे स्पष्ट है कि भगवान्‌को दीन अत्यन्त प्रिय हैं। ब्रह्माजीका वाक्य है—'जेहि दीन पिआरे वेद पुकारे। १।१८६।' भगवान्‌का नाम ही गरीबनिवाज है, ग़नीनिवाज नहीं; क्योंकि वे गरीबोंपर ही विशेष कृपा करते हैं—यही उनका बड़प्पन है। क० ७।६५ में कविने कहा भी है—'एते बड़े तुलसीस, तऊ सबरीके दिये बिनु भूख न भाजी। राम गरीबनेवाज! भए हौ गरीबनेवाज गरीब नेवाजी॥']—वास्तवमें मुनियोंकी चर्चासे ऐश्वर्य प्रकट होता और यह सब माधुर्य है।

३ (ख) 'बारहि बार गीध सबरीकी···' इति। श्रीशबरीजीकी प्रीतिका वर्णन 'घर गुरुगृहँ प्रिय सदन सासुरें भइ जब जब पहुनाई। तब-तब कहँ सबरीके फलनि की रुचि माधुरी न पाई।' १६४ (४) में देखिए। गीधराजकी प्रीतिका बारंबार वर्णन भी किया, इसका भी प्रमाण कहीं अवश्य होगा। गी० ३।१३में श्रीलक्ष्मणजीसे कहा है—'सुनहु लषन खगपतिहि मिले बन मैं पितु-मरन न जान्यो। सहि न सक्यो सो कठिन बिधाता, बड़ो पछु आजुहि भान्यो।' इनका स्नेह स्मरण होते ही प्रियाजीको भूल गए थे। यथा 'तुलसी रामहि प्रिया बिसरि गई, सुमिरि सनेह-सगाई। गी० ३।११।'—इन दोनोंने दर्शन होनेपर अधिक जीनेकी चाह न की, इस सुअवसरको हाथसे न जाने दिया। इत्यादि।

४ (क) 'स्वान कहे तें कियो पुर बाहिर···'। यह प्रसंग 'जेहि कौतुक बक स्वानको प्रभु न्याव निबेरो।' १४६ (५ क) में देखिए। 'तियनिंदक मतिमंद प्रजा०'—'बालिसबासी-अवधके बूझिऐ न खाको। ते पाँवर पहुँचे तहाँ जहँ मुनि मन थाको।' १५२ (१० क-ख) देखिए। यती ब्राह्मण था, उनका नाम 'सर्वार्थसिद्ध' था। वे कोविद थे, द्विजश्रेष्ठ थे। यथा 'आनीतश्च द्विजस्तेन सर्वसिद्धार्थकोविदः। अथ द्विजवरस्तत्र रामं दृष्ट्वा महाद्युतिः। (वाल्मी० ७।५९।१७ प्रक्षिप्त सर्ग २)। देवताओं, मुनियोंको कहकर भूसुर जो सबसे उच्च वर्ण और आश्रमके जाने गए हैं और जो अदण्ड्य अदण्ड-नीय हैं—'अवध्यो ब्राह्मणो दण्डे' (श्लोक ६३), उन 'गनी'का निरादर और गरीब कुत्तेका आदर इस उदाहरणसे दिखाया। ☞स्मरण रहे कि उस समयके ब्राह्मण भी ऐसे थे कि वे अपना अपराध स्वीकार कर लेते थे और उसके लिये राजासे दण्ड देनेकी प्रार्थना करते थे, जिससे उस पापका प्रायश्चित्त हो जाय।

४ (ख) 'सियनिंदक ···' धोबी आदि कुछ मन्दबुद्धि लोग जिन्होंने श्रीसीताजीकी निंदा की, उनका तो आदर किया कि यह हमारी गरीब प्रजा हैं, निकाल देंगे तो इन्हें कौन रक्खेगा ? यथा 'उथपे तेहि को जेहि रामु थपै, थपिहै तेहि को हरि जौं टरिहै। क० ७।४७।'—इसीसे मानसमें कहा है—'प्रनवौं पुर नर नारि बहोरी। ममता जिन्ह पर प्रभुहि न थोरी सियनिंदक अघ ओघ नसाए। लोक बिसोक बनाइ बसाए। १।१६।' महारानियोंकी महारानी, श्रीकी श्री, ऐसी अनन्य पतिव्रताका भी त्याग किया, पर प्रजापर कृपा की। वे गनी हैं, उनका मान तो महर्षि, सिद्ध, ब्रह्मादि देवता, लक्ष्मी-सरस्वती-पार्वती आदि शक्तियाँ भी करती हैं और करेंगी; पर इन गरीबोंको कौन पूछेगा ?—यह है राजाका आदर्श ! राजा वही है जिसको प्रजा प्राणसे भी अधिक प्रिय हो।

४ (ग) 'रचि निज नयें नगर बसाई' इति। यह पाठ प्राचीनतम पोथीका है। 'नय' पाठ प्रायः औरोंमें है। नय=नीति। 'नयें' के दो अर्थ हैं—(१) 'नयें' (जिसका नामकरण किसी पुराने नामपर हुआ हो उसमें)। (२) 'नीतिसे; नीतिके अनुसार'। 'निदरि गनी आदर गरीब पर करत कृपा अधिकाई' तथा 'अति प्रिय मोहि इहाँ के बासी' और 'सोचिअ नृपति जो नीति न जाना। जेहि न प्रजा प्रिय प्रान समाना। २।१७२।४।'—यह आपकी नीति है। इसके अनुसार उसे शोकरहितकर प्रेमसे नगरमें बसाये रक्खा। यदि 'नया' अर्थ लें तो भाव होगा कि अयोध्या वा साकेत-लोकके समान उसी नामका नया नगर बनाकर उसमें उसको रक्खा। परन्तु इस अर्थमें 'ममता जिन्हपर प्रभुहि न थोरी' का महत्व कुछ घट-सा जाता दीखता है। किसी-किसीने 'नित्य नया रहनेवाले पुरमें' ऐसा अर्थ किया है।

पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि "अपनी नीतिसे नगरमें बसाए। भाव कि नगरसे निकाल दिये जानेका काम उसने किया था सो (?)से बसाये रक्खा। किसी नीतिमें ऐसा नहीं है, यह उनकी अपनी नीति है जिससे बसाये रक्खे। इसमें किसी एकका भी सम्मत न था, सब इस बातके विरुद्ध थे।"

५ 'एहि देवान दिन···' इति। (क) भाव कि दीनबंधु गरीबनिवाज हैं, अत दीनोंका ही अधिक मान इस दरबारमें होता है। यथा 'दास तुलसी दीनपर एक रामही के प्रीति। २१६।' (ख)—'दीन तुलसी की काहुँ न···'—भाव कि इसमें आपका कोई दोष नहीं, यदि किसीने सुध दिलाई होती, तो इस दीनकी दीनता दूर हो जाती। (यह व्यङ्गार्थ वाच्यार्थ के बराबर तुल्यप्रधान गुणीभूत व्यङ्ग है)। मेरा ही अभाग्य है कि किसीने

स्मरण न कराया, नहीं तो आप तो दीनदयाल हैं ही, सुन पाते कि मैं दीन हूँ तो आपने कृपा अवश्य की होती।

पं० रामचन्द्र शुक्लजी—"दशरथ अपनी स्त्रीके कहनेसे किसी राजा-तकको देशसे निकालनेके लिए तैयार थे, पर रामने एक धोबीके कहनेसे अपनी स्त्रीको निकाल दिया। इतनेपर भी सीता और राममें जो परस्पर गूढ़ प्रेम था; उसमें कुछ भी अन्तर न पड़ा।"—(दीनजीकी टीकासे)।

सू० शुक्ल "संसारमें गरीब सब प्रकारके मदोंसे छूटा है, क्योंकि वह अहंकारके अवलम्बसे रहित है और भाग्यवश अन्नादि न मिलनेसे उपवास करता है, इसलिए उसका उत्तम तप हो जाता है। सदैव भूखसे दुर्बल, अन्नकी चाहवाले गरीबकी इन्द्रियाँ सूख जाती हैं, इसलिये हिंसा (पर-पीड़ा) भी दूर हो जाती है। इससे समदर्शी साधुजन गरीबका ही मेल रखते हैं। फिर साधुओं द्वारा उनकी तृष्णा भी नष्ट हो जाती है, जिससे वह शीघ्र पवित्र हो जाता है।" "ब्राह्मणने तो हृदयसे कुत्तेको नीच दृष्टिसे दण्ड दिया था और धोबी हृदयसे स्त्रीको धर्मदृष्टिसे दण्ड देता था।"—(इन्होंने 'तिय' से 'धोबीकी स्त्री' अर्थ ग्रहण किया है। किन्तु यह अर्थ अन्य प्रमाणोंसे संगत नहीं है)।

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु ।

१६६ (११७)

ऐसेहिं† राम दीनहितकारी।
अति कोमल करुनानिधान बिनु कारन पर-उपकारी ॥१॥
साधनहीन दीन निज अघबस सिला भई मुनिनारी।
गृह तें गवनि परसि पद पावन घोर श्राप[1] तें तारी ॥२॥
हिंसारत निषाद तामस नर[2] पसु समान बनचारी।
भेंट्यो हृदय लगाइ प्रेमबस नहिं कुल जाति बिचारी ॥३॥
जद्यपि द्रोह[3] कियो सुरपतिसुत कहि न* जाइ अति भारी।
सकल लोक अवलोकि सोकहत सरन गयें[4] भय टारी ॥४॥

---

† ऐसेहि—६६। ऐसे—औरोंमे। १ श्राप—६६, रा०, ह०, ज०। साप—भा०, बे०, ५१, आ०, ७४। २ नर—६६, रा०, भा०, वे०, ज०, ह०, १५। वपु—५१, ७४, आ०। ३ दोह—६६। द्रोह—औरोंमें। * ६६ के पन्ना ५८ मे यहाँ तक है। पन्ना ५९ नहीं है। ४ गयें—रा०। गये, गए—औरोंमे।

बिहँगजोनि आमिष-अहारपर[5] गीध कौन ब्रतधारी।
जनक समान क्रिया ताकी निज कर सब बातं[6] सँवारी ॥५॥
अधम जाति सबरी जोषित सठ लोक वेद तें न्यारी।
जानि प्रीति दै दरस कृपानिधि सोउ रघुनाथ उधारी ॥६॥
कपि सुग्रीव बंधु भय व्याकुल आयो सरन पुकारी[7]।
सहि न सके 'दारुन[8] दुख जन को' हत्यो बालि सहि गारी ॥७॥
रिपुको अनुज बिभीषन निसिचर कौन भजन अधिकारी।
सरन गये आगे ह्वै लीन्हों भेंट्यो भुजा पसारी ॥८॥
असुभ होइ जिन्हके सुमिरे तें[9] बानर रीछ बिकारी।
वेद बिदित पावन भए[10] ते सब महिमा नाथ तुम्हारी ॥९॥
कहँ लौं कहौं[11] दीन अगनित जिन्हकी तुम्ह बिपति निवारी।
कलिमलग्रसित दास तुलसी पर काहे[12] कृपा बिसारी ॥१०॥

शब्दार्थ—उपकारी=भलाई (उपकार) करनेवाला। गवनि=गमन करके=जाकर। परसि=परस (स्पर्श) करके; छू या छुलाकर। तारी=उद्धार किया; मुक्त किया। बनचारी=वनमें विचरने-घूमने-फिरने या रहनेवाला।=जंगली। बिचारी=विचार किया; खयाल या पर्वाह की। सुरपतिसुत=इन्द्रपुत्र जयन्त। शोकहत=शोकका मारा; शोकसे अत्यन्त व्याकुल अर्थात् जीवन से निराश होकर। अहारपर=भक्षण करनेमें प्रवृत्त वा लीन रहनेवाला।=भक्षक; आहारी। ब्रतधारी=व्रत धारण करनेवाला। उपवास या किसी अन्य पुण्य कर्म (जैसे कि सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य आदि) का नियम लेकर उसका पालन करना 'व्रत' है। जनक=पिता।

---

५ पर—रा०, ५१, ज०, ७४, आ०। सो—भा०, वे०, प्र०, ह०, १५। ६ बात—रा०, भा०, वे०, प्र०, ह०, ५१, डु०, ७४। ७ डारी—रा०। न्यारी—औरोंमें। ८ दारुन दुख जनको—रा०, १५, (के—५१, आ०)। जनको दारुन दुख—भा०, वे०, प्र०, ७४, (कै—ज०)। जनके दुख दारुन—ह०। ९ सुमिरे ते—रा० (तें), वे०, ५१, आ०। सुमिरन ते—भा०, ह०, डु०, ज०, १५, ७४ (ते)। १० भए (भये)—रा०, भा०, वे०, प्र०, १५, ज०, ह०। किये—५१, आ०। ११ लो कहो—रा०। लौं कहौं—ह०, भ०। लगि कहौं—प्रायः औरोंमें। १२ काहे ते—रा०, ह० (तें)। काहे—प्रायः औरोंमें।

सँवारना = बना देना। जोषित (योषित) = स्त्री। न्यारी = दूर; अलग; त्याज्य; न छूने योग्य। उधारी = उद्धार किया; मुक्ति दी। पुकारना = किसीसे पहुँचे हुए दुःख या हानिका कहना जो दण्ड या पूर्तिकी व्यवस्था करे; फरियाद करना। अधिकारी = उपयुक्त पात्र; योग्यता रखनेवाला। असुभ = अमंगल। विकारी = दोषयुक्त; पापी, नीच।

पद्यार्थ—अत्यन्त कोमल (मृदुल स्वभाव), करुणाके सागर और बिना (किसी) कारणके पराया उपकार करनेवाले, दीनोंका हित करनेवाले ऐसे श्रीराम ही (वा, हे श्रीराम ! आपही) हैं*। १। (गौतम) मुनिकी स्त्री (जो) अपने पापके कारण पाषाण हो गई थी और सर्वसाधनरहित दीन थी, (अपने) घरसे जाकर (अपने) पावन चरणोंसे स्पर्श करके भयंकर शापसे उसका उद्धार किया। २। जीवहिंसामें आसक्त, तामसी मनुष्य और पशुके समान वनमें विचरनेवाले जंगली केवट (गुह) को प्रेमके अधीन होकर हृदयसे लगाकर मिले, उसकी जाति और कुलका विचार न किया। ३। यद्यपि जयन्तने अत्यन्त भारी वैर किया था कि कहा नहीं जा सकता (अर्थात् वर्णनसे बाहर है एवं कहने योग्य नहीं है), तथापि समस्त लोकोंको देखकर (कहीं भी शरण न पाकर निराश हो) शोकका मारा (आपकी) शरण जानेपर (आपने उसका) भय दूर कर दिया (उसके प्राणोंकी रक्षा की)। ४। पक्षि (तिर्यक्) योनिवाला मांसाहारी गीध कौन व्रतधारी था ? (कोई भी व्रत उसने नहीं किये थे)। आपने पिताके समान (अर्थात् जैसी क्रिया पिताकी की जाती उस प्रकार) अपने हाथोंसे उसकी (अन्त्येष्टि) क्रिया की और सब बातें सँवार (सुधार एवं सजा) दीं। ५। शबरी अधम जातिकी, मूर्ख स्त्री और लोक-वेद (दोनों) से अलग थी। (किन्तु उसका) प्रेम जानकर, कृपानिधान श्रीरघुनाथजी ! आपने दर्शन देकर उसका भी उद्धार किया। ६। भाईके भयसे व्याकुल वानर सुग्रीव शरणमें पुकार करता हुआ आया, आप अपने भक्तके कठिन दुःखको (देखकर) सह न सके। (अतः आपने) वालिको मारा और गाली सह ली†। ७। (एक तो) शत्रुका भाई, (दूसरे) निशाचर-विभीषण

* आगे 'महिमा नाथ तुम्हारी' आया है, जिससे प्रभुको। सम्बोधितकर यह सब कहा गया जान पड़ता है। इसीसे हमने 'राम' को सम्बोधन मानकर भी अर्थ किया है। ६६ मे सम्भवतः 'ऐसेहि' पाठ है।

† 'गाली सहकर भी वालिको मारा'—यह अर्थ भी होता है जो टीकाकारोंने किया है। पर 'सहि' का अर्थ 'सही' कर सकते हैं, इसके अनेक उदाहरण पूर्व आए हैं। वालिवधके पश्चात् गाली मिली।

कौन भजनका पात्र था (अर्थात् भक्तिका अधिकारी न था)। (परन्तु) शरण जानेपर आपने उसे आगे बढ़कर लिया (उसका स्वागत किया) और भुजाएँ फैलाकर उससे (गले लगकर) मिले। ८। जिनका स्मरण करनेसे अमंगल होता है, वे सब विकारयुक्त वानर-भालु पवित्र हो गए, यह वेदोंमें प्रसिद्ध है। हे नाथ! यह आपकी महिमा है। ९। जिन-जिन दीनोंकी विपत्ति आपने दूर की, वे असंख्यों हैं, उनको कहाँतक कहूँ ? (पर कहिए तो) कलिमलसे ग्रसे हुए, मुझ दास 'तुलसी' पर कृपा करना क्यों भूल गए ?। १०।

टिप्पणी—१ 'ऐसेहि राम दीन हितकारी।…' इति। (क) पिछले पदमें कहा था कि गनीका निरादरकर दीनपर अधिक कृपा और आदर करते हैं। अब इस पदमें आपकी दीनहितकारिता दिखाते हैं कि कैसी है और यह भी कहते हैं कि ऐसे दीनहितकारी आप ही हैं। (ख) कोमल अर्थात् स्वभाव बड़ा मृदुल है। इस गुणका आश्रय लेकर अपराधी और डरे हुए भी अनायास उनकी शरण पा सकते हैं। करुणानिधान करुणाके समुद्र हैं। इस गुणसे दीन शरणागतको दुःखी देख नहीं सकते,—'वेगि पाइअहि पीर पराई'। तुरत दुःख दूर करनेको आतुर हो जाते हैं। 'बिनु कारन पर उपकारी'—अर्थात् उपकारके बदलेमें कोई स्वार्थसिद्धि नहीं चाहते। स्वार्थ निरपेक्ष परदुःख देख उसका भला करते हैं। यह दयागुण है। जिससे उपकार हो, उसका दुःख देखकर दुःखी होना दया नहीं है, वह स्वार्थ-सापेक्ष है। इन्हीं गुणोंको आगे उदाहरण देकर दिखाते हैं।

२ 'साधनहीन दीन…' इति। अहल्याने पाप किया, जिससे उसे पाषाण होनेका शाप मिला। पाषाण थी, कहीं टसक न सकती थी। पाषाणरूपसे कोई साधन (भक्ति, ज्ञान, योग, आदि) नहीं हो सकता था, कोई सहायक भी न था। अपना उद्धार अपनेसे कर न सकती थी, अतः पुरुषार्थहीन होनेसे दीन थी। साधनहीन थी, यह पद १३४ में भी कहा है—'साधन केहि सीतल भये सो न समुझि परत।' पद १०६ में भी 'कोस केवट उपल' आदिको 'सम-दम-दया-दानहीने' कहा है। घर (श्रीअवध) से वहाँ स्वयं जाकर उसका उद्धार किया। शाप और पाप दोनोंसे मुक्त किया। यथा 'हर्यो पाप आपु जाइकै संताप सिला को।' १५२ (४ क) देखिए। कह सकते हैं कि वहाँ तो खासकर गए न थे ? पर स्मरण रहे कि मार्गमें उस शिलाको देखकर प्रभुने ही स्वयं पूछा कि यह शिला कैसी है और यहाँ जीवजन्तु क्यों नहीं हैं, तब मुनिने सब वृत्तान्त कहा है। यथा 'पूछा मुनिहि सिला प्रभु देखी। सकल कथा मुनि कहा बिसेषी।

१।२१०।१२।' दूसरे, विश्वामित्रके मिषही तो वहाँ जाना था, जिसमें पिता जाने दें और ऐश्वर्य न खुले। इसीसे मुनिके साथ जानेपर 'कृपासिंधु मतिधीर अखिल बिस्वकारनकरन।१।२०८।' कहा है। यहाँ कविने स्पष्ट कर दिया कि मुख्य प्रयोजनोंमेंसे प्रथम प्रयोजन घरसे जानेका यही था, ताटकावध नहीं।--यहाँ 'बिनु कारन पर-उपकारी' यह दीनहितकारी गुण दिखाया। अहल्याके शाप-पापादिकी कथाएँ पूर्व आ चुकी हैं। ४३ (३ ख-ग), १०० (४ क-ख), १३४ (३ क-ख) देखिए।

३ (क) 'हिंसारत निषाद···' इति। केवट गुह जीवहिंसा किया करता था, अतः पापी था। तमोगुणी था; इससे भजन कर ही न सकता था। यथा 'होइहि भजन न तामस देहा। ३।२३।५।', 'तामस तनु कछु साधन नाहीं। प्रीति न पदसरोज मन माहीं। ५।७।३।' पशुओंके समान जंगली मनुष्य था। उसके आचरणमें सभ्यता कहाँ? जातिका निषाद था जिसका मूल ही पाप था। पापी राजा वेनका शरीर जब मथा गया तो उनका सारा पाप 'निषाद' रूपसे प्रकट हुआ। वह पुरुष बौना और कौवेके समान काला था। सब अंग और भुजाएँ छोटी, ठोढी बड़ी, नाक चपटी, नेत्र लाल और केश ताम्र-वर्ण थे। अत्यन्त दीन और नम्र भावसे उसने कहा कि 'मैं क्या करूँ'। मुनियोंने कहा 'निषीद' (बैठ जा), इससे उसका नाम निषाद हुआ। उसने वेनके भयंकर पापोंको हर लिया था। उसके वंशधर वन और पर्वतमें रहनेवाले नैषाद लोग हुए। यथा 'निषीदेत्यब्रुवंस्तात स निषादस्ततोऽभवत्। भा० ४।१४।४५। तस्य वंश्यास्तु नैषादा गिरिकाननगोचराः। येनाहरज्जायमानो वेनकल्मषमुल्बणम्। ४६।' 'काननगोचराः' होनेसे पशुसमान वनचारी और वेनके पापका शरीर होनेसे वंशपरम्परासे तामस और हिंसारत कहा।

३ (ख) 'भेंट्यो हृदय लगाइ प्रेमबस···' इति। केवटका आदर १०६ (२ ख), १३५ (४ ख-ग-घ) 'ज्ञान अगम सिवहूँ भेंट्यो केवट उठि। भरि अंक भेंट्यो सजल नयन सिथिल सरीर सो।···काउ न प्रेम-प्रिय रघुबीर सो।' में देखिए। वही सब भाव यहाँ हैं। यहाँ 'बिनु कारन पर-उपकारी' गुण दिखाना अभिप्रेत है। श्रीरघुनाथजी जब शृङ्गवेरपुरके बाहर मार्गमें गंगातटपर उतरे जहाँसे पार जाना था, यह उनके पास फल-मूल भेंट लेकर आया, दण्डवतकर प्रेमसे उनके दर्शन करने लगा,--'प्रभुहि बिलोकत अति अनुरागा। २।८८।' जंगली मांसाहारी तमोगुणी मनुष्यसे भेंटनेका तो कोई प्रयोजन न था; फिर भी उससे छातीमें लगाकर मिले, यह विचार मनमें न लाये कि इसे तो लोक और वेद दोनों मतोंसे स्पर्श भी न करना चाहिए। लोक-वेद-मर्यादाकी परवाह न की। अस्पर्शता, नीचता और

प्रेम इत्यादि सब पूर्व पदोंमें दिखाए जा चुके हैं।—'गुह गरीब गत ज्ञातिहू ···पायो पावन प्रेम ते सनमान सखाको' १५२ (७ क-ख) देखिए।

४ 'जद्यपि द्रोह कियो सुरपतिसुत···' इति। जयन्तके द्रोहकी कथा, उसका भारी अपराध, कहीं भी उसको शरण न मिलना, हताश होकर प्रभुके चरणोंपर 'त्राहि त्राहि दयाल रघुराई' कहते हुए गिरना, इत्यादि 'जयति पाकारिसुत-काक-करतूति-फलदानि' ४३ (५)में लिखा जा चुका है। 'अति भारी' द्रोहका दंड वध है, पर शरण आनेपर वध न किया, यथा 'कीन्ह मोह वस द्रोह जद्यपि तेहि कर बध उचित। प्रभु छाड्यो करि छोह को कृपाल रघुबीर सम।३।२।'—इसमें 'अति कोमलता' तथा 'करुणा' गुण दिखाया। आश्रित-अपराध तथा अस्त्रकी अमोघताके कारण किंचित् दण्ड देकर छोड़ दिया।

५ (क) 'बिहँग जोनि आमिष अहारपर···' इति। दम-दया-दान आदि किसी भी धर्मव्रतका नियम इसने नहीं लिया था। मांसाहारी तिर्यक्‌योनि पक्षी था। केवट, गीध, शबरीके स्वभाव आदि १३४ (४ क), १६४ (२ ख) 'ऐसेहुँ पितुतें अधिक गीधपर ममता' में देखिए। (ख) 'सब बात सँवारी'— अर्थात् जो-जो उसके चित्तमे था, वह सब किया और उसके अतिरिक्त उससे अधिक बहुत कुछ बना दी। गीधराज पछताते थे कि "मेरे एकौ हाथ न लागी।··· दसरथ सों न प्रेम प्रतिपाल्यो, हुतो जो सकल जग साखी। बरबस हरत निसाचरपति सों हठि न जानकी राखी॥ मरत न मैं रघुबीर बिलोके तापस वेष बनाए। चाहत चलन प्रान पाँवर बिनु सिय सुधि प्रभुहि सुनाए। बार-बार कर मीजि सीस धुनि गीधराज पछिताई। गी० ३।१०।', बस उसी समय 'रटनि अकनि पहिचानि गीध फिरे करुनामय रघुराई। गी० ३।११।' दशरथसखा होनेका प्रेम न निबाहा, इस पश्चात्तापको दशरथवत् मृतक-संस्कारकर मिटाया। 'बरबस हरत···' इस पछतावेको 'जौं मैं राम त कुलसहित कहिहि दसानन आइ।३।३१।' से मिटाया, गीधराजने रावणसे जो कहा था कि 'रामरोषपावक अति घोरा। होइहि सकल सलभ कुल तोरा।३।२९।१७।', उसकी पूर्तिकी प्रतिज्ञा भी इन वचनोंसे जना दी। गी० ३।१६ में भी कहा है—'रावरे पुन्य-प्रताप-अनल महँ अलप दिननि रिपु दहिहैं।' मरते समय दर्शन और सीता-सुध देनेकी इच्छा भी पूरी की। अपनी ओरसे उन्हें गोदमें लेना, धूल झाड़ना आदि अपनी ओरसे जो किया वह पूर्व उपर्युक्त पदोंमें आ गया है।—इसमें भी करुणामय और अतिकोमल गुण चरितार्थ किये। यथा 'फिरे करुनामय रघुराई। गी० ३।११', 'कोमल चित अति दीनदयाला। कारन बिनु रघुनाथ कृपाला।

गीध अधम खग आमिष भोगी। गति दीन्ही जो जाचत जोगी।३।३३।' —(गोस्वामीजीके इस कथनमें 'बिनु कारन पर-उपकारी' गुण भी यहाँ चरितार्थ है)। १६२ (२ क) देखिए।

६ 'अधम जाति सबरी जोषित सठ···' इति। स्त्रियाँ स्वभावतः अशुद्ध और अधम मानी गई हैं, शास्त्रकारोंने इनमें आठ अवगुण कहे हैं, यथा 'अवगुन आठ सदा उर रहहीं॥ साहस अनृत चपलता माया। भय अविवेक असौच अदाया।६।१६।' शबरीजीके वचन हैं—'अधम ते अधम अधम अति नारी। तिन्ह महँ मैं मतिमंद अघारी।', 'अधम जाति मैं जड़मति भारी' (३।३५)। उसीके अनुसार यहाँ 'अधम', 'जोषित', और 'सठ' कहा। शठ अर्थात् जड़बुद्धिवाली। 'अधम जाति' क्योंकि भील जातिकी है, जो अस्पृश्य मानी गई है। इसीसे 'लोक वेद तें न्यारी' कहा —ऐसी अन्त्यज होनेपर भी उसका प्रेम जानकर उसपर समुद्रवत् कृपा की, ऋषियोंको छोड़ उसका आतिथ्य स्वीकार किया, लोक-वेदमर्यादाको ताकपर रख दिया। उसको मुक्त किया—'जातिहीन अघ-जन्ममहि मुक्त कीन्हि असि नारि।३।३६।'—यहाँ 'करुणानिधान' का चरितार्थ है।

७ (क) 'कपि सुग्रीव···आयो सरन पुकारी' इति। 'बंधुभयब्याकुल' आदि कथाप्रसंग २७ (२), १०० (६ क), १३४ (५ क-ख), ६७ (१ घ), १५२ (८ ख) 'सोच सीव सुग्रीव को संकट हरता को' इत्यादिमें देखिए। 'आयो सरन पुकारी'- पहली पुकार तो मंत्री श्रीहनुमान्‌जीद्वारा की। यथा 'नाथ सैलपर कपिपति रहई। सो सुग्रीव दास तव अहई॥ ··दीन जानि तेहि अभय करीजे।४।४।' 'दास'-शब्दसे शरणागति और 'अभय करीजे'से पुकार स्पष्ट है। फिर सुग्रीवसे मित्रता होनेपर शैलपर बसनेका कारण कहते हुए सुग्रीवने स्वयं कहा है—'ताके भय रघुबीर कृपाला। सकल भुवन मैं फिरेउँ बिहाला। इहाँ साप बस आवत नाहीं। तदपि सभीत रहउँ मन माहीं। ४।६।'—यह दूसरी पुकार है, अर्थात् उससे रक्षा चाहते हैं।

७ (ख) 'सहि न सके दारुन दुख जन को···' इति। 'सह न सके' अर्थात् दुःख सुनकर विह्वल हो गए। यह करुणा गुण चरितार्थ हुआ। तुरन्त एक ही बाणसे मारनेकी प्रतिज्ञा कर दी। वैजनाथजी लिखते हैं कि "करुणागुणके भीतर बरबस प्रवेशकर दयावीरताने अपना प्रकाश किया। करुणारसमें वीररस सहायक है; इससे प्रभुमें दयावीररस आ गया। यथा 'सुनि सेवक दुख दीनदयाला। फरकि उठीं दोउ भुजा बिसाला।४।६।'—यहाँ सेवकका दुःख विभाव, भुजका फड़कना अनुभाव और 'मैं बालिको एक ही बाणसे मारूँगा' यह आमर्ष संचारी तथा उत्साह स्थायी मिलकर

दयावीरता आ गई। इससे साम, दाम, भेद, दंड आदि नीतिकी सुध भूल गई। वालिको व्याधकी भाँति मारा।"

७ (ग) 'हत्यो वालि सहि गारी' इति। मारनेपर वालिने कठोर वचन कहे हैं—'धर्म हेतु अवतरेहु गोसाईं। मारेहु मोहि व्याध की नाईं॥ मैं वैरी सुग्रीव पिआरा। ४।६।' प्रत्येक चरणमें एक एक दोष कहा। अवतार धर्मरक्षार्थं हुआ, मुझे मारनेसे क्या धर्मकी रक्षा हुई? व्याध जैसे पशुको मारता है, वैसे क्यों मारा? आप तो समचित्त हैं, मुझे वैरी और सुग्रीवको मित्र माना, क्या यह समदर्शिता है?—आगे पद १६१ में भी कुछ ऐसी ही ध्वनि है। यथा 'का सेवा सुग्रीव की, का प्रीति-रीति-निरबाहु। जासु बंधु बध्यो व्याध ज्यों सो सुनत सुहाइ न काहु।···'।

८ (क) 'रिपुको अनुज बिभीषन निसिचर···' इति। वैरीका भाई होनेसे नीति तो यह थी कि वह बंदी बनाकर रक्खा जाता। दूसरे, तामसी शरीरवाला निशाचर होनेसे सदा इससे शंकित रहनेका भय रहता। यथा 'जानि न जाइ निसाचर माया। कामरूप केहि कारन आया।···राखिअ बाँधि मोहि अस भावा।' सुग्रीवके ये वचन सुनकर प्रभुने कहा 'सखा नीति तुम्ह नीकि बिचारी।' किन्तु 'मम पन सरनागत भयहारी।' 'कौन भजन अधिकारी'—अर्थात् निशाचर भक्तिके अधिकारी नहीं होते, क्योंकि वे तमोगुणी हैं। ऊपर टि० ३ (क) देखिए। (ख) 'सरन गयें···' इति। उसने पुकारकर कहा था कि 'श्रवन सुजस सुनि आयउँ प्रभु भंजन भवभीर। त्राहि त्राहि आरतिहरन सरन-सुखद रघुबीर।' बस इतने हीसे नीतिका विचार न कर उसे शरणमें आते ही सादर स्वागत करके अपनाया।

८ ग) 'आगे ह्वै लीन्हों'—अर्थात् मुख्य-मुख्य सेवकों श्रीहनुमान्-अंगदादिको सादर स्वागतपूर्वक लानेको भेजा। भाई श्रीलक्ष्मणजीको भी अगवानीके लिये भेजा। कैसी आदरकी अगवानी हुई सो देखिए,—"तुलसी, 'योलिये वेगि', लषन सों भइ महाराज-रजाइ है॥ चले लेन लपन हनुमान हैं। मिले मुदित बूझि कुसल परसपर, सकुचत करि सनमान हैं। 'भयो रजायसु पाँव धारिए, बोलत कृपानिधान हैं'।" गी० ५।३५।', 'जय कृपाल कहि कपि चले अंगद हनू समेत। ५।४४। सादर तेहि आगें करि बानर। चले जहाँ रघुपति करुनाकर॥' और वाल्मीकीयमें तो सुग्रीवसे ही कहा है—'आनयैनं हरिश्रेष्ठ' (हे वानरश्रेष्ठ! उसे ले आओ)।—यह अगवानी भी प्रभुका ही आगे होकर लेना है। फिर समीप आनेपर 'उठे उमँगि आनंद-प्रेम-परिपूरन', 'भुज विसाल गहि', 'भलीभाँति भावते भरत-ज्यों भेंट्यो भुजा पसारि कै।' (गी० ५।३६; ५।४६।२)। उमगकर उठे,

आसन छोड़कर हाथ बढ़ाकर उसे उठाया। यह भी 'आगे ह्वै लीन्हा' है। यहाँ प्रसंग इतना ही है। यहाँ दीनहितकारी करुणानिधान गुण चरितार्थ हुआ। यथा 'करुनाकर की करुना भई। गी० ५।३७।'

६ 'असुभ होइ जिन्हके सुमिरे तें…' इति। (क) वानर और रीछ अधम हैं, उनका प्रातःस्मरण अशुभ माना गया है। यथा 'कपिपति रीछ निसाचर राजा।…अधम सरीर राम जिन्ह पाये।१।१८।१-२', 'प्रात लेइ जो नाम हमारा। तेहि दिन ताहि न मिलै अहारा।५।७।८' (ये श्रीहनुमद्वाक्य हैं)। विकारी अर्थात् षट् विकारयुक्त वा दोषयुक्त। चंचलता, कुटिलता, कामपरायणता आदि दोष इनमें कहे गए हैं; यथा 'कपि चंचल सबही बिधि हीना।५।७।७', 'कपट मर्कट', 'भालु अति उग्रकर्मा' (५६), 'केवट कुटिल भालु कपि।१६५।', 'मैं पाँवर पसु अति कामी।४।२०।३।' (ख)—'बेद बिदित पावन भए…' इति। उन्हीं वानर भालु श्रीहनुमान्‌जी, श्रीसुग्रीवजी, जाम्बवान्‌जी और अंगदजी आदिको आपने तारण-तरण बनाया, उनकी गणना हरिवल्लभों, प्रातःस्मरणीय परिकरोंमें हो गई। 'तरत नर तिन्हके गुनगान कीन्हे' १०६ (२ ख), १३४ (४ ग इत्यादिमें देखिए। यह आपकी ही महिमा है। यथा 'कीस केवट उपल भालु…सम-दम-दया-दानहीने। नाम लियें रामु किए परम पावन सकल…।१०६।' 'वेदविदित'—श्रीरामपूर्वतापिन्युपनिषद्में इन सबका नाम परिकरोंमें आया है, सपरिवार पूजनमें इनका भी आवाहन पूजन साथ-साथ होता है। अतः वेदविदित कहा। आगे भी कहा है—'कौन सुभग सुसील बानर जिन्हहि सुमिरत हानि। किये ते सब सखा पूजे भवन अपने आनि।२१५।'

१० 'कहँ लौं कहौं…' इति। 'जिन दीनोंकी विपत्ति दूर की वे असंख्य हैं, उनकी गणना नहीं हो सकती,' इस कथनका भाव कि प्रमाणके लिये इतनोंके नाम पर्याप्त हैं, इन्हींके समान गजेन्द्र, अजामिल आदि अनेक दीन आर्त थे जिनके संकट आपने मिटाये हैं। जब सबपर कृपा की, तो मेरे ऊपर क्यों नहीं करते मैं भी तो दीन हूँ, विपत्तिमें पड़ा हूँ। 'कलिमल-ग्रसित' होना ही विपत्ति है। मेरी विपत्ति भी निवारण कीजिए। इति भावः। पूर्व भी विनय की थी - 'कृपा सो धौं कहाँ बिसारी राम। जेहि करुना सुनि श्रवन दीन दुख धावत हौ तजि धाम।९३।', 'काहे ते हरि मोहि बिसारो।९४।' और अपना दारुण दुःख भी कहा था—'लोभ-ग्राह, दनुजेस-क्रोध, कुरुराजबंधु खल मार। तुलसिदास प्रभु यह दारुन दुख भंजहु राम उदार।९३।' वही काम, क्रोध, लोभ कलिमल हैं। अब फिर 'काहे बिसारी' से जनाया कि वह पुकार अब तक सुनी नहीं गई। ['कलिमल-

ग्रसित' से कलिमलको सर्प जनाया। भाव कि कलियुगप्रेरित वह मुझे खा रहा है। (वै०)। यथा 'कामको कोहको लोभको मोहको मोहिसों आनि प्रपंचु रहा है। क.७।१०१।']

सू० शुक्ल—"साधकको चाहिए कि अपने पुरुषार्थपर दृष्टि न देवे किन्तु साधना करता हुआ भगवान्की दीनदयालतापर ही दृष्टि रक्खे; इसीमें अभिमानका नाश और कल्याण है।—यही शिक्षा इस भजनसे है। और यह उत्तम युक्ति है कि सुखमें अपनेसे अधिक सुखी पुरुषोंमें दृष्टि और दुःखमें अपनेसे अधिक दुःखी जनोंपर दृष्टि रखना चाहिए। ऐसा करनेसे अभिमान और अधीरता नहीं होती। इसलिये साधन अवस्थामें भी नीची दृष्टि रखनेसे कल्याण है।"

। श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु ।

१६७ (११४)

रघुपति भगति करत कठिनाई।
कहत सुगम करनी अपार जानै सोइ[1] जेहि बनिआई ॥ १ ॥
जो जेहि कला कुसल ता कहुँ सो[2] सुलभ सदा सुखकारी।
सफरी सनमुख चल[3] प्रबाह-सुरसरी बहे गज भारी ॥ २ ॥
ज्यों सर्करा मिलैं[4] सिकता महुँ बल तें न[5] कोउ बिलगावै।
अति सूछम[6] रसग्य पिपीलिका बिनु प्रयास ही पावै ॥ ३ ॥
सकल दृश्य निज उदर[7] मेलि सोवै निद्रा तजि जोगी।
सोइ[8] हरिपद अनुभवै परम सुख अतिसय द्वैत-बियोगी ॥ ४ ॥
सोक मोह भय हरष दिवस निसि देस काल तहँ नाहीं।
तुलसिदास यहि दसा हीन संसय निर्मूल न जाहीं ॥ ५ ॥

१ सोइ—६६, रा०, प्र०, ह०, ५१, आ०। सो—भा०, वे०, १५, ७४। २ सो—६६, मु०, ७४, भ०। सोइ—प्रायः औरोंमे। ३ चल—६६, रा०, ज०। जल—प्रायः औरोंमे। ४ मिलैं—६६। मिले—रा०, भा०, वे०, मु०। मिलइ—७४। मिलै—प्रायः औरोंमे। ५ नहि—७४। न—औरोंमे। ६ रसज्ञ सूछम—७४, ह०, ५१, १५, आ०। सूछम रसग्य—६६, रा०, भा०, वे०, ज०। ७ उर मिलिकै—६६। उदर मेलि—औरोंमे। ८ सो—प्र०, मु०, भा०, वे०। सोइ—६६, रा०, आ०।

शब्दार्थ—करनी = अमल; कामका करना। अपार = दुरसाध्य; कठिन। बन आना = सधना; करते बन पड़ना; ठीक उतरना। 'बनिआई' को एक शब्द मानें तो 'बनियापन' अर्थ भी हो सकता है। कला = हुनर। शफरी = सौरी नामकी मछली; शष्कुली; मछली। चल = चलती है। प्रवाह = तीव्र धार; बहाव। शर्करा = शकर; चीनी। सिकता = रेत; बालू। मिलें = मिलनेपर। बिलगाना = अलग करना। सूछम (सूक्ष्म) = बहुत छोटी। रसज्ञ = रसकी जाननेवाली। कुशल। पिपीलिका = च्यूँटी। पावै = पा जाती है; निकाल लेती है। दृश्य = सारा पंचभूतात्मक प्रपंच। अनुभवना = अनुभव करना; साक्षात्कार करना। द्वैतवियोगी = हम-हमार-तुम-तुम्हार अर्थात् देहाभिमान और मदीयत्वाभिमानरहित। = जड़-चेतन-ग्रंथि जिसकी कट वा छूट गई है।

पद्यार्थ—श्रीरघुनाथजीकी भक्ति करनेमें बड़ी कठिनता है। कहनेमें तो सुगम है: किन्तु करना पार नहीं पड़ता अर्थात् करना असाध्य है। वही जानता है जिससे बन पड़ी हो (एवं जिसमें बनियापन हो) ॥१॥ जो जिस कलामें निपुण है, उसके लिये वह सदा सुगम और सुख देनेवाली है। गंगाजीके तीव्र बहावमें (धाराके) सामने सीधमें सौरी छोटी मछली चलती रहती है और बड़ा भारी हाथी बह जाता है ॥ २ ॥ जैसे बालूमें शकरके मिलजानेपर कोई भी उसे बलसे अलग नहीं कर सकता। परन्तु अत्यन्त छोटी (पर उस) रसकी जाननेवाली कुशल च्यूँटी बिना परिश्रमके ही उसे प्राप्त कर लेती है (अर्थात् बालूमेंसे शकरको अलग कर लेती है) ॥ ३ ॥ सारे दृश्य (जगत् प्रपंच) को हृदयमें रखकर निद्राको त्यागकर जो योगी सोता है, वही अत्यन्त द्वैतभावरहित (योगी) हरिपदके परमसुखका अनुभव करता है ॥ ४ ॥ वहाँ (उस हरिपद परमसुखमें) शोक, मोह, भय, हर्ष, दिन, रात, देश और काल (कुछ भी) नहीं हैं। तुलसीदासजी कहते हैं कि बिना इस दशाके संशय जड़से नहीं जाते ॥ ५ ॥

नोट—१ "इस पदमें गोस्वामीजीने भक्तिमार्गकी कठिनाइयाँ कहीं। आगेवाले तीन पदों १६८, १६९, १७० में भक्तिमार्गपर चलनेकी युक्तियाँ बतलाते हैं। रामभक्तोंको ये पद खूब समझ लेने चाहिएँ और इनपर नित्य मनन करना चाहिए।" (दीनजी)। यह पद सिद्धान्तरूपसे कहा गया है। सारे पदमें कहीं भी संबोधनकी आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। (वि०)। [बैजनाथजीने 'रघुपति' को संबोधन मानकर इस प्रकार उसका पिछले पदसे संबंध किया है कि "हे प्रभो! यदि आप कहें कि तुम

विना कमाईका खाना माँगते हो, निर्हेतु कृपा चाहते हो, और जिससे स्वाभाविक कृपा हो जाती है वह नवधा आदि भक्ति क्यों नहीं करते, तो उसपर कहते हैं कि हे रघुपति ! आपकी भक्तिमें बड़ी कठिनाई है।''—संभवतः इसीको पढ़कर नागरी-प्रचारिणी-सभा (काशी) की प्रतिमें 'रघुपति' शब्दके आगे संबोधनका चिह्न दिया गया हो। उसीपर वियोगीजीने लिखा है कि रघुपति और भक्तिको षष्ठी तत्पुरुष समास मानना अधिक संगत है। इत्यादि। श्री० श० ने भी वैजनाथजीका उपर्युक्त भाव अपनाया है; परन्तु अर्थ समस्त पद मानकर ही किया है।]

टिप्पणी—१ 'कहत सुगम करनी अपार···' इति। (क) भगवान्‌ने स्वयं पुरजनोपदेशमें कहा है कि 'कहहु भगतिपथ कवन प्रयासा। जोग न मख जप तप उपवासा॥ सरल सुभाव न मन कुटिलाई। जथा लाभ संतोष सदाई।७।४६।१-२।' इत्यादि। इसपर कहते हैं कि कहनेमें तो अवश्य सुगम देख पड़ता है, क्योंकि इसमें योग, यज्ञ, जप, तप और उपवास आदि देहको कष्ट पहुँचानेवाले साधन नहीं करने पड़ते। पर और जो सरलता बताई है कि सरल स्वभाव चाहिए, मनमे कुटिलता न हो, जो मिले उसीमे संतोष करे, 'वैर न विग्रह आस न त्रासा', 'तृन सम विषय स्वर्ग अपबर्गा।' इत्यादि (७।४६), क्या इनका होना सहज है ? क्या इन्हे क्रियात्मकरूप देना सुगम है ? ऐसा स्वभाव कर्म करके प्राप्त कर लेना, इस कर्तव्यका पालन दुस्साध्य है, समुद्रका पार पानेके समान कठिन है। इसी प्रकार प्रह्लादजीने असुर बालकोंसे कहा है कि श्रीहरिकी उपासना करनेमें क्या विशेष परिश्रम है—'कोऽतिप्रयासोऽसुरबालका हरेरुपासने ?' (भा० ७।७।३८) ।—इसपर प्रश्न उठता है—'तो फिर लोग करते कैसे हैं ? लोग करते तो देखे जाते हैं ?' उसपर कहते हैं—'जानै···।'

१ (ख) 'जानै सोइ जेहि बनि आई' इति। जिससे करते बन पड़ा है, वही जाने। अर्थात् दूसरेके लिये उसका कर पाना कठिन है, दूसरोंसे नहीं बन पड़नेकी। इसी सुगमता और कठिनताको आगे दृष्टान्त देकर पुष्ट करते हैं। [''भगवान्‌की कृपासे जिस जीवसे बन पड़ी, वही भक्तिपथनिर्वाहकी रीति जानै''—(वै०)। दूसरा अर्थ एक महात्माजीका है कि जिसमें बनियापन है वही जानता है। बनियाकी 'चमड़ी जाय दमड़ी न जाय' यह कहावत प्रसिद्ध है, जो सब कुछ सह सकता है, वही भक्तिमे निबह सकता है, दूसरा नही। श्री० श० लिखते हैं कि आपकी कृपासे एवं अनेक जन्मोंके योग-यज्ञ-जप-धर्मसमूह आदिके प्रयाससे जिससे भक्ति

बनती आई है, वही इसे जान पाता है। भ० स० का मत है कि कहनी सुलभ है, क्योंकि नामोच्चारण आदिसे जीवका कल्याण शास्त्र बताता है। करतव अपार है; भक्तिके जिज्ञासुको भक्तिका कर्तव्य पालन करना दुस्तर है।]

भक्ति किनसे बन आई है यह पद २०६ के 'भक्ति दुर्लभ परम संभु सुक मुनि मधुप प्यास पदकंजमकरंद मधु पानकी।' तथा पद २५१के 'जान्यो हर हनुमान लपन भरत। जिन्हके हियें-सुथल रामपेम-सुरतरु लसत सरस सुख फूलत फरत॥' 'साहिब सेवक रीति प्रीति परमिति नीति नेम को निबाह एक टेक न टरत।' में कुछ लक्षित कराया है।

२ 'जो जेहि कला कुसल···' इति। (क) पहले सुगमताका सिद्धान्त कहते हैं। जो जिस कर्म वा हुनरमें निपुण होता है, उसको वह सुगमतासे कर डालता है, उसमें किंचित् भी आयास नहीं होता वरन् सुख मिलता है, उसके लिये वह कार्य खेल-सा है। ध्वनित अर्थ यह है कि जो उस कलामें कुशल नहीं है, उसे वह कर्म कठिन और दुःखकारी होता है, वह उसमें खट नहीं सकता।

२ (ख) 'सफरी सनमुख चल प्रवाह···' इति। उदाहरण देते हैं कि देखिए शफरी मछली बहुत छोटी है, तो भी गंगाकी तीव्र धारमें उसके सम्मुख धारा-प्रवाहके प्रतिकूल ठीक सीधमें चलती है, प्रवाहके प्रतिकूल सीधमें चलनेकी कला वह जानती है, इससे धारा उसे बहा नहीं पाती और सीधे प्रवाहके सम्मुख चलना उसको खेल-सा है, क्रीड़ा है। परन्तु गजेन्द्र भारी बलिष्ठ होनेपर भी प्रवाहमें बहने लगता है, उसके लिये प्रवाहके प्रतिकूल चलना दुस्साध्य है।

२ (ग) यहाँ 'सुरसरी' का नाम दिया, अन्य नदियोंका नहीं। इसके कारण ये हो सकते हैं कि यहाँ भक्तिका प्रसंग है और भक्तिको सुरसरिकी उपमा दी जाती है। यथा 'रामभक्ति जहँ सुरसरिधारा। १।२।८।', 'रामभगति सुरसरितहि जाई। मिली सुकीरति सरजु सुहाई। १।४०।१।' दूसरे, जहाँ गंगोतरीसे उतरनेके पश्चात् धारा ऊपरसे बड़े वेगसे कई सौ फुट नीचे गिरती है, वहाँ आज भी मछलियाँ नीचेसे ऊपर ठीक धारके सम्मुख ऐसे चढ़ जाती हैं, (जैसे आजकल नीचे कुर्सीपर बैठा हुआ मनुष्य तीन-चार-मंजिले मकानके ऊपर बिजलीका बटन दबाते ही पहुँच जाय)। तीसरे (पं० रामकुमारजीके मतानुसार) गंगाका प्रवाह और नदियोंकी अपेक्षा अधिक प्रबल है।※

※ ☞ पृष्ठ १ से २५६ तक श्रीशङ्कर मुद्रणालय, वाराणसीमे छपे।

वैजनाथजी—भाव यह कि "रामप्रेमप्रवाहमें जिनके मन मीन होरहे हैं, उन्हींको भक्तिकी करणी सुलभ और सुखकारी है। कर्म योग वैराग्य आदि साधन करनेवालोंको भक्तिकी करणी अपार है। साधन-बलसे कोई पार नहीं पा सकता।"

टिप्पणी—३ 'ज्यों सर्करा मिलै सिकता महुँ''' इति। (क) अब दूसरा दृष्टान्त देते हैं। शकर बालूमें मिल जाय, तो शकरही शकरको ज्योंकी त्यों कोई अपनी शक्तिसे अनेकों उपाय करके भी नहीं निकाल सकता। परन्तु अत्यन्त छोटीसे छोटी च्यूँटी शकरको उसमेंसे ज्योंकी त्यों अलग निकाल लेती है, उसको किंचित्भी कठिनता नहीं होती। क्योंकि उस रसमें वह परम कुशल है, मिष्टान्न रसकी परम रसज्ञ है, उसकी अत्यन्त भोक्ता है। वैसेही जिसको भक्ति प्राप्त है, उसे सुलभ है, जिसको नहीं प्राप्त है उसे कठिन है। अधिकारभेदसे दोनोंको दिखाया। [(ख) वैसेही साधन-बलसे भक्ति लोकमें दुर्लभ है और वैराग्यादिबलहीन किन्तु रामानुरागी रसिकोंको सुलभ है, ये लोकव्यवहारहीमें रहतेहुए विषयरससे निरस और श्रवणादि कथा भक्तिरसके भोक्ता बने रहते हैं। यथा "भगवतश्यामाश्यामको, पावककृत विहार। नहि समर्थ खगराज की, करत चकोर अहार। करत चकोर अहार, किलकिला जलचर लावै। स्याहसीख मृगराज, वदन तें आमिष पावै। ऐसे रसिक अनन्य, और सब जानहु खगवत। तजौ पराई सैन्य भजहु त्रित माफिक भगवत॥" (कुण्डलिया भगवत रसिकजीकी)।—(वै०)]

४ 'सकल दृश्य निज उदर मेलि''' इति। (क) स्त्री-पुत्र-धन-धाम-मित्र-शत्रु-दुःख-सुख इत्यादि सारा जगत् प्रपंच जो दिखाई दे रहा है, उसको उदरमें डाल ले अर्थात् वह दृष्टिमें न आवे, जैसे उदरमें पड़ी हुई वस्तु दिखाई नहीं पड़ती। भाव कि सारा प्रपंच 'निज प्रभुमय देखै'। इस प्रकार मोहरूपी निद्राको त्यागकर जो योगी (संसारसे) सोता है, वही हरिपदके परम सुखको अनुभव करता है।

'हरिपद परमसुख' का भाव कि यह सुख ब्रह्मसुखसे भी बढ़कर है। इसका अनुभव श्रीजनकजीको श्रीरामदर्शन होनेपर हुआ है। यथा 'इन्हहि बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्मसुखहि मन त्यागा। १।२१६।५', 'अवलोकि रामहिं अनुभवत मनु ब्रह्मसुख सौ गुन किए। जानकीमंगल ९५।' अथवा, 'हरिपद परमसुख' = अनुपम ब्रह्मसुख (जिसका मानसमें इसप्रकार

वर्णन है—'नाम जीह जपि जागहिं जोगी। बिरति बिरंचि प्रपंच बियोगी॥ ब्रह्मसुखहि अनुभवहि अनूपा। अकथ अनामय नाम न रूपा। १।२२।')।

४ (ख) 'अतिसय द्वैत बियोगी'—कवि-अभिप्रेत द्वैत, द्वैत-बुद्धि का अर्थ कई बार आ चुका है। 'द्वइत रूप तमकूप परौं नहि से किछु जतन बिचारी' ११३ (४ ग), 'सपनेहु नहीं सुख द्वैतदरसन बात कोटिक को कहै।' १३६ (१२ घ) देखिए। यह परम सुख उन्हीं को प्राप्त होता है, जिनका देहाभिमान एवं मदीयत्वाभिमान (मैं-मोर आदि) छूट गया है, जिनकी जड़-चेतन-ग्रंथि छूट (खुल) गई है, जो जगत् प्रपंचको निजप्रभुमय देखने लगे है। ११६ (२ ख) 'जेहि अनुभव ' ' देखिए।

[वै०-भाव कि "समस्त दृश्य पदार्थोंसे ममत्व हटाकर अन्तःकरणको स्थिर करे। जैसे योगी योगक्रियासे इन्द्रियोंको बटोरकर मनको स्थिर-कर समाधिस्थ होते हैं, वैसे ही हरिस्नेहरूप क्रिया करके इन्द्रिय और मन आदिको थिरकर मोहरूपी निद्रा त्यागकर आत्मरूपमे चैतन्य हो देहाभिमानका सर्वथा त्याग करे, रामानुरागरूप निद्रामें सोवे, शुद्ध आत्मरूपकी प्रत्यय प्रवाह रामरूपमें लय बनी रहे—ऐसा जो योगी हो वह हरिपदसुख अनुभव करे। यहाँ जीवको योगी, योगयुक्ति जाननेवाला कहा। तात्पर्य कि प्रथम लोकसंबंधसे ममता हटावे, फिर श्रवण-कीर्तनादि सप्ताङ्ग भक्ति-योग-द्वारा देहाभिमानको जीते, फिर सख्यभाव अष्टाङ्ग भक्तियोगकर मोहनिद्रा त्यागे और आत्मरूपको सँभाले। फिर आत्मसमर्पणकर रामानुरागरूपमे अचलरूपसे तदाकार रहे, तब रामरूपप्राप्तिका परम सुख पावै अर्थात् परिपूर्ण पराभक्ति प्राप्त हो। —इत्यादि रामभक्तिकी करनी जीवको कठिन है। ॐऔर जिनपर प्रभुकी कृपा हुई, उन्हींको भक्तिकी करनी करना सुलभ है। इसीसे मैं बार-बार कृपाकी प्रार्थना करता हूँ।"

डु०, भ० स०-"यहाँसे अंततक अब सिद्धाभक्तिको कहते हैं। सारे दृश्यमान पदार्थोंमें यह भाव रहे कि परमेश्वरसे अतिरिक्त दूसरा पदार्थ है ही नहीं, यह निश्चयही 'दृश्यका उदरमे मिलना' (वा) मेलना हुआ। निद्रा त्यागकर सोना निर्विकल्प समाधि है जिसमें द्वैतबुद्धिका नाश है। उस

ॐ इसीका आधार पाकर श्री. श. ने अंतरा २ 'सफरी सनमुख' ' ' को नवधाभक्तिका और 'सर्करा-मिलै ।३।' को प्रेमलक्षणा भक्तिका उदाहरण माना है। अन्तरा ४ पराभक्तिका उदाहरण है। और अन्तरा ५ मे पराभक्तिकी तुरीयावस्थाका वर्णन माना है।

अवस्थामें प्राकृत निद्राका अभाव है, इससे 'निद्रा तजि' कहा। 'सोवै' कहा सो सुषुप्तावस्था है। सुषुप्तावस्था और समाधि दोनोंमें बुद्धिका लय है; इस लिये 'सोने' की उपमा दी। सुषुप्तिमें द्वैत नहीं रहता, पर तमोगुणकी अधिकता है और समाधिमें अद्वैत निष्ठा कृत्रिम है। तात्पर्य यह कि समाधि सुषुप्तके समान जाग्रत्में स्थिर रहे कि ईश्वरसे भिन्न कोई पदार्थ नहीं है। तब भगवत्पद परम सुखको प्राप्त होता है। उसीको सिद्धा भक्ति कहते हैं।"]

टिप्पणी—५ 'सोक मोह भय हरष ...' इति। उस दशामें, जिसका ऊपर वर्णन किया गया, शोक-मोह आदिकी तो बातही क्या, दिन-रात देश और काल भी नहीं रह जाते। भाव कि भगवान् सच्चिदानन्दरूप हैं, देश-कालादि-अतीत हैं। अतएव अतिशयद्वैतवियोगी हरिपद-परमसुखका जब साक्षात् करता है, उस दशामें वह शोकमोह आदि सब अवस्थाओंके पार हो जाता है। पूर्व पद १५१ में बताया था कि श्रीरामजी जब प्रिय लगने लगते हैं तब काल-कर्म आदि भी अनुकूल हो जाते हैं। यथा 'राम सोहाते तोहि जो, तू सबहिं सोहातो। काल करम कुल कारनी कोऊ न कोहातो।' और यहाँ उससे आगेकी दशा कही है, जिसमें 'रमण राम एकतार', 'रत मन होइ रहै अपने साहिब माहिं', मैं-तै बिल्कुल न रहगया, उस दशामें ये कुछ रह ही नहीं जाते। पद १३६ में निज स्वरूपके अनुरागकी दशाभी इससे मिलती-जुलती कही गई है। यथा 'अनुराग जो निज रूपतें जगतें बिलच्छण देखिये। संतोष सम सीतल सदा दम देहवंत न लेखिये। निर्मम निरामय एकरस तेहि हरप सोक न ब्यापई। त्रैलोक्य पावन सो सदा जाकहुँ दसा ऐसी भई।' १३६ (११) देखिए।

'यहि दशा हीन संसय निर्मूल '—अर्थात् जीव विगतसंशय तभी हो सकता है, जब इस दशाको प्राप्त हो जाय। इसके पूर्वकी दशाओंमें संशय-की जड़ बनी रहती है, संशय भले ही दूर हो गया हो, पर कभी न कभी फिर अंकुरित हो आ सकता है। संशय—४४ (६ ग) 'संशयहरण'; ४७ (३ क) 'गत सूल संशय सकल'; १०६ (१) 'संदेह सोक संसय भयहारी', 'तव प्रकास बिनु संसय टरै न टारी' ११३ (५ ख), 'संसय संदेह न जाई' १२१ (१ घ), १०८ (३ ख), 'तौ कहां द्वैत जनित संसृति दुख संसय सोक अपारा।१२४।' देखिए।

बैजनाथजीः—यह पराभक्ति दशा है। [जीवन्मुक्ति, विदेहावस्था भी इसीको कहते हैं। (वि०)] इसमें सांसारिक कोईभी बाधा नहीं व्यापती।

मानसमें इसीको इस प्रकार कहा है—'मम गुन ग्राम नाम रत गत ममता मद मोह। ताकर सुख सोइ जानइ परानंद संदोह ।७।४६।'

सू० शुक्ल—"इस पदमें भगवानकी भक्तिकी कठिनता और सरलताकी युक्ति बतलाई है कि जैसे जो कार्य बिना अभ्यास बड़ा-बड़ोंसे भी कैसाही उपाय करे नहीं होता है, वही कार्य अभ्यासकी प्रबलतासे छोटे जीव साधारण रीतिसे कर लेते हैं, ऐसेही जो भक्त आलस छोड़ नित्य अभ्यासमें संसार-दृश्य जो कि चित्तसे ही भान होता है और चित्तका ही रूप है, चित्तमेंही लय करके अद्वितीय परमात्मप्रेममें आराम करता है, उसका मूलज्ञान नष्ट हो जाता है और परमानन्द राममें मिल जाता है। इसके सिवा परिश्रम और अनेक उपायोंसे भक्तियोगकी प्राप्ति नहीं होतीहै, क्योंकि परमात्मा तो स्वयं प्राप्त है, उसको कहीं ढूँढ़ना या परिश्रम नहीं करना है, किन्तु अज्ञानसे उसकी प्रतीति दृढ़ नहीं है; वह अभ्यास और वैराग्यसे दृढ़ होती है।

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

१६८

जौं[1] पै रामचरन-रति होती।
तौ कत त्रिविध सूल निसिबासर सहते, बिपति निसोती ॥१॥
जौं संतोष सुधा निसि बासर सपनेहुँ कबहुँक पावै।
तौ कत बिषय[2] बिलोकि झूठ जल[3] मन कुरंग ज्यों धावै ॥२॥
जौं श्रीपति महिमा बिचारि उर भजते भाव बढ़ाएँ[4]।
तौ कत द्वार-द्वार कूकर[6] ज्यों फिरते[7] पेट खलाएँ[5] ॥३॥
जे लोलुप भये दास आस के ते सबही के चेरे।
प्रभु बिस्वास आस जीती[8] जिन्ह ते सेवक हरि केरे ॥४॥

१ रा० और ७४ में इस पदमें सर्वत्र 'जौं' है। जो-भा०, बे०, प्र०, मु०। पद १६६ से ९६ की प्रतिमें 'जौ' है, अतः हमने यही शुद्ध माना है। २ 'मृगजलरूप विषय कारन निसि बासर धावै'-प्र०। ४-५ एँ-रा०। ए-औरोंमें। ६ कूकर-रा०, ह०, ज०, ७४, आ०, १५। कूकुर-भा०, बे०, ५१। ७ फिरतेउ-

नहिं एको[९] आचरन भजनको बिनय करत हो तातें।

कीजै कृपा दास तुलसी पर[१०] नाथ नाम के नातें[११]॥५॥

शब्दार्थ—कत=क्यों। निमोती=जिसमे किसी चीजका मेल न हो। खालिस निरा. जिसमें और कुछ है ही नहीं। यथा 'कृपा सुधा जलदानि मानिबो कहौं सो साँच निसोतो।१६६।', 'रीझत राम सनेह निसोते।१।२८।११।' कुरंग=हिरन। धावै=दौड़े। पेट खलाना=पेटको पचका लेना। खलाना=किसी फूलीहुई वस्तुकी सतहको नीचेकी ओर धँसाना। 'पेट खलाना' 'पेट खलाये फिरना' (मुहावरा है। इसका प्रयोग प्रान्तिक है)=अत्यन्त दीनता दिखलाना, भूखे होनेका संकेत करना। यथा 'महिमा मान प्रिय प्रान तें तजि खोलि खलनि आगे खिनु खिनु पेट खलायो।२७६।' लोलुप=लोभ-लालचसे चंचल। केरे=के। आचरण=चिह्न: लक्षण।

पद्यार्थ—निश्चयही यदि श्रीरामजीके चरणोंमे प्रीति होती, तो (दैहिक, दैविक और भौतिक) तीनों प्रकारकी कठिन पीड़ायें और एकरस निरी विपत्तिही विपत्ति क्यों दिनरात (निरन्तर) सहते रहते ? ।१। यदि दिनरात-में स्वप्नमेंही कभी-कदाचित् संतोषरूपी अमृत पा जाय, तो विषयरूपी झूठे जल (रविकरवारि, मृगतृष्णाजल) को देखकर मन हिरनकी भाँति (उसके लिये) क्यों दौड़े ? ।२। यदि श्रीपति (समग्र ऐश्वर्यके स्वामी) की महिमा हृदयमे विचारकर प्रेम-भाव-भक्ति बढ़ाये हुए (उनका) भजन करते, तो कुत्तेकी भाँति पेट पचकाये हुए द्वार-द्वार क्यों फिरते ? ।३। जो लोलुप लोग आशाके दास हुए, वे सभीके गुलाम हो गए। और, प्रभुपर विश्वासकर जिन्होंने आशाको जीत लिया, वे भगवान्‌के सेवक बनगए।४। (मुझमे) एकभी चिह्न भजनका नहीं है, इसीसे मैं विनय करता हूँ, हे नाथ ! मुझ तुलसीदासपर नामके नाते कृपा कीजिए।५।

नोट—१ इस पदके अन्तिम अन्तरामें 'नहिं एको आचरन भजनको' कहकर जनाया कि इस पदमें भक्तिके आचरण कहे गये है। प्रत्येक अंतरामें एक-एक आचरण दिखाया है।

टिप्पणी—१ 'जौंपै रामचरनरति ' इति। भाव कि श्रीरामजीके चरणोंमें जिसकी प्रीति होती है उसे विपत्ति होती ही नहीं, उसे तो सुखही सुख रहता है। यथा 'मन तहँ जहँ रघुबर बैदेही। बिनु मन तन दुख सुख

१५। ८ जिहि-रा०। ९ एको-रा०, भ०। एकहु-७४। एको-भा०, बे०, ह०, आ०। १० पै०-प्र०। ११ नाते, ताते-र०। नात, तात-प्रायः औरोंमे।

सुधि केही ।१।२७५।', 'गुनागार संसार दुखरहित विगत संदेह। तजि मम चरनसरोज प्रिय तिन्ह कहुँ देह न गेह ।३।४५।, 'वचन काय मन मम गति जाही। सपनेहुँ बूझिअ बिपति कि ताही ।४।३८।२।', 'सुखमय ताहि सदा सब आसा ।७।६।५।' प्रीति न होनेसे ही विपत्तियाँ नित्यही सहनी पड़ती हैं। यथा 'अति दीन मलीन दुखी नितहीं। जिन्हके पदपंकज प्रीति नहीं।', 'बहु रोग बियोगन्हि लोग हए। भवदंघ्रि-निरादर के फल ए।' (७।१४)। ये शिववाक्य हैं। साथ ही पदरत लोगोंके संबंधमें वहीं उनका वाक्य यह है-'करि प्रेम निरंतर नेम लिये। पदपंकज सेवत सुद्ध हिये। सम मानि निरादर आदर ही। सब संत सुखी बिचरंति मही।।'—तात्पर्य कि मैं निरन्तर विपत्ति-ही सह रहा हूँ, इससे निश्चय स्पष्ट है कि श्रीरामचरणोंमें मेरा अनुराग नहीं है। आगे इसीको सीधे शब्दोंमें भी कहा है। यथा 'नाहिन चरन रति ताहि तें सहौं विपति, कहत श्रुति सकल मुनि मतिधीर ।१६७।'—इस प्रकार इसे श्रुतिमुनिसिद्धान्त जनाया।

२ 'जो संतोष-सुधा निसि-बासर' इति। (क) 'रामचरणानुराग' भक्तिका यह आचरण कहकर अब भक्तिका दूसरा आचरण कहते हैं। वह है संतोष। मानसमें भी भक्तिके लक्षणोंमें इसे कहा है। यथा 'आठव जथा लाभ संतोषा ।३।३६।४।'; 'जथा लाभ संतोष सदाई ।७।४६।२।' संतोष होनेपर कामनाओं तथा लोभका नाश होकर जीव सुखी (तृप्त) रहता है। यथा 'जिमि लोभहि सोषइ संतोषा ।४।१६।३', 'बिनु संतोष न काम नसाहीं। काम अछत सुख सपनेहुँ नाहीं। ७।९०।१।' संतोष वृत्ति प्राप्त होनेसे जीव सदा अपनेको तृप्त मानता है, विषयभोगकी ओर दृष्टिभी नहीं डालता।

२ (ख) 'सो कत विषय विलोकि' इति। संतोष और अमृत, विषय-सुख और मृगवारि, मन और कुरंग में पूर्णरूपसे एकरूपता यहाँ दिखाई जानेसे परम्परितरूपकालंकार यहाँ है। हिरनका उदाहरण देकर जनाया कि जिस मृगको सुधाकी प्राप्ति होती है, जिसे उसका स्वाद मिलता है, वह कुरंग रविकरजलके पीछे नहीं दौड़ता; यथा 'बसै जो ससि-उछंग सुधा-स्वादित कुरंग, ताहि क्यों भ्रम निरखि रविकरनीर ।१६७।'; वैसे ही यदि मेरे मनको किंचित्भी संतोष प्राप्त हुआ होता, तो वह विषयोंकी ओर न जाता। साधारण हिरन (पृथिवीपर विचरनेवाला) ही झूठे जलके लिये दौड़ता है, वैसेही संतोष-सुधारहित मन विषयके पीछे दौड़ता है, यद्यपि विषयमें सुखरूपी सत्य जल त्रिकालमें नहीं है। यथा 'मृगभ्रमवारि सत्यजल

जानी। तहँ तूं मगन भयो सुखमानी । तहाँ मगन मज्जसि पान करि त्रयकाल जल नाहीं जहाँ।' १३६ (२ ख) देखिये । [रविकर नीर १११ (३ क), ७३ (२ ग)-शब्दार्थ मे देखिए । संतोष—१२१ (४ ख); १३६ (११ घ). देखिए]—सारांश यह है कि मेरा मन सांसारिक विषयोंमे सुख ढूँढता हुआ दौड़ता रहता है, इससे स्पष्ट है कि 'संतोष' नही प्राप्त है ।

३ 'जौं श्रीपति महिमा इति । (क) 'श्री' लक्ष्मीजी तथा सीताजी दोनोंका नाम है । पद ४७ मे श्रीरामजीको 'श्रीरमण', ५३ मे 'श्रीवरं' कहा है—४७ (२ छ), १०६ (५ ग), ५३ (४) तथा ४७ शब्दार्थ देखिए । 'श्री' जी उमारमाब्रह्मादिवंदिता है । 'जासु कृपाकटाच्छ सुरचाहत चितव न सोइ ।' (७।२४), उन 'श्री' जीके ये पति है । इनकी महिमा श्रीजी जानती है, इसीसे वे सब प्रकार उनकी सेवा करती है । यथा 'जानति कृपासिंधु प्रभुताई । सेवति चरन कमल मन लाई ॥ जेहि विधि कृपासिंधु सुख मानइ । सोइ कर 'श्री' सेवा-विधि जानइ ।७।२४।' समग्र ऐश्वर्यकी स्वामिनी श्रीजी जिनकी पत्नी है, उनके यहाँ किस पदार्थकी कमी है जिसके लिये उनके सेवकको दूसरा द्वार झाँकना पड़े ? 'जन की कहु क्यों करिहै न सँभार जो सार करै सचराचर की । तुलसी कहु राम समान को आन है, सेवकि जासु रमा वरकी ।' यह महिमा है; इसे विचारकर भावपूर्वक उनका भजन करनेवालेको दूसरे द्वारपर नही जाना पडता । —'जगमे गति जाहि जगतपतिकी, परवाह है ताहि कहा नर की ।' (क० ७।२७) ।

३ (ख) 'तौ कत द्वार-द्वार कूकर ज्यों.....' इति । कुत्ता एक-एक टुकड़े के लिये द्वार-द्वार पेट पचकाये हुए दीनतापूर्वक फिरता, बड़ा अनादर भी पाता है । यथा 'लोलुप भ्रमत गृहप ज्यों जहँ तहँ सिर पदत्रान बजै । तदपि अधम विचरत तेहि मारग कबहुं न मूढ़ लजै ।८६।'; वैसेही मैं द्वार-द्वार बड़ीदीनतापूर्वक प्रतिष्ठा गँवाये अपमान सहता फिरता रहा । 'महिमा मान प्रिय प्रान ते, तजि खोलि खलनि आगे खिनु-खिनु पेट खलायो ।२७६।', इससे यह स्पष्ट है कि मुझमे भक्तिका यह आचरण भी नही है । —[इसमे संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग है कि लक्ष्मीनाथकी सेवा करनेसे लक्ष्मीके लिये घमंडी धनियोंके द्वारपर अनादर न सहना पड़ता । (वीर) । क० ७।५७ में कि श्रीरामस्वभाव सुनकर उनसे दीनता निवेदन करनेसे उन्होंने मेरा स्वार्थ-परमार्थ सभी सुधार दिया । पहले कूकर सरीखा टुकड़ोंके लिये ललाता था—'नीच निरादरभाजन कादर, कूकर-टूकन लागि ललाई ॥ रामसुभाउ

सुन्यो तुलसी प्रभुसों कह्यो बारक पेट खलाइ। स्वारथको परमारथको रघुनाथ सो साहेबु खोरि न लाइ।' —परंतु यहाँ प्रसंग दूसरा है।] 'पेट खलाइ' का भाव कि देख लो, मैं झूठ नहीं कहता, भूखों-उपवासोंके मारे मेरा पेट कैसा पचक गया है,—एक टुकड़ा मुझ भूखेको दे दो।

४ (क) 'जे लोलुप भए दास आसके.....' इति। भाव यह कि लोलुपको आशाका ही गुलाम न समझिए, वरं तो उसके कारण सभीकी गुलामी करनी पड़ती है। यथा 'कहा न कियो, कहाँ न गयो, सीस काहि न नायो। राम,विमुख खास दास है सब प्रभुहिं जनायो। हा-हा करि दीनता कही द्वार-द्वार, बार-बार परी न छार मुँह बायो।२७६।', 'देव दनुज मुनि मनुज नहिं जाचत कोउ उबर्यो।१९१।', 'काम-लोलुप भ्रमत मन हरि भगति परिहरि तोरि।' लोभ मनहि नचाव कपि ज्यों गरे आसा डोरि।' १५८ (४ क) देखिए। पुनश्च 'लोभ सबै नटके बस ह्वै कपि ज्यों जगमें बहु नाच न नाचे। क० ७।११८।'

स्कं० वैष्णव० भूमिवाराह० में भद्रमतिजीके विचार भी सुनिये। वे कहते हैं—'अहो! दरिद्रता बड़ा भारी दुःख है, उसमें भी आशा तो अत्यन्त दुःखदायिनी होती है। आशाके वशीभूत हुये मनुष्य जग-जगमें दुःख ही दुःख भोगते हैं। जो आशाके दास हैं, वे समस्त संसारके दास हैं और जिन्होंने आशाको अपनी दासी बना लिया है, उनके लिये यह सम्पूर्ण जगत दासके तुल्य है। यथा "अहो दरिद्रता दुःखं तत्राप्याशातिदुःखदा। आशाभिभूताः पुरुषा दुःखमश्नुवते जगात्॥ आशाया ये दासा दासास्ते सर्वलोकस्य। आशा दासी येषां तेषां दासायते लोकः॥ ७।१७-१८।"

४ (ख) 'प्रभु बिस्वास आस जीती जिन्ह....' इति। यह भगवद्भक्तका लक्षण बताया। प्रभुमें विश्वास हो कि प्रभु हमारी सार-सँभाल अवश्य करेंगे, हमारी रक्षा अवश्य करेंगे। एकमात्र प्रभुका आशा-भरोसा रक्खे। प्रभुमें विश्वासका स्वरूप ही यह है कि संसारकी आशा नहीं करनी पड़ती। श्रीरामजीका वाक्य है कि 'मोर दास कहाइ नर आसा। करइ तौ कहहु कहा बिस्वासा।७।४६।३।', 'भोजनाच्छादने चिन्तां वृथा कुर्वन्ति वैष्णवाः। योऽसौ विश्वम्भरो देवः स किं दासानुपेक्षते।' (चाणक्य)। [अर्थात् वैष्णव भोजनवस्त्रादिकी चिन्ता व्यर्थ करते हैं। जो विश्वम्भरका भरणपोषणकर्ता है वह भक्तकी उपेक्षा कब करेगा?—यह विश्वास रखना चाहिए] 'रोटी-लूगा नीके राखै आगेहु कै वेद भाषै भलो ह्वैहै तेरो ताते आनंद लहतु हौं।'

७६ (१) तथा 'जड़ पंच मिलै जेहि देह करी करनी लखु धौं धरनीधर की। जन की कहु, क्यों करिहैं न सँभार जो सार करै सचराचरकी ॥...', 'जो कहावत दीनदयाल सही जेहि भारु सदा अपने पनको। तुलसी तजि आन भरोस भजे भगवान भलो करिहै जन को।, (क.७।२७;१) में भी विश्वासपर जोर दिया है।

४ (ग) 'आस जीती' अर्थात् प्रभुको छोड़ किसीकी एवं कुछभी आशा नहीं है। चातककी भाँति 'सब साधनफल कूप सरित-सर-सागर सलिल निरासा। ६५।' रहे। श्रीरघुनाथजी ने भक्तका यह भी एक लक्षण बताया है। यथा 'बैर न विग्रह आस न त्रासा।७।४६।', 'बिनु घन निर्मल सोह अकासा। हरिजन इव परिहरि सब आसा।४।१६।४।' (आशायें तृष्णायें न रहजायँ तभी भक्तकी शोभा है, अन्यथा नहीं)। विश्वास होनेपरही सब आशायें छोड़ी जासकती हैं, इसीसे 'प्रभुविस्वास' कहकर आशाको जीतना कहा। वेदोंनेभी वंदीरूपसे कहा है—'बिस्वास करि सब आस परिहरि दास तव जे होइ रहे।७।१३।' विश्वास होनेपर ही आशाका त्याग और श्रीरामचरणानुराग होता है, इसीसे विश्वासपर सर्वत्र जोर दिया गया है। यथा 'विश्वास करि कह दास तुलसी रामपद अनुरागहू।३।३६।', 'बिनु विश्वास भगति नहिं।७।९०।', 'कवनिउ सिद्धि कि बिनु बिस्वासा।७।९०।८।'— अतएव विश्वास और आशाका त्याग कहकर तब 'ते सेवक हरि केरे' कहा। यहाँ 'ते सेवक...' का तात्पर्य 'सच्चे सेवक' से है।

नोट—२ कबीरजीके—, "कबिरा जोगी जगत-गुरु, तजै जगतकी आस। जो जगकी आसा करै, जगत गुरू वह दास॥", इस दोहेसे भावसाम्य है। (दीनजी, वि०)। 'जे'—'ते' से दो असम वाक्योंमे समता दिखानेका भाव 'प्रथम निदर्शना अलंकार' है। (वीर)

टिप्पणी—५ 'नहिं एको आचरन भजनको...' इति। ऊपर प्रत्येक अन्तरामें भजनका एक-एक आचरण और उनका प्रार्थीमे न होना दिखाया गया है। अर्थात् रामपदरति, संतोष, श्रीपतिमहिमाका विचार और भावपूर्वक भजन, आशाका त्याग, प्रभुमें विश्वास—ये कोई मुझमें नहीं हैं। 'कीजे कृपा नामके नाते'—इस कथनसे जनाया कि उपर्युक्त आचरणोंसे कृपा होती है, पर वे अपनेमें हैं नहीं। कृपा करनेके लिये कोई न कोई नाना चाहिए। 'तोहि मोहि नाते अनेक '— ७६ (३ग; ४ख; नोट २); १०४ (४क) देखिए। वह नाता बताते हैं कि मैं नाम जपता हूँ, मुझे नामका

अवलंब है, नाममें प्रीति प्रतीति है और रामनाम ही मेरी गति है तथा उसीकी ओट पेट भरता हूँ—इत्यादि सब पूर्व कह आए हैं। यथा 'नामु लै भरै उदरु', 'जनु कहाइ नाम लेतहौं किये पन चातक ज्यों प्यास सुप्रेम पानकी।', 'रामनाम ही की गति जैसे जल मीन को।' इत्यादि। ४१ (२), ४२ (१), ६८ (५ ख-घ), ६५ (५ ङ), इत्यादि देखिए। आपको अपने नामकी बड़ी लज्जा है, नामकी प्रतिष्ठाकी रक्षार्थ आपने नाम लेनेवालेपर सदा कृपा की-है। यथा 'सो धौं को जो नाम लाजते नहि राख्यो रघुबीर।''' नाम ओट ते राम सबनि की दूरि करी सब सूल।' १४४ (१ क-ख; ४ क-ख) तथा 'बड़ी ओट रामनामकी जेहि लई सो बांचो।' १४६ (६ ख) देखिए। तात्पर्य कि नामके नाते जैसे अजामिल, गज, गणिका, व्याध आदि पर कृपा की, वैसेही उसी नातेसे मुझपर कृपा कीजिए। यहाँ 'वाच्यसिद्धाङ्ग गुणीभूत व्यंग' है।

सू० शुक्ल—इसमें आशाके परित्यागीकोही भगवान्का सेवक बतलाया है। जिनमे दूसरोंकी आशा बनी है, वे दूसरोंकेही सेवक हैं; क्योंकि जो विषयसुखके लिये द्वारद्वार दौड़ता है वह कभी संतुष्ट नहीं होता; इस लिये वह भगवान्का भक्त कभी नहीं होसकता। किन्तु आशाको विजय करके भी भगवन्नामका ही बल समझना चाहिए, अपने वैराग्यरूप पुरुषार्थका कभी घमंड न आने पावे।

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

१६६ (१०६) राग सोरठी

जौं[1] पै मोहिं राम लागते मीठे।
तौ नवरस षटरस रस अनरस ह्वै जाते सब सीठे॥१॥
बंचक विषय विविध तनु धरि अनुभये[2] सुने अरु डीठे[3]।

---

१ जौपै—६६, ह०, प्र०, भ०। जौं—रा०, ७४। जो—भा०, वे०, ५१, आ०। २ अनुभये—६६, रा०, प्र०, ह०, ज०, भ० (अनुभए)। अनुभवे—भा०, वे०, ५१, ७४, आ०। ३ डीठे—६६, रा०, ज०, ५१, दीन, भ०। दीठे—भा०, वे०, ७४, ह०, मु०, वै०, वि०।

यहु जानतहुं[४] हृदय[५] अपने[६] सपने न अघाइ उबीठे ॥२॥

तुलसीदास प्रभु सो एकहि बल बचन कहत अति ढीठे।

नामकी[७] लाज राम[८] करुनाकर केहि न दिये[९] करि[१०] चीठे ॥३॥

शब्दार्थ—मीठे = प्रिय। रस = किसी विषय का आनंद। = केलि, विहार। = वह अनुभव जो किसी पदार्थका जीभके द्वारा होता है। = स्वादपना। अनरस = निस्स्वादपना। = नीरस। रस-अनरस = स्वादपना एवं निस्स्वादपना = मजेदार (स्वादिष्ट) होने न होनेका भाव। सीठे = फीके; विना स्वादके। वंचक = ठग। अनुभये = अनुभव कर लिया; भोग करके जान लिया। उबीठे:-उबीठना = ऊब उठना = जी भर जानेके कारण अच्छा न लगना; चित्तसे उतर जाना; (अधिक व्यवहारके कारण) अरुचिकर हो जाना। डीठे = देखे। ढीठे = ढिठाईके। ढीठ = अनुचित साहस करनेवाला; शोख; बेअदब; निडर। दिये करि चीठे = चिट्ठा कर दिया। चिट्ठा कर देना = कागज लिखकर देना कि इसके जिम्मे कुछ बाकी नहीं रह गया; लेखा-डेवढ़ा बराबर होजानेका कागज दे देना। किसी बंधनसे छूटनेका परवाना (passport) देना।

पदार्थ—यदि सचमुच मुझे श्रीरामजी प्रिय लगते, तो (शृङ्गार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स, अद्भुत और शान्त, साहित्य शास्त्रके ये) नवो रस, (मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त और कषाय वैद्यकानुसार भोज्य पदार्थोंके ये) छः रस और (इनके अतिरिक्त जो भी रस) स्वादपना एवं निस्स्वादपना ये सब फीके पड़ जाते‡ ।१। विषय ठग हैं, अनेक प्रकारके

---

४ जानतहुं–६६, रा०। जानतहूं–७४, भ०। जानत हौं-भा०, वे०, प्र०, ह०, ५१, आ०। ५–उर–भा०, वे०, मु०। हिय–७४, प्र०। हृदय–६६, रा०, ह०, ५१, ज०, आ०। ६ अपने–६६, रा० भा०, वे०, मु०, ७४। आपने–ह०, ५१, प्र०, ज०, आ०। ७, ८, ९, १०–६६, रा०, ह०, ५१, दीन, वि०। ७ कि–भा०, वे०, मु०, वै०, डु०, भ०। ८ मानि–७४। ९ दियेउ-७४। १० कर–भा०, वे०, मु०।

‡अर्थान्तर—१ नवों रस और स्वादके छः रस, ये सभी रस (सरससे) नीरस और फीके पड़ जाते। (दीनजी)। २ नवों रस और षट्रसके स्वाद नीरस सब सीठी (सारहीन खुज्झी) हो जाते। (वीर)। ३ नव-

बहुतसे शरीर धारण करके मैंने इसका अनुभव कर लिया, (दूसरोंसे) सुना और देखा (भी) और अपने हृदयमें यह जानकर भी इससे अघाकर स्वप्नमें भी (अर्थात् कभी भी) न ऊबा (उदासीन न हुआ, ये अरुचिकर न हुए) ।२। तुलसीदास प्रभुके एकही बलपर अत्यन्त ढिठाईके वचन कहता है। (वह यह है कि) करुणाकी खानि श्रीरामने नामकी लज्जासे किसको परवाना नहीं दिया ? ।३।

टिप्पणी—१ 'जौं पै मोहि राम लागते मीठे। ''''' ' इति। (क) जैसे पिछले पदमें कहा कि 'जौ पै रामचरन रति होती', वैसेही इस पदमें विनय का उत्थान किया है। 'जौ पै लागते मीठे' से जनाया कि मुझे रामजी मीठे नहीं लग रहे हैं, मीठे लगनेकी पहिचान दूसरे चरणमें कहते हैं कि नवरस आदि सब उसे फीके लगते हैं जिसको श्रीराम प्रिय लगते हैं। ध्वनि यह है कि मुझे नवरस आदि सब मीठे लग रहे हैं, अतः यह निश्चय है कि मुझे रामरूपी रस मीठा नहीं लग रहा है।

१ (ख) 'केकावलि' में मयूरकविजी अपने उपास्यदेवके वकील बनकर

रस षट्रस सब रस बेरस और फीके हो जाते। (भ०)। ४ नवरस षट्रस जो सरस माननेसे मीठे लगते हैं वे नीरस मानकर सीठे अर्थात् कड़वे हो जाते। (वै०)। ५ अथवा, "नौरस एवं छः रस जो अभी अनरस के रसके समान स्वादिष्ट एवं रस भरे जान पड़ते हैं, ये सब नीरस हो जाते।" (श्री०श०)। ये लिखते हैं कि "एक फल अनरस संज्ञक होता है, उसमें कुछ खटाई लिये हुए बहुत रस होता है, वह ठंढा होता है, इससे गर्मीके दिनोंमें विशेषकर कलकत्तामें बहुत बिकता है। नाम तो उसका 'अनरस' है पर जो उसके साथ अनरस करता है (काटता, चीरता एवं असनिया करता है, उसे वह अधिक रस देता है।" ६—नवरस, षट् रस आदि और इनसे अतिरिक्त (जो भी) रस और अनरस हैं वे सब मीठे हो जाते। (पं०रामकुमारजी)। ☞ हमने इसी अर्थको उत्तम समझा और इसीको ग्रहण किया। श्रीरामजी प्रिय लगते हैं, तो स्वादपने और निस्स्वादपनेका भी भान नहीं रह जाता। 'रस' से अन्य सभी विषय-रसों का ग्रहण किया गया है। ७ ये नवरस जो प्राकृत मनुष्य संबन्धी हैं और छःरस जो भगवत्-निवेदन बिना हैं, उनमें रस मान रहा है, सो सब रसरहित होकर सीठे हो जाते। अर्थात् मन एक है, जो विषयमें अनुराग हुआ, तो परमेश्वरसे प्रीति कौन करे ? (दु०, भ० स०)।

उनकी ओरसे कहते हैं—" भवन्मातिसं आवडे जरिधनादिकां लागिने, मदीयगुण-कीर्तन-श्रवण कां तरी त्यागिते ॥५१ ।" अर्थात् 'यदि तुझे मेरी चाह होती तो बुद्धि मेरे गुणोंके कीर्तन और श्रवणसे विमुख होकर धन आदि विषयोंमे क्यों निरत रहती ?', तात्पर्य कि तुझे विषय अबतक प्यारे लगते है। जबतक वे प्यारे लगेंगे तबतक मै कड़वा ही लगूंगा । —और गोस्वामीजी कहते है कि जो मुझे श्रीरामजी मीठे लगते, तो नवरस, षट्रस तथा सभी विषयरस और अनरस सब नीरस हो जाते, फीके लगते । इसमे विचारणभूमिकासे विनय की गई है। दोनोंने विषयवासनाओंके प्रभावसे छुटकारा पानेके लिये अपने-अपने ढंगसे प्रार्थना की है।

१ (ग) इस अन्तरामें पद १२७ के 'मैं जानी हरिपद रति नाही । सपनेहुं नहि बिराग मन माही । जे रघुबीरचरन अनुरागे। तिन्ह सब भोग रोग सम त्यागे । काम भुअंग डसत जब जाही । विषय नीव कटु लगत न ताही ।' से भावसाम्य है। 'जौपै मोहि राम लागते मीठे' में 'मैं जानी हरिपद रति नाही' और 'जे रघुबीर चरन अनुरागे' के भाव हैं। 'तौ नवरस'' सीठे' मे 'सपनेहु नहिं बिराग मन माही' और 'तिन्ह सब भोग रोग सम त्यागे।'' का भाव है। अर्थात् श्रीराम प्रिय लगते तो संपूर्ण विषयोंसे वैराग्य हो जाता, सब भोग-विषय नीरस जान पड़ते, उनका सर्वथा त्याग हो जाता। विषय कड़वे लगते । -१२७ (१-३) की टिप्पणियाँ देखिए ।

२ 'बंचक विषय विविध...' इति। (क) विषयासक्त मन जन्म-मरणका कारण है, विषयानुराग ही भवमें डालता है । विषयके कारणही दारुण विपत्ति सहनी पड़ती हैं-'विषयबारि मन मीन''' । ताते सहिय विपति अति दारुन जनमत जोनि अनेक।'—१०२ (३ क-ख-ग) मे देखिए । ये अपने भोगोंमे सुख दिखाकर उसके आत्मस्वरूपको भुलवाकर जीवको चौरासी भ्रमण कराते है। यही विषयोंका जीवको ठगना है। ठग धन आदि चुरा लेते हैं, विषय जीवके आत्मस्वरूप, ज्ञान, वैराग्य, भक्ति-भजन आदिको ठग लेते हैं ।

२ (ख) 'अनुभये सुने अरु डीठे०' इति । प्रत्येक शरीरमे इस बातका अनुभव किया, शास्त्रों पुराणोंमे सुना भी कि विषय जीवको ठगकर उसे भवमे डालते है और साक्षात् देखा भी कि कितनोंको इन्होंने ठगा है, विपत्तिमे डाला है और मुझे भी दुःख दे रहे है। यह सब जानता भी हूँ । फिर-

भी इनसे उकताता नहीं। यथा 'जदपि विषयसँग सहे दुसह दुख विषम जाल अरुझान्यो। तदपि न तजत मूढ़ ममता बस जानतहूँ नहिं जान्यो।' ==(२ क-ग), 'देखत विपति विषय न तजत हौं ताते अधिक अयान्यो। ९२ (२ ग) देखिए।

भीष्मपितामहजी ने युधिष्ठिरजीसे कहा है कि इन्द्रियोंके विषयोंका पार पाना बहुत कठिन है। जो प्राणी उनमें आसक्त होते हैं, वे दुःखभोगते रहते हैं। —'दुरन्तेष्विन्द्रियार्थेषु सक्ताः सीदन्ति जन्तवः।' (म०भा० शां०२१५।१) मनुजीका भी वाक्य है 'प्रसृतैरिन्द्रियैर्दुःखी तैरेव नियतैः सुखी। तस्मादिन्द्रियरूपेभ्यो यच्छेदात्मानमात्मना॥' अर्थात् विषयोंकी ओर इन्द्रियोंके फैले रहनेसे ही मनुष्य दुखी होता है और उन्हींको संयममें रखनेसे सुखी हो जाता है; इस लिये इन्द्रियोंके विषयोंसे बुद्धिके द्वारा अपने मनको रोकना चाहिए।

[वैजनाथजीका मत है कि "सत्संगादि कारण पाकर आत्मरूपका आनंद तदाकार हो आता है, इति अनुभवसे जान लेता हूँ। जीवकी जो विषय-चाह है, यह पुराणोंसे सुना। और देहके जो आचरण अनेक कर्म हैं, उन्हे सद्मान् देखता हूँ।"]

२ (ग) 'न अघाइ उबीठे' का भाव (क) (ख) में आगया। इससे जनाया कि मुझसमान मंदबुद्धि विषयलोलुप नीच भी कोई नहीं है।

३ 'प्रभु सो एकहि बल...' इति। जो ऐसा नीच और मंदबुद्धि है कि जानबूझकरभी विषयलोलुप है, प्रभुमें प्रेम नहीं करता, उसको प्रभुसे विनयका अधिकारही क्या? वह तो संसारयोग्य ही है। यथा 'जदपि मम अवगुन अपार संसार जोग्य रघुराया।११८।' उसपर कहते हैं कि मुझे एक बल है, जिससे विषयी होनेपरभी आपसे धृष्टतापूर्वक विनय करता हूँ। वह बल यह है कि "आप करुणाकर हैं, आपको अपने नामकी लज्जा है, कैसा भी कोई पामर क्यों न हो यदि उसने नामकी ओट ली तो आपने उसे भव-बंधनसे छुटकारेका परवाना दे दिया।" —बस इसी बलपर मैंभी आपकी करुणा और भवसे छुटकारा चाहता हूँ। यथा 'तुलसिदास निज गुन विचारि करुनानिधान करु दाया।११८।', 'कीजै कृपा दास तुलसीपर नाथ नाम के नाते।१६८।', 'सो धौं को जो नाम लज्जा ते नहि राख्यो रघुबीर। कारुनीक बिनु कारन ही हरि हरी सकल भवपीर।' १४४ (१ क-ख), १६८ (५) देखिए। ये सब भाव यहां भी हैं।

दीनजी--इस पदमे दो साधन 'विषय-त्याग' और 'रामनामपर विश्वास' बताए हैं।

वियोगीजी—'नामकी लाज'—'यदि पतितपावन नाम रखकर, पापियों-का उद्धार न किया, तो नाम मुफ्तमें ही बदनाम हो जायगा। इस लिये जैसे-तैसे, अपनी बात रखने के लिये, पापियोंका उद्धार करनाही पडेगा। भला, निम्नलिखित भक्तोंका टेढ़ा-मेढ़ा वचन कैसे गवारा हो सकता था—'एहो मुरारि पुकारि कहौं अब, मेरी हँसी नहि, तेरी हँसी है।'

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

१७० (१०७)

यों मन कबहुँ[1] तो तुम्हहिं न लाग्यो।
ज्यों छलु छाँड़ि सुभायं[2] निरंतर रहत बिषय अनुराग्यो ॥१॥
ज्यों चितई परनारि सुने पातक प्रपंच घर-घर के।
त्यों न साधुसुरसरितरंगन बिमल[3] गुनगन रघुबर के ॥२॥
ज्यों नासा सुगंध रस-बस रसना[4] षटरस रति मानी।
रामप्रसाद माल जूठनि लगि त्यों न ललकि ललचानी ॥३॥
चंदन-चंद[5] बदनि भूषनपट[6] ज्यों चहै[7] पाँवरु परस्यो।
त्यों रघुपति-पद-पदुम परस कों तनु पातकी न तरस्यो ॥४॥
ज्यों सब भाँति कुदेव कुठाकुर सेये[8] बपु बचन हिये हूँ।
त्यों न राम सुकृतज्ञ जे सकुचत सकृत प्रनाम किये हूँ ॥५॥

१ कबहुँ तो–६६, रा०, ह०, भ०। कबहूँ–भा०, वे०, ७४, प्र०, ज०, आ०। २ सुभायं–६६, रा०, ह०, भ०। सुभाव–भा०, वे०, ह०, ५१, आ०। ३ तरंगन बिमल गुन गन–६६, रा०, भ०। तरंगनि विमल गुननि–भा०। तरंगनि गाये गुन–वे०। (सुरसरी) तरंगन गाए न गुन–प्र०। तरंग निर्मल गुन-गन- ह०, ७४, ५१, आ०। छुन्नीसिंहजीका मत है कि 'सुरसरी' से पद बैठ जाता है। ४–६६ में 'रस' छूट गया है। ५ चंद–६६, रा०, ७४, भ०। चंद्र– भा०, वे०, प्र०, ह०, ५१। ६ पट भूषन–भा०, वे०। ७ चहै–६६, रा०, ह०, ज०, ५१। चह–भा०, वे०, ७४, आ०। ८ सेइ–भा०, वे०, प्र० सेयेउँ–७४ ('बपु' नहीं है)।

चंचल चरन लोभ लगि लोलुप द्वार द्वार जग बागे ।
राममीय आश्रमनि चलत सपने न भये श्रमित अभागे ।।६।।
सकल अंग पद विमुख नाथ मुख नाम की ओट लई है ।
है तुलसिहि परतीति एक प्रभु-मूरति कृपा मई है ।।७।।

शब्दार्थ—सुभायँ=स्वाभाविक ही; स्वभावसे ही। अनुराग्यो=अनुरक्त; आसक्त; प्रेममे फँसा। चितई—इस शब्दमें दृष्टि डालना, घूरना, ताकना के साथ चिन्तवन करनेका भी भाव है। चितवना=ताकना; आसक्तिपूर्वक देखना। यहाँ कामभावसे देखनेका भाव है। प्रपंच=झगड़ा-टंटा-बखेड़ा, यथा 'मोहि न बहुत प्रपंच सुहाहीं ।२।३३।३'; सांसारिक माया-जालके व्यवहार। विमल=निर्मल; विशद। प्रसाद=वह वस्तु जो भगवान् या देवताको निवेदित की या चढ़ाई जा चुकी है।=भगवानका भोग लगा हुआ पदार्थ। माल=माला। जूठन=खानेके बाद जो बचे; उच्छिष्ट (अवशिष्ट) भोजन।=भगवान को भोग लगा हुआ प्रसाद। ललकि=ललककर=लालच और उत्कट इच्छाके साथ। चंद्रवदनि=चन्द्रमुखी=सुन्दर स्त्री। पाँवर (पामर)=नीच। परस्यो=स्पर्श करनेको; छूना। तरसना=लालायित वा उत्कंठित होना; किसी वस्तुके अभावमें उसके लिये इच्छुक और आकुल होना। कुदेव=भूत-प्रेत-राक्षस-जिन-दैत्य कुत्सित (नीच वा बुरे) देवता। बपु=शरीर। हिये=हृदयसे। सुकृतज्ञ=अत्यन्त कृतज्ञ (उपकार वा एहसान माननेवाले)। सकृत=एक बार। बागना=चलना, फिरना। विमुख=उदासीन, मुँह फेरे हुए।

पद्यार्थ—(मेरा) मन कभीभी तो आपमें इस प्रकार न लगा, जैसे छल छोड़कर स्वाभाविक ही सदैव विषयोंमें अनुरक्त रहता है।१। जैसे परस्त्रीको घूरा और घर-घरके पाप और प्रपंच सुने, वैसेही (प्रेम और उत्कण्ठापूर्वक) न तो साधु और सुरसरिके तरंगोंको देखा और न श्रीराघव के विशद गुणगणोंको सुना।२। जिस प्रकार नाक सुगंध-रसके वश है और जिह्वाने षट्रस (के भोजनके स्वाद) में प्रेम मान रक्खा है, वैसेही (यह नाक) श्रीरामजीकी पुष्पमालाप्रसाद (की सुगंधरस) और (रसना) श्रीरामजीको भोग लगेहुए भोजन-प्रसादके लिये ललककर नहीं ललचाई।३।

६ सपने न भये--६६, रा०, भा०. वे०, छु०, भ०, प्र०, ज०। स्यों भये न--ह०, वै०, मु०, दीन, वि०। त्यो भयेउ न--७४।

जैसे (यह) नीच (शरीर) चंदन, चन्द्रमुखी सुन्दर स्त्री, भूषण और वस्त्रका स्पर्श करनेकी चाह रखता है, वैसेही यह पापी शरीर श्रीरघुनाथजी के पदकमलों के स्पर्शके लिये इच्छुक और आकुल नहीं हुआ।४। जैसे तन, वचन और मनसे भी कुत्सित देवताओं और बुरे-बुरे स्वामियोंकी सब प्रकारसे सेवा की, वैसेही (मन-तन-वचनसे सब प्रकार) कृतज्ञोंमे उत्तम श्रीरामचन्द्रजीकी सेवा नहीं की कि जो एक बारके ही प्रणाम करनेसे सकुचा जाते हैं।५। जैसे चंचल चरण लोभ (तृष्णा या दूसरेकी वस्तु लेनेकी कामना) के कारण परम उत्सुक होकर ललचाये हुए संसारमे द्वार-द्वार फिरे, वैसेही ये अभागे चरण श्रीसीतारामजीके आश्रमोंमें (विचरनेके लिये परम उत्सुक होकर) कभी स्वप्नमे भी चलकर न थके।६। हे नाथ! (मेरे शरीरके) समस्त अंग आपके चरणोंसे विमुख हैं। (केवल) मुखने (आपके) नामका अवलंब लिया है। तुलसीदासका एकमात्र विश्वास है कि प्रभुकी मूर्ति कृपामई है। अर्थात् आप मूर्तिमान कृपा ही हैं। मुझ-परभी अवश्य परिपूर्ण कृपा करेंगे।७।

नोट—१ "इस पदमें शरीरके सारे अंगोंकी निरर्थकता और सार्थकता का दिग्दर्शन कराया गया है। एकही वस्तु असार और सारमय हो सकती है। अन्तर केवल उसकी उपयोगितामें है। इसी प्रकार जगत् यदि 'हरि-मय' है, तो वह सत्य है, आनन्दरूप है, श्रेयस्कर है, और यदि वह 'हरि-शून्य' है, तो मिथ्या है, दुःखरूप है, अनिष्टकर है। आत्माके अनुकूल प्रत्येक वस्तु सुखरूप है, उसके प्रतिकूल वह दुःखरूप है। यह ध्रुव सिद्धान्त है।" (वियोगीजी)।

२ इस पदमें भक्तकी करनी (रहनि-सहनि) और श्रीरामकी कृपालु-तापर विश्वास, ये दो साधन वतलाए है। (दीनजो)

३— "इस पदमे यह वतलाया है कि विषयोंमे मन वचन देहके कर्मोंका अनुराग जन्म-जन्मान्तरके अभ्यासद्वारा स्वाभाविक हो गया है। इसके छूटनेका और कोई उपाय नहीं है, किन्तु यही उपाय है कि भगवान्के कृपामयी स्वरूपको यथार्थ जानकर उसीके प्रेमानन्दमे क्रमशः अभ्यासद्वारा ध्यानको दृढ़ करना" । (सू० शुक्लजी)

टिप्पणी—१ 'यो मन कबहुं तो तुम्हहिं ' इति। (क) भगवान्मे यह मन कैसे लगना चाहिए यह इस अन्तरामे बताते है। 'यों' (इस प्रकार)

कहकर फिर दूसरे चरणमें 'वह प्रकार' कहा है। यहाँ तीन प्रकार कहे—'छल छोड़कर', 'स्वाभाविक' और 'निरंतर' प्रभुमें अनुरक्त रहे। छल छोड़ना चाहिए, क्योंकि यह प्रभुको नहीं भाता। यथा 'मोहि कपट छल छिद्र न भावा ।५।४४।', 'नहि कोउ प्रिय मोहि दास सम कपटप्रीति बहि जाउ गी० ।५।४५।' अनुराग वैसा होना चाहिए जैसे मीनका जलमें, चकोरका चन्द्रमें, चातकका स्वाति-बुंदमें। यह जन्मस्वभाव का अनुराग है। जन्मसे जो स्वभाव होता है वही सहज स्वभाव है, वह छूटता नहीं। 'निरंतर' अर्थात सदा एकरस बना रहे। जो क्षणमें चढ़े और क्षणमें उतरे वास्तवमें वह अनुराग नहीं है। 'अनुराग्यो' का भावकि प्रीतिरंगमें मन रँग जाय।

१ (ख) 'ज्यों छल छाँड़ि ... विषय अनुराग्यो' इति। मन इन तीनों प्रकारोंसे विषयकी प्रीतिमें रँग गया है। यथा 'जेहि सुभायं विषयन्हि लग्यो, तेहि सहज नाथ सों नेहु छाड़ि छलु करिहैं। २६८।,' 'निसिदिन भ्रमत ... जहँ तहँ इंद्रिन्ह तान्यो ।८८।', विषयवारि मन मीन भिन्न नहिं होत कबहुँ पल एक। १०२।' जन्म जन्मान्तरका अभ्यासही स्वभाव हो जाता है बच्चा पैदा होतेही माताके स्तनमें लगता है, यह पूर्वाभ्यासका स्वभाव है; वैसेही शब्दादि विषयोंमें, माता-पिता-देह-गेह आदिमें पूर्वाभ्यास से ही बिना सिखाये प्रेम करने लगता है। यथा 'देह गेह सुत बित कलत्र महँ मगन होत बिनु जतन किये जस। २०४।'—यही 'सुभायं' अनुराग है। —यहाँ 'उदाहरण अलंकार' है।

१ (ग) इस पदके अंतमें 'सकल अंग पदविमुख' कहा है। प्रारंभसे उन अंगोंको एक-एक करके कहा है और उनकी विमुखताभी साथ-साथ कही है। प्रथम मनकी विमुखता कही कि यह विषयोंमें लिप्त होकर भवका कारण हो रहा है। मनही विषयोंमें लगकर प्रथम मलिन होता है, तत्पश्चात् इन्द्रियाँ मलिन होती है; क्योंकि सभी इन्द्रियाँ मनके वशमें है मन किसीके वशमें नहीं है। यथा 'मनोवशेऽन्ये ह्यभवन स्म देवा मनश्च नान्यस्य वशं समेति। भा० ११।२३।४८।' इसीसे मनको प्रथम कहा। यही मन यदि प्रभुको अपना विषय बना ले, तो मोक्षका कारण हो जाय। सांसारिक विषयोंसे बिमुख होनेसे यह मोक्षकारक होता है—'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः। बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं स्मृतम्। ब्रह्मबिन्दूपनिषत् । २।' चाहिए तो यह थाकि विषयोंमें न लगकर यह प्रभुमें लगता, परन्तु यह प्रभुको छोड़ कर विषयोंमें लग रहा है। यथा

'जे सुख संपति सरग नरक संतत सँग लागी। हरि परिहरि, सोइ जतन करत मन मोर अभागी। ११०।'—यही मनकी विमुखता है।

२ 'ज्यों चितई परनारि ....' इति। (क) इसमें नेत्र और श्रवण इन दो अंगोंकी विमुखता कही है। नेत्रोंकी सार्थकता है साधु-संत, भगवत और भागवतके दर्शनमें; नहीं तो वे व्यर्थ हैं, मोर-पंखके नेत्रके समान देखने भरके हैं यथा 'नयनन्हि संतदरस नहिं देखा। लोचन मोरपंख कर लेखा। १। ११३। ३', 'बर्हायिते ते नयने नराणां लिङ्गानि विष्णोर्न निरीक्षतो ये। भा० २।४। २२।' इसी प्रकार कान भगवच्चरित-गुणके सुननेके लिये मिले हैं, नहीं तो सर्पके बिलके समान हैं। यथा 'कहिबे कहँ रसना रची, सुनिबे कहँ किय कान। दो० २५०।', 'जिन्ह हरिकथा सुनी नहिं काना। श्रवनरंध्र अहि भवन समाना। १।११३।२।' हमारे नेत्रोंने 'साधु सुरसरि तरंग' का दर्शन न करके परस्त्रियोंको काम भावनासे घूरा और कानोंने श्रीरघुनाथजीके गुणोंको न सुनकर दूसरोंके घरोंके पाप और प्रपंच सुने। अर्थात् कानोंको परनिंदा श्रवण प्रिय है। यथा 'अंजनकेसमसिखा जुवती, तहँ लोचन सलभ पठावौं॥ श्रवनन्हिको फल कथा तुम्हारी यह समुझौं समुझावौं। तिन्ह श्रवनन्हि परदोष निरंतर सुनि-सुनि भरि-भरि तावौं। १४२।'—यह इनकी विमुखता है।

२ (ख) 'ज्यों न साधु सुरसरि तरंगन ....' इति। पूर्वार्धमें जो क्रम दर्शन और श्रवणका है, उसी क्रमसे यथासंख्यालंकारसे उत्तरार्धमें दर्शन और श्रवण कहते हैं। साधु और सुरसरि दोनोंका दर्शन पावन करनेवाला है। यथा 'संतदरस जिमि पातक टरई। ३।१६।६।', 'देखत दुख दोष दुरित दाह दारिद दरनि।२०।' भगवान्‌के निर्मल गुणोंका श्रवण साधुसमाजमें मिलता है, यथा 'रामभक्ति जहँ सुरसरिधारा। .. हरि-हर-कथा विराजति बेनी। सुनत सकल मुदमंगलदेनी। १।२।', 'जहँ सतसंग भगति माधवकी सपनेहु करत न फेरो। १४३।'; अतः साधुदर्शनकी बात कहकर तब 'न बिमल गुनगन रघुबरके' इसे कहा। गुणगणका न सुनना कानोंकी विमुखता है। [अर्थ किसी-किसीने यह किया है—'गंगाजीकी निर्मल लहरोंके समान श्रीरघुनाथजीके गुणोंको सुना'। परन्तु १६६६ के पाठके अनुसार हमने जो अर्थ किया है, वह उस पाठके अनुकूल है।]

पूर्व मनको उपदेश किया है कि 'देखु रामसेवक, सुनु कीरति ।८४।', पर इसने नहीं माना, इसीसे अब प्रभुसे इस पदमें उसकी विमुखता कही।

३ 'ज्यों नासा सुगंधरस बस ' इति। (क) नाक और रसना दो अगोंकी विमुखता इसमें कही है। नाककी सार्थकता है भगवान्‌के तुलसी पुष्प माला आदि प्रसादकी गंध लेनेमें; नहीं तो वह मनुष्य मुर्देके तुल्य है। यथा 'श्रीविष्णुपद्या मनुजस्तुलस्याः श्वसञ्छवो यस्तु न वेद गन्धम्। भा० २।३।२३।' देखिए श्रीअम्बरीषजी अपनी नासिका और रसनासे क्या काम लेते थे। 'घ्राणं च तत्पादसरोजसौरभे श्रीमत्तुलस्या रसनां तदर्पिते। भा० ९।४।१९।' अर्थात् राजा नाकको भगवान्‌के चरणारविन्दोंसे सम्बंधित तुलसीकी सुगंधि लेनेमें, जिह्वाको भगवान्‌को अर्पण किये हुए उनके प्रसाद-वाले पदार्थमें लगाये रहते थे।

इसी प्रकार श्री उद्धव आदिने भगवान्‌के भोगे हुए चंदन, माला, वस्त्र और अलंकारोंको प्रसादरूपसे ही सदा धारण किया और जूठन खाया है। उद्धवजी ने कहा है कि ऐसा करनेसे हम सब अवश्य मायापार हो जायँगे। यथा 'त्वयोपभुक्तस्रग्गन्धवासोऽलंकारचर्चिताः। उच्छिष्ट भोजिनो दासास्तव मायां जयेमहि। भा० ११।६।४६।' महर्षि वाल्मीकिजीने श्रीरामजीके चौदह निवास-स्थानोंमें इसेभी एक स्थान बताया है, अर्थात् नासा और रसनाकी सार्थकता इसीमें है। यथा 'प्रभुप्रसाद सुचि सुभग सुबासा। सादर जासु लहइ नित नासा। तुम्हहिं निवेदित भोजन करहीं।२।१२९।१-२।' परंतु मेरी नाक श्रीरामप्रसाद--मालाके सुगंधको नहीं लेती और न रसना कभी श्रीरामजीको भोग लगे हुए भोजनके पदार्थोंके लिये ललचाती है। अतः नाक और रसना दोनों हरिपदविमुख है।

३ (ख) नासा अनर्पित सुगंधका रसास्वादन करती है और रसना अनर्पित षट्रसोंका रसास्वादन करती है। ['सुगंधरस' के अर्थ ये किये गये हैं—'सुगंधितपूर्ण रस' (दीन); 'सुगंधके आनंद' (वीर); 'सुगंधके रस' (वै०, त्रि०)] 'सुगंधरस' का प्रयोग ऐसा ही है जैसे 'प्रेमरस', 'संकोच रस' इत्यादिका। यथा 'भेटत भुज भरि भाइ भरत सो। रामप्रेमरसु कहि न परत सो।२।३१७।४।', 'सो सकोच रसु अकथ सुबानी। समउ सनेहु सुमिरि सकुचानी।२।३१८।३' जैसे शृङ्गार आदि रसहैं, वैसे ही 'प्रेम' और 'संकोच' तथा 'सुगंध' को रस कहकर जनाया कि उसमें रस (स्वाद) मिल रहा है। रसमें स्वाद होता है।

☞ स्मरण रहे कि जिह्वाके वशीभूत होकर स्वादका लोभी दुर्बुद्धि मनुष्य वैसे ही मारा जाता है जैसे मछली स्वादके लालचमें काँटेमें (लगे

हुए मांसके टुकड़ेके लोभसे) बिंधकर अपने प्राण गँवा देती है। —'जिह्वयातिप्रमाथिन्या जनो रसविमोहितः। मृत्युमृच्छत्यसद्बुद्धिर्मीनस्तु बडिशैर्यथा ॥ भा० ११।८।१९।'—इससे शिक्षा यह ग्रहण की गई कि विरक्तको रसका लोभ छोड़कर औषधरूपमें केवल जीवन धारणके लिये अन्न खाना चाहिये। इसी तरह प्रसादको प्रसादभावसे ही पाना चाहिए।

४ 'चंदन चंदवदनि भूषन पट···' इति। (क) इसमें तन अर्थात् त्वक् इन्द्रियकी विमुखता कही गई है। इसमें हाथ और शिर अंगभी आ गए। क्योंकि इन्हीके द्वारा श्रीरघुनाथजीके चरणकमलोंका स्पर्श किया जाता है। हाथ, शिर और शरीर इन्हींमें चन्दन, आभूषण और वस्त्र धारण किये जाते और इन्हीसे चन्द्रवदनीका आलिंगन होता है। (ख) उत्तरार्धमें केवल रघुपति-पद-स्पर्शकी बात कही है। इसके अनुसार मेरी समझमें 'चन्द्रमुखी युवती और उसके चंदन (जो उसके शरीरपर लगा है), वस्त्र और आभूषणोंका स्पर्श' यह अर्थ विशेष उत्तम होगा। परन्तु प्राय सभी टीकाकारोंने सबको भिन्न-भिन्न मानकर अर्थ किया है।

४ (ग) तनकी सार्थकता श्रीरामजीके प्रसादरूप चन्दन, आभूषण, वस्त्र, चरणरज इत्यादि धारण और पदपूजा, पदस्पर्श करनेमें ही है। यथा 'प्रभुप्रसाद पट भूषन धरहीं', 'कर नित करहिं रामपदपूजा' (१।१२६)। नहीं तो अलंकारभूषित हाथ, मुकुटादि भूषित शिर मृतकके हाथों और शिरके समान हैं। यथा 'शावौ करौ नो कुरुतः सपर्यां, हरेर्लसत्काञ्चनकङ्कणौ वा।', 'जीवञ्छवो भागवताङ्घ्रिरेणुं, न जातु मर्त्योऽभिलभेत यस्तु।', 'भारः परं पट्टकिरीटजुष्टमप्युत्तमाङ्गं न नमेन्मुकुन्दम्।' (भा० २।३।२१, २३, २१)। मेरा शरीर (कर, शिर, तन) श्रीरामपद पंकजको स्पर्श भी करनेकी इच्छा कभी नहीं करता तब चरणोंपर शिर रखना और रजको शिरोधार करनेकी तो बातही क्या?—यह विमुखता है। तब करता क्या है? चन्द्रवदनीके चन्दन, वस्त्र और आभूषणके स्पर्शकी चाह किया करता है। पट, भूषणके स्पर्शके बहाने उसके शरीरका स्पर्श करनेमें प्रीति करता है। यह नीचता और पाप है। यथा 'परद्रोही परदाररत-परधन-परअपवाद। ते नर पाँवर पापमय देह धरे मनुजाद ।७।३९।' इसीसे 'तनु' को पाँवर और पातकी कहा। यदि पापी शरीर श्रीरघुपतिपदका स्पर्श करता, उनके पदरजको शिरपर धारण करता तो पाप नष्ट हो जाते और वह भवपार हो जाता, यथा 'परसि जासु पदपंकज धूरी। तरी अहल्या कृत अघ-भूरी।१।२२३।४।' सो यह करना तो दूर रहा, कभी ऐसा करनेके लिये उत्कंठित भी न हुआ।

☞ स्मरण रहे कि स्त्री, स्वर्णाभूषण और वस्त्रमें उपभोगबुद्धिसे आसक्त पुरुष विवेकदृष्टि खोकर पतिंगेकी भाँति नष्ट हो जाता है। १४२ (२ घ) देखिए। दत्तात्रेयजी कहते हैं कि भिक्षुको काठ (लकड़ी) की भी बनी हुई स्त्री को भी, हाथसे तो क्या पैरसे भी, स्पर्श न करना चाहिए। पुरुष स्त्रीके संगसे वैसेही बंधनमें पड़जाता है और दूसरोंके द्वारा मारा जाता है, जैसे हाथी हथिनीके संगसे दूसरे हाथियोंद्वारा मारा जाता है।—'पदापि युवतीं भिक्षुर्न स्पृशेद्दारवीमपि। स्पृशन्करीव बध्यते करिण्या अङ्गसङ्गतः॥ नाधिगच्छेत्स्त्रियं प्राज्ञः कर्हिचिन्मृत्युमात्मनः। बलाधिकैः स हन्यते गजैरन्यैर्गजो यथा॥ भा० ११।८।१३-१४।'

इससे जनाया कि मैं महानुभावोंके उपदेशपर न चलकर अपनेको नष्ट करनेमें ही लग रहा हूँ।

५ 'ज्यों सब भाँति कुदेव कुठाकुर ...' इति। (क) यहाँ मानसिक, वाचिक, कायिक तीनों प्रकारकी कर्मोंकी विमुखता कहते हैं। 'कुदेव' से भूत प्रेतादि अभिप्रेत हैं। यथा "तुलसी परिहरि हरि-हरहि पाँवर पूजहि भूत। अंत फजीहत होहिंगे गनिका के से पूत। दो० ६५।', 'जे परिहरि हरि-हर-चरन भजहिं भूतगन घोर। तेहिकी गति मोहि देहु विधि ...।२।१६७।' [बैजनाथजी लिखते हैं कि "मारण, मोहन, उच्चाटन, आकर्षण और वशीकरण आदि षट् प्रयोगादिकी चाहसे कुष्माण्ड, यक्ष, वैनायक और मसानी आदि कुदेवोंकी सेवा करते हैं।"] कुठाकुरमें राजा, रईस (धनी), दनुज, नाग, नर आदि जो भगवद्भक्त नहीं है, जो दानी, सुशील, सुहृद, दयावान, आदि नहीं है—ये सब आ गए। (बैजनाथजीके मतानुसार 'कुमार्गी राजा आदि' कुठाकुर हैं)। आगे पद २३५ में 'जे जड़ जीव कुटिल कायर खल केवल कलिमल साने' की प्रशंसा करना कहा है। 'कुठाकुर' के अन्तर्गत ही ये सब भी हैं।

५ (ख) 'सेये वपु बचन हिये हूँ' इति। तन (कर्म)-मन-वचन तीनों-से सेवा यह कि तनसे षोडशोपचारपूजा की, हृदयमें उनका ध्यान किया और वचनमें उनके मन्त्र जपे, स्तोत्र आदिका पाठ किया—यह तो कुदेवोंकी सब प्रकारकी सेवा हुई। और कुस्वामियोंकी तनमें सेवा यह कि शरीरसे जो सेवा वे चाहते वह करता, मनसे उनका भला मनाया और वचनसे उनकी खुशामद और प्रशंसा की। (बै०)।

५ (ग) 'त्यों न राम सुकृतज्ञ ...' इति। इससे जनाया कि कुदेव कुठाकुरको श्रीरामजीसे अधिक मानते रहे। यथा 'प्राननाथ रघुनाथ स्वामि

तजि सेवत चरन बिराते ॥ जे जड़ जीव कुटिल कायर खल केवल कलिमल साने । सूखत बदन प्रशंसत तिन्ह कहुँ हरि ते अधिक करि माने ।२३५।' श्रीरामजी सुकृतज्ञ है । अर्थात् जितनेभी कृतज्ञ है उन सबोंमे ये शिरोमणि है । कृतज्ञ अर्थात् उपकारज्ञ हैं, किये हुए उपकारको अच्छी तरह जानते और मानते हैं । कृतज्ञता कैसी मानते हैं, यह 'जे सकुचत सकृत प्रनाम किये हूँ' से दिखाया । एक बारके ही प्रणामसे वे संकोचमे पड़ जाते हैं कि इसे क्या दूँ । तात्पर्य कि एक बारके प्रणामको भी वे उपकार मान लेते है और उतनेसे ही प्रसन्न हो जाते है । यथा "कथञ्चिदुपकारेण कृतेनैकेन तुष्यति । वाल्मी० २।१।११।' श्रीशुकदेवजीने श्रीरामजीको सुकृतज्ञोंमे भी शिरोमणि कहकर उपदेश किया है कि देवता, असुर, वानर और मनुष्य सभीको नररूपहरि श्रीरामका भजन करना चाहिए कि जो संपूर्ण कोशल-वासियोंको अपने साथ निजधामको ले गए ।—'सुरोऽसुरो वाप्यथ वानरो नरः, सर्वात्मना यः सुकृतज्ञमुत्तमम्। भजेत रामं मनुजाकृतिं हरिं, य उत्तराननयत्कोसलान्दिवमिति । भा० ५ । १६ । ८।' —'त्यों न राम ' मे तात्पर्य यह है कि श्रीरामजीकी सेवामे किंचित भी कष्ट नहीं, मन-तन-वचन तीनोंसे न भी सही, किसीभी प्रकार प्रणाम करने मात्रसे ही वे संतुष्ट हो जाते हैं, सो यह भी मैंने न किया, मन-तन-वचनसे सेवा करनेकी बात ही क्या ? —'सकुचत सकृत प्रनाम सो' १५७ (३ क-ख); 'सकृत प्रनाम प्रनत जस बरनत' १०० (६) देखिए । प्रणाममात्रसे सकुचा जाते है और यदि मन-तन-वचनसे सेवा कोई करे तब तो ऋणी बन जाते है-ऐसे सुकृतज्ञ हैं । यथा 'कियो सुसेवक धरम कापि प्रभु कृतज्ञ जिय जानि । जोरि हाथ ठाढ़े भए बरदायक बरदानि । दो० ११२ ।

वियोगीजी —"गोसाईंजीने भूतोंके माननेवालोंको यत्र तत्र फटकार बतलाई है । उनका यह विश्वास था कि छोटी-छोटी कामनाओंकी पूर्तिके लिएही लोग प्रायः भूतोंको माना करते हैं और फिर उनकी प्रकृति कुछ ऐसा रंग पकड़ लेती है, कि उनका विश्वास परमेश्वरपर से सदाके लिये उठ जाता है । कुछ दिनों बाद वह नास्तिक हो जाते है ।"

६ 'चंचल चरन लोभ लगि'''' इति । (क) अब 'चरण' अंगकी विमुखता कहते है । चरणोंकी सार्थकता भगवानके आश्रमों, तीर्थों आदि भगवत्संबंधी क्षेत्रोंमे पैरोंसे चलकर जानेमे है, नहीं तो वे पैर वृक्षके समान हैं, निरर्थक हैं । यथा 'पादौ नृणां तौ द्रुमजन्मभाजौ, क्षेत्राणि नानुव्रजतो

हरेर्या- भा० २।३.२२।' (वे पैर वृक्षके समान है जो भगवान्‌के क्षेत्रोंमें नहीं जाते); पर मेरे चरण तीर्थोंमें न गए, प्रत्युत तृष्णावश द्वार-द्वार फिरे। यथा 'द्वार-द्वार दीनता कही काढ़ि रद परि पाहूँ।२७५।', 'कहा न कियो कहाँ न गयो सीस काहि न नायो। ...हा-हा करि दीनता कही द्वार-द्वार बार बार ...। नाथ हाथ कछु नहि लग्यो लालच ललचायो। साँच कहौं नाच कौन सो जो न मोहिं लोभ लघु निलज नचायो। २७६।', 'लोलुप भ्रमत गृहप ज्यों जहँ-तहँ सिर पदत्रान बजै। ८६।'

६ (ख) 'रामसीय-आश्रमनि ...' इति। श्रीसीतारामजीके अनन्य उपासक होनेसे 'रामसीय आश्रमनि' मे जानेकी बात कही। अथवा, सब अवतार श्रीरामजीके है, भगवान्‌के सब विग्रहोंमे अभेद मानकर 'रामसीय' से भगवान्‌के सभी तीर्थ जना दिये। 'रामसीय-आश्रम' अर्थात् श्रीअयोध्या, श्रीमिथिला, श्रीचित्रकूट, पंचवटी आदि।

६ (ग) 'चलत सपने न भये श्रमित...' इति। इससे जनाया कि द्वार-द्वार लोभवश फिरनेमे श्रमभी हुआ, शरीरमे बल न रहगया, फिरभी द्वार-द्वार घूमनेमें थका नहीं मानता। यथा 'नाचतही निसि दिवस मर्यो। ...बहु वासना विविध कंचुक भूषन लोभादि भर्यो। ...देव दनुज मुनि नाग मनुज नहि जाँचत कोउ उबर्यो। ...थके नयन पद पानि सुमति बल...।६१।', 'सुख हित कोटि उपाय निरंतर करत न पाँय पिराने।२३५।' और श्रीसीतारामजीके आश्रमोंमे स्वप्नमें भी कभी चलकर न गया।—यह चरणोंकी रामविमुखता है। 'श्रमित न हुए' कहनेका भाव कि श्रीसीता-रामजीके तीर्थोंमे चलते-चलते कभी कहते कि थक गए, तो वह थकनाभी सार्थक होता, बड़ा भाग्य माना जाता। ऐसा कभी न हुआ, इसीसे इन्हें 'अभागे' कहा।

६ (घ) नासिका प्रभुके सुगंध प्रसादका वास ले, रसना प्रभुका प्रसाद भोजन करे, शरीर प्रसादी पट भूषण धारण करे, शिर सुर-गुरु आदिको प्रणाम करे, कर पद-पूजा करे और चरण श्रीसीतारामजीके तीर्थोंमें जायँ, जिन्ह भाग्यशालियोंको ऐसा सौभाग्य प्राप्त है, उनके मन श्रीरामजीके निवासस्थान होते हैं। यह श्रीवाल्मीकिजीका सिद्धान्त है। यथा 'प्रभुप्रसाद सुचि सुभग सुबासा।' कर नित करहि रामपद पूजा। चरन रामतीरथ चलि जाहीं। राम बसहु तिन्ह के मन माहीं।२।१२६।'—ऊपरके अन्तरा ३, ४, ५, ६ मे इन सब अङ्गोकी विमुखता दिखाकर आगे इसी बातको 'सकल अंग पद-विमुख' से कहा।

६ (ङ) 'चितई परनारि' मे रूप, 'सुने पातक' मे शब्द, 'नासा सुगंध' मे गंध, 'षट्रस रति' मे रस और 'चहै पॉवरु परस्यो' मे स्पर्श—इस प्रकार शब्दादि पॉचों दूषित विषयोंमे रत होना कहकर जनाया कि भवकूपमें पड़नेका पूरा साज सजा है। यथा 'पॉचइँ पॉच परस रस सब्द गंध अरु रूप। इन्ह कर कहा न कीजिए बहुरि परब भवकूप।२०३।'

७ 'सकल अंग पदविमुख' इति। भाव कि पदविमुख सभी अंग तो अवश्य हैं. फिर भी मैं निराश नहीं हूँ। एक बल है जो पिछले पदमें कह आये है कि 'नामकी लाज राम करुनाकर केहि न दिये करि चीठे।' वही अवलंब अपना यहाँ भी दिखाते है कि मन, वचन, कर्म सभी दूषित है, इन्द्रियॉ सभी अपने-अपने विषयोंमे आसक्त है सही, तो भी मुखसे रामनाम रटता हूँ। इतने मात्रसे मुझे विश्वास है कि मै भवपार हो जाऊंगा। विश्वासका कारण उत्तरार्धमे कहते है कि 'प्रभु-मूरति कृपामई है'। अर्थात आप मूर्तिमान् कृपा ही है नामकी ओट लेनेवालेके खोटे आचरणोंपर दृष्टि न डालकर तुरंत उसको भवपार कर देते है। यथा 'कैसेउ पावर पातकी जेहि लई नामकी ओट। गॉठी बॉँध्यो राम सो, परख्यो न फेरि खर खोट।१६१।'

[श्री० श०—'देहभरका मुखिया मुख और उसके साथ-साथ सभी इन्द्रियोंका पोषण करनेवाली पुरुषिनि रसना—इन्होंने आपके नामकी ओट ले ली है। इससे मुझे विश्वास हो गया है कि आपको अपने नामकी बडी लज्जा है। और फिर आपकी मूर्ति कृपामयी है। कृपादृष्टिसे आप मेरे दोषोंको भूल जायँगे।']

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

१७१ (१०८)

कीजे मो कों जग[1] जातनामई।

राम[2] तुम्ह से सुचि सुहद साहिबहिं मैं सठ पीठि दई ॥१॥

गरभवास दस मास पालि पितुमातुरूप हित कीन्हों।

जडहि बिबेक सुसील खलहिं अपराधिहिं आदरु दीन्हों ॥२॥

१ जग--६६, रा०, भा०, बे०, प्र०, ज०, डु०, वै०, भ०। जम--ह०, ५१, १५, ७४, दीन, वि०, मु०। २ 'तुम्ह तो राम सदा सुचि साहिब'' '—७४।

कपट करौं[3] अंतरजामिहुँ सौं[4] अघ ब्यापकहिं दुरावौं ।
ऐसे[5] कुमति कुसेवक पर रघुपति न कियो मन बावौं ॥३॥
उदरु भरौं किंकरु कहाइ[6] बेंच्यो बिषयन्ह[7] हाथ हियो है ।
मोहि[8] से बंचक कौं कृपाल छल छाड़ि कै[9] छोह कियो है ॥४॥
पल पल के उपकार रावरे जानि बूझि सुनि नीकें ।
भिद्यो[10] न कुलिसहु तें कठोरु चित कबहुँ प्रेम सिय-पी कें ॥५॥
स्वामी की सेवकहितता सब कछु निज साइँदोहाई ।
मैं मति-तुला तौलि देखी[11] भइ मेरिहिं[12] दिसि गरुआई ॥६॥
एतेहु पर हित करत नाथ मेरो[13] करि आयो[14] अरु करिहै ।
तुलसी अपनी ओर जानियत प्रभुहि कनोडोइ[15] भरिहै[16] ॥७॥

शब्दार्थ—यातना=दंडकी वह पीड़ा जो यमलोकमें भोगना पड़ती है। =बहुत अधिक कष्ट। यातनामई=पीड़ाका रूप; जिसमें पीड़ाके सिवा कुछ हो ही नहीं। जग-यतनामई=संसारमें जो बारंबार जन्म-मरण होनेसे दुःख होना है, उससे युक्त। =संसारमे दुःखमय अर्थात् दुःखमें सना हुआ। =संसारके दुःखोंसे परिपूर्ण। (डु०)। =संसारी-दुःखरूप। (सू० शु०)। =संसारकी यातनामें लिप्त। (भ०)। 'यातना' का अर्थ 'नरक' भी है, यथा 'उदर उदधि अधगो जातना। ६।१५।८।' (इसमें मल-मूत्रवाली इन्द्रियोंको नरक कहा है)। 'तीव्र वेदना' साधारण अर्थ है; यथा

३ करहुँ-भा०। करौं-६६, रा०। करौ-ह०, आ०। ४ ते-भा०, वे०, प्र०, १५। सौं-औरोंमे। ५ ऐसेहु-डु०, वै०, ७४, दीन, वि०। ऐसे--६६, रा०। ऐसे-औरोंमे। ६ कहि--७४। ७ बिषयनि-भा०, वे०, आ० (—भ०)। ८ मो-७४, ज०, ५१, आ० (—भ०)। मोहि-औरोंमे। ९ के--ह०, १५, मु०, ७४। १० भेदहु-ज०। भिदेउ-७४, भ०। भिद्यो-५१, मु०। ११ देखेउँ-७४। १२ मेरी-ह०, १५। १३ मम--७४। १४ आयो--६६, रा०। आये--७४, भा०, वे०, प्र०, ह०, १५, ज०, मु०। १५ कनोडोइ-६६, रा०, ५१, डु०, वै०, भ०। कनौड़ो-ह०, मु०, ७४, दीन, वि०। कनौड़े--भा०, वे०, १५, प्र०, ज०। १६ भरिहै-६६, रा०। भरिहै-प्रायः औरोंमे।

'यातना तीव्र वेदना इत्यमरः।' पीठ देना = विमुख होना; (किसीकी तरफ-से) मुँह फेर लेना। यथा 'दई पीठि विनु डीठि हौं तू बिस्वविलोचन।१४६।' सुसील = सुन्दर शील वा स्वभाव। बावों (बाम = टेढ़ा) = प्रतिकूल। बंचक = ठग। भिदना = घुसना; घायल होना; छेदा जाना; छेदकर भीतर धस जाना। साइँ दोहाई = स्वामिद्रोहता; स्वामीके प्रतिकूल आचरण, नमकहरामी। यहाँ 'सेवकहितता' के साहचर्यसे यही अर्थ होगा; 'स्वामीकी सौगंद' अर्थ यहाँ ठीक नहीं है। और भी इसका प्रयोग हुआ है। यथा 'सकुचत समुझत आपनी सब साईंदोहाई।१४८।', 'बड़ो साईंद्रोही न बराबरी मेरी को कोउ नाथकी सपथ किये कहत करोरि हौं।२५८।' तुला = तराजू। तौलना = किसी पदार्थके गुरुत्वका परिमाण जाननेके लिये उसे तराजूपर रखना; जोखना; वज़न करना। गरुआई = भारीपन। छल छाड़ि कै = निष्कपट भावसे। = कुछभी कोर-कसर या कमी न रखकर; परिपूर्ण। भरिहैं = भरेंगे अर्थात् निबाहेंगे, कुछ कसर न रक्खेंगे।

पद्यार्थ—हे श्रीरामजी! मुझे संसारयातनामय एवं संसारमें यातनामय बना दीजिए;(क्योंकि) आप-जैसे पवित्र हितैषी मित्र स्वामीसे (भी) मैं शठ विमुख हुआ।१। गर्भमें रहनेके समय दस मास पालकर (और फिर जन्म लेनेपर भी आपने) पिता-माता-रूपसे मेरा हित किया‡; मुझ जड़को विवेक, मुझ खलको सुन्दर शील स्वभाव और मुझ अपराधीको आदर दिया।२। हृदयकी सब जाननेवाले आपसे मैं कपट करता हूँ, और सर्वव्यापक आपसे पापोंको छिपाता हूँ—ऐसे मुझ दुर्बुद्धि निकम्मे सेवकपर (भी), रघुपति! आपने अपना मन प्रतिकूल न किया।३। आपका दास कहलाकर पेट भरता हूँ और हृदयको विषयोंके हाथ बेच दिया है—मुझ ऐसे ठगपर (भी), कृपाल! आपने निस्स्वार्थ पूर्ण कृपा की है।४। आपके पल-पलके उपकारोंको भली भाँति जानकर, समझ-विचारकर और सुनकर (भी) वज्रसे भी अधिक कठोर मेरा चित्त कभी श्रीसीतापतिके प्रेमसे भिदा नहीं।५। स्वामीकी सब सेवक-उपकारिता (अर्थात् सेवकके साथ जो उनका हितैषी-भाव, सुहृदता रही और जो उपकार उन्होंने किये उन सबों) को और अपनी स्वामिद्रोहताके किंचित् भागको मैंने बुद्धिरूपी तराजूमें (एक-एक पलड़ेमे अलग-अलग रखकर) तौलकर देखा, तो मेरीही ओर भारीपन निकला

‡ गर्भमें आपने मातापिताके समान दस मासतक मेरा पालन पोषण कर हित किया। (वि०, पो०)।

(अर्थात् स्वामिद्रोहताका पल्ला भारी निकला, झुक गया) ।६। इतनेपरभी, नाथ ! आप मेरा भला करते हैं, (पूर्व भूतकालमें) करते आये हैं और (आगे भविष्यमें भी) करेंगे। 'तुलसी' अपनी ओरसे (तो यही) जानता है कि प्रभुही (अपनी ओरसे) कनौड़ापन भरेंगे अर्थात् अपने कनौड़ेपनके भावमें किंचित् कोर-कसर न रक्खेंगे, कनौड़ेपनका पालन करेंगे अर्थात् कनौड़े होंगे । ॐ ।७।

नोट—१ इस पदमें स्वामीके उपकार और अपनी विमुखताको देखकर अपनेको धिक्कारते हैं, अपनी दशाको स्मरणकर परम ग्लानियुक्त विनय करते हैं। [अपने अपराधी मनपर क्रोध करके प्रभुसे प्रार्थना करते हैं— 'कीजै'' '। (वै०)]

टिप्पणी—१ 'कीजै मोकों जग जातनामई ।' 'इति। (क) संसार-यातनामय कर दीजिए। अर्थात् बारंबार संसारमें अनेक योनियोंमें जन्मने मरने आदिके जो कष्ट होते हैं वे सब मुझे भोग कराइए, मैं इसीके योग्य हूँ। संसारपीड़ामय बना दीजिए। दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि मुझको नरकमय बना दीजिए। विमुखोंका जीवन नरकमय होता ही है। यथा 'ते नर नरकरूप जीवत जग भवभंजनपदविमुख अभागी ।१४०।' यह दण्ड क्यों दिया जाय ? किस अपराधका यह दंड है ? यह आगे स्वयं कहते हैं। (ख) 'तुम्हसे सुचि सुहृद साहिबहिं''' इति । श्रीरामजीको यहाँ 'शुचि' स्वामी कहकर जनाया कि वे उपकार करते समय प्रत्युपकारकी आकांक्षा नहीं रखते एवं वे बिना तारतम्यके भक्तिमात्रसे प्रसन्न हो जाते हैं। सुहृद हैं अर्थात् सहज सखा स्नेही मित्र हैं। 'शुचि सुहृद' हैं अर्थात् सच्चे स्नेही हैं, प्रेममात्रसे उपकार मानकर एहसानसे दब जाते हैं। अंतमें 'प्रभुहि कनौड़ाइ भरिहैं' जो कहा है, उसीके अनुसार यह भाव भी है। यथा 'एक सनेही साँचिलो केवल कोसलपाल । प्रेमकनोड़ो राम सो नहिं दूसरो दयालु ।१९१।' ☞ स्मरण रहे कि भगवान् सबके सुहृद हैं, हम विश्वास नहीं करते, इसीसे हमें उनकी सुहृदता नहीं सूझती। भगवान्ने गीतामें स्वयं कहा है— 'सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ।५।२९।' अर्थात् जो मुझे सब प्राणियोंका सुहृद जान लेता है वह शान्तिको प्राप्त होता है। अभिप्राय यह है कि सुहृदोंकी सेवामें लोगोंकी सहजही प्रवृत्ति होती है, अतः यह जानकर

ॐइस कनोड़े (एहसानसे दबेहुए) सेवकका स्वामीही पालन करेंगे । (दीन, वि०, भ०)

कि भगवान् सबके सुहृद हैं, उनकी आराधनामे मुझे भी सुखपूर्वक प्रवृत्त होना चाहिए था, सो न करके मै विमुख रहा। 'तुम्हसे' की व्याख्या आगे-के कई चरणोंमे करते हैं।

२ 'गरभवास दस मास ' इति। (क) कैसे शुचि सुहृद है, यह दिखाते हैं। जीव जब गर्भमे आता है तो जरायुके बंधनमे पड़े हुए उसे परम सीमा-का कष्ट होता है, जिसका वर्णन पूर्व 'आगे अनेक समूह-संसृति उदरगति जान्यो सोऊ। सिर हेठ ऊपर चरन, संकट बात नहिं पूछै कोऊ। .....' इत्यादिमे किया गया है। १३६ (३ ख-घ) देखिए। जहाँ कोईभी पूछने-वाला नहीं, उस असह्य कष्टकी दशामेभी प्रभुने साथ न छोड़ा, वहाँभी पालन किया और पूर्वके अनेक जन्मोंका ज्ञान कराया। यथा 'बहु बिधि प्रति-पालन प्रभु कीन्हो। परम कृपाल ज्ञान तोहि दीन्हो। १३६ (४)।'—यही पवित्र सुहृदता है।

२ (ख) 'पितु मातुरूप हित कीन्हो' इति। यहाँ जीवका अज्ञान दूर करते है। उसे समझ लेना चाहिए कि लालन पालन करनेवाले प्रभुही हैं, माता-पिताके रूपमें जो उसका पालन कर रहे है, प्रभुकी प्रेरणासे वे पालन कर रहे है। 'पितु-मातुरूप' का अर्थ 'पिता माताके समान' भी किया गया है।—दीनजी, वि०, पो० आदिने यह अर्थ किया है।

२ (ग) 'जडहि विवेक ' इति। (क) बाल्य अवस्था जड़ होती है, उसमे ज्ञान नहीं होता। यथा 'समुझी नहि तसि बालपन तब अति रहेउँ अचेत।१।३०।' युवा अवस्थामे खलता सूझती है, यथा 'जौवन जुवति संग रँग रात्यो। तब तूं महामोह मद मात्यो। ताते तजी है धर्ममरजादा। १३६ (७)।' वृद्धा अवस्था अपराधी अवस्था है; कौमार, बाल्य और युवामे जो पाप किये उनसे लदा है और फिरभी तृष्णातरंग बढ़ाताहै। यथा 'ऐसिहु दसा न बिराग तहँ तृष्ना तरंग बढ़ावई। १३६ (८)।'—इस तरह भाव यह हुआ कि मैं विवेकरहित था, सो मुझे किशोरावस्था आतेही सद-सद्विवेक दिया, खलतावाली युवावस्थामे मुझे सुन्दर शील स्वभाव दिया और अपराधी वृद्धावस्थामें मुझे आदर दिया। वृद्धावस्था निरादरका पात्र होती है, यथा 'गृहपालहूं ते अति निरादर खान पान न पावई।१३६ (८)।' सो उस बुढ़ापेमे मुझे आदर दिया।—(यह भाव ड़ु०, वै० और भा० स० के अनुसार लिखा गया)। साधारण अर्थ यही है कि मुझ जड़को विवेक, खलको सु-शील और अपराधीको आदर दिया। शील—१०० (२ ख), (३ ख) देखिए।

३ 'कपट करौं अंतरजामिहु ते ···' इति। (क) जो हृदयमे अन्तर्यामी-रूपसे बैठा सब मनोविकारोंका साक्षी है, घट-घटकी सब देखता और जानता है उससे कपट करना, हृदयकी करनीको छिपाना चाहना कैसी मूर्खता है; सो मैं करता हूँ। जो घट-घटमे, चराचरमात्रमे व्याप्त है, उससे पाप कर्मोंको छिपाना कैसी मूढ़ता है, 'नाना वेष बनाइ दिवस निसि पर वित जेहि तेहि जुगुति हरौं', 'भक्ति विराग ज्ञान साधन कहि बहुविधि डहँकत लोग फिरौं' इत्यादि पाप करता हूँ और समझता हूँ कि कोई देखता थोड़े ही है, पापोंको दूसरोंसे छिपाता हूँ यह नहीं सोचता कि उनमे तो प्रभु बैठे हैं, मैं जो कुछ करता हूं वे उसे देखते हैं। यथा 'मन क्रम वचन लाइ कीन्हें अघ ते करि जतन दुरावौं ।१४२।', 'किये सहित सनेह जे अघ हृदय राखे चोरि ।१५८।', 'स्वामी सर्वज्ञ सों चलै न चोरी चार की ।७१।', 'यच्च किञ्चि-ज्जगत्सर्वं दृश्यते श्रूयतेऽपि वा ॥१॥ अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः।···' (नारायणोपनिषत्), 'ज्ञानहु गिरा के स्वामी बाहेर-अंतर-जामी, इहां क्यों दुरैगी बात मुख की औ हिय की ।२६३।' [भाव यह है कि शरणागतका वेष बनाए हुए फिरता हूँ और मनको विषयोंमें लगाये हूँ। (वै०)]

३ (ख) 'ऐसे कुमति कुसेवक पर ···' इति। अन्तर्यामी सर्वव्यापकसे कपट करना, पापोंको छिपाना मूर्खता है, बुद्धिहीनता है। इसीसे 'कुमति' और 'कुसेवक' कहा। सेवकको तो चाहिए कि अपने दोष स्वामीसे कहदे, न कि छिपावे; ऐसे दुर्बुद्धि कुत्सित सेवकपर भी प्रभु प्रतिकूल न हुए। तात्पर्य कि अन्तर्यामीसे कपट करनेवालेका भला नहीं होता। यथा 'बचन बिचार, अचार तन, मन, करतब छल छूति। तुलसी क्यों सुख पाइऔ अंतरजामिहि धूति। दो० ४११।' परन्तु कपट करनेपर भी आप प्रतिकूल [illegible] सनेह तरफसे आपका मन फिरा नहीं।—आप ऐसे 'शुचि सुहृद' [illegible] ।१६१।' 'रहति न प्रभु चित चूक किये की। १।२६।५।' पूर्व अपनेको [illegible] इसी आये हैं, यथा 'कूर कुसेवक कहत हौं सेवककी नाई ।१५०।'

४ 'उदरु भरौं किंकरु ···' इति। (क) श्रीरामजीका किंकर कहलाता हूँ, यथा 'भलो पोच रामको कहैं मोहि सब नर नारी ।१५०।' सेवक कहलाता हूँ और इस बहाने पेट भरता हूँ। यथा 'नाम की ओट लै पेट भरत हौं पै कहावत चेरो ।२७२।', 'शिव सर्वस सुखधाम नाम तव बेंचि नरकप्रद उदर भरौं ।१४१।', 'पेट-प्रियपूत हित रामनामु लेतु है। क० २७२।' [भाव यह कि 'वेष और बातचीतसे आपका सेवक कहलाता हूँ और अनेक कलाओ-

द्वारा लोगोंको रिझाकर धन लेकर खाता-पीता पेट भरता हूँ। अर्थात् कायिक वाचिक (कर्म और वचनसे) छली हूँ। विषयोंके हाथ हृदयको बेच दिया है; अर्थात् मन श्रवण-इन्द्रिय-द्वारा शब्द-विषयके हाथ बिका, नासिका-इन्द्रियद्वारा सुगंध-विषयके, रसनेन्द्रियद्वारा षट्रसोंके, नेत्रेन्द्रिय-द्वारा रूपके और त्वचाद्वारा स्पर्श-विषयके हाथ बिका। इस प्रकार मन इन्द्रियोंद्वारा विषयोंमे सदा आसक्त रहता है। मनका विषयोंके हाथ बेचना कहकर जनाया कि मैं मनसे भी छली हूँ। (वै०)]

४ (ख) 'मोहि से वंचक को कृपाल ' इति। 'छल छोड़कर' के दो अर्थ होते हैं। एक तो यह कि 'मेरे छलपर ध्यान न देकर'; दूसरे, अपनी तरफ निष्कपटभावसे, निस्स्वार्थ। स्वार्थको छल कहा गया है, यथा 'स्वारथ छल फल चारि बिहाई ।२।३०१।३।' शरणमे आनेपर भगवान फिर जीवके छल आदिपर ध्यान नही देते, उसे साधुसमान बना देते है। यथा 'काय, गिरा मन के जन के अपराध सबै छलु छाँड़ि छमैया ।क०७।५३।', 'तजि मद मोह कपट छल नाना। करउँ सद्य तेहि साधु समाना ।५।४८।३।' मनको विषयासक्त रखना, सेवक कहलाकर पेट भरना, इत्यादि जो ऊपर कह आये हैं, यह सब वंचकता ठगपना है। ऐसे ठग कुसेवकपर भी अपने कृपा-गुणसे कृपा की है। यथा 'मेरो भलो कियो राम आपनी भलाई ।७२।', 'बेचें खोटो दामु न मिलै, न राखे कामु रे। सोउ तुलसी निवाज्यो ऐसो राजा रामु रे ।७१।', 'अकारनकों हितू और को है। तुलसीसे कुसेवक संग्रह्यो सठ सब दिन साईंद्रोहै ।२३०।' —यह 'शुचि सुहृदता' दिखाई।

५ 'पल-पलके उपकार रावरे...' इति। (क) ऊपर कुछ उपकार कह-कर अब उपकारके प्रसंगको 'पल-पलके उपकार...' यह कहकर समाप्त करते हैं। भाव यह कि आपके उपकारोंको गिना नहीं सकता, वे तो संख्या-रहित हैं, सोचा जाय तो एक पल भी आपके उपकार से खाली नही है। यह जानता और समझता हूँ। यथा 'हरि तुम्ह बहुत अनुग्रह कीन्हो।... कोटिहुँ मुख कहि न जाइ प्रभु के एक एक उपकार ।१०२।' शास्त्रों पुराणो आदिमे स्वयं पढ़कर जाना, सन्तो से सुना भी।

५ (ख) 'भिद्यो न कुलिसहु तें...' इति। जान लेने से प्रतीति और प्रीति होती है। यथा 'जाने बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहि प्रीती ।७।८६।७।' इसी प्रकार श्रीरामजीकी शुचि सुहृदता आदि गुण सम-झनेसे प्रीति बढ़ती है। यथा 'समुझि समुझि गुनग्राम रामके उर अनुराग बढ़ाउ ।१००।' सुनने से भी भक्ति होती है। यथा 'तुलसी राम सनेह सील

सुनि जौं न भगति उर आई । तौ तोहि जनमि जायं जननी जड़ तनु तरुनता गँवाई ।१६४।' फिर भी श्रीसीतापतिके प्रेमसे मेरा चित्त भिधा नहीं, अर्थात् चित्तमें प्रेम चुभा नहीं, प्रवेश न किया, इसका कारण बताते हैं कि मेरा चित्त वज्रसे भी अधिक कठोर है। कठोरतामें वज्रकी उपमा दी जाया करती है, यथा 'कुलिस कठोर निठुर सोइ छाती। सुनि हरिचरित न जो हरषाती। १।११३।७', 'कहँ धनु कुलिसहु चाहि कठोरा ।१।२५८।४', 'कुलिसहु चाहि कठोर अति ।७।१६।', 'कहँ लगि कहौं हृदय कठिनाई । निदरि कुलिस जेहि लही बड़ाई ।२।७६।८।' वैसेही यहाँ चित्तमें उपकार एवं प्रेमके न भिद पानेसे उसको कुलिशसे भी अधिक कठोर कहा। उपमानसे उपमेयमें अधिक कठोरता वर्णन 'व्यतिरेक अलंकार' है।—इस चरणमें अपनी कृतघ्नता एवं कुसेवकता कही।

६ 'स्वामी की सेवकहितता सब कछु ...' इति। (क) इस अंतरामें भी अपनी स्वामिविद्रोहता एवं कृतघ्नता दिखाते हैं कि कैसी भारी है। आजतक जितने उपकार पल-पलमें आपने किये हैं वे सब मिलकर तौलमें मेरी किंचित् स्वामिद्रोहताके बराबर नहीं हो सकते। अर्थात् मैंने पल-पलमें उपकारकी अपेक्षा कई गुणा विमुखता की है। यथा 'कहिहै कौन कलुष मेरे कृत करम बचन अरु मन के। हारहिं अमित सेष सारद श्रुति गिनत एक-एक छन कै ।६६।' जब अल्पकालकी विमुखता इतनी अधिक है, तब सब विमुखताका पार कौन पा सकता है? [(ख) 'जीवकी क्षणभरकी भी भगवत्-विमुखता परमात्माकी समस्त कृपाकी अपेक्षा भारी है, उसके कर्म ऐसे पतित हैं कि वह भगवत् कृपा होनेपरभी क्षणमात्रमें नरकगामी हो सकता है।' (वै०, वि०)। (ग) यह रूपक बड़ा ही गंभीर और सच्चा है। सिवा गोसाईंजीके ऐसी सूक्तियोंके कहनेका और कौन अधिकारी है?' (वि०)]

७ 'एतेहु पर हित करत नाथ मेरो ...' इति। (क) आगे पद १७६ में भी कहा है—'राख्यो राम सुस्वामी सों नीच नेह न नातो। एते अनादरहूँ तोहि ते न हातो॥ ... कियो करैगो तोसे खल को भलो। ... तुलसी तेरी भलाई अजहूं बूझै।' एतेहु अर्थात् जितना स्वामी मेरे हितैषी हैं उससे कहीं अधिक मैं स्वामिद्रोह करता हूँ, तो भी वे मेरा भला ही करते आये हैं। ऊपर अंतरा ३ में कहा था कि 'रघुपति कियो न मन बावों' अर्थात् प्रतिकूल न हुए, किन्तु उससे यह नहीं सिद्ध होता कि हित करते हैं। उससे यह समझा जा सकता था कि उदासीन रहते होंगे। अतः यहाँ स्पष्ट किया कि हित करते आये हैं। यथा 'राम सुस्वामि कुसेवक मोसो। निज दिसि देखि दयानिधि पोसो॥

१।२८।४' सदा करते आये है, अत आगे भी करेंगे, यह 'रक्षामें विश्वास' (रक्षिष्यतीति विश्वासः शरणागति) है।

७ (ख) 'तुलसी अपनी ओर जानियत ...' इति। प्रभुही अपनी ओरसे कनौड़ा होगे, यह तुलसीदास जानता है— इस कथनका भाव यह है कि स्वामीका ऐसा स्वभाव ही है कि वे सेवकका उपकार करते हैं और (उपकार करके) आपही सकुचा भी जाते है। यथा 'राउरि रीति सुबानि बड़ाई। जगत विदित निगमागम गाई॥ कूर कुटिल खल कुमति कलंकी। नीच निसील निरीस निसंकी॥ तेउ सुनि सरन सामुहे आए। सकृत प्रनाम किहे अपनाए॥ ...निज करतूति न समुझिअ सपने। सेवक सकुच सोच उर अपने ।२.२९९।', 'राम सुकृतज्ञ जे सकुचत सकृत प्रनाम किये हूँ।' १७० (५ ग) देखिए । तात्पर्य कि यद्यपि मैं खल हूँ, कुमति हूँ, कपटी हूँ, कुसेवक हूँ, वंचक हूँ तथापि आपका ही हूँ, आपका ही नाम लेता हूँ, अतः अपने कनौड़ेपनके पालन करनेमें कसर न उठा रक्खेंगे।

सू० शुक्ल—"इस पदमें जीवका जीवत्व दिखलाके यह बताया है कि साधक अपनी साधनापर सदैव नीची दृष्टि रक्खे, क्योंकि अज्ञानसे हुए मन, वचन, देहके कर्म अज्ञानरूपही हैं। इस लिए सर्वप्रेरक परमात्मासे ऐसीही प्रार्थना करे कि भगवन्! जीव अपनी कर्तव्यतासे आपको नहीं जान सकता, किंतु (सो जानै जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहि तुम्हहि होइ जाई) सदैव आपकी कृपाका पात्र है।"

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

१७२ (१०४)

कबहुक हों एहि रहनि रहोंगो।
श्रीरघुनाथ कृपाल कृपा तें संत सुभाउ[1] गहोंगो ॥१॥
जथा लाभु संतोष सदा काहू सों कछु न चहोंगो।
परहित निरत निरंतर मन क्रम बचन नेमु निबहोंगो ॥२॥
परुष बचन अति दुसह श्रवन सुनि तेहि पावक न दहोंगो।
बिगत मान सम सीतल मन, पर गुन नहिं[2] दोष कहोंगो ॥३॥

१ सुभाउ-६६, रा०, ह०, ५१। सुभाव-भा०, वे०, ७४, ज०, १५। २ अवगुन न-मु०, भ०। औगुन-रा०। नहि दोष-प्रायः औरोंमें।

परिहरि देहजनित चिंता दुख सुख समबुद्धि सहौंगो ।
तुलसिदास प्रभु एहि पथ रहि अबिरल हरिभक्ति लहौंगो ॥४॥

शब्दार्थ—रहनि (रहन-सहन)=चालढाल; आचरण, रीति। जथा-लाभु (यथालाभ)=जो कुछ प्राप्त हो उसीपर। चहना (चाहना)=इच्छा करना; माँगना। निरत=तत्पर; लगा हुआ। निबहौंगो=निर्वाह अर्थात् पालन करूँगा; निबाहूँगा।=निबह जाऊँगा। निर्वाह=साधन और पूर्ति। क्रम=कर्म। दहना=जलना। सहना=भोग लेना। अबिरल=सघन, परिपूर्ण; सदा एकरस पूर्ण रहनेवाली; अव्यवच्छिन्न। विरल=जो सघन न हो, अल्प।

पद्यार्थ—क्या कभी मैं इस चाल-ढालसे रहूँगा ? (कभी) कृपाल श्रीरघुनाथजीकी कृपासे संतोंकासा स्वभाव ग्रहण करूँगा ? ।१। जो कुछ प्राप्त हो उसीमें सदा संतोष रहेगा, किसीसे कुछ इच्छा न करूँगा। परोपकारमें सदा तत्पर रहकर इस नियमको मन, कर्म और वचनसे निबाहूँगा ।२। † अत्यन्त असह्य (न सहनेयोग्य) कठोर वचन कानोंसे सुनकर (भी) उसकी अग्निमें न जलूँगा। मान (अर्थात् प्रतिष्ठा बड़ाईकी चाह) रहित, समताभावमें स्थित शीतल मन रहूँगा। दूसरोंके गुण-दोष (कुछ) न कहूँगा ।३। देहसे उत्पन्न अर्थात् देहसंबंधी चिन्तायें त्यागकर समान-बुद्धिसे दुःख-सुखको भोगूँगा। तुलसीदासजी कहते हैं कि, हे प्रभो ! (क्या कभी) इस मार्गमें रहकर अविरल हरिभक्ति प्राप्त कर सकूँगा ? ।४।

नोट—१ इस पदमें प्रार्थीने सप्त भूमिकाओंमें से 'मनोराज्यभूमिका' द्वारा विनय करते हुए यह दिखाया है कि सन्तोंका रहन-सहन और स्वभाव कैसा होना है तथा यह कि रामभक्तकोभी वही आचरण ग्रहण करना चाहिए, उसी रहन-सहनकी कामना होनी चाहिए।

टिप्पणी—१ 'एहि रहनि' इति। दूसरे चरणमें बताते हैं कि किस रहनिकी लालसा है—'संत सुभाउ गहौंगो'। अर्थात् 'सन्तस्वभाव ग्रहण करूँ,

३ लहि-प्र०, १५। ४ अविरल-६१। अबिचल-प्रायः औरोंमें। नोट—☞ भा०, वे०, ७४, ह०, आ० में 'हों' की जगह पद भर में 'हौं' है। रा०, ज०, ६६ में 'हो' है।

† अर्थान्तर—मन, वचन और कर्मसे यम-नियमों (अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान) का पालन करूँगा। (पो०)

उनके रहन-सहन की रीति पर चलूं', यह इच्छा है। संतस्वभाव हो जाना विना श्रीरामकृपाके असंभव है। सन्तस्वभाव तो दूर रहा, संतदर्शन, सत-संगभी रामकृपा विना नहीं होता। यथा 'जब द्रवै दीनदयाल राघव साधु-संगति पाइये। १३६ (१०)।', उनके मिलनेपर उनकी कृपासे संतगुण आते हैं। यथा 'जिन्ह के मिले सुख दुख समान अमानतादिक गुन भये। ।' अतएव प्रथमही 'श्रीरघुनाथ कृपाल कृपा ते'—ये शब्द दिये। सन्त स्वभाव कैसा होता है जिसे ये चाहते है, इसे प्रार्थी आगे स्वयं निवेदन करता है।

२ 'जथालाभु सतोष सदा ' इति। (क) श्रीदत्तात्रेयजीने भी यथालाभ-संतोषको मुनिका लक्षण बताया है। उन्होंने बताया है कि जैसे प्राणवायु केवल आहारसे संतुष्ट-रहता है, वैसेही साधकको चाहिए कि जो मिल जाय उसीमे जीवननिर्वाह कर ले इन्द्रियोंको तृप्त करनेके लिये बहुतसे विषय न चाहे। यथा 'प्राणवृत्त्यैव सन्तुष्येन्मुनिर्नैवेन्द्रियप्रियैः। भा० ११। ७। ३६।' (ख) 'सदा' दीपदेहलीन्यायसे दोनों ओर है। 'सदा यथालोभ संतोष' हो और सदा 'काहूसों कछु न चहौंगो'। यह भी 'यथा लाभ संतोष' का ही लक्षण है, संतोषसे लोभ नहीं रह जाता। यथा 'जिमि लोभहि सोषइ संतोषा। ४ १६।३।' तात्पर्य कि संतोषी और लोभ-तृष्णारहित हो जाऊँ, यह चाह है। (ग) 'परहित निरत निरंतर ' इति। परोपकार करना संतस्वभाव है, यथा 'पर उपकार बचन मन काया। संत सहज सुभाउ खगराया। ७।१२१।१४।', 'पर-काजै परमारथी, प्रीति लिए निबहंत। वै० सं० १०।', 'हेतुरहित परहित-रतसीला ।३।४६।७।' मन-कर्म-वचनसे नियमको निबाहूँगा, अर्थात् प्रीति-पूर्वक परोपकारपरायण रहूँगा, परोपकारमे उत्साह बराबर बनाये रक्खूंगा। मनसे प्रेमपूर्वक उत्साहपूर्वक, वचनसे मीठा बोलकर और तनसे प्रेमपूर्वक सेवा करना जनाया।

श्रीदत्तात्रेयजी कहते हैं—'शश्वत्परार्थसर्वेहः परार्थैकान्तसंभवः। साधुः शिक्षेत भूभृत्तो नगशिष्यः परात्मताम्। भा० ११।७।३८।' अर्थात् 'पर्वत और वृक्षकी सारी चेष्टाएँ सदासर्वदा परहितके लिये ही होती हैं, उनका जन्मही एकमात्र दूसरोंका हित करनेके लिये हुआ है। साधुको उनकी शिष्यता स्वीकारकर उनसे परोपकारकी शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए।'—अतः प्रार्थी को उसकी चाह है।

३ 'परुष बचन अति दुसह ' इति। (क) दुष्टोंके वचन ऐसे ही होते हैं, वज्रके समान कठोर होते हैं, तीक्ष्ण बाणोंके समान भेदनेवाले होते है, पर संत उन्हे सह लेते हैं। यथा 'बंदउँ खल जस सेष सरोषा।''' बचन बज्र जेहि

सदा पिआरा ।१।४।८, ११।', 'बूँद अघात सहहिं गिरि कैसें । खलके बचन संत सह जैसे ।४।१४।४' [इष्ट, गुरु और मित्र आदिकी निन्दावाले वचन कठोर और अत्यन्त असह्य होते हैं । (वै०)]'

३ (ख) 'तेहि पावक न दहोंगो' इति । भाव कि ऐसे वचनोंसे स्वाभाविक-ही क्रोध उत्पन्न हो आता है । (संत, भगवन्त आदिकी निंदा सुननेपर तो 'काटिअ तासु जीभ जो बसाई' ऐसी मर्यादा बाँधी गई है) ।' यथा 'परुष बचन सुनि काढ़ि असि बोला अति खिसिआन । ५ । ६ ।'— क्रोधको अग्निरूप कहा गया है, यह छातीको जलाता रहता है । यथा 'केहि कर हृदय क्रोध नहिं दाहा ।७।७०।८।', 'राम रोष-पावक अति घोरा । ३।२६।१७।' अतएव परुष वचनोंके सुननेपर जो क्रोध उत्पन्न होता है, उसे यहाँ 'तेहि पावक' कहा । संतस्वभाव है कि वे ऐसे कठोर अत्यन्त असह्य वचन सुनकर भी क्रोध नहीं करते । यथा 'जो कोउ कोप भरे मुख बैना । सनमुख हनै गिरा-सर-पैना ॥ तुलसी तऊ लेस रिस नाहीं । वै० सं० ४६।' क्रोध न होना ही, उसकी अग्निमें न जलना है ।

दत्तात्रेयजीने कहा है कि "संसारके सभी प्राणी अपने-अपने प्रारब्ध-के अनुसार चेष्टा कर रहे हैं, वे समय-समयपर भिन्न-भिन्न प्रकारसे जान या अनजानमें आक्रमण कर बैठते हैं। धीर पुरुषको चाहिए कि उनकी विवशता समझे, न तो अपना धीरज खोवे और न क्रोध करे ।"—'भूतैराक्रम्यमाणोऽपि धीरो दैववशानुगैः। तद् विद्वान् न चलेन्मार्गादन्वशिक्षं क्षितेव्रतम ॥' (भा० ११।७ ३७) । यह क्षमा गुण पृथिवीसे लिया है । प्रार्थीभी उस क्षमागुणका इच्छुक है ।

३ (ग) 'बिगत मान सम सीतल मन''' इति । सांसारिक लोग अपने मान (प्रतिष्ठा, बड़ाई आदि) की अग्निमें जला करते हैं, यथा 'वह नित मान-अगिनिमे जरै । वै० सं० ४१।' संत मानरहित होते हैं, यथा 'सबहि मानप्रद आपु अमानी ।७।३८।४।' मान अहंकारसे होता है और संत अहंकाररहित होते हैं । सन्तोंके संगसे लोग अमानी हो जाते हैं, (यथा 'जिन्हके मिले सुख-दुख समान अमानतादिक गुन भये ।१३६ (१०)।'), तब संतोंकी अमानताका कहनाही क्या ? 'सम'—अर्थात् संत समदृष्टि होते हैं, राग-द्वेषरहित होते हैं, उनके लिये शत्रु-मित्र, मान-अपमान आदि सब एकसे होते हैं । यथा 'समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः । गीता १२।१८।' तन 'शम' इन्द्रियदमनका भी अर्थ देता है; अर्थात् उनका मन शान्त रहता है ।

सम, शीतल तथा मानविगत होना, ये सब संतलक्षण हैं, यथा 'सम सीतल नहिं त्यागहिं नीती। सरल सुभाउ सबहि सन प्रीती।', 'दंभ मान मद करहिं न काऊ।' (३।४६), 'सम अभूतरिपु' 'सीतलता सरलता मयत्री' (७।३८)। वज्र और बाणसम कठोर वचन हृदयमें नहीं भिदने, यह शीतलताका लक्षण है, यथा 'तुलसी तऊ लेस रिस नाहीं। सो सीतल कहिए जग माहीं। वै० स० ४६।' पुनः, शीतलसे परमशान्ति सुखमें स्थित जनाया, यथा 'परम सांति सुख रहै समाई। तहँ उतपात न भेदै आई। तुलसी ऐसे सीतल संता। वै० सं० ४६-४७।'

३ (घ) 'पर गुन नहिं दोष कहौंगो' इति। गुण और दोष दोनोंको न देखना चाहिए, दोनोंका देखना दोष और न देखना गुण है; क्योंकि ये दोनों मायाकृत हैं, यथा 'सुनहु तात मायाकृत गुन अरु दोष अनेक। गुन यह उभय न देखिअहि देखिअ सो अविवेक।७।४१', 'गुणदोषदृशिर्दोषो गुणस्तूभयवर्जित। भा० ११।१६।४५।'

भगवान्‌ने उद्धवजीसे गुण-दोषपर दृष्टि न देनेका एक कारण यह भी बताया है कि "कहीं-कहीं शास्त्रविधिसे गुण दोष हो जाता है और दोष गुण। एकही वस्तुके विषयमें किसीके लिये गुण और किसीके लिये दोषका विधान, गुण और दोषोंकी पारमार्थिक सत्ताका खण्डन कर देता है। दृश्यमान विषयोंमें कहीं भी गुणोंका आरोप करनेसे उस वस्तुके प्रति आसक्ति हो जाती है। ''।—'क्वचिद्गुणोऽपि दोषः स्याद्दोषोऽपि विधिना गुणः। गुणदोषार्थनियमस्तद्भिदामेव बोधते॥' 'विषयेषु गुणाध्यासात्पुंसः संगस्ततो भवेत्।' भा० ११।२१।१६,१९।' संसार एकही प्रकृति और पुरुषका रूप है, ऐसा जानकर किसीके स्वभाव या कर्म की न तो निन्दा ही करनी चाहिए, न स्तुति। 'परस्वभावकर्माणि न प्रशंसेन्न गर्हयेत्। विश्वमेकात्मकं पश्यन्प्रकृत्या पुरुषेण च। भा० ११।२८।१।' यह तो निश्चय ही है कि जब किसीके गुण देखे जायँगे, तो अवश्य किसीके दोषोंपर भी दृष्टि जायगी। जब दोनोंपर दृष्टि डालना ही अनर्थ है, तब उनका कहना तो महान् अनर्थकारी ही होगा; कारण कि परस्वभाव या कर्मकी स्तुति या निंदा करनेसे मनुष्य अपने परमार्थपथसे भ्रष्ट होजाता है, नानात्वदृष्टिसे वह भवकूपमें पड़ता है। (यह भी भाव है कि सदा आपके चिंतनमें लग जाऊँगा जिससे परगुण-दोष-कथनका अवकाश नहीं मिले)।

४ 'परिहरि देहजनित चिंता' इति। (क) यह भी संतलक्षण है। चिन्तामुक्त दोही पुरुष होते हैं, एक तो नन्हा-सा बालक और दूसरे गुणा-

तीत परमेश्वरकी प्राप्ति जिसे हुई है वा जो गुणातीत हो गया है वह। 'द्वावेव चिन्तया मुक्तौ परमानंद आप्लुतौ। यो विमुग्धो जडो बालो यो गुणेभ्यः परं गतः। भा० ११।६।४।' बालक माता पिताके भरोसे निश्चिन्त रहते है। यथा 'सेवक सुत पति मातु भरोसे। रहइ असोच बनइ प्रभु पोसे। ४।३।४।', 'तुलसी सुखी निसोचु राज्य ज्यों बालक माय बबा के।२२५।'

☞ चिन्ता छूटनेका उपाय यह है कि प्रभुकी शरण होकर उनकी रक्षा- मे विश्वास रक्खे, सब भार उनपर छोड़ दे, सोचे कि जिसने पैदा होते ही दूध दिया वही भोजन वस्त्र भी देगा। यथा 'तुलसी चित चिता न मिटै बिनु चितामनि पहिचाने ।२३५।', 'है छरुभारु ताहि तुलसी जग जाको दासु कहैहौ ।१०४।' मैं तो अब श्रीजानकीजीवनजी का हो गया, वे ही सब सार-सँभार करेंगे मुझे अब शोच क्या?—ऐसा समझकर चिन्ता न करे। यथा 'जड़पंच मिलै जेंहि देह करी, करनी लखु धौं धरनीधरकी। जनकी कहु क्यों करिहै न सँभार, जो सार करै सचराचर की। तुलसी कहु राम समान को आन है, सेवकि जासु रमा घर की। जगमें गति जाहि जगतपतिकी, परवाह है ताहि कहा नर की। क० ७।२७', 'योऽसौ विश्वम्भरो देवः स किं दासानुपेक्षते।' (चाणक्य)।

चिन्ता संसारमे प्रायः सभी जीवोंको ग्रसे रहती है, यथा 'चिंता साँपिनि को नहि खाया।७।७१।४।' उसका त्याग कहा, क्योंकि यह भी मायाके परि- वारमेसे एक है। यथा 'यह सब माया कर परिवारा। प्रबल अमिति को बरनै पारा।७।७१।७।'

☞ स्मरण रहे कि चिन्ता केवल दुःख देनेवाली होती है। दो ही चिन्ताएँ सार्थक मानी गई हैं। एक तो वह जो धर्मके लिये की-जाती है, दूसरी वह जो योगियो और भक्तोंके हृदयमे होती है जिससे ब्रह्मका चिन्तन करते हैं। अन्य सब चिन्तायें निरर्थक है। चिन्ता रोगोंकी उत्पत्ति और नरककी प्राप्तिका कारण है तृष्णा, मोह और लोभ इन तीन दोषोंको ले आती है। (प० पु० भूमि० ३२)

४ (ख) 'दुख सुख समबुद्धि सहौंगो' इति। सभी जीवोंको जैसे बिना इच्छाके, बिना किसी प्रयत्नके, रोकनेकी चेष्टा करनेपरभी पूर्वकर्मानुसार दुःख प्राप्त होते हैं, वैसेही स्वर्ग या नरक, कहींभी रहें, उन्हे इन्द्रियसंबंधी सुखभी प्राप्त होते हैं। सुख और दुःख दोनोही आने-जानेवाले, उत्पत्ति- विनाशशील हैं, बंधनके हेतुभूत कर्मोंका नाश होनेपर ये स्वाभाविकही नष्ट हो जाते हैं। अतः धैर्यशील पुरुषोंके द्वारा सहन अर्थात् उपेक्षा करने योग्य

है। सुख-दुःखके लिये इच्छा अथवा किसी प्रकारका प्रयत्न न करे।—"सुखमैन्द्रियकं दैत्या देहयोगेन देहिनाम्। सर्वत्र लभ्यते दैवाद्यथा दुःखमयत्नतः॥ तत्प्रयासो न कर्तव्यो यत आयुर्व्ययः परम्। भा० ७।६।३-४।', 'सुखमैन्द्रियकं राजन् स्वर्गे नरक एव च। देहिनां यद्यथा दुःखं तस्मान्नेच्छेत तद्बुधः। भा० ११।८।१', 'आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत। गीता २।१४।' दत्तात्रेयजीने इसे (सुखदुःखमें समान बुद्धिको) संतका कर्तव्य कहा है। यह संतलक्षण है, यथा 'दुख तें दुख नहिं ऊपजै, सुख तें सुख नहि होइ।.... तुलसी या संसारमें कहत संतजन सोइ। वै० सं० ३०-३१।', 'सुख हरषहि जड़ दुख बिलखाहीं। दोउ सम धीर धरहिं मन माहीं।२।१५०।७।', 'प्रायशः साधवो लोके परैर्द्वन्द्वेषु योजिताः। न व्यथन्ति न हृष्यन्ति यत आत्मागुणाश्रयः। भा० १।१८।५०।' अर्थात् राजाद्वारा अपमानित होकरभी महर्षि शमीकने उनके अपराधका विचार न किया। इसीपर सूतजीने कहा है—साधु लोग दूसरोंके द्वारा सुख-दुःखादि पाकर भी प्रायः प्रसन्न या कुपित नहीं होते, क्योंकि आत्माका स्वरूप तो गुणोंसे रहित है।

४ (ग) 'तुलसिदास प्रभु एहि पथ रहि" इति। 'प्रभु' संबोधनकर जनाया कि जीवका सामर्थ्य नहीं है कि वह अपने पुरुषार्थसे संतस्वभाव ग्रहण कर सके तथा इस मार्गपर निबह सके। आप समर्थ हैं, इस पथपर निबाह दे सकते हैं। 'एहि पथ' अर्थात्—उपर्युक्त रहन-सहन संतस्वभावरूपी मार्ग,सन्तोंने अपने स्वभाव तथा रहन-सहनद्वारा जो मार्ग दिखाया है—'यथालाभ संतोष...', 'मनकर्मवचनसे परोपकारमें तत्परता', 'कठोर वचन सुनकर भी क्रोध न करना', 'मानरहित', 'सम', 'शीतल मन', किसीके गुण या दोष न कहना', 'देहजनितचिन्तारहित' तथा 'दुःख-सुखको समान जानकर सह लेना'—इनका आचरण करना इस मार्गपर रहना है।

४ (घ) 'अबिरल हरिभक्ति लहोगो' इति। यह इस पथपर चलनेका फल कहा। अविरल भक्ति सुतीक्ष्णजीके प्रसंगमें कविने मानसमें कुछ दिखाई है। यथा 'निर्भर प्रेम मगन मुनि ज्ञानी। कहि न जाइ सो दसा भवानी। दिसि अरु बिदिसि पंथ नहि सूझा। को मैं चलेउँ कहाँ नहि बूझा॥ कबहुँक फिरि पाछें पुनि जाई। कबहुक नृत्य करइ गुन गाई॥ अबिरल प्रेम भगति मुनि पाई।३।१०।' अविरल भक्ति योगीश मुनि चाहते हैं पर यह प्रभुकी कृपासे ही किसीको मिलती है। यथा 'अबिरल भगति बिसुद्ध तव श्रुति पुरान जो गाव। जेहि खोजत जोगीस मुनि प्रभु प्रसाद कोउ पाव।७।८४।'—इसीसे 'प्रभु'

संबोधन प्रस्तुत पदमे किया गया।

वियोगीजी—इस पदमे कवि अपने सच्चे मनोराज्यमे विचरण कर रहा है। यह राज्य कल्पनाके वायुमंडलसे कोसों दूर है। यहाँ सचमुच सत्यकी पताका फहरा रही है। योगी इसे समाधिगत राज्यमे प्राप्त करता है, पर भक्त भगवानके आगे आत्म समर्पण करता हुआ इस राज्यका उत्तराधिकारी सहजही बन बैठता है। मनोराज्य-संबंधी सूक्तियाँ हमारे यहांके भक्तोंने अनेक प्रकारसे कही है।

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

१७३ (११०)

नाहिन आवत और[1] भरोसो।
एहि कलिकाल सकल साधन तरु है श्रम फलनि फरो सो ॥१॥
तप तीरथ उपवास दान मख जेहि जो[2] रुचै करो सो।
पाएहिं पै[3] जानिबो करम-फलु भरि-भरि बेदु परोसो ॥२॥
आगम बिधि जप जाग करत नर सरत न काज खरो सो।
सुख सपनेहु न जोग सिधि[4] साधत[5] रोगु बियोगु धरो सो ॥३॥
काम कोह[6] मद लोभ मोह मिलि ज्ञान बिराग हरो सो।
बिगरतु मन संन्यास लेत जल नावत आम[7] घरो सो ॥४॥
बहु मत मुनि[8] बहु पंथ पुराननि जहां-तहां झगरो सो।
गुरु कह्यो रामभजनु नीको मोहि[9] लागत[10] राम[11] राज डगरो सो ॥५॥

१ और—६६, रा०, ह०, प्र०, ज०। आन—भा०, बे०, ५१, ७४, आ०। २ जो जेहि—ह०, ७४, ज०। जेहि जो—प्रायः औरोंमे। ३ पाएहि पै—६६, रा०, ज०, ७४। पायेहि पै—ह०, दी०। पाइहि पै—भा०। पाइहै पै—प्र०, बे०, १५। पायहि—मु०, वै०। ४ विधि—ह०। ५ साधत—६६, भ०। साधन—औरोंमे। ६ कोह—६६, रा०, ह०, भ०। क्रोध—भा०, बे०, ७४, ५१, ज०, आ०। ८ मुनि—६६, रा०, प्र०, भ०। सुनि—भा०, बे०, ७४, ५१, आ०। ह० में 'बहु मत बहु मुनि' पाठ है। ९—११ मोहू लागत राम—६६, रा०। मोहि लागत—भा०, बे०, ह०, ७४, भ०, दीन, वि०। लागत राम—प्र०, ज०, १५। (मोहू इनमे नहीं है)। मोहि राम—डु०, वै०, मुं०। (इनमे 'लागत' नहीं है)

☞ पृष्ठ २५७ से २६६ तक ब्रह्मदेव प्रिंटिङ्ग प्रेस, अयोध्यामें छपे।

तुलसी बिनु परतीति प्रीति फिरि फिरि पचि[१५] मरै मरो सो।
रामनाम बोहित भवसागर चाहै तरन तरो सो ॥६॥

शब्दार्थ—नाहिन = नहीं ही। जानिबो = जानोगे; जान पड़ेगा। भरि-भरि परोसो = पत्तल पर खूब भरपूर परोसा है अर्थात् कर्मोके फल खूब गाये हैं। सरना = चलना; संपादित होना; सधना; पूरा पड़ना। यथा 'प्रीति प्रतीति जहाँ जाकी तहँ ताको काज सरो २२६।' खरो सो = तिनका बराबर भी। बिगरत = बिगड़ जाता है। नावत = डालने ही। आम = कच्चा; जो पकाया नहीं गया है। घरो = घड़ा। डगर = मार्ग; रास्ता। राज डगरो = राजमार्ग; लम्बी चौड़ी सड़क जिसपर चलनेमे कोई भय नहीं होता। झगरो = झगड़ा; वादविवाद। यहां 'मतभेद' अर्थ है। जहाँ तहाँ = जहाँ देखो वहाँ अर्थात् सर्वत्र; सब जगह। यथा 'रहा एक दिन अवधि कर अति आतुर पुरलोग। जहँ तहँ सोचहिं नारि नर कृस तन रामवियोग।' तरो = तर जाय; पार हो ले।

पद्यार्थ—(मेरे हृदयमे 'रामभजन' 'रामनाम' के सिवा) दूसरा भरोसा नहीं ही आता। (क्योंकि) इस कलिकालमे जितनेभी साधनरूपी वृक्ष हैं वे सब परिश्रमरूपी फलही फले है।१। तप, तीर्थाटन, उपवास (निराहार व्रत), दान और यज्ञ जिसे जो अच्छा लगे, उसे वह करे। कर्मोके फल (तो) वेदोंने खूब भर-भरकर परोसकर रख दिया है (अर्थात् इनका विस्तारपूर्वक वर्णन किया है), पर इन कर्मोके फल पानेपरही जान पड़ेंगे।२। लोग तन्त्र शास्त्रकी विधिसे जप और यज्ञ करते हैं, पर तिनका-बराबर (जरासाभी) काम नहीं संपादित होता (अर्थात् सफलता प्राप्त नहीं होती)। योगसिद्धिका साधन करनेसे स्वप्नमेंभी सुख प्राप्त नही होता। उसके साधनेमे रोग और वियोग रक्खे हुए हैं (अर्थात् ये विघ्न वा बाधायें इसमे आती हैं)।३। काम, क्रोध, मद, लोभ और मोहने मिलकर ज्ञान और वैराग्यको हर लिया। और, सन्यास लेते ही मन (वैसेही) बिगड़ जाता है, जैसे जल डालतेही कच्चा (मिट्टीका) घड़ा (नष्ट हो जाता है)।४। मुनियोंके अनेक मत है (अर्थात् भिन्न-भिन्न मुनियोके भिन्न-भिन्न मत हैं)। पुराणोमे बहुतसे पंथ (बताये गये) है। जहां देखिए तहाँ झगड़ा ही सा है। गुरुजीने कहा कि श्रीरामजीका भजन (सबसे) अच्छा है। मुझे भी वह राम-राजमार्ग और भला लगता है।५। तुलसीदासजी कहते है कि बिना विश्वास और प्रीतिके जो भटक-भटककर मारे-मारे फिरकर पच मरना चाहे वह मरे। भवसागरके तरनेके लिये रामनाम जहाज है, जो पार होना चाहे वह (इसपर चढ़कर) पार हो ले।६।

---

१२ फिरि पचि पचि—६९, १५। फिरि फिरि पचि—प्रायः औरोमे।

टिप्पणी—१ 'नाहिन आवत आन भरोसो। ...' इति। (क) 'आन' (अन्य) भरोसा, अन्य साधन कौन हैं जिनका भरोसा हृदयमें नहीं आता, यह आगे स्वयं कहते हैं और अन्तमें यहभी बताया है कि किस भरोसेके अतिरिक्त अन्य भरोसा नहीं आता। वह है 'रामनाम' रूपी 'रामभजन'। क्यों अन्य साधनोंकी ओर मन नहीं जाता, इसका कारण दूसरे चरणमें कहते हैं।—'एहि कलिकाल' ...। भरोसा नहीं ही आता, अर्थात विश्वास नहीं होता कि उनसे भवसागर पार हो सके।

१ (ख) 'एहिं कलिकाल सकल ...' इति। भाव कि इस समय कलियुगका-राज्य है; उसने सब धर्मोंको ग्रास कर लिया है। यथा 'कलिमल ग्रसे धर्म सब।७।९७' सत्ययुग, त्रेता या द्वापर युग होता तो उसमें अन्य साधन योग, यज्ञ, जप तप आदिसे भवतरण हो जाता; क्योंकि उन युगोंमें धर्म उपस्थित था। [अशुभ मुहूर्त्तमें प्रारम्भ किया हुआ शुभकार्य भी सिद्ध नहीं होता और कलि-युग तो समस्त अशुभोंका राजा है, तब इसमें कोईभी शुभ साधन कैसे सिद्ध हो सकते हैं? (वै०)]

१ (ग) 'साधन तरु हैं श्रम फलनि ...' इति। साधनको वृक्षकी उपमा दी। वृक्ष फल फलते हैं। रामनामके अतिरिक्त जितनेभी साधनतरु हैं; उनमेंभी फल चाहिए। वे 'श्रम'-फल देते हैं। अर्थात् उन साधनोंके करनेसे उनके अनुरूप कोईभी सिद्धि प्राप्त नहीं होती, कोरा परिश्रम ही हाथ लगता है। यथा 'श्रेयः स्रुतिं भक्तिमुदस्य ते विभो क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये। तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते नान्यद्यथा स्थूलतुषावघातिनाम्। भा० १०।१४।४।' (अर्थात् 'भग-वन्! सब प्रकारके कल्याणोंकी मूलस्रोत (उद्गम स्थान) आपकी भक्तिको छोड़कर जो केवल ज्ञानकी प्राप्तिके लिये श्रम उठाते और दुःख भोगते हैं, उनको बस, क्लेशही क्लेश हाथ लगता है जैसे थोथी भूसी कूटनेवालेको केवल श्रमही मिलता है, चावल नहीं।'—यह वाक्य ज्ञान-साधनके सम्बन्धमें है, इसी प्रकार अन्य साधनोंके सम्बन्धमें भी यह लागू है)। —सारांश कि अन्य साधन व्यर्थ हैं; आगेभी कहा है—'करम धरम श्रम-फल रघुबर बिनु, राख को सो होम ऊसर को सो बरिसो।२६४।'

२ 'तप तीरथ उपवास ...' इति। (क) 'जेहिं जो रुचै करौ सो' अर्थात मेरा तो इनमें विश्वास होता नहीं, अतः मैं ये साधन करनेका नहीं; हाँ, मैं किसीको रोकता नहीं, जिसको जो अच्छा लगे, उसे वह करे। यदि कहा जाय कि वेदोंने तो इन्हे करनेको कहा है तो उसपर कहते हैं—'पाएहिं पै ...' (ख) पाएहिं पै जानिबो ...' इति। भाव कि वेदोंने तो भरपूर परोसकर रख दिया है। 'परोसो' यह उपमा भोजन

से लीगई है। भोजन खानेके लिये परोसा जाता है, वैसेही वेदोने कर्मोके फल खूब भरपूर परस दिये हैं कि लो इनको भोग लगाओ। अर्थात् प्रत्येक शुभकर्म के सुन्दर रुचिकर लुभानेवाले फलोका बहुत विस्तारसे वर्णन किया है। यथा 'वेद विदित साधन सबै सुनियत दायक फल चारि १६२।' जिसे देखकर जी ललचा उठता है, जैसे उत्तम भोजनके पदार्थ देखकर खानेको मन चाहता है। सभी शुभ कर्मोको अर्थ-धर्म-काम-मोक्षका देनेवाला बताया है सही, पर करोगे तब पता चलेगा कि क्या फल मिला। सारांश यह कि आपातरमणीय, केवल पहले सुन्दर और सुखकर दीखनेवाली वाणीमे न भुला जाओ, कलिकालमे ये कोई विघ्नरहित बिधिपूर्वक सधनेवाले नहीं है। यथा 'जप तप तीरथ जोग समाधी। कलि मति बिकल न कुछ निरुपाधी। करतहुँ सुकृत न पाप सिराहीं। १२८ (२-३) देखिए।

नोट—१ इस सम्बंधमे श्रीमद्भागवत और महाभारत आदि मे भी वाक्य मिलते हैं।—'विप्रो राजन्यवैश्यौ च हरेः प्राप्ताः पदान्तिकम्। श्रौतेन जन्मनाथापि मुह्यन्त्याम्नायवादिनः॥ कर्मण्यकोविदाः स्तब्धा मूर्खाः पण्डितमानिनः। वदन्ति चाटुकान् मूढा यया माध्व्या गिरोत्सुकाः। भा-११।५।५-६।' 'कामात्मकाश्छन्दसि कर्मयोगा एभिर्विमुक्तः परमश्नुवीत। नानाविधे कर्मपथे सुखार्थी नरः प्रवृत्तो न परं प्रयाति॥ ' एभिर्विमुक्तः परमाविवेश एतत् कृते कर्मविधिः प्रवृत्तः। कामात्मकाश्छन्दति कर्मयोग एभिर्विमुक्तः परमाददीतः।' (म० भा० शान्ति २०१।१२-१३)।—अर्थात् बहुतेरे ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य वेदाध्ययन तथा यज्ञोपवीत आदि संस्कारोके कारण श्रीहरिचरणोंके सामीप्यका अधिकार पाकर भी (अर्थात् उनके निकटतक प्रायः पहुँचकरभी, वेदोंका वास्तविक तात्पर्य न समझकर) वैदिक अर्थवाद (युक्त कर्मकाण्ड) मे मोहित हो जाते हैं (ऊपर-ऊपरकी बातोमे लगकर अपने असली स्वार्थ—परमार्थसे वंचित रह जाते हैं)। वे कर्मका रहस्य नहीं जानते; मूर्ख होनेपरभी अपनेको पंडित मानते हैं और अभिमानमे अकड़े रहते है। वे वेदके श्रवणरोचक मीठी-मीठी फलश्रुतिमे मोहित होजाते है और केवल वस्तुशून्य शब्दमाधुरीके मोहमे पड़कर चटकीली भड़कीली बातें कहा करते हैं (जैसे कि हम यज्ञ करके स्वर्गमे जायँगे, अप्सराओंके साथ विहार करेंगे। इत्यादि) (भा०। यह योगीश्वर चमसका वाक्य है)। म० भा० मे मनुजीका वाक्य है—'वेदोंमे जो कर्मोके प्रयोग बताये गये है, वे प्रायः सकाम भावसे युक्त है। जो इन कामनाओंसे मुक्त होता है, वही परमात्माको पा सकता है। नाना प्रकारके कर्ममार्गमे सुखकी इच्छा रखकर प्रवृत्त होनेवाला मनुष्य परमात्माको प्राप्त नहीं होता। मनुष्य इन कामनाओसे मुक्त हो निष्काम भावसे कर्मानुष्ठान करके परमात्माको प्राप्त करे, इसी उद्देश्यसे कर्मो

का विधान किया है, वेदमे स्वर्ग आदिकी कामनासे जो योगादि कर्मोंका विधान किया गया है, वह उन्हीं मनुष्योंको अपने जालमे फँसाता है, जिनका मन भोगोंमे आसक्त है। वास्तवमे इन कामनाओंसे दूर रहकर परमात्माको ही प्राप्त करनेका प्रयत्न करे।

प० पु० पा० ३५ मे आरण्यक मुनिके वाक्य हैं कि "भाँति-भाँतिके सुन्दर यज्ञोंके अनुष्ठानसे क्या लाभ है? वे तो अत्यन्त अल्प पुण्य प्रदान करनेवाले हैं तथा उनसे क्षणभङ्गुर फलकी प्राप्ति होती है। स्थिर ऐश्वर्यपदको देनेवाले तो एक मात्र रमानाथ भगवान् श्रीरघुवीरही हैं। उनके स्मरणसे पापपर्वत नष्ट हो जाते हैं। मूढ़ मनुष्यही उन्हे छोडकर योग, यज्ञ और व्रत आदिके द्वारा क्लेश उठाते हैं। यथा 'किं यागैर्विविधैरन्यैः सर्वसंभारसंभृतैः। स्वल्पपुण्यप्रदैर्नूनं क्षयिष्णुपददातृभिः।' (३५।३१)। 'यो नरैः स्मृतमात्रोऽसौ हरते पापपर्वतम्। तं मुक्त्वा क्लिश्यते मूढो योगयागव्रतादिभिः। श्लो० ३३।'

टिप्पणी—३ 'आगम बिधि जप ' इति। (क) शास्त्रोंमे यज्ञ एवं जपयज्ञके विधान लिखे हैं कि किस विधिके साथ इन्हे करना चाहिए। उस शास्त्रविहित रीतिसे लोग जप और यज्ञ करते देखे जाते हैं, परन्तु जिस जिस कामनासे वे किये जाते हैं उनकी सिद्धि नहीं होती। (टीकाकारोंने प्रायः 'खरो सो' को काज का विशेषण मानकर अर्थ किया है कि 'छोटासाभी कार्य नहीं सधता'।) (ख) 'सुख सपनेहु न जोग सिधि साधत ' इति। योग सबंधी प्रधान अष्ट सिद्धियाँ अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व हैं। किस सिद्धिसे क्या कार्य होता है, यह पद १ 'सिद्धि सदन ' के शब्दार्थमे देखिए। श्रीमद्भागवतमें 'गरिमा' के बदले 'कामावसायिता' सिद्धिको अष्टसिद्धियोमे कहा गया है और भा ११।१५। श्लो १०–१७ मे वे धारणायें बताई गई हैं जिनसे ये प्राप्त होती हैं। परन्तु इनके साधन करनेमे सुख तो कहीं देखनेको मिलताही नहीं, उल्टे रोग उत्पन्न हो जाते हैं और वियोग होता है। [शरीर रोगी हो जाता है, जिसके फलस्वरूप प्रियजनोंसे विछोह हो जाता है। (पो.)। रोग होनेसे अथवा किसी प्रियका वियोग (मृत्यु आदि) होनेसे किया कराया साधन मिट्टीमे मिल जाता है। (वि०, दीन०)]

साराश यह कि कलिकाल इन्हे निर्विघ्न होने नहीं देता, साधकको योगभ्रष्ट कर देता है। या पुत्र-मित्र-कलत्र आदिका वियोग-दुःख पूर्व संस्कारवश आकर किये कराये साधनको ले डालता है। अतः ये सब साधनभी व्यर्थ है।

४ 'काम कोह मद लोभ मोह ' इति। (क) कामादि ये सब ज्ञानके शत्रु है। यथा 'तम मोह लोभ अहंकारा। मद क्रोध बोधरिपु मारा।' १२५ (४), काम सबसे प्रबल वैरी है, इसीसे उसे प्रथम कहा। ये 'मुनि विज्ञान धाम मन'

मे भी पलमात्रमे क्षोभ उत्पन्न करदेते हैं, तब साधकोंकी तो बातही क्या? ज्ञान राजा है, वैराग्य उसका मंत्री है। वैराग्य ज्ञानका साधन है। यथा 'सचिव बिराग बिबेक नरेसू। २।२३५।६।'; 'ज्ञान कि होइ बिराग बिनु। ७।८९।' सो इन दोनोका नाश कामादि कर डालते है।—'ज्ञान बिराग भय लोभ कोह कामको' १५५ (३ख) देखिए। [बैजनाथजीका मत है कि ज्ञानके साधन क्रमशः विराग, विवेक, पट्संपत्ति, दम, उपराम, तितीक्षा, श्रद्धा और समाधान है। कामके दश विकार (शिकार, जूआ, दिनका सोना, परनिंदा, परस्त्रीमे प्रेम, मद्यपान, नृत्य, गान, वाद्य और व्यर्थ घूमना—५६ नोट ६ देखिये) विरागके, लोभ विवेकका, और क्रोध शेष सबोंका नाशक है।]

४ (ख) 'बिगरत मन संन्यास लेत' इति। मिट्टीके कच्चे घड़ेमे (जो अभी आवेंमे पकाया नहीं गया है) यदि पानी डाल दिया जाय, तो वह घड़ाही मिट्टीके पिघलनेसे नष्ट हो जाता है। वैसेही संन्यास लेतेही मन बिगड़ता है। संन्यास चतुर्थ आश्रम है, गृहस्थीमे सब विषय भोगकर वैराग्य होनेपर फिर वानप्रस्थ होकर अपनेको कस लेनेपर ज्ञान परिपक होनेपर संन्यास लेना होता है। कच्चा वैराग्य कच्चा ज्ञान रहनेपर संन्यास लेनेसे विषयरूपी जल मनको बिगाड़ डालता है। यहां 'उदाहरण अलंकार' है।

वैजनाथजी—संन्यासधर्म मनुस्मृति अ० ६ श्लोक ३५—८६ में लिखे हैं। उनमेसे कुछ ये हैं—मिट्टीका पात्र, वृक्षतले बास, पुराने (कफ़न आदि वाले) कुवस्त्रधारण, समदृष्टि, मरणजीवन-संशयरहित, सत्य वचन, निंदा-स्तुतिमें समान, अक्रोध, कर्मवासनाका पूर्णरूपेण त्याग, आत्मदृष्टि, अनग्नि, अनिकेत, अन्नभोजनके लिये ग्राममें जाना अन्यथा नहीं, इत्यादि। संन्यासके इन विषयों को ग्रहण करते ही मनके जो छः अंश कर्म-विकर्म आदि है, (यथा जिज्ञासापञ्चके 'कर्माकर्मविकर्मादावनियमेन वर्तते। संकल्पश्च विकल्पश्च मनसो बहुशो यथा।'), वे सब भिन्न-भिन्न होकर अपना-अपना व्यवहार करने लगते हैं संन्यासमे अकर्म आदि चाहिए सो मन अनेक कर्म, कुकर्म, संकल्प-विकल्प आदि सब करने लगता है, नियमोको त्याग देता है, तब संन्यास कैसे निबहे? वियोगीजी—निर्विकल्प चित्तवालेही इस आश्रमके अधिकारी हैं। कबीरजी कहते है —'दाढ़ी मूछ मुड़ाइकै हुआ जो घोटमघोट। मनको क्यो नहिं मूड़िए जामे भरिया खोट॥ माला तिलक लगाइ कै भक्ति न आई हाथ। दाढ़ीमूछ मुड़ाइ कै, चलै दुनी कै साथ॥'

टिप्पणी—५ 'बहु मत मुनि' इति। (क) पट्शास्त्र हैं, प्रत्येकमे एक-एक मुनिका मत है, इस प्रकार ये छः भिन्न-भिन्न सिद्धान्तोंके प्रतिपादक हैं। इनके नाम, सिद्धान्त और प्रतिपादक महर्षियोके नाम पद १५५ (२,क) 'पढ़िबो

परन्यो न छठी छमत' मे देखिए। फिर शैव, शाक्त, सौर, गाणपत्य, वैष्णव और वैष्णवोंमे भी चार मत, बौद्ध जैन आदि अनेक मत हैं। (ख 'बहु पंथ पुराननि' का अर्थ हमने 'पुराणोंमे अनेक मार्ग' ऐसा किया है। इसके अनुसार भाव यह है कि जिसके नामका जो पुराण है, उसमे उसीका महत्व कहा गया है, इस तरह जितने पुराण उतने मार्ग हुए। अन्यत्रभी इसीको यों कहा है— 'छमत विमत न पुरानमत एक मत। २५१।', 'नाना पथ निरवानके '। १६२।' कई टीकाकारोंने 'बहु पंथ' से 'दादूपंथी, कबीरपंथी, निरंजनी, आपा. तपा, उदासी, एकनामी, परान्नाथी, सत्तनामी, चारवाक, कपाली, महारार्जी कौल पथोंको लिया है।—(ये नाम बैजनाथजीने दिये हैं। वियोगीजीने अकाली, राधास्वामी, स्वामीनारायण तीन नाम और दिये हैं, किंतु राधास्वामी आदि गोस्वामीजीके पीछेके हैं)। 'पुराण' शब्दोंमे पुराण, उपपुराण आदि सभी पुराणों का ग्रहण हो गया। (ग) 'जहाँ तहाँ झगरो सो'—भाव यह कि जिधर देखो उधर अपने-अपने पक्षपर लोग डटे हैं, सब अपनेही मत वा पंथको सर्वप्रधान सर्वोत्कृष्ट सच्चा मार्ग कहते हैं। तब साधक किसको ग्रहण करे, किसका त्याग करे? बुद्धि चकरा जाती है। कोई कुछ निर्णय नहीं कर सकता। (वियोगीजी लिखते हैं कि शब्दोंकी खटपटमे कुछभी हाथ नहीं लगता :—'शब्दारण्यं महाजालं चित्तभ्रमणकारणम।')।

५ (घ) 'गुरु कह्यो रामभजनु नीको ...' इति। मेरे गुरुदेव श्रीनरहर्य्यानन्दजीने मुझे रामभजनका उपदेश दिया और बताया कि यही सर्वोत्तम है, सब पुराणोंका सार सिद्धान्त है। उन्होंने बताया है कि 'नहि तत्पुराणं नहि यत्र रामो, यस्यां न रामो न च संहिता सा। स नेतिहासो नहि यत्र रामः काव्यं न तस्यान्नहि यत्र रामः' (वै०)। 'नीको' देहलीदीपक न्यायसे दोनों ओर लगेगा। 'रामभजनु नीको' और 'नीको मोहि लागत रामराजडगरो सो' अर्थात् वह मुझे रामराजमार्ग मालूम होता है और अच्छाभी लगता है। राजमार्गमें राजाकी ओरसे देखभाल रहती है, उस मार्गमें गड्ढे आदि नहीं होते, रक्षाका भी प्रबंध रहता है, उसपर चलनेसे कहीं गिरने आदिका भय नहीं होता। वैसेही इस मार्गमे उपर्युक्त कामादिका भी भय नहीं है। रामनाममहाराज स्वयं अपने जापककी रक्षा करते हैं; यथा 'रामनाम नरकेसरी कनककसिपु कलिकाल। जापक जन प्रहलाद जिमि पालिहि दलि सुरसाल। १। २७।'

☞ 'सुख सपनेहु न जोग सिधि ' तथा 'रामभजन 'राजडगरो सो'—यही भाव योगेश्वर कविके वाक्योंसे निकलता है, जो उन्होंने निमि महाराजके प्रश्नके उत्तरमे कहे हैं। वे कहते हैं—'यानास्थाय नरो राजन्न प्रमाद्येत कर्हिचित्। धावन्निमील्य वा नेत्रे न स्खलेन्न पतेदिह। भा० ११।२।३५।' अर्थात् भागवत

धर्मका आश्रय ले-लेनेपर मनुष्य कभी किसीभी निमित्तसे प्रमाद नहीं करता। (यों समझो कि वह एक दिव्यमार्गपर आ जाता है) उस मार्गपर वह नेत्र बंद करके सरपट दौडता चला जाय; उसे कहींभी फिसलने तकका भय नही रहता. गिरनेका तो कामही क्या? 'रामराजडगरो' का यह भी भाव हो सकता है कि यह मार्ग रामराज्यमें पहुँचा देनेवाला है रामनामजापकको सर्वत्र रामराज्यका सा सुख प्राप्त होता है। यथा 'नाम सप्रेम जपत अनयासा। भगत होहिं मुद मंगल बासा। १।२४।२।'

६ 'तुलसी बिनु परतीति ' इति। (क) भाव यह कि जिसको रामनाममें विश्वास और प्रेम नहीं है, वही अन्य साधनोंमें लग-लगकर परिश्रम कर-करके मरेगा, उसे हाथ कुछ न लगेगा। वह भवसागर पार नहीं कर सकता। यथा 'जोग जाग जप बिराग तप सुतीरथ अटत। बाँधिबे को भवगयंद रेनुकी रजु बटत।' १२९ (३) देखिये। प्रीति और प्रतीति दोनो आवश्यक हैं। इसीसे यत्र-तत्र इनपर जोर दिया गया है। यथा 'राम जपु जीह जानि प्रीति सों प्रतीति मानि. रामनाम जपे जैहै जियकी जरनि।२४७', 'प्रीति प्रतीति जहाँ जाकी तहँ ताको काज सरो। २२६।', 'रामनामसों प्रतीति प्रीति राखे कबहुँक तुलसी ढरेंगे राम आपनी ढरनि। १८४।', 'नाम सो प्रतीति प्रीति हृदय सुथिर थपत।१३०।' नाम-जप बिना विश्वासके भी फलदायक होता है, यदि उसमें लगा रहे; परन्तु विश्वास न होनेपर उसमें प्रेम न होगा और प्रेम न होनेपर उसमें मनुष्य दृढ़ता-पूर्वक लगेगा नही। इसलिये इनका होना आवश्यक है। ☞ इसमें ध्वनि यह है कि मुझे प्रतीति-प्रीति है इससे मैं पार होगया; यथा 'औरनि की कहा चली, एक बात भले भली, रामनाम लिये तुलसीहू से तरत।२५१।'

६ (ख) 'रामनाम बोहित ···' इति। रामनाम जहाजरूप है। यथा 'घोर-भव-नीर-निधि नाम निज नाव रे। ६६।', 'साधन फल श्रुतिसार नाम तव भव-सरिता कहँ बेरो। १४३।' जहाज, नाव या बेड़ापर चढ़नेसे मनुष्य पार होता है, अतः 'बोहित' कहकर जनाया कि रामनामपर आरूढ़ हो जाय, जबतक पार न पहुँच जाय तबतक उसपर चढ़ा रहे। 'चाहै तरन तरै सो' अर्थात जो भव पार न होना चाहे अथवा जिसको हमारे वाक्यपर विश्वास नहीं, उसपर हमारा आग्रह नहीं. उसको जो रुचै वह करे।

नोट—२ इस पदमें गोस्वामीजीने सिद्धान्तरूपसे रामनामका सर्वश्रेष्ठत्व एवं अन्य साधनोंका वैफल्य बताया है। रामनामपर उनकी कितनी ऊँची निष्ठा थी, यह इससे भली भाँति प्रकट हो जाता है। (वि०)।

मू. शुक्ल—जीवोंमें संस्कारकी न्यूनाधिक शुद्धतासे, वर्ण-आश्रम तथा और भी अनेक पंथ होनेसे साधनाएँ भी अनेक हैं; परन्तु तुलसीदासजीका इसमें यह

मत है कि यह सारा झगड़ा छोड़ केवल नामही में विश्वासके साथ तत्पर होना सीधा मार्ग है। इसलिये सद्गुरुकी शरण जाकर उनकी बतलाई हुई रीतिसे नामकी साधना करे।

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

१७४ (११६)

जाकें प्रिय न राम बैदेही।

तेहि[1] छांड़िअै[2] कोटि बैरी सम जद्यपि परम सनेही॥१॥

तजे[3] पिता प्रह्लाद बिभीषन बंधु भरत महतारी।

हरि हित गुरु बलि पति ब्रजबनितन्हि सों[4] भये मुद मंगलकारी॥२॥

नाते[5] नेह रामहि के[6] मनियत सुहृद सुसेव्य जहां लौं।

अंजनु कहां[7] आंखि जेहि फूटै बहुत हो[8] कहौं कहां लौं॥३॥

तुलसी सोइ अपनोइ[9] सकलबिधि पूज्य प्रानहुं[10] प्यारो।

जातें होइ सनेह रामते[11] इतनोइ[12] मतो हमारो॥४॥

शब्दार्थ—हित = के लिये। ब्रजबनितन्हि = ब्रजकी स्त्रियों (गं.पियो) ने। मनियत = मानना चाहिए; माने जाते हैं। सुसेव्य = भली भाँति सेवा किये जाने

१ तेहि—६६। सो—औरोंमे २ छांड़िअै—६६, ५१, रा०, आ०, मु० त्यागिये भा०, वे०, प्र०, १५। तजिय (ताहि—७४,भ। त्यागिये—ह०। ३ तजे—६६। तज्यो औरोंमे। ४-†यह पाठ ६६, रा०, ह०, प्र० भा० वे०, ज० में कुछ हेरफेरसे है। ६६ मे 'पति' छूट गया है। रा० मे 'ब्रजबनितन्हि पति'। ह० में 'ब्रजबनितनि पति'। भा० वे०, प्र० मे 'पति ब्रजबनितनि' है। आ० में प्रायः 'बलि गुरु तज्यो कंत ब्रजबनितनि भये मुद ' पाठ है। भा० वे०, ह० मे 'सो' नहीं है। ५, नाते—६६, रा०, ह०। नातो—भा० वे० मु०, ७४, ज०। ६ रामहिके—६६, रा०, भ०। रामहि को—ह०। राम को—भा०, वे०। राम के—५१, ७४, आ० ७ कहां-६६। कहा—औरोंमे। ८ बहुत हो—रा०, भा०। बहुत हो—६६। बहुतक—ह०, ५१, आ०, ७४, प्र०। बहुतो—ड०। ९ सोइ अपनोइ—६६। सोइ आपनो—रा०, भा०, वे०, ७४। १० प्रानहुं—६६। प्रान ते—भा० वे०, ह०, ७४, प्र०। प्रानहुं तें—रा०। ☞ आ. मे 'सो सब भाँति परम हित पूज्य प्रान ते प्यारो' पाठ प्रायः है। ११ ते-६६, रा०, भ०। सो—भा०, वे०, ह० ७४। पद—५१, आ०। १२ इतनोइ—६६, रा०, भ०। इतनो—ह०। एतो—भा०, वे०, ५१, आ०, ७४।

योग्य; अत्यत माननीय। लो = तक। अजन = आँखकी रोशनी स्थिर रखने तथा रोगके दूर करने एवं आँखोंकी शोभा बढ़ानेके लिये श्यामता लानेके लिये आँखकी पलकोंके किनारोंपर काजल आदि का जो गीला सुरमा लगाया जाता है। काजल; सुरमा। फूटना = नष्ट होना; बिगड़ना। आँख फूटना = अधा हो जाना। इतनोइ = बस इतना ही; यही। मतो = मत; संमत; सिद्धान्त।

पद्यार्थ—श्रीरामचन्द्रजी और श्रीजानकीजी जिसके प्रिय न हों; चाहे वह अपना परम मित्र ही क्यों न हो; उसे करोड़ों शत्रु के समान (जानकर) छोड़ देना चाहिए। १। (परमस्नेहीका त्याग करनेसे कलकका भय हो, तो उसपर कहते हैं—) प्रह्लादजीने अपने पिता (हिरण्यकशिपु) को, विभीषणजीने भाई (रावण) को, श्रीभरतजीने माता (केकेयी) को, भगवान्‌के लिये राजा बलिने गुरु (शुक्राचार्य) को और व्रजवनिताओंने अपने पतियोंको त्याग दिया—ये सब आनदमंगलकारी हुए (अर्थात् आजभी इनके स्मरणसे मुदमंगलका उदय होता है और स्वय उनके मुदमंगलका तो कहना ही क्या?)। २। जहाँ तक जितनेभी मित्र और अत्यत माननीय पूज्य है, उन्हे श्रीरामजीके ही नाते और स्नेहसे मानना चाहिए। जिससे आँख फूट जाय वह अंजन कैसा? मैं अधिक कहाँतक कहूँ? (अर्थात् इतना ही समझनेके लिये बहुत है। इतनेही मे सब उपदेश आगया)। ३। तुलसीदासजी कहते है कि 'वही सब प्रकार अपनाही है, सब प्रकार पूज्य और प्राणोसे भी अधित प्यारा है, जिससे (जिसके द्वारा, जिसके सगसे) श्रीरामजीमे प्रेम हो'—बस इतनाही हमारा मत है। ४।

टिप्पणी—१ (क) 'जाके प्रिय न राम बैदेही' इति। प्रार्थी युगल सरकारके उपासक हैं, यह उनके यत्र-तत्रके पदोसे प्रकट हो जाता है। पद १०७ नोट १, टि० २ (क-ख) देखिए। वहाँ कहा है कि 'सिय समेत सोहै सदा' अर्थात् वे कभी अलग नहीं होते। इसीसे 'राम बैदेही' दोनोंको यहाँ कहा। दोनों प्रिय लगने चाहिए। जिनको श्रीसीतारामजी प्रिय नहीं है अर्थात् जो इनसे विमुख है, ससार और संसारके व्यवहारही जिनको प्रिय है, उनके साथ क्या बर्ताव रखना चाहिए, यह दूसरे चरणसे बताते हैं।

'प्रिय न राम बैदेही' से यह भी जनाया कि जब उसे भगवान् प्रिय नहीं है तो उसे ससारिक विषय ही प्रिय लगते होंगे। यथा 'जौ पै मोहि राम लागते मीठे। तौ नवरस पटरस रस अनरस ह्वै जाते सब सीठे। १६९।' और, विषयीका सग कुसंग है। उसके संगसे हमारे चित्तमे विषयचिन्तनकी प्रबलता होकर हमको भगवत् प्राप्तिके मार्गसे चलायमान कर देगी। दुःसंग नरकवाससे अधिक बुरा है; यथा 'बरु भल बास नरक कर ताता। दुष्ट संग जनि देइ बिधाता। ५।४५।' भगवद्विमुखका सग भगवद्विमुख बना देगा।—इसीसे उसे

'कोटि बैरी सम' कहा, वह चौरासीभ्रमण करायेगा। देखिए कैकयी कैसी रामप्रेमिन थी, सो मन्थराके सगसे कैसी रामविमुख हो गई। नारदजीने भी कहा है—दुःसङ्गः सर्वथै त्याज्यः' (भक्तिसूत्र ४३) भक्तको दुःसगका सर्वथा त्याग करना चाहिए।

१ (ख) 'तजिअ ताहि कोटि बैरी सम' इति। अर्थात् श्रीसीतारामविमुखको करोड़ो शत्रुओंके समान जानना चाहिए। शत्रुका त्याग करना चाहिए, उससे दूर रहे। यथा 'सत्रु मित्र मध्यस्थ त्यागब ग्रहब उपेच्छनीय अहि हाटक तृनकी नाई। १२४।', 'रिपु रिन रंच न राखब काऊ। २।२२९।२।' एकही शत्रु बहुत कुछ हानि पहुँचा सकता है, यथा 'रिपु तेजसी अकेल अपि लघु करि गनिअ न ताहु। १।१७०।' और रामविमुख तो 'कोटि बैरी' के समान है। भक्त शत्रुका भी बुरा नहीं चाहते और न उनके साथ बुराई करते हैं। अतएव उनका त्याग करना कहा। 'कोटि बैरी' का भाव कि वे बराबर उपद्रव करते रहेंगे, भजनमें बाधक होंगे। करोड़ों प्रकारसे शत्रुता करके विमुख बनानेकी चेष्टा करेंगे।

१ (ग) 'जद्यपि परम सनेही' का भाव कि परम स्नेहीको त्यागना न चाहिए, उसका तो सदा ग्रहण ही कहा है। (उपर्युक्त १२४)। फिरभी यदि वह हरिविमुख हो तो उसके साथ न रहे, उसका साथ छोड ही दे। माता, पिता, भाई, मित्र, स्त्री प्रायः स्नेही होते है। आगे पिता, गुरु, पति, आदि परमस्नेहियोंके त्यागके उदाहरण कवि स्वयं देते हैं। [भगवतस्नेहमे बाधक होनेसे माता पिता आदि का त्याग इससे कहा कि ये एकही जन्मके संबंधी है और केवल लोकसुखके साधक हैं। (यथा 'जननि जनक सुत दार बधु जन भये बहुत जहँ जहँ हौं जायो। सब स्वारथ हित प्रीति कपट चित काहू नहि हरिभजन सिखायो। २४३।)। गुरु और पति परलोक सुखके साधक अनेक जन्मके संबधी हैं, इस लिये ये परम सनेही हैं। पर यदि ये हरिभक्तिके बाधक हो तो येभी 'कोटि बैरी' समान त्याज्य हैं। कोटि बैरी समान त्यागनेका भाव कि मन, वचन और कर्म तीनोद्वारा इन लोगोसे विमुख रहे (वै.)]

नोट—१ भक्तिके विषयमे स्वयं भगवान्‌का वाक्य है—'जननी जनक बंधु सुत दारा। तनु धनु भवन सुहृद परिवारा। सब कै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहिं बाँध बरिडोरी ॥' और फिर इसका परिणामभी वे कहते है—'अस सज्जन मम उर बस कैसें। लोभी हृदय बसइ धन जैसें।' (५।४७)। भुशुण्डीजीसे भी इन्होंने कहा—'निज सिद्धांत सुनावउँ तोही। सुनि मन धरु सब तजि भजु मोहीं। पुरुषनपुंसक नारि वा जीव चराचर कोइ। सर्व भाव भज कपट तजि मोहि परम प्रिय सोइ। ७।८७।' गीतामे भी कहा है—'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।'

भगवान्के साथ प्रेम करनेका प्रतिफलस्वरूप उससे प्रेमभिक्षा पानेकी आशा कोई दुराशा नहीं है। भक्तिके दो अंग यहाँ दिखाए हैं—अनुरक्ति (भगवान्से लगना और (संसारसे) विरक्ति। यही मनुष्यका परमपुरुषार्थ, परमस्वार्थ, परमधर्म, परमपरमार्थ, अतएव प्रधान कर्त्तव्य है। श्रीलक्ष्मणजीभी कहते हैं—'सखा परम परमारथ एहू। मन क्रम बचन रामपद नेहू। २।९३।६।'

अब ऐसे उत्तम कार्यमें करोड़ो विघ्न बाधाएँ क्यो न उपस्थित हों, किन्तु अपने उद्देश्यसे तिलमात्रभी विचलित न होना चाहिए। श्रेष्ठसे श्रेष्ठ माननीयसे माननीय व्यक्तिभी यदि इस मार्गको अवरुद्ध करनेपर तत्पर हों, तो उन्हेंभी दूर करनेमें कोई दोष नहीं।—इसी आशयसे यह पद गोस्वामीजीने लिखा है। कहिए तो पुरुषके लिये पिता, माता, बड़ा भाई तथा गुरुसे श्रेष्ठ और उसी प्रकार स्त्रियोंके लिये पतिसे श्रेष्ठ और कौन हो सकता है? परन्तु नहीं, भगवान्से भक्ति तथा संबंध स्थापित करनेके हेतु इनका भी तिरस्कार करनेमें कोई पातक नहीं। भक्तिका अभिप्राय केवल शुद्ध प्रेम है। भगवान्ने कहाभी है कि 'गुर पितु मातु बंधु पति देवा। सब मोहि कहँ जानइ दृढ़ सेवा। ३।१६।१०।'

टिप्पणी—२ 'तजे पिता　' इति। (क) प्रह्लादजीकी कथा ५२ (४ घ), ९३ (३ क-ख) में देखिये। उनका पिता हरिविमुख था और प्रह्लाद जन्मसे ही हरिभक्त थे। पिताने इनको हरिविमुख बनानेके लिये सब प्रकारसे कष्ट दिया; यथा 'दितिसुतत्रास त्रसित निसि दिन प्रह्लाद प्रतिज्ञा राखी। ९३।'; पर प्रह्लादजी पिताको बराबर हरिके सम्मुख होनेका ही पाठ सुनाते रहे, पिताके बहकानेमें नहीं ही आए। पिताकी आज्ञा नहीं मानना, उनके उपदेशके प्रतिकूल चलना, इत्यादि ही पिताका त्याग है।

पिता कैसा था सो देखिए। देवता, दैत्य सभी उसके अधीन थे, ऐसा प्रतापी था। राजा भगवान्का अंश माना जाता है, इससे उसकी आज्ञा सबको माननीय है। पिताकी आज्ञाका पालन धर्म है और फिर वह अपने कुलके धर्मके अनुकूल विद्याही तो पढ़नेको कहता था, यह भी अनीति नहीं थी। परन्तु भगवत्स्नेहमें उसने बाधा डालनेका प्रयत्न किया। वह स्वयं भगवद्विमुख था और प्रह्लादको भी वैसाही बनाना चाहता था।

२ (ख) 'बिभीषन बंधु भरत महतारी' इति। रावण हरिविमुख था। जो कोईभी उससे श्रीरामजीकी शरण जाने, उनका भजन करने, उनसे वैर न करने की बात कहता, उसीपर वह रुष्ट हो जाता था। विभीषणजीने भी यही कहा था। यथा 'परिहरि मान मोह मद भजहु कोसलाधीस। ५।३९।' इत्यादि। इसपर उसने लात मारी, तबभी उन्होंने यह कहकर कि 'तुम्ह पितु सरिस भलेहि मोहि मारा। राम भजे हित नाथ तुम्हारा। ५। ४१।८।' उनका त्याग दिया।

यथा 'राम सत्यसंकल्प प्रभु सभा काल बस तोरि। मैं रघुबीर सरन अब जाउँ देहु जनि खोरि ।५।४१।'

श्रीकैकेयीजीने श्रीरामजीको हठपूर्वक वनवास दिया। यथा 'होत प्रात मुनि-वेष धरि जौं न राम बन जाहिं। मोर मरन राउर अजस नृप समुझिअ मन माहिं ।२।३३।' श्रीभरतजीको भी वह रामविरोधी बनाना चाहती थीं, यथा 'आदिहु ते सब आपनि करनी। कुटिल कठोर मुदित मन बरनी।' सहित समाज राज पुर करहू।२।१६०-१६१।' अतएव रामविमुखा जानकर उन्होंने माताको त्याग दिया। (यद्यपि माताने अत्यन्त स्नेहके कारण पुत्रके लिये राज्य माँगा और कलंक सहा था)। यथा 'अस को जीव जंतु जग माहीं। जेहि रघुनाथ प्रानप्रिय नाहीं। भे अति अहित रामु तेउ तोही। ' आँखि ओट उठि बैठहि जाई ।२।१६२।', 'कैकेयी जौ लौं जियति रही। तौलौं बात मातु सों मुँह भरि भरत न भूलि कही। गी० ७।३७।', 'मा मृत रुदती भव,' 'मातृरूपे ममामित्रे नृशंसे राज्यकामुके। न तेऽहमभिभाष्योऽस्मि दुर्वृत्ते पतिघातिनि' वाल्मी० २ ७४।२,७) अर्थात् मुझे मरा हुआ समझकर तू जन्मभर पुत्रके लिये रोया कर। राज्यके लोभमें पड़कर क्रूरतापूर्ण कर्म करनेवाली दुराचारिणी पति-घातिनि! तू माताके रूपमें मेरी शत्रु है; तुझे मुझसे बात नहीं करनी चाहिए। इत्यादि श्रीभरतजीके वाक्य हैं। वे मातासे जन्मभर न बोले। यही त्यागना है। इसीसे तो श्रीरामजीने चित्रकूटसे सबको विदा करते समय शत्रुघ्नजीको अपनी और श्रीसीताजीकी शपथ दिलाकर कहा है कि 'तुम माता कैकेयीकी रक्षा करना, उनके प्रति कभी क्रोध न करना'— 'मातरं रक्ष कैकेयीं मा रोषं कुरु तां प्रति।' (वाल्मी० २ ११२।२७ ।

२ (ग) 'हरि हित गुरु बलि' इति। शुक्राचार्यजी पीढ़ियोंसे दैत्योंके गुरु होते आए और सदा दैत्यराजोंकी रक्षा करते तथा वैभव बढ़ानेमें ही लगे रहते थे। वे सदा दैत्योंके हितमें ही रत रहते थे राजा बलिका भी ऐश्वर्य और प्रताप बना रहे, इसी अभिप्रायसे उन्होंने राजनीतिका ही उपदेश बलिको दिया। उन्हें बता दिया कि वामनवेषरूपधारी विष्णु ही हैं, ये तुम्हें छलने आये हैं, तू इन्हें पृथिवी न दे। पर बलिने यही कहा कि यदि ये विष्णुही हैं जिनका महात्मागण यज्ञोंद्वारा पूजन किया करते हैं, तो भी मेरे यहाँ ये भिक्षुक बनकर आये हैं, मैं सत्य नहीं छोड़ूँगा, इनको पृथिवी अवश्य दूँगा। शुक्राचार्यकी आज्ञा नहीं मानी, उनपर श्रद्धा नहीं रक्खी, इसीसे उन्होंने शापभी दे दिया, पर बलि सत्यसे विचलित न हुए।—'एवमश्रद्धितं शिष्यमनादेशकरं गुरुः। भा० ८।२०।१४।'— यही गुरुको त्याग देना है।

२ (घ) 'पति ब्रजबनितन्हि' इति। भगवान्ने स्त्रियोंको मोहित करनेवाला

कल- गान (वंशीनाद) किया। उसे सुनकर व्रजबालाएँ श्रीकृष्णजीमे आसक्त हो जैसे थी वैसेही उठ दौडी। "जगौ कलं वामदृशां मनोहरम्। ३। निशम्य गीतं तदनङ्गवर्धनं व्रजस्त्रियः कृष्णगृहीतमानसाः। भा० १०। २९। ४।' उनके पति, पिता, भाई—बन्धुओंने उन्हे रोका, परन्तु उनके मन श्रीकृष्णजीद्वारा हर लिये गये थे, इससे वे फिर पीछे न लौटीं।—'ता वार्यमाणाः पतिभिः पितृभिर्भ्रातृबन्धुभिः। गोविन्दापहृतात्मानो न न्यवर्तन्त मोहिताः। भा० १०।२९।८।' कई गोपियोको उनके पतियोंने घरमे बंद कर दिया था, उन गोपियोंने कृष्णविरहमे तन ही त्याग दिया। इस प्रकार इनने भी भगवान्‌के लिये अपने-अपने पतिको त्याग दिया।

२ (ड) 'सो भये मुद मंगलकारी' इति। पिता, गुरु और पतिकी आज्ञाका पालन धर्म है; यथा 'मातु पिता गुरु स्वामि सिख सिर धरि करहिं सुभाय। लहेउ लाभु तिन्ह जनम कर नतरु जनमु जग जाय। २। ७०।', 'अनुचित उचित बिचार तजि जे पालहिं पितु बैन। ते भाजन सुख सुजसके बसहिं अमरपति ऐन। २। १७४।', 'सहज सुहृद गुर स्वामि सिख जो न करइ सिर मानि। सो पछिताइ अघाइ उर अवसि होइ हित हानि। २। ६३।'—परन्तु प्रह्लादजीने पिताकी, विभीषणजीने पितातुल्य बड़े भाईकी भरतजीने माता-पिता-गुरुकी, बलिराजाने गुरुकी और व्रजाङ्गनाओने पतियोकी आज्ञा नहीं मानी; तोभी क्या इनके हितकी हानि हुई? क्या इनका जन्म व्यर्थ गया? क्या इनके सुख एवं सुयशकी हानि हुई? नही; ये कुछभी नहीं हुए। कारण यह है कि पिता, माता आदिकी आज्ञा मानना लोक धर्म है और भगवान्मे प्रेम करना 'परम धर्म' है। साधारण नियम है कि सबका ममत्व त्यागकर एकमात्र प्रभुमे मनको लगावे। और जो श्रीरामजीकी शरण जानेमे, रामभजनमें बाधक हो, उसको त्याग देनाही श्रेयस्कर है। यथा 'जरउ सो संपति सदन सुख सुहृद मातु पितु भाइ। सनमुख होत जो रामपद करै न सहस सहाइ। २। १८५।'—(१) ऐसा ही प्रह्लाद आदिने किया। इसीसे उनको सुख-सुयशकी हानि न हुई; न इनको कलक लगा, प्रत्युत ये सब धन्य माने गए, सबको सुयश प्राप्त हुआ। इतनाही नहीं, परंच ये सब दूसरोंके लिये 'मुदमंगलकारी' हो गए। यथा 'ध्रुव प्रहलाद बिभीषन कपि जदुपति पंडव सुदाम को। लोक सुजस परलोक सुगति ।१६१।', 'भवन्ति पुरुषा लोके मद्भक्तास्त्वामनुव्रताः। भवान्मे खलु भक्तानां सर्वेषां प्रतिरूपधृक्। भा० ७।१०।२१।' (नृसिंहभगवान् कहते है कि संसारमे जो लोग तुम्हारा अनुकरण करेगे, वे मेरे भक्त हो जायेंगे। निश्चयही तुम मेरे संपूर्ण भक्तोंमे आदर्शस्वरूप हो), 'वेदविदित प्रहलादकथा सुनि को न भगतिपथ पाउँ धरै। १३७।'

(२) इसी प्रकार विभीषण स्वयं तो मुदमंगलमय हुए और दूसरोके लिये भी मुदमंगलकारी हुए। यथा 'भवभूषन सोइ कियो विभीषन मुदमंगल-महिमा-

१७५ (११२)

जौ पै रहनि राम सों नाहीं ।
तौ नर खर कूकर सूकर[1] से[2] जायं[3] जियत जगमाहीं ॥१
काम कोह[4] मद मोह[5] नींद भय भूख प्यास सबही कें ।
मनुज देह सुर साधु सराहत सो[6] तो सनेह[7] सिय-पी कें ॥२
सूर सुजान सपूत सुलच्छन गनियत गुन गरुआई ।
बिनु हरिभजन इँदारुन[8] के फल तजत नहीं करुआई † ॥३
कीरति कुल करतूति भूति भलि सील सरूप सलोने ।
तुलसी प्रभु-अनुरागरहित जैसे[9] सालन साग अलोने ॥४

शब्दार्थ—रहनि = प्रीति; लगन । सो तो— 'तो' अव्यय है । इसका व्यवहार किसी शब्दपर जोर देनेके लिये और कभी कभी साधारणतः योंही किया जाता है । यहां जोर देनेके लिये है । गनियत = गिने जाते हैं । गरुआई = भारीपन; बड़प्पन । इँदारुन (इन्द्रायण) = एक लता जो तरबूजकी लताके समान होती है, इसके फल नारंगीके बराबर होते हैं जिनमें खरबूजेकी तरह फाँकें कटी होती हैं । खानेमें कड़ुवा, विषैला और रेचक होता है, पर देखनेमें बड़ा सुन्दर होता है । 'इंदारुनके फल' = देखनेमें अच्छा पर वास्तवमें बुरा । (यह मुहवरा है) । भूति = ऐश्वर्य; वैभव । सलोने = सुन्दर; लावण्यमय । करुआई = कड़ुवापन । सालन साग = साग-भाजी (यह मुहावरा है)। = सब्जी या सागकी मसालेदार तरकारी। = तरकारीमें साग पत्तीका (सोभी अलोना) । अलोना = विना नमकका; फीका । लोन (लवण) = नमक । भलि (भली) = अच्छी; उत्तम ।

पद्यार्थ—यदि निश्चयही श्रीरामजीसे लगन नहीं है तो मनुष्य संसारमें गदहे, कुत्ते और सूअर सरीखा व्यर्थ जी रहा है। १ । काम क्रोध, मद, मोह, नींद,

---

१ सूकर–६६ और प्र० में नहीं है, औरोंमें है । २ सम–१५, ७४, वि० । सो–डु०, वै० । ३ वृथा–वे०, वि० । ४ कोह– ६६, रा०, भ० । क्रोध–भा०, वे०, ह० ७४ आ० । ५ मोह– ६६ प्र० । लोभ- रा०, भा०, वे० ह०, ७४, आ० । ६ सो तो– ६६, रा०, भा०, वे०, प्र०, भ०, ज० । सो- ह०, ७४, आ० । ७ सनेह- ६६, भा०, वे० । नेह- रा०, प्र०, ज० । ८ इदारुनि- रा०, भा०, वे० । इदारुन–ज०, आ० । इनारुन–ह०, ५१, दीन, ७४, वि० । † यह चरण ६६ में छूट गया है । १=६६ में उपर्युक्त पाठ है । के फल तजत नहीं— ह०, ६६, ५१, ७४, भा०, वे०, ह०, आ० । के से फल तजे न कबहु—रा० । के फल मिटत नहीं- प्र०, ज० । १० जैसै–६६, रा०, डु०, ज० । जस- भा०, वे०, ह०, ५१, ७४, आ० ।

भय, भूख और प्यास (तो) सभीको होते है अर्थात् सभी इनका अनुभव करते है। परन्तु मनुष्यदेहकी प्रशंसा देवता और साधु जो करते हैं वह तो श्रीसीतापति रघुनाथजीके स्नेहसेही। २। शूरवीर, चतुर, सपूत (माता पिताकी आज्ञामे चलनेवाला यशस्वी पुत्र) उत्तमलक्षणयुक्त और गुणवान † गिने जाते हैं; परन्तु हरिभक्तिके बिना वे इन्द्रायणके फलके समान है जो अपने कडुवेपनको नहीं छोडते।३। तुलसीदासजी कहते है कि अच्छी कीर्ति, उत्तम कुल, उत्तम करनी, ऐश्वर्य, शील और सुन्दर लावण्यमय स्वरूप—ये सब प्रभु श्रीरामजीके प्रेमके विना अलोने सालन-सागके समान (फीके वा नीरस) है। ४।

टिप्पणी—१ 'तौ नर खर कूकर सूकर से ' इति। इसी प्रकार पूर्वभी कहा है। यथा 'तदपि न तजत स्वान अथ खर ज्यो, फिरत बिपय अनुरागे।' ११७ (२) ग ; ' सठ हठि पियत बिषय बिप माँगी। सूकर स्वान सृगाल सरिस जन जनमत जगत जननि दुख लागी। १४०।' खर, कूकर और शूकरके समान कहकर जनाया कि इनमे और विना सींग-पूछवाले पशुओंमें कुछ भेद नहीं है; यथा 'तिन्ह ते खर सूकर स्वान भले, जड़ता बस ते न कहै कछुवै। तुलसी जेहि राम सों नेह नहीं, सो सही पसु पूँछ बिपान न द्वै। क. ७।४०।', इनका जीवन नरक रूप है। विशेप भाव १४० (१ ख ', १४० (३ घ) मे देखिए।

'जाय जियत जग माही' मे 'जनमत जगत जननि दुख लागी' [१४० (३ ङ) देखिए] तथा 'जननी कत भार मुई दस मास, भई किन बाँझ, गई किन च्वै। जरि जाउ सो जीवन जानकीनाथ, जियै जगमे तुम्हरो बिनु ह्वै। क. ७। ४०।' के भाव है। ☞ इससे यह भी सूचित किया कि जिसकी भगवान्मे भक्ति होती है वह मनुष्य निःसंदेह कृतार्थ हो जाता है; यथा 'हरौ यस्य भवेद् भक्तिः स कृतार्थो न सशयः।' (प. पु. स्वर्ग ६१।४२)। भक्ति बिना जन्म व्यर्थ बताया गया है; यथा 'हरौ भक्ति विना नृणां वृथा जन्म प्रकीर्तितम्॥' (श्लो० ४४)

पद ११७ मे विपयासक्त होनेसे खर-श्वानादिके समान कहा था। पद १४०

---

† साधारणतः 'गरुआई' = भारीपन, गुरुता, गौरव। यहां 'गुनु गरुआई' = गुणके भारी वा भारी गुण के। अर्थात गुणवान्। या यों अर्थ कर लें—'इनमे गुणकी गुरुता मानी जाती है।

अर्थान्तर—१ कोई शूरवीर, सुचतुर, सुपुत्र, सुन्दर लच्छनोवाला तथा भारी भारी गुणों वाला भले ही गिना जाता हो—(दीनजी)। २ कोई शूरवीर भलेही श्रेष्ट गिना जाता हो। (पो.)। ऐसा भी अर्थ हो सकता है— 'गुणोंके गौरवसे लोग शूरवीर, सुजान, सुपुत्र और सुलक्षणयुक्त माने जाते है। इस अर्थमें भी ऊपरसे कई शब्द मिलाने नहीं पडते।

मे हठपूर्वक विषयसेवन करनेसे शूकरादिके समान व्यर्थ पैदा होना कहा। और यहाँ श्रीरामजीमे लगन न होनेसे संसारमे जीवनको व्यर्थ बताया, जैसे 'रामसे प्रीतमकी प्रीति रहित जीव जाय जियत। १३२।' मे। [ये तीनों अपावन पशु हैं। यहाँ जो विद्या पढ़करभी रामविमुख हैं, वे खरके समान केवल पुस्तको वा विद्याका भार ढोनेवाले है। जिनको कलह (वा, शास्त्रार्थ, वादविवाद) प्रिय है, वे कुत्तेके समान अकारण भोकनेवाले हैं। जो भक्ष्याभक्ष्य खानेवाले हैं, वे शूकर समान है। (वै०)]

२ 'काम कोह मद मोह ' इति। (क) 'सबही कें कथनका भाव कि खर, शूकर, श्वानही नही किन्तु जीवमात्रको कामादिका अनुभव होता है। जड वृक्षोमे भी खादकी भूख, जलकी प्यास और क्रोध देखा गया है, तब चर जीवोकी तो बातही क्या? सभीको विषयभोगोमे वैसाही सुख होता है जैसा मनुष्यको। तब मनुष्यमे और उनमे अन्तरही क्या रह गया? यदि मनुष्य काम-कोहादिमे जीवन बिताता है तो पशु-योनिमे ही रहता सो अच्छा था। यथा 'भय निद्रा मैथुन अहार सबके समान जग आएं। सुरदुरलभ तन धरि न भजे हरि मद अभिमान गँवाएं। २०१।' तात्पर्य कि संसारमे मनुष्य देह पाकर मनुष्यको उचित नही है कि इससे विष्ठा खानेवाले शूकरादिकोभी सुलभ दुःखमय भोगोंमेही फँसा रहे। यथा 'नाह देहो देहभाजां नृलोके कष्टान्कामानर्हते विड्भुजां ये। भा० ५।५।१।' मनुष्य देहकी प्रशसा क्यों की जाती है? नरदेह किसलिये मिलती है? इससे क्या परमलाभ हो सकता है?— यह आगे कहते है।

२ (ख) वियोगीजी लिखते है कि "गोसॉईजीने यहां भगवद्विमुख जीवोको बड़ी कड़ी फटकार दिखाई है। आवेशमे आकर, सात्त्विक क्रोधवश, उन्होने ऐसे जीवको गधा, कुत्ता और सुअर तककी उपाधि दे डाली है।" ☞ साहित्यिक जो कहे ठीक है; परन्तु उन्होने जो कहा है, वह पूर्वके शौणकादि महर्षियोंने भी कहा है। मिलान कीजिए—'आहारनिद्राभयमैथुनञ्च सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम्। धर्मो हि तेषामधिको विशेषः धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः ॥' (चाणक्य नीति १७।१७, हितोपदेशप्रस्ताविका ·२५)। अर्थात् आहार (भोजन), नींद, भय और मैथुन तो पशु एवं मनुष्योमे समान ही हैं। मनुष्यमे धर्मही अधिक है। जो मनुष्य धर्मसे रहित है, वह तो पशुके ही समान है। पुनश्च यथा 'न खादन्ति न मेहन्ति किं ग्रामपशवोऽपरे। १८। श्वविड्वराहोष्ट्रखरैः संस्तुतः पुरुषः पशुः। न यत्कर्णपथोपेतो जातु नाम गदाग्रजः। १९।' (भा० २। ३) अर्थात् अन्य ग्राम्य पशु क्या भोजन और मलमूत्रत्याग नहीं करते? जिसके कर्णछिद्रोमे भगवान् के नामने प्रवेश नहीं किया, उस नर-पशुको कुत्ता, ग्राम्य सूकर, ऊँट और गधेके समान कहा है।

२ (ग) 'मनुज देह सुर साधु सराहत ' इति। देवता आदि इसकी सराहना करते है, इससे पाया गया कि वे भी इसकी चाह करते है, अपने देवशरीरको धिक्कारते है। क्योकि वह तो भोगशरीर है, उसमे तो विषयही भाग करना होता है। यथा 'धिक जीवन देवसरीर हरे। तव भक्ति विना भव भूलि परे।६।११०।' भवतरणोपाय कर्म ज्ञान उपासना आदि नरतनसे ही बन सकते है।—'साधन धाम विवुध दुरलभ तन' १०२ (शब्दार्थ; १ क-ख) तथा ८३ (१ ग-घ) देखिए। साधुभी प्रशंसा करते हैं। भुशुण्डीजीके वाक्य हैं—'नरतन सम नहि कवनिउ देही। जीव चराचर जाचत तेही। नरक स्वर्ग अपवर्ग निसेनी। ज्ञान विराग भगति सुभ देनी। ७। १२१। ६-१०।'

२ (घ) 'सो तो सनेह सियपी के' इति। 'सो तो' से जनाया कि काम-क्रोधादि विषयोके सेवनमें उसकी प्रशंसा नहीं करते, वरंच भगवान्मे स्नेह होनेके संबधसे इसकी प्रशंसा करते हैं; जिसने नरतन पाकर विषयमे उसे खो दिया उसकी तो निंदा ही करते हैं। यथा 'राम सनेह सरस मन जासू। साधु सभा बड़ आदर तासू। २। २७७। ४।' 'सो तनु धरि हरि भजहिं न जे नर। होहिं विषयरत मंद-मदतर। कॉच किरिच बदले ते लेहीं। करतें डारि परसमनि देहीं। ७। १२१।' 'सुरदुरलभतन धरि न भजे हरि मद अभिमान गँवाएं।'—'लाभु कहा मानुपतन पाए' कहकर इस वाक्यमे मनुजतनकी सफलता 'हरिभजन' से ही कही गई है। (पद २०१)।

३ 'सूर सुजान सपूत ' इति। (क) शूर उस योधाको कहते है जो सदा सम्मुख लड़ता है, आगे बढ़कर फिर पीछे नही हटता, चाहे प्राणही क्यों न चले जायॅ। समस्त वीरोमे यह श्रेष्ठ माना गया है। सुजान अर्थात् मनकी जान लेनेवाला, अथवा समस्त विद्याओमे एवं बुद्धि और व्यवहारोमे निपुण परम चतुर। सपूत = सुपुत्र। मातापिताका आज्ञाकारी और उनके यशको बढ़ानेवाला पुत्र सुपुत्र कहलाता है। इन-इन गुणोंसे जगत्मे इनकी प्रशंसा होती है कि ये बड़े शूर आदि है।

३ (ख) 'विनु हरि भजन ' इति। परन्तु हरिभक्ति यदि इनमे नही है तो ये देखने मात्रके ही सुन्दर है, वास्तवमे ये सुन्दर नहीं हैं, किन्तु विषैले और कष्टदायक हैं, किसीके कामके नहीं, उनका जन्म और जीवन व्यर्थ है, जैसे इन्द्रायणका फल देखने भरका बड़ा सुन्दर पर विषैला और कष्टदायक होता है। कवितावलीमे भी कहा है—'जानपनीको गुमान बड़ो, तुलसीके विचार गॅवार महा है। जानकीजीवनु जान न जान्यो तौ 'जान' कहावत जान्यो कहा है। ७। ३६।', 'गज-बाजि-घटा भले भूरि भटा, वनिता सुत भौंह तकैं सब वै। धरनी धनु धाम सरीर भलो, सुरलोकहु चाहि इहै सुख स्वै। ' जरि जाउ

सो जीवन जानकीनाथ जियै जगमें तुम्हरो बिनु ह्वै ।७।४१।', 'पवमान सो पावक सो जमु सोम सो पूपन सो भवभूपन भो ॥ सब जाय सुभाय कहै तुलसी, जो न जानकीजीवन को जनु भो ।७।४२।—इत्यादि ।—[जीवमें समस्त गुण भलेही हों. पर यदि रामप्रेम नहीं है तो उसकी विपमता नहीं जाती। (वै०)]

४ (क), 'कीरति कुल करतूति ' इति । उत्तम कुल, कीर्ति आदि भी विना श्रीरामानुरागके फीके लगते हैं । यथा 'कामसे रूप, प्रताप दिनेस-से, सोम-से सील, गनेसु-से माने । हरिचंदु से सांचे, बड़े विधिसे, मघवासे महीप विपै सुख साने ॥ सुक-से मुनि, सारद से वकता, चिरजीवन लोमस से अधिकाने । ऐसे भए तौ कहा तुलसी, जो पै राजिवलोचन रामु न जाने । क. ७ । ४३।'—इस उद्धरणके 'कामसेरूप' 'सोमसे सील' यहांके 'सील सरूप सलोने' हैं, 'बड़े विधिसे' और 'गनेस-से माने' यहाँके 'कुल करतूति भलि' हैं, 'मघवासे महीप विपैसुख-साने' यहाँका 'भूति भलि' है और 'प्रताप दिनेससे, हरिचंदु-से सांचे, सुकसे मुनि. सारदसे वकता' इत्यादि यहाँके 'कीरति भलि' के उदाहरण हैं । ऊँचा कुलभी रामप्रेम विना व्यर्थ है, यथा 'ऊँचो कुल केहि कामको जहाँ न हरिको नाम । वै० सं० ३८ ।' श्रीरघुवीरपरायण होनेसे ही मनुष्य कुलीन है, अन्यथा नहीं । यथा 'सो कुल धन्य उमा सुनु जगतपूज्य सुपुनीत ।श्रीरघुवीरपरायन जेहि नर उपज विनीत । ७ । १२७ ।' भगवान्‌ने शवरीजीके कहनेपर कि मैं अधम जाति की हूँ, उससे सिद्धान्त कहा है कि "मानउँ एक भगतिकर नाता ॥ जाति-पाँति कुल धर्म बड़ाई । धन वल परिजन गुन चतुराई ॥ भगतिहीन नर सोहइ कैसा । बिनु जल वारिद देखिअ जैसा । ३ । ३५ ।'—सारांश यह कि कीर्ति, कुल कर-तूत, ऐश्वर्य, शील और सौंदर्य लोकको ही रिझा सकते है. किन्तु ये गुण भगवान्‌को प्रसन्न करनेके कारण नहीं हो सकते ।

४ (ख) 'जैसे सालन साग अलोने' इति । रामप्रेमरहित कीर्त्ति आदि सव कैसे लगते हैं यह वताते हैं । 'सालन साग' अर्थात् घी मसाला आदिसे पकाई हुई तरकारी वहुत अच्छी वनाई जाय, जिसकी सुगंधसे ही जी खानेको ललचा जाय, पर जैसे उसमे यदि नमक न पड़ाहो' तो उसे कोई खाता नहीं, वह देखने मे सुन्दर होते हुएभी निस्स्वाद होती है। वैसेही उत्तम कीर्त्ति कुल आदि भी अशोभित होते हैं । यहां प्रभुमे अनुराग होना लवण है । कीर्त्ति आदि सालन साग हैं । जिस कीर्तिमे, कुलमे, करतूत इत्यादि मे रामानुरागका रंग है, वही कीर्ति आदि प्रशंसनीय' रसमय और सुशोभित हैं ।

सू शुक्ल—"परमात्मा राम चर अचर सभीमे वरावर व्याप्त है । पशु पक्षी आदिके अंतः करण तमोगुणसे अधिक मलिन होते हैं, इससे उनमे आत्मदर्शन

नही होता। और मनुष्योके अन्तःकरण तो सतोगुणके भी होनेसे स्वाभाविक निर्मल होते हैं। इससे मनुष्योंको परमात्माकी प्राप्ति अच्छी भाँतिसे हो सकती है। यदि मनुष्यभी कामक्रोधादि तमोगुणी व्यवहारसे अपने अन्तःकरणको मलिन कर देता है, तो मैले दर्पण और कीचड़से भरे हुए जलमे जैसे प्रतिबिंब नही उदय होता, उनको भगवान्का दर्शन नहीं हो सकता। इसलिये वे देखने मात्रमे मनुष्य हैं, वास्तवमे कुत्ता और गधेके समानही हैं। मनुष्य सुन्दरता, परिवार, धन आदिसे मनुष्य नहीं बन सकता है, किन्तु मनुष्योका मनुष्यत्व इसी ज्ञानसे माना गया है।"

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

१७६

राख्यो रामसे[1] स्वामीसों नीच नेहु न नातो।

एते[2] अनादर होत हूँ तैं / होत ही ते[3] न होतो ।१।

जोरे नये[4] नाते नेह फोकट फीके।

देह के दाहक[5] गाहक जी के ।२।

अपनो[6] आपने को सब[7] चाहत नीको।

मूल दुहूँ को दयाल दूलह सी-को ।३।

जीव को[8] जीवन प्रान[9] को प्यारो[10]।

सुखहू को सुख राम सो[11] बिसारो[10] ।४।

किये करै[12] करैगो तोसे खल को भलो।

---

१ से स्वामी–रा०, भा०, वे०, ह० । से स्वामि–७४। सुस्वामी–आ०, ५१।२ एते–रा०, ह०, ५१, वै० दीन, वि० । इते–भा०, वे०, मु० । एतो–भ०। ३ होत ही ते न–रा० । होत हूं तैं न–भा०, वे०, वै०, ५१। हूं तोहि ते न–ह०, भ०, दी०, वि० । होत हूं तोहि ते नहिं–७४ ।४ नये नाते–रा०, ह०, प्र०, ५१, ज० । नाते नये–भा०, वे० । ५ दाहक सबै गाहक–भा०, वे०। ६ अपनो आपने–रा० प्र०। आपनो अपने–भा०, वे०. । अपनो अपने–दीन, प्र० । अपने अपने–आ०, ७४। अपने आपने–ह० । ७ सब–रा०, प्र०, ह०, ज० । सबै–भा०, वे० । ८ को–रा०, भा०, वे० ह०, १५ । के–प्र०, ज०, डु०, वे० । ९ प्रान प्रान–रा०, भा०, वे० । १० प्यारे–विसारे–ह०, डु०, वै०, मु० । ११ सो तैं–रा०, ह०, मु० । १२ करै– रा०, भा०, वे०, भ० । ह०, ज०, आ० मे 'करे' नहीं है।

ऐसे सुसाहिब सों तू कुचाल[13] चलो ।५।
तुलसी तेरी भलाई अजहूँ बूझैं[14] ।
राड़उ[15] राउत होत फिरि कै जूझैं ।६।

नोट—१ यह पद प्राचीन किसी दो पोथियोंमें एक-सा नहीं है। सबसे भ्रष्ट पाठ मु० और ७४ का है। मु० और ७४ में बहुतसे शब्द अधिक हैं। हमने उनको पाठान्तरमें नहीं दिया है।

शब्दार्थ—हातो (सं० हात)। हातना = अलग करना; दूर करना; छोड़ देना। यथा 'कंत सुनु मंत कुल अंत किये अंत हानि हातो कीजै हीय तें भरोसो भुज बीस को। क० ६। २२', 'नाते सब हाते करि राखत राम सनेहु-सगाई। १६४।', 'हरिसे हितू सों भ्रम भूलिहू न कीजै मान, हातो किये हियहू सों होत हित हानियै।' (सूर)। फोकट = तुच्छ, जिसका कुछ मूल्य न हो; निःसार; बेकाम; व्यर्थ। यथा 'कलिमें न बिराग न ज्ञान कहूँ, सब लागत फोकट झूँठ जटो। क० ७। ८६।' फीके = नीरस; एकरस न बने रहनेवाले। दूलह = जिसके साथ भाँवरी फेरी गई हो; पति। सी (सिय) = श्रीसीताजी। कुचाल = खोटाई; चालबाजी। = पाजीपन। बूझैं (बूझे) = समझने वा चेत जानेसे। राड़ = नीच, निकम्मा; कायर; भगोड़ा। राउत = वीर; बहादुर। यथा 'होइ कि खेम कुसल रौताई। २। ३५। ६।'

पद्यार्थ—हे नीच! श्रीराम ऐसे स्वामीसे तूने स्नेह और नाता (कुछ भी) नहीं रक्खा। इतना अनादर होनेपर भी (उन्होंने) तुझे नहीं छोड़ा वा हृदयसे अलग नहीं किया*। १। तूने नये-नये नाते और प्रेम जोड़े (स्थापित किये) जो निःसार, नीरस, शरीरको संताप देनेवाले और प्राणोंके ग्राहक हैं। २। अपना और अपने स्वजनोंका भला सब चाहते हैं, (परन्तु) दोनोंके (भलाईके) मूल (जड़, कारण) दयालु श्रीजानकीपतिही हैं। ३। जीवोंके

१३ कुचाल क्यो—भा०, बै०, आ०। रा०, ज० में क्यों नहीं है। १४ बूझैं—रा०, भा०, बै०, मु०। बूझै—ह०, बै०, भ०, दीन, वि०। बूझें—डु०। १५-राड़ु-रा०। राड़-ह०, ज०, च०। राड़उ-भा०, बै०, ७४, डु०, बै०, मु०। राढ़उ-भ०, दीन, वि०।

* (संसारमें प्रीति करनेसे उलटे) अत्यन्त अनादर होनेपर भी तू नहीं छोड़ता। अर्थात् कामनावश जहां जहां जाता है, कामना पूरी नहीं होती यही अनादर और संसारकी प्रीतिका फल है। (ड०, भ० स०)। बैजनाथजीने भी ऐसाही अर्थ किया है—'संसारमें जहां जाता है तहां अपमान होता है, कुटुम्बी कुवचन कहते हैं ऐसा अनादर होता है तो भी तू हृदयसे लोकसंबंधियोंसे नेह नाता त्यागता नहीं।'

जीवन, प्राणोंके प्यारे और सुखके भी सुख हैं (जो) श्रीराम, उनको तूने भुला दिया । ४ । तुझ ऐसे दुष्टका उन्होंने भला किया, करते हैं और करेंगे—ऐसे उत्तम स्वामीसे तू कुचाल चला ! । ५ । रे तुलसी ! अब भी चेत जाने, विचारने-समझनेसे तेरा भला हो सकता है (क्योंकि) कायर (लड़ाईसे भागा हुआ) भी लौटकर फिरसे लड़नेसे शूरवीर हो जाता है । ६।

टिप्पणी—१ (क) 'रामसे स्वामी' इति । श्रीराम कैसे स्वामी हैं, यह पूर्व 'ऐसेहु साहिब की सेवा तूं होत चोरु रे ।' पद ७१,१३५,१४८,१५७,१६३ और १७१ मे दिखा आये है । अर्थात् कृपासिंधु, सहज स्नेही सखा, स्मरण एव प्रणाम मात्रसे संकोचमे पड़ जानेवाले, सबसे बड़े होनेपरभी बड़ेही सुलभ, गर्भमे भी पालन करने ज्ञान देनेवाले, दीनबधु प्रणतपाल, सुखद, सुशील, सुजान, शुचि सुहृद, सौंदर्यसीमा, दोष देखकर भी कभी रुष्ट न होनेवाले और सुकृतज्ञ इत्यादि है ।—इससे यहां केवल 'राम से स्वामी' मात्र कहकर वे सब गुण सूचित कर दिये । अथवा, यहाँ 'रामसे स्वामी' मात्र कहा, आगे अंतरा ३–५ मे इसको स्पष्ट करेंगे अर्थात् 'मूल' दुहूँको दयाल दूलह सी को ॥ जीव को जीवन ' ऐसे सुसाहिब ।' जो श्रीराम हैं ।

१ (ख) 'राख्यो नेह न नातो' इति । 'राख्यो' से जनाया कि उनसे संबंध और प्रेम पूर्व था, परन्तु तूने उसको स्थापित न रक्खा, तोड़ दिया । यथा 'ब्रह्म जीव इव सहज सनेहू । १।२१७।४।', 'ब्रह्म जीव सम सहज सँघाती । १।२०।४।', 'तुलसी तो सो राम सों कछु नई न जान पहिचानि । १९३।', 'पर्‌यो लोकरीति मे पुनीत प्रीति रामराय मोहवस बैठ्यो तोरि तरकि तराकि हौं' (बाहुक), 'जिय जब तें हरि तें विलगान्यो । तब तें देह गेह निज जान्यो । १३६।' पुनः भाव कि इस शरीरमे भी गुरुद्वारा नाता जुड़ गया था, सो यह ऐसा नीच है कि उस नाते को तोड़ डाला । यथा 'जानि पहिचानि मैं बिसारे हौं कृपानिधान, एते मान ढीठ हौं उलटो देत खोरि हौं । करत जतन जासों जोरिबे को जोगी जन, तासो क्योंहूं जुरी सो अभागो बैठो तोरि हौं । २५८।' नेह नहीं रक्खा अर्थात् उनका स्मरण, सेवा, ध्यान आदि नहीं किया जिससे प्रेमका निर्वाह होता । यथा 'सेइ न धेइ न सुमिरिकै पद प्रीति सुधारी । पाइ सुसाहिब राम सो भरि पेट बिगारी । १४८।' नाता नहीं रक्खा अर्थात् जो सेवक-स्वामि, सख्य आदि संबध उनसे थे, उन्हेभी तोड़ डाला, दूसरोसे संबध जोड़ा, दूसरोको माता पिता स्वामी सखा आदि मानने लगा । जीवके नाते ब्रह्मसे ६९(३ग,नोट २) मे लिखे जा चुके है ।

१ (ग) 'एते अनादर ' इति । प्रभुसे नाता स्नेह तोड़ देना, श्रीरामसे स्वामीको भुला देना, इत्यादि उनका निरादर करना और नीचता है । यथा

'सीतापति सारिखो सुसाहिब सीलनिधान कैसे कल परै सठ बैठो सो बिसरि सो। जीवके जीवन प्रान प्रानको परमहित, प्रीतम पुनीतकृत नीच न निदरि सो। २६४।' फिर भी उन्होंने तेरा त्याग नहीं किया, साथ छोड़ा नहीं। यथा 'तैं निज करम जाल जहँ घेरो। श्रीहरि संग न तज्यो तहँ तेरो। १३६ (४)।'

२ 'जोरे नये नाते नेह ' इति। (क) 'नये नाते जोड़' भाव कि अनादिकालसे नाता बँधा था उसे छोड़ दिया और लोकसे अनेक नये नये नाते कर लिये। अनेक बार अनेक जन्म अनेक योनियोंमें हुए सर्वत्र नये संबंधी हुए और उन-उनमें प्रेम हुआ। यह सब नेह नाते फोकट और फीके हैं अर्थात् ये निःसार हैं, नश्वर हैं, मिथ्या हैं और मिथ्या एवं सारहीन होनेसे उनमें रस वा स्वाद नहीं है। यथा 'देह जीव जोग के सखा मृषा टाँचन टाँचो। किये विचार सार कदली ज्यों, मनि कनक संग लघु लसत बीच बिच काँचो। २७७।' सांसारिक सब नाते थोड़े दिनके हैं, अतः इनसे नेह न करना चाहिए; यथा 'सुत बनितादि जानि स्वारथ रत न करु नेह सबहीं तें। अंतहु तोहि तजेंगे पामर तू न तजै अबहीं तें। १९८।' और पूर्व प्रतिज्ञाभी की थी कि नातो नेहु नाथ सों करि सब नाते नेह बहैहौं। १०४। फिरभी यह नीच जीव नये नेह नाते करता है।

२ (ख) 'देह के दाहक गाहक जी के' इति। अर्थात् इन नेह-नातोंसे शरीर सदा संतप्त रहता है और ये सब प्राणके ही लेनेवाले हैं। संयोग और वियोग दोनोंमें ये संताप देनेवाले हैं। सबके लिये जीविका उपार्जन करने और उनकी अनेक कामनाओंकी पूर्तिमें दिनरात परिश्रम और चिन्ता रहती है, शरीरका रस इसीमें निकल जाता है, फिरभी ये अपने नहीं, यथा 'त्यों सेवनहुँ निरापने मातु पिता सुत नारि ॥ दै दै सुमन तिल बासि कै अरु खरि परिहरि रस लेत। स्वारथ हित भूतल भरे मन मेचक तन सेत। १९०।' और वियोग होनेपर मम-त्वके कारण प्राणघातक दुःख होता है। [भगवद्विमुख होना जीवका नाश है। ये जीवको विमुख कर देते हैं; अतः 'गाहक जी के' कहा। (इ०, भ. स)। सबसे नेह नाता माननेसे विषयोंमें आसक्ति हो जाती है, आसक्तिसे कामना, कामना-हानिसे क्रोध, क्रोधसे मोह, मोहसे चेतनताका नाश, इससे बुद्धिका नाश और बुद्धिके नाशसे जीवका नाश होता है। यथा 'संगात्संजायते कामः । गीता २। ६२-६३।' (वै०)]

३ 'अपनो आपने को ' इति। यह संसारमें सबकी रीति है कि अपना और अपने संबंधी प्रियका सब भला चाहते हैं। यथा 'अपनो अपनेको भलो चहैं लोग लुगाई। ३५।', 'छोटो बड़ो खोटो खरो जग जो जहँ रहत। अपनो आपनेको भलो कहु सो को जो न चहत। १३३।', पर नीच जीव यह नहीं समझता कि अपना और अपनेका भला श्रीसीतानाथजीके हाथमें है, उनकी भक्ति करनेसे

दोनोंका भला होगा, अन्यथा नहीं। [तात्पर्य कि तुझे उनके सम्मुख होना चाहिए। उससे संबंधीभी सम्मुख हो जायँगे, दोनोका लोकपरलोक बन जायगा। (भ०, स०)] मनुष्य प्रथम अपना भला चाहता है तब अपने संबधीका, इसीसे प्रथमे 'अपनो' शब्द दिया। 'दयाल' है अर्थात् निस्स्वार्थ कारणरहित कृपा करते हैं, उपकारके वदलेमें उपकार नहीं चाहते और कोई उनका उपकार करेगा ही क्या ?

४ 'जीव को जीवन ' इति। श्रीरामजी जीवमात्रके जीवन, प्राणोंके प्रिय और मूर्तिमान सुखके भी सुख है। यथा 'जगदीस जीवन जीवको जो साज सब सबके सजे। १३५।', 'जीवके जीवन प्रान को परमहित। २६४।', 'प्रान प्रानके जीवके जिव सुखके सुख राम। २। २९०।', 'राम प्रानप्रिय जीवन जी के। २। ७४। ६।',—१३५ (३ घ) देखिए।

[जीवके जीवन है अर्थात् आत्मरूपसे जीवके भीतर प्रकाश किये हुए है। प्राणके प्यारे है अर्थात् प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान पाँचों प्राणोके, अन्तर्यामिरूपसे प्रकाशक होकर, अवलंब है। सुखके सुख हैं अर्थात् जितने भी प्रकारके सुख माने जा सकते है, उन सबोंके मूल कारण है। (वै., वि.)। प्राण विना प्रभुकी चेतनसत्ताके रह नहीं सकते और सुखभी विना उनकी चेतनसत्ताके सुख नहीं दे सकते। (भ० स०)]

'सो विसारो' अर्थात् जिसके विना जीवन, प्राण और सुख कोईभी रह नहीं सकते, भला उनको भुलाना चाहिए ? कदापि नहीं; पर तूने उन्हे भुला दिया अर्थात् उनसे विमुख हो गया—यहा बड़ा आश्चर्य है।

वियोगी—गीता (१५।१७) के 'पुरुषस्त्वन्यस्तदुच्यते' के अनुसार आत्माका नियंता कोई दूसरा ही है। वही जीवका जीव, आत्माका आत्मा प्राणका प्राण है। यह वाक्य अद्वैतसिद्धान्तके अनुकूल नहीं कहा जा सकता। यहां जीव और ब्रह्मका भिन्नत्व सिद्ध होता है। (वि०)।

टिप्पणी—५ 'कियो करै करैगो तोसे खलको ' इति। ऐसे स्वामीसे विमुख हुआ, अतः 'खल' कहा। श्रीराम तीनो कालोमे जीवके हितैपी है, सदा जीवोंपर उनकी दयादृष्टि रहती है। यथा 'एतेहु पर हित करत नाथ मेरो करि आयो अरु-करिहै।' १७१-(७), 'जानकिजीवन जनम-जनम ज्यायो तिहारे कौर को हो। २२९।', 'आदि अत बीच भलो, भलो करै सबही को। २६४।' जो भूत-भविष्य- वर्तमान तीनो कालोसे हितही करता है ऐसे स्वामीसे बिगाड़ करना, चालबाजी करना, विमुख होना कृतघ्नता है; भला ऐसे स्वामी, ऐसे हितैषीके साथ कुचाल चलना चाहिए ? पर तू कुचाल चला। मिलान कीजिए—'पाइ सुसाहिब राम सो भरि पेट बिगारी। १४८ (४)।', 'कपट करो अंतरजामिहुँ

सों अघ व्यापकहिं दुरावो। 'उदरु भरों किंकर कहाइ बेंच्यो विषयन्ह हाथ-हियो है। मोहिं से बचक'"। १७१।'—इत्यादि विमुखताके आचरण ही 'कु-चाल' हैं। पुनः; गर्भमें संकट समय उनसे प्रार्थना की थी कि यह संकट निवारण कर दीजिए, अबकी मैं अवश्य आपका भजन करूंगा और संकट दूर कर देने पर अपने उस एकरारको निबाहा नहीं; यह चाल भगवान्से चली, उनसे विमुख होकर पुनः विषयोंमें मन लगाया—यह 'कुचाल' है।

६ (क) 'तुलसी तेरी भलाई " इति। 'अजहूं बूझै' अर्थात् जो आयु शेष है इतनेमें भी बिगड़ी बन सकती है, अबभी कुछ गया नहीं है चेत जा, बस सब सुधर जायगा, तेरा कल्याण हो जायगा। अबतक न विचार किया तो न सही, पर अबभी विचारकर समझकर उनके सम्मुख हो जा। मिलान कीजिए—'खानि चारि संतत अवगाही। अजहुं न करु विचार मन माहीं॥ अजहूं विचार विकार तजि भजि राम जनसुखदायक। भवसिंधु दुस्तर जलरथं। १३६ (६)।', 'हरिपदविमुख काहूँ न लह्यो सुखु सठ यह समुझु सबेरो। ८७।', 'अजहुँ आपने रामके करतब समुझत हित होइ।" प्रभु कृतग्य सर्वज्ञ हैं, परि-हरु पाछिली गलानि।१६३।'

—इन उद्धरणोंसे ज्ञात हो जायगा कि क्या 'बूझै' (विचारने समझने) से 'अजहुं' भला होगा और क्या भला होगा? 'तेरी भलाई' में यह भी भाव है कि विचारनेमें ही तेरा भला है; अतः अब समय न खो, तुरत विचारकर सम्मुख हो। ऊपर जो कुछ इस पदमें कह आये हैं, उनपर विचार करना भी यहां सूचित किया है।

६ (ख) 'राड़उ राउत होत फिरि कै जूझै' इति। लड़ाईसे भाग जानेवाला 'कायर' और सम्मुख लड़नेवाला 'वीर' कहलाता है। यथा 'रन ते निलज भाजि गृह आवा। ६।८४।'. 'सनमुख मरन वीर कै सोभा।६।४१।' भागा हुआ भी फिर लौट-कर युद्ध करता है तो फिर वह वीर कहलाने लग जाता है, उसकी वीरोंमें गणना होती है। इसीतरह अबतक विषयोंमें मोहवश आसक्त रहकर हरिविमुखतामें प्रायः सारी आयु गँवा दी, प्रभुकी ओर पीठ दिये रहा, यथा 'राम तुम्ह से सुचि सुहृद साहिबहिं मैं सठ पीठि दई।१७१।' पीठ देना ही भागना है। भागनेसे ही तेरा भला न हुआ। अबभी कायरताको छोड़ सम्मुख हो जानेसे तू वीर गिना जायगा, तेरा सर्वत्र आदर होगा, तेरा भला होगा, तू सुखी होजायगा। इत्यादि। यथा 'कादरको आदरु काहूँ कें नाहिं देखिअत। रामहीके द्वारे पै बोलाइ सन-मानिअत, मोसे दीन दूबरे कपूत कूर काहली। क० ७।२३।', 'मोसे कूर कायर कपूत कौड़ी आधके। किये बहुमोल तैं करैया गीधस्राध के। १३९।', 'तुलसी तिहारे भये भयो सुखी प्रीति प्रतीति बिना हूँ। २७५।'--यहां 'ललित अलंकार' है।

पं० रामकुमारजीने यह अर्थ किया है—'जैसे कादर पीछे जूझ जाय तो लोकमें उसकी प्रशंसा होती है (कि बड़ी बीरताका काम किया) और परलोकभी बन जाता है ।

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु ।

१७७

जौं तुम्ह त्यागो राम हौं तो[1] न त्यागौं ।
परिहरि पांय काहि अनुरागौं ॥१
सुखद सुप्रभु तुम्ह सों जग माहीं ।
श्रवन नयन मन गोचर नाहीं ॥२
हौं जड़ जीव ईस रघुराया ।
तुम्ह मायापति हौं बस माया ॥३
हौं तो कुजाचक स्वामि सुदाता ।
हौं कुपूत तुम्ह हित[2] पितु माता ॥४
जौंपै कहूँ कोउ बूझत[3] बातो ।
तौ † तुलसी[4] बिनु मोल बिकातो ? ५

शब्दार्थ—गोचर = इन्द्रियोंका विषय । बूझत = पूछता । 'बात पूछना' मुहावरा है । अर्थ है—'कुछभी खबर लेना; सुख है या दुःख इसपर ध्यान देना' अर्थात् किंचित्भी आदर करना । बिनु मोल बिकाता = बिना दामका गुलाम बन जाता ।

पद्यार्थ—हे श्रीरामजी ! यदि आप मुझे त्यागभी दें, तो भी मैं तो आपको नहीं त्यागनेका । (बताइए तो सही आपके) चरणोंको छोड़कर प्रेम करूँ तो किससे ? ।१। आपके समान सुख देनेवाला, उत्तम समर्थ स्वामी संसारमें (कहीं) कानों, नेत्रों तथा मनका विषय नहीं हुआ । अर्थात् न कानोंसे कहीं सुना

१ तो न—रा०, प्र०, ज०, १५ । तो नहिं- भ०, वे०, ह०, आ० । नहिं- मु०, ७४ । २ हित पितु—रा०, ह०, ७४ । पितु हित—भा०, वे० । गुरु पितु—प्र०; ज०- ही पितु-५१, आ० । ३ बूझत-रा०, भा०, वे०, आ० । बूझतो-भ०, १५ । पूछतो। प्र०, ज० । नोट-प्रायः आ० में सर्वत्र 'हो' की जगह 'हौं' है । † यहां तक ६६ की प्रतिमें का पन्ना नहीं है । ४- न बिनु- ६६ । औरोंमें केवल 'बिनु' है । उपर्युक्त पाठका अर्थ जो हमने किया है, उसमें ६६ के पाठका भाव आ जाता है । डु०, भ० स० ने यही अर्थ किया है । वे० ने भी यहा भावार्थ किया है ।

गया, न नेत्रोंसे देखनेमें आया और न मनके अनुमानमेंही आया। २। हे रघुराजजी! मैं मूर्ख जीव हूँ और आप (समर्थ) ईश्वर हैं, आप मायाके स्वामी हैं और मैं मायाके वश (मायाका गुलाम) हूँ, मैं तो बुरा भिक्षुक हूँ, और हे स्वामी! आप उदार दाता हैं। मैं कुपुत्र हूँ और आप हित करनेवाले माता पिता हैं। ३-४। यदि कहीं कोई बातभी पूछता तो क्या तुलसी बिना दामका गुलाम हो जाता? । ५।

टिप्पणी—१ 'जौं तुम्ह त्यागो ' इति। (क) 'जौं' संदिग्ध शब्द देकर जनाया कि आप त्यागेंगे नहीं, त्यागनेमें संदेह है, फिरभी यदि आप त्यागभी दें तो भी मैं तो आपका द्वार छोड़नेका नहीं। 'जौं तुम्ह तजहु भजौं न आन प्रभु यह प्रवान पन मोरें। ११२।४' का ही भाव यहाँ है। न छोड़नेका कारण आगे कहते हैं। [याचकोंकी रीति है कि वे अधर्मी कृपणके द्वारपर तो जाते नहीं, उदार धर्मात्माके ही द्वारपर जाते हैं; क्योंकि धर्मात्मा है अतः मारेगा नहीं और उदार है अतः 'नहीं' करेगा नहीं। कारण कि नहीं करनेसे उसके निर्मल यश-चन्द्रमें कलंक लगेगा। इसी बलपर याचक बिना दान पाये द्वार नहीं छोड़ता। वैसेही श्रीरघुनाथजी धर्मात्मा उदार दानी हैं, यह जानकर मैं हठ कर रहा हूँ। (वै०)। आगे कहा भी है—'हौं माचल लै छूटिहौं नेहि लागि अर्‍यो हौं। २६७।']

१ (ख) 'परिहरि पाँय काहि अनुरागों' इति। बड़े दानीका द्वार छोड़कर दूसरी जगह तभी याचक जायगा जब दूसरा कोई उसके समान या बढ़कर हो। अतएव मैं आपके चरणोंका आश्रय तभी छोड़ सकता था जब आपका-सा दूसरा स्वामी होता, परन्तु आपका-सा स्वामी दूसरा नहीं है—यही आगे कहते हैं। यदि कोई हो तो बताइए। यथा-''जौ पै दूसरो कोउ होइ। तौ हौं बारहिं-बार प्रभु कत दुख सुनावौं रोइ॥ आपु-से कहुँ सौंपिऐ मोहि जौ पै अतिहि घिनात। दास तुलसी और बिधि क्यों चरन परिहरि जात।२१७।' पूर्वके 'जाउँ कहाँ तजि चरन तुम्हारे।१०१।' 'कहाँ जाउँ कासों कहौं और ठौर न मेरे।१४९।' तथा आगेके 'और कहँ ठौर रघुबंसमनि मेरें। २१०।'—इन पदोंके भाव इस चरणमें है।

२ 'सुखद सुप्रभु तुम्ह सो ' इति। आप-सा सुखद सुप्रभु कहीं न सुना है न देखा। यथा 'हौं जानतु भली भाँति अपनपौ, प्रभुजू सो सुन्यो न साके। उपल भील खग मृग रजनीचर भले भए करतब काके।२२५।', 'सदगुनसिंधु स्वामि सेवकहितु कहुँ न कृपानिधि सो लहौं। २२२।' मनसे अनुमान करनेपर भी कोई ऐसा न देख पड़ा यथा 'मेरो कह्यो सुनि पुनि भावै तोहि करि सो। चारिहुँ बिलोचनु बिलोकु तू तिलोक महँ, तेरो तिहुँ काल कहुँ को है हितु हरि सो। २६४।' (भाव कि हृदयके नेत्रोंसे देखनेपर भी आपके समान हितपी कोई न मिला)'

३ 'हो जड़ जीव ईस रघुराया। ''' इति। अज्ञ और असमर्थ होनेसे जीवको जड़ कहा। यथा 'ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशौ' (श्वे० १।९)। मुझे अपनी हानि-लाभ नहीं सूझती। आप ईश अर्थात् समर्थ है, ईश्वर है। समर्थको असमर्थकी, ईश्वरको अज्ञ जीवकी रक्षा करनीही चाहिए। पुनः 'जीवतीति जीवः॥' अर्थात् ईश्वराधीन सत्तावाला, आपके जिलानेसे ही जीनेवाला हूँ। 'हों वस माया' अर्थात् मैं मायाके अधीन होनेसे आपको भूला हुआ हूं। यथा 'तव मायावस जीव जड़ संतत फिरइ भुलान। ७।१०८।', 'मायाबस परिछिन्न जड़ जीव। ७।१११।' मायावश मैं जड़ हो गया और क्लेशोंसे घिरा हूँ। यथा 'स्वाविद्या संवृतो जीवः सक्लेशनिकराकरः।' भाव कि आपही मायाके प्रेरक हैं, उसके बंधनसे मुक्त करनेवाले है, जीव अपनेसे नहीं छूट सकता। यथा 'बंधमोच्छ-प्रद सर्वपर माया प्रेरक सीव। ३।१५।', माधो असि तुम्हारि यह माया। करि उपाय पचि मरिअ तरिअ नहिं, जब लगि करहु न दाया। ११६।', 'बिनु तव कृपा दयाल दासहित मोह न छूटै माया। १२३।'—तात्पर्य कि जीवका जीवत्व और उसका मायाबंधनसे मुक्त होना जब आपके ही हाथमे है और 'देव दनुज मुनि नाग मनुज सब' तो मायाविवश स्वयं है, तब आपके चरण छोडकर कहाँ जाऊँ ?

वियोगीजी—यहां स्पष्टरूपसे जीव और ब्रह्मका अनैक्य सिद्ध कर दिया गया है। जीव 'जड़' इस लिये कहा गया कि उसमे मायाकृत आवरणके कारण सदसत् ज्ञानका पूर्ण अभाव रहता है। अणुत्व होनेसे उसका ज्ञान परिमित रहता है। वह स्वपुरुषार्थसे अनन्तके सबंधमे कुछ भी नहीं सोच सकता, अतएव चैतन्य होते हुए भी वह जड़ही है। इसके विरुद्ध परमात्मा ईश हैं अपरिमित ज्ञानसंपन्न है। मायाके अधीन होनेसे जीवमे दुःख-सुख-प्रभृति द्वन्द्वोंकी संभावना है, किन्तु कैवल्यरूप ब्रह्म, माया अपरिच्छिन्न परमात्मा सदा द्वन्द्वोंसे विमुक्त है। तत्त्वतः ब्रह्मका अंशस्वरूप ('ममैवांशो जीवलोके'—गीता) होनेके कारण जीवका ब्रह्मके साथ तादात्म्य अवश्य है, किन्तु मायाके प्राबल्यसे, जो माया ब्रह्मके अधीन है, जीव अपना स्वरूप भूल गया है। यदि माया मिथ्या होती तो ब्रह्मस्वरूप जीवपर उसका कुछ प्रभाव न पडता; किन्तु ऐसा नहीं है। उसकी भी कुछ सत्ता है, चाहे वह अज्ञानावस्थाहीकी क्यों न हो; वह जीवको भुलावेमे डालनेके लिये पर्याप्त है।

बैजनाथजी—भाव यह कि कृपा करके मायाको रोककर जीवकी जड़ता हर लीजिए। आपने रघुवंशनाथ होकर पशु-पक्षी आदि जड़ जीवोंका उद्धार किया, मुझ प्राकृत नरका भी उद्धार कीजिए।]

टिप्पणी—४ 'हो तो कुजाचक इति। [उत्तम याचक वे हैं जो सद्गुण

संपन्न दाताका यश गाकर अपनी मर्यादाके योग्य दान माँगते हैं। मैं गुणहीन हूँ, मुझे यश गाना नहीं आता और तुच्छबुद्धि अल्पज्ञ एवं विषयी होनेसे अर्थादियुक्त मुक्ति माँगता हूँ, अतएव मैं कुयाचक हूँ। (वै०)। अथवा, जीवको कुयाचक कहा, क्योंकि यह केवल ऐहिक वैभव माँगता रहता है। पुत्र-कलत्रादिके याचनेमें मग्न रहता है, कभी भूलकर भी मुक्ति नहीं माँगता'—(वि०)। वा, कंगाल याचक होनेसे कुयाचक कहा। (भ०)] जिसे माँगनाभी नहीं आता, वह कुयाचक है। कुपूत वह है जो माता पिताकी आज्ञामें न चले, जिससे कुलके सद्धर्मोंका नाश होता हो। यथा 'जिमि कपूत के उपजें कुल सद्धर्म नसाहिं। ४। १५।' पुनः कुयाचक वह है जो माँगता भी है और पानेभरभी बुरा-भला कहता है ऐसा कृतघ्न है।

जो पुत्र निकम्मा होता है, उसपर माता-पिताका विशेष ध्यान रहता है कि यह सुधर जाय, सदा वे उसके हितकी कामना किया करते हैं। श्रीशङ्कराचार्यजीने भी स्तुति करते हुए कहा है—'कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति।' (दुर्गा अपराधक्षमापन स्तोत्र)। पुत्र भले ही कुपुत्र हो जाय पर माता उसके साथ कुमाता नहीं बन जाती, उसका प्रेम कुपुत्रपरसे हट नहीं जाता।

तात्पर्य:यह कि कुयाचक और कपूतको सब दुरिया देते हैं। मेरी भी यही दशा है, कहीं कुछ न मिला। यथा 'हा-हा करि दीनता कही द्वार-द्वार बार-बार परी न छार मुँह बायो।' । २७६।' परन्तु आप 'सुदाता' उत्तम दानी हैं, आप पात्र-कुपात्रका विचार न करके याचकमात्रको ऐसा दे देते हैं कि उसको फिर याचना करनीही नहीं पडती। (पद १६३ देखिये)। और, आप माता-पिता हैं, अतः दूसरे भलेही त्याग दें किन्तु आप कुपुत्रका त्याग नहीं करेंगे। अतएव 'परिहरि पाँय काहि अनुरागो' मैं आपको छोड़ नहीं सकता, मुझे कहीं आश्रय मिल नहीं सकता। यथा 'रामही के द्वारे पै बोलाइ सनमानिअत मोसे दीन दूबरे कपूत कूर काहली। क० ७। २३।'

[(वै०)—"आप सुदानी हैं। इस बलपर मुझे भरोसा है कि मैं दान पाऊँगा। भाव यह कि अजामिल और यवनादिके मुखसे तो भ्रमवश नाम निकला था, सो उनका उद्धार आपने किया, तब मैं तो अनेक बार नाम लेता हूं, मेरा उद्धार क्यो न करोगे? कुपूत हूँ अर्थात् आपका गुलाम कहलाकर कामादिके वशमें पडा हुआ असत् कर्म करता हूँ जिससे आपकी अपकीर्ति होती है। आप माता-पिता हैं। माता-पिता अपने नामकी लज्जासे कुपुत्रका भी पालन करते है। अतः यद्यपि मैं महा अधम अपराधी हूँ तो भी अपने नामकी लज्जासे मेराभी पालन करोगे"]

५ (क) 'जौं पै कहूँ कोउ बूझत बातो। ' इति। खोटेको कोई नहीं

पूछता, इसीसे मुझको कोई पूछनेवाला नहीं है। यथा 'बेचें खोटो दाम न मिलै, न राखे कामु रे। ७१।', 'द्वार द्वार दीनता कही काढ़ि रद परि पाहूं। हैं दयाल दुनी दस दिसा दुखदोपदलनछम कियो न संभापन काहू। २७५।'

५ (ख) 'तौ तुलसी बिनु मोल बिकातो' इति। भगवान्सहायजीने जो अर्थ किया है, वहही मुझे विशेप संगत जान पड़ता है। पूर्व प्रार्थी विनय वर आया है कि मुझे कहीं ठिकाना नहीं है, इसलिये मैं विना मूल्यके ही विकता हूँ; यथा 'मेरे रावरिये गति है रघुपति बलि जाउँ। निलज नीच निरधन निरगुन कहँ जग दूसरो न ठाकुर ठाउँ॥ कीजे दास दास तुलसी अब कृपासिंधु बिनु मोल बिकाउँ। १५३।'—इसीका संकेत करते हुए यहाँ कहते हैं कि क्या मैं विना मूल्यका विकता? अर्थात् तब तो करारे दाम लेकर विकता। तुच्छसे तुच्छ वस्तुके जब कई ग्राहक हो जाते है, तब उसका भी मूल्य लाग-डाँटमे बढ़ जाता है, तब वह विना मूल्यके किसीको कब मिल सकती है? तात्पर्य यह कि आपको छोड़ दूसरा कोई मुझे पूछनेवाला नही है, अतः 'हो तो न त्यागो।' अतएव बुरा-भला जैसाभी हूँ आप मेरा त्याग न करे।—'जैसो हो तैसो राम रावरो जन जिनि परिहरिये,। २७१।'

[इस पाठका अर्थ औरोंने प्रायः यह किया है कि 'तो हम उसके हाथ विना मूल्यके विक जाते, परन्तु कोई हमको बात पूछनेवाला नहीं है।' (यह अपनी सब प्रकार अयोग्यता दिखा रहे है)।' (प० रा० कु०)।]

नोट—१ मिलान कीजिए-'जौ तुम्ह तजहु भजौं न आन प्रभु यह प्रवानपन मोरें। मन क्रम बचन नरक सुरपुर जहँ तहँ रघुबीर निहोरें। ११२।'—यही भाव प्रस्तुत विनयके 'जौं तुम्ह त्यागहु हो तो न त्यागों' मे है। और वहाँके 'काल कर्म गति अगति जीव के सब हरि हाथ तुम्हारे।' का भाव यहाँके 'हो जड़ जीव ईस रघुराया। तुम्ह मायापति हो बस माया।' मे है। भेद केवल इतना है कि वहाँ प्रभुको उलहना दिया है, धृष्टता की-थी और यहाँ विनीत होकर अपनी सब प्रकार अयोग्यता प्रकट की-है।

मू० शुक्ल—जीवके लिये परमात्माके सिवाय और कहीं आरामकी जगह नहीं है। दानियोमे भिक्षुकोको दान देना और माता पिताओंमे पुत्रोंकी रक्षा करना आदि भाव जो दिखलाई पड़ता है, वह परमात्मशक्तिकी उत्कर्पता है। इनके सिवा जीवोंमे प्रयोजनके लियेही प्रीति है, तोभी अपमान आदि क्लेश सहते हुए भी रागसे बँधा हुआ प्राणी स्त्रीपुत्रादिकोको नही छोड़ता है और यदि कभी प्रयोजनवश उनसे सत्कार होता है तो फिर क्या कहना, फूला नहीं समाता, विना मोलही विक जाता है; किन्तु मूर्खतावश यह नहीं समझता कि ये स्वार्थकेही साथी है और विना स्वार्थका दयालु केवल परमात्मा है।

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

१७८ (१२०)

भये[1] हुँ उदास राम मेरें आस रावरी।
आरत स्वारथी सब[2] कहैं बात बावरी॥१
जीवन को दानि[3] घनु कहा[4] ताहि चाहिये।
पेम[5] नेम कें निबाहें चातकु सराहिये॥२
मीन तें न लाभ लेसु पानी पुन्य पीन कों।
जल बिनु थलु कहां मीचु बिनु मीन कों॥३
बड़े हि[6] की ओट बलि बांचि आये छोटे हैं।
चलत खरे के संग जहां[7] तहां खोटे हैं॥४
एही[8] दरबार भलो दाहिनेहुँ[9] बाम को।
मोको सुभ[10] दायक भरोसो रामनाम को॥५
कहत नसानी ह्वै है हियें नाथ[11] नीकी है।
जानत कृपानिधान तुलसीके जी की है॥६

शब्दार्थ—बावरी = पागल की सी। जीवन = जल। यथा 'होइ जलद जग जीवन दाता। १।७।१२।', 'होइ न चातक पातकी जीवनदानि न मूढ़। दो० २९९।' उदास = निरपेक्ष; किसी वस्तुसे चित्तके हट जानेका भाव। मीचु = मृत्यु; यथा 'तकै मीचु जो नीचु साधुको सो पावरु नेहि मीचु मरे १३७।' खरा = अच्छा; जिसमें मेल न हो। खोटेका उलटा। पीन = पुष्टकारी।

पद्यार्थः—श्रीरामचन्द्रजी! आपके उदासीन होनेपर भी मुझे आपकीही आशा रहेगी। आर्त और स्वार्थी (लोग) सब पागलकी-सी बातें कहा करते हैं† ।१। मेघ जलका दाता है उसे चाहिएही क्या? परन्तु प्रेम और नेमके निबाहने (ही)से चातककी प्रशंसा की-जाती है।२। पवित्र और पुष्टकारी जलको मछली

---

१ भयो हुँ–९९। भएहु–रा०, १५। ☞ शेषपदभरमे ९९ का ही सब पाठ रा० मे है। भयेहूँ-भा०, वे०, प्र० ७४, आ०। भएउ-ह०। भयहु- ७४। २ सबै ह०। ३ दानी, ५ प्रेम, ६ ही—भा०, वे०, प्र०, ह०, आ०। ३ दानि-९९, रा०, भ.। ६ हि-९९, रा., ७४। ४ कहां- ९९।७ जहँ तहँ–वे.। ८ एही–रा., ९९, भा., वे., मु०। यहि- आ०। ९ दाहिनेहूँ–७४। १० सुख–ह०, ज०, ७४। ११ माहिं—भा०, वे०, ह०, ज०, ७४।

† प० रामकुमारजीका अर्थ–'आर्त स्वार्थी मेरी बातको सब बावरी कहते हैं' अर्थात् वे कहते हैं कि स्वामीके उदास होनेपर तो तुम्हारी आशा व्यर्थ है।

से किंचित्भी लाभ नहीं है; परन्तु मछलीके लिये जल-बिना मृत्युके सिवा (वा मृत्युरहित) स्थानही कहां है ?। ३। मैं बलिहारी जाता हूँ ! बड़ोंहीके आश्रयमें छोटे बचते आये है। (देखिए खरे (सिक्कों) के साथ जहाँ-तहाँ खोटे (सिक्के) भी चल जाते हैं। ४। इसी दरबारमें अनुकूल-प्रतिकूल सम्मुख-विमुख दोनोंका भला है*। मुझको (तो) रामनामका भरोसा मंगलका देनेवाला है। वा, कल्याणकारी रामनामकाही भरोसा है। ५। कहनेमें बिगड़ गई होगी, परन्तु हे नाथ! हृदयमें अच्छी है (अर्थात् कहने न बना होगा, परन्तु हृदयमें भावना दृढ़ और उत्तम है। अतः आपके रीझने योग्य है)‡। हे कृपानिधान! आप तो मेरे हृदयकी जानते ही) हैं।६।

नोट—१ पिछले पदमें कहा था कि यदि आप मुझे त्याग देंगे तो भी मैं आपको छोडनेका नहीं। इसपर यदि आप कहे कि न तो हम त्याग ही करते हैं और न ग्रहण ही। तब तीसरी बात रह जाती है—उदासीनता। यथा 'त्यागब ग्रहब उपेच्छनीय अहि हाटक तृनकी नाईं'। तो उसपर कहते हैं—'भयेहुं उदास राम '''।

टिप्पणी—१ 'भयेहुँ उदास राम '' इति। (क) तात्पर्य कि आप यह न समझें कि आपकी निरपेक्षता देखकर मैं आपको छोड़ दूंगा, मैं तबभी आपका ही आशा भरोसा रक्खूंगा। आपके मुहँ फेर लेनेपरभी मैं दूसरेके द्वारपर नहीं जानेका, दुःख भोग रहा हूं और भी भोग लूंगा। मिलान कीजिए—'प्रभुको उदास भाव जनको पाप प्रभाव, दुहूं भांति दीनबंधु दीन दुःख दहेगो। ... तेरे मुहँ-फेरे मोसे कायर कपूत कूर लटे लटपटेनिको कौन परिगहैगो। ''' तोहि बिनु मोहिं कबहूं न कोऊ चहैगो। २५९', 'साहिब उदास भये दास खास खीस होत, मेरी कहा चली, हौं बजाइ जाइ रह्यो हौं। अनत चह्यो न भलो सुपथ सुचाल चल्यो नीके जिय जानि इहां भलो अनचह्यो हौं। २६०।'—इस प्रकार जनाया कि आप उदासीन रहेंगे तो मैं चातकवत् एकांगी प्रेम निबाहूंगा। यथा 'जौं घन बरसै समय सिर जौं भरि जनम उदास। तुलसी या चित चातकहि तऊ तिहारी आस। दो० २७८।'

१ (ख) 'आरत स्वारथी सब '' इति। भाव यह कि मेरे कहनेपर बुरा न

*टेढेको भी सीधा व्यवहार करनेवाला यही अच्छा दरबार है। (वीर)।

‡अर्थान्तर—१ कहनेसे बात निष्फल होजायगी, इससे हृदयमें रखना अच्छा है। (दु०, भ०, स०)। २ कहनेसे तो बात बिगड़ जायगी (अर्थात् भीतरका भरम खुल जायगा; इसलिये हृदयमेंही रखना अच्छा है। (भ०)। ३ 'कह देनेसे बात बिगड़ जायगी (क्योंकि आर्त हूँ, बावला हूँ, स्वार्थी हूं), इससे हृदयमें भली भाँति रखना अच्छा है। (वि०)। ४ कह देनेसे सब बात बिगड़ जायगी (सारा भेद खुल जायगा) ।—(पो०)।

मानिये, क्योंकि मैं आर्त हूं, संसृतिक्लेशसे पीड़ित हूं और स्वार्थी हूं, आपके प्रेमभक्तिकी चाह है। आर्त और स्वार्थीके वचनोंका बुरा न मानना चाहिए, वे अपने स्वार्थ और दुःखके कारण ऊटपटांग बक जाते हैं। यथा 'आरत कहहिं विचारि न काऊ। सूझ जुआरिहि आपन दाऊ। २। २५८। १।', 'कहउँ वचन सब स्वारथ हेतू। रहत न आरतके चित चेतू। २।२६६। ४।'; 'अति आरत अति स्वारथी अति दीन दुखारी। इनको बिलगु न मानिये बोलहिं न सँभारी। ३४।'

["भाव यह है कि आपको मेरी बातें असंगत जान पड़नेका कारण यही है कि मैं दुःखी होनेके कारण अनाप-शनाप बकता हूं।" (दीनजी)। "भाव यह कि आप जो नित्य अपने जनोपर कृपादृष्टि रखते हैं, उनके लिये तो मैं कहता हूं कि आप चाहे उदासीन हो जायँ और मेरे लिये, अभिमानकी बात कहता हूं कि मुझे तो आपकीही आशा है, यह पागलोंकी-सी बातें ही तो हैं।(पोद्दारजी) पुनः, "भाव यह कि मेरी बनी बिगड़ी बावली बातपर दृष्टि न देकर मेरी गरज (स्वार्थ, चाह) पर दृष्टि दीजिए"। (वै०)]

२ 'जीवनको दानि घन ' ' इति। प्रभुके उदास रहनेपर मुझे क्यों आपकी ही आशा है, इसपर मेघ और चातकका दृष्टान्त देते हैं। जैसे संसारभरको जल देनेवाला मेघ चाहे चातकसे उदासीन रहे, पर पपीहेकी प्रशंसा मेघसे प्रेम-नेमके निवाहनेमें ही है; जैसे चातकसे मेघका कोई हित या स्वार्थ नहीं तो भी पपीहाका वही धर्म है कि अपना नेम निबाहे। वैसेही मुझसे आपका कोई हित या स्वार्थ नहीं है, तोभी मेरा धर्म यही है कि मैं आपहीकी आशा करूं, आपसे ही याचना करूं। आप चाहे मेरी ओरसे मुँह फेरे रहे, उदासीन रहे, तो भी मेरी सराहना इसीमें है कि मैं अपनी ओरसे एकांगी प्रेम निबाहूं, अपनी टेक न छोड़ूं, दूसरे द्वारपर न जाऊं' यथा 'तीनि लोक तिहुँ काल जस चातकहीके माथ। तुलसी जासु न दीनता सुनी दूसरे नाथ। दो० २८८।'

[टीकाकारोंके भाव—१ मेघ निस्स्वार्थ जगत्की भलाईके लिये जल बरसता है, पपीहाको प्रेमी बनानेके लिये नहीं, किन्तु चातककी सराहना अपना नेम प्रेम पूरा करनेसे ही होती है। यद्यपि आप जगतके उपकारी है तब मेराभी उपकारही करेंगे, तोभी मैं आर्तवश बावलेकी तरह सहायताके लिये प्रार्थना करता हूं।(वीर) २-मेघ निस्स्वार्थ स्वाती नक्षत्रमे चातकको जलदान देता है, यह उसकी उदारता है चातकका प्रेम है मेघमे और नियम है कि स्वातिवर्षाका ही जल लेगा और वहभी केवल एक बूँद। इस प्रेमनेमके निर्वाहसे अन्य व्रतधारियोंमे चातककी प्रशंसा है। भावयह कि मेघकी उदारतासे चातककी प्रशंसा है, वैसेही आपकी उदारतासे मेरी अनन्यताकी प्रशंसा होगी। (कि वह मेघसे प्रेमकर नेमसे स्वातिका एक बूँद जल पीकर जीता है ! (वै०) ! ३ उदारता तो मेघकी है, पर प्रशंसा चातककी की-

जाती है। इसी प्रकार आप तो मुझे निहाल करेंगेही और तारीफ मेरी होगी यह आपकी अनन्य भक्तिकी महिमा है, और कुछ नहीं। और यह अनन्यता आपकी कृपासेही मिलती है। अतएव जीवमें जो कुछभी पौरुष है उसके मूल कारण आप ही हैं।'' वि०)। ४ मेघको क्या चाहिए? अर्थात् अपने आश्रितपर दया करनी चाहिए, निष्ठुरता न करनी चाहिए। और यदि निष्ठुरता करेभी तोभी अपना प्रेम नेम निवाहनेसे ही चातककी प्रशंसा होती है। तात्पर्य कि आप समर्थ हैं, आप जो करें सो फबता है, किन्तु मुझको अपना धर्म एकांगी प्रीति निवाहना चाहिए। (ढु०, भ० स०) — 'चातकके एकांगी प्रेमकी सराहना' पर ६५ (४ ख, ५ क) देखिए।

टिप्पणी–३ 'मीन ते न लाभ लेसु' इति। जो जल पवित्र और पुष्टकारक है, उसे मछलीसे क्या लाभ? कोई भी तो नहीं। अतः वह मछलीकी ओर-से भलेही उदासीन रहे; परन्तु मछलीके लिये दूसरा ठिकाना ही नहीं, विना उसके वह जीवित नहीं रह सकती। आपही बतायें, क्या जलके अतिरिक्त (जलसे भरे हुए स्थानके सिवा) कहीं कोई भी दूसरा स्थान है जो उसके लिये मृत्युरहित हो, जहाँ वह मरे नहीं? यथा 'मीन जल बिनु तनु तजै (सलिल सहज असंग)। कृ० गी० ५४।', 'नतरु निपट अवलंब बिहीना। मैं न जिअब जिमि जल बिनु मीना। २।६६।८।' वैसेही मुझसे आपको कोई लाभ नहीं है; तोभी मुझे तो आपके सिवा कहींभी ठिकाना नहीं है, मेरा जीवन मेरा उद्धार आपके ही अधीन है। मछलीका एकांगी प्रेम कविने दोहावलीमें बड़ी सुन्दर रीतिसे दरसाया है; यथा 'देउ आपने हाथ जल मीनहि माहुर घोरि। तुलसी जियै जो वारि बिनु तौ तु देहि कवि-खोरि। दो० ३१७।'

वियोगीजी—''सर सूख्यो पंछी उड़े, औरै सरनि समाहि। दीन मीन बिनु पंख के, कहु रहीम कहँ जाहि''—इसी अनन्य निष्ठाके कारण दीन मीनकी प्रशंसा हुआ करती है। इसी प्रकार आपको छोड़कर मुझे कहीं ऐसा ठौर नहीं है, जहाँ मैं कराल-कालके गालमें न जाऊँ। रहता तो मैं अपने स्वार्थवश आप-की शरणमें हूँ, किन्तु लोग इसे अनन्यता कहते हैं और मेरी प्रशंसा करते हैं। यह आपही की कृपा है।

नोट—२ मिलान कीजिए 'केकावलि' के—''दयाब्द बलशील तू तरिन चातकां सेवकां. उणें किमपि भाविका ध्वगशील तूं देवकां। अनन्यगतिका जना निरखि तां चि सोपद्रवा, तुझ चि करुणार्णवा मनं धरां उभोपद्रवा। २०।'' से। यहाँ भक्तोंको चातकोंकी और उपास्यको मेघकी उपमा देते हुए मयूर कविजी कहते हैं—हे दयाघन! तुम चातकोंकी ओर झुकोगे तो उनको किसीभी बातकी न्यूनता न रहेगी और तुम उनकी उपेक्षा करोगे (उनकी ओर झुकनेमें

संकोच करोगे) भी क्योंकर? क्योंकि तुम स्वयं जानते हो कि चातकोंका जीवन तुम्हारेही हाथ है। अतएव उनको अनन्यगतिक जानकर तुम विना माँगेही वर्षा करते हो।—इधर गोस्वामीजी कहते हैं कि 'पानीका देनेवाला मेघ चातकोंसे क्या चाहता है? निःस्वार्थ भावसे ही वह चातकोंको जल देता है। मेघकी यह उदारता चातकोंके प्रेम और नेमकी प्रशंसाका अवसर देता है।

यहां दोनो कवियोंने यह भाव बड़ी उत्कृष्टतासे दिखाया है कि यदि चातकों (भक्तों) के चित्तमें मेघ (घनश्याम) के साथ प्रेम और नेम न हो, तो मेघ अपनी स्वार्थरहित उदारतासे उस प्रेम और नेमको (जो चातकोंमें होना चाहिए) प्रकट कर दिखाता है। इसी तरह परमात्मा भी अपने जनोंकी भक्तिको, उनमें न भी हो तो भी, अपने कृपाप्रसादसे प्रस्फुटित कर देता है। या यों कहिए कि अनन्यगतिक भक्तोंपर विना भक्ति और प्रेमके भी परमात्मा प्रसन्न होता है। (प० रामचन्द्रगोविन्द काटे। तुलसीपत्र ५। १ सं० १९७५)।

टिप्पणी—४'बड़े हि की ओट ...' इति। भाव यह है कि जैसे खरे सिक्कों के साथ एक आध खोटा सिक्काभी चल जाता है. खरे सिक्कोंने खोटेको अपने साथ नहीं रक्खा. किन्तु खोटा उनके साथ लगकर चल जाता है. वैसेही आप हमें न भी अपनायेंगे तो भी मैं आपका दास कहाकर भवसे बच जाऊँगा। और जैसे बड़ेकी ओटसे अर्थात उनकी शरण लेनेसे छोटे बचते चले आये हैं वैसेही मुझे भी पूर्ण विश्वास है कि आपका आश्रय लिये रहनेसे आपके नाम आदिकी ओट से कराल कलि और भवका प्रभाव मुझपर न पड़ेगा। (तु०. भ० स०)।

बैजनाथजी—सबल समर्थका पल्ला पकड़ लेनेसे छोटे निर्बल बचते आये हैं, जैसे नामकी ओटसे अजामिल और यवन आदि यमसाँसतिसे बच गए। वैसेही मैं भी आपके नामकी ओट लिये पड़ा हूँ। अतः अवश्य भवसे बच-जाऊँगा। जैसे अनेकों (सौ पचास) खरे सिक्कों (रुपयों) के साथ राजाका नामाकित खोटा सिक्काभी जहाँ-तहाँ चल जाता है. नामाकित देख उसकी खोटपर विशेष ध्यान न देकर लोग उसे ले लेते हैं। वैसेही जहां आपके अनेक अच्छे अच्छे सेवकरूपी खरे सिक्के हैं, उन्हींके साथ वैसाही वेष-भूषा बनाये नाम लेता देख कोई मेरे अन्तः करणके विकारोंपर दृष्टि न देगा, उनके साथ मैं भी आपके साकेतरूपी खजानेमें पड़ जाऊँगा, ससार पार हो जाऊँगा- (भ०, वि०, श्री० श० आदिने इसीको अपने अपने शब्दोंमें लिखा है)।

टिप्पणी—५(क) 'रही दरबार भलो' इति। आपके उदासीन रहनेपरभी क्यों मुझे आपका आशा भरोसा है इसके चार कारण दिखा आये; अब पांचवाँ कारण कहते हैं। वह यह कि इस दरबारमें सम्मुख एवं विमुख दोनोंका भला होता देखा गया है। प्रह्लाद और हिरण्यकशिप, विभीषण और रावण विषय-

विमुख होकर भजन करनेवाले भक्त और अजामिल आदि महापापी विषयरत दोनोंका भला हुआ है। यथा 'सबरी गीध सुसेवकनि सुगति दीन्हि रघुनाथ। १।२४।', 'अपतु अजामिल गज गनिकाऊ। भये मुकुत हरि नाम प्रभाऊ। १।२६।७।', 'एही' से जनाया कि अन्य किसी दरबारमें विमुखका भला नहीं देखा गया।

५ (ख) 'मोको सुभदायक भरोसो रामनामको'—रामनामका भरोसा मेरे लिये मंगलदायक है। यथा 'भरोसो जाहि दूसरो सो करो। मोको तो राम को नाम कलपतरु कलि कल्यान फरो। स्वारथ औ परमारथहू को नहिं कुंजरो नरो। २२६', 'रामनाम सो प्रतीति प्रीति राखें कबहुँक तुलसी ढरेंगे राम आपनी ढरनि। १८४।' बैजनाथजी आदिने 'सुभदायक रामनामका भरोसा' अर्थ किया है। रामनाम शुभदायक है, यथा 'एहि महँ रघुपति नाम उदारा। अति पावन पुरान श्रुति सारा॥ मंगलभवन अमंगलहारी। १।१०।', 'बाल बिलोकि अथरचनी हँसि हरहिं जनायो। सुभको सुभ मोद मोदको 'राम' नाम सुनायो। गी० ६।१८।'

६ 'कहत नसानी ह्वैहै हिये ' इति। श्रीरामजी हृदयकी भावनाको देखकर रीझते हैं। हृदयका भाव अच्छा होना चाहिए, वचनसे चाहे कहते न बने। यथा 'कहत नसाइ होइ हिअ नीकी। रीझत राम जानि जन जी-की। १।२९।४।' इसी बलपर कहते हैं कि संभव है कि मुझसे कहते न बनी हो, मैं अपनी भावना ठीकठीक वचनोंसे अदा न कर सका (कह न सका) होऊं; परन्तु हृदयमें जो भावना है वह दृढ़ है और अच्छी है (मुझे चातकवत् रामघनश्यामकी ही आशा है; मुझे आपको छोड़ दूसरी गति नहीं, जैसे जलही मीनकी गति है; आपके ही आश्रयसे मुझे भव तरना है, खोटाभी हूँ तो भी आपका ही हूँ और मुझे आपके नामका दृढ़ भरोसा है, नाम रटता हूँ, अनन्यगतिक हूं)—यह आप जानते हैं। यथा 'मुख कै कहा कहौ बिदित हैजी-की प्रभु प्रवीनको। तिहूं काल तिहूँ लोकमें एक टेक रावरी तुलसी-से मन मलीन को। २७४।' और यह आपके रीझनेकी वस्तु है; यथा 'भलो भरोसो रावरो, राम रीझिबे जोग। दो० ८५।' अतः आप मुझपर प्रसन्न होकर मुझपर समुद्रवत् कृपा करें, यह 'कृपानिधि' कहकर सूचित किया। पुनः भाव कि आप उदासीनही रहे तो भी मैं आपके अनन्यगतिक रहूंगा। मेरा कल्याण उससे अवश्य होगा, यथा 'जैसो तैसो रावरो केवल कोसलपाल। तौ तुलसीको है भलो तिहूं लोक तिहूँ काल। दो० ८४'—अतः भयेहुं उदास राम मेरें आस रावरी'।

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

१७६ राग बिलावल

कहां जाउँ कासों कहौं को[1] सुनै दीन की।

त्रिभुवन तुही गति सब अंग[2] हीन की।१।

जग जगदीस घर घरनि घनेरे हैं।

निराधार को अधार गुनगन तेरे हैं।२।

गजराज काज खगराज तजि धायो को।

मोसे दोस कोस पोसे तोसे*माय जायो को।३

मोसे कूर कायर कपूत कौड़ी आध के[3]।

किये[4] बहु मोल तैं[5] करैया गीध-आध के[3]।४

तुलसी की तेरे ही बनाए बलि बनैगी।

प्रभुकी बिलंब अंब दोष[6] दुख जनैगी।५।

शब्दार्थ—जगदीस = जगत्के स्वामी, राजा; लोकपाल। अंग = साधन; उपाय।—४१ श०, ६५ श० देखिए। = सहायक; यथा 'रउरे अंग जोगु जग को है। २। २८५।' अगहीन = साधन और सहाय रहित। दोस-कोस (दोष-कोष) = दोषोंका खजाना जायो = पैदा किया।

पद्यार्थ—कहाँ जाऊँ? किससे कहूँ? (मुझ) दीनकी कौन सुनता है? समस्त साधन-सहायरहित (प्राणी) का आश्रय तीनो लोकोमे (एकमात्र) तू ही है। १। संसारमे घर-घर बहुतेरे 'जगदीश' (स्वामी) हैं, (परन्तु) जिसके लिये कोई सहारा नहीं है, उसके लिये तेरे (ही) गुणगण आधाररूप है। २। गजेन्द्रके कार्यके लिये गरुडको छोडकर कौन दौडा था? मुझ-ऐसे दोषोके खजानेका पालन किया, ऐसा तेरे समान पुत्र किस माँने जना है? अर्थात् महान् अपराधियोदोषियोंका पालन करनेवाला आपके समान कोई दूसरा हुआ ही नहीं। ३। मुझ-ऐसे कूर, कायर, कुपुत्र और आधी कौडीके मूल्यवाले अर्थात् तुच्छको, गृध्र (जटायू) के श्राद्ध करनेवाले आपने बहुमूल्य बना दिया। ४। मैं बलिहारी जाता हूँ! (मुझ) तुलसीकी (बिगड़ी भी) तेरेही बनानेसे बनेगी। हे प्रभो! आपकी विलंबरूपी माता दुःख और दोषोको उत्पन्न करेगी, (अर्थात् यदि आप

१ को–रा०, ५१। छु वे, दीन। कौन–गा०, वे०, ह०, प्र०, मु०, भ०, ७४। २ सग–वै०, छु०, भ०। *तोसो–रा०। ३ के–रा०, छु०, दीन, वै०। को–भा०, वे० ह०, ७४ मु०, भ०। ४ कियो बडे–भ०। कियेउ बहु–७४। ५ तू–भा०, वे०। तें–औरोमें। ६ दुख दोष–भा०, वे०। \

मेरी बिगड़ी बनानेमें देर करेंगे तो मुझसे बहुत दोष होते रहेंगे और मुझे उसके परिणामस्वरूप बहुत दुःख होगा)। ५।

टिप्पणी—१ 'कहां जाउँ कासो कहो इति। (क) दूसरे चरणके 'त्रिभुअन' के संबंधसे यहाँ 'कहां जाउँ' से 'तीनों लोकों (मर्त्य, स्वर्ग और पाताल) मेंसे कहाँ जाउँ' अर्थ होगा और 'कासो' से पृथक्-पृथक् तीनों लोकोंके नरराज, सुरराज तथा लोकपालादि और नागराज आदिमेंसे किस स्वामीसे कहूं यह भाव है। 'को सुनै दीनकी' अर्थात् तीनो लोकोंमे तीनोंके स्वामियोंमे क्या कोई ऐसा है जो दीनकी सुनता हो ? अर्थात् दीनोंको पूछनेवाला कोईभी तीनो लोकोंमे नहीं है। तात्पर्य कि कोई होता तो मैं वार-वार आपसे विनय क्यों करता ? 'को सुनै दीनकी' अर्थात् दूसरा कोई दीनबंधु नहीं है, दूसरा कोई पराई पीड़ा सुननेवाला नहीं है। यथा 'दीनबंधु दूसरो कहँ पावों। को तुम्ह बिनु पर पीर पाइहै केहि दीनता सुनावों। २३२।', 'काहू तो न पीर रघुबीर दीनजन की।७५।'

१ ख) 'तुही गति सब अगहीन की'—अर्थात् जो सर्वसाधनहीन है, जिसे तिलोकीमें कोई सहायक नहीं है उसको भी शरण देनेवाले एकमात्र आपही है। तात्पर्य कि मैं दीन हूं, निस्सहाय हूं, मेरा कोई आश्रय नहीं है, सर्वसाधनहीन हूं, आपही मेरी गति है। अतः मुझेभी शरण दीजिए। पुनः, सनातन ब्रह्म ही जीवोंकी परम गति है; यथा 'परा हि सा गतिः पार्थ यत् तद् ब्रह्म सनातनम्' (म० भा० आश्व० १६।६०)। इस तरह मेरी भी गति आपही है।

☞स्मरण रहे कि पिछले पदों १७७ 'जौं तुम्ह त्यागो राम०', १७८ 'भयेहुँ उदास राम०' से इस पदका संबंध है।

२ जग जगदीस घर घरनि ' इति। यहाँ 'जगदीश' शब्दसे व्यंग्य है कि वे सब अपनेको संसारभरका स्वामी मानते हैं, परन्तु उनमे करनी कुछ नहीं है। (दीनजी)। संसारमे जिधर देखिए उधर लोग रसाहिब बन बैठे है, पर सबको अपना स्वार्थही प्रिय है। यथा 'है घर घर भव भरे सुसाहिब सूझत सबहि आपनो दाउँ। १५३।'

☞इन दो अन्तराओंका ही भाव आगे पद २७४ के 'जाउँ कहाँ ठौर है कहाँ देव दुखित दीनको। को कृपाल स्वामी सारिखो राखै सरनागत सब अगबलहीनको ॥ गनिहिं गुनिहिं साहिब चहै सेवा समीचीन को। अधन अगुन आलसिन्ह को पालिबो फबि आयो रघुनायक नवीन को।'— इस उद्धरणमे हैं।

'निराधारको अधार '—आपके गुणगण निराश्रयको आश्रय है; भाव कि आपके गुणोंको सुननेसे कि आप परम कृपाल, करुणानिधान, कारणरहित दयाल, अशरणशरण, दीनबंधु, पतितपावन, जनवत्सल इत्यादि हैं, सर्वथा पापात्मा सर्वसाधनहीन जीवोंको उद्धारकी आशा हो जाती है। यथा 'नाथ गुन-

गाथ सुनि होत चित चाउ सो। १८२।', 'समुझि-समुझि गुनग्राम रामके उर अनुराग बढ़ाउ। १००।', 'तुलसी राम-सनेह-सील सुनि जौं न भगति उर आई। तौ तोहिं जनमि जाय जननी " । १६४।' पुनः भाव कि आपके गुणोंके श्रवण-कीर्तन आदिसे जीवका भवभय छूट जाता है। यथा 'गावत गुन गन रामके केहिकी न मिटी भवभीर। १६३।'

३ 'गजराज काज खगराज "' इति। अब ऊपर जो कहा है उसका उदाहरण देते हैं कि गजेन्द्र दीन था, निस्सहाय था। उसके सब साथी और परिवारभी उसे छोड़ गए थे। कोई आश्रय उसे न रह गया था। समस्त देहाभिमानी देवता खड़े देखते रहे, परन्तु किसीने उसकी रक्षा न की। यथा 'ठोंकि बजाइ लखे गजराज, कहाँ लो कहों केहि सों रद काढे। क०७।५४।', 'रहे संभु बिरंचि-सुरपति लोकपाल अनेक। सोकसरि बूड़त करीसहिं दई काहु न टेक। २१७।' और आपको पुकारते ही आपने यह सोचकर कि गरुड़ शीघ्र न पहुँचा सकेंगे उनको छोड़कर वहाँ प्रकट हो गए और गजेन्द्रकी रक्षा की। सब कथा उद्धरणों सहित पूर्व आचुकी है। ८३ (६ ग), ९३ (२ क-ख) 'नागराज निज बल बिचारि हिय हारि चरन चित दीन्ह। आरत गिरा सुनत खगपति तजि चलत बिलंब न कीन्ह।९३।' देखिए।

दूसरा प्रमाण देते हैं कि मैं स्वयं प्रत्यक्ष प्रमाण हूँ। "लोभ-मोह-काम-कोह दोस-कोस मोसो कौन? कलिहूँ जो सीखि लई मेरियै मलीनता।"—सो उसको 'आरतें सँवारि कै पहारहू ते भारी कियो, गारो भयो पंच मे पुनीत पच्छु पाइ कै।' (क०७।६२, ६१)। श्रीकौसल्याजीने ही ऐसे पुत्र (आप) को उत्पन्न किया जो मुझ सरीखे दोषकोष प्राणीका भी पालन करनेवाला हुआ, क्या संसारमें कोईभी दूसरी ऐसी माता है जिसने ऐसा दीनबंधु पुत्र पैदा किया हो? भाव कि आपके समान संसारमें कोई नहीं। यहां काकु द्वारा भिन्न अर्थ प्रकट होनेसे 'वक्रोक्ति अलंकार' है।

४ 'मोसे कूर कायर कपूत ' इति। क० ७।६८ में जो कहा है कि "अपत उतार अपकारको अगारु जग जाकी छांह छुए सहमत व्याध बाधको। पातक पुहुमि पालिबेको सहसानन सो. कानन कपटको, पयोधि अपराधको। तुलसीसे बामको भो दाहिनो दयानिधानु सुनत सिहात सब सिद्ध साधु साधको। रामनाम ललित ललामु कियो लाखनिको, बडो कूर कायर कपूत कौड़ी आध को॥'—यह सब इस अंतरकी व्याख्या समझिए। 'बहु मोल' यह कि सब वाल्मीकिका अवतार मानते और पूजते हैं। यथा 'मानसवचनकाय किए पाप सतिभायँ, रामको कहाइ दासु दगाबाज पुनी सो। रामनामको प्रभाउ पाउ महिमा प्रतापु तुलसी सो रे जग मानिअत महामुनी सो। क० ७।७२।'

'तैं करैया गीध श्राध के'—भाव यह कि अधम खग आमिषभोगीकी श्राद्ध आजतक भला किसीने कही की है? किस शास्त्रमे ऐसा विधान है? (कहीं भी तो,नहीं)। गीधके श्राद्ध पिण्डदान आदि की कथायें ६४ (३क), ६६ (३क), १३८ (३क), 'जेहि कर कमल कृपाल गीध कहुँ उदकु देइ निज लोक दियो।१५२।' मे आ चुकी है।—ऐसे ही क्रूर कायर आदिको भी लोकपूज्य बनानेवाला दूसरा नहीं है, एक आपही है। यहां द्वितीय सम अलंकार है।

५ 'तुलसी की तेरे ही वनए ' इति। (क) भाव यह कि जैसे आपने मुझ दोषकोष क्रूर कायर-कपूतका पालन-पोषण किया, उसको बहुमूल्य बना दिया, तो अब मुझसे उदासीन न हूजिए, शीघ्र कलिद्वारा पहुंचे हुए सकटको दूर कीजिए। यथा 'आपने निवाजे की पै कीजै लाज महाराज, मेरी ओर हेरि कै न बैठिए रिसाइ कै। क० ७। ६१।', 'कलिकी कुचालि देखि दिन दिन दूनी देव, पाहरुई चोर हेरि हिय हहरान है। तुलसीकी बलि बार-बारही सँभार कीबी । क० ७। ८०।', 'काम कोह लाइकै देखाइअत आँखि मोहि।', 'कामको कोहको लोभको मोहको मोहि सो आनि प्रपंचु रचा है।' (क० ७।१००, १०१), 'तुलसी पै नाथके निवाहे निबहैगो। २५६।'

५ (ख) प्रभुकी बिलब अंब दोपदुख जनैगी' इति। माता सदा यही चाहती है कि मेरा पुत्र सुशील सुखदायक आज्ञाकारी सद्गुणसंपन्न पैदा हो, वह कभी पापपरायण दुःखभाजन पुत्र जनना नहीं चाहती। यहाँ 'बिलब' को 'अंब' का रूपक देकर उससे मूर्तिमान दोष और दुःख दो पुत्रोका उत्पन्न होना कहते है। भाव यह कि यदि आप मेरी बिगड़ीके बनानेमे देर करेगे तो मैं दोष और दुःखरूप हो जाऊंगा। [कलिप्रेरित कामादि मेरे मन और इन्द्रियोको बिगाड़कर विषयोमे लगा देगे जिससे मैं परस्त्रीमे प्रेम, परधनापहरण आदि अनेक पाप करने लगूंगा जिसका फल दुःख होगा। अतः तुरत कलिको डॉटकर कामादिसे मेरी रक्षा कीजिए। (वै०)] 'तुलसीकी तेरे जनैगी' का तात्पर्य यह है कि ससारमे दूसरोंकी बिगड़ी सुधारनेवाले चाहे कोई होभी पर मेरी बिगड़ी बनानेवाला तो तीनों लोकोमे आपके सिवा दूसरा कोई है ही नहीं, मुझे एकमात्र आपका ही अवलंब है; अतएव मेरी बिगड़ीको बनानेमे देर न कीजिए। ऐसाही आगेभी कहा है। यथा 'सुनहु राम बिनु रावरे लोकहु परलोकहुं कोउ न कहूं हितू मेरो ॥ ह्वै है जब तब तुम्हहि ते तुलसीको भलेरो । दीन दिनहुँ दिन बिगरिहै बलि जाउँ बिलंबु किए अपनाइये सबेरो ॥ २७२ ।'

सू० शुक्ल—इसमे आर्तभक्तकी भावना बतलाई है कि जीव क्लेशोका स्वरूप होनेसे सब प्रकार निकम्मा है, उसके मुक्त होनेमे जितनीही देरी होती है अधिकाधिक दोष उसमे बढ़ते जाते हैं। इस लिये गजेन्द्रकी भाँति आर्तभक्तमे आर्तिका तीव्र संवेग होनेसे शीघ्रही भगवान्के दर्शन होते हैं। श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

१८०

बारक बिलोकि बलि कीजै मोहिं आपनो।
राय दसरथ के तू उथपन थापनो ॥१
साहिब सरनपाल सबल न दूसरो।
तेरो नाम लेत ही सुखेत होत ऊसरो ॥२
बचन करम तेरे मेरे मन गड़े हैं।
देखे सुने जाने मैं जहान जेते बड़े हैं ॥३
कौने[1] कियो समाधान[2] सनमान सिला को।
भृगुनाथ सारिखो[3] जितैया कौन लीला को ॥४
मातु-पितु-बंधु-हित लोक-बेदपालु को।
बोल को अचल नत करत निहालु को ॥५
संग्रही[4] सनेह बस अधम असाधु को।
गीध सबरी को कहो करि[5] है सराध को ॥६
निराधार को अधार दीन को दयालु को।
मीत कपि केवट रजनिचर भालु को ।७
रंक निरगुनी नीच जे[6] जे तैं निवाजे हैं।
महाराज सुजन समाज ते बिराजे हैं ।८
सांची बिरुदावली न बढ़ी[7] कहि गई है।
सीलसिंधु ढील तुलसी की बार भई है ॥९

शब्दार्थ—उथपन = उखड़े हुए को। थापनो = स्थापित करनेवाले। सबल = बलवान; समर्थ। सुखेत = सुंदर (अर्थात् खूब उपजाऊ) ज़मीन; सरज़मीन।

---

१ कैसे– रा०, भा०, वे०, प्र०, ह०, १५, ज०। कौन– ५१, ७४, वि०, मु०। कौने– आ०। २ सनमान समाधान– ७४। ३ सारिखो– रा०, भा०, वे०, ७४। सारिखे– प्र० ज०, १५। सो ऋषी– आ०। ४ सग्रही– रा०, ह०, ५१, ७४, आ०। संग्रहे– भा०, वे०, प्र०। ५ करी– भा०, ७४। करि– रा०, वे०, प्र०, ह०, १५, ५१, ज०, आ०। ६ जे जे तैं– रा०, १५, ७४। जेते– भ०। जेतने– ह०, ५१, डु०। जितने– भा०, वे०, बै०, मु० दीन, वि०। ७ बढ़ी– रा०, ह०, मु०, १५, ५१। बढि– डु० बै०, ७४ वि०। बड़ि– भा०, वे० भ०।

ऊसर = वह ज़मीन जहाँ उपज नहीं होती, बीज नहीं जमता। गड़ना = डट, जम या पैठ जाना; हृदयमे जगह कर लेना। समाधान = चिन्ता-हीन। (दीनजी)। = संतोष; मनके संदेहकी निवृत्ति। सारिखो = सदृश; समान। संग्रही = सचय वा एकत्र करनेवाला = शरण देनेवाला। लीला = खेलसे; बातों ही बातोंमे; यथा 'लीलहि नाघौं जलनिधि खारा। ४। ३०। ८।' नत = प्रणाम करनेवाला। निहाल = कृतकृत्य; आनंदित। यथा 'जे जे तैं निहाल किये फूले फिरत पाए। ८०।' ढील = सुस्ती; विलंब; लापर्वाही; कार्यमे उत्साहका अभाव।

पद्यार्थ—हे राजा दशरथके पुत्र ! मैं बलिहारी जाता हूं। (मेरी ओर कृपाकोरसे) एक बार देखकर मुझे अपना कर लीजिए। आप उखड़े हुओं-को पुनः स्थापित करनेवाले हैं। १। शरणागतपालक समर्थ स्वामी कोई दूसरा है ही नहीं। आपका नाम लेतेही ऊसरभी सुंदर उपजाऊ खेत हो जाता है। २। आपके (श्रीमुख) वचन और कर्म मेरे मनमे डट गये है। संसारमें जितनेभी बडे लोग हैं वे सब मेरे देखे, सुने और जाने हुये है (अर्थात् सबकी परख मुझे मिल गई है, कोई भी किसी कामका नहीं निकला)। ३। पाषाण (अहल्या) का संतोष और आदर किसने किया ? भृगुनाथ (परशुराम) सरीखे (क्षत्रिय-कुलद्रोही वीर) को बातोंही बातो जीतनेवाला कौन है ? । ४। माता (कैकेयी), पिता और भाईके लिये लोक और वेदोंका पालन करनेवाला (दूसरा) कौन है ? बातका पक्का (जो कह दिया, उससे कभी न टलनेवाला) कौन है ? प्रणाम करनेवालेको निहाल कौन करता है ? । ५। प्रेमके वश होकर अधमों और असा-धुओंका संचय करने (शरण देने) वाला कौन है ? (भला) कहिए तो, गृध्र और शबरीकी श्राद्ध कौन करेगा ? । ६। निराश्रयका आश्रय और दीनके लिये दयाल (दूसरा) कौन है ? कपि, केवट, राक्षस और रीछोंका मित्र कौन (हुआ) है ? । ७। जिन-जिन दरिद्रो, गुणहीनों, और नीचोंपर आपने कृपा की है, हे महाराज ! वे सब सज्जनोंके समाजमे विराजमान है। ८। यह आपकी सच्ची विरुदावली है, (किंचित्भी) बढाकर नहीं कही गई है। (परन्तु) हे शीलसिंधु ! तुलसीकी (ही) बार ढील हुई है। ९।

टिप्पणी—१ 'बारक बिलोकि बलि' इति। (क) जीवपर एक बारभी किंचित् दृष्टि भगवानकी हो जाय तो वह कृतकृत्य हो जाय, उसकी बन जाय; क्योंकि कृपा जो हुई तो फिर वह हटती नहीं, बढेगी ही। यथा 'जासु कृपा नहिं कृपा अघाती। १। २८।' इसीसे एक बार ही देख लेनेकी प्रार्थना करते है और उसी पर बलिहारी जाते है। पुनः पूर्व कई बार कृपादृष्टि करनेकी प्रार्थना कर चुके है। यथा 'तुलसिदास प्रभु कृपाविलोकनि गोपद ज्यों भवसिंधु तरौं। १४१।', 'बारक बलि अवलोकिये कौतुक जन जी को। अनायास मिट जायगो संकट

तुलसीको। १४७।', 'तुलसी भलो पोच रावरो नेकु निरखि कीजिए निहाल।१५४।'
—किन्तु अबतक कृपादृष्टि नहीं हुई, अतः 'बारक' अवलोकनकी प्रार्थनाके साथ-साथ इतनेसे ही अपना बलि जाना, कृतकृत्य हो जानाभी कहा। (ख) 'कीजै मोहि आपनो' अर्थात् मुझे अपना लीजिए। भाव कि एक बारकी कृपा-दृष्टि जीवपर करदेनेका तात्पर्य यही है कि आपने उसे अपना लिया। पूर्व प्रार्थना की थी कि 'बारक कहिये कृपाल तुलसिदास मेरो। ७८।' अब कहते हैं कि श्रीमुखसे अपना नहीं कहते तो न सही आप केवल एकबार इधर देख दीजिए, इस तरह अपना लीजिए, मैं इतनेसे ही निहाल हो जाऊँगा। (ग) 'राय दसरथके तू ' इति। 'राय दसरथ के' ऐसा प्रयोग पूर्व भी आया है। यथा 'महाराज दसरथके रंक राय कीन्हे।' ७८ (५ च), ८० (३ ख), ४४ (२ ख) देखिए। "तू उथपन थापनो" अर्थात यह आपका विरुद है; यथा 'उथपे थपन उजारि बसावन गईबहोर बिरुद सदई है। १३६।'—विशेष १३६ (१२ क) देखिए। मैं उखड़ा हुआ हूँ, मुझे कहीं ठौर ठिकाना नहीं है मुझे अपनाकर पुनः स्थापित कर दीजिए जैसे सुग्रीव-विभीषण आदिको किया था।

[बैजनाथजी—'तू राय दसरथके' का भाव कि जिन राजा दशरथने सबल ग्रह शनिश्चरको अपनी अयोध्यापुरी और प्रजापर आते जानकर उन्हे रोककर शान्त कर दिया था, उन्हींके आप लाड़ले पुत्र है। आपमे यह गुण स्वभावतः है।]❋

❋श्रीदशरथ महाराजके समयमे एकबार शनैश्चर ग्रह कृत्तिकाके अन्तमे जा पहुँचे। यह जानकर ज्योतिषियोने राजाको सूचित किया—'महाराज! इस समय शनि रोहिणीका भेदन करके आगे बढ़ेगे; यह अत्यन्त उग्र शाकटभेद नामक योग है, जो देवताओ तथा असुरोंके लियेभी भयंकर है। इससे बारह वर्षोतक संसारमे अत्यन्त भयानक दुर्भिक्ष फैलेगा।' वसिष्ठजीने भी बताया कि रोहिणी ब्रह्माजीका नक्षत्र है, इसका भेदन हो जानेपर प्रजा जीवित नहीं रह सकती।

इस बातपर विचारकर श्रीदशरथजीने मनमे महान साहसका संग्रह किया और दिव्यास्त्रोसहित दिव्य धनुष लेकर रथपर आरुढ हो बड़े वेगसे नक्षत्र-मण्डलमे गए। रोहिणीपृष्ठ सूर्यसे सवालाख योजन ऊपर है; वहाँ पहुँचकर राजाने धनुषको कानतक खींचकर उसपर संहारास्त्रका संधान किया। उसे देखकर शनि कुछ भयभीत हो हँसते हुए बोले—'राजेन्द्र! तुम्हारा महान् पुरुषार्थ शत्रुको भय पहुँचानेवाला है। मेरी दृष्टिमें आकर सुर, असुर, मनुष्य, सिद्ध, विद्याधर और नाग—सब भस्म हो जाते है, किन्तु तुम बच गए। अतः महाराज! तुम्हारे तेज और पौरुषसे मैं संतुष्ट हूँ। वर माँगो; मैं अवश्य दूँगा।' राजाने कहा—'जबतक सूर्य-चन्द्रमासहित पृथिवी स्थित है तबतक आप रोहिणीका भेदन करके आगे न बढ़ें। साथही बारह वर्षोतक दुर्भिक्ष न करें।' शनिसे वर

२ 'साहिब सरनपाल ' इति। भाव यह कि साहिब तो बहुत है, यथा 'है घरघर भव भरे सुसाहिब। १५३।', 'जग जगदीस घर घरनि घनेरे हैं। १७९।', पर जो शरणपाल भी हो और सबल भी हो, जिसमे ये दोनो गुण हो ऐसा स्वामी आपके सिवा दूसरा नहीं है। आप कैसे सबल है, यह 'तेरो नाम लेतही सुखेत होत ऊसरो' से दिखाया। अर्थात् आपके नामका ऐसा प्रबल प्रताप है, ऐसी धाक है कि ऊसरभी सरज़मीन हो जाता है। यथा 'पतितपावन रामनाम सो न दूसरो। सुमिरें सुभूमि भयो तुलसी सो ऊसरो।' ६९ (५) देखिए। इस कथनमे 'ललित अलंकार' है। वास्तवमे तात्पर्य यह है कि अधम दुष्ट भी आपका नाम लेनेसे शुभगुणसंपन्न सज्जन हो जाते हैं। यथा 'श्वपच सवर खस जमन जड पाँवर कोल किरात। राम कहत पावन परम होत भुवन विख्यात। २।१९४।'

३ वचन करम तेरे मेरे मन गड़े है। ' इति। (क) वचन अर्थात् श्रीमुखसे जो आपने अपना स्वभाव, अपनी प्रतिज्ञा, शरणपालकता, भक्तवत्सलता आदि सखाओ, भक्तों, पुरजनो आदिसे समय-समयपर कहे हैं। जैसे 'कोटि विप्र बध लागहिं जाहू। आएँ सरन तजउँ नहिं ताहू॥ सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं। ५।४४।', 'सुनहु सखा निज कहउँ सुभाऊ। ' (५।४८।१-८), 'मोर दास कहाइ नर आसा। करइ तौ कहहु कहा बिस्वासा। ७।४६।', 'भजहिं जे मोहि तजि सकल भरोसा॥ करउँ सदा तिन्ह कै रखवारी। जिमि बालक राखइ महतारी। ३।४३।' इत्यादि। कर्म जैसे कि पतित अहल्याको शुद्ध कर दिया; गुह, गीध, शबरी, कोल-किरात और राक्षसोंको स्वयं जा-जाकर पवित्र किया; अधमोको गति दी, दीन सुग्रीव आदिको शरणमे लिया और लोकपरलोकमे सुयश दिया। इत्यादि। (ख) 'मेरे मन गड़े है' अर्थात् मुझे इनसे दृढ़ विश्वास हो गया है कि आपके समान गुण-स्वभाववाला सबल शरणपाल दूसरा नहीं है। (ग) 'देखे सुने जाने जहान ' ' इति। अर्थात् एक दोकी नही कहता, ससारभरकी कहता हूँ, सबको मैंने छान डाला। अपने समयके स्वामियोको देखा है, औरोंको पुराण इतिहास आदि ग्रंथोमे सुना है, सबको भली भाँति जान लिया कि कोई किसी कामका नहीं है, वे कहनेभरके ही बड़े हैं, वस्तुतः उनमे बड़प्पन नहीं है। यहां वाच्यसिद्धाङ्ग गुणीभूत व्यङ्ग

पाकर प्रसन्न हो राजाने उनकी स्तुति की। (स्तुति प० पु० उ० ३४।२७-३५ मे है)। स्तुतिसे प्रसन्न होकर शनिने और भी वर माँगनेको कहा। राजाने माँगा कि 'आजसे आप देवता, असुर, मनुष्य, पशु, पक्षी तथा नाग किसीभी प्राणीको पीड़ा न दें। शनिने युक्ति बताकर कहा कि इस युक्तिके अनुसार जो हमारा पूजन करेगा उसकी मैं रक्षा करूँगा। (प० पु० ३४)

है। 'देखे सुने'' '' यहांसे अब 'करम वचन' के मनमें गड़नेका हेतु कहते हैं।

दीनजीने इस प्रकार अर्थ किया है—''इस संसारमे मैंने जितने बड़े लोगोको देखा, अथवा उनके विषयमे जाना या सुना है, उनमेंसे केवल आपके ही वचन और कर्म मेरे मनमे जम गए है। (मैं उनपर मुग्ध हो गया हूं)।''

टिप्पणी—४ 'कौने कियो समाधान' '' इति। (क) यहाँसे अब प्रभुके कुछ वचन और कर्मोंके उदाहरण देते है। यहाँसे वक्रोक्ति अलंकारमे ही सब कह रहे है। काकुद्वारा सर्वत्र अर्थ यही है कि ऐसे एक आपही हैं, दूसरा नहीं। (ख)—अहल्याको अपने पापका सताप और शोक था, उद्धारकी तथा पुनः पति मुझे अंगीकार करेंगे इसकी चिन्ता थी। प्रभुने उसका शोक, संताप और पतिके पुनः संयोगकी चिन्ता मिटा दी। इसीसे मानसकारने प्रभुके पदका स्पर्श होते समय 'शोकनशावन' विशेषण दिया है— 'परसत पद पावन सोकनसावन प्रगट भई तपपुंज सही। १।२११।' मनभाया भक्ति वरदान मिला, पतिके साथ पतिलोकको गई, आनंदित हुई, पंच प्रातः स्मरणीय स्त्रियोमे इसकी गणना हुई—यह सब उसका सम्मान हुआ। यथा 'एहि भाँति सिधारी गौतमनारी बार बार हरि-चरन परी। जो अति मन भावा सो बरु पावा गै पतिलोक अनद भरी १।२११।'. 'रामके प्रताप गुरु गौतम खसम भए। गी० १।६७', 'अहल्या द्रौपदी कुन्ती तारा मंदोदरी तथा। पचकं ना स्मरेन्नित्य महापातकनाशनम्।' (आह्निक सूत्रावली), 'हर्‌यो पाप आपु जाइके संताप सिला को।' १५२ (४), 'कौसिक मुनितीय जनक सोच॰अनल जरत। '' ' १३४ (३ क-ख) देखिए।☞ यह दीनवत्सलता दिखाई।

(ग) 'भृगुनाथ सारिखो ' इति। 'सारिखो' अर्थात् भृगुकुलपतंग परशुराम-जी जो महान् क्रोधी थे, सहस्रार्जुनके वधकर्ता क्षत्रियकुलद्रोही और बड़े अहं-कारी वीर सुभट थे, ऐसेको भी बातकी बातमे जीत लिया। 'रोषरासि भृगुपति धनी अहमिति ममता को। चितवत भाजन कर लियो उपसम समता को।' का ही सब भाव यहाँ है— १५२ (५ क-ख) देखिए। ऐसे समर्थ अभिमानी अपरिमेय वीरको बिना युद्धकेही पराजय करनेवाला कही सुना नहीं गया, कोई हो तो बताइए? यहां ऐश्वर्य कहा।

५ 'मातुपितुबंधुहित'' ' इति। (क) माता (कैकेयी) और पिताका वचन पालकर दोनोंका हित किया। कैकेयीके वरदानकी पूर्ति होनेसे पिता उऋण हो गये। और उनके सत्यमे बट्टा न लगे तथा श्रीभरतजी राज्य करें इसी लिये वनको गए। १५२ (६ क-ख) देखिए। पिता श्रीदशरथजी और माता श्रीकैकेयीजीकी प्रसन्नताके लिये श्रीअयोध्याका ऐश्वर्य तृणके समान त्यागकर बनको चले गए, यद्यपि पिता उनको राज्य देनेकी घोषणा सभामे कर चुके थे और श्रीरामजी चाहते तो राजाके दूसरे वचनको

जो उन्होंने रानीको दिया था, न मानकर राज्य ले लेते, किंतु "कीरके कागर ज्यों नृपचीर बिभूषन उप्पम अंगनि पाई। औध तजी मगबासके रूख ज्यों, पथके साथ ज्यों लोग लोगाई॥ संग सुबंधु पुनीत प्रिया, मनो धर्म क्रिया धरि देह सुहाई। राजिवलोचन रामु चले तजि बापको राजु बटाउ की नाई। क० २।१।' और मिला हुआ राज्य श्रीभरतमाताके कारण छिन जानेसे श्रीभरतजीसे मन मोटा न हुआ; प्रत्युत उनपर पहलेसे भी अधिक प्रेम किया; यथा 'भरत प्रानप्रिय पावहिं राजू। बिधि सब बिधि मोहि सनमुख आजू। जौं न जाउँ बन ऐसेहु काजा। प्रथम गनिअ मोहि मूढ़ समाजा। २।४२।', 'तात बचन पुनि मातु हित भाइ भरत अस राउ। मो कहुँ दरस तुम्हार प्रभु, सबु मम पुन्य प्रभाउ।२।१२५।' यह स्वभाव दूसरे अवतारोंमें भी नहीं है; राज्यके पीछे महाभारत हो गया, जिससे भारतवर्षका नाश हुआ। (ख) 'लोक-बेदपाल को'—जिसे पिता राज्य दे वही उसका अधिकारी है यह लोक और वेद संमत है; यथा 'बेद बिदित संमत सबही का। जेहि पितु देइ सो पावइ टीका।२।१७५।३।' (श्रीवशिष्ठवाक्य), 'लोक बेद संमत सबु कहई। जेहि पितु देइ राजु सो लहई।२।२०७।३।'(श्रीभरद्वाजवाक्य) माता पिताका वचन पालन करनेसे लोक और वेद दोनोंका पालन होगया, क्योंकि यही पुत्रका धर्म कहा गया है। विशेष 'मुदित मानि आयसु चले बन मातु पिताको। धरमधुरंधर धीरधुर।'१५२ (६ क-ख) देखिए।

५ (ग) 'बोलको अचल' इति। 'द्विशरं नाभिसंधत्ते द्विःस्थापयति नाश्रितान्। द्विर्ददाति न चार्थिभ्यो रामो द्विर्नाभिभाषते। (हनु० १।४८ श्रीरामवचन। महानाटक २।२३ श्रीलक्ष्मणवाक्य) 'करिष्ये प्रतिजाने च रामो द्विर्नाभिभाषते।' (वाल्मी० २।१८।३)। अर्थात् राम दो बार बाणका संधान नहीं करता, आश्रितको दो बार स्थापित नहीं करता, याचकको दो बार नहीं देता और न दो बार वचन कहता है। राम जो प्रतिज्ञा करता है उसे पूर्ण करता है, दो प्रकारका वचन नहीं कहता।—तात्पर्य कि जो बात कही वह अटल है; यथा 'मृषा न कहउँ मोर यह बाना। ७।१६।७।'

५ (घ) 'नत करत निहाल को'— आपनेही प्रणाममात्रसे विभीषणादिको कृतकृत्य कर दिया; 'नमत पद रावनानुज निवाजा। ४३(७)।', 'सकृत नतमात्र कहे पाहि पाता। ४४ (६)।' देखिए। यहां औदार्य गुण दिखाया।

६ 'संग्रही सनेह बस अधम असाधु' इति। जटायु, राक्षस विभीषण, भील आदि सब अधम शरीरवाले थे, तामसी स्वभावके थे, पर इनका प्रेम देख इनको आपने अपनाया था। दूसरा कोई स्वामी ऐसा नहीं हुआ जिसने ऐसोंको अपनाया हो। यथा 'को साहिब किये मीत प्रीति बस खग निसिचर कपि भील भालु। १५४ (२)।' गीध-शबरीके श्राद्धके प्रसंग पर 'तैं करैया गीध-

अधके। १७९ (४)', '...गीध कौन व्रतधारी। जनकसमान क्रिया ताकी निज कर सब बात सँवारी। १६६ (५ ख)।', 'सद्गति सबरी गीधकी सादर करता को। १५२ (८)।' इत्यादिमें आचुके हैं। १३८ (३ क) 'गीध कहँ उदकु देइ निज लोकु दियो' देखिए। किसीभी अवतारमें अधमोंका ऐसा सम्मान नहीं देखा गया।

७ 'निराधारको अधार दीन को दयाल को। ' इति। 'निराधारको अधार गुनगन तेरे हैं' १७९ (२), 'देव दूसरो कौन दीनको दयालु' १५४ (१), 'दीनको दयाल दानि दूसरो न कोई।' ७८ (१) के ही भाव इनमें हैं। 'भील कपि केवट ...'—उपर्युक्त टि० ६ देखिए। मिलान कीजिए—'कीने ईस किए कीस भालु खास माहली। क० ७। २३।' 'कहूँ कोउ भो न चरवाहो कपि-भालु को। क० ७।१७।'

८ 'रंक निरगुनी नीच जे जे ' इति। सुग्रीव-विभीषणादि रंक थे, ऐसेही अनेक रंकोंपर कृपा की। यथा 'पाहन पसु विटप विहंग अपने कर लीन्हे। महाराज दसरथके रंक राय कीन्हें। ७८ (५)।' केवट, भील, कपि, निशाचर आदि जिन-जिनपर कृपा हुई है, वे सज्जनसमाजमें विराजमान हैं। अर्थात् जहाँ संतसमाज जाता है, उसी स्थानकी प्राप्ति इन सबोंको हुई। यथा 'गीध अधम खग आमिष भोगी। गति दीन्ही जो जाचत जोगी। ३। ३३।', 'जोगिन्ह दुरलभ गति जोई। तो कहुँ आज सुलभ भइ सोई॥ तजि जोगपावक देह हरि-पद लीन भइ जहँ नहिं फिरे। ३।३६।', 'पुनि मम धाम पाइहौ जहाँ संत सब जाहिं। ६। ११५।' इत्यादि। दूसरे, इन नीचोंकी गणना भी साधुओंमें हो गई। यथा 'भए सब साधु किरात किरातिनि, रामदरस मिटि गइ कलुपाई। गी० २। ४६।' इत्यादि। तीसरे, इनको लोकमें सुयश मिला और इनकी कीर्तिको गाकर लोग परमपद पा जाते हैं, ये तारण-तरण हो गए हैं। यथा 'विरुद गरीब निवाज राम को। '' लोक सुजस परलोक सुगति इन्हमें को हो राम काम को॥ गनिका कोल किरात आदिकवि इन्हते अधिक वाम को। ९९।', 'कीस केवट उपल भालु निसिचर सबर गीध समदमदयादानहीने। नाम लियें रामु किये परम पावन सकल, तरत नर तिन्हके गुन गान कीन्हे। १०६ (२)।'-अतः इनकी कीर्ति सज्जन गाया करते है।—इत्यादि सब भाव 'सुजन समाज' में विराजनेके हैं। 'निवाजे हैं' अर्थात् आदर किया है, कृपा की है। विशेष 'महाराज रामादर्‌यो धन्य सोई। ''।' १०६ देखिए। अन्तरा ६, ७,८ मे अद्वितीय गरीब-निवाजी, और दीनबंधुता कही।

९ (क) 'साँची विरुदावली ''' इति। भाव कि कविलोग विशेष पारितोपिक पाने, स्वार्थ साधनके लिये बहुत बढ़ाकर प्रशंसा किया करते हैं, वैसेही आप मेरे इस कथनको अत्युक्ति न समझलें इस लिये कहते हैं कि मैंने जो कहा

है, यह अक्षरशः सत्य है, वेदपुराणादिद्वारा प्रमाणित है, ऋषियोंद्वारा ऐसा कहा गया है। इसमें लेशमात्रभी बढ़ाकर नहीं कहा गया है। यथा 'पतित-पुनीत दीनहित असरन-सरन कहत श्रुति चारो। ९४।', 'बिरुद गरीबनिवाजु राम को। गावत वेद पुरान संभु सुक प्रगट प्रभाउ नाम को। ९९।' [पुनः भाव कि जितने गुण और ऐश्वर्य आपमें हैं उन्हे तो वेदभी नहीं कह सकते, तब भला अधिक कौन कह सकता है? (भ० स०)]

९ (ख) 'सीलसिंधु ढील ...' इति। शीलसिंधु विशेषण अंतमें देकर जनाया कि उपर्युक्त "कौने कियो समाधान सनमान सिला को" से लेकर 'रंक निरगुनी नीच ।' तक इन सबोंपर जो कृपा हुई है वह आपके 'शील' गुणसे हुई है। इसीसे शील स्वभावके वर्णनमें प्रायः इन सबोंके नाम आये है, पद १०० देखिए। उसमें शिला, भृगुनाथ, वनवास-प्रसंग, वानर और विभीषण आदिके प्रसंग गिनाये गये हैं।

महान् होकरभी दीन मलिन हीन अधमयोनि आदि महा साधारण छोटे जीवोंके साथ विना किसी प्रतिबंध या रुकावटके मिलना और ऐसा बरताव करना कि अपनेमें और उनमें कोई भेद न जान पड़े—इसका नाम 'सौशील्य' है। सत्य और धर्मभी जो ऊपर 'लोक वेद पाल' और 'बोलको अचल' में कहे गए है, उनका भी आधार शील ही है। यथा 'धर्मः सत्यं तथा वृत्तं बलं चैव तथाप्यहम्। शीलमूला महाप्राज्ञ सदा नास्त्यत्र संशयः। म० भा० शान्ति-१२४।६२।' (महाप्राज्ञ प्रह्लाद! धर्म, सत्य, सदाचार, बल और मैं लक्ष्मी—ये सब सदा शीलके ही आधारपर रहते हैं—शीलही इन सबोंकी जड़ है, इसमें संशय नहीं है।)

९ (ग) 'शीलसिंधु' कहकर 'ढील देना' कहनेका भाव कि ऐसे शीलनिधान को, ऐसी विरुदावलीवालेको मेरी विनय सुनकर कबकी कृपा करदेनी चाहिए थी, इतना विलंब किया जाना आश्चर्य है। पूर्व अपने चित्तका समाधान इस प्रकार किया था कि 'एहि दरबार दिन दीन कनिगरे रीति सदा चलि आई। दीनदयाल दीन तुलसी की काहुं न सुरति कराई। १६५।' फिर दूसरी बार कृपा बिसारनेका कारणभी पूछा, यथा 'कहँ लगिकहौं दीन अगनित जिन्हकी तुम्ह बिपति निवारी। कलिमलग्रसित दास तुलसीपर काहे कृपा बिसारी। १६६।' फिरभी न सुनवाई हुई, तब यहभी निवेदन कर दिया कि 'तुलसीकी तेरेही बनाये बलि बनैगी। प्रभुकी बिलंब अब दोपदुख जनैगी। १७९।'—अतः अब बहुत दीनतापूर्वक निवेदन कर रहे है कि बहुत देर होगई है, अब शीघ्र अपनाइए।—'सीदत तुलसिदास निसि बासर पर्यो भीमतमकूप।' (१४४)। शीघ्र उसमेंसे निकालिए। आगेभी कहा है—'पीलउद्धरन सीलसिंधु ढील देखियत तुलसी पै चाहत गलानि ही गरन। २४८।', 'कीजै न ढील अब जीवन अवधि निति नेरें।२७३।'

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

१८१ राग सोरठी (वीर)

केहू भाँति कृपासिंधु मेरी ओर हेरिये।
मोको और ठौर न सुटेक[1] एक तेरिये॥१
सहस सिला ते अति जड़[2] मति भई है।
कासों कहौं कौने[3] गति पाहनहिं दई है॥२
पदराग-जाग चहौं कौसिक ज्यों कियो हौं[4]।
कलिमल खल दल[5] देखि भारी भीति भियो हौं[4]॥३
करम कपीस बालि[6] बली त्रास त्रस्यो हौं।
चाहत अनाथ-नाथ तेरी बाँह बस्यो हौं॥४
महामोह रावन बिभीषन ज्यों हयो हौं।
त्राहि तुलसीस त्राहि तिहूँ ताप तयो हौं॥५

शब्दार्थ—हेरना = अवलोकन करना; देखना। टेक = टिकने या थाँभने-की वस्तु। = आधार; आश्रय; अवलंब; सहारा। सुटेक = उत्तम, अच्छी, सुन्दर अर्थात् दृढ़ टेक। अति = बहुत अधिक। जड़ = स्तब्ध; कठोर; पथराई हुई। गति = गमन-शक्ति; सद्गति। भियना = भयभीत होना; डरना। दल = सेना, गिरोह। बाँह = भरोसे; सहारे; शरणमें। यथा 'तिनकी न काम सकै चापि छाँह। तुलसी जे बसे रघुबीर बाँह।', 'तेरी बाँह बसत बिसोक लोकपाल सब' (बाहुक)। हयो = मारा हुआ। तयो = तपा हुआ; सतप्त; ताप खाया हुआ।

पद्यार्थ—हे दयासिंधु! किसीभी प्रकार आप मेरी ओर देखिए। मुझे कोई दूसरा ठिकाना नहीं है, एकमात्र आपका ही दृढ़ अवलंब है। १। (मेरी) बुद्धि हजारों शिलाओंसे भी बहुत अधिक पथरा गई है। (इसको जड़से पुनः चैतन्य बनानेके लिये मैं आपके अतिरिक्त) किससे कहूँ? पाषाण (अहल्या) को किसने 'गति' दी है? अर्थात् आपहीने तो दी है और किसीने नहीं। २। विश्वामित्रजी-के समान मैं चरणानुरागरूपी यज्ञ किया चाहता हूँ। (परन्तु) कलिमलरूपी खलोंका दल देखकर मैं भारी भयसे भयभीत हूँ। ३। (सुग्रीवरूप) मैं कर्म-

१ सूझै टेक—रा०। सुटेक- औरोंमें। २ मति जड़—रा०, ह०, ज०, डु०, १५। जड़ मति—भा०, वे०, ७४, आ०। ३ कवने—७४। कौन—आ०, वे०, मु०। कौने रा०, ह०, ५१, ज०, डु०। ४ हों रा०। है—प्रायः औरोंमें। ५ खल दल—रा०, भा०, वे०। खल—ह०, ज०, आ०। दल-७४। ६ कलि वाली- वे०। वालि बली—प्रायः औरोंमें।

रूपी बलवान् वानरराज बालिके डरसे सताया और डरा हुआ हूँ। हे अनाथोंके नाथ! मैं आपके सहारे बसना चाहता हूँ। ४। महामोहरूपी रावणद्वारा मैं विभीषण-सरीखा मारा गया हूँ। हे तुलसीश (मुझ तुलसीदासके स्वामी)! रक्षा कीजिए, रक्षा कीजिए, मैं तीनों तापोंसे संतप्त हो गया हूँ। ५।

टिप्पणी—१ (क) 'कहू भाँति कृपासिंधु ' इति। पिछले पदमें भी देखनेकी प्रार्थना की थी। उससे विरुदावली गिनाकर देखनेमें एवं अपनानेमें ढील करनेका उलहना दिया था। फिरभी सुनवाई न हुई, जिससे बहुत घबड़ाकर अब दयाके भिखारी बन 'कृपासिंधु' विशेषण देकर 'किसी भी भाँति' देखनेकी प्रार्थना है। घबड़ाये हुए हैं, इसीसे अंतमें 'त्राहि' 'त्राहि' शब्द मुँहसे निकले हैं। 'केहू भाँति' अर्थात् कृपासे, कोपसे, अनखसे, सीधे, तिरछे अथवा प्रेमसे इत्यादि किसीभी प्रकारसे जो आपको रुचे। यथा 'बहुत पतित भवनिधि तरे, बिनु तरि, बिनु बेरे। कृपा क्रोध सतिभायहूं धोखेहूं तिरछेहूं राम तिहारेहिं हेरें। जौं चितवनि सौंधी लगी चितइये सवेरे। २७३।'

१ (ख) 'मोको और ठौर न ' इति। जिसका कहीं ठौर-ठिकाना नहीं होता, वह यदि आपकी शरणमें जाता है तो आप उसे त्यागते नहीं, यह आपका स्वभाव है। यथा 'सत्य कहौं मेरो सहज सुभाउ। ' सब बिधि हीन दीन, अति जड़मति, जाको कतहुँ न ठाउँ। आयो सरन भजौं, न तजौं तिहि, यह जानत रिपिराउ॥ जिन्हके हौं हित सब प्रकार चित नाहिंन और उपाउ। ' गी० ५।४५।' उसी बलपर कहते हैं कि मुझेभी कहीं ठिकाना नहीं, एकमात्र आपका ही आसरा है। 'सुटेक एक तेरिये' में यह भाव है कि मेरी यह दृढ़ टेक (हठ) भी है कि 'बनै तो रघुबर तें बनै बिगरै तो भरिपूरि। तुलसी बनै जो और तें ता बनिबे पै धूरि।', 'तुम्हरो सब भाँति, तुम्हारिअ सौं, तुम्हही बलि हौ मोको ठाहरु हेरे। क० ७।६२।', "...पै मेरिओ देव कुटेव महा है। जानकीनाथ बिना तुलसी जग दूसरे सो करिहौं न हहा है। क० ७।१०१।' दूसरा साधारण भाव यह है कि आपका ही भरोसा है। यथा 'मेरे रावरिये गति है रघुपति बलि जाउँ। निलज नीच निरधन निरगुन कहँ जग दूसरो न ठाकुर ठाउँ।'१५३ (१ क-ख) तथा १४९ (१ क-ग) देखिए।

२ 'सहस सिला तें अति''' ' इति। अहल्या पाषाण थी। पाषाण जड़ होता है, उसमें गमन-शक्ति नहीं होती। आपने उस पत्थरमें चेतनता प्रदान कर दी। वह सुंदर स्त्री हो गई और पतिके साथ पतिलोकको चली गई; यह गति आपने ही तो पाषाणको दी (–१८० (४ क-ख) देखिए। मेरी बुद्धि भी जड़ है, पथरा गई है अहल्या में तो एक पाषाणकी जड़ता थी, परन्तु मेरी बुद्धिमें सहस्रों शिलाओंकी जड़ता है; अतः मेरी बुद्धिको भी चैतन्य कर दीजिए। पत्थरको चैतन्य कर देनेवाला दूसरा कोई सुना नहीं गया, इसीसे मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ। पुनः

भाव कि मेरी बुद्धिरूपिणी स्त्रीको पुनः निर्मल कर देनेसे आपको सहस्रों अहल्याओंके उद्धारका यश प्राप्त होगा।

३ 'पदरागजाग चहौं ''''' इति। विश्वामित्रजी जब यज्ञ करते, मारीच सुबाहु सेना लेकर पहुँच जाते और यज्ञ विध्वंस कर डालते थे। दुष्टोंका दल देख मुनि बहुत भयभीत थे। यथा 'जहँ जप जग्य जोग मुनि करहीं। अति मारीच सुबाहुहि डरहीं। १।२०६।' आपने उस दुष्ट दलको मारकर यज्ञकी रक्षा की थी। मैं भी यज्ञ करना चाहता हूँ। मेरे यज्ञका नाम है—'पदराग यज्ञ।' अर्थात् चरणानुरागरूप यज्ञ करनेकी चाह है। आपके चरणोंमें अनुराग करना चाहता हूँ। उसमें कलिके पापसमूहरूपी निशाचरसमूह बाधक हैं, मैं इनसे अत्यन्त भयभीत हूँ। आपने मुनिके यज्ञकी रक्षा की, यह सुनकर मैं आपके पास रक्षाके लिये आया हूँ। यथा 'रीति सुनि रावरी प्रतीति प्रीति रावरे सों, डरत हों देखि कलिकालको कहरु। २५०।' कलिप्रेरित कामादि तथा अभिमान मोह मद आदि खल-दल है। यथा 'सुनि रिस भरे कुटिल कामादिक करहिं जोर बरिआई। तिन्हहिं उजारि नारि अरि धन पुर राखहिं राम गुसाईं। १४५।', 'हौं निज उर अभिमान मोह मद खल मंडली बसावौं। १४२।', 'खल कामादि निकट नहिं जाहीं। ७।१२०।' —ये सब श्रीरामपदानुरागके बाधक हैं। अतः इनसे मेरे अनुरागयज्ञकी रक्षा कीजिए। मिलान कीजिए—'रामनाम जप-जाग कियो चाहों सानुराग काल कैसे दूत भूत कहा मेरे मान हैं। '' तुलसी सँभारि ताड़का सँघारि भारी भट बेधे बरगद से बनाइ बान-बान हैं। बाहुक ३६।'

[यहाँ कुमति ताड़का है, काम मारीच, लोभ सुबाहु, क्रोध-मद-मात्सर्य-ईर्ष्या-राग-द्वेषादि निशाचर-सेना है। कलिरूपी रावणकी प्रेरणासे ये अनेक पापरूप उपद्रवकर पदानुरागयज्ञ भंग कर देते हैं। (वै०)]

४ 'करम कपीस बालि बली '''' इति। सुग्रीव बालिके डरसे डरे हुए और चिन्तित थे। 'त्रस्यो' में ये दोनों भाव हैं। आपके बाहुबलके आश्रित सुग्रीव फिर बसे। यथा 'बालित्रास ब्याकुल दिनराती। तन बहु ब्रन चिंता जर छाती। ४।१२।', 'तदपि सभीत रहउँ दिन राती। ४।६।', 'मम भुजबल आश्रित तेहि जानी। मारा चहसि अधम अभिमानी। ४।६।१०।' इसी प्रकार मैं कर्मोंसे संत्रस्त हूँ। कर्म बड़े बली हैं। इनका बंधन बड़ा जबरदस्त (प्रबल, कठिन) होता है। यथा 'जेहि बाँधे सुर असुर नाग नर प्रबल करम की डोरी।' ९८ (२ क), १३६ (३ क), १०२ (५ ख) देखिए। कर्माभिमान गर्भवासका कारण है—७६ (२ ग) देखिए।

☞ मिलान कीजिए—'एवं स्वकर्मपतितं भववैतरण्यामन्योन्यजन्ममरणाशनभीतभीतम्। पश्यञ्जनं स्वपरविग्रहवैरमैत्रं हन्तेति पारचर पीपृहि मूढमद्य। भा० ७।९,४१।' श्रीप्रह्लादजी भगवान्‌से कहते हैं—'हे नित्यमुक्त! संसाररूप वैतरणीमें

अपने कर्मोंके कारण पड़कर परस्पर प्राप्त होनेवाले जन्म-मरण एवं खानपानादि- से अत्यन्त भयभीत तथा अपने पराये पुरुषोंसे मित्रता एव द्वेष करते हुए इस मूढ़ जनसमुदायको देखकर करुणावश खेद प्रकट करते हुए आप अब इस वैतरणीके पार लगाकर इस (प्राणिवर्ग) की रक्षा कीजिए।

सुग्रीव आपकी शरण आए, तब आपने उनको भुजाओंका आश्रय दिया।—'फरकि उठीं दोउ भुजा बिसाला।' मैं कर्मोंसे भयभीत शरणमें आया हूँ, मुझे भी बाहुके आश्रय बसाइये। पूर्वभी प्रार्थना की थी—'कबहूँ सो करसरोज रघुनायक धरिहो नाथ सीस मेरे। जेहि कर बालि बिदारि दासहित कपिकुलपति सुग्रीव कियो। १३८।' वहाँ करसरोजकी छायाकी चाह जनाई थी; यथा 'निसि बासर तेहि कर सरोज की चाहत तुलसिदास छाया।'; वैसेही यहाँ कहते हैं कि 'चाहत तेरी बाँह बस्यो हो'। यहाँ 'बस्यो' से जनाया कि मुझे कर्माभिमानने उजाड़ डाला है। 'अनाथ नाथ' से जनाया कि मैं अनाथ हूँ, आप अनाथोंके नाथ हैं, मुझेभी सनाथ कीजिए।—'नाथ तू अनाथको, अनाथ कौन मोसों।' ७९ (२) देखिए। कर्मोंने मुझे अनाथ कर दिया है।

[(वै०)—कुटिल कर्म बली कपीश बालि है। समता, शान्ति, संतोष और वैराग्य आदि मेरे सर्वस्व थे, सुमति स्त्रीरूपा थी। इन्हे कर्मोंने हर लिया। रोग, शोक, हानि आदि दंड देकर मुझे विवेकरूपी देशसे निकाल दिया। मेरे कर्मों- का नाशकर मुझे सुखपूर्वक बसाइये।

सू० शुक्ल—जैसे बालिके पीछा करनेपर सुग्रीवको सारी पृथ्वीमें घूमते हुए कहीं विश्राम नहीं मिला, वैसेही कर्मोंद्वारा जीव जन्म-जन्मान्तर रातदिन नाच- ता रहता है, कहीं किसी समय विश्राम नहीं मिलता। भगवान्से मित्रता करने- परही कर्मोंका नाश हो सकता है और जीवात्माको फिर अपना राज्य मिल सकता है। कर्मोपासक यदि विश्वामित्रकी भाँति भगवानके चरणमें अनुरागकी यज्ञ किया करें, तो आजभी उन्हे कर्मस्पर्शरूपी मलिनताका डर न होवे।]

टिप्पणी—५ 'महामोह रावन' इति। रावणने विभीषणको लात मारी, इस ग्लानिसे वे आपकी शरण आए। यथा 'तात लात मोहि रावन मारा। कहत परम हित मंत्र बिचारा॥ तेहि गलानि रघुपति पहिं आयउँ। देखि दीन प्रभुके मन भायउँ। ६। ६३।' वैसेही महामोहने मुझे गहरी लात मारी है, जिससे मैं दैहिक, दैविक और भौतिक तीनों तापोंसे संतप्त हो रहा हूँ, भारी ताव खा गया हूँ। विभीषणजी त्राहि त्राहि करते शरण आये थे, वैसेही महामोहसे भयभीत हो- कर मैं शरणमें आया हूँ! यथा 'त्राहि त्राहि आरतिहरन सरनसुखद रघुबीर। ५। ४५।' तथा यहाँ 'त्राहि तुलसीस त्राहि०'। विभीषणजी रावणके क्रोधाग्निमें जल रहे थे, मैं महामोहके त्रितापसे संतप्त हूँ। यथा 'रावन क्रोध अनल निज

श्वास समीर प्रचंड । ५।४६ ।' आपने विभीषणकी रक्षा की और उन्हें अखण्ड राज्य दिया, वैसेही महामोहका नाश करके मुझे सहज पूर्णरूप श्रीरामप्रेमपरा-भक्तिरूपी राज्य दीजिए।

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु ।

१८२

नाथ गुनगाथ सुनि होत चित चाउ सो ।
राम रीझिबे को[1] जानौं भगति न भाउ सो ॥१
करम सुभाउ काल ठाकुर न ठाँउ सो ।
सुधन न सुतन न[2] सुमन सुआउ सो ॥२
जाचौं जल जाहि कहै अमिय पिआउ सो ।
कासों[3] कहौं काहू सों न बढ़त हिआउ सो ॥३
बाप बलि जाउँ आपु करिय उपाउ सो ।
तेरे ही निहारे परै हारेहूँ[4] सुदाउ सो ॥४
तेरे ही सुझाए सूझै असुझ सुझाउ सो ।
तेरे ही बुझाएँ बूझै अबुझ बुझाउ सो ॥५
नाम अवलंबु अंबु मीन[5] दीन राउ सो ।
प्रभु सों बनाइ कहैं[6] जीह जरि जाउ सो ॥६
सब[7] भाँति बिगरी है एक सुबनाउ सो ।
तुलसी सुसाहिबहि दियो है जनाउ सो ॥७

शब्दार्थ–चाउ (चाव) = उत्साह । सुतन = उत्तम नीरोग शरीर । सुमन = सुन्दर (शान्त निर्मल) मन । सुआउ = सुंदर दीर्घ आयु । हिआउ (हियाव) = साहस; जिगरा; हिम्मत । हिआउ बढना = साहस पड़ना वा होना । सुदाउ = उत्तम दाँव–'सूझत सबहि आपनो दाउँ' पद १५३ तथा 'देत देवावत दाउ' पद १०० में

१ को–रा०, भा०, वे०, ह०,दीन, डु०. वि० । की– वै०. ७४. मु० ,भ० । २ सुमन न–डु०,वै०, १५ । सुमन–ह० । न सुमन–औरोंमें । ३ कासों–रा०,भा०. वे०, ५१, ज०.आ० । काह–ह० । कहा– ७४,१५ । ४ हारेहु–ह० । हारेउ - वे०, हारेहूं--प्रायः औरोंमें । ५ मीन दीन–रा०; भा०, वे०, ह०, ज०, १५ । दीन मीन –५१, ७४, आ० । ६ कहौं--भ०, वे०, आ० । कहै--रा०, १५ । कहे-- ७४ । ७ सबइ--७४ ।

देखिए। असुझ = जिसको कुछ न सूझे। = जो देख या समझ न पड़े; अदृश्य पदार्थ। अबुझ (अबूझ) = अज्ञानी; यथा 'अयमय खांड न ऊखमय अजहुं न बूझ अबूझ।१।२७५।' = जो समझमे न आवे। = पहेली। बुझाना = बोध कराना; समझाना।।सुबनाउ = भली बननेकी बात; भली बात--(दीनजी)। जनाउ = सूचना; यथा 'अवधनाथ चाहत चलन भीतर करहु जनाउ।१।३३२।' जना देना = प्रकट करना; सूचित कर देना; बता देना। ☞इस पदमे 'सो' कई भिन्न-भिन अर्थोमे आया है। सो = सा, सदृश। = वह। = इस लिये; अतः। = उसे।

पद्यार्थ—हे नाथ ! आपके गुणोकी कथा (आपका सुयश, गुणावली) सुनकर चित्तमे उत्साह-सा होता है। (परन्तु) हे श्रीरामचन्द्रजी ! आपके रीझनेके लिये (जो भक्ति भाव आदि चाहिए) न तो वह भक्ति जानता हूँ और न वह भाव ही।१। न वह कर्म हैं न स्वभाव, न वैसा (अनुकूल) समय है न स्वामी न स्थान (धाम आदि), न अच्छी कमाईका धन है न उत्तम नीरोग शरीर, न उत्तम (वशमे रहने, सुमार्गमे चलनेवाला निर्मल) मन है और न सुंदर दीर्घ आयुही है (जैसी कि चाहिए)। २। जिससे जल माँगता हूँ, वह कहता है कि (पहले हमे) अमृत पिलादो (तब हम तुम्हे जल पिलायेंगे), (तब) किससे कहूँ ? किसीसे उसका (अर्थात् कहनेका) साहस नहीं होता।३। पिताजी ! मैं बलिहारी जाता हूँ, आपही इसका उपाय कर दीजिए। आपकी ही कृपादृष्टिसे हार जाने पर भी वह सुंदर दाँव पड जाता है❀। ४। आपहीके सुझानेसे असूझ सूझ जाती है, वह (असूझ) मुझे सुझा दीजिए। आपके-बुझानेसे अबूझभी बूझ जाता है, वह मुझे समझा दीजिए। ५। नामका अवलंब जल है, मैं दीन मीन (उसमे) राजा समान (प्रसन्न) हूँ † (एव दीनराज अर्थात् अत्यंत दीन मैं उस जलका मीन हूँ)। यदि प्रभुसे बनाकर (झूठ) कहती हो तो वह (बात बनाकर कहनेवाली) जीभ जल जाय। ६। तुलसीदासजी कहते हैं कि (मेरी) सब प्रकारसे बिगड़ी हुई है, एक यही सुंदर बनाव है कि मैंने उसे (बिगड़ी हुई करनीको अपने) सुस्वामीसे जना दिया है। ७।

टिप्पणी—१ (क) 'नाथ गुननाथ सुनि ' इति। गुणोकी कथा कि आप

❀ १ हाराहुआ दाँवभी मनुष्य जीत लेता है (दीनजी)। २—हारेहुएको भी अच्छा दाँव पड़ता है। (डु०,भ० स०)।

† मैं उसके आश्रित रहनेवाला दीन मत्स्यराज हूँ (श्री० श०)।—यह अर्थ दीनजी आदिने 'दीन मीन राउ' का किया है, वही अर्थ श्री० श० ने 'मीन दीन राउ' पाठका रक्खा है। उपर्युक्त अर्थ पं० रामकुमारका है। पं० रामवल्लभाशरणजीने 'मैं मीन दीनोका राजा हूँ यह अर्थ किया था।

दीनदयाल हैं, सुग्रीव विभीषण आदि दीनोंपर कृपा की है, पतितपावन अधमोद्धारण है, कोल-किरात-केवट-भील आदि तथा अधम राक्षसों एवं पशु-पक्षियोंको पावनकर उनका उद्धार किया; गरीबनिवाज और सुशील ऐसे हैं कि वानरोंको अपना सखा बनाया, शबरीके फल खाये और जल पिया, इत्यादि गुणोंकी गाथायें सुनकर चित्तमे उत्साहसा होता है कि मैं गरीबभी शरणमे जाऊँ, तो आप मेराभी उद्धार अवश्य करेंगे। यथा 'निज अवगुन गुन राम रावरे लखि सुनि मति मनु मझै।२३८।' भाव यह कि मुझे आपके इन गुणग्रामकाही भरोसा है, नहीं तो मुझमे तो वे कोई गुण नहीं हैं जिससे मैं आपको प्रसन्न कर सकूं। आप अपने गुणगणपर और नामकी महिमापर विचार करेंगे तो मेरी बन जायगी। यथा 'जौ चित चढ़ै नाममहिमा निज गुनगन पावन पन के। तौ तुलसिहि तारिहौ बिप्र ज्यों दसन तोरि जमगन के। ९६।'

१ (ख) 'राम रीझिबेको जानों न' ''' इति। भक्ति और भावसे प्रभु प्रसन्न होकर वशमे हो जाते हैं। यथा 'भगति अवसहि बस करी। ३। २६।', 'भाव बस्य भगवान सुख निधान करुनाभवन। ७। ९२।', 'सुलभ मृदु भावगम्यं। ५६।', 'रीझैं बस होत खीझै देत निज धामु रे।७१।' भा०-'भाव अतिसय प्रवरनैवेद्य' ४७(३क-ख) देखिए। भगवान्‌ने शबरीजीसे जो नवधा भक्ति कही है, उसके अंतमें यहभी कहा है कि 'नव महँ एकउ जिन्हके होई।' ''सोइ अतिसय प्रिय भामिनि मोरें। ३। ३६।' भक्तिके आचरण जिनसे वशमे होते हैं उनको भी पुरजनोपदेशमे श्रीरामजीने कहा है। (७। ४६। ४ 'एहि आचरन बस्य मैं भाई' से 'मम गुनग्राम' '' तक)। पूर्व पद १२६ मेंभी कविने भक्तिके साधन कहे हैं, पूरा पद देखिए। भक्तिके उपर्युक्त आचरण तथा भाव मुझमें नहीं हैं। यथा 'जेहि गुन तें बस होहु रीझि करि सो मोहि सब बिसर्‌यो।' ९१ (५ क) में वे आचरण लिखे गए हैं जिनसे प्रभु प्रसन्न होते हैं; वहीं देखिए। तात्पर्य कि मुझमें आपको प्रसन्न करनेवाले साधन नहीं हैं। 'तुलसिदास हरि तोपिये सो साधन नाहीं। १०९।' का भाव यहां है। पुनः, 'जानो न' का भाव कि जानता होता तो आपको प्रसन्नकर परम सुखी न हो गया होता?–१०९ (५ ग) भी देखिए।

२ 'करम सुभाउ काल ठाकुर न' '' इति। (क) अब वह साधन-सामग्री जो भगवत्प्राप्तिके मार्गमे पथीको हितकारी होती हैं, उनका अभाव दिखाते हैं। आसक्तिरहित, अकर्तापनको लक्ष्यमें रखते हुए कर्तव्य समझकर कर्म करनेसे भगवत्प्राप्ति होती है, श्रीजनकादि ऐसेही कर्मके आचरणसे परमसिद्धिको प्राप्त हुये हैं। यथा 'असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥ कर्मण्यैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः। गीता ३। १९–२०।' परन्तु मेरे कर्म ऐसे नहीं हैं, मुझे कर्तृत्वाभिमान रहता है और जो कर्म करता हूँ वेभी अच्छे नहीं हैं। शुभ कर्म होते तोभी वे

कुछ सहायक होते, सोभी नहीं, मैं असत्कर्ममें रत रहता हूँ। भक्तिके लिये स्वभाव सरल कपटछलरहित होना चाहिए; यथा 'सरल सुभाव न मन कुटिलाई। ७। ४६। २।' मेरा स्वभाव कुटिल है, कपटछलयुक्त है; यथा 'कपट करौं अंतरजामिहुँ सों अघ व्यापकहि दुरावौं। १७१।',

काल उत्तम होता है तोभी मन सत्कर्मोंमें लगता है; ध्यान, पूजा, जप, तप सब होते हैं, जैसे कि सत्ययुग, त्रेता, द्वापरमें। यथा 'कृत प्रभाव प्रसन्न मन जाना।', 'धरि हरि ध्यान तरहिं भव प्रानी', 'सब बिधि सुख त्रेता कर धर्मा' इत्यादि। (७। १०३-१०४)। काल जब अच्छा आता है तब बिगड़े हुए भी सुधर जाते हैं। यथा 'काल पाइ फिरत दसा दयाल सबही की। २५६।' परन्तु यह कलिकाल है, यह तो 'मल अवगुन आगार' है। काल-कर्म-स्वभावके प्रभावसे भलेभी बुरे कर्म करने लगते हैं—'काल सुभाउ करम बरियाई। भलेउ प्रकृति बस चुकइ भलाई। १।७।२।' स्वामी अच्छा होता है तो सेवकभी वैसाही हो जाता है, 'यथा राजा तथा प्रजा'; सो आजकल 'राज समाज कुसाज कोटि कटु कलपत कलुप कुचाल नई है', 'लोक बेद मरजाद गई है', इत्यादि पद १३६ देखिए। अथवा, मुझे अपनानेवाला कोई उत्तम स्वामी नहीं मिला, मैं अनाथ हूँ। [वा, न मेरा कोई धनी-धोरी है; न कहीं ठिकाना है। अर्थात् पूरा ला-वारसी हूँ। (भ०, वि०)। धनी लोगोंकी सहायतासे भी बड़े-बड़े शुभ कर्म संपन्न होकर परमार्थसाधक होते हैं। (श्री० श०)] 'न ठाँउ सो'—सिद्धपीठ शुभ पवित्र स्थानभी हो तो वहाँ स्वाभाविकही मन भजनमें लगता है, पर मेरे लिये तो कहीं ठौर-ठिकाना नहीं। (वैजनाथजी अर्थ करते हैं कि मेरे पास 'वह स्थान नहीं जहाँका मैं मालिक होऊँ, अपना स्थान कहीं नहीं')।

२ (ख) दान यज्ञ आदि शुभकर्मोंमें उत्तम कमाईका धन चाहिए। भजन परमार्थसाधनके लिये सुन्दर नीरोग शरीर चाहिए, मन निर्मल अचंचल हो और दीर्घ आयु हो—ये कोई नहीं। यथा 'नाना वेष बनाइ दिवस निसि पर बित जेहि तेहि जुगति हरौं। १४१।', 'रोग बस तन कुमनोरथ मलीन मन। २५२।', 'जीवन संवत पंच दसा। ७। १०२।', 'कीजै न ढील अब जीवन अवधि निति नेरे। २७३।', 'आधि मगन मन व्याधि बिकल तन। १९५।'

३ 'जाचो जल जाहि' इति। यहाँ 'जल' से बहुत तुच्छ वस्तु जिसमें किसीका कुछ गाँठका पैसाभी खर्च नहीं होता, ऐसी वस्तु अभिप्रेत है। जल बिना मूल्यका मिलता है, तो भी यदि किसीसे एक लोटा जल प्यास बुझानेके लिये माँगता हूँ, तो वह उसके बदलेमें अमृत माँगता है।—यह संसारकी रीति दिखाते हैं। जैसे कोई अभ्यागत साधु किसी गृहस्थके घर जल पीने या भोजनके लिये जाय तो वह (गृहस्थ) अपना दुःख प्रकट करता है कि मेरे पुत्र नहीं है या धन नहीं

है, इत्यादि ।,अर्थात् कृपा करके मेरी ये कामनायें पूरी कर दीजिए । पुनः, विषय जल है। जिससे मैं किसी विषयकी चाह करता हूँ, वह आयु जो अमृत समान है उसे चाहता है। अर्थात् चाहना है कि सारी आयु से उसकी सेवा करूँ, तब वह मुझे उसे दे । पुनः भाव कि देवताओंसे तुच्छ सिद्धि अथवा पुत्र, धन, ऐश्वर्य आदि लौकिक सुखकी कोई वस्तु चाही जाती है, तो वे पहले उससे कहीं अधिक पूजा, सेवा आदि करा लेनेकी इच्छा रखते हैं और करा लेते हैं, तब कहीं वह तुच्छ कामना पूरी करते हैं। विना स्वार्थसिद्धिके वे कभी नहीं देते। यथा 'स्वारथके साथी मेरे हाथी स्वाने लेवा देई, काहू तो न पीर रघुवीर दीन जनकी। ७५।', 'विबुध सयाने पहिचाने कैधों नाहीं नीके, देत एक गुन लेत कोटि गुन भरि सो।२६४।'—['देवी दिन काटे पंडे परचा माँगें' कहावत हो रही है। (भ०)। अतएव मैं अपनी बात किससे कहूँ। भिक्षाके बदले मुझे सिद्ध समझकर उलटे धन-संपत्ति आदि माँगते हैं। मैं इन लोगोंके कारण जीवनभी नहीं बिता सकता, सभी मेरे पीछे पड़े रहते हैं। यह लोकमान्यता मुझे बहुत खलती है क्योंकि 'लोकमान्यता अनल सम कर तप-कानन-दाह।'—(चि०)] पुनः, भाव यह कि वे हमसे भी अधिक याचक देख पड़ते हैं, तब किससे कहूँ, किसीसे कुछ नहीं कह सकता ।

४ (क) 'बाप बलि जाउँ ' इति। पुत्र कपूत भी हो तो भी पिता उसका पालन, भरण-पोषण तथा उसके कल्याणका उपाय करता है। 'हौं कपूत तुम्ह हित पितु माता।१७७ (५)।' देखिए। मैं कपुत्र हूँ, फिरभी आपका पुत्र हूँ, मैं अपना हित करनेमें असमर्थ हूँ,आपही मेरे कल्याणका उपाय करें।गोस्वामीजी पुत्र का नाता श्रीरामजीसे मानते हैं। अन्यत्रभी कहा है–'बाप आपने करत मेरी घनी घटि गई। २५२।' 'बलिजाउँ'–१०४ श० देखिये। [श्री० श०–पिताको पुत्रपर अत्यन्त प्रीति होती है; फिर यदि वह पुत्र पितापर अपनपौ निछावर कर देता तो,उसमें अत्यन्त वात्सल्य गुणका उदय होता है। इस लिये 'बाप' संबोधन देकर बलिहारी भी जा रहे हैं।]

४ (ख) 'तेरेही निहारे परै हारेहूं ' इति। आपकी कृपादृष्टि जिस हारे हुये पर हो जाती है, उसका अच्छा दाँव पड़जाता है, हारा हुआ भी जीत जाता है। श्रीभरतजीने भी कहा है—'मैं प्रभु-कृपा-रीति जिय जोही। हारेहूँ खेल जिताबहिं मोही। २।२६०।८।' भाव कि हराना-जिताना सब आपके ही हाथ है; यथा 'तुलसी प्रभुके हाथ हारिबो जीतिबो नाथ, बहु वेष बहु मुख सारदा कहति। २४९।' मैं भी सब प्रकार हारा हुआ हूँ, यथा 'अब थाक्यो जलहीन नाव ज्यों देखत विपतिजाल जग छायो।२४३।', 'हौं हार्‌यो करि जतन विविध विधि अतिसय प्रबल अजै।८९।' पूर्व अपनेको उपदेशभी दिया है कि जन्मको

व्यर्थ न गँवा; यथा 'हारेहि जनि जनम जाय गाल गूल गपत। १३० ।' अब हारकर घबड़ा रहा हूँ; यथा 'नाथकी महिमा सुनि समुझि, आपनी ओर हेरि हारि कै हहरि हृदय दहत। २५६ ।', 'खूब सारि हिय हारि कै हित हेरि हहरि अब चरन सरन तकि आयो। २७६ ।'; अतएव मुझे जिताइए।

☞ यहाँ 'हारेहु' से तात्पर्य है कि जिनकी सब प्रकार बिगड़ गई है, जिनका प्रायः सारा जन्म या जीवन व्यर्थ हो गया है, जो विषयासक्त हो पापरत होकर महापतित हो गए और नरकके अधिकारी हैं—ऐसे भी आपकी कृपादृष्टिसे क्षणमात्रमें सुधर जाते हैं, जन्म सफल कर लेते है, भवपार और परमपदके अधिकारी हो जाते हैं; यथा 'बहुत पतित भवनिधि तरे बिनु तरि बिनु बेरे। कृपा कोप सतिभायहू धोखेहु तिरछेहुँ राम तिहारेहि हेरे। २७३।' मेरीभी यही दशा है. अतः मेरीभी सुधार दीजिए; यथा 'हौं तो बिगरायल और को बिगरो न बिगरिये। तुम्ह सुधारि आये सदा सबकी सबही बिधि अब मेरियो सुधरिये। २७१ ।', 'नरक अधिकार मम घोर संसार-तम-कूपकहि ···। दास तुलसी सोउ त्रास नहिं गनत मन, सुमिरि गुह गीध गज ज्ञाति हनुमानकी। २०६।

५ (क) 'तेरेही सुझाए सूझै असुझ ' इति। 'असुझ' के अर्थ कई होसकते है जिसको सूझता नहीं. जिसको अपनी हानिलाभ, दुःख-सुख कुछ नहीं देख पड़ता—ऐसेजड़ पुरुषोंको भी आपकी कृपासे सूझ हो जाती है कि हमने रामविमुख होकर जन्म व्यर्थ गँवा दिया, भगवद्भजन न किया, जो जीवनका परम लाभ है। यथा 'हानि कि जग एहि सम किछु भाई। भजिअ न रामहि नर तनु पाई।७।११२।६।', 'नर तन पाइ विषय मन देहीं। पलटि सुधा ते सठ विष लेहीं।७।४४।२।' इत्यादि। पुनः, असुझ = अदृश्य पदार्थ। जो दृष्टिगोचर न हो, वह भी देख पड़ता है। गूढ़ तत्त्व, स्वस्वरूप-परमात्मस्वरूप, परमतत्त्व ये सब आपकी कृपासे सूझ जाते है। अतः मुझेभी सुझा दीजिए।

[वैजनाथजी 'सुझाउ सो' का अर्थ करते है कि "वह 'सुझाऊ' अर्थात् दूसरोंको सुझानेवाला हो जाता है। उनको ऐसा अमल दिव्य ज्ञान हो जाता है कि माया, जीव, आत्म-परमात्म सब यथार्थ देख पड़ता है। त्रिकालज्ञ हो जाते है, दूसरोंको ज्ञानी बना देते है, जैसे वाल्मीकिजी हुए।"]

५ (ख) 'तेरेही बुझाएँ बूझै ' इति। अबुझ अर्थात् अज्ञानीको ज्ञान हो जाता है। पुनः अबुझ जो समझमें न आवे, जैसे कि वेद-वेदान्तका यथार्थ सिद्धान्त इत्यादि; सोभी समझमें आ जाता है कि 'श्रुति सिद्धांत इहइ (उरगारी)। राम भजिअ सब काज बिसारी। ७। १२३। २।', 'श्रुति पुरान सब ग्रंथ कहाहीं। रघुपति भगति बिना सुख नाहीं। ७। १२२। १४।', 'नीति निपुन सोइ परम सयाना। श्रुतिसिद्धांत नीक तेहिं जाना। सोइ कबि कोबिद सोइ रन-

धीरा। जो छल छाड़ि भजइ रघुबीरा। ७। १२७।' आपकेही बुझानेसे यह बूझ होती है। यथा 'सोइ जानइ जेहि देहु जनाई। २। १२७। ३।'

(वैजनाथजी लिखते हैं कि "बुझाऊ" अर्थात् दूसरोंको समझानेवाला हो जाना है। जैसे ध्रुवजीके समक्ष जब भगवान् प्रकट हुए, तब बाल्यावस्था होनेसे उन्हें न समझ पड़ा कि दंडवत् आदि करते। भगवानने जब शंख कानमें फूँक दिया, तब सब वेदवेदाङ्ग आदिका ज्ञान हो गया, सुन्दर बुद्धि उदय हो आई। तब उन्होंने दण्डवत और स्तुति की"।)

६ (क) 'नाम अवलंब अंबु ' इति। प्राचीन हस्तलिखित प्रतियोंमें 'मीन दीन राउ' ही पाठ मिलता है। 'राउ' को दीन और मीन दोनोंके साथ लेलेनेसे आधुनिक पाठ 'मीनराउ' का भावभी आ जाता है. जो वैजनाथजी आदिने लिखा है। 'दीनराउ' अर्थात् दीनोंमें राजा, सबसे बड़ा दीन, हूँ. मुझसे बढ़कर दीन कोई नहीं है: यथा 'तुम्ह सम दीनबंधु. न दीन कोउ मो सम सुनहु नृपति रघुराई। २४२।' मुझ अत्यंत दीनरूपी मीनको आपके नामरूपी जलकाही सहारा है, इसीसे अबतक मैं जीवित बचा हुआ हूँ। यथा 'रामनामही की गति जैसे जल मीन को। ६८ (५)।', 'रामनाम तुलसीको जीवन अधार रे। ६७(४)।', 'नाम ओट आजु लगु बच्यौ मलजुग जेरो। अब गरीब न जमोगिथै पाइबो न हेरो। १४६।'

['मीनराउ' का भाव कि छोटी मछली तो कुछ देर बिना जलके जीवित भी रह जाय, पर बड़ी मछली नहीं जी सकती। (डु०)। छोटी मछली तो नदी, तालाब आदि थोड़े जलमें भी रह सकती है, पर महामच्छ (मत्स्यराज) अगाध जलवाले समुद्रमें ही रह सकता है; वैसेही औरोंको अन्य साधनरूपी सरित-सर-आदि जलका भी अवलंब है, पर मुझ दीनको तो अगाधसमुद्रसम रामनामकाही सहारा है। (वै०)]

६ (ख) 'प्रभु सों बनाइ कहै जीह ' इति। भाव यह कि जिह्वा यह सत्य कह रही है। इसमें किंचित बनावटकी बात नहीं है। यदि यह झूठ कहती हो तो जल जाय। 'जल जाना' कहनेका भाव कि सत्यकी परीक्षाके लिये अग्नि साक्षी हैं, यदि कथनमें कपट होगा तो अग्निदेव उसे जला देंगे। भाव यह कि मैं शपथपूर्वक यह बात कहता हूँ। आगेभी शंकरजीकी साक्षी देकर ऐसीही शपथ की है; यथा 'संकर साखि जो राखि कहौं कछु तौ जरि जीह गरो। अपनो भलो राम नामहि तें तुलसिहि समुझि परो। २२६।'

७ 'सब भाँति बिगरी है ' इति। 'सब प्रकार' अर्थात् जो ऊपर कह आये—काल, स्वभाव, कर्म, धन, मन, तन, स्थान, आदि सब बिगड़े हैं, परलोक बननेके कर्म- धर्मादि आचरण तो एकभी नहीं हैं, हाँ, एक बनन-बनावकी बात यही है

कि मैंने अपनी सेवं बिगड़ीकी सूचना अपने सुस्वामीको समयपर दे दी है, वे सुसाहिब हैं सुधार लेंगे, यह आशा है। कहा भी है—'तुलसी राम कृपाल सों कहि सुनाउ गुनदोष। होइ दूबरी दीनता परम पीन संतोष। दो० ६६।', 'मोरि सुधारिहि सो सब भाँती। जासु कृपा नहिं कृपा अघाती।१।२८।३।', 'तुम्ह सुधारि आये सदा सबकी सबही बिधि अब मेरियो सुधारिए। २७१।'

सू० शुक्ल—इस पदमे भगवान्के चरित्र सदैव कहना-सुनना बतलाया गया है। कलियुगमे प्राणियोके स्वभाव, कर्म आदि कोई ठीक नहीं होते है, इस लिये मन स्थिर नहीं होता है और चित्तके स्थिर होनेसे ही उनकी प्रसन्नता द्वारा साधना दृढ होकर सिद्ध होती है। और भगवान्की कथामे तो बुद्धि उस-को समझने लगती है, इस लिये मन स्थिर हो जाता है। इससे इस युगमे यही अच्छाई है कि भगवान्के चरित्रोंको नित्य पढ़े और सुने, क्योकि सच्छास्त्र और सत्सगसे सभी कुछ साध्य हो जाता है।

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

१८३ (राग असावरी)

राम प्रीति की रीति आपु (नीके[1]) जनिअत है।
बड़े की बड़ाई छोटे की छोटाई दूरि करै,
'ऐसी[2] बिरुदावलि बलि बेद' मनिअत है॥१
गीध[3] को कियो[4] सराध भीलनीके खाये फल,
सोऊ साधु सभा भली (भाँति[5]) भनिअत है।
रावरे आदरे लोक बेदहू आदरिअत;

१ रा०, भा०, वे० मे 'नीके' नही है। ह०, ज०, ५१, १५, ७४, आ० मे है। २ 'ऐसिऔ बावरी वलि'–रा० ('वेद' नहीं है)। 'ऐसिऔ बावरी बलि वेद'–भा० (वे० में 'ऐसियै' है)। 'असियो बिरुदावली'– ज०। 'ऐसी विरुदावली सुवेद'–७४। 'ऐसी विरदावली वलि वेद'–ह०, ५१, बै०, डु०। 'ऐसी बिरुदा-वलि वलि वेद'–भ०, दीन। ऐसी विरदावली वेद-मु०। ☞पाठक विचार करें। ३ गिद्ध–भा०, वे०। गीद्ध–रा०। गीध–ह०, ७४, ज०, ५१, प्र०, १५। ४ करायो–रा०, भा०। कर्‍यो–वे०, प्र०, ह०। कियेउ–७४। कियो–ज०, ५१, १५, आ०। ५–भा०, वे०,प्र०, ज० मे 'भाँति' नहीं है। रा०, ह०,७४, आ० मे है। (मेरी समझमे इसके विना भी पाठ शुद्ध रहेगा। गायना-चार्य विचार करें।)

जोग ज्ञानहू तें गरू[6] गनिअत है ॥२

प्रभुकी कृपा कृपाल कठिन[7] कलिहूँ काल

महिमा समुझि उर[8] अनिअत है।

तुलसी पराये बस भये रस अनरस,

दीनबंधु द्वारे हठ[9] ठनिअत है ॥३

नोट—१ इस पदमेंभी पोथियोंमें बहुत गड़बड़ी है। रा० में भी बहुत अशुद्धियाँ हैं। तुकान्तमें किसी पुस्तकमें 'अत' है, किसीमें 'यत', किसीमें 'यतु' और किसीमें 'अति' है।

२-जनिअत, मनिअत, भनिअत, इत्यादि प्रयोग क्रमशः प्रचलित 'जानते, मानते, भरणन् करते' इत्यादि अर्थमें हैं।

शब्दार्थ— छोटाई = छोटापन; लघुत्व; दीन दशा; दीनता-हीनता। छोटा = जो पद या प्रतिष्ठामें कम हो; जो शक्ति, गुण, योग्यता, मान-मर्यादामें न्यून हो। सराध (श्राद्ध) = वह कृत्य जो शास्त्रके विधानके अनुसार पितरोंके उद्देश्यसे किया जाता है, जैसे तिलांजलि, तर्पण और पिण्डदान तथा ब्राह्मणों और सजातियोंको भोजन कराना। (गीधका श्राद्ध भी इसी प्रकार किया गया)। भनना = कहना। अनिअत = धारण करता हूँ। आनना = लाना; धारण करना। ठानना = चित्तमें दृढ़ संकल्प करना; दृढ़तापूर्वक धारण करना।

पद्यार्थ—हे श्रीरामजी! आप प्रीतिकी रीति (भली भाँति) जानते हैं। 'बड़ेका बड़प्पन और छोटेका छुटप्पन मिटा देते हैं', -ऐसी विरुदावली वेद मान रहे हैं। आपकी बलिहारी है। १। आपने गीध (गृध्रराज जटायु) का श्राद्ध किया, भीलिनी (शबरी) के फल खाए-से भी साधु समाज भला (भली प्रकार) कहता है। आपके आदर करनेमें लोक और वेदभी आदर करते हैं और वह (आपका आदर करना) योग और ज्ञानसे भी अधिक गौरवका गिना जाता है। ।२। हे प्रभो! हे कृपालो! इस कठिन कलिकालमेंभी आपकी कृपाकी (एवं कृपासे आपकी) महिमाको समझकर तुलसीदास (उसे) हृदयमें ले आता है। पराये वश होनेसे रससे अनरस हो गया या हो जायगा, इससे हे दीनबंधु! आपके द्वारपर (तुलसीदासने) हठ ठानी है। ३।

टिप्पणी—१ (क) 'राम प्रीतिकी रीति ' इति। प्रीतिकी रीतिका जानना

६ गरू–रा०, भा०, छु०, वै०, दीन, ह०, ज०, प्र०। गुरु–वे०। गरुआई–मु०। ताहि गरू–७४। ७ कठिनहू कलि काल–दे०। ८ निज उर–मु०। उर माहिं –श्री० श०। ९ हरि हठ–मु०, श्री० श०, ७४, ५१।

और रीतिके उदाहरण पूर्व 'जानत प्रीति रीति रघुराई।' पद १६४ मे कह आये हैं। वहाँ कविने अपनेको उपदेश देनेके संबंधसे श्रीरघुनाथजीका यह गुण वर्णन किया है और यहाँ प्रभुको संबोधित करते हुए उनसे उनका यह गुण कह रहे है। 'नीके' अर्थात् यथार्थ। यथा 'नीति प्रीति परमारथ स्वारथ। कोउ न राम सम जान जथारथ।२।२५४।५।' बिना 'नीके' शब्दके भी 'आपु' से ही यह अर्थ निकल सकता है। आपही जानते है, दूसरा नही। [प्रीतिके लक्षण छः प्रकारके है—१ अभिलाप सहित अपनी वस्तु मित्रको देना। निश्शंक होकर मित्रकी वस्तु लेना। ३ अपनी गुप्त बात मित्रसे कहना। ४ मित्रकी गुप्त बात उससे पूछना।५ उसके यहाँ भोजन करना और ६ उसे अपने यहाँ खिलाना। यथा 'ददाति प्रतिगृह्णाति गुह्यमाख्याति पृच्छति। भुङ्क्ते भोजयते चैव षड्विधं प्रीतिलक्षणम्।' (पचतंत्र २।४१,४।१३। हितोपदेश १।१७०; प० पु० उ० २४१।१४६)-इन लक्षणोंका परिपूर्ण निर्वाह जन्मभर करना प्रीतिकी रीति है। (वै)] प्रीतिकी रीति = प्रीतिकी पद्धति। अर्थात् प्रेमीके साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए, यह आपही जानते हैं।

१ (ख) 'बड़ेकी बडाई ' इति। 'बडे' के दो प्रकारसे अर्थ कर सकते है। एक तो यह कि जो हरिविमुख अपनेको मोहवश बडा मान बैठे है, उनके बडप्पनको मिटा देते है, उनके अभिमानको चूर कर डालते है; जैसे कि रावण, हिरण्यकशिपु आदिका नाशकर उनका बड़े होनेका अभिमान मिटा दिया। दूसरा अर्थ है कि अपने बडे होनेकी बडाईको प्रेमियोंके साथ प्रेम निबाहनेमे अलग कर देते हैं। अपना ऐश्वर्य भुला देते है। यही भगवान्‌की भगवत्ताका भारी लक्षण है; यथा 'वही भगवंत संत प्रीतिको विचार करे, धरै दूर ईशताहू पांडुनि सो करी है।' (प्रियादासजी; भक्तिरसबोधिनी टीका), 'तिन्हहिं लागि धरि देह करों सब, डरो न सुजस नसाउ। गी० ५।४५।'

'छोटेकी छोटाई दूरि करै' अर्थात् जो जीव सम्मुख हैं, भक्त हैं, वे कैसेही अधम जाति, नीच, अकुलीन, दीन-हीन, इत्यादि क्यो न हो, उनके साथ प्रेम करके उनकी अधमता, अकुलीनता और दीनता आदिको मिटा देते हैं; जैसे निषादराज गुह और शबरीजी आदिकी छोटाई दूर की। पुनः, 'बड़ेकी दूरि करै' का भाव कि जीवको अगीकार करने न करनेसे आपको किसीके बड़प्पन या छुटप्पनका विचार नहीं होता, इन दोनो विचारोंको अलग कर देते है।

नोट—३ पं० रामकुमारजीका पाठ है–'ऐसिऔ बावरी बलि मनियत है' (यही रा० का पाठ है)। वे अर्थ करते है कि—"जो छोटेकी छोटाई और बड़ेकी बड़ाई दूर करती है, ऐसी बावली प्रीतिको तुम मानते हो। तात्पर्य कि प्रीतिमे बडे छोटेका विचार तुम्हारे यहां नही है। बावली इससे कहा कि छोटे बड़े-

को सदृश रखती है।"

वियोगीजी—"जो उचित अवस्थासे बढ़ गया है, उसे छोटा कर देते हैं और जो उचित अवस्थासे गिर गया है, उसे उठा देते हैं; सारांश, सब को एकदृष्टिसे देखते हैं, वैषम्य कहींभी नहीं रहने पाता।"

टिप्पणी—२ (क) 'गीधको कियो सराध ' इति। ऊपर जो कहा है, उसके उदाहरण देते हैं। गृध्रराज और शबरीकी कथायें पूर्व १३८ (३ क), १६४ (२ ख), १६५ (३ ख-ख), १६६ (५-६) इत्यादिमें आचुकी है। गीधका श्राद्ध किस शास्त्र में विहित है? पर आपने इसकी पर्वाह न की. उनने अपनेको दशरथजीका सखा कहा था, श्रीसीताजीकी रक्षा 'पुत्रि' कहकर कीथी, यथा 'सीते पुत्रि करसि जनि त्रासा। करिहउँ जातुधानकर नासा। ३। २९। ६।' अतः आपनेभी पुत्रका सा प्रेम निवाहा। उसकी छोटाई न रह गई। शबरीजीके फल खाकर दण्डकारण्यके ऋषियोंका अभिमान चूर किया। अपना बड़प्पनभी दोनोंमें दूर कर दिया। आप अपना बड़प्पन नीच भक्तोंके आदर करनेमें ही मानते हैं। मिलान कीजिए—'रघुवर रावरी इहै बड़ाई। निदरि गनी आदर गरीबपर करत कृपा अधिकाई। ' बारहि बार गीध सबरीकी बरनत प्रीति सुहाई। १६५।'

२ (ख) 'सोऊ साधु समाज ' का भाव कि 'ऐसा करनेसे साधुसमाजमें निंदा होती होगी, क्योंकि लोकमें नीचोंका संग्रह, नीचोंसे प्रेम करना, निंदित माना जाता है'; पर ऐसी बात नहीं है, संतसमाजमें आपका यह बर्ताव व्यवहार बड़ी प्रशंसाकी दृष्टिसे वर्णन किया जाता है। साधुसमाज इससे आपके शील, करुणा, पतितपावनता, जनवत्सलता, आदि गुणोंकी प्रशंसा करता है। 'उनको इसमें दीनवत्सलताका साक्षात्कार होता है। (बैजनाथजीने यह भी अर्थ किया है कि आप साधुसमाजमें इनकी प्रशंसाभी करते हैं)।

२ (ग) 'रावरे आदरे ' इति। गीध-शबरीकी प्रशंसा क्यों होती है, इसका कारण बताते हुए अब यह भी बताते हैं कि इन्हीं दोकी प्रशंसा नहीं किन्तु जिनका भी आदर आप करते हैं उन सभीका आदर सर्वत्र होता है। 'लोक-बेदहू आदरिअत' का भाव कि लोक और वेद दोनो उसको आदरकी दृष्टिसे देखते हैं; उसे सुकृती, पावन, धन्य, गुणी, महिमावान आदि मानते हैं; यथा 'सोइ सुकृती सुचि साँचो जाहि (राम) तुम्ह रीझे। गनिका गीध बधिक हरिपुर गये लै करसी प्रयाग कब सीझे। २४१।', 'जाको हरि दृढ़ करि अंगु कर्‌यो। सोइ वसुसील पुनीत देदविद विद्या गुनन्हि भर्‌यो। २३९।', 'त्रिजग-जोनिगत गीध जनम भरि खाइ कुजंत जियो हौं। महाराज सुकृती समाज सब ऊपर आजु कियो हौं। गी० ३।१४।'; 'महाराज रामादर्‌यो धन्य सोई। गरुअ गुणरासि सर्वज्ञ सुकृती सूर सीलनिधि साधु तेहि सम न कोई।' १०६(१)देखिए।

२ (ख) 'जोग ज्ञान तें गरू गनिअत है' अर्थात् आपके आदर देनेसे जो गति उनको प्राप्त हुई एवं होती है, वह योगियों ज्ञानियोंको भी दुर्लभ है; यथा 'गीध अधम खग आमिषभोगी। गति दीन्ही जो जाचत जोगी। ३।३३।२।', 'जोगिबृंद दुरलभ गति जोई। तो कहुँ आज सुलभ भइ सोई। ३। ३६। ८।'— अतः कहते हैं कि योग और ज्ञानसे इस आदरका गौरव अधिक मानते हैं। [टीकाकारोंने प्रायः यह अर्थ किया है कि 'योग और ज्ञानके साधकोंकी अपेक्षा वह बड़ा गिना जाता है'। श्रीकान्तशरणजीने 'जोगि ज्ञानि' पाठ रक्खा है, और प्रायः सर्वत्र 'जोग ज्ञान' ही पाठ मिलता है।]

३ (क) 'प्रभुकी कृपा कृपाल ' इति। इस कठिन कराल कलिकालमें भी आपके नाम, गुणगान आदिकी महिमा प्रकट है कि उनसे तो नीचसे नीच पतित भी भवपार हो जाते हैं। यथा 'नाम कामतरु काल कराला। सुमिरत समन सकल जग जाला। १। २७। ५।', 'कृतजुग त्रेता द्वापर पूजा मख अरु जोग। जो गति होइ सो कलि हरि नाम ते पावहिं लोग। ७। १०२।', 'कलिजुग केवल हरिगुनगाहा। गावत नर पावहिं भवथाहा॥ कलिजुग जोग न जग्य न ज्ञाना। एक अधार रामगुनगाना॥ नाम प्रताप प्रगट कलि माहीं॥" गाइ रामगुन-गन बिमल भव तर बिनहि प्रयास। ७। १०३।', 'तब तुम्ह मोहूँसे सठनि हठि गति देते। कैसेहुँ नाम कहो कोउ पावरु सुनि सादर आगे होइ लेते। अजहुँ अधिक आदरु यहि द्वारे पतित पुनीत होत नहिं केते। २४१।', 'राम भलाई आपनी भल कियो न काको। नाम लेत कलिकालहू हरिपुरहिं न गा को। १५२।'—यह आपकी कृपाकी महिमा है कि आप अपने नाम तथा गुणगान आदि मात्रसे कलिकालमें भी जीवोंको भव पार कर देते हैं, यह समझकर उसी कृपाका भरोसा हृदयमें दृढ़रूपसे मैंने धारण कर लिया है कि कठिन कलिकाल-भी मेरा कुछ नहीं कर सकेगा।

३ (ख) 'तुलसी पराये बस भये रस अनरस " ' इति। 'परबस' अर्थात् इन्द्रियोंके वश, विषयोंके वश, संसारके वश, कलिकाल तथा मोह-मायाके वश, इत्यादि सब परवशता है। जीव कर्मोंमें कर्तृत्वाभिमान करके परवश हो जाता है; अपने सहज स्वरूपको भूल जाता है, भगवान्से विमुख होकर भवकूपमें पड़ता है। यथा 'परबस जानि हँस्यो हो इंद्रिन्ह '। १०५।', 'बिषय बारि मन मीन भिन्न नहिं होत कबहुँ पल एक। १०२।', 'तुम्ह मायापति हो बस माया।१७७।', 'तुलसिदास भवब्यालग्रसित तव सरन उरगरिपुगामी।११७।', 'मैं तो दियो छाती पबि, लयो कलिकाल दबि, साँसति सहत परबस को न सहैगो।। २५९।', 'तैं निज कर्मडोरि दिढ़ कीन्ही। अपनेहि करनि गाँठि हठि दीन्ही। ताहि तें परबस पर्‌यो अभागे। १३६ (३)।'

३ (ग) रससे अनरस हो गया अर्थात् मायावश इन्द्रियविषयके अधीन अपना स्वरूप भूल गया, सुखरूपसे दुःखरूप हो गया। (डु०)। प्रभुके चरणानुरागरूपी रस (प्रेमानन्द) से अनरस अर्थात् विमुख हो गया। संसारसुखमें भूल गया। (वै०)। रस अनरस हो गया, रस जाता रहा। अथवा, विषयवश हो जानेसे सब रस जाता रहेगा, फीका पड़जायगा।

श्रीरामानुजाचार्य (वेदान्तशिरोमणि) जी लिखते हैं कि यह आत्मा परमात्माका ही दास है। अन्यशेषत्व अनन्याहशेषत्वस्वरूप-रसका नाशक है। यथा "दासभूताः स्वतः सर्वेह्यात्मानः परमात्मनः। नान्यत्र लक्षणं तेषां बंधेमोक्षे च विद्यते। (अहिर्बुध्न्य संहिता)।" (अर्थात सभी आत्मायें उन परमात्माके दास हैं, अन्यथा 'बंध-मोक्ष' लक्षण उन्हे नहीं प्राप्त होगा।), "नान्यं देवं नमस्कुर्यात् नान्यं देवं समर्चयेत्। भजस्व नित्यमात्मांशि मानसीरन्यदेवताः। भरद्वाजसंहिता।" (अर्थात् न दूसरे देवताको प्रणाम करे और न पूजा। सदा आत्मामे ही सभी देवताओंको मिला मानकर मानसी पूजा करनी चाहिए)। 'जीव भवदंघ्रि सेवक बिभीषण' ५८ (६ क) मे देखिए।

[दीनजी अर्थ करते हैं कि—"यदि मैं किसी दूसरेकी शरणमें चला जऊँगा तो सारा रस अनरस हो जायगा। भाव यह है कि लोग यह कहकर आपकी हँसी उडायेंगे कि रामचन्द्रजीका यश तो इतना बड़ा है, पर तुलसी ऐसे तुच्छ जनको भी अपनी शरणमें न रख सके। इससे आपके यशमें कलंककी कालिमा लगेगी ही, साथ ही मेरीभी दुर्दशा होगी, क्योंकि आपके समान मुझे दूसरा मालिक मिलेगा ही नहीं।"

मेरी समझमे 'परवस भयें' से कलिकालके वश इन्द्रियविषयवश ही होना विशेष संगत है। क्योंकि गोस्वामीजी इस विषयमे अनन्य हैं, उन्होंने कहींभी दूसरे सुसाहिबके द्वारपर चले जानेकी बात नहीं कही है। वे तो कहते हैं कि 'जौं तुम्ह त्यागो राम हौं तो नहिं त्यागो। १७७।' इत्यादि]

३ (घ)'दीनबधु द्वारे हठ ठनिअत हैं' इति। अर्थात् इसी महिमाको विचारकर धरना दे रहा हूँ। आप दीनबंधु हैं, कृपा अवश्य मुझ दीनपर करेंगे, यह विश्वास है, इसीसे मैं भी आपके द्वारपर अड़ गया हूँ। पूर्व कहा था कि यदि आप त्यागंभी दें, तो भी मैं तो आपको त्याग नहीं सकता, आप उदासीनभी रहे तो भी मुझे आपकी ही आशा है। (पद १७७,१७८)। फिर यह भी कहा कि मेरी बार कृपा करनेमें ढील बहुत हो रही है, शीघ्र मेरी रक्षा कीजिए,आपके गुणगाथ सुनकर आपकी शरण आया। इतनेपरभी सुनवाई नहीं हुई, अतः अब कहते हैं कि मारने-पीटने धक्का देकर हटानेकी कौन कहे, घसीटनेसेभी मैं द्वार नहीं छोड़नेका। आप प्रीति की रीति जानते हैं, मेरी इस प्रीतिके नातेको स्वीकार कीजिए।

जबतक आप कृपा करके अपना न लेंगे, मैं यहाँसे हटनेका नहीं। आगे पद २६७ में इस 'हठ ठनिअत' कोही विशेष विस्तारसे समझाकर विनय की है। यथा "पनु करि हों हठि आजु तें राम द्वार परयो हों। तू मेरो यह बिनु कहे उठिहों न जनम भरि प्रभुकी सो करि निवरयो हों॥ हौं माचल लै छूटिहों जेहि लागि अरयो हों। तुम दयाल बनिहै दिये बलि बिलंबु न कीजै जाति गलानि गरयो हों॥"—यह सब भाव 'हठ ठनिअत' का है। 'तुम दयाल बनिहै दिये' का भाव 'दीनबंधु' संबोधनमें है।

३ (ङ) इस पदमें 'नीचोंको भी उच्चपद देनेका सामर्थ्य'—गुण प्रभुका वर्णन करके अपनेको नीच जताकर अपने उद्धारकी प्रार्थना की–है। (भ० स०)।

सू० शुक्ल—भगवान्‌के भजनमें अत्यन्त दृढ़ होना चाहिए और पूरा विश्वास करना चाहिए कि भगवान् दीनदयाल हैं, अवश्यही प्रसन्न होंगे। तभी भगवान् प्रसन्न होते है। क्योंकि जो लोग इच्छाके साथ भजन करते है, वे कहते हैं कि इतने दिनोंतक भजन किया, पर उसका फल न मिला। उन्हें क्यों फल नहीं मिलता, क्योंकि उनका भजन सवासनिक होनेसे शिथिलताके साथ होता है और संदेहभी लगा रहता है कि मुझे भजनका फल कब मिलेगा और मिलेगा या नहीं। इस लिये इस पदमें भजनकी पूरी रीतिसे दृढ़ता होनी बतलाई गई है।

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

१८४

रामनाम के जपें पै[1] जाइ जिय[2] की जरनि।

कलिकाल अपर उपाय ते अपाय भये,

जैसे तम नासिबे को चित्रके तरनि।

करम कलाप परिताप पाप साने सब,

ज्यों सुफूल फूले[3] रूख[4] फोकट[5] फरनि।१

दंभ लोभ लालच उपासना बिनासि नीके,

सुगति साधन भई उदर-भरनि।२

जोग न समाधि निरुपाधि न बिराग ज्ञान,

बचन बेष[6] बिसेषि कहूँ न करनि।

१ पै–रा०, भा०, वे०, ७४, १५। ते–ह०। ते–प्र०। ५१, आ० में कुछ नहीं है। २ जीव–ह०। ३ फूलै–ङु०, वे०, भा०, दीन। फूलइ–७४। फूले–औरोंसे। ४ तरु–ह०, ज०, ५१, आ० (–भ०)। रूख–रा०, भा०, वे०, भ०, ७४, प्र०। ५ फोटक–१५। ६ वेप विसेपि–रा०। विसेप वेप–प्रायः औरोंमें।

कपट कुपथ कोटि, कहनि रहनि खोटि,
सकल सराहैं निज निज आचरनि ।३
भरत महेस उपदेस हैं[7] कहा करत,
सुरसरि तीर कासी धरम-धरनि ।
रामनाम को प्रताप हर कहैं, जपैं आपु,
जुग जुग जानैं[8] जग बेदहू बरनि ।४
मति रामनाम ही सों, रति[9] राम नाम ही सों,
गति[10] रामनामही की[11] बिपति हरनि ।
रामनाम सों प्रतीति प्रीति राखें कबहुँक,
तुलसी ढरेंगे राम आपनी ढरनि ।५

शब्दार्थ—पै = निश्चयही । अपर = अन्य; दूसरे । अपाय = बिना पैरके = लँगड़े । = असमर्थ; बेकार, व्यर्थ । नासिबे = नाश करनेको । तरणि = सूर्य । कलाप = समूह । यथा 'एहि बिधि करत बिलाप कलापा । आए अवध भरें परितापा । २ । ८६ । ७ ।' फोकट = निस्सार; जो किसी कामका न हो; व्यर्थ । यथा 'जोरे नये नाते नेह फोकट फीके । देहकें दाहक गाहक जीके । १७६ (२) ।', 'कलिमें न बिराग न ज्ञान कहूँ सबु लागत फोकट भूठ जटो । क० ७ । ८६ ।' फरनि = फलोंसे; फल । बिनासि = नष्ट कर डाला । भरनि = भरनेकी; भरनेके लिये वा भरनेको । ढरनि = दीन दशा दूर करनेकी स्वाभाविक प्रवृत्ति; स्वाभाविक करुणा वा दयालुतासे । यथा 'कृपासिंधु कोसलधनी सरनागतपालक ढरनि आपनी ढरिये ।'

पद्यार्थ—श्रीरामनामके जपनेसे हृदयकी जलन अवश्य दूर हो जायगी । कलिकालमें जितने अन्य साधन हैं वे (ऐसे) असमर्थ हो गए हैं, जैसे अंधकारका नाश करनेको चित्रके (अर्थात् चित्रमें लिखे हुए, चित्रांकित) सूर्य (असमर्थ हैं) कर्मोंका सब समूहका समूह पाप और संतापसे सना हुआ है (युक्त है), (वे ऐसे हैं) जैसे सुन्दर फूल फूले हुए वृक्ष निस्सार फलसे (युक्त हों) । दंभ, लोभ और लालचने उपासनाको भली भाँति सर्वथा नष्ट कर डाला और सद्गति (मोक्ष) के साधन पेट भरनेके लिये हो गए । २ । योग और समाधि निर्विघ्न

७ हैं–७४,आ० । है–रा०,मु०,भ०, ५१ । ही–ह० । हिं०–वे० । (उपदेसे) है–भा० ।
८ जाने–रा०,भा०, वे०, मु०, डु०, ह०, दीन । जानै—वै०, भ०, ७४, वि० ।
९ गति–प्र० । १० रति–प्र० । ११ सों–ज० । की है । प्र०, वे० ।

नहीं. वैराग्य और ज्ञान (भी) नहीं रहगए †; (इनमे) वेष और वचन ही विशेपकर हैं. करनी कहीं नहीं है। कपट एवं कपटपूर्ण कुमार्ग करोड़ो, कहनी और रहनी (अर्थात् कथन और आचरण दोनोही) खोटी, सब अपने-अपने आचरणकी प्रशंसा करते है। ३। गगातट काशी (ऐसी) धर्मभूमिमे शंकरजी (जीवोको) मरते समय क्या उपदेश करते हैं? क्लेशोंके हरनेवाले भगवान हर श्रीरामनामका प्रताप कहते है, (उसे) स्वयं जपते है—सारा संसार (इस बातको) युग-युगान्तरोंसे जानता (चला आया) है और वेदोंनेभी वर्णन किया है ।४। श्रीरामनामहीमे बुद्धिको लगाना, रामनामसे ही अटल प्रेम करना तथा श्रीरामनामहीका अवलंब विपत्तिका हरनेवाला है। हे तुलसी! श्रीरामनामसे प्रेम और विश्वास (वा, विश्वासपूर्वक प्रेम) बनाये रखनेसे कभी न कभी (अवश्य) श्रीरामचन्द्रजी अपनी ढरनि अपने दयालु स्वभावसे (द्रवीभूत होकर) दया करेंगे ।५।

टिप्पणी—१ 'रामनामके जपे पैं ' इति। (क) पिछले पदमे कहा कि श्रीरामद्वारपर मैंने हठ ठाना है। उस हठ ठाननेको यहाँ स्पष्ट करते है कि आप जबतक कृपा न करेंगे. मैं आपके नामका ही अवलंब दृढ़ पकड़े रहूँगा, दूसरा कोई अवलब मेरा नहीं है और न होगा। इसका कारण कहते हुए यह भी सिद्धान्त करते है कि जीवको कलिकालमे दूसरा कोई साधन नहीं रह गया, अतएव जीवको विश्वासपूर्वक श्रीरामनाममे मति-गति-रति लगा देनी चाहिए, कृपा अवश्य होगी। (ख)'-पैं' निश्चयवाचक है। जीव तीनो तापोसे सदा संतप्त रहता है, स्वप्नमे इसे सुख नही मिलता। पूर्व जीवको उपदेश कर आये है कि जबतक श्रीरामनामका जप नही करेगा काल कर्म स्वभाव गुण सदा तुझे त्रितापसे संतप्त रक्खेगे, कभी सुखकी नींद सोने न देंगे। यथा 'राम राम राम जीय जौलौं तू न जपि है। तौ लो जहां जैहै तहां तिहूँ ताप तपिहै॥ जागत बागत सपने न सुख सोइहै। ६८।' और अब इस पदमे उसे सिद्धांत करके दृढ़ करते है कि रामनामके जपसे संताप अवश्य दूर हो जाता है, तेरे मनका तापभी अवश्य दूर हो जायगा। मनका जलना पूर्व कह आये है, यथा 'सुनहु नाथ मन जरत त्रिविध ज्वर करत फिरत बौराई। ८१।' और आगेभी तीनो तापोंसे जलना कहा है। यथा 'जरत फिरत त्रैताप पाप बस काहु न हरि करि कृपा जुडायो। २४३ (३)।'

१ (ग) 'कलिकाल अपर उपाय ' इति। यदि कहा जाय कि कर्म, उपासना, ज्ञान, योग आदिभी अनेक साधन है, जिनसे जीकी जलन मिटती है, उनकी उपेक्षा उनका अभाव क्यों करते हो? उसका उत्तर देते है कि इस समय कलिका राज्य है, अन्य युगोमे अन्य सब साधन सुफल होते थे, कलियुगमे वह

† अर्थान्तर—१ ज्ञान वैराग्य वचन वेपमे विशेप है। (पं० रा० कु०)। २ वैराग्य और ज्ञानमे केवल वाक्चातुरी और बनावटी वेप रह गए है। (दीनजी)।

वॉन नहीं रह गई। कलिमें वे 'उपाय' से 'अपाय' होगए। 'उ' की जगह 'अ' हो गया। पूर्व वे पाँवयुक्त थे। कलिने धर्मके पैर तोड़ दिये. सब साधन लँगड़े हो गए, उनमें चलनेकी (हृदयके मोहांधकारका नाश करनेकी) शक्ति नहीं रह गई। जैसे कागज़ या दीवार आदिपर सूर्यका चित्र कोई बनावे और उससे चाहे कि घरका अंधकार दूर हो जाय, तो उसकी यह चाह व्यर्थ है, चित्रांकित सूर्य प्रकाश करनेमें असमर्थ है। यहां उदाहरण अलंकार है। यह भी जनाया कि रामनाम सच्चे सूर्य हैं, यही नहीं ये तो सूर्यके भी प्रकाशक हैं—'हेतु कृसानु भानु हिमकर को'; ये मोहके नाशक है, यथा 'रामनाम है बिमोह तिमिर तरनि। २४७।'

२ 'करम कलाप परिताप ' इति। (क) यहाँ कर्मसमूह (कर्मकाण्ड) को 'रूख' उपमा देते है जिसमे सुन्दर फूल होते है, उनकी सुन्दरता देखकर आशा की-जाती हैं कि इसमें सरस फल लगेंगे; परन्तु उससे फल जो प्राप्त हुए वे निस्सार निकले; जैसे सेमर वृक्षके सुन्दर-सुन्दर फूल देखकर तोता सुन्दर सरस गूदेदार फलकी आशासे उस वृक्षमें बझा रहता है. 'फल लगनेपर फलको निस्सार देख-कर पछताता है, (सेमर एवं और भी ऐसेही वृक्षोंके समान सारा कर्मजाल है); यथा 'बझत बिनहिं पास सेमर सुमन आस करत चरत तेइ फल बिनु हीर।१९७' वैसेही ग्रन्थोंमें अनेक सुकृत कर्मधर्मोकी प्रशंसा देख-सुनकर सुन्दर फलोंकी आशासे जीव उनमें बझ जाता है और अन्तमें वह फल निस्सार निकला देख दुःख उठाता है-'स्वर्गहु स्वल्प अंत दुखदाई।' श्रमरूपी फलही उसके हाथ लगता है। पूर्व जो कह आये हैं 'एहि कलिकाल सकल साधनतरु है श्रमफलनि फरो सो॥ पाएहिं पै जानिवो करम फलु भरि-भरि वेदु परोसो। १७३।' वह सब भाव इस उदाहरणमें हैं। कर्म सव पाप और दुःखसे लिप्त हैं—'करतहु सुकृत न पाप सिराहीं' १२८ (३ क, ग) देखिए। कर्मकांडके साधनेमें दुःख उठाना होता है और अंतमे तो फल देख दुःख होताही है। यथा 'व्रत तीरथ तप सुनि सह-मत पचि मरै करै तन छाम को॥ करमजाल कलिकाल कठिन आधीन सुसाधित दाम को। १५५।'

[वैजनाथजीके मतानुसार 'फोकट फरनि' का भाव कि फलोंमे ऊपर छिल-का मात्र है जिससे देखनेमे तो फल है, पर भीतर कुछ नहीं है, फल खोखला है।]

२ (ख) 'दंभ लोभ लालच ' इति। अपनेको झूठमूठ धर्मात्मा प्रसिद्ध करना 'दंभ' है-'दम्भो धर्मोध्वजोच्छ्रयः। म० भा० वन ३१३।१००।' लोभ और लालचमें किंचित् भेद है, साधारणतया ये दोनों पर्याय हैं। लोभमें प्राप्त वस्तु-पर विशेष ममत्व तथा दूसरेकी वस्तुके लेनेकी इच्छा होती है। जब चाही हुई वस्तुकी प्राप्तिके लिये अत्यंत अधिक इच्छा होती है जो कुछ भद्दी और बेढंगी

मालूम होती है और मनुष्य उसके कारण अत्यंत चंचल हो जाता है, तब उसकी 'लालच' संज्ञा होती है। इसीको 'लोलुपता' कहते है। यथा 'चंचल चरन लोभ लगि लोलुप द्वार-द्वार जग बागे। १७०।' पुनः, लोभ भीतरका भाव है, हृदयमे स्थान रखता है। जब वह बाहर प्रकट देखनेमें आता है तब वह लालच कहलाता है। भक्तिसाधनमे दंभ, लोभ, लालच बाधक है। इसीसे नारदभक्तिसूत्र है-'अभिमानदम्भादिकं त्याज्यम। ६४।' दंभ यह कि भक्ति करते है तो वह भी इस विचारसे कि लोग हमारी पूजा करे, प्रशंसा करें कि बड़े भजनानन्दी हैं, इत्यादि। लोभ यह कि भीतरसे इच्छा यही रहती है कि कोई आवे, कुछ चढ़ा जाय। लालच यह कि धन आदि इच्छित पदार्थकी प्राप्तिके लिये चंचल होकर लोगोंके यहाँ जाताभी हूँ। ये उपासनाके नाशक है। यथा 'भगति ज्ञान वैराग्य सकल साधन एहि लागि उपाई। केउ किछु कहउ, देउ किछु, असि बासना हृदय ते न जाई। ११९।',

२ (ग) 'सुगति साधन भई उदर भरनि' इति। सद्गतिके साधन पेट भरनेके साधन बन गए। कारण कि कलियुगमे बार-बार अकाल पड़ता है, पेट भरना कठिन हो गया है, माता-पिता पैदा होतेही बालकको पेट भरनेके ही उपाय बताते है। यथा 'मातु पिता बालकन्हि बोलावहिं। उदर भरै सोइ जतन सिखावहिं। ७।९९।' अतएव सद्गतिके साधनभी जो करते है, वहभी पेट भरनेके लिये, कि इसे देखकर लोग संत मानकर धन देगे। इत्यादि। इसीसे दंभ किया जाता है। क्योकि कलिमे 'मिथ्यारंभ दंभरत जोई। ता कहुँ संत कहइ सब कोई॥ सोइ सयान जो पर धनहारी। जो कर दंभ सो बड़ आचारी। ७।९८।' कविने अपने संबंधमे भी ऐसाही पूर्व कहा है,—'भगति बिराग ज्ञान साधन कहि बहु बिधि डहँकत लोग फिरो। शिवसरवसु सुखधाम नाम तुअ बेचि नरकप्रद उदर भरो।' १४१ (३ क-ग) तथा 'भगति ज्ञान वैराग्य सकल साधन एहिलागि उपाई।११९।' और 'परमारथ स्वारथ साधन भई।' १३९ (६ क) देखिए।

'सुगति साधन' अर्थात् मोक्षके साधन। श्रीप्रह्लादजीके मतानुसार "मौन, व्रत, शास्त्रश्रवण, तप, वेदाध्ययन, स्वधर्मपालन, शास्त्रोकी व्याख्या करना, एकान्तसेवन, जप और समाधि'—ये मोक्षके दश साधन प्रसिद्ध हैं; परन्तु वेभी प्रायः अजितेन्द्रिय पुरुषोकी जीविकाके साधन बन जाते हैं। तथा दंभियोके लिये तो वे कभी जीविकाके साधन रहतेभी हैं और कभी (दंभ खुल जानेपर) नहीं भी रहते।"—'मौनव्रतश्रुततपोऽध्ययनस्वधर्मव्याख्यारहोजपसमाधय आपवर्ग्याः। प्रायः परं पुरुष ते त्वजितेन्द्रियाणां वार्ता भवन्त्युत न वात्र तु दाम्भिकानाम्। भा० ७।९।४६।' यह वाक्य सत्ययुगके अन्त समयका है; तबभी कहीं-कहीं ऐसा हो जाता था और अब कलिका राज्य है, अतः अब तो प्रायः सभीके ये साधन 'उदर-

भरणार्थ' ही होने हैं ।

३ (क) 'जोग न समाधि ' इति । योगके साधनमें रोग और वियोग धरे हुए है—(पद १७३ देखिए) । मानसरोग जीवको सदा सताये रहते हैं, तब समाधि कैसे बन पड़े ? यथा 'एक व्याधि बस नर मरहि ए असाधि बहु व्याधि । पीड़हि संतत जीव कहँ सो किमि लहइ समाधि । ७।१२१।' ये कोई निर्विघ्न नहीं हो पाते. यह पूर्वभी कह आये हैं; यथा 'जप तप तीरथ जोग समाधी । कलि मति बिकल न कछु निरुपाधी ।' १२८ (२ क-ख) देखिए । वहाँ बताया है कि बुद्धि विषयोंके झकोरेके कारण व्याकुल रहती है, इससे मन स्थिर नहीं हो पाता, तब योग समाधि कैसे संभव हैं ? औरभी 'ग्रसे कलि रोग जोग संजम समाधि रे । ६६ (२)।', 'कलि न बिराग जाग जोग तप त्याग रे । ६७(१)।' ज्ञान और वैराग्य भी न रह गए, कामक्रोधलोभादिने इनको रहने न दिया; यथा 'काम कोह मद लोभ मोह मिलि ज्ञान बिराग हरो सो । १७३ (४) ।' लोग ब्रह्मज्ञानके लंबे चौड़े व्याख्यान देते हैं, ज्ञान कथनीमात्र है । 'ब्रह्मज्ञान बिनु नारि नर कहहिं न दूसरि बात । कौड़ी लागि लोभ बस करहिं बिप्र गुर घात । ७।९९।' तथा 'देखत चारु मयूर बयन सुभ, बोलि सुधा इव सानी । सबिप उरग आहार निठुर अस यह करनी वह बानी।' ११८(३)के भाव'बचन बिसेप कहूँ न करनि' में आ जाते हैं । ज्ञानमें आत्मस्वरूपका साक्षात्कार 'देख ब्रह्म समान सब माहीं' चाहिए, सो कहीं होने नहीं पाता । इसी तरह वैराग्य वेप-मात्र रह गया । कपाय वस्त्र. कमण्डल और कोपीन धारण करना, विरक्तता बस इतनेमेंही रहगई है, वचनमें भी वैराग्य है किन्तु मन विपयोंमें अनुरक्त रहता है । यथा 'बेप बचन बिरागु मनु अघ अवगुनन्हिको कोसु' १५९(२), 'बात कहो बनाइ बुध ज्यो बर बिराग निचोरि ।' १५८ (५ ख) देखिए । [कबीरजीने भी कहा है—'करनी बिनु कथनी कथै अज्ञानी दिनरात । कूकर ज्यों भूँखत फिरै सुनी सुनाई बात ।'(वि०)]

३ (ख) 'कपट कुपथ कोटि ' इति । भाव कि कलिमें वेदविदित मार्ग छोड़कर लोग नए-नए पथ चलाते हैं । सब अपने-अपने मनके अनुसार मार्ग बनाये चलते है । इसीसे करोड़ो मार्ग होगए हैं । दंभ कपट भी संसारमें व्याप्त हो गया है । यथा 'श्रुतिसंमत हरिभक्तिपथ संजुत बिरति बिबेक । तेहि न चलहिं नर मोहबस कल्पहिं पंथ अनेक । ७।१००।' 'मारग सोइ जा कहँ जोइ भावा । ७।९८।३।', 'दंभिन्ह निज मति कल्पि करि प्रगट किए बहु पंथ । ७।९७।'

३ (ग) 'कहनि रहनि खोटि ' इति । [कथनी और रहन-सहन दोनों खोटे है; भाव कि न तो किसीकी बातही माननेयोग्य है और न आचरणही अनुकरणीय है । (वि०)] अथवा, कहनी तो ऐसी है कि सब अपने-अपने आचरणकी सराहना करते है, अपने मुख अपनी प्रशंसा करना यह खोटापन है। मन

और मनसे विषयोंमे रत है वह रहनी खोटी है। [अथवा, 'कोटि कहनि' करोड़ों प्रकारका कथन तो है, पर रहनी खोटी है. फिर भी अपने-अपने आचरणको सब सराहते हैं। (ह०,भ०स०)। अथवा, करोड़ो जो कुमार्ग हैं उन्हींकी कहानी है और खोटी रहनी है फिरभी 'सराहत '। (च०)]

४ 'भरत महेस उपदेस ' इति। ऊपर कर्म, उपासना, ज्ञान आदि साधनोकी, हृदयके संताप दूर करनेमे असमर्थता दिखाई, अब श्रीरामनामकी महिमाका प्रमाण देते है। यहाँ महेश, सुरसरि, काशी, धर्मधरणी इन सबोंके नाम देनेका भाव यह है कि पुण्यभूमिमे (जैसे कि सप्तपुरी, चारो धाममे) मरनेसे मुक्ति होती है, काशीमेभी मरनेसे मुक्ति होती है--'काश्यां तु मरणान्मुक्तिः।' काशी 'मुक्तिजन्ममहि' और 'ज्ञानखानि अघहानिकर' है। फिर गंगाजीभी स्वय त्रैलोक्यपावनी है, ब्रह्मद्रव हैं, 'भंजनि भव भार' है (पद १७;१९)। मिलान कीजिए 'समर मरन पुनि सुरसरि तीरा।''' वड़े भाग असि पाइ अमीचू। २। १९०।'--इन तीनों मोक्षदाताओके रहते हुए भी शिवभी स्वयं महेश अर्थात् महान् ईश है, परम समर्थ हैं;तो भी वे काशीमे बसनेवाले जीवोको मोक्ष प्रदान करनेके लिये क्या करते है? क्या चारोमेसे किसीके आधारपर वहां जीवोंको मुक्ति देते है? अर्थात् वे श्रीरामनामका ही उपदेश मरते समय देकर तो ही जीवोको मुक्त करते हैं, अन्य किसी प्रकार नहीं। (प्रमाण पूर्व पद ७ मे देखिए)। भाव यह है कि जीवोके उद्धारमे श्रीरामनामका जो सामर्थ्य है, वह अन्य किसीमे नहीं है। फिर इतनाही नहीं है, उत्पत्ति-पालन-संहार करनेकोभी समर्थ ऐसे शकरजी श्रीरामनामका प्रताप कहा भी करते है और उसे स्वयं जपते रहते हैं, जो कहते है उसे आचरित कर दिखाते है। यथा 'सुमिरत कहत प्रचारिकै बल्लभ गिरिजाको।' विशेष प्रमाण १५२ टि०१२ मे देखिए। सारांश कि शंकरजीने रामनामसेही सिद्धि पाई,इसीसे वे अमर हुए। 'कहत मुनीस महेस महातम उलटे सूधे नामको।' १५६ (२ ख) भी देखिए।--इस बातको संसार जानता है और वेदमे (अथर्व शिरोभाग श्रीरामतापिन्युपनिषद्‌मे) भी वर्णित है।

[वैजनाथजीने इस प्रकार अर्थ किया है--"रामनामका प्रताप युग-युगप्रति प्रसिद्ध रहा है सो सब जग जानता है।" सारांश यह कि रामनामकी महिमा जगत-उजागर है, किसीसे छिपी नही है। (वै०,वि०)। सत्ययुगमें वाल्मीकि तथा प्रह्लादद्वारा, त्रेतामे शवरी आदि द्वारा, द्वापरमे श्वपच और कलिमें कवीर रैदास आदि द्वारा प्रताप प्रसिद्ध हुआ। (वै., भ.)]

५ (क) 'मति रामनामही सो ' इति। रामनाममेही मति, रति और गति के अर्थ और भाव पद ६५ (४) 'रामनाम गति, रामनाम मति, रामनाम अनुरागी।' मे देखिए। वहाँ एकांगी प्रीति करनेका उपदेश मनको दे रहे थे,

इससे वहाँ प्रथम 'गति' (अवलंब, आश्रय) को कहा और यहाँ अन्य साधनों-की ओरसे हटाकर श्रीरामनाममें ही विश्वास दृढ़ कराना है, यह बुद्धिकी वृत्ति है। जब बुद्धि दृढ़ हो जाय तभी नाममें अनुराग होगा और तब एकमात्र उस-पर निर्भर हो सकेगा। अतः यहाँ मति, रति, गति यह क्रम रक्खा। साराश कि एकमात्र श्रीरामनामानन्य हो जाय। 'विपति हरनि' यह उसका फल कहा। ['मति' अर्थात् रामनामका माहात्म्य विचारे, प्रतापको जाने हृदयमें दृढ़ कर रक्खे। 'रति' अर्थात् मनकर्मवचनसे निर्मल प्रीतिसहित उसे जपे, कभीभी अन्तर न पडने पावे। 'गति' अर्थात् भरोसा रक्खे कि मेरा कल्याण इससे अवश्य होगा। 'विपत्ति' मे लौकिक (जैसे कि रोग, वियोग, हानि, शत्रुकृत संकट इत्यादि) और पारलौकिक (गर्भवास, यमयातना आदि) सब विपत्तियाँ जना दीं। (वै०)]

५ (ख) 'प्रतीति प्रीति राखें' इति। पूर्वभी इनकी आवश्यकता बता आये हैं और आगेभी कहा है। यथा 'नाम सों प्रतीति प्रीति हृदय सुथिर थपत। १३०(५)।', 'जो मन प्रीति प्रतीति सों रामनामहि रातो। तुलसी रामप्रसाद सों तिहुँ ताप न तातो। १५१(६)।', 'तुलसी विनु परतीति फिरि फिरि पचि मरै मरो सो। १७३(६)।', 'राम जपु जीह जानि प्रीति सो प्रतीति मानि, रामनाम जपे जैहै जिय की जरनि। २४७' प्रतीति यह कि अवश्य श्रीरामजी कृपा करेंगे। प्रीति यह कि मन, वचन और कर्मसे प्रेमपूर्वक रामनाम निरन्तर जपे।

५ (ग) प्रतीति-प्रीतिका फल बताते हैं कि 'कबहुँक ढरैंगे राम आपनी ढरनि।' 'आपनी ढरनि' का भाव कि श्रीरामजी स्वभावसे ही दयालु हैं, उनकी दया करनेकी प्रकृति है। आगेभी इसी भावसे कहा है—'कृपासिंधु कोसलधनी सरनागतपालक ढरनि आपनी ढरिये। तुम्ह सुधारि आये सदा सबकी सबही विधि अब मेरियो सुधारिये। २७१।' 'कबहुँक' से जनाया कि विलंब देख घबडाये नहीं, कृपा अवश्य होगी जब भी हो। 'जासु कृपा नहिं कृपा अघाती'—वे पूर्व भी नामजापकपर कृपा करते आए हैं, यथा 'तव तुम्ह मोहू से सठनि हठि गति देते। कैसेहूँ नाम कहो कोउ पाँवरु सुनि सादर आगे होइ लेते। २४१।', 'कैसेउ पावर पातकी जेहि लई नामकी ओट। गाँठी बाँध्यो राम सो परख्यो न फेरि खर खोट। १९१।' वाल्मीकि, प्रह्लाद, अजामिल और गजेन्द्र आदिके प्रसग सबको विदित हैं। अतः विश्वास रक्खे कि मेरीभी अवश्य 'सुधारिहि सो सब भाँती'। यथा 'राम बिहाइ मरा जपतें बिगरी सुधरी कबिकोकिलहू की। ताको भलो अजहूँ तुलसी जेहि प्रीति प्रतीति है आखर दू की। क० ७।८९।' ☞ नाममे प्रीति प्रतीति न होनेका भी परिणाम अन्यत्र कहा है; यथा 'रामनाम छाड़ि जो भरोसा करै और रे। तुलसी

परोसो त्यागि माँगै कूर कौर रे। ६६।', 'तौ लों जहाँ जैहै तहाँ तिहुँ ताप तपिहै। ६८।', 'नाम सो प्रीति प्रतीति विहीन गिल्यो कलिकाल कराल न चूको। क० ७।६०।' अतएव विश्वास रख कि अपनी 'ढरनि' प्रकृतिसे अवश्य ढरेंगे, उन 'करुणाकरकी करुणा करुणा-हित' ही है। (क० ७।६३)।' ☞ तुलसीदासने विश्वास और प्रेम निवाहा, आखिर उनपर कृपा हुई ही। यथा 'कलिकालहूँ नाथ नाम सों प्रतीति प्रीति एक किंकर की निबही है। 'बिहँसि राम कह्यो सत्य है सुधि मैंहू लही है। मुदित माथ नावत बनी तुलसी अनाथकी परी रघुनाथ सही है। २७६।'

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

१८५ (१०५)

लाज (न)[1] लागति दास कहावत।

सो आचरन बिसारि सोच तजि / सोचत जिय[2] जो हरि तुम्ह कहँ भावत। १

सकल संग तजि भजत जाहि मुनि जप तप जोग बनावत।

मो सम मंद महाखल पाँवर कोन[3] जतन तेहि[4] पावत। २।

हरि निर्मल मल ग्रसित हृदय असमंजस मोहि जनावत।

जेहि सर काक कंक बक सूकर क्यों मराल तहँ आवत। ३।

जाकी सरन जाइ कोविद[5] दारुन त्रयताप बुझावत।

तहूँ गयें मद मोह लोभ अति सरगहुँ मिटत न सावत। ४।

❀[भव सरिता कहँ नाव संत यह कहि औरनि समुझावत।

हों[6] तिन्ह सों हरि[7] परम बैरु करि[8] तुम्ह सों[9] भलो मनावत। ५]

नाहिंन और ठौर मोकहुँ तातें हठि नातो लावत।

राखु सरन उदार चूड़ामनि तुलसिदास गुन गावत। ६।

---

१ लागति—६६। न लागति—प्रायः औरोंमें। न आवत—वि०, दीन०।—यह पाठ किसी पोथीमें हमें नहीं मिला। २। सोचत जिय—६६, रा०। ३ कोन—६६, रा०, ज०। कौन—प्रायः औरोंमें। ४ ते—भा०। तोहि-वे०। ५ कवि कोविद—प्र०। ६ हो—६६, रा०, सु०। हौं-प्रायः औरोंमें। ७-८ करि-हरि—दीन, भ०। हरि-करि—औरोंमें। ६ कहुँ—रा०, ह०। सों—प्रायः औरोंमें। ❀[—] ६६ में यह अंतरा नहीं है।

शब्दार्थ—भावत = अच्छा लगता है। संग = विषयोंके प्रति होनेवाला अनुराग; विषयासक्ति। = वासनायें। बनावना (बनाना) = साधना; साधन करना। मलग्रसित = पापग्रस्त; पापसे परिपूर्ण। कंक = एक मांसाहारी पक्षी जिसके पंख बाणोंमें लगाये जाते थे। = सफेद चील। यथा 'खग कंक काक शृगाल, कटकटहिं कठिन कराल। ३। २०।' बक = बगला। कोविद = विद्वान पंडित अर्थात् ज्ञानवान तत्त्ववेत्ता लोग। बुझावना (बुझाना) = शान्त या ठंढा करना। अर्थात् मिटाना, दूर करना। सावत = सौतोंमें होनेवाला पारस्परिक द्वेष = सौतियाडाह। यहाँ 'डाह' 'ईर्ष्या' अर्थ है। सौत = सपत्नी; किसी स्त्रीके पति या प्रेमीकी दूसरी स्त्री या प्रेमिका। भलो = कल्याण; कुशल; भलाई। मनाना = किसी देवतासे किसी कामके होनेके लिये प्रार्थना करना 'मनाना' कहलाता है। यहाँ भाव है 'इच्छा करना', 'चाहना'। हठि = हठपूर्वक; आग्रहपूर्वक; जबरदस्ती। लाना = लगाना; जोड़ना। नातो लावत = संबंध जोड़ता हूँ। चूडामणि = शिरोमणि; श्रेष्ठ।

पद्यार्थ—हे हरे! (आपका) दास कहाने वा कहलानेमें (मुझे) लज्जाभी नहीं लगती। जो आचरण आपको अच्छा लगता है उसे शोच (चिन्ता, शोक और ग्लानि) छोड़कर मैंने भुला दिया*। १। समस्त वासनाओं एवं विषयासक्तियोंको छोड़कर मुनि जिसे भजते हैं और जप, तप, योग साधन करते हैं, उसे (भला) मुझ सा नीचबुद्धि, महादुष्ट और नीच किस उपायसे पा सकता है। २। श्रीहरि (तो) निर्मल हैं और मेरा हृदय पापोंसे परिपूर्ण है—यह मुझे असमंजस पैदा करा रहा है कि जिस तालावमें कौवे, चील, बगले और शूकर रहते हैं वहाँ (भला) हंस क्यों आयेगा? (अर्थात् मलिन हृदयमें निर्मल भगवान् क्यों निवास करने लगें। ३। कोविद लोग जिसकी शरणमें जाकर भयंकर

---

*नोट—स० १६६६ की प्रतिमें इस पदके प्रथम चरणमें 'लाज लागति ...' और दूसरे चरणमें 'सोचत जिय' पाठ है। रा० मेंभी 'सोचत जिय' है। 'लाज लागति' के साथ 'सोचत जिय' पाठ संगत जान पड़ता है। अर्थ होगा कि—(यहाँ हृदयकी ग्लानि प्रदर्शित कर रहे हैं) आपका दास कहानेमें मुझे लज्जा लगती है। जो आचरण आपको भाते हैं उन्हें भुलाकर मैं चिन्तित हो रहा हूँ।"—'लाज न लागति' के साथ 'सोच तजि' पाठ संगत है। ६६ के अतिरिक्त सबमें 'लाज न' है, 'सोचत जिअ' से एक मात्रा बढ़जाती है। फिर ६६ में अन्तरा ५ नहीं है जो अन्य सबोंमें है। वैसेही संभव है कि यहांभी 'न' का छूटना तथा 'जि' में 'य' का बढनाभी लेखप्रमाद ही हो। पं० रामेश्वरभट्टजीने चतुर्थ संस्करणमें यहाँ ६६ का पाठ दिया है। और अर्थ किया है कि "....उस आचरणको छोड़ मैं मनमें वृथा सोच करता हूँ।' संगीतज्ञ विचार करें।

त्रितापोंको मिटाते हैं, वहाँभी जानेपर मद, मोह और लोभ अत्यन्त (पीछे लगे हुए हैं, पीछा नहीं छोड़ते)। स्वर्गमें भी सौतियाडाह नहीं मिटता। ।४। संसार-नदीके (पार उतरनेके) लिये संत नाव है—यह कह-कहकर दूसरोंको समझाता हूँ और, हे हरे! मैं (स्वयं) उन (संतो) से परमशत्रुता करके आपसे अपनी भलाईकी प्रार्थना करता हूँ ।५। मेरे लिये और ठौर-ठिकाना हैही नहीं, इसीसे हठ करके आपसे संबंध जोड़ता हूँ। हे दानिशिरोमणि! तुलसीदास आपका गुण गाता है, इसे शरणमें रख लीजिए। ६।

टिप्पणी—१ 'लाज न लागति दास कहावत।' इति। भगवान्‌को भक्ति प्यारी है, इसीसे वे भक्तके वशमें हो जाते है। भगवान् किस आचरणसे वशमें होते हैं, यह उन्होंने स्वयं बताया है। यथा 'एहि आचरन बस्य मैं भाई॥ बैर न बिग्रह आस न त्रासा' इत्यादि। (७।४६)। शुचि सुशील सुमति सेवक प्रिय है, परोपकार-परायण, संतसंग करनेवाले, इत्यादि आचरण वाले प्रिय है। भक्ति तथा सेवकके जो आचरण होने चाहिएँ उनको छोड़कर कामलोलुप तथा विषयासक्त होना-यह सेवकके लिये लज्जाकी बात है। 'किंकर कंचन कोह काम के' ऐसा वंचक भक्त होकरभी अपनेको 'रामसेवक' कहना और कहलवाना दोनों लज्जास्पद है, इससे स्वामीकी भी हँसी होती है। यथा 'होंहु कहावत सब कहत राम सहत उपहास। १। २८।' पर मुझे लज्जा नहीं लगती। यथा 'एतेहुँ पर तुम्हरोइ कहावत लाज अँचई घोरि।' (१५८ (६) देखिए)। आगे पद १८६ में भी कहा है—'जेहि साधन हरि द्रवहु जानि जन सो हठि परिहरिए।' ऐसे आचरणपर ग्लानि होनी चाहिए, सोभी नहीं होती।

२ 'सकल संग तजि भजत' इति। (क) मुनिलोग असंग होकर अनेक जन्मोतक योगादि साधन करते रहते हैं, फिरभी उनके स्वरूपको नहीं पा सकते। यथा 'मुनयः पदवीं यस्य निःसङ्गेनोरुजन्मभिः। न विदुर्मृगयन्तोऽपि तीव्रयोग-समाधिना। भा० ४। ८। ३१।' वे जप तप योग आदि साधन करके भक्ति प्राप्त करके आपका भजन करते हैं। यथा 'जप जोग धर्म समूह तें नर भगति अनुपम पावई। ३। ६।' अथवा, सब आसक्तियोंका त्यागकर भक्ति और जपतपयोगादि आपकी प्राप्तिके लिये करते हैं; यथा 'करि ध्यान ज्ञान बिराग जोग अनेक मुनि जेहि पावहीं। ३। ३२।' तथा "दिदृक्षवो यस्य पदं सुमङ्गलं विमुक्तसङ्गा मुनयः सुसाधवः। चरन्त्यलोकव्रतमव्रणं वने भूतात्मभूताः सुहृदः (स मे गतिः)। भा० ८। ३। ७।' अर्थात् जिनके परम मंगलमय पदका दर्शन करनेके लिये प्राणीमात्रमें समदृष्टि रखनेवाले, सबके सुहृद श्रेष्ठ साधु मुनि संसारकी समस्त आसक्तियोंका त्याग कर वनमें जाकर अखण्ड ब्रह्मचर्य आदि व्रतोंका पालन करते हैं, (वेही मेरी गति है और हों)। भजनके लिये सङ्गत्याग आवश्यक है।

यथा 'तत्तु विषयत्यागात् सङ्गत्यागाच्च ।' (ना० भ० सू० ३५)

२ (ख) 'मो सम मंद ' इति । भाव यह कि मेरे आचरण उनके विपरीत हैं । दुष्ट कर्म करनेवाले पापाचारी लोग भगवान्‌की शरण नहीं ग्रहण करते । पाप कर्मोंके कारण वे मन्दबुद्धि (मूढ़) और पामर (नीच, अधम) होते हैं । मंद अर्थात् मुझमें ज्ञान रहही नहीं गया । ज्ञान न रहनेसे विषयोंमें आसक्ति है, आपके स्वरूपको समझही नहीं सकता । गीतामें भगवानने कहा है—'न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः । ७ । १५ ।' गीताके 'मूढाः', 'दुष्कृतिनो' और 'नराधम' के भाव क्रमशः यहाँके 'मंद', 'महाखल' और 'पाँवर' में हैं । जब शरणही नहीं ग्रहण करते, तब और कौन यत्न है जिससे भगवत्प्राप्ति संभव हो सके ? कोईभी तो नहीं । भाव यह है कि आचरण तो मेरे ये हैं और फल चाहता हूँ मुनियोंका सा ! कैसी निर्लज्जता है !

३ 'हरि निर्मल ' इति । श्रीरामजी शुचि, अनघ, परमपावन, सर्वविकार-रहित इत्यादि हैं, उनको कपट छल छिद्र नहीं भाता, वे सदा अपने योग्य विमल स्थानमें ही बसेंगे और बसते हैं । यथा 'हनुमंत हृदि विमल कृत परम मंदिर सदा । ५१ (६) ।', 'बिमल हृदि भवन कृत साति-पर्य्यंक सुभ सयन विश्राम राम राया । ४७ ।', 'संकरहृदिपुंडरीक निसि बस हरि चंचरीक, निरव्यलीक मानसगृह सतत रहे छाई । गी० ७।३ ।', 'नीलतामरस स्याम काम-अरि । हृदय कंज मकरंद मधुप हरि ।७।५१।२।' और मेरा हृदय मलग्रसित है, उसमें मलही मल है । वासना, मान, मद आदि हृदयको आच्छादित किये हैं, ये हृदयकेमलहैं; यथा 'हृदय मलिन बासना मान मद ।८२ (२) ।', 'करहु हृदय अति विमल बसहि हरि कहि-कहि सबहि सिखावों । हों निज उर अभिमान मोह मद खलमंडली बसावों । १४२ ।' अतएव मेरा हृदय उनके रहने योग्य नहीं है । इसीसे मुझे असमंजस हो रहा है । भाव यह कि मेरा हृदय मलिन है और चाहता मैं यह हूँ कि आप मेरे हृदयमें निवास करें, सो यह कैसे संभव हो सके ? इसीपर आगे दृष्टान्त देते हैं—'जेहि सर काक ' । अर्थात् कौव्वे, चील, बगले और शूकर जिस सरके निवासी हैं, उस सरमें मानस-सर-निवासी हंस कैसे आ सकता है ?, कभीभी नहीं आनेका । कहाँ मानसनिवासी हंस और कहाँ शूकरादिद्वारा मलिन किया हुआ सर ! यहाँ वक्रोक्ति और प्रथम विषम अलंकार है । काक कुटिल, छली और मलिन होता है । बक दंभी होता है । ये दोनों 'अति खल विषयी' की उपमामें दिये जाते हैं, यथा 'काक समान पाकरिपु रीती । छली मलीन कतहुँ न प्रतीती ।२।३०२।२।', 'कुटिल काक इव ।१।१२५।८।', 'अति खल जे बिपई बग कागा । एहि सर निकट न जाहिं अभागा ।। कामी काक बलाक बिचारे ।१।३८।' सूकर मलिन वस्तु का विषयी है, विष्ठाभोजी है । लोभको सूकरकी उपमा दी गई है-'लोभ सूकरसूर' । काक

कंककी बोलीभी कठोर होती है, ये मांसाहारी हैं।—'खग कंक काक सृगाल। कटकटहिं कठिन कराल। ३।२०।' ये बड़े ईर्ष्यालु होते हैं, दूसरेकी वस्तु छीन लेते हैं। यथा 'काक कंक लै भुजा उड़ाहीं। एक ते छीनि एक लै खाहीं। ६।८७। २।'—इस तरह ये सब मलिन भाव—'कुटिलता, छल, काम, लोभ, ईर्ष्या, परधनापहरण, विषयासक्ति आदि—अपनेमें कहे।

जो हंस मानस-सरमें रहता है वह शूकरादिके सरमें नहीं आता। वैसेही श्रीरामरूपी राजहंस श्रीशंकरजी, भुशुण्डीजी और मुनियों आदिके विमल हृदयरूपी मानस-सरके निवासी हैं, यथा-'जय महेस मन मानस हंसा। १।२८५।५।', 'जो भुसुंडि मन मानस हंसा। १।१४६।५।', 'मुनि-मन-मानस-हंस निरंतर। ७।३५।७।', वे कामादिके निवासस्थान मेरे हृदय-सरमें कब आने लगे?

बैजनाथजी—भाव यह है कि जिनके हृदयरूपी तड़ागमें प्रेमरूपी पवित्र निर्मल जल भरा हुआ है, समता, शान्ति, संतोष, ज्ञान, वैराग्य और विवेक आदि कमल खिले हुए हैं और श्रीरामनामस्मरणरूप मुक्तासमूह होते हैं, वहाँ श्रीरामरूपी हंस वास करते हैं। और मेरे हृदय-सरमें विषयवासनारूप मैला जल भरा है। परस्त्रीचाह विष्ठा वहाँ बहुत है, इसीसे कामरूपी शूकर वहाँ बसता है। परधनचाह शुम्बुक और भेक है, इससे लोभरूपी बगुला वहाँ रहता है। परहानि और अपवाद मृतकमांस है, जिससे क्रोध और ईर्ष्या रूपी काक और कंकभी वहाँ रहते हैं। ऐसे हृदयसरमें श्रीराघवरूप हंस क्योंकर आवेंगे?

टिप्पणी—४ (क) 'जाकी सरन जाइ' 'इति। वेद-वेदान्त सिद्धान्तके तत्त्वज्ञाता ब्रह्माजी आदि देवता, मुनि, औरसिद्ध आदि श्रीरामकी शरण गए, तो उनके संताप दूर हुए। यथा 'मन बच क्रम बानी छाड़ि सयानी सरन सकल सुर जूथा। १।१८६।' श्रीरामजीने अवतार लेकर इनके संताप मिटाए। यथा 'यह दुष्ट मार्‌यो नाथ, भए देव सकल सनाथ। ६।११२।' शंकरजीभी भवतापके मिटानेके लिए शरण होते हैं। यथा 'भवताप भयाकुल पाहि जनं॥ अवधेस सुरेस रमेस बिभो। सरनागत माँगत पाहि प्रभो। ७।१४।' श्रीसनकादिकजीभी माँगते हैं—'देहु भगति रघुपति अति पावनि। त्रिबिधि ताप भवदापनसावनि। ब्रह्मभवन सनकादि गे अति अभीष्ट बर पाइ। ७।३५।' विभीषणजी शरण गए तो 'सब भाँति बिभीषनकी बनी। कियो कृपाल अभय कालहु तें, गइ संसृति साँसति घनी। गी० ५।३६।', 'भयो बिसोक त्रिलोकि बिभीषन नेह देह सुधि सींव गई।''' को दयालु दूसरो दुनी जेहि जरनि दीन हियकी हई। गी० ७।३८।', इत्यादि। 'बुझावत' से जनाया कि शरणागति जलरूप है, और त्रिताप अग्निरूप है। शरणागति उसको शान्त कर देती है।

४ (ख) 'तहूँ गए मद मोह लोभ अति'' इति। 'तहूँ' अर्थात् उन्हीं प्रभुकी

गए अर्थात् शरण जानेपर, शरणागत होनेपर भी। जाति-रूप-विद्या-यौवनादि-का अभिमान, मोह और लोभ शरण जानेपर भी अत्यन्त पीछे लगे रहते हैं। कहना तो इतना ही है कि शरण जानेपरभी मदादि नहीं छूटते, इसे सीधे न कहकर इस प्रकार कहते हैं कि 'स्वर्ग मे भी सौतिया डाह नहीं मिटता'; यह कथन 'ललित अलंकार' मे है। एक पतिकी दो या अधिक स्त्रियाँ होती हैं, तो उनमें आपसमे बहुत ईर्ष्या रहती है कि कहीं दूसरी मुझसे बढ़ न जाय, उसका मान पति मुझसे अधिक न करने लगें, इत्यादि 'सवतिया डाह' कहलाता है। स्वर्गमे भी देवता एक दूसरेसे ईर्ष्या करते हैं, अपनेसे अधिक बढ़ा हुआ दूसरे-का ऐश्वर्यसुख देख नहीं सकते। यथा 'ऊँच निवास नीचि करतूती। देखि न सकहिं पराइ बिभूती। २।१२।६।' इन्द्रादिको विशेष द्वेष होता है। 'सरगहुँ मिटत न सावत' का भाव यह है कि स्वर्ग सुखका स्थान है, वहाँ तो ईर्ष्या न चाहिए थी, वैसेही शरणागत होनेपर मदादि न रहने चाहिए। ये अत्यन्त पीछे लगे रहे यह अपने दुर्भाग्यकी सीमा है।

बैजनाथजी—'सरगहुँ मिटत न सावत' इति। भाव यह कि यह तो वही मसल (कहावत) है कि स्वर्ग मे जानेपर सवतिया वैर नहीं मिटता। (कहावत इस प्रकार है—एक सत्पुरुषके कई स्त्रियाँ थीं। उसके मरनेपर सब सती होकर उस-के साथ स्वर्गको गई। पतिकी प्यारी सभी हैं, सभीका अवलब वही एक पति है, अतएव स्वर्गमे भी उनका सवतिया डाह नहीं मिट सका और न मिट सकता है। इसी प्रकार जीवकी प्रवृत्ति और निवृत्ति दो प्रिय पत्नियाँ हैं। जीव जहाँ भी जायगा, ये दोनों साथही रहेगी। मोह, काम, क्रोध, लोभ, दंभ, गर्व, मद और अधर्म (तथा ममता, वासना) आदि प्रवृत्तिके परिवार हैं। विवेक, विचार, धैर्य संतोष, सत्य, शील, वैराग्य और धर्म (तथा शान्ति, निर्लोभता) निवृत्तिके परिवार हैं। जहाँ जीव जाता है, ये दोनों परिवार सहित साथ रहती हैं। (वै०)। [ये दोनों दिनरात कलह मचाये रहती हैं। स्थूल शरीर छूट जानेपर भी उन-से पिंड नहीं छूटता। सूक्ष्म शरीरमे भी इनका लड़ना झगड़ना ज्योंका त्यों बना रहता है। जहाँ-जहाँ जीव जाता है, तहाँ-तहाँ ये दोनों सौतियाडाहसे उसके पीछे-पीछे लगी फिरती हैं। बेचारेको पलभरभी कल नहीं मिलता। (वि०)]

टिप्पणी—५ 'भवसरिता कहुँ नाव ' इति। (क) भवनदीको पार करनेके लिये संतरूपी नाव चाहिए। अर्थात् भव पार होनेकी इच्छा हो तो संतोंका संग, संतसेवा आदि करो, विना इनके पार नहीं पा सकते; ये सहजही पार कर देते हैं।—ऐसा दूसरोंसे कहता हूँ। यथा 'द्विज देव गुर हरि संत बिनु संसार पार न पाइये। १३६।', 'मति कीरति गति भूति भलाई। जब जेहि जतन जहाँ जेहि पाई। सो जानब सतसंग प्रभाऊ। लोकहुँ बेद न आन उपाऊ। १।३।१-६।',

'भवसागर कहँ नाव सुद्ध संतन्ह के चरन।२०३।'

५. (ख) 'हौं तिन्ह सो हरि परम बैरु ···' इति। भाव यह कि 'पर उपदेश कुशल बहुतेरे'-वालोंमे मैंभी हूँ, दूसरोंको जो उपदेश करता हूँ, स्वयं उसके विपरीत आचरण करता हूँ। कहनी करनी एक हो तो मनुष्य भवपार हो जाय, मेरी कथनी करनी एक नहीं। यथा 'जो कछु कहिअ करिअ भवसागर तरिअ बच्छपद जैसें। रहनि आन विधि करिअ आन हरिपद-सुख पाइअ कैसें।११८।' दूसरोंसे कहता हूँ कि संतोमे प्रेम करो और स्वयं उनसे वैर करता हूँ, इसमें यहभी भाव है कि वास्तवमे यह जो उपदेश करता हूँ वह इस लिये कि लोग मुझे संत जान मेरी पूजा प्रतिष्ठा करें। यदि ऐसा न होता तो मैं स्वयं संतसे वैर क्यों करता? 'परम बैर' से जनाया कि उनको सब प्रकारसे सताता हूँ, नीचा दिखानेका प्रयत्न करता हूँ, सब प्रकारसे हानि पहुँचानेका उपाय करता हूँ, सर्वत्र उनकी निन्दा करता हूँ, इत्यादि।

५. (ग) 'तुम्ह सो भलो मनावत' इति। भाव कि संतके सात वैर करनेसे उनका तो कुछ विगडता नहीं, क्योंकि आप उनके रक्षक हैं। यथा 'होइ न बाँको बार भगतको जौं कोउ कोटि उपाय करै।१३७।', प्रत्युत वैरसे अपनीही हानि है। यथा 'तकै मीचु जो नीचु साधुको सो पावरु तेहि मीचु मरै। सपनेहु सुख न संतद्रोही कहुँ सुरतरु सोउ विप फलनि फरै॥१३७।' संतसे वैर करनेसे भगवान् उस वैरीके वैरी हो जाते हैं और उसपर अत्यन्त कोप करते हैं। यथा 'जो अपराध भगतकर करई। रामरोप-पावक सो जरई॥ मानत सुख सेवक सेवकाई। सेवक वैर वैरु अधिकाई।२। २१८-२१९।' संतकी हानिका विचारभी मनमे लानेसे परम हानि होती है; यह बात देवगुरुने इंद्रसे कही है। यथा 'मनहु न आनिअ अमरपति रघुवर भगत अकाजु। अजसु लोक परलोक दुख दिन-दिन सोक समाजु।२।२१८।'—फिरभी मैं संतवैर कर आपसे अपने कल्याणके लिये प्रार्थना करता हूँ, कैसा मन्दबुद्धि हूँ! भला चाहनेका उपाय संतसेवा न करके उनसे वैर ठान कुशल चाहना! कैसी विचित्र बात है! भला ऐसे दुष्टपर आप क्योंकर कृपा करेंगे; फिरभी प्रार्थना करता हूँ—ऐसा निर्लज्ज हूँ।

वैजनाथजी—मोहादि सदा साथ रहते है, इसीसे शरणागत होनेपरभी मेरा ऐसा स्वभाव है। आपसे भला मनाता हूँ—यह तो शरणागति है। और क्रोधादि संगही हैं, इससे आपके सेवकोसे वैर करता हूँ।

टिप्पणी—६ 'नाहिंन और ठौर ···' इति। (क) ऊपर सब प्रकारसे अपनी अयोग्यता और निर्लज्जता दिखा आए कि मन्द, महाखल, पामर, मलिनहृदय, मद-मोह-लोभग्रस्त तथा संतोंका वैरी होकर भी आपसे कल्याणकी प्रार्थना करता हूँ—इसका कारण बताते है कि मुझको और कहीं ठौरठिकाना नहीं है।

पूर्वभी कह आए हैं—'कहाँ जाउँ कासों कहों और ठौर न मेरे।' वही भाव 'नाहिंन और ठौर मोकहँ' के हैं—१४६ (१ क-घ) देखिए। (ख) 'तातें हठि नातो लावत'—इसीसे हठपूर्वक आपसे संबंध जोड़ता हूँ। भाव यह कि दूसरा ठिकाना होता तो आपके द्वारपर क्यों हठ ठानता ? आपसे ही नाता क्यों जोड़ता ? यथा 'जौ पै कहुँ कोउ बूझत बातो। तौ तुलसी बिनु मोल बिकातो। १७७।' क्या नाता जोड़ते हैं, यह 'उदारचूड़ामनि' संबोधनसे सूचित कर दिया है। भाव यह कि आप दानियोंमें शिरोमणि हैं, आपके समान दूसरा नहीं है। पूर्व उदारता दिखा आए हैं। 'ऐसो को उदार जग माहीं। १६२।', 'एकै दानिसिरोमनि साँचो। १६३।' देखिए। पूर्वभी बहुतसे नाते लगा आये हैं। यथा 'देव तू दयाल दीन हौं तू दानि हौं भिखारी॥' पूरा पद ७९ देखिए। आप उदारोंके सिरताज हैं और मैं गुणगायक आपका याचक बंदी (भाट) हूँ। इस नातेसे मुझे 'राखु सरन'—यह दान दीजिए। [पात्र कुपात्र कुछ न विचारकर याचकमात्रको परिपूर्ण दान देनेवाले 'उदार' कहलाते हैं और आप उदारश्रेष्ठ हैं, मुझ कुयाचकको दान दीजिए, शरणमें रखिए। (वै०)। मुझमें एक यही गुण है कि आपका गुण गाता हूँ। (डु०,भ०स०)। "मैं इस उदारताको गाकर शरण माँगता हूँ, यदि मुझे रक्खेंगे, तभी तो और लोग भी विश्वासपूर्वक इसे गावेंगे; यह 'गुन गावत' का भाव है।" (श्री०श०)]

सू० शुक्लजी—"जैसे स्त्रीके लिये सौतियाडाहसे बढ़कर संसारमें कोई क्लेश नहीं है, यदि वह सती होकर देवलोकमें भी जाय और सौतियाडाह उसके हृदयसे न गया हो, तो वहाँके दिव्यभोगभी उसके लिये नरकके समानही होते हैं और सौतिया डाह होते हुए पतिमें सच्चा प्रेमभी नहीं हो सकता। इससे वह पतिव्रता भी नहीं कहला सकती है। ऐसेही परमात्माका भक्त होकरभी जिसने काम क्रोध लोभादि षट् विकार नहीं परित्याग किये, रागद्वेष विद्यमान है, उसे आत्मानन्दका सुख नहीं मिल सकता और न परमात्मा राममें सच्चा प्रेमही हो सकता है। इस लिये वह रामका भक्तभी नहीं कहा जा सकता है। और जैसे तालाबमें कौवे, बगलोंके रहतेहुए हंस नहीं आ सकते, ऐसेही कामादि विकारोंके रहते हुए संतोष, शान्ति आदि गुण नहीं आ सकते। किन्तु (श्री) रामका सच्चा भक्त वही है जो कि निर्मल चित्तसे परमात्माका भक्त होनेपरभी अपने पुरुषार्थमें तुच्छ दृष्टि रक्खे कि मुझसे कुछभी साधना नहीं बन पड़ती है।" श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

१८६

कौन जतन बिनती करिये।

निज आचरन बिचारि हारि हिय मानि जानि डरिये॥१

जेहि साधन हरि द्रवहु[1] जानि जन सो हठि परिहरिये।

१ द्रवहिं—प्र०।

जातें बिपतिजाल निसि दिन दुख तेहि पथ अनुसरिये ।२
जानतहूँ[2] मन बचन करम परहित कीन्हे तरिये ।
सोइ[3] बिपरीत देखि परसुख बिनु कारन ही जरिये ।३
श्रुति पुरान सबको मत यह सतसंग सुदृढ़ धरिये[4] ।
निज अभिमान मोह इरिषा[5] बस तिन्हहिं न आदरिये ।४
संतत सोइ[6] प्रिय मोहि सदा जाते भवनिधि परिये ।
कहो[7] अब नाथ कौन बल तें संसार-सोक हरिये ।५
जब कब निज करुना सुभाउ तें द्रवहु तो[8] निस्तरिये ।
तुलसिदास बिस्वास आन नहिं कत पचि पचि मरिये ।६

शब्दार्थ—जानि = समझकर; सोचकर । हियमे हार मानना = साहस छूट जाना; हताश हो जाना । अनुसरिये = अनुसरण करता हूँ; चलता हूँ । तरिये = तरना होता है । = लोग भवपार होते हैं एवं मैं तर जाऊँगा । सुदृढ़ = अत्यन्त दृढ़तापूर्वक । धरना = इस प्रकार पकड़ना या ग्रहण करना कि छूटे नहीं। संतसंग = सन्तोका संग; सत्संग । जब कब = जब कभी । यथा 'जब कब रामकृपा दुख जाई । तुलसिदास नहि आन उपाई । १२७।' निस्तरिये = निस्तार हो जाय। निस्तरना = पार होना; मुक्त होना; छूट जाना। यथा 'नाथ जीव तव माया मोहा । सो निस्तरइ तुम्हारेहि छोहा । ४।३।२।' पच पच मरना = व्यर्थ साधनोंके करनेका कष्ट सहना; हैरान होना ।

पद्यार्थ—किस उपायसे अर्थात् किस प्रकार बिनती की जा सके ? (अर्थात् कौन मुँह लेकर आपसे विनती करूँ ?) । अपने आचरण (चालचलन, रहन-सहन और करनी) विचारकर समझकर हृदयमे हार मानकर डर जाता हूँ । १। हे हरे ! जिस साधनसे आप अपना जन जानकर कृपा करते हैं, उसे (तो) मैं हठपूर्वक त्याग देता हूँ और जिस मार्गमे विपत्तियोका समूह और रात-दिन दुःखही दुःख है उसीपर मैं चलता हूँ। २। (यह) जानते हुये भी कि मन, वचन और कर्मसे परोपकार करनेसे भवतरण होता है (लोग भवपार हो जाते हैं), मैं उसीके विपरीत (करता हूँ) पराया सुख (अर्थात् दूसरोंको सुखी) देखकर

२ हौं–भा०, वे० । हूँ–रा०,ह०, ५१, ७४, आ० । ३ सोइ–रा०, भा०, वे०, ह० । सो–५१, ७४, आ० । ४ करिये–ह० । ५ ईर्षा–भा०, वे० । इरिषा–रा०, ७४ । ६ सो–वे०, मु० । सोइ–रा०, भा०, आ० । ७ कहो–रा०, ह०, ५१, छा० । कहहु–७४ । कहो– भा०, वे० । कहौ -१५ । ८ त--१५ ।

विना कारणही जला करता हूँ ।३। श्रुतियों और पुराणों सभीका यह सिद्धान्त है कि संतसंगको अत्यन्त दृढतापूर्वक पकड़ना चाहिए। (अर्थात् संतसंग कभी छूटने न पावे। परन्तु) अपने अभिमान, मोह और ईर्ष्यावश मैं उनका आदर नहीं करता (तब उनका संग, उनका सत्संग कब संभव है ?) । ४ । मुझे सदासे निरंतर वही प्रिय है जिससे सदाही भवसागरमें पड़ना होता है—(तब) हे नाथ ! अब आपही कहिए कि अब किस बलसे संसारशोक हरण किया जावे ? (अर्थात् कोईभी तो पुरुषार्थका साधन मेरे पास है नहीं । हाँ. एकही सहारा है, वह यह कि—) ।५। जब कभी आप अपने करुणास्वभावसे (आर्द्र होकर) कृपा करें तभी मेरा उद्धार हो सकेगा । तुलसीदासको दूसरा विश्वास नहीं, (तब यह) क्यों पचपच मरे ? ।६।

टिप्पणी—१ 'कौन जतन बिनती करिये।''' इति। इस अंतरामें पूर्वके 'रामचंद्र रघुनायक तुम्ह सों हौं बिनती केहि भाँति करौं। अघ अनेक अवलोकि आपने अनघ नाम अनुमानि डरौं। १४१।', 'सकुचत हौं अति राम कृपानिधि क्यों करि बिनय सुनावौं। सकल धर्म बिपरीत करत''''।१४२।', तथा 'कहौं कौन मुँह लाइ कै रघुबीर गुसाईं। सकुचत समुझत आपनी सब साइँदोहाई। १४८।'-इन उद्धरणों तथा पदोंके भाव हैं। 'अघ अनेक अवलोकि आपने', 'सकल धर्म बिपरीत करत' और 'समुझत आपनी सब साइँदोहाई' ही यहाँका 'निज आचरन बिचारि' है। 'सकुचत हौं अति', 'सकुचत समुझत आपनी' तथा 'अनघ नाम अनुमानि डरौं' के भाव 'हारि हिय मानि जानि डरिये' में हैं। विशेष १४८ (१ क-ख), १४१ (१ ख), १४२ (१) देखिए।

[भाव कि मेरे आचरण विषयी विमुखोंके-से हैं। कराल दंड इन कर्मोंका फल है, यह जानकर हताश होकर सम्मुख आने हुएभी डरता हूँ, तब बिनती कैसे करूँ ? (वै०) । पुनः भाव कि सोचता हूँ कि मुझ-सा पापी तो आपके सम्मुख जाने योग्यही नहीं, इससे हताश होकर डर जाता हूँ कि मेरा उद्धार कैसे होगा ? (दीनजी)]

२ 'जेहि साधन हरि द्रवहु''''' इति। (क) जिस साधनसे प्रभु द्रवीभूत होते हैं, वह उन्होने स्वयं श्रीलक्ष्मणजीसे बताया है। वह है उनकी भक्ति; यथा 'जातें बेगि द्रवउँ मैं भाई। सो मम भगति भगत सुखदाई।३।१६।२।' और उस भक्तिके साधनभी उन्होने बताये हैं—विप्रपदप्रेम, श्रवणादिक नवधा भक्ति, प्रभुकी लीलामें अत्यन्त अनुराग, संतचरणमें अत्यन्त प्रेम, कामादि तथा मद-दंभरहित होना, इत्यादि।—इनका संयोग कदाचित् कभी दैवात् आ जाता है, तो मैं हठपूर्वक उसे त्याग देता हूँ। यथा 'कबहुँक हौं संगति सुभाउ तें जाउँ सुमारग नेरो। तब करि क्रोध संग कुमनोरथ देत कठिन भटभेरो। १४३।'

२ (ख) 'जातें बिपति जाल निसि दिन दुख ....' इति। इन्द्रियाँ विषयोंके पीछे दौड़ती हैं, जिससे जीव विपत्तियोंके विषम जालमें फँसकर दुःख भोगता है फिरभी वह उन्हींके पीछे दौड़ता है; वही दशा मेरी है। यथा 'परदार परधन द्रोहपर संसार बाढ़ नित नयो। १३६।'—(संसारका बढ़ना विपत्तिजालमें फँसना है), 'जदपि बिषयसँग सहे दुसह दुख बिषम जाल अरुझान्यो। तदपि न तजत मूढ़ ममता बस जानतहूँ नहिं जान्यो।८८।' (ग) 'तेहि पथ अनुसरिये' से जनाया कि मैं ऐसा निर्लज्ज और शठ हूँ। इसमें 'ज्यों जुवती अनुभवति प्रसव अति दारुन दुख उपजै। ह्वै अनुकूल बिसारि सूल सठ पुनि खल पतिहि भजै॥ लोलुप भ्रमत गृहप ज्यों जहँ तहँ सिर पदत्रान बजै। तदपि अधम बिचरत तेहि मारग कबहुँ न मूढ़ लजै। ८९।' के भाव आ जाते हैं। पुनः भाव कि नीति और उचित कर्तव्य तो यह था (जैसा विदुरजीने कहा है) कि 'यतो यतो मनो दुःखात् सुखाद् वा विप्रमुच्यते। ततस्ततो नियम्येतच्छान्ति विन्देत वै बुधः।' (म० भा० स्त्री० ३।३। अर्थात् विद्वान् पुरुषको चाहिए कि जिन-जिन साधनोंमें लगनेसे मन दुःख अथवा सुखसे मुक्त होता है, उन्हींमें इसे नियमपूर्वक लगाकर शान्ति प्राप्त करे), सो न करके मैं उसके विपरीत करता हूँ।

३ 'जानतहूँ मन बचन करम ' इति। (क) परहित समान धर्म नहीं है, इससे मनुष्य तर जाता है। यथा 'पर-हित सरिस धर्म नहिं भाई।७।४१।१।', 'परहित बस जिन्हके मन माहीं। तिन्ह कहुँ जग दुर्लभ कछु नाहीं। तनु तजि तात जाहु मम धामा। ३। ३१।' मनुष्यतनकी सफलता परोपकारमें है, यथा 'तेहि तनु कर एक फल कीजै पर उपकार। २०३।'—यह सब मैं जानता हूँ; इसीसे उसकी चाहभी कभी-कभी मनमें उठती है, परन्तु करता उसके विपरीत हूँ। यथा 'कबहुँक हौं एहि-रहनि रहौंगो। ¨ परहित निरत निरंतर मन क्रम बचन नेमु निबहौंगो। १७२।', 'लाभु कहा मानुषतन पाए। काय बचन मन सपनेहुँ कबहुँ घटत न काज पराए।२०१।', 'काजु कहा नर तनु धरि सार्‌यो। पर उपकार सार श्रुतिको सो तो धोखेहुँ मैं न बिचार्‌यो।२०२।' परहित धर्म, दया-बुद्धि, सब प्राणियोंमें समबुद्धि होनेसे ही होता है,—'सोइ बिपरीत' से जनाया कि मैं धर्म, दया और समबुद्धिसे रहित हूँ, विषमबुद्धि हूँ तथा देहाभिमानी हूँ। परोपकारसे भवतरण होता है, यथा 'ये तु प्राज्ञाः स्थिताः सत्त्वे संसारेऽस्मिन् हितैषिणः। समागमज्ञा भूतानां ते यान्ति परमां गतिम्। म० भा० स्त्री० ३।२०।' (अर्थात् जो बुद्धिमान् मानव इस संसारमें सत्त्वगुणसे युक्त, सबका हित चाहनेवाले और प्राणियोंके समागमको कर्मानुसार समझनेवाले हैं, वे परम गतिको प्राप्त होते हैं।). 'ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः। गीता१२।४।' (अर्थात् जो संपूर्ण भूतोंके हितमें रत होकर अक्षरकी उपासना करते हैं, वे मुझेही प्राप्त होते हैं)।

३ (ख) 'देखि परसुख बिनु ' इति। परसुख अर्थात् दूसरेका ऐश्वर्य, धन सम्पत्ति, पुत्र कलत्रादि, अष्टभोगोंसे पूर्ण इत्यादि सब प्रकार सुखी देखकर हृदयमें ईर्ष्या-डाहसे जलन होती है, दूसरेको सुखी देख दुःख होता है। यथा 'देखि आनकी सहज संपदा द्वेष-अनल मनु जार्यो। २०२।' यहाँ परसुख देखकर संताप होना कहा और पूर्व सुनकर जलना कह आये हैं। यथा 'सुनि संपति बिनु आगि जरीं। १४१ (२)—इस तरह देखकर और सुनकर दोनों भाँति हृदयमें संतापका होना दिखाया। इसे विपरीत आचरण कहकर जनाया कि अनुकूल आचरण तो यह था कि पराया सुख देखकर सुखी होता, उनको दुःखी देखकर मैंभी दुखी हो जाता. सो मैं नहीं करता। यथा 'परदुख दुखी सुखी परसुख तें संतसील नहिं हृदय धर्यो। १४१।' परसुख देख सुखी होना संतस्वभाव है, यथा 'परदुख दुख सुख सुख देखेपर।७।३८।' और 'परसुख देखकर जलना खलस्वभाव है। यथा 'खलन्ह हृदय अति ताप बिसेपी। जरहिं सदा पर संपति देखी।७।३९।'. 'उदासीन अरि मीत हित सुनत जरहिं खल रीति।१।४।'—'बिनु कारन' का भाव कि कारण पाकर जलन हो तोभी वह क्षम्य हो सकता है, किन्तु जहाँ परहित देख ईर्ष्याका कोई कारण उपस्थित नहीं, वहाँ ईर्ष्या करना अक्षम्य है, खलता है। 'बिनु कारण' अर्थात् उससे अपना कोई स्वार्थभी नहीं सधता तोभी जलता हूँ। मुझको तो सोचना चाहिए कि मुझे मेरे कर्मोंके अनुसार सुख मिला है, दूसरोंने अधिक सुकृत किये हैं, इससे उनको अधिक सुख होनाही चाहिए, जलनेसे मुझे अधिक नहीं मिल सकता।—'लहत नियत' १३२ (२ घ) देखिए। हृदयकी जलन मत्सर है—'हृत्तापो मत्सरः स्मृतः। म० भा० वन० ३१३।९८।' यह दोष दिखाया।

४ (क) 'श्रुतिपुरान सबको मत''''' इति। वेदोंका सार-सिद्धान्त सत्संग है। सब पुराणोंके फलस्वरूप श्रीमद्भागवतमें भगवानने यही कहा है। यथा 'वेद-पयसिंधु सुविचार मंदर महा अखिल मुनिवृंद निर्मथनकर्त्ता। सार सतसंगमुद्धृत्यमिति निश्चितं वदति श्रीकृष्ण वैदर्भिभर्त्ता।' ५७ (६) देखिए। संतसंग दृढ़तापूर्वक करना चाहिए, कविने मनको उपदेश देते हुएभी इसपर जोर दिया है। यथा 'सम-संतोष-विचार बिमल अति सतसंगति ए चारि दृढ़ करि धरु।२०५।' 'सतसंग सुदृढ़ धरिये'—से जनाया कि संतसंग कभी न छोड़े, सदा बनाये रक्खे। इसीसे भगवान् शंकरजीने वर माँगा है—'पदसरोज अनपायनी भगति सदा सतसंग।७।१४।' संतसंगको वेदादिका मत कहकर इसको 'विधि' (वेदविहितकर्म) जनाया। ☞साधुपुरुषोंका संग कर्मपाशसे पीड़ित मनुष्योंके हृदयकी जड़-चेतन ग्रन्थिको काट डालता है, देहाभिमानी अजितात्मा पुरुषोंकी संचित पापराशिको हर लेता है और अधिक पुण्यके कारण उन्हें उत्तम गति प्रदान करता है। उनका

संग जन्म-मृत्युसे थके हुये मानवोंको चिर-विश्रामकी प्राप्तिका कारण होता है। —'हरति हृदयबन्धं कर्मपाशार्दितानां, वितरति पदमुच्चैरल्पजल्पैकभाजाम्। जननमरणकर्मश्रान्तविश्रान्तहेतुस्त्रिजगति मनुजानां दुर्लभः सत्प्रसङ्गः।' (स्कं० वै० बद० १। १२)। इसी श्लोकके 'वितरति भाजाम्' मे यह भी बताया है कि भजन करनेवालोको भी सन्तका संग आवश्यक है, सत्संग ऐसे लोगोंको उच्च पद प्रदान करता है। विद्वान् पुरुष सत्संगको तीर्थसे भी अधिक पवित्र बतलाते हैं,—'प्राहुः पूततमां तीर्थादपि सत्सङ्गतिं बुधाः।' (स्कं० मा० कुमा० ६। ४६)। संतसंगसे क्षुद्र मनुष्योका थोड़ेही प्रयाससे और अल्प कालमें ही उद्धार हो जाता है।—इसीसे वेदों और पुराणोंमे सत्संगको दृढ़तापूर्वक धारण करनेका आदेश है।

'तिन्हहिं न आदरिये'—परन्तु मैं उनका आदर नहीं करता, तब मेरा उद्धार कब संभव है? आदर न करनेका कारण बताते हैं—'निज अभिमान मोह इरिषा बस।' आगेभी कहा है—'राग रोष इरिषा बिमोह बस रुची न साधु समीति। २३४।' (ख)-'निज अभिमान' यह कि हम ब्राह्मण हैं, प्रतिष्ठित हैं, संतकी जाति पाँतिका ठिकाना नहीं। मैं वेदशास्त्रादिका पंडित हूँ और वह तो कुछ पढे लिखेभी नहीं, इत्यादि अपनी मान-बड़ाई 'निज अभिमान' है। निज अभिमान = आत्माभिमान = मान। धर्ममूढ़ता मोह है। यथा 'मोहो हि धर्ममूढत्वं, मानस्त्वात्माभिमानता। म० भा० वन ३१३।६४।' आत्माभिमानवश उनके पास नहीं जाता। मोहवश विषयोंमे राग है, देहाभिमानी हूँ, इसीमें सुख माननेसे भी उनका आदर नहीं करता; क्योंकि वे विषयसेवनसे रोकते है। उनका मान देखकर ईर्ष्या होती है, जी जलता है। इससेभी उनका आदर नहीं करता।

५ (क) 'संतत सोइ प्रिय मोहि' 'इति। संतत और सदा दोनों शब्द यहाँ आनेमे उनमे भेद दरसाया। संतत = निरंतर अर्थात् जिसमे कभी अन्तर न पड़े। सदा = दिन-रात। (वै०)। भाव यह है कि दिनरात निष्ठापूर्वक मैं ऐसेही कर्म करता हूँ, जो भवमे डालनेवाले हैं, पूर्वभी कहा है—'जद्यपि मम अवगुन अपार संसार जोग्य रघुराया।११८।', 'फिरि गर्भगत आवर्त संसृतिचक्र जेहि सोई सोई कियो। कृमि-भस्म-विट-परिनाम तनु तेहि लागि जगु बैरी भयो। परदार परधन द्रोहपर संसार बाढ़ै नित नयो। १३६ (७)।' इत्यादि। 'संतत सोइ प्रिय' से यहभी जनाया कि मैंने ऊपर दो-चार वैसे कर्म गिनाये हैं, कहाँतक गिना सकूँगा, मैं तो सदासे निरंतर ऐसेही 'निषेध' कर्म करता आया हूँ और करता हूँ। कारण कि वेही मुझे प्रिय लगते हैं।

५ (ख) 'कहो अब नाथ···' इति। भाव यह कि मैंने अपना सारा पुरुषार्थ

आपसे कह सुनाया; यह सब तो संसारकूपमें ही डालनेवाला है। आगेभी कहा है—'नरक अधिकार मम घोर ससार-तम-कूप कहि भूप मैं सक्ति आपान की। २०६।' तब आपही बतलाइए कि इनमें से कौन पुरुपार्थ ऐसा है जिससे संसार-शोक हरण किया जा सके? कोईभी तो नहीं। भाव यह कि मैं अपना भवभय हरण करनेमें सर्वथा असमर्थ हूँ, मुझे कोई अवलंब नहीं है। 'नाथ' का भाव कि मुझ अनाथके नाथ आपही हैं, अतः मैं आपसे ही प्रार्थना करता हूँ।

६ 'जब कब निज करुना सुभाउ…' इति। भाव यह कि मुझे एकमात्र आपके कारुण्य गुण स्वभावका ही अवलंब है, दूसरा कोई भरोसा नहीं है। प्रार्थीको करुणागुणका ही आसरा है, इसीसे महलमें विनयद्वारा प्रवेश करते ही प्रभुके इस गुणको उत्तेजित करनेका ही उपाय किया है—'मेरिओ सुधि द्याइबी कछु करुन कथा चलाइ। ४१।'. 'प्रनतपालक राम परम करुनाधाम पाहि मामुर्विपति दुर्विनीतं। ५६।', 'दीनउद्धरन रघुवर्य करुनाभवन समन संताप पापौघहारी। ५६।', 'करुनासिंधु भगतिचिंतामनि सोभा सेवतहूँ। और सकल सुर असुर ईस सब खाये उरग छहूँ। ८६।'. 'गुन गहि अघ अवगुन हरै असो करुनासिंधु। १०७।', 'बंदौं रघुपति करुनानिधान। जातें छूटै भव भेद ज्ञान। ६४।', 'मैं अपराधसिंधु करुनाकर जानत अंतरजामी। तुलसिदास भवव्याल ग्रसत तव सरन उरगरिपुगामी। ११७।', इत्यादि। ६४ (१ ख), ११६(५ ख-ग) देखिए। यत्र तत्र विनीत होकर गिड़गिड़ायेभी हैं; यथा 'कस न करहु करुना हरे दुखहरन मुरारी। सब प्रकार समरथ प्रभो मैं सब बिधि दीन। यह विचारि द्रवहु नहीं मैं करमक हीन। १०६।', इत्यादि। करुणाका आश्रय इस लिये लिया जाता है कि प्रभुने नरतन करुणा करके ही दिया है, यथा 'कबहुँक करि करुना नरदेही। देत ईस बिनु हेतु सनेही। ७।४४।' करुणाके लिये पद १०६ में विनती कर चुके हैं.अभीतक करुणा नहीं हुई। अतः अब उसी अवलंब-की दृढ़ता यहाँ जनाते हैं कि मुझे दूसरा भरोसा नहीं है। 'आन' मे अन्य सब साधन जप. तप, तीर्थ, ज्ञान, कर्म, उपासना, देवता आदि सब आगए। करुणा-कृपा गुणका ही एकमात्र विश्वास है। अतएव अन्य साधनोको मैं नहीं करनेका; उनमें व्यर्थ क्यों पच मरूँ? अन्यत्र भी कहा है–'व्रत तीरथ तप सुनि सहमत मन पचि मरै करै तन छाम को। १५५।—' (पद १५५ में बता चुके है कि इनमें अपना विश्वास क्यों नहीं है और इनकी असमर्थता भी पद १७३ मे बताई है)।। विश्वास भारी वस्तु है, विश्वास होनेपर ही सिद्धि होती है, अन्यथा नहीं; यथा 'प्रीति प्रतीति जहाँ जाकी तहँ ताको काज सरो। २२६।', 'बिनु विश्वास भगति नहिं तेहि बिनु द्रवहिं न राम।', 'तुलसी बिनु परतीति प्रीति फिरि फिरि पचि मरै मरो सो। १७३।' ध्वनित अर्थ यह है कि मुझे करुणागुणपर पूर्ण विश्वास

है; अतः आप कभी न कभी इस गुणकी लज्जा रखनेको अवश्य मुझपर करुणा करके मुझे भवपार कर देंगे। ☞यहाँ दिखाया है कि हम जैसे हैं वैसेही आप हमें स्वीकार कीजिए।'

सू० शुक्ल—'साधकको चाहिए कि साधना करते हुए भगवान् पर पूरा विश्वास रक्खे कि अवश्यही कृपा करेंगे और अपनी साधना गुप्त रीतिसे करता हुआ भी तुच्छ समझे,(नाथ जीव तव माया मोहा। सो निसतरै तुम्हारेहि छोहा। तापर मैं रघुवीर दोहाई। जानौं नहिं कछु भजन उपाई।) परन्तु जिस साधना (सत्संग. सच्छास्त्रश्रवण आदि नवधाभक्ति) से भगवान् प्रसन्न होते हैं उसका करना, और जिन अवगुणोंसे संसारी क्लेश होते है उनका परित्याग आवश्यकीय है, क्योंकि ऐसा न करनेसे भगवान् कभी नहीं प्रसन्न हो सकते हैं।'

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

१८७

ताही[1] तें आयो सरन सबेरे।
ज्ञान बिराग भगति साधन कछु[2] सपनेहुँ नाथ[3] न मेरे।१।
लोभ मोह मद क्रोध[4] बोध रिपु फिरत रैनि[5] दिन घेरे।
तिन्हहिं मिले मन भयो कुपथरत फिरै तिहारेहि फेरे।२।
दोष-निलय यह बिषय सोक प्रद कहत संत श्रुति टेरे।
जानतहूँ अनुराग तहाँ अति सो हरि तुम्हरेहि[6] प्रेरे।३।
बिष पियूष सम करहु अगिनि हिम तारि सकहु बिनु बेरे।
तुम्ह सम ईस कृपालु परम हित पुनि न पाइहौं हेरे।४।
यह जिय जानि*रहौं सब तजि रघुबीर भरोसे[7] तेरें।

---

१ ताही–रा०, ७४, १५। ताहि–भा०, वे०, ह०, आ०। २ किछु–७४। ३ नाथ–रा०, ५१, आ०, ज०। नाहि–भा०, बे०, ७४, ह०। ४ क्रोध बोध रिपु-रा०, भा०, वे०, प्र०, ज०, वै०, ड०, ७४। काम कोह रिपु-भ०। काम क्रोध रिपु-दीन, वि०। मु० मे 'काम क्रोधमद लोभ मोह रिपु' पाठ है। ५ रैनि–भा०, वे०, आ०। रइनि–ह०। रयनि–रा०। रैन–ड०, ७४, ज०। ६ तुम्हरेहि–रा०, ७४, आ०। तुम्हरे–भा०, वे०, ह०, ५१। ७ भरोसो–भा०, बे०।

*'रहौं सब तजि रघुबीर भरोसे तेरें। तुलसिदास यह बिपति बागुरा तुमहि सो बनिहि निबेरें।'–इतना अंश १६६६ की पोथी पद १०२ का है जो पन्ना ५३ मे है। पन्ना ५२ नहीं है।

तुलसिदास यह बिपति बागुरा[८] तुमहिं[९] सों बनिहि निबेरें ५।

शब्दार्थ—सबेरे = प्रातः काल होतेही अर्थात चेत होतेही; आयु रहतेही; शीघ्रही। परमार्थमार्गमें आयु शेष रहतेही भगवत-शरण हो जानाभी 'सबेरे' ही आना कहा जाता है। यथा 'हरिपद बिमुख काहू न लह्यो सुखु सठ यह समुझ सबेरो। ८७ (१)।' घेरे फिरना = किसी ओरसे निकलने न देना, पीछा न छोड़ना; पिछुवाये रहना। फिरना = लौटना; पलटना, जहाँसे चला या हटा था, उसी ओर फिर चलना। फेरना = एक ओरसे दूसरी ओर लेजाना; मोड़ना; लौटाना। निलय = स्थान; घर। प्रेरे = प्रेरणा, आज्ञा या उभाड़नेसे। बेरे = बेड़ । यथा 'गा चह पार जतनु हिय हेरा। पावति नाव न बोहित बेरा। २।५७।३।' हेरे = ढूँढे; ढूँढनेपरभी। बागुरा = पक्षी या मृग आदिके फँसानेका जाल। यथा 'बागुर बिषम तोराइ मनहुँ भाग मृग भाग बस। २।७५।' बनिहि निबेरे = काटे कटेगी; काटते बनेगी। निबेरना = काटना; बंधनसे मुक्त करना।

पद्यार्थ—इसीसे मैं आपकी शरणमें सबेरेही आ गया (कि) ज्ञान, वैराग्य और भक्ति (आदि) कुछभी साधन एवं इनके कोईभी साधन स्वप्नमेंभी मेरे पास नहीं हैं।१। लोभ, मोह, मद, क्रोध और ज्ञानका वैरी काम (ये शत्रु) रात-दिन मुझे (चारों ओरसे) घेरे फिरते है। उनसे मिलकर अर्थात् उनके संगसे मन कुमार्गमें लग गयाहै। आपकेही लौटानेसे लौटेगा।२। सन्त और वेद पुकार-पुकारकर कह रहे हैं कि ये विषय दोषोंके घर और शोकोंके देनेवाले हैं—यह जानते हुए भी (मेरा) उनमें अत्यन्त अनुराग है, सो हे हरि! यह (मेरी विषयासक्ति) आपकी ही प्रेरणासे है (नहीं तो जानबूझकर मैं आपकी शरण होनेपरभी क्यों उनमें पड़ता ?)।३। आप विषको अमृतसमान और अग्निको हिम (पाला वा वर्फ समान शीतल) करदेते हैं तथा (जीवोंको) विना बेड़के पार कर सकते हैं। आपके समान समर्थ, कृपाल और परम हितैषी फिर खोजनेपरभी न पा सकूँगा (अर्थात् इस समय, इस जीवनमें बड़े भाग्यसे आप मिल गए हैं)।४। यह जीसे जानकर सब छोडकर, हे रघुवीर! मैं आपके (ही) भरोसेपर रहता हूँ। तुलसीदासजी कहते है कि यह विपत्तिरूपी जाल आपसे ही काटते बनेगा।।५।

टिप्पणी—१ 'ताही तें आयो सरन ' इति। (क) 'ताही तें' का संबंध दूसरे चरणसे है, 'ज्ञानभक्ति आदि कुछभी साधन नहीं है, इससे।'—'सबेरे' में एक भाव तो यह हैही कि आयु शेष रहतेही शरणमें आ गया। दूसरे, गोस्वामीजी बालपनेसे ही शरण हो गए थे; यथा 'बालपने सूधे मन राम सनमुख भयो, राम-

८ बागुरा—रा०, भा०, वे०, ५१ ह०, १५, भ०, ६६। बागुरो—प्र०, ज०, ७४, आ०।
९ तुमहिं सो—दीन, दि०, ६६। तुम्ह सो—रा०, भा०, वे०

नाम लेत नाँगि खात टूक टाक हौं। कवितक ४०।' इससे भी 'सबेरे' ही आना कहा। पूर्व चेतनतामें न थी और या तो जीव आयु रहते जभी शरण हो जाय वह 'सबेरे' ही है, क्योंकि प्रभु तो अंतिम श्वासमेंभी सम्मुख होनेपर अपना लेते हैं। [शीघ्र इस लिये कि न जाने कब मृत्युके चंगुलमें फँस जाना पड़े। (वि०)]

१ (ख) 'ज्ञान बिराग भगति साधन कछु' इति। ज्ञान आदि भी साधन हैं। ज्ञान, वैराग्य और भक्तिके अतिरिक्त और भी जितने साधन हैं वे सब इसमें आगए। यथा 'तीर्थाटन साधन समुदाई। जोग बिराग ज्ञान निपुनाई॥ नाना कर्म धर्म व्रत नाना। संजम दम जप तप मख नाना॥ भूतदया द्विज-गुर-सेवकाई। जहँ लगि साधन बेद बखानी। ७।१२६।' दूसरा अर्थ यह भी है कि ज्ञान आदिके जितने साधन हैं। ज्ञानका साधन है अमान होना, सबमें ब्रह्मको एक समान देखना। यथा 'ज्ञान मान जहँ एकउ नाहीं। देख ब्रह्म समान सब माहीं। ३।१५।७।' विषयोंसे मनका उपरत वा विमुख होना वैराग्य है। इसका साधन भगवान्‌ने इस प्रकार बताया है—'प्रथमहि बिप्रचरन अति प्रीती। निज-निज कर्म निरत श्रुति रीती॥ एहि कर फल पुनि बिषय बिरागा। ३।१६।६-७।' भक्तिके साधन बहुत हैं। 'भगति कै साधन कहउँ बखानी।' (३।१६); भक्ति नवधा प्रकारकी एक तो 'श्रवणादि', दूसरे जो श्रीशबरीजीसे कही है—'नवधा भगति कहउँ तोहि पाहीं।' (३।३५।७ से ३।३६।५ तक)। पूर्व उल्लेख हो चुका है।

☞ देवर्षि नारदने भक्तिके साधनोंका उल्लेख इस प्रकार किया है— 'तत्तु विषयत्यागात् सङ्गत्यागाच्च' (भक्तिसाधन विषयत्याग और संगत्यागसे), 'अव्यावृतभजनात्' (अखंड भजनसे), 'लोकेऽपि भगवद्गुणश्रवणकीर्तनात्' (लोगोंके बीचमें भी भगवद्गुणश्रवण और कीर्तनसे), 'मुख्यतस्तु महत्कृपयैव भगवत्कृपालेशाद्वा' (मुख्यतया महापुरुषोंकी कृपासे अथवा भगवत्कृपाके लेशमात्रसे)सम्पन्न होता है। (भक्तिसूत्र ३५,३६,३७, ३८)।

१ (ग) यहां भक्तशिरोमणि श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि भक्तिभी मुझमें नहीं है। भाव यह है कि 'भक्तिका भी बड़ा विस्तार है। श्रीमद्भागवतका श्रवण, रामायणका पाठ, मन्दिर-निर्माण, मूर्तिपूजन, तीर्थयात्रा आदि सभी भक्तिके अंग हैं। ये सभी कार्य परम धैर्य, द्रव्यव्यय, संयम और श्रमसे सम्पन्न हो सकते हैं; अतएव जिन जीवोंमें ये गुण नहीं हैं, वे भक्तिके भी अयोग्य हैं। जब जीव भगवत्प्राप्तिके लिये भक्तिका भी अवलम्ब नहीं ले सकता तब वह निरुपाय होकर अपनेको सब प्रकारसे अशक्त समझकर भगवान्‌को ही उपायरूपसे वरण करता है। जीवकी इस प्रवृत्तिको 'प्रपत्ति' कहते हैं। इसमें उपेय ही उपाय होता है। इसका दूसरा नाम शरणागति है—'शरणमें आना।' भक्तियोगके इतने अङ्ग

और उपाङ्ग हैं कि भगवद्विरहव्याकुल भक्त भक्तियोगके लिये अपेक्षित दीर्घ कालीन साधनाको दुरूह समझता है। इस दुरूहताकी आशङ्काको दूर करते हुए श्रीभगवानने आदेश दिया कि शोक मत करो कि कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोगमेंसे एकभी योगका अवलम्बन न कर सका। मेरी शरण ग्रहण कर ले, मैं तुझे समस्त प्रपंचसे छुड़ा दूँगा। 'सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते। अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम।', 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।', 'मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।' (पं० श्रीकृष्णदत्त भारद्वाज)। इसी प्रपत्तिका आधार लेकर प्रार्थीकी यह विनय है। वह कहता है- 'आयो सरन'. 'साधन कछु न मेरे।' इसप्रकार अपनेको अन्यान्य-आश्रय-रहित, उपाय-शून्य शरणागत जनाया।

२ 'लोभ मोह मद ...' इति। (क) हमने 'रिपु' शब्दको अन्वयार्थमें दो बार लिया है, एक बार 'बोध' के साथ और एक बार पृथक् भी। बोधरिपु=काम; यथा 'तम मोह लोभ अहंकारा। मद क्रोध बोध-रिपु मारा। १२५।' दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है -'लोभ मोह मद क्रोध जो ज्ञानके शत्रु हैं।' ये सब ज्ञानके शत्रु हैं। बोधरिपु कहकर यह भी जनाया कि मेरे ज्ञानको नष्ट करनेके लिये ही ये मुझे दिनरात घेरे रहते हैं। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य और ममत्व ये जीवोंके सात शत्रु हैं, इनमें काम सबसे प्रबल शत्रु है;-'आत्मना सप्तमं कामं शत्रुमिवोत्तमम।' (म० भा० शां० १७७।५२)।

२ (ख) 'तिन्हहिं मिले मन ...' इति। रात-दिन चारों ओरसे घेरे रहते हैं, जहाँभी जाता हूँ वहाँ साथही फिरते रहते हैं। कुमार्ग ही पर चलनेको उत्तेजित करते रहते हैं। साथ सदा रहनेसे उनकी रुचिभी रखनी पड़ती है। यथा 'मिले रहैं मार-यो चहैं कामादि सँघाती।' 'बसत हिय हित जानि मैं सबकी रुचि पाली। १४७' इसीसे मैं कुपथरत हो गया हूँ। यथा 'मन तिन्हहीं की सेवा तिन्हहीं सों भाउ नीको। क० ७।७०।', 'कियो कथक कौ दंड हौ जड़ कर्म कुचाली। १४७।', 'कहा भयो जौं मन मिलि कलिकालहि कियो भुरुदु भोर को हो। २२९।'

'भयो कुपथरत' से जनाया कि 'लोभ आदिसे मैं इतना पागल हो गया हूँ कि आत्मस्वरूप भूल गया। जो लोग हीन कुलमें उत्पन्न हुए हैं, उनकी निन्दा करता हूँ, अपनी कुलीनतामें मस्त रहता हूँ। दरिद्रोंके प्रति अपनी घृणा प्रकट करता हूँ। दूसरोंको मूर्ख बताता हूँ, पर अपनी ओर कभी नहीं देखता। दूसरोंके दोषोंके लिये उनपर आक्षेप करता हूँ, परन्तु उन्हीं दोषोंसे अपनेको बचानेके लिये अपने मनको वशमें नहीं रखना चाहता'।—ये सारे दोष लोभादिसे कहे गए हैं। यथा 'लोभक्रोधभयोन्मत्तो नात्मानमवबुध्यते॥ कुलीनत्वे च रमते दुष्कुलीनान् विकुत्सयन्। धनदर्पेण दृप्तश्च दरिद्रान् परिकुत्सयन्॥

मूर्खानिति परानाह नात्मानं समवेक्षते। दोषान् क्षिपति चान्येषां नात्मानं शास्तुमिच्छति॥' (म० भा० स्त्री० ४।१२–१४)।

२ (ग) 'फिरहिं तिहारेहि फेरे'—भाव कि मनके प्रेरक तथा मोह आदिमें बाँधनेवाले भी आपही हैं। अतः जब आप उन्हें लौटनेकी प्रेरणा करेंगे तभी मन कुमार्गको छोड़ेगा। यथा 'तुलसिदास बस होइ तबहिं जब प्रेरक प्रभु बरजै। ८९।', 'तुलसिदास प्रभु मोह-शृंखला छूटिहि तुम्हरेहिं छोरें। ११४।', 'तुलसिदास यह जीव मोह-रजु जोइ बाँध्यो सोइ छोरै। १०२।' श्रीदेवहूतिजीने भी ऐसा ही कहा है। यथा 'अथ मे देव सम्मोहमपाक्रष्टुं त्वमर्हसि। योऽवग्रहोऽहंममेतीत्येतस्मिन्योजितस्त्वया। भा० ३।२५।१०।' अर्थात् हे देव! आप मेरे इस महामोहको दूर कीजिये क्योंकि इन देह-गेह आदिमें जो मैं और मेरेपनका दुराग्रह होता है उसमें आपहीने मुझे नियुक्त किया है।

३ 'दोपनिलय यह बिषय ' इति। बिषय अनर्थरूप हैं, भवमें डालते हैं। यथा 'जानत अर्थ अनर्थरूप तमकूप परब एहि लागे। ११७।'—११७ (२ क) देखिए। शोकप्रद है अर्थात् दुःखके देनेवाले हैं। यथा 'जदपि बिषय सँग सहे दुसह दुख बिषम जाल अरुझान्यो। ८८।', 'मन-करि बिषय-अनल बन जरई'; 'स्वर्गहु स्वल्प अंत दुखदाई।' वेद और संत पुकार-पुकारकर कहते हैं तथा दुःखका अनुभवभी कर चुका हूँ; इससे मैं जानताभी हूँ, फिरभी बिषयासक्त रहता हूँ। इससे जनाया कि मैं महा अज्ञानी, मोहममतावश, मूढ़ और अधम हूँ। यथा 'तदपि न तजत मूढ़ ममता बस जानत हूँ नहिं जान्यो। ८८।', 'तदपि अधम बिचरत तेहि मारग कबहुँ न मूढ लजै। ८९।' मन अपना हठ नहीं छोड़ता. यह पद ८९ में कहा था और यहाँ उसका कारण कहते हैं कि जान-बूझकर मेरे आसक्त होनेका कारण और कुछ नहीं जान पड़ता, केवल यही है कि आपही इसके प्रेरक हैं। यथा 'रघुपति प्रेरित ब्यापी माया। ७।७८।१।', 'प्रभु प्रेरित ब्यापइ तेहि बिद्या। ७।७९।२।', 'उरप्रेरक रघुबंस बिभूषन। ७।११३।१।', 'मुनि मति पुनि फेरी भगवाना। ७।११३।२।'—'जब प्रेरक प्रभु बरजै।' ८९ (४ ख) देखिए।

भट्टजी, वियोगीजी—जीवका प्रेरक परमात्मा है। जो वह कराता है, सो यह करता है। यहाँ दुर्योधनका निम्नलिखित सिद्धान्त स्मरण आ जाता है।—'जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिर्जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः। केनापि देवेन हृदिस्थितेन यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि॥' (अर्थात् मैं धर्म जानता हूँ पर मेरी प्रवृत्ति उसमें नहीं हो पाती। मैं अधर्मको जानता हूँ, पर उससे मेरा मन विरत नहीं होता। कोई देव जो हृदयमें स्थित है वह जैसी प्रेरणा करता है वैसा मैं करता हूँ)। [स्मरण रहे कि भगवान् जीवके पूर्वके कर्मानुसार उसके प्रारब्ध-

के अनुकूल प्रेरणा करते हैं। यहाँ इतनाही भाव है कि दुःखके मार्गमें कोई जानबूझकर अपनी रुचिसे नहीं जाता, इससे जाना जाता है कि यह सब आपके अधीन है। (दु०, भ० स०)]

सू० शुक्ल—इसमें भगवानकी सर्व-प्रेरकताका वर्णन है। 'नट मर्कट इव सबहिं नचावत। राम खगेस वेद अस गावत।' पुनश्च यथा गीता 'बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः। सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च॥ अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः। भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः॥ १०।४-५।' (अर्थात् बुद्धि, ज्ञान, असमोह क्षमा, सत्य, दम, शम, सुख, दुःख, भव, अभाव, भय, अभय, अहिंसा समता, तुष्टि, तप, दान, यश, अपयश—प्राणियोंके ये नाना भाव—प्रवृत्ति-निवृत्तिकी कारणरूप मनोवृत्तियाँ मुझसे अर्थात् मेरे संकल्पके आश्रित ही होती हैं)। अतः परमात्माकी कृपा होनाभी आवश्यकीय है। बिना परमेश्वरमें श्रद्धा और भक्ति हुए साधना सिद्ध नहीं हो सकती

टिप्पणी—४ 'बिप पियूष सम करहु ' इति। कैसे जाना कि आपकीही प्रेरणासे सब कुछ होता है, उसका प्रमाण देते हैं कि आप बिपको अमृत बना देते हैं, अग्निको हिमके समान शीतल कर देते हैं, इत्यादि। जैसे शिवजी आपका नाम लेकर हालाहल विप पी गए, वह उन्हें अमृत होगया। यथा 'नाम प्रभाव जान सिव नीको। कालकूट फल दीन्ह अमी को। १।१९।८।' प्रह्लादजी आपका नाम लेते रहे, उनको अग्नि शीतल होगई। यथा 'पश्य तात मम गात्रसन्निधौ, पावकोऽपि सलिलायते ऽधुना॥' (यह प्रह्लादजीने अपने पितासे कहा है)। १३७ (२ ख) देखिए। नदी आदिके पार जानेमें बेडा, नाव या जहाज आदिकी अपेक्षा रहती है, और आप बिना किसी साधनके जीवोंको पार कर सकते हैं। कितनेही तर गए। यथा 'बहुत पतित भवनिधि तरे बिनु तरि बिनु बेरे। कृपा कोप सतिभायहूँ धोखेहुँ तिरछेहूँ राम तिहारेहिं हेरे। २७३।' गणिका, यवन, अजामील, शबर, गज आदि केवल नाम वा नामाभासमात्रसे तर गए।—ऐसा ईश (समर्थ), कृपाल और परम हितैषी स्नेही दूसरा नहीं। यथा 'को कृपाल स्वामी सारिखो राखै सरनागत सब अंग-बल-हीन को ।२७४।', 'एक सनेही साँचिलो केवल कोसलपाल। १९१।' कैसेहू नाम लेनेसे तारनेवाला दूसरा कोई नहीं है, बिपको अमृत और अग्निको हिम समान करनेवाला इत्यादि सामर्थ्य किसी औरमें नहीं। विप आदि सब आपकी आज्ञामें चलते हैं। यथा 'ईस रजाइ सीस सबहीके। उतपति थिति लय बिपहु अमीके। २।२८२।', 'तुम्ह सम ईश' में बिपको अमृत करने आदिके अतिरिक्त 'बिधि हरि हर ससि रबि दिसिपाला। माया जीव करम कुलि काला॥ अहिप महिप जहँ लगि प्रभुताई। राम रजाइ सीस सबही के। २।२५४।' यह सब ईशता भी जनादी। पूर्वभी कह आये

हैं—'ससक बिरंचि बिरंचि ससक सम करहु प्रभाव तुम्हारो। यह सामर्थ्य अछत मोहि त्यागहु नाथ तहां कछु चारो। ६४।' वहाँपर उलहना देतेहुए कि 'काहे तें हरि मोहि बिसारो' यह कहा था कि समर्थ होकरभी आप मुझे त्यागे हुए है इसमें मेरा वशही क्या? और यहाँ कहते है कि आपको अब पकड़ पाया हैं, अब जो चूका आप हाथसे निकल गए, तो फिर न जाने आप कभी मिलभी सकेगे; अतएव अब मैं आपका पल्ला नहीं छोड़नेका। मिलान कीजिए—'हो माचल लै छूटिहो जेहि लागि अर्यो हों। तुम दयाल बनिहैं दिये बलि बिलंबु न कीजे। २६७।'

५ 'यह जिय जानि...' इति। 'यह' अर्थात् आपकी ही प्रेरणासे सब कुछ होता है। आपही परम समर्थ, परम कृपाल और परमहित हैं, ऐसे आपको पाकर यदि अबकी चूक गया तो फिर न जाने आप मिलें या न मिलें—यह हृदयमे समझ गया हूँ। अतएव और सब आशा भरोसा छोड़कर एकमात्र आपकाही भरोसा दृढ़तापूर्वक पकडा है। जो अन्य समस्त आश्रयोंको छोड़कर आपकाही भरोसा करता है, उसकी आप अवश्य सब प्रकार रक्षा करते है—यह आपकी प्रतिज्ञा है; यथा 'सुनु मुनि तोहि कहउँ सहरोसा। भजहिं जे मोहि तजि सकल भरोसा॥ करउँ सदा तिन्ह कै रखवारी। जिमि बालक राखइ महतारी॥३।४३।' अतएव 'यह बिपति बागुरा...'। भाव यह कि आपकी प्रतिज्ञाकी पूर्त्ति तभी होगी जब मेरा विपत्तिजाल आप काटेंगे। प्रतिज्ञाकी रक्षा मेरे इस फंदेको काटनेसेही होगी। इसे आपही काट सकते हैं, दूसरा नहीं, अतः शीघ्र काट दीजिए। विपतिजाल वही है जो ऊपर कह आये हैं—'लोभ मोह मद' से 'जानत हूँ अनुराग तहाँ अति।' तक

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

१८८ (१०३)

मैं तौ[1] अब जान्यो संसार।
बाँधि न सकहि मोहिं हरि के बल प्रगट कपट आगार।१।
देखतही कमनीय कछू नाहिन पुनि कियें बिचार।
ज्यौं कदलीतरु मध्य निहारत कबहुँ न निकरै[2] सार।२।
तेरे लिये जनम अनेक मैं फिरत न पायौं पार।

१ तौ—६६, भ०। (श्री० श० लिखते है कि 'तैं' पाठ ६६ मे है। हो सकता है कि हमारे देखनेसे भूल हो)। तुहि—ह०। तोहि—भा०, ५१, वे०, प्र०, १५, ७४, ब्रा०। तूं—रा०, छु०, वै०। २ निकरै—६६, रा०। निकरे—वे०। निकरत—ह०, ५१, मु०, वै०। निसरै—भा०, ७४, भ०, १५।

महा घोर[3] मृगजल सरिता महुँ बोरो[4] हौं[5] बारहिं बार।३।
सुनि[6] खल[7] छलबल कोटि कियो[8] बस होहु[9] न भगत उदार
सहित सहाय तहाँ बसि अब जेहि हृदय न नंदकुमार†।४।
तासों करहु[10] चातुरी जो नहिं जानइ मरमु तुम्हार।
सो परि डरै[11] मरै रजु अहि तें बूझय[12] नहिं व्यवहार।५।
निज हित सुनि[13] सठ हठ न करहि जो चहहि कुसल परिवार।
तुलसिदास प्रभुके दासन्ह तजि भजहि जहाँ मद मार।६।

शब्दार्थ—जानना = मर्म या सच्चा भेद पा जाना = यथार्थ रहस्य अनुभव कर लेना। प्रगट = साक्षात्; प्रत्यक्ष। कमनीय = सुन्दर; मनोहर। निकरना। निकलना। सार = गूदा। बोरो = डुबाया। बोरनो = डुबाना। होहुं = होहिं; होगे; होनेके। उदार = श्रेष्ठ; सरल; दाता। नंदकुमार = श्रीकृष्ण। सहाय = सेना; सखा सहायक, परिवार। चातुरी = चालाकी; धूर्त्तता। व्यवहार = भेद; रहस्य; कार्य; स्थिति। परि—यह संस्कृतभाषाका उपसर्ग है। इसके लगनेसे शब्दोंमें इन अर्थोंकी वृद्धि होती है—१ चारों ओर। २ सर्वतोभाव, अच्छी तरह, निश्चयही। ३ अतिशय। ४ पूर्णता—इत्यादि। यहाँ 'निश्चयही' एवं 'अतिशय' अर्थ होगा। दीनजीने 'केवल' अर्थ किया है। परिवार = कुटुंब। कुशल = भला; खैरियत। भजहि = भाग जा।

पद्यार्थ—हे संसार! मैंने तो अब (तुझे) जान लिया (अर्थात् तेरा सब भेद खुलगया, तेरा भंडा फूट गया, तेरा कपटछल यथार्थ रहस्य प्रगट हो गया)। तू साक्षात् कपटका घर है। श्रीहरि (भगवान श्रीराम) के बल (आश्रय) के कारण तू मुझे बाँध नहीं सकता।१। तू देखनेका ही सुन्दर, है, पर विचार करनेपर तू कुछभी नहीं रहजाता; जैसे केलेके वृक्षके भीतर मध्यभागमें देखनेपर उसमेंसे कभीभी गूदा नहीं निकलता। तेरे लिये (चौरासी लक्ष योनियोंमे जन्म ले-लेकर)

३ घोर–६६, रा०, भा०, वे०, भ०। मोह–आ० (–भ०)। ४–५ बोरो हों–६६, रा०, भ०, डु०। बोर्यो हौं–ह०, ५१, आ०। बोर्यो–मु०। बोर्यो है–भा०, वे०, प्र०। ६ सुनि–६६, रा०, भ०। सुनु–भा०, वे०, ५१, ७४, आ०। ७, छल खल–६६। ८ कियो–६६, रा०। किये– भा०, वे०, ५१, ७४, ह०, आ०। ९ होहुँ–६६। होहिं–औरोंमें। 'होहुं' = होहिं। यथा 'बसहु राम सिय मानस मोरें' 'रहहु सदा अनुकूल' इत्यादिमें। † यह पंक्ति ६६ मे नहीं है, परन्तु औरोंमे है। १० करइ–७४। ११ मरै डरै–मु०, डु०, वै०। १२ बूझै–औरोंमे। १३ सुनि–६६, रा० भ०। सुनु-भा०, वे०, ह०, आ० (भा०)।

अनेको जन्म भटकते–फिरतेभी मैंने तेरा पार नहीं पाया। तूने मुझे महा भयंकर मृगतृष्णाजलकी नदीमे वारवार डुवाया।३। रे खल! सुन। करोड़ों छल-वल करनेपरभी 'उदार' भक्त तेरे वशमे नहीं होनेके, (अतः) तू अपने सहायकों सहित अव वहीं जाकर बस जिस हृदयमें नन्दकुमार न हों।४। जो तुम्हारा मर्म न जानता हो, उससे धूर्त्तता करो। वही रस्सीके सर्पसे अतिशय डरे और मरेगा, जो उसके व्यवहारको नहीं जानता।५। रे शठ! यदि तू परिवारसहित अपना भला चाहता हो तो हठ न कर, अपने हितकी वात सुन, तुलसीदासके प्रभुके दासोको छोड़कर तू वहां भाग जा, जहाँ मद और काम हों (अर्थात् कामियों और अभिमानियोके बीचमें जाकर रह)।६।

नोट–१ प्रस्तुत पदमें श्रीमद्गोस्वामीजी अपने व्याजसे हम लोगोंको उपदेश देते है–'जैसे जैसे मनुष्य संसारके पदार्थोको सारहीन समझता है, वैसेही वैसे उनमे उसका वैराग्य होता जाता है, इसमे संशय नहीं है। इस प्रकार, 'यह जगत् अनेक दोषोंसे परिपूर्ण है'–ऐसा निश्चय करके वुद्धिमान् पुरुष अपने मोक्षका प्रयत्न करे। इस प्रकार वैराग्य उत्पन्न होनेपर जब उसे संसारका तथा अपने स्वरूपका ज्ञान होता है, तब वह इसी प्रकार सोचने लगता है कि 'अहो! मृगतृष्णामें प्रतीत होनेवाले जलकी भाँति मुझमें प्रतीति होनेवाले इस संसारने मुझे अवतक व्यर्थही भ्रममे डाल रक्खा था। मेरी कैसी अज्ञानता है कि मैं इसके हाथका खिलौना वना हुआ था?', और संसार और उसके क्रोध आदिको फटकारने लगता है कि, 'वस बहुत हो चुका! मैं तेरे यथार्थ स्वरूपको जान गया। अव मैं अपना मन परमात्मामे लगाऊँगा, जिससे तू मुझे इस प्रकार दुःखोमे न डाल सकेगा। अरे काम!, अरे लोभादि! तुम मुझे दुःखोंमे फँसाना चाहते हो, यह अव नहीं होनेका। अव मैं हरिकी कृपासे सन्तोष, वैराग्य, शान्ति, दम, आदि सद्गुणोको धारण करूँगा। अतः हे कामादि! अव मोक्षकी ओर प्रस्थान किये, हरिशरणमे गये हुए मुझको छोड़कर चले जाओ।'—इस तरहकी वुद्धिका आश्रय लेनेसे जीव भोगोंसे विरक्त और समस्त कामनाओको त्यागकर परमानन्दस्वरूप परब्रह्मको प्राप्त कर लेता है।—(मङ्कि मुनिने इसी वुद्धिका आश्रय लेकर परमानन्दस्वरूपको प्राप्त कर लिया था। (म० भा० शां० १७७।५३)। भगवान्ने अर्जुनसे कहा है—'जो इस प्रकार परमात्माका दर्शन करता है, वह उसीका आश्रय लेकर अन्तमे मुझमे ही मुक्त हो जाता है।—'तदेवमाश्रयं कृत्वा मोक्षं याति ततो मयि। (म० भा० आश्व० १६।५१)]—इसी प्रकारकी झलक इस पदमे है।

टिप्पणी—१ (क) 'मैं तौ अव जान्यो' इति। अर्थात् कितनेही जन्म वीत गए तुझको न जान पाया था। अब इस जन्ममें हरिभक्तिसे भगवत्कृपा-

से जान गया। धूर्त्तता वा कपटीके कपटका मर्म पा जानेका भाव 'जान लिया' इस मुहावरेसे प्रकट किया जाता है। यही आगे कहते हैं—'तासों करहु चातुरी जो नहिं जानइ मरम तुम्हार।' संसार क्या है, यह श्रीहरिभक्ति करते-करते भगवत्कृपासे धीरे-धीरे सूझने लगता है। यथा 'रघुपतिभगति-वारि-छालित चित बिनु प्रयासही सूझै। तुलसिदास कह चिद-विलास जग बूझत बूझत बूझै। १२४।' इसीसे कहा कि 'अब' जाना। पद १२४ में जगत्को चित्(ईश्वर) का विलास कहा था। १२४ (५ ग-घ) देखिए। और यहाँ संसारको 'कपटका आगार' कहा। यह संसारका दूसरा स्वरूप है। जगत् और यहांके 'संसार' में भेद है। जगत्का वह भाग जो जीवके अन्तःकरणमें है अर्थात् जिसपर जीवका ममत्व है, जिसको अपना समझकर वह उसके लाभालाभमें सुखी दुखी बना रहता है—उसको 'संसार' कहा जाता है। पूर्व 'परदार परधन द्रोहपर संसार बाढ़ै नित नयो। १३६।', 'तौ कत द्वैतजनित सम्सृति दुख संसय सोक अपार।१२४।' में संसारका यह स्वरूप कहा है।

१ (ख) 'बाँधि न सकहि मोहि' इति। यही संसार जो ऊपर बताया गया, बंधनका कारण है। यह सब कपटका घर है। अर्थात् तुझमें सब कपट भरा है, कपटके अतिरिक्त कुछ नहीं है। तू छलकर इनमें शत्रु-मित्र-उदासीन आदि भाव कराके बाँधता रहता है। अब मैं हरिकृपासे जान गया। अतः अब तू नहीं बाँध सकता। 'हरि के बल' क्योंकि 'सीम कि चांपि सकै कोउ तासू। बड़ रखवार रमापति जासू।'

२ 'देखतही कमनीय' इति। (क) इस चरणमें पद १२१ के 'अनविचारा रमनीय सदा संसार भयंकर भारी' का भाव है। विचारहीनको ही यह रमणीय लगता है और विचारवानको तो यह 'कपट-आगार' देखपड़नेसे भारी भयंकर लगता है—यह वहाँ कहा गया था। और यहाँ बताते हैं कि संसार देखनेमात्र-को सुन्दर है। देखनेमें तो बड़ा सुंदर लगता है, पर विचारनेपर कुछ रह नहीं जाता। इसकी सुंदरता कैसी है यह पद ६६ में बताया है; यथा 'जग नभ-बाटिका रहीहै फलि फूलि रे। धूआँ-के-से धौरहर देखि तूं न भूलि रे।' देखनेपर मन लुभ जाता है। स्त्री, पुत्र, माता, पिता, भ्राता, मित्र, धन, धाम, ऐश्वर्य आदिसे भरा घर बड़ा सुन्दर लगता है, जीव उसीमें लुब्ध हो जाता है। इसी भाँति स्वर्ग आदि तथा सिद्धियाँ आदि सब प्रलोभनीय हैं। यह संसार सदा ऐसाही फूलता फलता दिखाई पड़ता है। यथा 'पल्लवत फूलत नवल नित संसार-बिटप नमामहे। ७।१३।' परन्तु विचार करनेपर इस दिखावटी रमणीयतामें कुछ सार नहीं देख पड़ता, यही आगे दृष्टान्त द्वारा दिखाते हैं। मिलान कीजिए—'देह गेह नेह जानु जैसे घन दामिनी। ७३।', 'अवनि रवनि धनधाम सुहृद सुत को न इन्हहि,

अपनायो। काके भए गए सँग काकें सब सनेह छल छायो॥ देखु बिचारि सार का साँचो '। २००।', 'देखत तव रचना बिचित्र हरि समुझि मनहि मन रहिये। सून्य भीतिपर चित्र रंग नहि तनु बिनु लिखा चितेरें।""।१११।'

२ (ख) 'ज्यों कदलीतरु ...' इति। भाव कि विचार करनेपर यह सारा संसार अनित्य (नश्वर, क्षणभंगुर) जान पड़ता है, इसमे कुछभी सार नहीं है, जैसे केलेमे पर्तके पर्त निकालते चले जाओ छिलकाही छिलका उतरता है, सार उसके भीतर कुछ नहीं मिलता। ठीक यही बात विदुरजीने, धृतराष्ट्रजीके "अनिष्ट-के संयोग और इष्टके वियोगसे होनेवाले मानसिक दुःखोसे विद्वान् पुरुष किस प्रकार छुटकारा पाते हैं?"—इस प्रश्नका उत्तर देते हुए कहा है। यथा "अशाश्वतमिदं सर्वं चिन्त्यमानं नरर्षभ। कदलीसंनिभो लोकः सारो ह्यस्य न विद्यते। म० भा० स्त्री० ३।४।" केला देखनेमे सुन्दर है, वैसेही संसारके सब पदार्थ (स्त्री, पुत्र, मित्र, धन, धाम आदि सब विषय तथा उनसे प्राप्त होनेवाले सुख) देखने भरके सुन्दर हैं। ये सब छिलके हैं, अनित्यता (क्षणभंगुरता) ही असारता है। केलामे फलफूलभी होते है, यह भी उसकी ऊपरकी सुन्दरता है। [उसमें ठोस लकड़ीरूपी सार नहीं मिलता, केवल छिलके रह जाते है। वैसेही संसारमें नाना सुख-दुःख देख पड़ते है, किन्तु विचार करनेसे उनमे कुछ असलियत नहीं ठहरती। (भ० स०)] यहाँ उदाहरण अलकार है।

मिलान कीजिए—'सघातवन्मर्त्यलोकः परस्परमपाश्रितः। कदलीगर्भनिःसारो नौरिवाप्सु निमज्जति। म० भा० शां० २९८। १६।' पराशरजी जनकमहाराजसे कहते हैं कि जैसे शरीरके अंग-प्रत्यंग एक दूसरेके आश्रित हैं, उसी प्रकार यह मर्त्यलोक (स्त्री, पुत्र और पशु आदिका समुदाय) आपसमे एक दूसरेपर अवलंबित है। यह संसार केलेके भीतरी भागके समान निस्सार है। जैसे नौका पानीमे डूब जाती है, उसी प्रकार यह सब कुछ कालके प्रवाहमे निमग्न होजाताहै।

३ 'तेरे लिये जनम अनेक मैं ...' इति। (क) 'तेरे लिये' अर्थात् सांसारिक सुखके लिये, सुत-कलत्र-धन-धामादिकी ममतामे, इनसे सुखप्राप्तिकी आशामें। 'जन्म अनेक' लिये। इसी वासनाके कारण बारंबार जन्म लेना पड़ा। जिस योनिमे जन्म लिया उसमे सांसारिक विषयही चाहा। यथा 'सुत बित दार भवन ममता निसि सोवत अति न कबहुँ मति जागी। १४०।', 'जहँ जहँ जेहि जोनि जनम महि पताल बियत। तहँ तहँ तू बिषय सुखहिं चहत लहत नियत।१३२।'

३ (ख) 'फिरत न पायो पार।'—जीव काल-कर्मवश अनेक योनियोंमे फिरता है। यथा 'आकर चारि लच्छ चौरासी। जोनि भ्रमत यह जिव अबिनासी॥ फिरत सदा माया कर प्रेरा। काल करम सुभाव गुन घेरा। ७।४४।' पर इसका पार न मिला। 'पार न मिला' अर्थात् तेरा साथ न छूटा, तेरा अंत न हुआ, मैं संसृतिसे

बाहर न निकल पाया, इसीमें डूबता, उतराता (मरता और जन्म लेता) कर्म-भोगसे बँधता और कष्ट पाता रहा।

['यह ज्ञान न हुआ कि तू क्या है, किसलिये है, मेरा तेरा क्या संबंध है।' (वि०)। संसारसागरका पार तो तब मिलता जब उसका कुछ अस्तित्व होता। जिसका अस्तित्व नहीं उसका पार क्या मिले ? पार पा लेना 'वन्ध्यापुत्रान्वेषण' ही है। (वै०, वि०, डु०, भ० स०)। सुखकी स्पृहासे अनेक जन्मोंसे फिर रहा है, तृप्ति नहीं हुई और कबतक फिरता हुआ तृप्ति पाऊँगा, यह भी निश्चित नहीं है—यही इसका पार न पाना है। (श्री० श०)]

३ (ग) 'महा घोर मृगजल सरिता ' इति। मृगवारि—७३ (२) शब्दार्थ तथा रविकरनीर—१११ (३ क) में 'मृगजल' का अर्थ देखिए। सांसारिक विषय-को मृगजल अर्थात् झूठा जल कहा गया है। यथा 'तौं कत विषय बिलोकि झूठ जल मन कुरंग ज्यों धावे। १६८।' मृगजल सरिता बड़ी भयंकर है इसमें दारुण मगर रहता है। जो उसके जलको पीनेको वहाँ जाते हैं उनको खा जाता है, यही उसकी महान् भयंकरता है। यथा 'रविकरनीर बसै अति दारुन मकर रूप तेहि नाहीं। बदनहीन सो ग्रसै चराचर पान करन जल जाहीं।१११।' —१११ (३ क-घ) देखिए। विषयोंके मनोरथ और संकल्प लहरें हैं। शुभाशुभ कर्म भँवर और दुःख तीव्र धारा है। विषयभोग करना मृगजलका पीना है। इत्यादि।

३ (घ) 'बोरो हौं बारहि बार' इति। मृगजलमें डूबना पूर्वभी कह आये हैं। 'बूड़ो मृगवारि खायो जेवरीको साँप रे।७३।' तथा 'मृगभ्रमवारि सत्य जल जानी। तहँ तू मगन भयो सुख मानी। तहाँ मगन मज्जसि पान करि त्रयकाल जल नाहीं जहाँ।' १३६ (२ क) देखिए। सांसारिक विषयोंमें सुख मानकर आसक्त होना और उसके कारण बारंबार जन्मना-मरना मृगजलनदीमें डुबाया जाना है।

[सुर, असुर, नर आदि चेतन देहोंका पाना उतराना है और पशु-पक्षी-कीट-तरु तृणादिकी देह पाना डूबना है। (वै०)]

४ 'सुनि खल छल-बल ' इति। (क) [दिखावमें सुखद और हितकर बनकर अपने अधीन करके पीछे शत्रु बनकर बंधन करना 'छल' है। जैसे कि सुन्दर स्त्री, धन और लाभ दिखाकर काम और लोभ बढ़ाकर स्वाधीनकर दुःख देना यह छल है। शत्रुता दिखाकर बरबस बाँधकर दंड देना 'बल' है। (वै०)। काल-कर्म आदिके उत्तम-उत्तम संयोग दिखाकर वश करनेकी चेष्टा करना 'छल' है और स्त्री एवं शत्रु आदिके संयोगसे काम एवं क्रोधकी सफलताकी आशा दिखाकर वश करना 'बल' है, क्योंकि कालादिकी व्यवस्थाएँ अप्रत्यक्ष हैं।

और कामादिकी विपत्तियाँ प्रत्यक्ष हैं।) (श्री० श०)] 'छल बल' अर्थात् कपट-के उपाय; वे उपाय जिनमें कपट भरा है। एवं छलके साथ जिसमें बलका प्रयोग किया जाय। तथा छल और बल। ये सब अर्थ इसमें आ जाते हैं ।—'रिद्धि सिद्धि प्रेरइ बहु भाई। बुद्धिहि लोभ दिखावहिं आई। कल बल छल करि जाहिं समीपा। अंचल बात बुझावहिं दीपा। ७।११८।' जीवके ज्ञानदीपकको बुझानेमें ये 'छल बल' माया करती है। इन्द्रियोंके देवता विषय-बयारिको सामने आते देख इन्द्रियद्वारके किवाड़े खोल देते है। इत्यादि।

४ (ख) 'बस होहुँ न भगत उदार' इति। 'उदार' के अर्थ 'श्रेष्ठ, दाता, सरल' अमरकोशमें मिलते हैं। बैजनाथजीने 'सरल' अर्थ किया है। श्रीकान्तशरणजीने उनके इस अर्थको ग्रहण किया है। वे लिखते है कि "नन्द-यशोदाजी आदि अहीर होनेसे सीधे-सादे थे। अतः पूतनाने छलकर उनके पुत्रको मारना चाहा था। भगवान् पुत्ररूप स्वयं थे। उन्होंने उसके कपटको जान लिया और मार डाला। ऐसेही और भी सभी छलोंसे भगवान् उदार भक्तोंकी रक्षा करते है।" स्मरण रहे कि सरल स्वभाव होना यह भक्तिका एक आवश्यक लक्षण है, जिनमें सरलता नहीं है, वे सच्चे भक्त नहीं है—'सरल सुभाव न मन कुटि-लाई। ७।४६।२।' संतका यह लक्षण है—'सीतलता सरलता मयत्री ।७।३८।६।' प्रायः अन्य सभी टीकाकारोंने 'श्रेष्ठ वा परम' अर्थ किया है। यह भी अर्थ ठीक है, क्योंकि ऐसेही भक्त सदा भगवान्‌को हृदयमें बनाये रखते हैं और एकमात्र उन्हींके भरोसे निर्भर रहते हैं। ☞ भगवानके आर्त्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु और ज्ञानी चार प्रकारके भक्त हैं। ये चारों उदार कहे गये है। यथा 'आर्तो जिज्ञा-सुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥' उदाराः सर्व एवैते०।' (गीता ७।१६,१८), 'राम भगत जग चारि प्रकारा। सुकृती चारिउ अनघ उदारा।१।२२।६।' शांकरभाष्यमें 'उदार' का अर्थ 'श्रेष्ठ' है। रामानुजभाष्यके हिन्दी अनुवादमें 'दानी' अर्थ है; वे लिखते हैं—'सर्वे एव एते माम् एव उपासते इति उदाराः वदान्याः ये मत्तो यत् किञ्चिद् अपि गृह्णन्ति, ते हि मम सर्वस्वदायिनः।' ये सभी मेरीही उपासना करते हैं, इस लिये उदार है। जो मुझसे कुछ लेते हैं और मुझे सर्वस्व अर्पण कर देते है वे सभी दानी हैं।-इसके अनुसार 'भगत उदार' से आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी चारो प्रकारके भगवद्भक्तोंको यहाँ जनाया है। ☞ 'भगत उदार' कहकर उत्तरार्धमें कविने अपनी उदारता 'नन्दकुमार' नाम देकर किस खूबीके साथ दिखा दी है, यह देखने ही योग्य है।

४ (ग) 'सहित सहाय तहाँ बसि ' इति। काम, क्रोध, मद और लोभ आदि विषय-विकार मायाके सुभटही संसारके सहायक हैं। इन्हींके द्वारा जीव संसार-बंधनमें पड़ता है।

४(घ) 'जेहि हृदय न नंदकुमार' इति। भगवान्ने अपने कृष्णावतारकी लीलाओंमें अनेक स्थलोंमें छल, चालाकीसे काम लिया है। द्रोणाचार्य, कर्ण और दुर्योधनका वध तो छलसे ही हुआ। अतः भाव यह है कि ऐसे चतुरशिरोमणि जिस हृदयमें हों, वहाँ दूसरेकी चतुराई कैसे चल सकती है? दूसरेका निवास वहाँ कब संभव है? श्री पं० रामकुमारजी एक भाव यहभी लिखते हैं कि "संसारके हृदयमें काम है और भक्तोंके हृदयमें श्याम हैं। (कामदेव श्यामका पुत्र है. यथा 'कृष्नतनय होइहि पति तोरा।१।८८।' यह 'रति' को शंकरजीने वरदान दिया था)। पितासे पुत्रका जोर न चलेगा।" अथवा 'नंदकुमार' से केवल उस समयकी चातुरी अभिप्रेत है, जो श्रीनंदजीके यहाँ रहनेपर उनकी देखी गई। उतने दिनोंमें भी वहुतसे छलियों पूतना, धेनुकासुर और बकासुर आदिका वध किया था।

☞ गोस्वामीजी समस्त भगवद्विग्रहोंमें अभेद मानते हैं। सबको वे अपने इष्टदेव श्रीरामजीके ही अवतार जानते और मानते हैं। उन्होंने समस्त भगवदवतारों वा विग्रहोंमें जो गुण प्रकट किये गए हैं उन सबोंको श्रीरामजीके गुण मानकर उनका उल्लेख विनयमें किया है। जितने नाम भगवानके हैं, वे सब उनके 'राम' के ही नाम हैं। जहाँ जिस गुणको लेकर रक्षाकी प्रार्थना करते हैं वहाँ उसी गुणवाचक नामको देते हैं। जैसे—'ग्रसत भव-व्याल अति त्रास तुलसीदास त्राहि श्रीराम-उरगारिजानं।६१।' (इसमें विन्दुमाधवजीकोभी 'श्रीराम' कहा है), 'तुलसिदास भवव्याल ग्रसत तव सरन उरगरिपुगामी।११७।', 'हृषीकेस सुनि नाउँ जाउँ बलि अति भरोस जिय मोरें। तुलसिदास इंद्रियसंभव दुख हरें बनिहि प्रभु तोरें। ११९।' (इन्द्रियसंभव दुःखको हरनेकी प्रार्थना होनेसे 'हृषीकेश' गुणवाचक नाम देकर यहां रक्षा चाही)। वैसेही यहाँ छल-बलके प्रसंगमें छल करने तथा छलियोंकोभी छलनेमें परम निपुण 'नन्दकुमार' नाम दिया। ब्रह्माने वत्सहरण आदि छल किया सो वेभी हार मान गए।

पं० श्रीरामवल्लभाशरणजी कहते थे कि यहाँ कलियुगको भय दिखानेके लिये यह शब्द दिया है। श्रीकृष्णजीके रहते ही ब्रह्माजीने कलियुगको पृथ्वीपर भेज दिया, परन्तु जबतक श्रीकृष्णजी यहाँ रहे तब तक वह प्रवेश न कर सका था। अतः यह नाम देकर उसे भय दिखाते हैं।

पद ६३, ६८, १०६ में भगवान विष्णु, नृसिंह, कृष्ण और वामन आदि संबंधी चरितोंको श्रीरामजीके ही चरित मानकर विनय की है; श्रीरामस्तवराजमें तो 'गोविन्द गोपति विष्णु गोपीजनमनोहरम्।३४। गोपाल गोपरिवारं गोपकन्यासमावृतम्। विद्युत्पुञ्जप्रतीकाशं रामकृष्णं जगन्मयम्।३५।' इन नामोंसे श्रीरघुनाथजीका स्तव किया गया है।

'तहाँ बसि ' का भाव कि मेरे हृदयमें तो भगवान् वसते हैं, यहां तेरी माया नहीं लगनेकी, 'यहाँ न लागी राउरि माया।';यहाँसे भाग जा। कहाँ भाग जाय, यह भी बतादिया कि जिनके हृदयमें भगवान नहीं है अर्थात् जो भगवद्विमुख है। भगवान् कहाँ बसे है– यह मानसमें वाल्मीकिजीने बताया है. इन चौदह हृदय स्थानोंमें तेरी जगह नहीं है।

५ 'तासो करहु चातुरी ' ' इति। (क) छलिया, चालबाज, इंद्रजाल करनेवाले इत्यादिका जो मर्म जानता है, उससे उनकी चालाकी नहीं चलती। जो भेदको नहीं जानता, उसीसे छल चल सकता है। अतः यहाँ भाव यह है कि मैं तेरे मर्मको जान गया,इससे मैं तेरे पंजेमें नहीं फँसनेका। इसी वातको घुमाकर उत्तरार्धसे ललित अलंकार द्वारा कहते है।(ख)–'सो परि डरै मरै रजु-अहि तें ...' इति। प्रभुके सकल्पसे यह सारा जगत्, काल, कर्म, गुण और स्वभाव हुए, जिनसे सारा व्यवहार चल रहा है। स्त्री, पुत्र,धन, धाम, सुख, दुःख, संयोग, वियोग आदि सब काल-कर्मादिके वश होते रहते है। यथा 'जनम मरन सब दुख सुख भोगा। हानि लाभ प्रिय मिलन वियोगा॥ काल करमवस होहिं गोसाईं। बरबस राति दिवसकी नाईं।२।१५०।' यहाँका सारा दृश्य क्षणभंगुर है। इस दृश्यके सूत्रधार एकमात्र श्रीरामजी है। एकमात्र वे ही सार है, उन्हींकी सत्तासे सारा दृश्य सत्तावान प्रतीत हो रहा है। इत्यादि ज्ञान जिसको हो जाता है, संसार उसका कुछ कर नहीं सकता। जैसे रस्सीका बना हुआ सर्प देखकर वह नहीं डरता जो जानता है कि यह तो रस्सीका है. परन्तु जिसको यह ज्ञान नहीं है, जो उसके व्यवहारको नहीं जानता कि यह तो खेलनेके लिये है, इत्यादि,और उसे सच्चा सर्प समझता है वह डरता है और डरके मारे मरभी जाता है। जो इसको भगवान्की क्रीड़ा आदि समझते है, सारे जगत्को निज-प्रभुमय देखते है, इत्यादि उनको भय कहीं नही रह जाता। मैं सारा व्यवहार समझ गया,इस लिये मुझसे तुम्हारा छल नहीं चलनेका। 'रजु-अहि'–'खायो जेवरीको साँप रे।७३।' भी देखिए।

६ 'निज हित सुनि सठ ' ' इति। (क) 'हठ न करहि' से जनाया कि वह हठपूर्वक पीछे पड़ा है, इसीसे उसको शठ संबोधित किया, कहा सुनता नहीं, इसीसे 'सुनि सठ' कहा। 'जो चहहि कुसल परिवार' से जानाया कि कहना न मानेगा तो तुझे पछताना पड़ेगा, परिवार नष्ट हो जायगा। कामक्रोधादि इसके सहायक है, यह ऊपर ४ (ग) से बता आये है, यही परिवार है। कवितावलीमें कलियुगको फटकारते हुएभी कुछ ऐसाही कहा है। यथा 'काम कोह लाइकै देखाइयत आँखि मोहि, एते मान अकसु कादेको आपु आहि को। साहेब सुजान जिन्ह स्वानहूको पच्छ कियो,रामबोला नामु हौं गुलामु राम साहि को। क०७।

१००।', 'मोको न लेनो न देनो कछू कलि भूलि न रावरी ओर चितैहौं। जानि के जोरु करौ परिनाम तुम्है पछितैहौ पै मैं न भितैहौं। ब्राह्मन ज्यों उगिल्यो उरगारि, हौं त्यों ही तिहारे हिए न हितैहौं। क० ७।१०२।'—ये सब भाव इस चरणमे लिये जा सकते हैं। कुशल किससे है-यह आगे कहते है कि हमारे प्रभु के भक्तोंके पाससे चला जा। 'प्रभु' से जनाया कि वे समर्थ हैं, तू न मानेगा तो तेरे परिवारका नाश करके दासोंकी रक्षा करेंगे।

६ (ख) 'भजहि जहाँ मद मार' इति। अब उसके रहनेका ठिकाना बताते हैं। जैसे परीक्षितजीने कलियुगको रहनेके लिये अनृत, मद, काम, रजोगुण और वैर (द्यूत, मद्यपान, स्त्री संग, हिंसा, स्वर्ण) पाँच स्थान दिये थे; वैसेही तुलसीदासजी ससारको मद और काम दो स्थान विना माँगेही दे रहे हैं। मद और काम होनेपर अनृत, रजोगुण और वैर आपसेही हो जाते हैं। संसारकी वृद्धि इन्हीं स्थानोंमे होती है; यथा 'परदार परधन द्रोहपर संसार बाढ़ै नित नयो। १३६।' और भजन करनेवाले निवृत्तिमार्गियोको तो ये विघ्नकारक हैं, वे तो इनको मारनेमे लगे रहते हैं; यथा 'अघ उचाटि मन बस करै मारै मद मार।'' जेहि यहि भाँति भजन किये मिले रघुपति ताहि। १०८।' भक्त भगवान्‌के भरोसे रहते हैं, क्योकि उनको कलिकाल कराल देख पडता है और मद-मारमे छके हुओको कलिकाल सुहावना लगता है, इसीसे वे भगवान्‌को भूले रहते हैं, उनको अन्य देवी-देवता, भूत-प्रेत-पिशाच-यक्ष आदि का भरोसा होता है। यथा 'भरोसो और आइहै उर ताकें। कै कलिकाल करालु न सूझत मोह मार मद छाकें। २२५।' इसीसे 'जहाँ मद मार' हैं, जो इनका सेवन करनेवाले हैं, वहाँ जानेको कहते हैं, वहाँ जानेसे 'संसार' (प्रवृत्ति) का हित होगा।

नोट—२ इस पदमे किसीके मतसे मनोराज भूमिका है क्योंकि इसमे अपनेको 'उदार भक्त' माना है और कोई यहाँ 'विचारणभूमिका' मानते है।

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

१८९ (१२२) राग गौरी।†

राम कहत चलु राम कहत चलु राम कहत चलु भाई रे।
नाहिं त[1] भव-बेगारि परिबेहु॰ पुनि[3] छूटत अति कठिनाई रे।१

† प्र० ने इसे 'कहरा' लिखा है। १ तौ-भा०, आ०। २ सहँ परिहौ-५१, आ०। मे परिहौ-हं०। परिहै-बे०। परबेहु-भ०। परिबेहु-६६, रा०, भा०। ३ पुनि-६६, रा०, भा०, वे०, भ०, ७४। आ० मे नहीं है। ४ छूटत-७४, बे०।

बाँस पुरान साज सब अठकठ[5] सरल तिकोन-खटोला रे।
हमहि दिहल करि कुटिल करम चंद मंद मोल बिनु डोला रे।२
बिषम कहार मार-मद-माते चलहिं न पाउँ बटोरैं[6] रे।
मंद/मल्ल[8] बिलंद अभेरा[9] दलकन पाइअ दुख झकझोरैं[7] रे।३
काँट कुराय लपेटन लोटनु[10] ठाँवहिं ठाउँ बझाऊ रे।
जस-जस चलिअ दूरि तस तस निज बास न भेंट लगाऊ[11] रे।४
मारग अगम संग नहिं संबल नाउँ गाउँ कर भूला रे।
तुलसिदास सब[12] त्रास हरहु अब होहु राम अनुकूला रे।५

शब्दार्थ—बेगारि (बेगार) = वह काम जो राज्यके कर्मचारी आदि अथवा गाँवोंके जमींदार छोटी जातिके और गरीब आसामियोंसे बलपूर्वक लिया करते थे और जिसके बदलेमें उन्हें या तो कुछभी नहीं या बहुतही कम पुरस्कार मिलता था। = विना मजदूरीका जबरदस्ती लिया हुआ काम। —यह प्रथा अँग्रेजी राज्यके समय तथा जमींदारी-उन्मूलनके पूर्वतक प्रचरित रही। परिबेहु = पड जानेपर। = पड़ोगे। बाँस = डोलीके ऊपरका लंबा बाँस जिसे कहार कंधेपर रखकर डोलीको लेकर चलते है। साज = सामान; सामग्री। अठकठ = अट्टसट्ट अंडबंड; गड़बड़; टूटा-फूटा। सरल (सड़ल) = सडा हुआ। तिकोन (त्रिकोण) = तीन कोनेवाला। खटोला = छोटी खाट या चारपाई। दिहल = दिया है। कुटिल = टेढ़ा; खोटा। करमचंद = बुरे कर्मोंने। यहाँ 'चंद' शब्द अनादर-सूचक है। (दीनजी)। यह बुरे प्रारब्धके लिये व्यंगोक्ति है। 'बड़ी-बड़ी बातें बनाता है, अपने करमचंदकी करतूत तो देख'—लोग ऐसा कहा करते हैं। (पो०)। बुरे कर्मोको इस; प्रकार कहनेका मुहावरा है। डोला = स्त्रियोंके बैठनेकी वह सवारी जिसे कहार कंधेपर लेकर चलते हैं। विषम = जो सम या समान न हो। = वह संख्या जिसे दोसे भाग देनेपर एक बचे। = पाँच। कहार = एक जाति जो चौकाबर्तन आदिका काम करते और डोली, पालकी आदि कंधेपर लेकर चलते हैं।

५ अटकठ—६६, रा०, डु०, वै०, भ०। अटखट—बे०, प्र०, दीन, वि०। अटकठ—७४। अटखटि—भा०। ६–७ बटोरैं—झकझोरैं—६६, रा०, डु०, भ०, दीन। बटोरा—झकझोरा—भा०, बे०, ७४, प्र०, मु०, वै०, वि०। ८ मल्ल—६६, रा०, बे०, ह०, १५, च०। मंद—भा०, ५१, ७४, आ०। ९ अभेर—६६। १० लोटनि—भा०, बे०, प्र०। ११ भेंटल गाऊ—डु०, भ० स०, भा०, बे०। भेंट लगाऊ—आ०। दोनो पढ़ा जा सकता है। १२ सब—६६, रा०। भव—प्रायः औरोंमें।

मल्ल (मंद)=नीचा। बिलंद (फा० बलंद)=ऊँचा। अभेर=टक्कर; धक्का।=दरार-(रा०सु०)। दलकन= झटका। =दलदल (रा०सु०)। कुराय=गड्ढा; यथा 'कुस कटक काँकरीं कुराई। २।३११।५।'बटोरें = एक समान (पैर) रखते हुए;सँभाले हुए। झकझोरा=खींचा-खींची;झोका। काँट=काँटे। लपेटन=पैरोंमें लपटने वा उलझनेवाली वस्तु; लिपटौना बेलें आदि। लोटनु=राहमें की पड़ी हुई छोटी-छोटी कंकड़ियाँ जो वायुके चलनेसे इधर-उधर लुढ़कती रहती हैं। दीनजी और वियोगीजीने'साँप'अर्थ किया है। बझाऊ (बझाव=फँसाव)=उलझने वा फँसानेवाली वस्तु जैसे कि झाड़ आदि; अटकाव। न भेंटल=भेंट नहीं होता; नहीं पाता वा मिलता।

पद्यार्थ—अरे भाई! राम-राम कहता चल, राम-राम कहता चल, राम-राम कहता चल। नहीं तो भवकी बेगारमें पड़ जाओगे,(जिसमें पड़कर)फिर अत्यन्त कठिनाईसे छूटना होता है (अर्थात् छूटना बड़ा कठिन है) ।१। नीच कुटिल कर्मों (वा कर्मरूप बढ़ई) ने बिना मूल्यकेही (यह शरीररूपी बुरा) डोला बनाकर हमको दिया है, जिसका बाँस पुराना है, सब सामग्री अट्टसट्ट है और खटोला तिकोना तथा सड़ा है।२। इसमें फुट्ट बेजोड़के पाँच कहार (लगे हैं जो इसे लेकर चलते) हैं, जो कामरूपी मदिरासे मतवाले हैं,पैर बटोरकर नहीं चलते। (मार्ग) नीचा, ऊँचा, दरारदार वा दलदलवाला है,उसमें डोलाको झोंका लगनेसे दुःख प्राप्त होता है ❀।३। (मार्गमें) काँटे, गड्ढे, लपटनेवाली लता झाड़ घास, कंकड़ियाँ (आदि) ठौर-ठौर पर उलझाव हैं। (फिर) जैसे-जैसे चलते जाओ (आगे बढ़ते जाओ) तैसे-तैसे(अपने निवासस्थानसे)दूरही पड़ते जाते हैं, अपने निवासका गाँव नहीं मिलता †।४। (एक तो)मार्ग दुर्गम (फिर) साथमें राहखर्च

❀डु० और भ० स० तथा श्रीरामसुंदरदास रामायणीजीके अनुसार यह अर्थ होगा। टीकाकारोंने 'अभेरा, दलकन' के भिन्न-भिन्न अर्थ किये हैं। अभेरा दलकन=टकराने हिलनेसे। (वीर)। =अभिड़ दरेरा। (सू०शु०)।=दरारें (फटी हुई भूमि)और पाँका(दलदल समान भूमि)-(डु०,भ०स०,भ०)।=धक्के और झटके। (दीन, वि०, पो०)।=अभेरा (जहाँ खाई, करार या दीवार आदि ऊँची भूमि है जहाँ चलते समय धक्का लगता है) दलकनि (अधिक कीचड़ अथवा नदी आदिके तटका दलदल)।=(नीचे ऊँचे)ठोकर दलदल आदि।(वै०)। ☞इस प्रकार अर्थ होगा—"नीची ऊँची होनेसे धक्के, झटके, धमक और झोंकोंसे दुःख प्राप्त होता है।" कई टीकाकारोंने यह अर्थ किया है—"कभी ऊँचे कभी नीचे चलनेसे धक्के और झटके लगते हैं। इस खींचातानी में बड़ा ही दुःख हो रहा है।"

† 'भेंटल गाऊँ रे' पाठका अर्थ ऊपर दिया गया। 'भेंट लगाऊँ' पाठ-

नहीं (एवं न किसीका संग है और न राहखर्चही, उसपरभी तुर्रा यह कि) गाँव-का नामभी भूल गया। तुलसीदासजी कहते है—हे श्रीरामचन्द्रजी! अब मुझ-पर प्रसन्न हो जाइये और मेरा संपूर्ण भय हर लीजिये। ५।

नोट—१ इस पदमे गोस्वामीजीने शरीरको डोलाका साङ्गरूपक देकर विनय की-है। 'भय-दर्शनभूमिका' सेही इस पदका आरम्भ किया गया है। इस पदमे केवल उपमान दिये गए है, उपमेयोंको अर्थसे समझना या लगाना होगा। इससे यहाँ 'रूपकातिशयोक्ति अलंकार' है।-उपमानोंके उपमेय टिप्पणीमे खोले जायँगे। डोला वा डोली कहार लेकर चलते है। आगेवाले जो कहार होते है, वे अपनी ठेठ बोलीमे पीछेवाले कहारोंको मार्गकी निचाई, ऊँचाई, दरारे, दलदल, काँटे, कंकड़, गड्ढे, लिपटौना और झाड़-झंकाड़ आदिकी सूचना देते चलते है। उसी कहारोंकी डोलीवाली ठेठ बोलीके शब्द इस पदमे प्रार्थीने प्रयुक्त किये है।

टिप्पणी—१ 'राम कहत चलु' इति। (क) यहाँ कई बार 'राम कहत चलु' कहनेसे भयकी विप्सा है। उत्तरार्धसे भय-दर्शन स्पष्ट है। 'राम कहत चलु' मे भाव यह है कि चलते-फिरते कुछभी करते हुए बराबर श्रीरामनाम उच्चारण करता रह। किसीने खूब कहा है—'राम कहे जा काम किये जा का काहूको डर है।'

[तीन बार 'राम कहत चलु' कहनेके भाव टीकाकारोने ये कहे है—"पिछले पदमे संसारका, (यह कहकर कि 'मैं तो अब तुझे जान गया कि तू कपटका आगार है, अब तू मुझे बधनमे नहीं डाल सकेगा। इत्यादि। अब यहाँसे भाग जा'), अत्यन्त तिरस्कार किया था, इससे उसको क्रोधित जानकर जीवको साव-धान करते है कि सचेत होजा। तू संसार-नृपके राज्यमे रहता है, कहीं राजा तुझे बेगारमे पकड़ न ले। जीवको बेगारमे पकडनेका उसका स्वभाव है। पकड़-कर फिर वह छोड़ता नहीं। उसकी बेगारसे बचनेका एकमात्र उपाय यह है कि राम-राम कहता चल। क्योंकि वह सच्चे रामोपासकको नहीं पकड़ सकता। वह सच्ची उपासनाकी रीति तीन बार 'राम कहत चलु' कहकर बताई। वह यह कि जबतक देहबुद्धि है तबतक नवधाभक्ति करते हुए सेवक-सेव्य-भावसे नाम जप। देहाभिमानरहित होनेपर सख्यभावसे निर्मल प्रेमसहित नाम जप और आत्म-

---

का अर्थ होगा कि "किसी लगाऊसे भेट नहीं होती।" 'लगाऊ' का अर्थ बैजनाथजीने 'लग (अर्थात् निकट) का रहनेवाला', किसीने 'संगी साथी', 'किसीने राह बताने वाला', किसीने 'लक्ष्यस्थान' और किसीने 'दूर सुननेमे आता है' इत्यादि अर्थ किये हैं। ☞ 'लगाव' का अर्थ 'संबंध' है। उससे बना हुआ मानें तो 'लगाऊ' का अर्थ 'संबंधवाला (अर्थात् उस गाँवसे संबंध रखनेवाला)' मेरी समझमे लिया जा सकता है और यह अर्थ संगतभी है।

बुद्धि होनेपर अपनेको आनंदसिंधु प्रभुका एक बुन्द मानकर पराभक्ति अचल अनुरागसे रामराम कहता चल।" (वै०)। अथवा, जीवको त्रिविध दुःख—दैहिक, दैविक, भौतिक-दूर करनेके लिये तीन बार यह आदेश दिया गया है। (वि०)। इस प्रकार तीनों गुणोंकी प्रधानतासे वर्तनेवाली तीनों अवस्थाओं और तीनों शरीरोंसे मुक्त होगे। (श्री०श०)। अथवा, शरीरपर रामभक्तोंका बाना धारणकर जिह्वासे राम-नाम कह, अन्तः करणसे स्मरण कर और चल। अर्थात् क्षण-क्षणपर इस तरह करते हुए जीवनको व्यतीत कर। (भ०स०)]

'कहत' शब्द जिह्वासे उच्चारणका निर्देश कर रहा है। महर्षि विश्वामित्र ऐसे महामुनिका वाक्य है—'भर्जनं भवबीजानामर्जनं सर्वसंपदाम्। तर्जनं यमदूतानां राम रामेति गर्जनम्।' (श्रीराम-रक्षास्तोत्र)। इसके अनुसार मेरी समझमें यहां केवल यही भाव है कि निरन्तर नामोच्चारण करते रहोगे तो संसारका बीजही नष्ट हो जायगा।

१ (ख). 'नाहिं त भव बेगारि ' इति। भाव यह कि श्रीरामनामका अवलंब न लिये रहनेसे बारंबार जन्म-मरण, चौरासी लक्ष योनियोंमे बराबर भ्रमण करते चक्कर लगाते पड़े रहना होगा, उससे किसी प्रकार छुटकारा नहीं मिलने-का।—यही 'भव-बेगारि'मे पड़ना है। बेगार क्या है, यह शब्दार्थमें बता आये हैं। संसाररूपी राजाके सिपाही काम-क्रोधादि हैं, जो बेगारमें पकड़ लेते हैं। श्रीराम नामोच्चारणरूपी चक्रवर्ती महाराजका चपरास रहेगा तो न पकड़े जाओगे। आगे डोला ढोनेकी बेगारका रूपक है। इस लिये बार-बार शरीर धरना ही यहाँ भव-की बेगार है।

१ (ग) 'छूटत अति कठिनाई रे' इति। अत्यन्त कठिन इस लिये है कि न तो संसारका ही अंत होगा और न तेरी प्रवृत्तियोंका ही। जन्म-मरणका चक्र सदा चलताही रहेगा। (वि०)। पुनः भाव कि राजा या जमींदार वा धनी-मानी-का बेगारी तो दो चार कोसपर छोड़भी दिया जाता है, पर भवरूपी राजा तो ऐसा निर्दयी है कि करोड़ों जन्मोंतक नहीं छोड़ता। चौरासी भोग लेनेपर भी जन्ममरण भार ढोना पड़ता है।

२ 'बाँस पुरान साज सब अठकठ ···' इति। अब डोलाका रूपक बाँधकर भव बेगारको समझाते हैं। डोलामें चौकोन खटोला होता है जिसमें चार पाये और चार पाटियाँ (दो सरवा और दो पाटी) हैं। यह मूँज आदिकी डोरीसे बुना जाता है। (दो बाँस आगेके पायोंसे मिलाकर crosswise तिरछे मिलाकर बाँधे जाते हैं और इसी भाँति दो बाँस पीछे। इन्हींके ऊपर लंबा नया मोटा बाँस पुष्ट डोरीसे बाँधा जाता है, जिसे कंधेपर रखकर कहार डोलेको लेकर चलते हैं। सारा भार इसी बाँसके आधारपर उठाया जाता है।— यह तो साधारण डोलेका

विधान हुआ। भव-बेगारवाले डोलेका सब साज अटसट्ट है। इसका खटोला तीन कोने, तीन पाये और तीन पाटियोंवाला है। इसकी रस्सी, पाये और पाटी सब सामग्री सड़ी है, कोई भी सामग्री पुष्ट नहीं है और बोझा ढोनेका आधार बाँस भी बहुत पुराना है। इसीसे सबको 'अठकठ' कहा। एक और अंडबंड बात यह है कि बेगारी तो डोलेमे नाँधा जाता है अर्थात् उसे डोला लेकर चलना पड़ता है; किन्तु यहाँ बेगारी (जीव) डोलेमें बिठाया जाता है। जैसे बेगारी डोला ढोनेके लिये उसमे लगाये जाते है, वैसेही जीव शरीररूपी डोलामे सवार होनेके लिये बेगार पकड़ा गया है। बेगारीकी तरह यहभी दुःख पाता है।

अब रूपकके उपमान और उपमेय सुनिए। यहाँ 'बाँस' से प्रारंभ करते हैं, क्योंकि डोला इसीके आधारपर ढोया जाता है।-(क) विषयसुखभोगकी वासना बाँस है। यह वासना अनादिकालसे जन्म-जन्मान्तरसे चली आती है अर्थात् बहुत पुरानी है, इसीसे 'बाँस' को पुराना कहा। (ख) सत्व, रज और तम तीनों गुण खटोलेके तीन पाये है। आदि प्रकृति, महत्तत्व, अहंकार (वै०, दीन, वि० के मतानुसार), अथवा बाल, युवा और वृद्धा अवस्थाये (भ०), अथवा तीनों गुणोके आधारवाले स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर (श्री श०) तीन पाटियाँ है✽ (ग) शरीररूपी खटोला त्रिकोण है। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति ये तीन अवस्थाएँ तीन कोने है। † (घ) बढ़ई खटोला बनाता है। शरीररूपी खटोलेको हमारे नीच कुटिल कर्मोंने बनाया है। कर्मही जन्म-मरणरूप संसारके कारण है, यथा 'एवं नृणां क्रिया योगाः सर्वे संसृति हेतवः। भा० १।५।३४।' हमारे संचित कर्मोंसे ही यह प्रारब्धभोगशरीरमिला है। दिहल करि = बनाकर दिया है। (ङ) खटोला बाँधसे बुना जाता है। यह शरीररूपी खटोला अश्रद्धा (वै०), अथवा सुख-दुःख-रूपी रस्सीसे बुना गया है (भ०)। (च) साधारण खटोलेका सब साज सुदृढ़ और सुव्यवस्थित होता है, पर शरीररूपी खटोलेका सब साज बेढंगा और सड़ा है। पंचतत्वरचित होनेसे सब सामग्री क्षणभंगुर है, न जाने कब नष्ट हो जाय, क्षणभरकाभी इसका विश्वास नहीं। इसीसे सड़ा कहा। पुनः, 'सब साज अंटसट हैं' का भाव यह कि चित्तकी तामस विषयाकार वृत्तियाँ है, जिनके कारण शरीरसे बुरे कर्म होते हैं, मनुष्य कुमार्गसे जाता है। सड़ा हुआ और तिकोन इससे कहा कि केवल अर्थ, काम और सकाम धर्मकी प्राप्तिमे ही लगा हुआ है,

---

✽(१) वै०-शब्द, स्पर्श और रूप खटोलेके तीन खंभे हैं। गंध छतुरी है और रस उहार (पर्दा) है। (२)-चरखारी टीकाकारका मत है कि प्रारब्धकर्म अथवा क्षणभंगुर जीवन पुराना बाँस है, न जाने कब न रहे।

† तीन गुणसे बना होनेसे तिकोना है। (ङु०)। वा, 'बात-पित्त-कफमय होनेसे तिकोना है'—(च०)।

जिसे मोक्षका ध्यानही नहीं है। (पो०)। (छ) 'ढिहल मोल बिनु डोला' इति। शरीर संसारचक्रकी कर्मानुसार स्वाभाविक गतिके अनुसार मिलता है, इसीसे 'विना मूल्यका' कहा। भजनहीन तामसप्रधान होनेसे इस शरीरको 'मद डोला' कहा। (पो०)। पुनः विना मूल्य देनेका भाव कि यह इतना बुरा है कि इसे कोई मुफ्तभी नहीं चाहता, हमारे कर्म इन्हे स्वतः हठात देते हैं और हमें लेनाही पड़ता है, हम चाहे या न चाहें। इसीसे इसे वेगार कहा। [प० रामकुमारजी लिखते हैं कि डोलाके ढोनेमे 'मोल' मिलता है, पर इसके ढोनेमे कुछ फल (लाभ) नहीं है]।

☞ आगे इन सब भावोंको चार्ट (नकशा) बनाकर दिखाया है जिससे समझनेमें सुगमता होगी। पृष्ठ ४०७ मे नकशा दिया है।

३ 'विषम कहार मार मद माते' ' इति। (क) डोलेको कहार लेकर चलते हैं। कहारोंकी जोड़ी होती है, दो, चार, आठ कहार इसमे लगा करते हैं, आगे और पीछे बराबर बराबर रहते हैं। पर यहाँ शरीररूपी डोलाके ले चलनेवाले पॉच हैं, आगे पीछे बराबरकी जोड़ी नहीं है, इसीसे 'विषम' कहा। पॉच ज्ञानेन्द्रिय कान, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और नासिका इस डोलेके पॉच कहार हैं। कहारको सावधान होना चाहिए पर ये कहार कामरूपी मदिरा पीकर मतवाले हैं। विषयवासनाओंके वश इन्द्रियाँ मनुष्यको अपने-अपने विषयो (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध) की ओर मतवाली होकर खींचती रहती हैं। यथा 'निसि दिन भ्रमत बिसारि सहज सुख जहॅ तहॅ इद्रिन्ह तान्यो। ८८।' विषयको मदिराकी उपमा यत्रतत्र दी गई है; यथा 'नाथ बिषय सम मद कछु नाहीं। मुनि मन मोह करइ छन माहीं। ४।२०।७।' मतवालोके पैर एक-से नहीं पड़ते, वे तो नशेमे झूमते रहते हैं, पैर लड़खड़ाते चलते हैं। एक किसी तरफ खींचता है, तो दूसरा दूसरी ओर खींचता है, इत्यादि। इसी भॉति कान इन्द्रिय शब्द विषयकी ओर ले जाते हैं, तो त्वक् इन्द्रिय स्पर्श विषयकी ओर खींचती है। नेत्र रूप-विषयकी ओर ले जाते हैं तो जिह्वा रसविषय और नासिका गधविषयकी ओर खींचती हैं। ❀

भट्टजीने इस खींचातानीपर यह छप्पय दिया है—"कान निरतर गान तान सुनिबो ही चाहत। ऑखें चाहत रूप रैन दिन रहत निहारत। नासा अतर सुगन्ध चाहत फूलनकी माला। त्वचा चहत सुख सेज सङ्ग कोमल तन बाला। रसना हू चाहत रहत नित खाटे मीठे चरपरे। इन पंचन इहिं परपंच सो भूपनकों भिच्छुक करे॥'

❀ वीरकविका मत है कि "सदाचारका उल्लंघन" उपमेय और 'पॉव बचाकर न चलना' उपमान है।

	वै०, वि०	भ०	श्री० श०	पो०	वीर
पुराना बाँस	अनादि कालसे जोविषय सुखकी वासना (विषय-प्रवृत्ति) चली आती है	अनादिकालकी अविद्या अथवा विषय सुखकी वासना।		अनादिकालीन अविद्या-मोह	अविद्या माया
तीन पाये	सत्व, रज, तम तीनों गुण	तीन गुण		×	भूत, भविष्य, वर्तमान
तीन पाटियाँ	आदि प्रकृति, महत्तत्व, और अहंकार	बाल, युवा, वृद्धा तीन अवस्थायें	तीनों गुणोंके आधारभूत स्थूल,सूक्ष्म,कारण शरीर	×	सत, रज, तम तीन गुण
बढ़ई	कुटिल कर्मचन्द	कर्म	×	पूर्वजन्मकृत पापकर्मोंके प्रारब्ध	कर्मकी प्रेरणासे शरीरका धारण करना होता है।
रस्सी डोरी	अश्रद्धा	सुख दुःख	अश्रद्धा	×	श्वास रस्सी है
तिकोन खटोला	तीन पायों पाटियोंसे बना होनेसे तीन कोनेवाला है। (वै०) जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति जीवकी ये तीन अवस्थायें तीन कोने है।(दीन,वि.) शरीर खटोला।	×	जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति अवस्थाएँ-इनके उद्देश्य-रूप तीन कोने है	केवल अर्थ, सकाम धर्म और काम की प्राप्तिमे लगा होनेसे तिकोन कहा	
साज सब अठकठ	'सारी सामग्री ज्ञानदृष्टिसे देखनेसे क्षणभंगुर है,उसीसे सड़ा गला है।'(वि०)	पंचतत्त्वसे रचा तथा क्षणभंगुर होनेसे अठकठ सड़ा कहा। (भ०, दीन)	×	चित्तकी तामसविषयाकार वृत्तियाँ जिनसे मनुष्य कुमार्ग मे जाता है।	पाँचो तत्व जिससे शरीर बना अठकठ सड़ा साज है
सरल मोल बिनु	बिना जीवकी चाह के	नहीं करते-करते मुफ्तमे इसे हमारे सिरमढ़ दिया	नैसर्गिक नियमसे खोटे कर्मोंने स्वतः बनाकर दिया	संसारचक्रकी कर्मानुसार स्वाभाविक गतिके अनुसार।	कर्मकी प्रेरणासे बार-बार शरीर धारण करना सिर-पर कुबोझका लादना है।

[कहारोंका जब मेल नहीं मिलता और वे मतवाले होते हैं, तो डोला स्थानपर नहीं पहुँच सकता, बीचमेंही नष्ट हो जाता है। वैसेही कामनाओं वाली इन्द्रियाँ जीवरूप सवारको परमपद आत्मस्वरूप वा भक्तिरूपी न न पहुँचने देंगी, बीचमें ही शरीरका नाश हो जायगा। (ड़ु०, भ० स०)

३ (ख) 'मल्ल (मंद) विलंद अभेरा ' इति। कहारोंकी दशा कहक मार्गकी विवस्था कहते हैं। मल्ल पाठ कई हस्तलिखित पोथियोंमें है। अ का समझमें नहीं आता। मंद पाठका अर्थ 'नीचा' है। संभव है कि मल्लक किसी भाषामें 'मंद' हो। मार्ग कहीं नीचा है कहीं ऊँचा, कहीं पानी सू भूमिमें दरारें हो गए हैं, कहीं दलदल है। कहारोंके मतवाले और मार्गके नीची आदि होनेसे डोलेमें बैठे हुए व्यक्तिको झटके वा झोंके लगनेसे बहुत होता है। सांसारिक जीवन मार्गमें कभी तो जीवके मनमें नीच तामसी नाओंकी तरंगें उठती हैं, जैसे कि परदोषदृष्टि, परहानि, पर-अपवाद-कथन-परधनहरण आदि नीच कर्मोंकी इच्छा। यही मंद मार्ग है। कभी उच्च रज विचारोंकी तरंगें उठती हैं, जैसे कि भूषण, वस्त्र, वाहन, राज्यसुख, ऐश्वर्य अथवा कीर्त्तिकी कामनासे कोईभी धर्मकार्य आदिकी इच्छा। यह 'विलंद है।* परिवारमें स्त्रीपुत्र आदिके वियोगसे हृदय विदीर्ण हो जाता है; यही मार्गके दरारें हैं। यथा 'हृदउ न विदरेउ पंक जिमि बिछुरत प्रीतम नीरा। दलकनि अर्थात् दलदल सदृश भूमि। गृहस्थाश्रमका जाल, 'गृहकारज जंजाला' यह जीवनमार्गमें दलदल है। ये सब दुःखदायी हैं, यथा 'काम मद लोभ रत गृहासक्त दुखरूप।७।७३।' इन सबोंका फल क्लेशही है। 'पाइअ दुख झकझोरें' कहा।

[वैजनाथजीका मत है कि "सात्त्विक वासनामें जहाँ गुरुजनकृत सहनी पड़ती है वह अभेरा अर्थात् खाई, करार या दीवार आदि है। विशेष धर्मसंकट उपस्थित हो वह दलदल है।" ड़ु०, भ० स० का मत "इन्द्रियके विषय दरारवाली भूमि हैं, क्योंकि विषय सारहीन हैं। वि प्राप्ति दलदल है जिसमें पैर फँस जाता है। इन्द्रियोंका अपने-अपने f मनोरथ उठना झकझोरा समान है। वीरकविके मतसे अज्ञानजन्य चंचल कनि अर्थात् हिलना है और संसारी सुखोंका पूरा न होना झकझोरा लगना है।)]

४ (क) 'काँट कुराव लपेटन' ' इति। अच्छे मार्गमें काँटे, गड्ढे, लि बेलें, कंकड़ियों आदि नहीं होते, पर जिस मार्गपर इस डोलेको ले च

* 'दुष्ट कामना' उपमेय, नीचे ऊँचे होना उपमान है। आशा तृष्णाके होना (अभेरा) टकराना है। (वीर)।

उसमे काँटे कंकड़ आदि सभी दुःखद और बझाकर रुकावटें डालनेवाली वस्तुयें है। बबूल, झरबेरीके बेर, ऐला, गूखरू, यवासा आदि काँटेदार वृक्षोंके काँटे पैरोंमे गड़ते है, वस्त्र फाड़ देते हैं, शरीर छिलजाता है। इससे पद-पदपर रुकना पड़ता है। विषयके न प्राप्त होनेसे दुःखका होना काँटा गड़ना है। गड्ढेमे पैर पडनेसे वह टूट जाता है, या उसमें मोच आजाती है। विषयके लिये प्रयत्न किया और न मिला। उपायके निष्फल होनेसे मनोराजका नष्ट होना गड्ढेमे पैर पडकर उसका टूटना या मोच आना है। स्त्री, पुत्र, परिवार आदिमें ममता लपटनेवाली वेले है। कंकड़ियाँ पैरोमे गड़ती तथा पवनद्वारा आँखोमे पड़ती हैं। इसी प्रकार और भी बहुतसे उलझाववाली वस्तुएँ जंगलीमार्गमे पड़ती है। अपने उद्देश्यके प्रतिकूल सब विषय अनेक ककड़ियाँ है जो मनमे चुभती रहती है। सभी वस्तुएँ फाँसने उलझानेवाली है।—❀❀इन्हींमे सारी आयु बीत जाती है।

[पोद्दारजी—परमात्माको भुलाकर सांसारिक विषयोंके घने जगलमें दौड़ने-

❀❀शब्दोके अर्थमे मतभेद है। वैजनाथजी लिखते है कि "कुराय नामकी एक सघन विस्तृत वेल नदीमे जलके भीतर होती है; उसकी 'लपेटन' पैरमे ऐसा लपट जाती है कि मनुष्य चल नहीं सकता। लोटन एक तृण होता है जो सारी देहमे लपट जाता है। कामवश परस्त्रीमे प्रीति अथवा देहव्यवहारसे ममत्व कुराय है। देहसंबंधी अनेक व्यापार जीवमे लपटे रहते है, जो जीवको जन्म-जन्मप्रति 'बझाऊ' (बंधनमें डालनेवाले) होते है।"

श्रीभगवान सहायजी लिखते हैं कि "जंगलकी राहमें दोनों ओर वृक्षोकी बड़ी-बड़ी डालियाँ और लतायें होती हैं जो सवारी (डोला) को रोकती है, इन्हीं-को 'लपेटन' कहा है। इसी प्रकार जीवनयात्रा मार्गमें जन्म-जन्मान्तरके कर्म लता और डाले है जो मनोरथ सिद्ध नहीं होने देतीं। लोटन अर्थात् ढेला जिसमें पड़नेसे कहार और सवार दोनोको दुःखहोताहै ठौर-ठौरपरबझाव अर्थात् धसन है। भाव कि सुखके लिये अत्यन्त परिश्रमसे जो जो अनेक यत्न करते हैं, वेही स्थान-स्थानपर बझावके समान है, इन्हींमे फँसे-फँसे आयु समाप्त हो जाती है।

वियोगीजी और दीनजीके मतानुसार 'लोटन' = साँप। मोह-ममता कंकड़ है। विषैले विषय साँप है। कर्मोंकी विकट झंझट उलझन है। (वि०)। वीरकवि 'कुराय' का अर्थ 'कुराह' करते है। मोह लपटनेवाले झाड़ और माया लपटने-वाली लता (लोटन) है। वारंवार योनियोंमे पड़ना फँसाव (बझाऊ) है। (वीर)।

श्रीकान्तशरणजी का मत है कि विषयसेवनमे कही-कहीं कान आँख आदि इन्द्रियाँ रोगोसे ग्रस्त हो जाती है, यही गड्ढेमे पाँव पड़कर मोच आना है। विषय, संबधमे तरह-तरहके झगड़े मुकदमें आदिका पड़ना विषैली वेलोका पाँवमें लपटना है।

वाली इन्द्रियोंको विषयनाशरूपी काँटे, प्रतिकूल विषयरूपी कंकड़, घर-परिवार-की ममतारूपी लपटनेवाली बेलें और कामनारूपी उलझन है, जिनसे पद-पदपर रुककर दुःख भोगते हुए चलना पड़ता है।]

४ (ख) 'जस जस चलिअ दूरि तस-तस''''' इति। मनुष्य नियत स्थानकी ओर ज्यों-ज्यों चलता है, त्यों-त्यों स्थान निकट होता जाता है; किन्तु इस शरीर-की संसारयात्रा मार्गकी बात विपरीत है। इसमें तो जैसे-जैसे आगे बढ़ते जाते हैं नियत स्थान दूर होता जाता है। इससे जनाया कि विषयनदमाती इन्द्रियाँ डोलेको उलटी दिशामें लिये जा रही हैं। हमारा निज गाँव श्रीभगवान् या भग-वत् प्राप्ति है। जैसे-जैसे विषयोंमें हमारी प्रवृत्ति बढ़ती जाती है, तैसे-तैसे हम परमेश्वरसे अधिक दूर होते जाते हैं, भगवत्प्राप्ति कठिन होती जाती है। गाँव-से भेंट नहीं होती। ['भेंट लगाऊ' पाठ लें, तो उसका अर्थ होगा कि कोई उस गाँवका संबंधी, लगाववाला, उसके पासका नहीं मिलता जो मार्ग बतादे। जीवनके दिनोंका बीतना क्रमशः आगे चलना है।(वीर)]

५ 'मारग अगम संग नहिं संबल ' इति। (क) मार्ग कठिन है। कठिनता ऊपर दिखा आये। दूसरे, किसी (सन्त आदि) का साथ नहीं और तीसरे राह-खर्च भी पास नहीं। चौथे ग्रामका नामभी भूल गया। अर्थात् जितनेभी साधन गाँव तक पहुँचनेके हो सकते हैं, उनमेंसे एकभी प्राप्त नहीं। *'संग नहिं' और संबल नहीं।—यह अन्वय करनेसे 'संग' से संतो प्रेमी भगवद्भक्तोंका संग और 'संबल' से श्रद्धा-विश्वासको लिया जायगा (क्योंकि श्रद्धा और विश्वास बिना ईश्वर नहीं दिखाई देते। यथा 'भवानीशंकरौ वंदे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ। याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तस्थमीश्वरम्। १। मं०श्लो० २।') मानसमें भी इन (संत और श्रद्धा) को 'मानस' तक पहुँचनेके साधन बताये हैं। चरित और चरितनायकका ऐक्य होनेसे यहाँ भी दोनोंका ग्रहण होगा। इनके बिना प्रभुतक पहुँचना अत्यन्त कठिन है। यथा 'जे श्रद्धा-संबल रहित नहिं संतन्ह कर साथ। तिन्ह कहुँ मानस अगम अति '। १। ३८।' ज्ञान, वैराग्य, भक्ति, सुकृत आदि-को भी 'संबल' में ले सकते हैं। गाँवका नाम भी याद हो तो भी पूछ-पाँछकर वहाँ पहुँच जाय, सो नाम भी भूल गया। जीवका निज निवास-स्थान वा लक्ष्य

*मिलान कीजिए—'अविश्रान्तमनालम्बमपाथेयमदैशिकम्। तमः कान्तारम-ध्वानं कथमेको गमिष्यति।' देवर्षि नारदजी श्रीशुकदेवजीसे कहते हैं—जहाँ ठहरनेके लिये कोई स्थान नहीं है, कोई सहारा देनेवाला नहीं, राहखर्च नहीं तथा अपने देशका कोई साथी अथवा राह बतानेवाला नहीं है, जो अंधकारसे व्याप्त और दुर्गम है, उस मार्गपर तुम अकेले कैसे चल सकोगे? (म०भ०शां० ३२९।३४)

स्थान प्रभु परमेश्वर परमात्मा, परमपद तथा आत्मस्वरूप है, जहाँ पहुँचकर फिर आवागमन नहीं होता। यथा 'यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम। गीता १५।६।' इसी निर्दिष्ट स्थलमें जीव पहुँचना चाहता है। गाँवका नाम भूलना यह कि परमेश्वरको भुला दिया, परमेश्वर कोई चीज है यह भी भूल गए। जिज्ञासा भी नहीं है कि साधु संत गुरु बतला दें। अथवा गाँवका नाम अर्थात् परमेश्वरका नाम भुला दिया। नामका स्मरण होता रहे तो वह ईश्वरसे मिला दे, नामविना नामीकी प्राप्ति नहीं होनेकी। यथा 'देखिअहि रूप नाम आधीना। रूप ज्ञान नहिं नाम विहीना। रूप बिसेप नाम बिनु जानें। करतलगत न परहिं पहिचाने ॥ सुमिरिअ नाम रूप बिनु देखे। आवत हृदय सनेह बिसेषें। १।२१।' 'तुलसी रामनाम सम मित्र न आन। जो पहुँचाव रामपुर तनु अवसान।बरवै ६७।'

जब कोईभी उपयुक्त साधन नहीं, मार्ग कठिन है और विषम काम-मदमाती इन्द्रियाँ सुमार्गको छोड़कर विपरीत कुमार्ग पर टाँगे लिये जा रही है और बड़े गजब की बात यह है कि नामभी भुला दिया—इस विमुखता-की सामर्थ्यसे आपतक पहुँचना क्योंकर संभव है? भगवान् ही स्वयं कृपा-करुणा-से भलेही उद्धार करदें, जैसे अजामिल आदिका उद्धार किया। अतएव कृपाकी प्रार्थना करते है।

५ (ख) 'तुलसिदास सब त्रास हरहु अब' इति। 'सब त्रास' अर्थात् भव-बेगारमें पड़नेका सब डर जो ऊपर कह आये हैं—'नाहिं त भव बेगारि परिहै'। 'अब' का भाव कि मैंने अपना सब दोप और विमुखताका सब पुरुषार्थ निवेदन कर दिया। आप तक पहुँचानेवाले समस्त पुरुषार्थोंसे रहित हूँ, सब प्रकार निराश हो रहा हूँ, एकमात्र आपकी कारणरहित करुणा अनुकंपाका अवलंब है। अतः 'अब' आप प्रसन्न होकर कृपा करें, मेरा भवबेगारका सब भय मिटा दें। अन्यत्र भी कहा है—'तुलसिदास प्रभु कृपा करहु अब मैं निज दोष कछू नहिं गोयो। २४५।', 'अब थाक्यो जलहीन नाव ज्यों देखत विपतिजाल-जग छायो ॥ मो कहुँ नाथ बूझिऐ यह गति सुखनिधान निज पति बिसरायो। अब तजि दोप करहु करुना हरि तुलसिदास सरनागत आयो। २४२।' आपकी कृपासे ही मेरा निस्तार संभव है, दूसरे किसी प्रकार नहीं। अतः अब कृपामे विलंब न करें। यथा 'जब कब निज करुना सुभाव ते द्रवहु तो निस्तरिये। तुलसिदास विस्वास आन नहि। १८६।' 'जब-कब राम कृपा दुख जाई। तुलसिदास नहिं आन उपाई। १२७।', 'तुलसी की तेरेही बनाये बलि बनेगी। प्रभुकी विलंब अंब दोप दुख जनैगो।' १७६(५) देखिए, 'दीन दिनहु दिन बिगरिहै बलि जाउँ विलंबु किए अपनाइये सबेरो। २७२।'

सु० शुक्ल—"इस पदमें शरीरकी व्यवस्था बतलाई गई है कि सतोगुणी कर्म

न करनेसे, रजोगुण और तमोगुणकी अधिकता होनेसे नीच कर्मोंद्वारा ऐसा शरीर हुआ है कि जिससे इन्हीं तीनो गुणोंका संयोग सदा रहनेसे दृढ़ता है, मुक्ति नहीं होती। यद्यपि भोगसे कर्म नष्ट हो जाते हैं पर वासनाके रहनेसे फिरभी कर्म और देह वारंवार होते रहते हैं। जैसे स्वप्न देखनेवालेको स्वप्नकी दशामें अपनी मृत्यु देखनेसे क्लेश होता है, वैसेही अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष अभिनिवेश तथा त्रिताप यद्यपि मिथ्यारूपसे कमजोर हैं तथापि इनको भी साज अज्ञानीको क्लेश देता ही है। इसमें इच्छा ही बलवान है। यही इन्द्रियोंद्वारा इस देहको इधर-उधर नचाया करती है और इच्छाके रहनेहीसे इन्द्रियोंमें सच्चा ज्ञान नहीं होता. इसीसे वे उसके अधीन हो व्यसनमें आसक्त होके राग, द्वेषसे हानि, लाभकी मिथ्या कल्पना कर कामक्रोधादि विकारोंमें जीवात्माको पटका करती हैं। यद्यपि जीवात्मा सदैव सुख चाहता रहता है, परंच इच्छामें इन्द्रियोंके मस्त रहनेसे वह सुखरूप आत्मा और दूर होता जाता है तथा इच्छाके प्रबल होनेसे ही अन्तः करण मलिन पड जाता है, जिससे निर्मल सतोगुण नहीं उदय होता। फिर आत्मानन्दके ढूँढनेका मार्ग विना पुण्यमयी सत्वके दुर्लभ हो जाता है। इसी लिये जबतक जीव रामनाम कहता रहे, शरीरके त्यागनेपर व मृत्युके पीछे सूक्ष्म शरीरद्वारा दूसरे भावमेंभी जानेपर रामनाम कहता रहे तो नामके ही अवलंबसे मुक्ति हो सकती है।"

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

१६० (१२३)*

सहज सनेही राम सों तैं कियो[1] न सहज सनेहु।
तातें भव-भाजन भयो सुनु अजहुँ सिखावनु एहु।१
ज्यों मुख मुकुर बिलोकिऐ अरु चित न रहै अनहारि।
त्यों सेवतहुं निरापने[2] मातु पिता सुत नारि।२
दै दै सुमन तिल बासि कै अरु[3] खरि परिहरि रस लेत।
स्वारथ हितु भूतल भरे मन मेचक तनु सेत।३
करि बीत्यो अब करत है[4] करिबे हित मीत अपार।
कहूँ[5] न कोउ रघुबीर सो नेहु निबाहनिहार।४

*भा०, ७४ मे यहां 'असावरी' राग है और मु० मे कोई दूसरा नाम है जो मेरी पुस्तकमे स्याही पड़जानेसे पढ़ा नहीं जाता। १ किये—७४। २ निरापने—६६, रा०, भा०। निरापने ये-५१, ७४। न आपने—डु०, ह०, भ०, मु०। न आपने ये वै०, वि०. दीन। ३ पुनि—७४। ४ हौं—डु०, वै०, दीन। ५ कबहुँ—भा०, वे०, ५१, आ०। कतहुँ—७४। कहूँ—६६ रा०। कहुँ—भ०स०।

जासों सब नातो[६] फुरै तासों न[७] करी पहिचानि ।
तातें कछु समुझ्यो नहीं कहाँ[८] लाभ कहाँ[८] हानि ।५
साँचो जान्यो झूठ कै[९] झूठे कहँ साँचो जानि ।
को[१०] न गयो को[१०] न जात है को[१०] न जैहै करि हित हानि ।६
वेद कह्यो[११] बुध कहत हैं अरु होँहुँ[१२] कहत हौं[१३] टेरि ।
तुलसी प्रभु साँचो हितू तू हिय की आँखिन्ह हेरि ।७

शब्दार्थ—भाजन = पात्र अर्थात् अधिकारी वा योग्य । एहु = यह । मुकुर = दर्पण, आईना, मुँह देखनेका शीशा । अनुहारि = आकृति; चेहरा; यथा 'सकल मलिन मन दीन दुखारी । देखीं सासु आन अनुहारी ।२।२२६।५।', 'भरतु राम-ही की अनुहारी । सहसा लखि न सकहिं नर नारी ।। लषनु सत्रुसूदन एक रूपा। १।३११।' = रूपकी याद (दीनजी) । निरापना = जो अपना न हो; पराया; वेगाना। यथा 'सब दुख आपने, निरापने सकल सुख, जौं लौं जन भयो न बजाइ राजा रामको । क० ७।१२४ ।' बासना = सुगंधित करना, महकाना; सुवासित करना। खरि (खली) = तेल निकाल लेनेपर तेलहनकी बची हुई सीठी । परिहरि = त्याग कर; फेंककर । भूतल = पृथ्वीमें; संसारमें । मेचक = काला । सेत(श्वेत) = सफेद; स्वच्छ सुन्दर; गौरवर्ण । करि बीत्यो = कर या बना चुका । करिबे हित = करने के लिये । अथवा, करिबे = करेगा । फुरना = सत्य होना । यथा 'कहहिं झूठि फुरि बात बनाई । ते प्रिय तुम्हहि करुइ मैं माई ।२।१६।३।', 'रामहि तुम्ह प्रिय सो फुरि बानी ।२।१७।५।', ''जौं फुर कहहु त नाथ निज कीजिअ बचन प्रमान । २।२५६।' टेरि = पुकारकर । हेरि = देख । निबाहनिहार—'हार' एवं 'हारा' एक पुराना प्रत्यय है जो किसी शब्दके आगे लगकर कर्तव्य, धारणा या संयोग आदि सूचित करता है । निबाहनिहार = निबाहनेवाला = आदिसे अंततक (प्रेम आदि सम्बधकी) रक्षा करने वा स्थिर बनाये रखनेवाला । पहिचानि = जान-पहचान, प्रेम । = गुण स्वभाव आदिसे परिचित होना । समुझ्यो नही = बोध न हुआ । कै = करके । गयो = नष्ट हुआ; भवभाजन हुआ ।

---

६ नातो—६६, रा०, आ०, मु० । नाते—भा०, बे० । ७ नहिं—भा०, बे० । ८ कहां-कहां ६६ । कहा-कह—अन्य सबोंमें । ९ कै—६६, रा०, भा०, बे०, भ० । को—ह० । को—मु०. दीन, वि० । कौं—ङु०, भ० स० । १० कौन—ह०, ५१ । ११ कहत—भा०, बे०, ह० । १२—होउँ—६६, रा०, भ० स०, ङु० । होहुँ—प्रायः औरोंमें । १३ हो—६६, रा० ङु०, भ०स० । हौं—प्रायः औरोंमें । नोट—इस पदमें मु० और ७४ में बहुत से शब्द बढ़े हुए है । सबसे अधिक भ्रष्ट पाठ इनमें है ।

अलंकार है।" (वीर)। यथा 'अवनि रवनि धन धाम सुहृद सुत को न इन्हहिं अपनायो। काके भये गये संग काके सब सनेह छल छायो।२००।'

दूसरा अर्थ—"यद्यपि दर्पणमें मुखका प्रतिबिंब देखिये; किन्तु मुखका मुख स्वरूपता आदि व्यापार साधनहेतु देखनामात्र है। उसके प्रतिबिंबकी चेष्टा चित्त-मे नहीं रहती, बेप्रयोजन समझकर उसे तुरतही भूल जाते हैं। अर्थात् अपने स्वार्थमात्रके लिये शीशामे मुख देखा, नहीं तो उसे सर्वथा व्यर्थ जानते हैं। वैसेही माता पिता आदि जितनेभी सबंधी हैं, वे कितनेही सहज स्नेहसे अपने अनुकूल सदा सुखदायक व्यापारमे लगे रहें (प्रेमसे सेवा करते रहे), तो भी उनको सच्चा संबंधी न माने, उनमे ममत्व न करना चाहिए। क्योंकि ये सब परमार्थके बाधक हैं केवल अपने-अपने स्वार्थके साथी हैं,—ऐसा निश्चय जान-कर किसीमे अपनपौ न माने।" (वै०)

तीसरा अर्थ—'चित न रहै अनुहारि...' इति। वह सूरत उसके चित्तमे अर्थात् भीतर नहीं होती (देखचुकनेके पीछे जाती रहती है)। भाव यह कि दर्पण-मे मुख देख पड़ता है पर वास्तवमे वह उसमें अर्थात उसके भीतर नहीं होता, ऐसेही माता पिता आदि सब मतलबके लिये देखनेमात्रके है, कोई किसीका नहीं। (भ०)। इनके साथ जो संबंध मान लिया गया है, वह स्वार्थमात्रका है। (वि०)। मायारूपी दर्पणके साथ तादात्म्य होनेसे ही इनमे अपना भाव दीखता है। (पो०)। सब स्वार्थभरके हैं, अपने नहीं हैं। यथा 'सुत बनितादि जानि स्वा-रथरत न करु नेह सबहीं तें। अतहुँ तोहि तजेंगे पामर १६८।'

३ 'दै दै सुमन तिल बासिकै...' इति। (क) प्रथम भावार्थके अनुसार ऊपर के उदाहरणसे बताया कि ये कोई अपने नहीं होते, अनित्य हैं, इनसे वियोग होता रहता है। अब इस दृष्टान्तसे बताते है कि सब स्वार्थी हैं। जैसे तेल फुलेल निकालकर खली फेंक दीजाती है, वैसेही सांसारिक सब संबंधी अपना काम निकालकर त्याग देते है। सब मतलबके यार (स्वार्थके मित्र) हैं। (ख)- स्वार्थ-पनेको दिखाते है। तेल-फुलेल निकालनेका ढंग इस प्रकार है—एक पात्रमे प्रथम बेला, चमेली या गुलाब आदिके फूल रखते हैं(जिसकी सुगंध तेलमे लेना चाहते है, वही सुगंधित फूल रक्खे जाते हैं)। फिर उसके ऊपर तिल बिछा देते हैं। इस तिलके ऊपर फिर उन्हीं फूलोकी तह देते हैं और उस तहपर पुनः तिलकी तह देते है। इस भाँति कई तह देकर (सबके ऊपरवाली तह फूलकी रहती है) पात्र-को बन्द करके रात्रिभर बंद रहने देते है। दूसरे दिन पात्र खोलकर उन फूलो-को निकाल डालते हैं और उन तिलोको फिर नये फूलोकी तहोमे प्रथमकी भाँति रखते हैं और रातभर पात्रमे बंदकर सबेरे खोलकर उपर्युक्त क्रिया करते है। इस प्रकार चार पाँच बार इस क्रियाको करनेसे फूलोकी सुगंध तिलमे प्रविष्ट हो

जाती है। यही 'दै दै सुमन तिल बासि कै' का भाव है। तत्पश्चात् इन सुगंधित तिलोंको कोल्हू (वा यन्त्र) मे पेरते हैं। पेरनेसे उसका रस (सुगंधित तेल फुलेल) अलग निकल आता है, तेलरहित खली अलग रहजाती है। तेलको ले लेते है, खलीको त्याग देते हैं।

दार्ष्टान्तमे ये क्या हैं, सो सुनिए। देह तिल है। अनेक प्रकारके व्यंजन (अन्न, घी, दूध, दही आदि) सुगंधित पुष्प हैं। इन व्यंजनोको खिला-पिलाकर माता-पिता आदिका अपने स्वार्थ साधनानुकूल शिक्षा देना तथा देहको पुष्ट कर देना (जिससे पुत्र आदि उनके लिये धन, सपत्ति, भोजन-वस्त्र तथा अन्य सुख-के साज कमाकर ला सकें, यथा 'गृह वनिता सुत बंधु भये बहु मातु पिता जिन्ह जायो। जाते निरय निकाय निरंतर सो इन्ह तोहि सिखायो। १९९।'),—तिलका सुमनकी पर्त देदेकर सुवासित करना है। शरीर पुष्ट होनेपर उसे स्वार्थसाधनके व्यापारमे लगाकर परिश्रम कराना सेवा लेना तिलोंका पेरा जाना है। उससे जो स्वार्थसिद्धि हुई वही 'रस' है। शरीरका इस योग्य न रह जाना, कि उससे और 'स्वार्थ-सिद्धि' हो सके, 'खली' है। अब उसको सब स्वार्थी त्याग देते हैं, कोई पास नहीं जाता। यथा 'जिन्ह लगि निज परलोक बिगार्‌यो ते लजात होत ठाढ़े ठायँ। ८३।', 'सिर कंप इंद्रियसक्ति प्रतिहत बचन काहु न भावई। गृहपालहू तें अति निरादर खान पान न पावई। १३६।'—यही 'खरि परिहरि' है।

["जबतक किसीमे सौंदर्य रहता है, धन कमानेकी शक्ति रहती है, बल-पौरुष रहता है, तबतक उसकी बलैयाँ ली जाती हैं, उसपर सर्वस्व निछावर किया जाता है, पर ज्योंही रूप चला गया, धन नष्ट हो गया, बल कम हो गया, त्योंही उसे कुत्तेकी नाईं छोड़ देते हैं।" "यह दृष्टान्त बड़ाही उपयुक्त और सुंदर है। स्वार्थी मनुष्य, वास्तवमे, कामवश सौन्दर्य आदिका उपभोग करते है, उपासना नहीं। यदि परमेश्वरी विभूति समझकर वे उसकी उपासना करें, उसका उप-भोग करना छोड़ दें, तो यह नरकोपम ससार उसी क्षण स्वर्ग हो जाय, मिथ्या जगत् सत्यरूप हो जाय।" (वि०)।

अनेक विषय फूल हैं। सुगंध देना पुष्टता है। पुरुषार्थ रस है। वृद्धावस्था-का शरीर खली है। (कु०, भ० स०)]

३ (ख) 'स्वारथ हित भूतल भरे' अर्थात् जैसा पूर्वार्धमे दिखाया, संसारमे इस प्रकार स्वार्थी भरे पड़े है। 'मन मेचक तन सेत' अर्थात् इनका मन काला होता है, केवल ऊपरसे देखनेमें ये सुन्दर स्वच्छ देख पड़ते हैं। अन्तः करणमे स्वार्थसिद्धिकी भावना रखते हुए प्रीति करना, यह कपट- छल कालापन है। यथा 'सब स्वारथ हित प्रीति कपट चित काहुं त नहि हरि भजन सिखायो। २४३।', 'सब सनेह छल छायो। २००।' स्वार्थकी भावना न होती तो वह शिक्षा देते

जिससे संसार छूटता, पर ऐसा उन्होंने नहीं किया। यथा 'तव हित होइ कटहिं भवबंधनें सो मगु तो न बतायो। १६१।' 'तव हित' न कर अपना हित जिसमें है वह सिखाया, ऊपरसे मीठे-मीठे वचन बोलकर अपनेको सच्चा हितैषी स्नेही दिखाना तनकी उज्ज्वलता है। सब स्वार्थी हैं, यह अगले पदमें कहा है। यथा 'तन साथी सब स्वारथी।' म० भा० शां० १११ में भी कहा है—'कश्चिदेव हिते भर्तुर्दृश्यते न परात्मनोः। कार्यापेक्षा हि वर्तन्ते भावस्निग्धाः सुदुर्लभाः। ८६।' अर्थात् ऐसा मनुष्य कोई एक ही होता है, जो अपने या दूसरेके हितमें रत न रहकर स्वामीके ही हितमें सलग्न दिखायी देता हो; क्योंकि अपने कार्यकी अपेक्षा रखकर स्वार्थसाधनका उद्देश्य लेकर प्रेम करनेवाले मनुष्य तो बहुत होते हैं, परन्तु शुद्ध भावसे स्नेह रखनेवाले मनुष्य अत्यन्त दुर्लभ हैं।—विशेष 'सब स्वारथी असुर सुर नर मुनि' १६३ (२ क) में देखिए।

४ 'करि बीत्यो अब करतु है' इति। हित और मित्र सर्वत्र हुए, सब योनियोंमें हुए। माता पिता स्त्री और पुत्र ये सब हित कहलाते हैं और सखा आदि मित्र सुहृद हैं। सांसारिक विषयोंमें आसक्ति होनेसे आगेभी मित्र बनायेगा। पर विचार करनेसे निश्चय होजायगा कि श्रीरघुवीरके समान प्रीतिका एकरस सदा निर्वाह करनेवाला न तो कभी कोई हुआ है और न होगा। यथा 'चारिहुँ बिलोचनु बिलोकु तूं तिलोकु महँ तेरो तिहुँ काल कहुँ को है हितु हरि सों।२६४।' 'कहूँ' में 'तिलोक तिहुँ काल' का भाव जना दिया। सुहृदका प्रेम सदा एकरस नहीं रहता, क्योंकि उनमें स्वार्थ भरा है, स्वार्थसिद्धितकही प्रेम है। यथा 'सुहृद-समाज दगाबाजिहि को सौदा सूतु परिखें प्रपंची प्रेम परत उघरि मो। २६४।' पिछले पदमेंके 'तुलसी प्रभु साँचो हितू तू हियकी आँखिन्ह हेरि।१०६ (७)।' का ही भाव यहाँ है।

५ 'जासों सब नातो फुरै''''' इति। (क) इसके भावार्थ कई प्रकारसे कहे जाते हैं।—(१) जिससे सब नाते फुरते अर्थात् सच्चे प्रमाणित होते हैं। भाव यह कि औरोंसे जो नाते माने जाते हैं वे झूठे प्रमाणित होते हैं। यथा 'जोरे नये नाते नेह फोकट फीके। देहके दाहक गाहक जीके। १७६।' सब अनित्य हैं, यह ऊपर दिखा आये हैं। यथा 'काके भये गये संग काकें। २१०।' जीव जोभी नाता प्रभुसे कर ले, वह तीनों कालोंमें सत्य उतरता है, क्योंकि प्रभु अविनाशी हैं और उनकी प्रतिज्ञा है कि 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।' अतः वे नातेका निर्वाह अंततक कर देते हैं। (२) पं० रामकुमारजी लिखते हैं—"जिससे सब नाते फुरैं अर्थात् लगते हैं। ईश्वर और जीवमें अनेक नाते हैं। ७६ (४) 'तोहि मोहि नाते अनेक मानिये जो भावै।' देखिए। अतएव भाव यह है कि एक-एक नातावालेसे तूने पहचान की, और जिससे अनेक नाते हैं उससे पह-

चान न की। उसीका फल अगले तुकमें कहते हैं।" (३) 'जा सों' अर्थात् जिसके कारण। 'सब नातो' अर्थात् माता, पिता, स्त्री, पुत्र और सखा आदि सब। फुरै अर्थात् सत्य प्रतीत होते हैं। तात्पर्य कि जिनके प्रेमसे ये सब नाते प्रिय लगते हैं; यथा 'पितु मातु गुर स्वामी अपनपो तिय तनय सेवक सखा। प्रिय लगत जाके प्रेम सो बिनु हेतु हितु नहिं तैं लखा। १३५ (२)।' (४) "श्रीरघुनाथजीकी कृपासे गर्भमें रक्षा होती है, बाल-कुमार आदि अवस्था प्राप्त होती है, तबमाता-पिता-बंधु को जानता है, फिर युवावस्थामें विवाह होनेपर स्त्रीको जाना और प्रभुकी कृपासे पुत्र-पौत्रादि मिले। इस प्रकार अनेक संबंधी हुए। सब नाते प्रभुकी कृपासेही सच्चे देखपड़ते हैं अर्थात् उनकी कृपासे तू सब प्रकार सुखी हुआ, सो ऐसे प्रभुसे तूने प्रीति-सबंध नहीं किया।" (वै.)।(५)श्रीरामजीही चराचररूपसेसब उपकारकर रहेहैं, वेही माता पिता आदिरूपसे सब कर रहे हैं, वेही सर्वप्रेरक हैं, यह निश्चितरूपसे जान ले तो सर्वओरकी फैली हुई ममता उनकेही चरणोंमें हो। (श्री० श०)।

५ (ख) 'तातें कछु समझ्यो ' इति। यह उन प्रभुसे पहचान न करनेका परिणाम है कि लाभ-हानिका विवेक नहीं रह गया। तात्पर्य कि यदि उनसे पहचान हो जाती तो तुझे स्वतः ज्ञान हो जाता कि किस बातमें लाभ है और किसमें हानि। लाभ-हानि पूर्व बता आये हैं। श्रीरामस्मरण, श्रीरामभक्ति, श्रीरामचरित ही जीवन जन्मका परम लाभ है और विमुखता परम हानि है। यथा '**लाभ रामसुमिरन** बड़ो बड़ी बिसारे हानि। दो० २१।', 'पावन प्रेम रामचरन कमल **जनम** लाभु परम। १३१।', 'लाभ कि किछु हरिभगति समाना।७।११२।८।', 'रामको बिसारिबो निषेध सिरताज रे। ६७।', 'हानि कि जग एहि सम किछु भाई। भजिअ न रामहि नर तन पाई। ७।११२।९।'

☞ प्रभुके गुणोंको जानना ही प्रभुको जानना है।—'गुणाज्ञानमविज्ञानं गुणज्ञानमभिज्ञता। म०भा० आश्व० २२।५।' गुणोंको जाननेपर प्रतीति और प्रीति क्रमशः होती है। यथा 'जानें बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती।७।८९।७।' इसीसे कहा कि पहचान न करनेसेलाभ-हानिका ज्ञाननहींहुआ।

☞ श्रुतिभी कहती है—'इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।' (केन० २।५) अर्थात् इस मनुष्य शरीरमें यदि परब्रह्मको जान लिया तो ठीक है, नहीं तो यदि इस शरीरके रहते-रहते उसे न जान पाया तो महान् विनाश है। पुनश्च यथा 'उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत। कठ०१।३।१४।' अर्थात् (यमराजजी नचिकेतासे कहते हैं-) उठो, जागो (सावधान हो जाओ) और श्रेष्ठ पुरुषोंके पास जाकर उनके द्वारा उस परमात्माको जान लो। जाननेसे क्या फल प्राप्त होता है, यहभी सुनिये।—"यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते" (गीता

१३।१२। अर्थात् उसे जानकर मनुष्य जन्म, जरा और मरण आदि प्राकृत धर्मों-से रहित अमृतरूप आत्माको प्राप्त कर लेता है), 'य यो ह वै तत्परम ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति ।' (मुण्डक० ३।२।६। अर्थात् जो उसे जान लेता है वह ब्रह्मरूप हो जाता है), 'जेहि जाने जग जाइ हेराई ।'

६ 'साँचो जान्यो झूठ कै ' इति । परमात्मा सत्य है और जगत्का प्रपच असत् (विनाश वा परिवर्तनशील) है। जिन्होंने इसकेविपरीतसमझा वे अपने हितकी हानि करके चले गए; अर्थात उनका मनुष्यजन्म व्यर्थ गया, वे 'भवभाजन' हुए। जिनकी ऐसी विपरीत बुद्धि है वे, 'भवभाजन' हो रहे हैं और जो ऐसेही बुद्धिवाले आगे होंगे वेभी भवमे पड़ेंगे। इस प्रकार तीनों कालोंमे ऐसे लोग भवभाजन होते हैं। पद १३६ मे जो कहा है–'जिय जब तें हरि ते बिलगान्यो। तब तें देह गेह निज जान्यो ।'-यही झूठे को सच्चा जानना है।

[सदा अखंड आनंद जो आत्मरूप उसको कहते हैं कि वह कुछभी वस्तु नहीं है और झूठे देहसंबंधरूप संसारको सच्चा मानते है। जैसे कि हम ब्राह्मण है, हम क्षत्रिय हैं, हम राजा हैं, इत्यादि झूठको सच्चा मानते हैं। भाव यह कि ईश्वरको भुलाकर देहाभिमानी हो गए, ऐसे जीवोंका कल्याण तीनों कालोंमे नहीं। (वै०)। आत्माको अनात्म और अनात्मको आत्म माननाही हेर-फेरका ज्ञान अथवा अविद्या है। कुछका कुछ मान लेनेसे किसी वस्तुका बिलकुलही न जानना अच्छा है। पाखण्डी आस्तिकसे तो नास्तिकही भला है। (वि०)]

७ 'बेद कह्यो ' ' इति । 'टेरि' कोवेदऔरबुधकेसाथभीलेसकतेहैं। सभीपुकारकर कहरहेहैं क्या कहते हैं,यह अगलेतुकमेंकहतेहै-'प्रभुसाँचोहितू' हैं। सभी पुकारकर कह रहे हैं, अतः यह यथार्थ सिद्धान्त है। सबने इसका अनुभव किया है। आगे भी कहा है; यथा 'एक सनेही साँचिलो केवल कोसलपालु। पेम कनोड़ो राम सो नहिं दूसरो दयालु।१९१।'. इत्यादि। और पूर्वभी कहा है–'प्रेम कनोड़ो राम सो प्रभु तिभुअन तिहुं काल न भाई।१६४।' इत्यादि। सब कहते हैं, तबभी तुझे न देख पड़ा, यह क्यो ? इसका कारण मैं बताता हूँ कि तूने अभीतक चर्मचक्षुओं-से ही काम लिया है, इससे सब देहसंबंधी तथा सारा विषयप्रपंचही तुझे सच्चा लग रहा है। और, प्रभुही सच्चे हितैषी हैं, यह रहस्य हृदयके नेत्रों (ज्ञान वैराग्य आदि) से देख पड़ता है। अतएव तू हृदयकी आँखोसे देख, सच्चा रहस्य तुरत देख पड़ेगा। श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

१९१ (१२४)

एक सनेही सांचिलो केवल कोसलपालु ।

पेम कनोड़ो राम सो नहिं दूसरो दयालु ।१

तन साथी सब स्वारथी सुर व्यवहार सुजान ।

आरत अधम अनाथ को[1] हित को रघुबीर समान ।२
धादु निठुर समचर सिखी सलिलु सनेहु न सूरु ।
ससि सरोग दिनकरु बड़े पयदु पेमपथ कूरु ।३
जाको मन जासों बँध्यो[2] ताको सुखदायक सोइ ।
सरल सील साहिबु सदा सीतापति सरिस न कोइ ।४
सुनि सेवा सहि[3] को करै परिहरै को दूषन देखि ।
केहि दिवान दिन दीनको आदरु अनुराग बिसेषि ।५
खग सबरी पितु मातु ज्यों माने कपि कौं[4] किये मीत ।
केवटु भेंट्यो भरत ज्यों ऐसो को[5] कहो पतितपुनीत ।६
देइ अभागेहि भाग को कौं[6] राखे सुरन सभीत ।
बेद बिदित बिरुदावली कबिकोबिद गावत गीत ।७
कैसेउ[7] पावर पातकी जेहि[8] लई नाम[9] की ओट ।
गाँठी बाँध्यो राम[10] सो परिख्यो[11] न फेरि खर खोट ।८
न[12] मलीन कलि किलविषी होन सुनत जासु कृत काज ।
सो[13] तुलसी कियो आपनो रघुबीर गरीबनेवाज ।९

शब्दार्थ—साँचिलो = सच्चा; यथार्थ । केवल = एकमात्र; अकेला । पेम = म । कनोड़ो = दबनेवाले; कृतज्ञ; यथा 'कपि-सेवा-बस भये कनोड़े कह्यो पवन-त आउ । दीबे को न कछू रिनियाँ हौं धनिक तू पत्र लिखाउ । १००(७)।' थी = संगी; मित्र; संबंधी । व्यवहार = लेन देन; व्यापार; परस्परका बरताव । वारथी (स्वार्थी) = अपना ही मतलब देखनेवाला; मतलबके यार । नाद =

१ को—६६, रा०, भा०, बे० । आ० मे यह शब्द नहीं है । २ बँध्यो—६६, ा०, आ० । बिधो—भा० । बिध्यो—बे० । ३ सहि—६६, रा०, मु०, भा०, बे०, भ०, ु०, वै० । सही—वि०, दीन, श्री० श० । ४ कैं—६६, रा०, भ०, डु० । को—भा०, बे०, ७४, ह०, प्र०, आ० । ५ को कहो—६६, रा०, भ० । को कहु—वै०, भा०, बे०, दीन, ु०, वि०, श्री० श० । ६ कैं—६६, रा०, भ० (कै) । को—ह०, ५१, आ० । ७ कै-सोउ—रा० । ८ जिन—भा०, बे०, प्र०, ज० । ९ राम—रा० । १० दाम सो दीन । दाम तो—वि० । ११ परख्यो—रा०, दीन । परखो—भा०, बे० । १२ मल—६६ । मन—औरोमे । १३ सोउ—भा०, बे०, ह०, ज० ।

संगीतका स्वर; राग। निठुर (निष्ठुर) = निर्दयी; कठोर। समचर = समान अर्थात् एकसा व्यवहार करनेवाला। = समान आचरणवाला। वैसाहीव्यवहारकरनेवाला। सिखी = शिखावाला अर्थात् दीपक; अग्नि। सलिल = जल। सूरु (सूर) = बहादुर; वीर। सरोग = रोगयुक्त; रोगी; क्षयीरोगग्रस्त। बड़े = महान् पुरुष। = पद, शक्ति, अधिकार, मानमर्यादा, विद्या, बुद्धि, आदिमें अधिक बढ़े हुए अर्थात् ऊँचे पद-वाले। यहाँ व्यङ्गसे भाव है कि अपने बडप्पनमें भूले रहते है। पयद (पय = जल। द = देनेवाला) = मेघ। कूर = क्रूर; निर्दयी। बँधना = फँसना; लगजाना। सरल सील = सीधा सादा छलकपटरहित स्वभाववाला। = सरल और सुशील। (दीनजी)। सहि (सही) = सच्चा; ठीक; हस्ताक्षर। सही करना = सच्चा मान लेना। दिवान = दरबार; राजसभा। यथा 'एहि देवान दिन दीन कनिगरे रीति सदा चलि आई।१६५।' कें = किसने। राखना = रक्षा करना; रख लेना। मानना = समझना; आदर और अंगीकार करना। देइ = देता है। गीत = बड़ाई; यश; छन्दबद्ध गानेकी चीजको 'गीत' कहते है। यथा 'गीध मानो गुरु, कपि भालु माने मीत कै, पुनीत गीत साके सब साहिब समत्थके। क० ७।२४।' गीत गाना = बड़ाई प्रशंसा या गुणगान करना। (यह मुहावरा है)। कैसेउ = कैसाभी; कैसाही; कितनाही। कैसा = किसी प्रकारका; कितना। लई = ली; लिया। गाँठी = कपड़ेकी खूँटमें कोई वस्तु लपेटकर लगाई हुई गाँठ या गिरह। गाँठ या गाँठीमें बाँधना = यत्नपूर्वक पास रख लेना; संग्रह करना; अपना लेना। फेरि = फिर; पुनः; तत्पश्चात्। खर = खरा; अच्छा। खोट = खोटा; बुरा। किलविषी (सं० किल्विष = पाप) = पापी; दोषयुक्त।

पद्यार्थ—सच्चे स्नेही केवल कोशलपति श्रीरामचन्द्रजी ही एक हैं। प्रेमके एहसानसे दब जानेवाले अर्थात् परम कृतज्ञ और दयालु श्रीरामजीके समान दूसरा नहीं है।१। शरीरके सबंधी (माता, पिता, स्त्री और पुत्र आदि) सब अपने अपने मतलबके हैं और देवता व्यवहारमें चतुर हैं (अर्थात् पर्याप्त पूजा भेंट लेकर तब कुछ थोड़ासा देते है)। आर्त्त, अधम और अनाथका हित करने-वाला श्रीरघुवीरके समान कौन है? (कोईभी नहीं)।२। नाद निर्दयी है। अग्नि और दीपक उसीके समान आचरणवाले हैं*। जल प्रेम (मार्ग) में वीर नहीं है (अर्थात् प्रेमके निर्वाहमें कायर देख पड़ा)। चन्द्रमा (क्षयी) रोगयुक्त है। सूर्य बड़ेही ठहरे और मेघ प्रेममार्गमें बड़ाही क्रूर निकला।३। (बात तो यह है कि) जिसका मन जिससे फँस गया, उसको वही सुखका देनेवाला हो जाता है।

---

* अर्थान्तर—१ दीपक [अग्नि—(वि०)] सबपर एकसा व्यवहार करनेवाला है। अर्थात् अन्य वस्तुओंकी नाई अपने प्रेमी पतिंगोंकोभी भस्म कर देता है, जलानेसे किसीकोभी नहीं छोड़ता, जराभी मुरव्वत नहीं करता। समचर = समदृष्टा। (वि०)।

(परन्तु मेरी समझमें तो) श्रीसीतापति रघुनाथजीके समान सदा छल कपटरहित सीधे-सादे स्वभाववाला स्वामी दूसरा कोई नहीं है। ४। सेवाको सुनकर ही उसपर 'सही' कौन करता है? (अर्थात् यह सही है, सत्य है, ऐसा कहनेवाला, उसपर अपनी मुहर देनेवाला, उसको सत्य माननेवाला कौन है?)। दोषोको देखकरभी उनको कौन छोड़ देता है? (अर्थात् देखीको अनदेखी करनेवाला, उनपर ध्यान न देनेवाला, उन्हे सर्वथा भूल जानेवाला श्रीरघुनाथजीके सिवा दूसरा नहीं है)। किस दरबारमे दिनोदिन दीनोका आदर और (उनपर) विशेषरीतिसे प्रेम होता है? (अर्थात् श्रीरामदरबारको छोड़ अन्यत्र कहीं ऐसा नहीं होता)। ५। किसने पक्षीको पिता और शबरी (भीलनी) को माता समान माना? किसने वानरको मित्र बनाया? और केवटको श्रीभरतजीके समान (पृथ्वीपरसे उठाकर प्रेमपूर्वक) गलेसे लगाकर भेंटा?–(भला) कहिये तो पतितोको पवित्र करनेवाला ऐसा (दूसरा) कौन है?। ६। अभागेको सुन्दर भाग्य कौन देवै है? सभीतको शरणमे किसने रक्खा है? वेदोमे यशावली प्रसिद्ध है। कवि और कोविद (उनके यशके) गीत गाते है (अर्थात् उनका गुणगान करते है)। ७। कैसा भी नीच और पातकी (क्यो न हो) जिसने (श्रीराम) नामका आश्रय लिया, श्रीरामचन्द्रजीने उसे गाँठमे बाँध लिया, खरा है या खोटा है फिर उसकी परख (जाँच भी) न की (उसको खरा ही मान लिया। चट अपना लिया, देर न की)। ८। जिसके किये हुए कर्मोको सुनकर पापी कलिकालका भी मन मलिन (मैला) हो जाता है, उस तुलसीदासको भी अपना बना लिया—रघुवीर (ऐसे) गरीबनिवाज़ (दीनोंको निहाल करनेवाले) हैं। ९। †

टिप्पणी—१ 'एक सनेही साँचिलो ' इति। (क) 'सनेही साँचिलो' के भाव पूर्व पद १९०, १३५ आदिमे आचुके है। 'एक' से जनाया कि अद्वितीय हैं और यह भी ध्वनि है कि और सब झूठे स्नेही है। 'कोसलपाल' शब्द सच्चा स्नेह दिखानेके लिये दिया। थोडीही अवस्थाके थे तभी बन-बनमे फिरकर अगणित पतित जीवोको पावन किया, भक्तों प्रेमियोंको दर्शन दे-देकर कृतार्थ किया। राज्याभिषेक होनेपर त्रेतामे सत्ययुग कर दिया। धर्म चारों चरणोंसे परिपूर्ण रहा, संपूर्ण प्रजा सुखी रही। और जब निजधामकी यात्रा की, तब सारी प्रजाकी तो बात ही क्या, कीट-पतंग जीवजन्तु सबको अपने साथ दिव्य रूपसे

† अर्थान्तर—१ जिसके किये हुए पापकर्मोको सुनकर कलियुगसे और लोगोके भी मन मलिन और पापी हो जाते है। (वै०)। २ जो ऐसा मलिन मनवाला और घोर पापी है कि उसके किये ' ' (वि०, दीन, भ०)। ३–जिसके किये हुए कामोंको सुनतेही मन मलिन हो जाय और कलिका पाप लग जाय ऐसा जो मैं हूँ। (पं० रामकुमार)।

परधामको लेगए। कोई और ऐसा नहीं हुआ। अतः कहते हैं—'एक सनेही ...कोसलपालु'। विशेष और भाव 'वानरबंधु बिभीषन हित बिनु कोसलपाल कहूँ न समाउँ।' १५३ (२ घ) में देखिए।

१ (ख) 'पेम कनोड़ो राम सो ...' इति। 'कोसलपाल' बहुतसे हो गए हैं और अयोध्यावासी प्रजाको अपने साथ श्रीहरिश्चंद्रजी, श्रीपृथुमहाराज, श्रीरुक्मांगदजी भी लेगए हैं। अतः यहाँ 'राम' शब्द देकर स्पष्ट कर दिया कि श्रीराम-कोशलपालके समान दूसरा नहीं है। 'कोसलपाल' शब्द पूर्व पद ७६, १५३ में भी आया है —'आरत-अनाथ-नाथ कोसलपाल कृपाल लीन्हो छीनि दीन देखो दुरित दहतु हों।' ७६(२ ङ) और १५३(२ घ) मे देखिए। 'प्रेम कनोड़ो राम सो' ये ही शब्द पूर्व पद १६४ मे आ चुके हैं; यथा 'प्रेम कनोड़ो राम सो प्रभु तिभुअन तिहुँ काल न भाई।' कैसे एहसानसे दबजानेवाले हैं यह भी वहाँ तथा अन्यत्र दिखा आये है। यथा 'तेरो रिनो हों कह्यो कपि सो ऐसी मानिहै को सेवकाई।', 'कपिसेवा बस भये कनोड़े कह्यो पवनसुत आउ। दीबेको न कछू रिनियाँ हों, धनिक तूं पत्र लिखाउ।१००(७)।'—विशेष वहाँही १००(७) तथा १६४(६) मे देखिए।

२(क) 'तन साथी सब स्वारथी ...' इति। ससारमे जितनेभी स्नेही माने जाते हैं, उनको अब गिनाते हैं और दिखाते हैं कि वे कैसे हैं। उनमेसे सर्वप्रथम देहके संबंधियोंको लेते हैं। सबसे निकट माता, पिता, भाई, स्त्री और पुत्र है। फिर मित्र हैं, ये सब स्वार्थी है, यह पिछले पदमे दिखा आये है—'सेवतहूँ निरापने मातु पिता सुत नारि।', 'स्वारथहित भूतल भरे मन मेचक तन सेत।' १६० (२–३) तथा 'सब स्वारथी असुर सुर नर मुनि कोउ न देत बिनु पायें।' १६३ (२ क) मे देखिए।

☞ यह जीव-जगत् स्वार्थका ही साथी है। कोई किसीका प्रिय नहीं है। दो सगे भाइयों तथा पति और पत्नीमे भी जो परस्पर प्रेम होता है, वह भी स्वार्थवशाही है। देखिए, कभी कभी किसी स्वार्थको लेकर भाई भी कुपित हो जाते हैं, पत्नीभी रूठ जाती है, यद्यपि वे स्वभावतः एक दूसरेसे जैसा प्रेम करते हैं, ऐसा प्रेम दूसरे लोग नहीं करते हैं। कोई दान देनेसे प्रिय होता है, कोई प्रिय वचन बोलनेसे प्रीतिपात्र बनता है और कार्य सिद्धिके लिये मन्त्र, होम एवं जप करनेसे प्रेमका भाजन बन जाता है। किसी कारणको लेकर उत्पन्न होनेवाली प्रीति जबतक वह कारण रहता है, तबतक बनी रहती है। उस कारणके नष्ट होजानेपर उसको लेकर की-हुई प्रीति भी स्वतः निवृत्त हो जाती है।—'अर्थार्थी जीवलोकोऽयं न कश्चित् कस्यचित् प्रियः।' 'उत्पन्ना कारणे प्रीतिरासीन्नौ कारणान्तरे॥ प्रध्वस्ते कारणस्थाने सा प्रीतिर्विनिवर्तते।' (म०भ० शां०

१३८।१५२-१५६)।

देवताओंकी व्यवहारमे चतुरता यह है कि 'पूजा लेत देत पलटे सुख हानि लाभ अनुमाने' (२३६)। पुनश्च यथा 'बिबुध सयाने पहिचाने कैधों नाहीं नीके देत एक गुन लेत कोटि गुन भरि सो। २६४।' विशेष पूर्व ७५ (२ ख) 'हाथी स्वाने लेवा देई।' तथा १५३ (२ ख) 'सूझत सबनि आपनो दाउँ' में आ चुका है।

२ (ख) 'आरत अधम अनाथको हित ' इति। रघुवीरजी इनका हित कैसा करते है—यह 'आरत दीन अनाथनु को रघुनाथ करैं निज हाथकी छाहैं। क० ७।११।' मे दिखाया है। अर्थात् वे इनको अपने हाथकी छाया तले कर लेते हैं। ताप, पाप, माया, सब मिटा देते है, अभय कर देते है। यथा 'जेहि कर अभय किये जन आरत बारक बिबस नाम टेरे। 'सीतल सुखद छाँह जेहि कर की मेटति ताप पाप माया। १३८।' 'रघुवीर' है अर्थात् पंचवीरतायुक्त हैं। आर्त, अधम, अनाथका हित करनेमे दयावीरता तथा पराक्रमवीरतासे काम लेते है। इसीसे इनका हित करनेमें दयालु विशेषण यत्रतत्र दिया गया है। हित करनेमें आपके समान दूसरा नहीं। यथा 'पतितपावन हित आरत अनाथनि को।२५२।', 'बिदित त्रिलोक तिहुँ काल न दयालु दूजो, आरत प्रनतपाल को है प्रभु बिनु। लाले पाले पोषे तोषे आलसी अभागी अघी नाथ पै अनाथनि सो भये न उरिनु।२५३।'

३ 'नादु निठुर समचर सिखी '' इति। (क) देहसंबंधी तथा देवताओंको कहकर अब प्रसिद्ध कुछ अन्य स्नेहियोंकीदशा दिखाते हैं। हिरन नादका बड़ा प्रेमी है। व्याधा हिरनको फाँसनेके लिये वीणा बजाता है; हिरन संगीतके मधुर स्वरपर मोहित हो उसके पास आ खडा होता है और ऐसा मुग्ध हो जाता है कि उसको सुधबुध नहीं रह जाती। व्याधा उसको बाँध लेता है और फिर उसके प्राणभी ले लेता है। हिरन तो नादपर मुग्ध है,पर नाद ऐसा कठोर-हृदय है कि वह उसकी व्याधसे न तो रक्षा करे और न उसको सावधान ही करे। नादपर हिरनका कैसा एकांगी प्रेम है, यह कविने दोहावलीमे बड़ी सुंदर रीतिसे दिखाया है। यथा 'आपु व्याध को रूप धरि कुहौ कुरंगहि राग। तुलसी जो मृग मन मुरै परै प्रेमपट दाग। ३१४।'भाव यह है कि राग स्वय बहे-लियाका रूप धरकर हिरनको मार डाले, परन्तु रागके प्रति उसका अनुराग तो वैसा ही रहता है; क्योंकि यदि रागकी ओरसे हिरनका मन फिर जाय तो उसके प्रेमरूपी स्वच्छ वस्त्रपर दाग लग जायगा। वह अपने प्रेममे दाग नहीं लगने देता।— विशेष भाव आगे ३ (च) मे देखिए।

३ (ख) शिखी (दीपक तथा अग्नि) नादके समानही आचरणवाला है। अर्थात् ये भी निर्दयी है। पतिंगे तो उनको देखतेही उनके रूपपर मतवाले होकर उनके

पास आते हैं और वे ऐसे वज्रहृदय हैं कि प्रेमी पतिंगेको भस्म ही कर
उसे जलनेसे नहीं बचाते। [बेचारे पतिंगे तो रूपमाधुरीपर मुग्ध होकर
चुंबन करने आते हैं, पर यह ज़ालिम उसे भूँज डालता है। (वि०)]
'सलिल सनेह न सूर'—शब्द-विषयके प्रेमीको कहकर तब रूप-विषयके प्रेमीके
अब रसके प्रेमीको कहते हैं। मीनका सच्चा स्नेह जलसे है। वह अपने
जलसे वियोग होनेही प्राण दे देती है। पर जल उसकी उपेक्षा करता है।
बचानेका उपाय न कर उसको छोड़कर चल देता है। [ग्रीष्म ऋतुमें मह
प्रेमका ख्याल न करके और उसे मृत्युके मुखमें डालकर वह तालाबको छो
चला ही जाता है। (दीनजी)। पुनः, जलमें ही प्रवेश करके लोग मछलीको
लेते हैं; परन्तु वहाँभी जल मछलीको बचानेका उपाय नहीं करता। अतः
वीर नहीं वरंच कादर है। भाव यह कि अपने शरणकी रक्षा नहीं क
(वै०)]—यहाँ तक अन्वय इस प्रकार भी हो सकता है—नाद निठुर है।
और सलिल सम-चर (नादके समान आचरणवाले अर्थात् निष्ठुर) हैं।
स्नेहमें शूरवीर नहीं हैं।—ऐसा अर्थ डु० और भ० ने किया है और अ
भी नहीं है। दीनजी और वियोगीजीके अर्थ पद्यार्थकी पाद-टिप्प
आचुके हैं। मीनका प्रेम पूर्व 'जल बिनु थलु कहां मीचु बिनु मीन को।
(३) में दिखाया जा चुका है। विशेष भाव आगे २ (च) में देखिए।

२ (घ) 'ससि सरोग ...' इति। चन्द्रमा क्षयीरोगयुक्त है,—'घटै बढ़ै
...हेनि दुखदाई'। उसके दोषोंपर दृष्टि न देकर चकोर उसपर आसक्त है, उ
...और टकटकी लगाये देखताही रहता है। उसके वियोगमें अंगारे भक्षण क
...फिरभी चन्द्रमा उसकी उपेक्षा करता है। [चन्द्रमाको चकोर प्रेमस
...न रहता है। उसी विह्वलदशामें बधिक उसे पकड़ लेता है. तोभी चन
...रक्षा नहीं करता। (वै०)] चकोरका प्रेम पूर्व 'रामचंद्र चंद्र तू च
...यश्चै।' ८० (५ ख) में लिखा जा चुका है।

२ (ङ) 'दिनकर बड़े पयदु ...' इति। सूर्य बड़ेही ठहरे (अर्थात् वे अ
...ाले रहते हैं)। देखिए, कमल तो सूर्यको देखकर खिल उठता है
...नसे वियोग होनेपर सिकुड़ (मुकुलित हो) जाता है, सूर्यमें उ
...वेक सच्चा प्रेम है। यथा 'जरत तुहिन लखि बनजबन रवि
...उदय बिकस अथवत सकुच मिटै न सहज सुभाउ। दो० ३
...ग्रतम सूर्य उसकी भी अवहेलनाही करता है। पालेसे झुल
...नकी रक्षा नहीं करता। इतनाही नहीं किन्तु तालाबमें जल

औ... है, ... देखत... उसकी... मोहि की... बड़ापनमें भ... अस्तद्वारा ... ऐसा स्वाभा... पीठि पराउ। ... परन्तु उसका प्रि... हुये देखकरभी उस... रहनेपर उस प्रेमीक... छागा।२।१७।७।'

मेघ प्रेमपथमें क्रूर है। भाव यह कि चातक तो उसके केवल एक बूँदका प्यासा रहता है और वहभी केवल स्वातीके एक बूँदका। अन्य समस्त जलाशयोकाही नहीं, किन्तु अन्य नक्षत्रोंके मेघोंके जलकाभी निरादर करता है—ऐसा अनन्य एकागी प्रेमी वह मेघका है। किन्तु मेघ ऐसा क्रूर है कि उसके ऊपर बर्फके पत्थर (ओले) और वज्र गिराता है, इत्यादि। चातकका प्रेम और मेघोकी क्रूरता 'चातक ज्यों प्यास सुपेम-पानं की' ४२ (१ ख-ङ) तथा पद ६५ (३ घ) मे विस्तारसे लिखी जा चुकी है।

(बैजनाथजी आदि दो तीन टीकाकारोने—'दिनकर तथा पयद प्रेमपथमें बड़े क्रूर हैं'—ऐसा अन्वय और अर्थ किया है)। ☞ यहाँतक दिखाया कि नाद, शिखी, जल, चन्द्रमा, सूर्य और मेघ ये कोई अपने प्रेमीपर दया नहीं करते। इनको 'स्नेह न सूर' और 'प्रेमपथक्रूर' कहकर यहभी जना दिया कि इनके प्रेमी हिरन और मीन आदि प्रेमपथमे शूरवीर हैं, प्राणतक दे देते हैं, किन्तु प्रेम आजीवन निबाहते हैं, प्रेमपटमे दाग नहीं लगने देते।

३ (च)—"जब आकाशका गुण नाद, अग्नि, जल, सूर्य, चन्द्र और मेघ ऐसे स्वार्थत्यागी बड़ो-बड़ोंमे प्रेमकी पहचान नहीं है, किन्तु क्रूरताही भरी हुई है, तब इनसे नीच स्वार्थपरायण प्राणियोमे प्रेमकी प्रीति कैसे हो सकती है? और परमात्मा राम तो सच्चा प्रेमका रूप हैं, सभीमे प्रियस्वरूपसे रमण करते हैं। यह 'राम' ॐकाररूप होनेसे नादका उत्पन्नकर्ता बीजमंत्र है। जो कोई इस शब्द ब्रह्ममें हरिण सरीखे चित्त लगा देते हैं, परमात्मा उनके अधीन हो इच्छानुकूल सुख देता है। और 'राम' नाममें रकारको अग्निका उत्पत्तिकर्ता बीजमंत्र जानकर जो आर्तभक्त पतिंगोकी भाँति प्रेम करते हैं, उनके सारे विकाररूप दुःखोंको रकार भस्म कर देता है। जो 'राम' के अकारको सूर्यका उत्पन्नकर्ता बीजमत्र जानकर कमलकी भाँति खिल उठता है, उस जिज्ञासूको परमात्मा सदैव प्रसन्न ही रखता है। जो 'राम' की मकारको चन्द्रका उत्पन्नकर्ता बीजमंत्र जानता हुआ, चकोरकी भाँति ज्ञानदृष्टिसे देखता रहता है, उस ज्ञानीको परमात्मा अत्यन्त शान्ति देता है और जो अर्थार्थी भक्त सजल मेघ सरीखे सुन्दर सुखदायी सगुणस्वरूप 'राम'मे मनको मीन बना देता है, वह अनन्य भक्ति पाकर संसारी जालमे फिर कदापि नहीं पड़ता है।" (सू० शुक्ल)

४ 'जाको मन जासों बँध्यो ''' इति। (क) नाद और शिखी आदि स्वामी जब इतने निष्ठुर है तो इनके प्रेमियोंके मन उनसे क्यों नहीं फिर जाते? उनसे प्रीति क्यों नहीं छोड़ देते?—इसका समाधान यहाँ स्वयं करते हैं कि जिसका मन जिससे लग जाता है, उसको वह सुखदायकही लगता है, प्रियतमकी कठोरतामे भी उसे कृपाही सूझती है, वह कठोरताको प्रेमकी परीक्षा समझता है।

रीझत सुनि सेवक गुन ग्राम को। १५७ (४)।' तथा आगे 'जन गुन अलप गनत सुमेरु करि अवगुन कोटि त्रिलोकि बिसारन।२०६।' और 'देखि दोष कबहुँ न उर आने। सुनि गुन साधुसमाज बखाने। २। २९९। ४।' के भाव इसमे है। सेवा सुनकर उसपर अपनी 'सही' की मुहर लगा देते हैं। अर्थात् सुनकर ही सच्ची मान लेते है—यह इसी ग्रंथमे चरितार्थ देख लीजिए। श्रीलक्ष्मणजीने प्रभुसे कहा—'कलिकालहुँ नाथ नाम सों प्रतीति प्रीति एक किंकरकी निबही है।' इसपर 'बिहँसि राम कह्यो सत्य है सुधि मैं हू लही है। मुदित माथ नावत बनी तुलसी अनाथ की परी रघुनाथ सही है। २७९।' कोई कहभर दे कि अमुकने सेवा की है, बस इतनेसेही उसे सच्ची मान लेते है, उसपर प्रसन्न हो जाते हैं, साधु समाजमें उसकी प्रशंसा करने लगते है, इत्यादि सब भाव 'सही' करनेमे है। और दोषको जब देखकरभी मनमें नहीं लाते, तब परिहरनेका प्रश्नही नहीं उठसकता। अन्य स्वामी तो दोष सुनकरही खीझ उठते हैं, तब वे 'सीतापति सरिस' कैसे हो सकते है? दोहावलीमेंभी कहा है–'साहिब होत सरोष सेवक को अपराध सुनि। अपने देखे दोष सपनेहुँ राम न उर धर्‍यो।४७।' हमने 'परिहरि' का अर्थ इसीके अनुसार किया है।

५ (ख) 'केहि दिवान दिन दीनको ' इति। भाव यह कि दीनका आदर और उनपर अनुराग इसी दरबारमे है, दूसरे दरबारोमे ऐसा आदर और अनुराग नहीं पाया जाता। पूर्व इस आदर-अनुराग विशेषको दिखा आये है। यथा 'निदरि गनी आदर गरीबपर करत कृपा अधिकाई॥ एहि देवान दिन दीन कनिगरे रीति सदा चलि आई।१६५।'–(यह पूरा पद इसीकी व्याख्या समझिए। वही सब भाव यहाँ हैं)। 'बिसेषि' मे 'निदरि गनी', 'आदर कृपा अधिकाई' का भाव है। आगे यहांभी 'आदर अनुराग बिसेषि' के कुछ उदाहरण देते है।

६ **'खग सबरी** पितु मातु ' इति। (क) गीध पक्षीको पिता समान माना; यथा 'जनक समान क्रिया ताकी निज कर सब बात सँवारी।' १६६ (५), 'जेहि कर कमल कृपाल गीध कहुँ उदकु देइ निज लोकु दियो।' १३८ (३क) तथा 'अैसेहु पितु तें अधिक गीधपर ममता गुन गरुआई' १६४ (२ख) देखिए। शबरीजीको माताके समान माना और श्राद्ध किया; यथा 'सो जननि ज्यो आदरी सानुज राम भूखे भाय कै। गी० ३।१७', 'गीध सबरीको कहो करि है सराध को।१८० (६)।' वानरको मित्र बनाया यह सब जानते है। 'कैं कियो मीत' अर्थात् अन्य स्वामियोकी बात तो दूर रही, भगवदवतारोमे भी ऐसा कोई नहीं जिसने वानरको सखा बनाया हो, भीलिनी और पक्षीको माता पिता समान मानकर उनका श्राद्ध किया हो, कोई हो तो बताओ। 'कैं'का अन्वय सबके साथ हे। पूर्वभी कहा है— 'सदगति सबरी-गीधकी सादर करता को।१५२ (८)।'

इत्यादि। लैला मजनू के प्रेमकी कथायें जिन्होंने पढ़ी या सुनी हैं, वे इसे भली भाँति समझ सकते हैं।) दोहावलीमें चातकके एकांगी प्रेम-प्रसंगको लिखकर अंतमें ऐसाही समाधान किया है। यथा 'एक अंग जो सनेहता निसिदिन चातक नेह। तुलसी जासों हित लगै, वहि अहार वहि देह। दो० ३१२।' अर्थात् चातक का जो रातदिनका प्रेम है, वही एकाङ्गी प्रेम है, उसमे प्रेमी यह नहीं देखता कि प्रेमास्पद उसके बदलेमें प्रेम करता है या नहीं। बात यह है कि ऐसा एकांगी प्रेम जिसके साथ लगता है, वही उसका आहार बन जाता है और वही उसका शरीर है। तात्पर्य कि वह भूख-प्यास सब भूल जाता है, उसकी स्मृतिसे ही जीवित रहता है, अपने शरीरकी सुधभी भूल जाता है, उसीके शरीरमें तन्मय हुआ रहता है।

कथनका आशय यह है कि यद्यपि नाद आदि अपने प्रेमी मृग आदिके शरीरका नाश भी कर देते हैं तथापि मृग आदिको नाद आदि सुखदायक ही देख पड़ते हैं। जब ऐसे निष्ठुर स्नेहियो (प्रेमास्पदो) को मृग आदि नहीं छोड़ते, तब तू ऐसे स्वामीको क्यों नहीं सेवै है जो 'सरल सील ' हैं।

४ (ख) 'सरल सील साहिब ' इति। 'सरलशील' पूर्वदिखाआये हैं; यथा 'ठाकुर अतिहिं बडो सील सरल सुठि। ज्ञान अगम सिवहू, भेंट्यो केवट उठि। खग सबर निसिचर भालु कपि किये आपु से बंदित बड़े। तापर तिन्ह कि सेवा सुमिरि जिय जात जनु सकुचनि गड़े। १३५।'—ऐसा सरल स्वभाव है। दूसरी सरलता यह है कि दासका दोष आपके हृदयमें कभी नहीं आता, यह प्रारम्भ मे ही कह आये हैं; यथा 'सरल प्रकृति आपु जानिऐ करुनानिधान की। निज गुन अरिहित अनहितौ दास दोष सुरति चित रहति न दिये दान की। ४२।' 'साहिबु सदा' से जनाया कि यह सरल स्वभाव सदा एकरस बना रहता है। ऐसे (सदा सरल शील) स्वामी एक श्रीसीतापतिही हैं, दूसरा नहीं। तात्पर्य कि और स्वामी थोड़ेहीमे प्रसन्न और थोड़ेहीमे गर्म हो जाते हैं, वे अपनी बड़ाईमें भूले रहते हैं, भला बताइए तो किस देवता वा स्वामीने केवट, वानर, आदिको गले लगाया, अपने निवाजेसे अपराध होनेपरभी उसके दोषको न देखा? 'सीतापति' से जनाया कि हरि हर आदिको पालन, हरण आदिकी शक्ति इन्हींने दी है, ऐसे बड़े होकरभी वे ऐसे सरल हैं। यथा 'हरि-हरहि हरता बिधि-हि बिधिता श्रियहि श्रियता जेहि दई। सो जानकीपति '। १३५।'—विशेष भाव 'सुनत सीतापति सील सुभाउ' १०० (१क) तथा 'सुमिरु सनेह सहित सीतापति' १२८ (१ ग) मे देखिए। श्रीसीतापति सदृश कोई नहीं है, इसीका प्रमाण आगे देते हैं।

५ 'सुनि सेवा सहि को करै' इति। (क) पूर्वके 'देखत दोष न खीझत,

रीझत सुनि सेवक गुन ग्राम को। १५७ (४)।' तथा आगे 'जन गुन अलप गनत सुमेरु करि अवगुन कोटि बिलोकि बिसारन।२०६।' और 'देखि दोष कबहुँ न उर आने। सुनि गुन साधुसमाज बखाने। २। २६६। ४।' के भाव इसमें हैं। सेवा सुनकर उसपर अपनी 'सही' की मुहर लगा देते हैं। अर्थात् सुनकर ही सच्ची मान लेते हैं—यह इसी ग्रंथमें चरितार्थ देख लीजिए। श्रीलक्ष्मणजीने प्रभुसे कहा—'कलिकालहुँ नाथ नाम सों प्रतीति प्रीति एक किंकरकी निबही है।' इसपर 'बिहँसि राम कह्यो सत्य है सुधि मैं हू लही है। मुदित माथ नावत बनी तुलसी अनाथ की परी रघुनाथ सही है। २७९।' कोई कहभर दे कि अमुकने सेवा की है, बस इतनेसेही उसे सच्ची मान लेते हैं, उसपर प्रसन्न हो जाते हैं, साधु समाजमें उसकी प्रशंसा करने लगते हैं, इत्यादि सब भाव 'सही' करनेमें है। और दोषको जब देखकरभी मनमें नहीं लाते, तब परिहरनेका प्रश्नही नहीं उठसकता। अन्य स्वामी तो दोष सुनकरही खीझ उठते हैं, तब वे 'सीतापति सरिस' कैसे हो सकते हैं? दोहावलीमेंभी कहा है—'साहिब होत सरोष सेवक को अपराध सुनि। अपने देखे दोष सपनेहुँ राम न उर धर्‍यो।४७।' हमने 'परिहरि' का अर्थ इसीके अनुसार किया है।

५ (ख) 'केहि दिवान दिन दीनको''' इति। भाव यह कि दीनका आदर और उनपर अनुराग इसी दरबारमें है, दूसरे दरबारोंमें ऐसा आदर और अनुराग नहीं पाया जाता। पूर्व इस आदर-अनुराग विशेषको दिखा आये हैं। यथा 'निदरि गनी आदर गरीबपर करत कृपा अधिकाई॥ एहि दिवान दिन दीन कनिगरे रीति सदा चलि आई।१६५।'—(यह पूरा पद इसीकी व्याख्या समझिए। वहीसब भाव यहाँ हैं)। 'बिसेषि' में 'निदरि गनी', 'आदर कृपा अधिकाई' का भाव है। आगे यहांभी 'आदर अनुराग बिसेषि' के कुछ उदाहरण देते हैं।

६ '**खग सबरी** पितु मातु ' इति। (क) गीध पक्षीको पिता समान माना; यथा 'जनक समान क्रिया ताकी निज कर सब बात सँवारी।' १६६ (५), 'जेहि कर कमल कृपाल गीध कहुँ उदकु देइ निज लोकु दियो।' १३८ (३क) तथा 'औसेहुँ पितु तें अधिक गीधपर ममता गुन गरुआई' १६४ (२ख) देखिए। शबरीजीको माताके समान माना और श्राद्ध किया; यथा 'सो जननि ज्यो आदरी सानुज राम भूखे भाय कै।गी० ३।१७', 'गीध सबरीको कहो करि है सराध को।१८० (६)।' वानरको मित्र बनाया यह सब जानते हैं। 'कैं कियो मीत' अर्थात् अन्य स्वामियोंकी बात तो दूर रही, भगवदवतारोंमें भी ऐसा कोई नहीं जिसने वानरको सखा बनाया हो, भीलिनी और पक्षीको माता पिता समान मानकर उनका श्राद्ध किया हो, कोई हो तो बताओ। 'कैं'का अन्वय सबके साथ है। पूर्वभी कहा है—'सदगति सबरी-गीधकी सादर करता को।१५७ (८)।'

६ (ख) 'केवट भेंट्यो ···' इति। 'भेंट्यो केवट उठि। भरि अंक भेंट्यो सजल नयन सनेह सिथिल सरीर सो।' १३५(४ ख-ग) तथा 'भेंट्यो हृदय लगाइ प्रेम बस नहिं कुल जाति बिचारी।' १६६(३ क-ख) के सब भाव यहाँ हैं। 'ऐसो को कहो पतितपुनीत' में 'नहिं कुल जाति बिचारी' तथा 'गुह गरीब गत ज्ञातहू ··· सनमान सखा को।' १५२ (७ क-ख) के भाव हैं।

७ 'देइ अभागेहिं भाग को ···' इति। (क) आपका तो नाम ही अभागेको भाग्यवान् बना देता है; यथा 'भागु है अभागेहू को गुन गुनहीन को। ६६।' (नाम नामीके अभेदसे यह प्रमाण दिया गया)। [भाव यह कि श्रीरघुनाथजी ही ऐसे दयाल समर्थ हैं कि जिसके भाग्यमें सुखका छींटा नहीं था ऐसेभी अभागीको पूर्ण भाग्यवान् बनाकर सब प्रकारका सुख देते हैं। सुग्रीव इसके उदाहरण हैं। (वै०)। यथा 'बालित्रास व्याकुल दिन राती। तनु बहु ब्रन चिंता जर छाती। सो सुग्रीव कीन्ह कपिराऊ।'] (ख) 'कै राखे सरन सभीत'— श्रीरामजीकी प्रतिज्ञा है कि सभीत शरणागतकी रक्षा प्राणके समान करते हैं। यथा 'मम पन सरनागत-भय-हारी। ५।४३।८।'. 'जौं सभीत आवा सरनाई। रखिहउँ ताहि प्रानकी नाई।५।४४।८।' विभीषणजी इसके उदाहरण हैं।— रावणने उनको मारनेके लिये शक्ति चलाई, तब भगवान् रामने उन्हें तुरत अपने पीछे कर लिया और स्वयं उस शक्तिको अपने ऊपर ले लिया; यथा 'आवत देखि सक्ति अति घोरा। प्रनतारतिभंजन पन मोरा। तुरत बिभीषन पाछे मेला। सनमुख राम सहेउ सोइ सेला। ६।९३।२।' और कोई सभीत शरणागतकी रक्षा करनेवाला नहीं है। यथा 'और देवन्हकी कहौं कहा, स्वारथहि के मीत। कबहुँ काहु न राखि लियो कोउ सरन गयें सभीत। २१६।'

७ (ग) 'बेद बिदित बिरुदावली ···' इति। वेदोंमें यशावली वर्णित है। यथा 'आगम निगम कहैं रावरेइ गुनग्राम। ७७।' "जब वेदवेद्य पुरुषोत्तम चक्रवर्ती कुमाररूपमें अवतीर्ण हुए, तब वेदभी श्रीरामायणरूपसे अवतीर्ण हुआ; यथा 'वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे। वेदः प्राचेतसादासीत्साक्षाद् रामायणात्मना।' वेदार्थप्रकाशक रामायणको महर्षिने कुशलवको पढ़ाया।— 'वेदोपबृंहणार्थाय तावग्राहयत प्रभुः।' सर्ववेदान्तवेद्य परात्परतत्व श्रीरामतत्वका ही आदिसे अन्ततक रामायणमें वर्णन है।" (श्रीजानकीचरितामृत)।— इसके अनुसारभी 'वेदबिदित' कहा। इसके कवि वाल्मीकि हैं और कुश-लव कोविद हैं। पुनः कवि कोविदसे अन्य सभी कवियों और पंडितोंका भी ग्रहण हो गया जिन्होंने विरुदावलियोंको छन्दबद्ध किया तथा गाया है। यथा 'व्यास आदि कबि पुंगव नाना। जिन्ह सादर हरिसुजस बखाना॥ कलिके कबिन्ह करौं परनामा। जिन्ह बरने रघुपति-गुनग्रामा।···' १।१४।' [(वै०)—"कवि कोविद

संहिता, पुराण, रामायण आदि द्वारा गाते है और सब जातिवाले भी अपनी रुचि अनुकूल गीतोको गाते है, ऐसी बिरुदावली लोकमे विदित है।] मिलान कीजिए—'बिरुदु गरीबनिवाजु राम को। गावत वेद पुरान संभु सुक प्रगट प्रभाउ नासको। ९९।'

८'कैसेउ पावँर पातकी ' इति। जैसे मार्गमे चलते हुए किसी दरिद्रको द्रव्य मिल जाय तो वह उसे बिना देखे कि वह खरा है या नहीं तुरत गाँठीमे बाँध लेता है। वैसेही जो भी श्रीरामजीके नामका आश्रय ले लेता है, उसे भगवान् तुरत दरिद्रीकी भाँति अपना लेते हैं, शुद्ध है या अशुद्ध यह नहीं देखते। इससे दिखाया कि नामजापक, नामावलंबी प्रभुको कैसा प्रिय है। तथा यह कि नाममें असंख्यों क्या समस्तही महापापोके प्रायश्चित की शक्ति है, संपूर्ण महापापोको ये पचा डालते है।—'कलिजुग वर बनिज बिपुल नाम-नगर खपत।'१३० (४ च) तथा 'पतितपावन रामनाम सो न दूसरो' ६६ (५ क) देखिए।

आगे पद २४१ मे भी कहा है– 'कैसेहुँ नाम कहो कोउ पावरु सुनि सादर आगे होइ लेते।' दोनोमे किंचित् ही भेद है। प्रार्थी ने नामकी ओट ली है, यथा 'सकल अंग पद बिमुख नाथ मुख नामकी ओट लई है। १७०।' और अगले अन्तरामे अपनेको अपनानेकी बात कहना है अतः यहाँ 'जेहि लई नाम की ओट' उसको गाँठी बाँधना कहा गया। वाल्मीकि और गणिकाने नामका अवलंब लिया और पार हुए। और पद २४१ मे इससे भी अधिक कृपालुता दिखाई गई है, जिसके उदाहरण अजामिल और यवन हैं। उन्होंने नामका अवलंब स्वप्नमे भी नहीं लिया था और न शरण ही आए थे, उन्हे तो करुणावरुणालय-ने अपनी असीम करुणासे जैसे-के तैसेही उठा लिया। हाँ! मर्यादापुरुषोत्तमने मर्यादाके लिये यह दिखाया कि अजामिलके मुखसे लड़केके मिष हमारा ही तो नाम निकला तथा यवनके मुखसे 'हराम' निकला, सो उसमे नामके दोनों वर्ण थे।

९ 'मन मलीन कलि ' इति। इसके कई भाव हो सकते हैं। मैं ऐसा घोर पापी हूँ कि कलिने मेरोही मलिनतासे मलिन होनेकी शिक्षा पाई है, जो मलिनता उसमें है वह मुझसे उसको मिली है। यथा'लोभ-मोह-काम-कोह-दोस-कोसु मोसो कौन, कलिहूँ जो सखि लई मेरियै मलीनता। क०७।६२।' टीका-कारोके अर्थ पद्यार्थकी पाद-टिप्पणीमे दिये गए है।

'सो तुलसी कियो गरीबनेवाज' इति। यहाँ नामकी ओटसे अपना लेने-मे 'गरीबनिवाजी' गुणकी प्रशंसा करते हैं। नामसे अपनानेमे यही गुण पूर्वभी कहा है। यथा 'बिरुदु गरीबनिवाजु रामको। छली मलीन हीन सबही अंग तुलसी सो छीन छाम को। नाम नरेस प्रताप प्रबल जग जुग जुग चलत चाम को। ९९।' कथनका आशय यह है कि महान् अधमसे अधम कलियुगी जीवभी

रामनामावलंबनसे प्रभुके प्यारे हो जाते हैं; जीवोंपर उनका ऐसा निस्स्वार्थ, सहज स्नेह है कि उनको अपनानेके लिये इतना सुगम उपाय रच दिया है। अतः सबको प्रेमसे उनका नाम जपना चाहिए।

नोट—☞ इस प्रसंगसे सूचित किया है कि भगवान्ने अपने नामोंमे अपनेसे भी अधिक शक्ति स्थापित कर दी है। श्रीसूतजीने श्रीशौनकादि ऋषियोंसे यह बात स्वयं कही है; यथा 'स्वयं नारायणो देवः स्वनाम्नि जगतां गुरुः। आत्मनोऽभ्यधिकां शक्तिं स्थापयामास सुव्रताः॥' (प० पु० स्वर्ग० ५०।२४)। आगे सूतजीने यह भी बताया है कि भगवान् अपने पुजारीको तो पीछे रखते हैं, किन्तु नाम-जप करनेवालेको छातीसे लगाये रहते है। अतएव भगवन्नामकी शरण लेकर भगवानकी भक्ति करनी चाहिए।— 'तस्माद्धरौ भक्तिमान् स्याद्धरिनामपरायणः। पूजकं पृष्ठतो रक्षेन्नामिनं वक्षसि प्रभुः। श्लो० २६।'—ये सब भाव 'कैसेउ पावर ' गाँठी बाँध्यो राम सो ' ' इत्यादि से जना दिये हैं। मुझ तुलसीदासने भी नामकी ओट ली, इस लिये मुझे भी अपना लिया। अतः सबको नामकी शरण लेना चाहिए।

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

१६२

जौ पै जानकिनाथ[1] सों नातो नेहु न नीच।
स्वारथ परमारथ कहां[2] कलि कुटिल बिगोयो, बीच॥१
धरम बरन आश्रमनि के पैयत पोथिही[3] पुरान।
करतब बिनु बेष देखिऐ[4] ज्यों सरीर बिनु प्रान॥२
बेद बिहित[5] साधन सबै सुनियत दायक फल चारि।
राम-पेम-बिनु जानिबे[6] जैसें सर सरिता बिन बारि॥३
नाना पथ निरबानके नाना बिधान बहु भाँति।
तुलसी तूं मेरे कहे जपु राम नाम दिन राति॥४

---

१ जानकिनाथ—रा०, ह०, मु०, दीन, वि०। जानकीनाथ—भ०, वे०, वै०, भा०। डु०। २ कहां—रा०, दीन, वि०, वै०, भ०। कहा—भा०, वे०, मु०, डु०। ३ ही—रा०, डु०, भ०, दीन, वि०, ह०, ७४। हि—भा०, वे०, वै०। ३ विलोकिये—७४। देखिऐ—रा०। देखिये—भा०, वे०, आ०। ५ विहित—रा, ज०, ५१, भ०। विदित—भा०, वे०, आ०। ६ जानिबे—रा०, ह०। जानिबो—आ०, ५१, ७४। जानिये—भा०, वे०।

शब्दार्थ—नातो = नाता। कहां = कब; कैसा। अर्थात् असंभव है। बिगोना = ठग लेना; नष्ट कर डालना। यथा 'प्रथम मोह मोहि बहुत बिगोवा। रामबिमुख सुख कबहुँ न सोवा। ७।९६।', 'जिन्ह एहि बारि न मानस धोये। ते कायर कलिकाल बिगोये। १।४३।७।' बीच = मध्यमें; न इधर न उधर। पैयत (पाइयत) = पाये जाते हैं। पोथी = पुस्तक। करतब = आचरण; करनी। बिहित = कथित; कहे हुए। जानिबे = जानो; जानना या समझना चाहिए, (दीनजी और वियोगीजी ने 'जानिबो' का अर्थ 'ज्ञान' किया है)। निरबान (निर्वाण) = मोक्ष। बिधान = अनुष्ठान; उपाय; व्यवस्था।

पद्यार्थ—रे नीच! निश्चयही यदि श्रीजानकीनाथजीसे तेरा कोई संबंध और प्रेम नहीं है, तो स्वार्थ और परमार्थ कैसा? (अर्थात् इनकी प्राप्ति कब संभव है?)। अरे कुटिल! (तब तो) तुझे कुटिल कलिने बीचमेंही ठग लिया। (अर्थात् न स्वार्थही हाथ लगा और न परमार्थही। न इधरका हुआ; न उधरका)। १। वर्ण और आश्रमोंके धर्म पुराणों और पुस्तकोंमें (लिखे भर) पाये जाते हैं, आचरणके बिना वेष (मात्र) देखनेमें आता है (अर्थात् धर्मका करनेवाला कोई नहीं है) जैसे बिना शरीरका प्राण। * २। वेदोंमें कहे हुए सभी साधन अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष चारों फलोंके देनेवाले सुने जाते हैं। (परन्तु) रामप्रेमके बिना इनको बिना जलके तालाब और नदियों जैसा (सदृश) जानो। ३। मोक्षके अनेक मार्ग हैं और अनेक प्रकारके बहुतसे विधान है। (किन्तु) तुलसी! तू मेरे कहनेसे दिन रात रामनाम जप। (अर्थात् एकमात्र यही कर, अन्य किसी पथ और विधानमें न भूल)। ४।

टिप्पणी—१ 'जौ पै जानकिनाथ सो ' इति। (क) श्रीरामसे विमुख होकर अन्य साधनोंद्वारा स्वार्थ और परमार्थकी चाह करता है, इससे 'नीच' और 'कुटिल' कहा। पूर्व बताया जा चुका है कि प्रभुसे कोई न कोई नाता अवश्य जोड लेना चाहिए और हो सके तो सभी नाते उन्हींसे जोड़ने चाहिए। ७९ (१) नोट २ तथा ७९ (३ ग) देखिए। उन्हींसे स्नेह करना चाहिए, क्योंकि वे ही एकमात्र सच्चे स्नेही हैं–यह अभी-अभी पद १९०, १९१ में बता आये हैं। सो उनसे 'नाता नेहु' न किया। यथा 'जासो सब नातो फुरै तासों न करी पहिचानि। १९०।' सिखावन नहीं सुनता, अतः 'नीच' कहा। (ख)–'स्वारथ, परमारथ कहां?' अर्थात् प्रभुसे नेह नाता न होनेसे लोक-परलोक दोनों नहीं बन

* यह अर्थ पं० रामकुमारजीने किया है। वे कहते हैं कि धर्म प्राण है, और कर्त्तव्य शरीर है; सो कर्तव्य नहीं है। ड०काभी मत ऐसाही जान पड़ता है। प्रायः अन्य टीकाकारोंने, 'जैसे बिना प्राणका शरीर' ऐसा अर्थात् किया है। अर्थात् बिना कर्तव्यका वेष व्यर्थ है।

सकते, न तो लोकमें सुख ही सकता है और न परमार्थ (पारलौकिक सुख एवं भगवत-प्राप्ति) की सिद्धि होगी। तू ही बता, तुझे अबतक क्या सिद्धि हुई ? श्रीराममें प्रेम होनेसे स्वार्थ परमार्थ दोनों बनते हैं, यथा 'तुलसिदास स्वारथ परमारथ न खोगिहै।७०', 'स्वारथ औ परमारथहू को नहिं कुंजरो नरो। २२६', 'स्वारथको परमारथको रघुनाथ सो साहेबु खोरि न लाई। क० ७।५७', 'स्वारथको परमारथको कलि रामको नामप्रतापु बली है। क० ७।८५।' (ग)— 'कलि कुटिल बिगोयो बीच' इति। इसने कुटिलको कलिका विशेषण भी माना है और जीवका संबोधनभी। कलिने बीचमें ही नष्ट करडाला या ठग लिया। अर्थात् कामक्रोधादि लगाकर साधनोंको नष्ट कर दिया जिससे लोक-परलोक दोनों बिगड़ गए। [अथवा, साधनकी पूर्ति होनेके पूर्वही तेरा नाश कर दिया. या तुझे द्विविधामें डाल दिया। (च०)। तेरी आयुही समाप्त करदी। (भ०स०)]

☞ मिलान कीजिए—'यऽभ्यर्थितामपि च नो नृगतिं प्रपन्ना ज्ञानं च तत्त्वविषयं सहधर्म यत्र। नाराधनं भगवतो वितरन्त्यमुष्य सम्मोहिता विततया बत मायया ते। भा० ३।१५।२४।' (ब्रह्माजी देवगणसे कह रहे हैं कि) 'हम ब्रह्मादि कीभी प्रार्थनीय मनुष्ययोनिको. जिसमें धर्मके सहित तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति हो सकती है, प्राप्त करके जो लोग भगवानकी आराधना नहीं करते, वे वास्तवमें उनकी सर्वत्र फैली हुई मायासे ही मोहित हो रहे हैं।

२ 'धरम बरन आश्रमनिके' इति। कलिके ठगने वा नष्ट करनेका प्रमाण देते है कि चारों वर्णों (ब्राह्मण. क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र) तथा चारों आश्रमों (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास) के धर्म जो सद्ग्रन्थोंमें लिखे हैं, वे कर्तव्यमें कहीं देखनेमें नहीं आते. धर्मोका पालन कोई नहीं करता। पं० रामकुमारजीके मतानुसार भाव यह है कि धर्मका शरीर है—'कर्तव्य'। कर्तव्य न होनेसे धर्म विना शरीरका हो गया है। केवल पोथियोंमें लिखा है। दूसरा अर्थ है कि बिना कर्तव्यके वेष ऐसा दीखता है जैसे प्राणरहित शरीर हो। इसके अनुसार कर्तव्य प्राण है और वेष शरीर है। प्राणहीन शरीर व्यर्थ. वैसेही कर्तव्यरहित वेष व्यर्थ। 'पैयत पोथिही पुरान' से जनाया कि कलिने धर्मोका आचरण रहने नहीं दिया। यथा 'आश्रम बरन धरमबिरहित जग लोक-वेद मरजाद गई है। १३९।' पद १३९ में कलिकी करनी देखिए। धर्म पुराणादिमें ही पाये जाते हैं। यथा 'सकल धरम बिपरीत कलि. कल्पित कोटि कुपंथ। पुन्य पराइ पहार-बन, दुरे पुरान सुभ ग्रंथ। दो० ५५६।'

३ 'वेदविहित साधन ...' इति। (क) योग, यज्ञ, जप, तप, कर्मकाण्ड, ज्ञान और वैराग्य आदि सब साधन वेदोंमें कहे गये हैं। सब चारो फलोंके दाता कहे गए है। इनके सबंधमें पूर्व कह आये हैं कि 'एहि कलिकाल सकल साधन

तरु है असफलनि फरो सो ॥ तप तीरथ उपवास दान सख जेहि जो रुचै करो सो। पायहि पै जानिबो करमफलु भरि-भरि वेद परोसो। १७३।' पूरा पद १७३ देखिए।(ख) 'रामपेम बिनु' इति। श्रीरामपदमे प्रेम होना ही समस्त साधनोका फल है; यथा 'जप-तप-नियम-जोग निजधर्मा। श्रुति संभव नाना सुभ कर्मा॥ तव पद पंकज प्रीति निरंतर। सब साधनकर यह फल सुंदर। ७।४९।' यदि रामप्रेम नहीं हुआ तो ये सब साधन ऐसेही अशोभित और व्यर्थ है जैसे जलरहित सर और सरिता। ऐसे सर सरितासे किसीको लाभ नहीं, वैसेही रामप्रेम विना इन साधनोसे भव नहीं छूट सकता; यथा 'संजम जप तप नेम धरम व्रत बहु भेषज समुदाई। तुलसिदास भवरोग रामपदप्रेमहीन नहिं जाई। ८१।' यहाँ सब साधन सर सरिता हैं और रामप्रेम जल है। सब अशोभित है; यथा 'सोह न रामपेम बिनु ज्ञानू। २।२७७।', 'जोग कुजोग ज्ञान अज्ञानू। जहँ नहिं रामपेम परधानू। २।२९१।२।'

[वियोगीजी—"यहां सिद्धान्तरूपसे भक्ति ज्ञानसे बड़ी मानी गई है। केवल 'ज्ञान' श्रेयस्कर नहीं हो सकता। भक्तिके विना वह निष्प्राण है। सानुराग ज्ञानही मुक्तिका द्वार है।]

टिप्पणी—४ 'नाना पथ निरबान के' इति।(क) मोक्षप्राप्तिके अनेक मार्ग हैं † और उनके अनेक विधान है तथा इन विधानोमे भी बहुत प्रकारके कर्म है। वियोगीजी लिखते है कि दार्शनिकोंने मुक्तिकी अनेक परिभाषाएँ लिखी है। जैसे—(१) 'वस्तु' का सावयव (सांगोपांग) ज्ञान ही मोक्ष है। (२) शास्त्रोंके अर्थके अनुकूल निर्दिष्ट आचरण करना ही मोक्ष है। (३) दृश्य और अदृश्यके ज्ञानका जो अभाव है, वही मोक्ष है। (४) महावाक्यो (तत्त्वमसि, सोऽहं आदि) का विवरण ही मोक्ष है। (५) अस्ति और नास्ति इस उभयात्मक ज्ञानके उच्छेदको ही मोक्ष कहते है। (६) स्वात्मानंदकी ज्ञानमयी अवस्थाही मोक्ष है। (७) शब्दब्रह्मके यथेष्ट ज्ञानको मोक्ष मानना चाहिए। (८) निर्विकल्पसमाधिगत

---

† वैजनाथजी नाना पथ आदि पर प्रमाणमे ये श्लोक देते हैं—बज्र सूच्याम् यथा "सांख्या वैष्णवा वैदिका विधिपराः संन्यासिनस्स्मार्त्तकाः सौरा नीलपटाश्च बोधनिरता बौद्धा जिनाः स्रावकाः। शैवाः पाशुपताः महाव्रतधराः कालीमुखा जंगमा गाणेशाः सकलेष्टदं गणपति ध्यायन्ति चित्तेनिशम्। शाक्ताः कौलकुलात्म-चाररनिरताः कापालकाः संभखाः आचार्यावत्कुक्षिता द्रुतरता नग्नव्रतास्तापसाः। नाना तीर्थनिषेवका जपपरा मौन स्थिता नित्यशश्चार्वाकाश्चतुराः स्वतर्कनिपुणा देहात्मवादेरताः॥" यदि 'वज्रसूच्याम्' से वज्रसूचिकोपनिषत् अभिप्रेत हैं तो हमे ये श्लोक 'सर्वहितैषी कम्पनी द्वारा सन् १९३८ मे प्रकाशित 'ईशाद्यष्टोत्तर शतोपनिषदः' ग्रन्थके 'वज्रसूचिकोपनिषद' मे ये श्लोक नहीं मिले। अतः इनका अर्थ नहीं किया गया।

आनंदको मोक्ष मानना चाहिए। (६) एकदेशिक सिद्धान्तसे सिद्ध जो भक्तिका विधान है, वही मोक्ष है। (१०) आत्म-समर्पण करनेके अनन्तर जो भगवत्प्राप्ति के लिये परम विरहाकुलता है, उसेही मोक्ष कहना चाहिए, इत्यादि अनेक मत-मतान्तर हैं। -(यह वैजनाथजीके 'नाना विधान कर्म' पर दिये हुए श्लोकोका अनुवाद मात्र है)। इनमे अनेक विधान हैं। यथा 'सावयव वस्तु ज्ञानं मोक्ष इति केचित्। शास्त्रार्थ निर्दिष्टाचारकरण मोक्ष इति केचित्। मनोवाञ्छाविकल्प-विच्छेद लक्षणो मोक्ष इति केचित्। मनः पवनध्येयध्यानधारणाकरणं मोक्ष इति केचित्। दृश्यादृश्योभयज्ञानाभावो मोक्ष इति केचित्। महावाक्यविवरणं मोक्ष इति केचित्। अस्ति नास्तीत्युभयज्ञानविच्छेदो मोक्ष इति केचित्। सोऽहं भाव-स्मरणं सत्त्वं मोक्ष इति केचित्। स्वात्मानन्दवोधमयो मोक्ष इति केचित्।" इति ज्ञानपथनाना विधान। पुनः कर्मपंथ "मद्यमांसास्वादन सुरतक्रीडाविलास-विभ्रमानन्दमयो मोक्ष इति केचित्। नाना तीर्थयात्रोजपहवनदानव्रतैरेव मोक्ष इति केचित।" पुनः भक्तिमे विधान. यथा 'एकदेशिक सिद्धान्त कथित भक्ति विधानं मोक्ष इति केचित्।' फिर इनमे अनेक कर्म हैं, यथा नारदसूत्रे-'पूजा-दिष्वनुराग इति पाराशर्यः।कथादिष्विति गर्गः आत्मरत्यविरोधेनेति शाण्डिल्यः। नारदस्तु तदर्पिताखिलाचारता तद्विस्मरणे परम व्याकुलतेति।" (इनके अर्थ ऊपर आगए हैं)।

टिप्पणी—४ (ख) 'तू मेरे कहे जपु राम नाम दिनराति।' इति। भाव यह कि ये नाना पंथ केवल भ्रमजालमें डालनेवाले हैं और इनसे कुछ भी अर्थ सिद्ध नहीं होनेका; यथा 'बहु मत मुनि, बहु पंथ पुराननि जहाँ-तहाँ झगरो सो। १७३।' पद १७३ मे यह कहकर फिर बताया था कि श्रीगुरुदेवने मुझे बताया कि राम-भजन करना ही सबसे अच्छा है और मुझे भी यह राजमार्ग ज्ञात होता है। जो कोई भी तरना चाहे 'रामनाम' जहाजपर चढ़कर पार हो जाय। गुरुका उपदेश है, अपनेको भी यह ठीक जँचता है और रामनाम छोड़कर दूसरा भरोसा भी नहीं है, तो भी दिनरात नाम नहीं जपता, अतः फिर मनसे कहते हैं कि तू मेरा कहा मान। अपने बहाने औरोंको भी उपदेश कर रहे हैं। निष्कर्ष यह है कि नाम-जपसे स्वार्थ-परमार्थ दोनोंकी सिद्धि होगी और यदि तुझे चारों फलोंकी चाह है तो वह भी नाम जपसे प्राप्त हो जायँगे।

नोट—१ प्रारंभमे कहा था 'जौ पै जानकिनाथ सों नातो नेहु न नीच।' और अंतमे कहते हैं 'तू मेरे कहे जपु रामनाम दिनराति।' इससे सिद्ध हुआ कि 'राम' नाम निरतर जपना भी नाता नेह है। यह पद 'विचार भूमिका' का है।

२—'नाना पथ निरवानके ' कहकर 'मेरे कहे जपु रामनाम ' कहनेका भाव यह है कि भक्तिही सर्वश्रेष्ठ है, अतः सब उपायोंकी छोड़कर भक्तिनिष्ठ हो

जाना चाहिए। भक्तिसे स्वार्थ,परमार्थ सब सिद्ध हो जाते हैं,कोई ऐसी बात नहीं है जो भक्तिसे सिद्ध न हो सके। उपनिषद्में भी इसी प्रकारकी घोषणा की गई है।यथा 'सर्वोपायान् परित्यज्य भक्तिमाश्रय। भक्तिनिष्ठो भव, भक्तिनिष्ठो भव। भक्त्या सर्वसिद्धयः सिद्ध्यन्ति भक्त्यासाध्यं न किञ्चिदस्ति।' (त्रिपाद्विभूतिमहानारायणोपनिषद् अध्याय ८)।इसीमें यह भी कहा है कि भक्तवत्सल भगवान् भक्तके साधनकी रक्षा स्वयं करते हैं,सब अभीष्ट देते हैं और अपनी प्राप्ति भी आपही करवा देते है। —'भक्तवत्सलः स्वयमेव सर्वेभ्यो मोक्षविघ्नेभ्यो भक्तिनिष्ठान्सर्वान्परिपालयति। सर्वाभीष्टान्प्रयच्छति। मोक्षं दापयति।'

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

१९३

अजहुँ[1] आपने[2] राम के करतब समुझत हित होइ।
कहँ तू कहँ कोसलधनी, तोको कहा कहत सब कोइ।१।
रीझि निवाज्यो कबहिं तूं कब खीझि दई[3] तोहि गारि।
दरपन बदनु निहारि कै सुबिचारु[4] मानु हिय हारि।२।
बिगरी जनम अनेक की सुधरत 'न लगै[5] पल' आधु।
पाहि कृपानिधि प्रेम सों कहे[6] को न राम कियो[7] साधु।३।
बालमीकि केवट कथा कपि भील भालु सनमान।
सुनि सनमुख जो न राम सों तेहि को उपदेसहि[8] ज्ञान।४।
का[9] सेवा सुग्रीव की, का प्रीति रीति निरबाहु।
जासु[10] बंधु बध्यो ब्याध ज्यों सो सुनत सुहात न काहु।५।
भजन बिभीषन को कहा, फल कहा दियो रघुराज।

१ अजहूं–भा०,वे०,१५। अजहुँ–रा०,ह०,५१,ज०,७४, आ०। २ आपने–रा०, ह०,५१,७४,आ० १५। ३ दियउ–७४। ४ सो बिचार मानि–भा०,वे०। सो बिचार मान–भ०। सुविचारि मान–वि०। सुबिचार मानि–डु०। सुबिचारु मानु–रा०। ५ न लगै पल–रा०, ह०, ज०। पल लगै न–भा०, वे०, ७४, आ०। पल न लगै –प्र०। लगै न पल– १५। ६ कहे–रा०, ७४, आ०। कहे–ह०, ५१, भ०। कहि –भा०, प्र०। कह–वे०। कहै–ह०। कहे–डु०, भ० स०। ७ कियो–रा०, प्र०, ५१, आ०। किय-भा०, वे०, मु०। ८ उपदेसहि–रा०, मु०, आ०, ह०, ५१, ज०। उपदेसे–भा०, वे०, भ०। ९ का–रा०, ५१, ७४, आ०। कहा–भा०, वे०। १० तासु–७४।

राम गरीबनिवाज के[11] बड़ी[12] बाँह बोल की लाज ।६।
जपहि नाम रघुनाथ को चरचा दूसरी न चालु ।
सुमुख सुखद साहिब सुभी[13] समरथ कृपाल नतपालु ।७।
सजल नयन गदगद गिरा गहबर मन पुलक सरीर ।
गावत गुनगन रामके केहि की न मिटी भवभीर ।८।
प्रभु कृतज्ञ सर्वज्ञ हैं, परिहरु[14] पाछिली गलानि ।
तुलसी तोसों राम सों कछु नइ[15] न जान पहिचानि ।९।

शब्दार्थ—तूं =तुझे । दई =दी । गारि = गाली; दुर्वचन । गारि दई = गाली दी; दुर्वचन कहे; बुरा-भला कहा । दरपन (दर्पण) = आईना; मुँह देखने का शीशा । दर्पणमें मुँह देखना = अपनी योग्यता-अयोग्यताकी जाँच करना —यह मुहावरा प्रायः उस समय बोला जाता है,जब कोई व्यक्ति अपनी योग्यता-से अधिक काम करनेकी इच्छा प्रकट करता है; परन्तु यहाँ नीचता दिखलानेके लिये दर्पणमें मुख देखनेको कहा गया है । हार मानना = अपनी भूल अपना अपराध स्वीकार करना । सुहाना = अच्छा लगना । बाँह बोल = सहायता देने या रक्षा करनेका वचन । लाज (लज्जा) = मान-मर्यादाकी रक्षाका ध्यान वा विचार । = प्रतिष्ठा । चालना = चलाना । चरचा चालना (चर्चा चलाना) = बात छेड़ना या उठाना । = बातचीत करना । यथा 'निज लोक बिसरे लोकपति घरकी न चरचा चालहीं ।' सुमुख = सुन्दर प्रसन्न वदनवाले । = सदा शरणागत-को सम्मुख वा अनुकूल । सुभी (शुभी) = शुभ कल्याणमय स्वभाववाले । नत-पालु = प्रणाम करनेवाले वा शरणागतका पालन करनेवाले; शरणागतपालक । गहबर (सं०गह्वर) = प्रेममें मग्न या बेसुध; प्रेमाकुल; प्रेमपूर्ण जिस अवस्थामें मनभी शिथिल हो जाता है । गदगद(गद्गद) = अधिक हर्ष प्रेम आदिके कारण रुकी हुई अस्पष्ट या असंबद्ध । गलानि (ग्लानि) = पश्चात्ताप; पछतावा ।

पद्यार्थ—अब भी अपनी करनी और श्रीरामजीके कर्त्तव्यों (अर्थात् जो कृपायें उन्होंने तेरे साथ की है उन) को समझनेसे तेरा भला होगा । कहाँ तो तू और कहाँ कोसलराज श्रीरामचन्द्रजी ! (उसपर भी)तुझे सब लोग क्या कहते हैं ?(अर्थात् रामदास कहते हैं । भला तू उनका दास कहाने योग्य है?)।१। तुझ-

११ की—७४ । १२ बड़ी—रा०, ७४, आ० । बड़ि—भा०, वे०, मु० । १३ सुभी—रा०, भा०, वि० । सुधी—आ० । सुमिरु—वे० । १४ परिहरु—रा०, आ०, ह०, ५१ । परि-हरि—भा०, वे । १५ नइ—रा०, मु०, भ०, वै०, ७४ । न ई—भा०, वे०, दीन, वि० ।

परं रीझकर कब उन्होंने तुझे कृतार्थ किया (तुझपर कृपा की) और कब खीझकर तुझको दुर्वचन कहे ? (ज़रा) दर्पणमे मुख देखकर भली भाँति (उत्तम विवेकवुद्धिसे) विचार कर और हृदयमें हार मान ले ।२। अनेकों जन्मोंकी भी बिगड़ी-हुई-के सुधरनेमें आधा पलभी नहीं लगता। 'पाहि कृपानिधि!' (हे दयासागर! मेरी रक्षा कीजिए)-प्रेमसे (ऐसा) कहनेपर श्रीरामजीने किसको साधु नहीं बना दिया ? वाल्मीकि और केवटकी कथायें तथा वानर, भील और रीछोंका सम्मान सुनकर (भी) जो श्रीरामजीके सम्मुख न हुआ, उसको ज्ञानका उपदेश कौन कर सकता है ? ।४। सुग्रीवकी क्या सेवा थी और प्रीतिकी रीतिका क्या निर्वाह किया गया कि उसके भाईको व्याधकी तरह मार डाला?यह वात (व्याधकी तरह मारना) सुनकर (भक्तोंके अतिरिक्त) किसीको भी अच्छी नहीं लगती (अर्थात सभी इसपर दोषारोपण करते हैं) ।५। विभीषणका क्या भजन था और श्रीरघुनाथजीने क्या फल दिया ? (सच्ची वात तो यह है कि) गरीबनिवाज श्रीरामचन्द्रजीको अपने शरणागतरक्षणसबंधी प्रतिज्ञाकी बड़ी लाज है। ६। (अब शिक्षा देते हैं कि इसलिये) तू श्रीरघुनाथजोका नाम जपा कर, दूसरी चर्चा न चला। वे (श्रीरघुनाथजी) सदा सुन्दर प्रसन्नवदन शरणागतानुकूल,शुभ कल्याणमयःस्वभाव वाले, समर्थ, कृपाल और प्रणतपाल स्वामी है ।७। प्रेमाश्रु भरे नेत्र, गद्गद वाणी, प्रेमसे वेसुध हुए विह्वल मन और रोमांचित शरीरसे श्रीरामचन्द्रजीके गुणगण गाते किसका भवभय नहीं मिटा ? (अर्थात् ऐसे सभी गुणगायक भवबंधनसे मुक्त हो गए) ।८। प्रभु (श्रीरामजी)कृतज्ञ(अर्थात् सेवककी कृतिके जाननेवाले एवं थोड़ेही मे बड़ा एहसान माननेवाले) हैं, सर्वज्ञ हैं (उनसे कुछ कहनेकोभी आवश्यकता नहीं)। अपनी पूर्व(कर्मो) की,ग्लानिको त्याग दे। रे तुलसी! (वा, तुलसीदासजी कहते हैं कि) तुझसे श्रीरामजीसे कुछ नई जानपहचान नहीं है ।९।

टिप्पणी—१ 'अजहुँ आपने राम के'' ' इति। (क) पद १९० से जीवको वराबर समझाते और शिक्षा देते चले आ रहे हैं कि एकमात्र श्रीरघुनाथजी सच्चे स्नेही हैं, उनसे स्नेह कर, नेह-नाता स्थापित कर; और पद १९२ में नेह नाता स्थापित होनेका सुगम-उपाय भी बताया कि 'जपु रामनाम दिनराति।' अब प्रस्तुत पदमे हितका और भी उपाय बताते हुए श्रीरामगुणगानका उपदेश देते हैं। अपनी करनी और प्रभुकी करनी (अर्थात् जो उपकार उन्होंने तेरे साथ किये हैं उनको)समझनेसे अबभी भला हो सकता है। यह जीव अपनी करनीको कभी नहीं सोचता, सदा परमात्माको ही दोप लगाया करता है। यदि जीव अपने उस स्वरूपको जो मोहजनित मलसे मायावश होनेसे महामलिन हो गया है सोचे-समझे-विचारे तो उसे परमात्माकी कृपायें भी सूझने लगेंगी। अपनी

विमुखता और इसपरभी प्रभुकी कृपाओंका बराबर होना जिस समय जीवके मस्तिष्कमें आने लगता है, बस उसी समयसे उसके उद्धारका प्रारंभ हो जाता है, दिनोंदिन उसको कृपाही कृपा दृष्टिगोचर होने लगती है और वह प्रभुका हो जाता है—यही 'हित' है। 'अजहुँ' 'समुझन'-के साथ है और 'हित होइ' के साथ भी। अबभी करनीको समझ तो अबभी हित होगा, अभी कुछ गया नहीं है। यथा 'अजहुँ विचारि विकार तजि'' ।१३६(६)।'

अपने कर्तव्यों और श्रीरामजीके उपकारोंका उल्लेख कछ पूरे पद १७१ में कविने किया है। पद ७२ और १४८ मे भी कुछ कहा है। इन्हींको समझना चाहिए; तब सूझ पडता है कि 'ऐसे कुमति कुसेवक पर रघुपति न कियो मन बावों', 'मोहिसे वंचकको कृपाल छल छाडिकै छोह कियो है', 'एनेहु पर हित करत नाथ मेरो'(१७१)।प्रस्तुत पदमे भी आगे कुछ कर्तव्योंका उल्लेख कवि स्वयं कर रहे है।

१ (ख) 'कहँ तू कहँ कोसलधनी' इति। 'कहँ—कहँ'से दोनोमें महदन्तर दिखाते हैं। कहाँ तो तू अर्थात मोहमायावशीभूत विषयी पामर विमुख तुच्छ जीव और कहाँ अखिलभुवनपति ब्रह्माण्डनायक जो जीवोके उद्धारहेत कोसलपुरीके राजा हुए। यथा 'आदि अंत कोउ जासु न पावा।'''महिमा जासु जाइ नहिं बरनी ॥ जेहि इमि गावहिं वेद बुध जाहि धरहि मुनि ध्यान। सोइ दसरथसुत भगतहित कोसलपति भगवान। १।११८।' भाव कि धरती—आकाश वा आकाश-पातालका भी अन्तर कहनेमें लघुता होती है। तुझमें और उनमे जो अन्तर है वह कहा नहीं जा सकता।—'हौं जड़ जीव ईस रघुराया। तुम्ह मायापति हौं बस माया। १५७।' यहां 'प्रथम विषम अलकार' है।

१ (ग) 'तोको कहा कहत सब कोइ?' इति। भाव कि तुझको सब लोग 'रामदास', श्रीरामजीका सेवक कहते हैं। यथा 'लोग कहै रामको गुलामु हों कहावों। ७२।', 'एनेहुं पर तुम्हरो कहावत लाज अँचई घोरि।१५८।', 'नामकी ओट (लै) पेट भरत हों पै कहावत चेरो। जगत विदित बात ह्वै परी समुझिये धों अपनपै लोक कि वेद बड़ेरो। २७२।', 'साँच कै धों झूठ मोको कहत कोउ-कोउ राम रावरो होंहुं तुम्हरो जनु कहावों। २०८।'— तो क्या तू 'रामसेवक' कहलाने योग्य है? पुनः 'कहँ तू'' कोइ'का भाव कि कहाँ तो 'सिव बिरंचि सुर मुनि समुदाई। चाहत जासु चरन सेवकाई। ६।२२।१।' (ऐसे-ऐसे महान् देवता जिनकी सेवा चाहते हैं पर मिलती नहीं); तथा 'हरि हरहिं हरता विधिहि विधिता श्रियहि श्रियता जेहिं दई।' ''ठाकुर अतिहिं बड़ो ''। १३५।'—ऐसे महान् महिमावान् और कहाँ तू? फिरभी सब तुझे श्रीरामजीका सेवक कहते हैं। क्या यह तेरी करनीका फल है? क्या तूने इसपर कभी विचार किया है? तुझे कभी लज्जाभी आई?—'लाज न लागति दास कहावत'। अबभी समझ कि किसकी

करनीसे तू रामसेवक कहलाता है। यह उन्हींकी कृपा है कि उन्होंने तुझे अपना सेवक मान लिया है, इसीसे जन-जनार्दन तुझे सेवक कहता है।['तदीय' अर्थात् यह जीव भगवंत(का)है। 'तू भगवान्का है', क्या यह संबंध सुलभ है? अरे!, यह संबंध बड़े-बड़े योगियोंको भी प्राप्त नहीं होता, पर तुझे यह सौभाग्यसे मिल गया है। (वि०)]

२ 'रीझि निवाज्यो कबहिं तू' इति। (क) अपने और श्रीरामजीके कर्तव्य समझनेकाही प्रसग यहाँभी चल रहा है। विचार कि क्या तुझसे कभी कोई ऐसा कार्य बन पड़ा जिससे प्रभु प्रसन्न हुए हों और प्रसन्न होकर तुझपर कृपा की हो? और यह भी बिचार कि तेरी खिझानेवाली नित्य करनीको देखकर भी क्या उन्होंने कभी खीझकर तुझे बुरा-भला कहा? विचारनेपर समझमें आ जायगा कि इन दोनोंमेंसे कोईभी बात नहीं हुई। रीझनेका कोई काम किया ही नहीं, प्रत्युत खिझानेवाले आचरण बराबर किये है, यह प्रार्थीने अन्यत्र स्वीकार भी किया है। यथा 'तुलसिदास प्रभु सों गुन नहिं जेहि सपनेहु तुम्हहिं रिझावों। १४२।', 'जेहि गुन तें बस होहु रीझि करि सोहि सो सब बिसर्‌यो। ९१।', 'स्वाँग सूधो साधुको कुचालि कलि ते अधिक, परलोक फीकी मति लोक-रँग-रई। खीझिबे लायक करतब कोटि-कोटि कटु। २५२।', 'तो हौं बार बार प्रभुहि पुकारिकै खिझावतो न जो पै मोकों होतो कहूँ ठाकुर ठहरु। २५०।' खीझनेपर भी गाली नहीं दी, अर्थात् तेरा अपमान दूसरों द्वारा नहीं कराया, दूसरे तुझे बुरा-भला कहते ऐसा नहीं होने दिया। भाव यह कि दोष देखकरभी तेरा त्याग नहीं किया। इसमें 'परिहरै को दूषन देखि' १९१ (५) का भाव है। जब रिझानेका कोई काम नहीं किया, उल्टे खिझाता ही रहा, तब तुझे 'रामसेवक' कहलवाना यह प्रभुकी अहैतुकी कृपा नहीं तो और क्या है?-क्या तू इस योग्य है? ज़रा अपना मुँह तो देखे!

२ (ख) 'दरपन बदन निहारि कै' इति। जैसे मनुष्यको अपना मुख अपनेसे नहीं देख पड़ता, उसको देखनेके लिये दर्पणकी अपेक्षा होती है; वैसेही जीवको अपने दोष अपनेसे नहीं देख पड़ते, उनको देखनेके लिये 'सुबिचार' (सुन्दर विवेक-बुद्धि)रूपी दर्पणकी आवश्यकता है। अतः कहते हैं कि तू तनिक सुन्दर विवेक बुद्धिसे देख, तो तुझे अपनी अयोग्यता और योग्यता सब स्पष्ट हो जायगी। तुझको सूझ पड़ेगा कि तेरी करनीपर ध्यान न देकर प्रभुने तुझपर बराबर दयाही की है। यह देखकर 'मानु हिय हारि' अर्थात् चेत जा, पश्चात्ताप कर। तो 'अजहुँ करतब समुझत हित होइ'।

नोट—मेरी समझमें जो भाव है वह मैंने लिखा। टीकाकारोंके भाव सुनिए।—

१ (पं० रामकुमारजी)— भाव कि "दर्पणमे अपना मुख जैसा है, वैसाही

दिखाई देता है। इसी प्रकार जैसा अपना भाव है,वैसाही श्रीरघुनाथजी देख पड़ते हैं। वे तो एकरस हैं—'सनमुख विमुख न काहुहि काऊ।' हार मान ले अर्थात स्वीकार कर ले कि यह बात ऐसी ही है।"

२ (बैजनाथजीके भाव वियोगीजीके शब्दोंमे)—विवेकरूपी दर्पणमें देखनेसे यह प्रकट हो जायगा कि जो तूने कभी भगवानकी सेवा की होगी तो वे प्रसन्न हुए होंगे। यदि नहीं हुए तो समझ ले कि तूने कभी उनकी सेवा ही नहीं की और जो तुझे गालियाँ मिली हों, तो तुझसे सेवामे अवश्य कोई चूक पड़ गई होगी। अबसे ही सही, भविष्यमें भगवानको सदा प्रसन्न रख, अप्रसन्नताका कभी अवसर ही न आने दे। अभी जो तू उनपर वृथा दोषारोपण कर रहा है, वह सब विवेकपूर्वक विचार करनेपर भ्रम मालूम होगा, क्योंकि भगवान् न्याय ही करते हैं,अन्याय नहीं।"

३ (भट्टजी, वीरकविजी)—"रामजीने तुझे प्रसन्न होकर कब निहाल किया है और क्रोधित होकर कब गाली दी है। तूने तो आपही सुंदर विचाररूपी दर्पणमे मुख देखकर हृदयमे हार मान ली है। अर्थात अपने **कर्मोंको** देखकर आपही डर गया है कि मैं शरणयोग्य नहीं हूँ।" (यह भाव ह्रु० की टीकाका भट्टजीके शब्दोंमे है)।

टिप्पणी—२ 'बिगरी जनम अनेककी ' इति। हार स्वीकार कर लेनेपर अब आगेका मार्ग बताते हैं कि पश्चातापमें ही समय न बिता दे। हताश होनेका काम नहीं, तुरत प्रेमपूर्वक 'पाहि कृपानिधि!' कहते हुए उनके सम्मुख हो जा। बस, इतना कहते ही तेरी अनादि कालसे अनेको जन्मोकी बिगड़ी हुई तत्काल सुधर जायगी। आधा पलभी न लगेगा। प्रमाणमे कहते हैं—'को न राम कियो साधु?' अर्थात तू ही बता कि कोई भी ऐसा है जिसने प्रेमसे 'पाहि कृपानिधि' कहा हो और साधु न बना लिया गया हो? भाव कि यह तो उनकी प्रतिज्ञा ही है। यथा 'सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं। ५।४४।२।', 'जौं नर होइ चराचर द्रोही। आवै सभय सरन तकि मोही॥ तजि मद मोह कपट छल नाना॥ करउँ सद्य तेहि साधु समाना।५।४८।' 'पाहि' शब्द सभीत होनेका भाव सूचित करता है। श्रीरामजी इतनेमे ही साधु बना लेते हैं। 'पाहि ' मात्र से साधु बना दिये जानेके उदाहरण विभीषणजी हैं। वे 'त्राहि त्राहि आरतिहरन' कहते हुए शरण हुए थे। (५।४५)। उनसेही प्रभुने कहा था—'आवै सभय सरन तकि मोही।' करउँ सद्य तेहि साधु समाना।' सो उनको प्रभुने प्रातः स्मरणीय बना दिया। इसीपर उनकेही प्रसंगमे कविने गीतावलीमें भी कहा है—"दास तुलसी सदय हृदय रघुबंसमनि, 'पाहि' कहे काहि कीन्हो न तारन तरन।५।४३।'साधु तारण-तरण होते ही है।

☞ यहाँ 'सौलभ्य' गुण दिखाया।

४ 'वालमीकि केवट कथा ...' इति। (क) 'सुनि सनमुख जो न' कहनेका भाव कि इनकी कथा और इनका सम्मान जो सुनता है, उसे प्रभुके पतितपावन अवगोद्धारण, कृपा-दया-करुणा, शील, शरणागतवात्सल्य तथा बिनु हेतु स्नेही आदि गुणगणोंका भरोसा और रक्षामें पूर्ण विश्वास हो जाता है। जिससे वह अविलंब रामसम्मुख हो जाता है। यदि सुननेपर भी सम्मुख नहीं हो तो समझना चाहिए कि वह महान् अभागा है; यथा 'समुझि मोरि करतूति कुल प्रभु महिमा जिय जोइ। जो न भजै रघुबीर पद जग बिधि वंचित सोइ। २।१९५।' साधु बना देनेके और भी उदाहरण आगे देते है।

४ (ख) 'वालमीकि केवट ...'—वाल्मीकिजीकी कथा ५७(३ च) तथा ९४(३ घ) में और केवटकी कथा १०६ (२) मे आचुकी है। ये कैसे थे और श्रीरामजीकी कृपासे क्या हो गए; यह भी कथासे स्पष्ट है। कह आये हैं —'व्याध अपराध-की साध राखी कौन? ' सबको साधु किये सुछना लेसु कैसो। १०६।' केवट, वानर, भील और भालुके आचरण और आदर भी देखिए—'गुह गरीब गत ज्ञातिहूं जेहि जिव न भखा को। पायो पावन प्रेम ते सनमान सखा को। १५२।', 'भेंट्यो हृदय लगाइ प्रेमबस नहिं कुल जाति बिचारी। १६६।', 'उपल केवट कीस भालु निसिचर सबर गीध सम-दम-दया-दान हीनें। नाम लियें रामु किए परम पावन, तरत नर तिन्हके गुन गान कीन्हे। १०६।'—इस पदका आरम्भ ही है, 'महाराज रामादर्यो धन्य सोई। गरुअ गुनरासि सर्वज्ञ सुकृती सूर सीलनिधि, साधु तेहि सम न कोई।' 'यहाँ भील' से कोल किरात भीलोंसे तात्पर्य है। इनका आदर सम्मान देखिए —'कोल किरात भिल्ल बनबासी' अवध-वासियोंसे अपनी दशा कहते हैं कि 'हम जड़ जीव जीवगन घाती। कुटिल कुचाली कुमति कुजाती॥ पाप करत निसि बासर जाहीं। ' सपनेहु धरमबुद्धि कस काऊ।' हम जो आपकी सेवा करनेको प्रस्तुत हैं, यह हमारा स्वभाव नहीं है, यह तो 'रघुनंदन दरस प्रभाऊ' है। वक्ता कहते है कि अवधवासी 'नर नारि निदरहिं नेहु निज सुनि कोल-भिल्लनिकी गिरा। तुलसी कृपा रघुबंसमनि की लोह लै लौका तिरा। २।२५१।'—कितना भारी सम्मान है! वानर भालुओं-के संबंधमें पूर्व कह आए हैं—'असुभ होइ जिन्हके सुमिरे तें बानर रीछ बिकारी। वेद बिदित पावन किये ते सब, महिमा नाथ तुम्हारी। १६६।' इनका सम्मान कैसा कुछ हुआ कि 'तरत नर तिन्हके गुन गान कीन्हे। १०६।', 'मोहि सहित सुभ कीरति तुम्हारी परम प्रीति जो गाइहैं। संसारसिंधु अपार पार प्रयास बिनु नर पाइहैं। ६।१०५।' इत्यादि। पूर्व ये प्रसंग आचुके हैं।

४ (ग) वाल्मीकि केवट, कपि भील और भालुकी कथाओंसे स्पष्ट हो जाता

है कि श्रीरामजी कैसे दीनहितकारी, पतितपावन, गरीबनिवाज, निराधारको आधार, करुणाभवन, शील-सिंधु और केवल सम्मुख होने मात्रसे उद्धार करने-वाले हैं। इनके प्रसंगोमें ये गुण पिछले पदोंमें कविने दिखायें हैं। यथा 'ऐसे राम दीन हितकारी।'– (इसं गुणके उदाहरणमें 'हिंसारत निषाद', 'कपि सुग्रीव' और 'वानर रीछ विकारी' आदि दिये गए है। पद १६६);, 'नाम लिये राम किए परम पावन सकल', 'राम कहें नीच ह्वै ऊँचे पद कै न पायो' तथा 'मैं हरि पतितपावन सुने'– (इस गुणके उदाहरण कोश, केवट, भालु, कोल, भिल्ल और व्याध आदि हैं। पद १०६, १६०); 'बिरुदु गरीबनिवाजु रामको'–(इसमें कपि, कोल-किरात, आदिकवि आदिके नाम आये हैं। पद ९९); 'निराधारको अधार दीनको दयालु को?'–(यह कपि, केवट, भालु तथा रंक निगुणी नीचों पर कृपाके संबधसे कहा है और अंतमे 'सीलसिंधु ढील तुलसीकी बार भई है' कहकर सूचित किया है कि शील-गुणसे इन सबोंपर कृपा हुई है। पद १८०) और 'सनमुख तोहि होत नाथ कुतरु सुफल फरत'—(इसमे केवटआदिके नाम आये हैं। पद १३४)।

४ (घ) 'सुनि' से जनाया कि सन्तोंसे सुनना चाहिए, भगवत्-भागवतोकी कथा संतसमाजमे ही होती है। वे भगवान्‌के गुणोंको दरसाते चलते हैं, जिससे भगवान्‌में श्रोताको प्रेम होता है और वह प्रभुके सम्मुख हो जाता है। कहा भी है—'बिनु सतसंग न हरिकथा तेहि बिनु मोह न भाग। ७।६१।', 'जगमंगल गुनग्राम रामके। ·· जननि जनक सियराम प्रेमके। १।३२।' गुणग्रामोंके श्रवण-मात्रसे मन प्रसन्न हो जाता है, शरीर पुलकित हो जाता है, नेत्रोमें प्रेमाश्रु आ-जाते हैं; यथा 'सुनत सीतापति सील सुभाउ। मोद न मन तन पुलक नयन जलु सो नर खेह खेर खाउ। १००।'–(इस उद्धरणमें श्रीरामजीका गुण सुनकर जिनके मनमे आनंद नहीं होता; उनकी गणना किनमें है, यह बताया गया है और इससे जनाया है कि सुननेसे आनंद और प्रेम होना चाहिए)। इसी प्रकार दोहावली ४३, ४४, ४५ मे भी गुणश्रवणमात्रसे हृदयका द्रवीभूत होना, नेत्रोंमे प्रेमाश्रुका भर जाना सूचित किया गया है। यथा 'हृदय सो कुलिस समान जो न द्रवइ हरिगुन सुनत।', 'स्रवैं न सलिल सनेहु तुलसी सुनि रघुबीर जस।' ते नयना जनि देहु राम करहु बरु आँधरो।' इत्यादि।

सुनकरभी जो सम्मुख नहीं होता, अर्थात् उनकी भक्ति नहीं करता, उनकी शरण नहीं जाता, उसको ज्ञानोपदेश कौन कर सकता है? भाव यह कि उसको ज्ञान कदापि नहीं हो सकता, उसका जन्म व्यर्थ है, वह जड़ है, मूढ है, अभागा है, उसका कल्याण कभी नहीं हो सकता। यथा 'तुलसी राम सनेह सील सुनि जों मैं भगति उर आई। तौ तोहि जनमि जायं जननी जड़ तनु तरुनता गँवाई।१६४।'

मूरुख हृदय न चेत जौं गुर मिलहि बिरंचि सम। दो० ४८४।' 'जौंपै मूढ़ उपदेस के होते जोग जहान। क्यों न सुजोधन बोध के आए स्याम सुजान। दो० ४८३।', 'तुलसी ऐसे प्रभुहि भजै जो न ताहि बिधाता बाम।१५७।'

५ 'का सेवा सुग्रीव की' ' इति। (क) श्रीहनुमान्‌जीने विनय की-थी कि सुग्रीव दीन है, उसे सनाथ कीजिए। यथा 'दीन जानि तेहि अभय करीजे।४।४।३।' इतनेसे ही आपने उसके यहाँ जाकर उसे अपनाया। सुग्रीवने केवल प्रणाम ही तो किया था, यथा 'सादर मिलेउ नाइ पद माथा।४।४।७।' उनका दुःख सुनकर दीनदयालने वालिको एकही बाणसे मारनेकी प्रतिज्ञा कर दी और अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण की। सुग्रीवने प्रतिज्ञा की-थी कि 'सब प्रकार करिहउँ सेवकाई।४।५।' पर वह स्त्री और राज्य पाकर विपयासक्त हो गया। यथा 'रामकाज सुग्रीव बिसारा। ४।१६।१।', 'सुग्रीवहुँ सुधि मोरि बिसारी। पावा राज कोस पुर नारी।४।१८।'-यह सुग्रीवके 'प्रीतिरीति निर्वाह' की दशा थी।

५ (ख) 'बध्यो व्याध ज्यो '—यह दोप स्वयं बालिने लगाया था; यथा 'मारेहु मोहि व्याधकी नाईं।४।९।५।' आजभी लोग यह आक्षेप करते है, इससे स्पष्ट है कि लोगोको 'व्याधकी नाईं' वालिका वध किया जाना अच्छा नहीं लगता। परन्तु उन्होने इसकी किंचित् पर्वाह न की; अपने दीनजनपालक, शरणागतरक्षक, गरीबनिवाज़ आदि विरुदावलीकी रक्षा की। पद १६६ के 'सहि न सके दारुन दुख जनके, हत्यों बालि सहि गारी। १६६ (७)।' का भाव भी यहां है।

६ 'भजन विभीषन को कहा' ' इति। इसमे पद १६६ के 'रिपुको अनुज बिभीषन निसिचर कौन भजन अधिकारी। सरन गये आगे ह्वै लीन्हों भेंट्यो भुजा पसारी। (८)।', 'नमत पद रावनानुज निवाजा।४३ (७)।', 'अपनाये सुग्रीव विभीपन तज्यो न तिन्ह छल-छाउ।१००।' तथा 'कहा बिभीपन लै मिल्यो कहा दियो रघुनाथ। तुलसी यह जाने बिना मूढ़ मीजिहैं हाथ। दो० १६५।' के ही सब भाव है। तात्पर्य कि विभीषणजी खाली हाथही तो आकर मिले थे, 'त्राहि त्राहि आरतिहरन' कहते हुए शरण हुए थे। इतनेमात्रसे उनको अविचलराज्य और भक्ति प्रभुने देदी और प्राणोके समान उनकीरक्षा की। इसकाकारणबतातेहै कि 'राम गरीबनिवाजें के '।' अर्थात विभीषणजी दीन थे, उनकी दीनता उनकी गरीबी देखकर उनपर इतनी भारी कृपा की; क्योकि वे गरीबनिवाज है। 'गरीबनिवाज' उनका बाना है—'विरुदु गरीबनिवाजु राम को। ९९।' उनको अपने बिरुदकी, शरणागतरक्षणकी प्रतिज्ञाके निर्वाहकी बड़ी लाज है। विभीषणजी 'दीनहित' विरदकाही आश्रय लेकर शरण आयेथे; यथा 'दीनहित बिरद पुराननि गायो। आरतबंधु कृपाल मृदुलचित जानि सरन हौं आयो। गी० ।५।४४।'

[वैजनाथजी अर्थ करते हैं कि "अपने बोलकी और बाँह देनेकी बड़ी लाज है। सुग्रीवको बाँह दे शरणमें रक्खा। वालिको मारनेका वचन दिया, सो उसको मारकर सुग्रीवको राजा बनाया। तथा विभीषणको बाँह देकर रक्खा, 'लंकेश' कहकर संबोधित किया, यथा 'कहु लंकेस सहित परिवारा। कुसल कुठाहर बास तुम्हारा।५।४६।४।' और रावणको मारकर इनको राजा बनाया, सब सुख दिये इति 'लाज' है"] 'बाँह बोल' का प्रयोग अन्यत्रभी हुआ है। यथा 'तुलसी नमत अवलोकिये बलि बाँह बोल दै बिरुदावली बुलायो।२७६।', 'बाँह बोल दै थापिये जो निज बरिआई। बिनु सेवा सो पालिये सेवक की नाई।३५।' इत्यादि।

७'जपहि नाम रघुनाथ को....' इति। (क) अन्तरा ३ मे सौलभ्य और अन्तरा ४, ५, ६ मे कुछ शरणागतोंके कर्तव्य और प्रभुने उनके साथ क्या किया यह दिखाकर जीवको प्रभुके 'गरीबनिवाज' विरदकी शरण लेनेकी सूझ दी। सम्मुख जीवका क्या कर्तव्य है यह अब बताते हैं। श्रीरघुनाथके नामका जप कर, यही शिक्षा पिछले पदमें भी दी थी, यथा 'तुलसी तू मेरे कहे जपु रामनाम दिनराति।' दिन-रात जप तभी संभव है, जब दूसरी चर्चा न हो। अतः कहते हैं कि 'चरचा दूसरी न चालु'। दूसरी चर्चा क्या है,—यहभी पूर्व बता आये हैं। यथा 'जेहि रसना गुन गाइ तिहारे बिनु प्रयास सुख पावो। तेहि मुख पर-अपवाद भेक ज्यों रटिरटि जनम नसावों।१४२।', 'हारहि जनि जनम जाय गाल गूल गपत।१३०।' तथा आगेभी कहा है, यथा 'निसि-दिन परअपवादकथा कत रटि-रटि राग बढ़ावहि।', 'बाद-बिबाद-स्वाद तजि भजि हरि सरल चरित चितु लावहि' (२३७)। अर्थात पर-अपवाद, गप्प-गुल-गपाड़ा, वाद-विवाद आदि छोड़कर नाम जप। पुनः पिछले पदमें जो कहा है कि 'वेद विहित साधन सबै सुनियत दायक फल चारि', 'नाना पथ निरवान के नाना बिधान बहु भाँति।' यहभी 'दूसरी चर्चा' है, इनमें न लग, इनकी चर्चाभी न आनी चाहिए। तात्पर्य कि अन्य साधनोंका भूलकरभी ध्यान न आने पावे।

७ (ख) 'सुमुख सुखद साहिब सुधी....' इति। उन्हींका अनन्यभावसे नाम क्यों जपें, इसका कारण बताते हैं। वे सदा प्रसन्नवदन हैं, जनके दोष देखकर भी खीझते नहीं, ऊँच नीच सभीका सम्मान सुन्दर वाणीसे करते हैं, इत्यादि सब भाव 'सुमुख' मे हैं। यथा 'सावधान सबहीं सनमानहिं।' 'सीलसकोचसिंधु रघुराऊ। सुमुख सुलोचन सरल सुभाऊ।२।२७४।' सुखद हैं अर्थात् शरणागतको सब प्रकारसे सुखदेते हैं। जैसे कि ध्रुव, प्रह्लाद, विभीषण और सुग्रीव आदिको सुख दिया। पद्यार्थमे विशेषणोके अर्थ आचुके है। यहभी जनाया कि ऐसा समर्थ कृपाल मंगलकल्याण करनेवाला स्वामी दूसरा नहीं है। प्रमाण पूर्व पदोमे आगए हैं।

८ 'सजल नयन गदगद ....' इति। श्रीरामगुणगणके गानसे मनुष्य भवपार हो जाता है। यथा 'गाइ रामगुनगन बिमल भव तर बिनहिं प्रयास। ७।१०३।' और सजल नयन आदि होकर प्रेमसे गान करनेसे तो श्रीरामजी वशमे हो जाते हैं, यथा 'मम गुन गावत पुलक सरीरा। गदगद-गिरा नयन बह नीरा॥ काम आदि मद दंभ न जाकें। तात निरंतर बस मैं ताके। ३।१६।११-१२।', तब भव-भय कहाँ रह सकता है? हां, शर्त यह है कि वह प्रेम नाटक दिखानेवालेका सा न हो। 'केहि की न मिटी'—भाव कि सभीका भवभय ऐसा गुणगान करनेसे मिट गया, तब तेरी भवभीर क्यों न मिट जायगी?

९ 'प्रभु कृतज्ञ सर्वज्ञ हैं ...' इति। (क) कृतज्ञ अर्थात् उपकारज्ञ हैं, किये हुए उपकारको भली भाँति मानते हैं और एकही उपकारसे कदाचित् प्रसन्नभी हो जाते हैं। वे एक प्रणाम मात्रको बहुत मानकर उतनेसे ही संकोचमें पड़जाते हैं कि मैं इसकी क्या इच्छा पूरी करूं; यथा 'त्यों न राम सुकृतज्ञ जे सकुचत सकृत प्रनामें कियेहूँ।१७०।'पुनः भाव कि प्रणाममात्रसे वे बड़ा एहसान मानने लगते हैं, यथा 'सकृत प्रनाम प्रनतजस बरनत सुनत कहत फिरि गाउ।१००।' सर्वज्ञ हैं अर्थात् वे सब कुछ जानते हैं कि तू अबतक मायाके वशीभूत काल-कर्म-गुण-स्वभावके घेरेमे पड़ा था, बेबस था, इसीसे अबतक शरणमें न आ-सका था, अब संतकी कृपासे तुझे ग्लानि हुई है। इत्यादि। (ख)- 'परिहरु पाछिली गलानि' अर्थात् इसका पश्चात्ताप अब न कर कि मैंने सारी आयु महान् पापों और सांसारिक विषयोमे गँवा दी, क्या मुँह लेकर प्रभुके समीप जाऊँ। जो आयु रह गई इसको हाथसे न जाने दे, पश्चात्तापमें ही समय न खो, तुरत उनके सम्मुख हो जा। (ग)- 'तो सो राम सों कछु नई न जानपहिचान' इति। भाव यह कि जिससे पहलेकी जान-पहचान नहीं होती, उसके पास जाने-मे नये मनुष्यको संकोच होता ही है और फिर जिसका अपराध किया हो, जिससे सदा विमुख रहा हो, उसके सामने जानेमे जो संकोच होता है, उसका कहनाही क्या? इसीसे उसे समझाते हैं कि तेरी उनसे बहुत पहलेकी जान-पहचान तथा नाते हैं, तू भूल गया है किन्तु वे नहीं भूले हैं, वे जानते हैं। जीवका परमात्मासे अनादिकालसे संबंध है, अंश-अंशी, सेवक-सेव्य आदि अनेक संबंध हैं।— 'तोहि मोहि नातो अनेक' ७९ (४) देखिए।

नोट— यह विनय 'विचार भूमिका' तथा 'आश्वासन भूमिका' से है।

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

१९४

जौं अनुराग न राम सनेही सों।

तौ लह्यो लाहु कहा नर देही सों।१।

जो तनु धरि परिहरि सब सुख भये सुमति राम अनुरागी।
सो तनु पाइ अघाइ किये[1] अघ-औगुन[2] अधम[3] अभागी।२।
ज्ञान बिराग जोग जप तप मख जग मुद-मग नहिं थोरे।
राम पेम बिन नेम जाय जैसें[4] मृगजल जलधि हलोरे[5]।३।
लोक बिलोकि पुरान बेद सुनि समुझि बूझि गुर ज्ञानी।
प्रीति प्रतीति राम-पद-पंकज सकल सुमंगल खानी।४।
अजहुँ जानि जिय मानि हारि हिय होइ पलक महँ नीको।
सुमिरु सनेह सहित हित[6] रामहिं मानु[7] मतो तुलसी को।५।

शब्दार्थ—लह्यो = प्राप्त किया; पाया। लाहु = लाभ। देही = शरीर;तन; देह। सुमति = सुन्दर बुद्धिवाले; बुद्धिमान। अघाइ = पेट भरकर;जी भरकर; भरपेट; मनमाने। यथा 'दीन सब अंगहीन छीन मलीन अघी अघाइ।४१।' औगुन = अवगुण;अपराध;खोटे कर्म। नेम = नियमपूर्वक साधन। थोरे = थोड़े। हलोरे = लहरें; यथा 'सोहैं सितासितको मिलबो तुलसी हुलसै हिय हेरि हलोरे। मानों हरे तृन चारु चरैं बगरे सुरधेनु के धौल कलोरे।' पुनः;हलोरना = डुबकी लगाना यथा 'इत अवधेस उतहि मिथिलापति,भरत अंक सुखसिंधु हिलोरी। गी० १।१०५।'

पद्यार्थ—यदि स्नेही श्रीरामचन्द्रजीसे प्रेम नहीं हुआ तो नरतनसे (तूने) क्या लाभ प्राप्त किया ? (अर्थात् तेरा मनुष्य शरीर व्यर्थ ही गया) ।१। जो (नर-) शरीर धारणकर सुन्दर बुद्धिवाले सारे सुखोंको छोड़कर रामानुरागी हो गए, वही शरीर पाकर, अरे अधर्मी (नीच)! अरे अभागी! तूने भरपेट पाप और अवगुण (ही) किये।२। ज्ञान, वैराग्य, योग, जप, तप और यज्ञ (आदि) आनंद(प्राप्ति)के मार्ग संसारमे कुछ थोड़े नहीं हैं(अगणित हैं। परन्तु)विना रामप्रेम-के (सब सुखसाधनोंके) अनुष्ठान वैसेही व्यर्थ है जैसे मृगतृष्णाजलके समुद्रकी लहरें वा उनका हिलोरना (व्यर्थ है, भ्रममात्र है)। ३। लोकको देखकर वेद-

१ कियेउ—७४। २ औगुन—रा०, ह०, ज०। अवगुन—भा०, वे०। ३ उदधि—दीन, वि०। अधम-औरोंमें। ४ जस— मु०, ७४। ५ हिलोरे-भा०, वे०, मु०, ७४, आ०। हलोरे-रा०, ह०, प्र०। ६ हित रामहिं—रा०,५१, आ०। सीतापति-भा०, वे०, ७४। सीतावर-प्र०। ☞उपक्रमसे 'रामसनेही' है, अतः उपसंहारमे 'हित रामहि' उत्तम पाठ है। ७ मानि—५१, ७४। मानु-रा०, भा०, वे०, ह०, आ०।

पुराणोंको सुनकर और ज्ञानवान् गुरुजनोंसे बूझकर समझ ले, श्रीरामजीके चरणकमलोंमें प्रेम और विश्वास(करना ही)संपूर्ण सुन्दर मंगलोंकी खान है॥४॥ अबभी जीसे जानकर, हृदयमें हार मानले (अर्थात अपनी भूल स्वीकार कर लें। तो), पलकमात्रमें (तेरा) भला हो जायगा। 'प्रेमपूर्वक हितैषी (स्नेही) श्रीरामजीका स्मरण कर'—तुलसीदासका यह मत (सम्मति, सिद्धान्त, सलाह) मान ले ।५।

टिप्पणी—१ 'जौं अनुराग न राम सनेही ' इति। (क) 'अनुराग' का भाव कि 'राग' जो सांसारिक विषयो, शरीरसंबंधियों, माता-पिता-स्त्री-पुत्र-भाई-बंधुओ आदिमें फैला हुआ है वह सिमटकर सूक्ष्म अणुरूप धारण करले, सर्वत्रसे बटुरकर एकमात्र श्रीराममें हो जाय। ऐसा मन कर्म-वचनसे प्रेम श्रीराममें होना 'अनुराग' होना है। 'जौं अनुराग न०' से जनाया कि इनसे अनुराग करना ही परम कर्तव्य है। पद १९० मे समझाया था कि श्रीराम ही एकमात्र स्वाभाविक सच्चे स्नेही है, तूने उनसे 'सहज सनेह' नहीं किया,इसीसे तू भवका अधिकारी हुआ, उनसे प्रेम न करनेसे तेरे हितकी हानि है। यथा'सहजसनेही राम सों तैं कियो न सहज सनेहु। ताते भवभाजन भयो '।','को न गयो को न जात है को न जैहे करि हित हानि।' (१९०)।' फिर पद १९१ मे समझाया कि एकमात्र वेही सच्चे स्नेही हैं, उनके समान 'प्रेमकनोड़ा' दूसरा नहीं। पद १९२ में समझाया कि उनसे नाता नेह न होनेसे स्वार्थ परमार्थ दोनोकी हानि है। और अब समझाते हैं कि। और हानिकी तो बातही क्या, जन्मही व्यर्थ हो जाता है। श्रीराम कैसे स्नेही है, यह 'राम सनेही सो तैं न सनेह कियो' १२५ (१ क), 'सहज सनेही राम ' १९० (१ क) तथा पद १९१ मे कह आये है।

१ (ख)'तौ लह्यो लाहु कहा नरदेही सो' इति। भाव कि नरतनका लाभ एकमात्र श्रीरामानुराग है, यदि नरशरीर मिलनेपर श्रीरामजीमे अनुराग न प्राप्त

※अर्थान्तर— १ ज्ञानियोसे समझबूझकर श्रीरामजीके चरण कमलोंमे प्रेम और भरोसा कर जो सब कल्याणोंकी खान है। (रा० कु०, भ०, वि०)। दीनजीने 'वेदोंको सुन समझकर' और पं० रामकुमार एवं भट्टजीने 'समुझि बूझि' का अन्वय 'गुरुज्ञानी' के साथकर 'ज्ञानी पुरुषोसे समझ बूझकर'— ऐसा अर्थ किया है। मेरी समझमें आगेके'अजहुँ जानि जिय '"से जान पड़ता है कि कर्तव्यका उपदेश आगे है, अभी श्रीरामपदप्रेमका प्रभाव (महिमा) आदि ही कह रहे हैं। इसीसे मैंने 'समुझि' का अर्थ 'समझ ले' किया है। जैसे 'सुनि मन मूढ़ सिखावन मेरो' में 'सुनि' = सुन। 'समझ ले' के बदले 'समझ कर' भी अर्थ करलें तो भी संगव अगले अंतरासे ठीक बैठ जाता है। —'समझकर कि प्रीति " सुमंगल खानि है, अजहुँ जानि '।

जनोसे बूझनेसे वेभी यही सिद्धान्त करेंगे कि श्रीरामपदकमलमें प्रेम और विश्वास अत्यन्त मंगलकारी है। अतः उनमें प्रेम करनाही जीवका कर्तव्य है। यथा 'सिव अज सुक सनकादिक नारद। जे मुनि ब्रह्मबिचार बिसारद। सबकर मत खगनायक एहा। करिअ रामपदपंकज नेहा। ७।१२२।' 'लोक बिलोकि''''कथन का भाव कि फिर तू भ्रममें न पड़ेगा; यथा 'तुलसी सुनि जानि बूझि भूलहि जिनि भरम। १३१।

४ (ख) 'प्रीति प्रतीति रामपदपंकज'' इति। प्रभुके चरणोंमें, उनके नाम आदिमें प्रेम सुमंगलोंका उत्पन्न करनेवाला है। यथा 'सकल सुमंगलमूल जग रघुबरचरन-सनेह।२।२०७।', 'देखेउँ पाँय सुमंगलमूला।२।३००।२।', 'जासु नाम पावक अघ-तूला। सुमिरत सकल सुमंगलमूला।२।२४८।२।', 'रघुपति भगति सुमंगलमूला।२।२४३।७।' पूर्वभी कह आये हैं कि श्रीरामानुरागीही बड़भागी माने जाते है। यथा 'रामनाम गति रामनाम मति रामनाम-अनुरागी। ह्वै गये हैं जे होहिंगे तेइ तिभुअन गनिअत बड़भागी।६५।' श्रीरामजीमें विश्वास और प्रेम होनेसे रामानुरागी सुमंगलमय हो जाते हैं, यही बड़भागी होना है। प्रीतिके साथ दृढ़ विश्वासभी आवश्यक है।१८४ (५ख) देखिए। क्योंकि 'बिनु बिस्वास भगति नहिं तेहि बिनु द्रवहिं न राम। ७।९०।' विश्वास रहना चाहिए कि श्रीरामजीमें प्रेम करनेसे सब प्रकारसे मेरा कल्याण अवश्य होगा। १३० (५क) भी देखिए।

५. 'अजहुँ जानि जिय'' '' इति। 'अजहुँ०'-'अजहूँ विचारि बिकार तजि। १२६ (९)।' तथा 'अजहुँ आपने-रामके करतब समुझत हित होइ।१६३ (१)।' का भाव यहांभी है। 'मानि हिय हारि'—'दरपनु बदनु निहारि कै सुबिचारु मानु हिय हारि।'१६३ (२ख) तथा शब्दार्थ देखिए। 'होइ पलक महँ नीको' मे 'बिगरी जनम अनेक की सुधरत पल लगै न आधु।१६३ (३)।' का भाव है। पलक = वह समय जो एक बार पलक (आँखके परदे) के गिरनेमें लगता है। पलक मारनेमें जितना समय लगता है। अर्थात् अत्यन्त अल्प काल। 'सुमिरु सनेह सहित हित रामहि' में 'जपहि नाम रघुनाथको चरचा दूसरी न चालु। सुमुख सुखद साहिब सुभी समरथ कृपालु नतपालु।१६३ (७)।' तथा 'सुमिरु सनेह सहित सीतापति। रामचरन तजि नहिन आन गति। १२८ (१)।' के भाव हैं। वे समर्थ कृपाल शुभी सुखद स्वामी हैं, उनको छोड़ शरण देनेवाला कोई नहीं है—यह 'हित' विशेषणसे जनाया।

☞ यह विनय 'विचार तथा आश्वासन भूमिका' से है।

मू० शुक्ल—"आशय यह है कि जो तीनो कालोंमें बंध, मोक्षसे अलग है, उसके लिये साधना कहाँ? किन्तु जबतक देहाभिमान है, तभीतक उसके दूर

करनेकी ज्ञान वैराग्यादि अनेक साधनायें हैं, वह भी लक्ष्यरूप परमात्मामें प्रेमभाव करते हुए सिद्धिदायक है, लक्ष्यरूप परमात्माका प्रेम छोड़केवल ज्ञान वैराग्यादि साधनोंका दास बन जाना तो व्यर्थ क्लेश उठाना और फिर पतित होना होता है।" ।

"कठिनतासे उत्तम स्थान (ज्ञानमार्ग) पर चढ़ आपके चरणोंका निरादर करनेवाले फिर नीचे गिरते हैं। (जिन्हें आत्मतत्त्वमें प्रेम नहीं है, ज्ञान-वैराग्यादि साधनाकोही लक्ष्य समझते हैं, ये यथार्थ लक्ष्य परमात्माको भुला देनेसे फिर मायाके वश होकर नीच योनियोमें पतित होते हैं) । इसलिये भगवान्में प्रेम होनाही मुख्य है और साधनाभी मुख्य वेही हैं जिनके द्वारा भगवान्में प्रेम हो।"

"संसारमें ज्ञान, वैराग्य आदि आनन्दमयी मार्ग बहुत है, जोकि अन्तःकरणको निर्मल करते हैं, पर वास्तवमें येभी मृगतृष्णा सरीखे मिथ्याही हैं, क्योंकि शुद्धचैतन्यात्माराम निर्विकार है,उसके लिये कोई साधना नहीं है, किंतु प्रियरूपसे सर्वत्र परिपूर्ण आनन्दात्माराममें मग्न जीवत्वभावकी प्रतीति मृगतृष्णाही है।" श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु ।

१६५

बलि जाउँ हौं[1] राम गुसाईं[2] । कीजियै[3] कृपा आपनी नाईं।१

परमारथ सुरपुर साधन सब स्वारथ सुखद भलाई ।

कलि सकोप लोपी सुचालि[4] निज कठिन कुचालि[5] चलाई।२

जहँ जहँ चित चितवत हित तहँ नित नव बिषाद अधिकाई ।

रुचि भावती भभरि भागहिं[6] समुहाहिं[7] अमित अनभाई ।३

आधि मगन मन ब्याधि बिकल तन बचन मलीन झुठाई ।

एतेहु पर तुम्हहीं[8] सों तुलसी की प्रभु[9] सकल सनेह सगाई ४

शब्दार्थ—नाईं = सदृश; समान; सी; अनुसार । आपनी नाईं = अपनी-सी; अपने स्वभावके अनुकूल । भलाई = भलप्पन; कल्याण;सौभाग्य; प्रतिष्ठा । यथा

१ हौं—रा०, ज०, डु०, भ० स० । हौं—प्रायः औरोंमे । २ गुसाईं—रा०, भा०, वे०, ह०, आ० । गोसाँई—७४, ज०, १५ । ३ कीजियै (कीजिये—डु०, वै०, ५१)—रा० । कोजिय—मु० । कीजै—भा०, वे०, दीन, वि०, भ०, ह०, ७४ । ४-५ सुचालि—कुचालि—रा०, ह० । सुचाल—कुचाल—प्रायः औरोंमें । ६ भागहिं—रा०, डु० । भागहि—भा०, बे०, आ० । ७ समुहाहिं—रा०, ७४, आ० । समुहाइ—भा०, वे० । ८ तुम्हहीं—रा० । तुम्ह—प्रायः औरोंमें । ९—प्रभु—रा०, ५१, १५, आ० (—भ०, मु०) । प्रायः औरोंमे 'प्रभु' नहीं है ।

'मति कीरति गति भूति भलाई । जब जेहि जतन जहाँ जेहि पाई ।१।३।५।' लोपी = लुप्त कर दी; मिटा दी; नष्ट कर डाली। सुचालि = सुंदर चाल, उत्तम आचरण । कुचालि = बुरे आचरण । ☞ गोस्वामीजीने 'सुचाल, कुचाल' के अर्थमें भी 'सुचालि, कुचालि' का प्रयोग किया है, संभवतः उनके समयमें ऐसाही प्रयोग होता था । प्राचीनतम पोथीमें यह पाठ प्रायः सर्वत्र देखनेमें आता है । मानस में ही देख लीजिए- 'फिरि सकंठ सोइ कीन्हि कुचाली ।१।२६।६।', 'कुपंथ कुतरक कुचालि कलि कपट दंभ पाषंड ।१।३२।', 'कलि कुचालि कलि कलुष नसावन ।१।३५।१०।', 'यह कुचालि कछु जान न कोई ।२।२३।८।', 'लखी कुचालि कीन्हि कछु रानी ।२।३६।२।'—इत्यादि । कठिन = भीषण; दारुण; दुस्तर । चितवना = देखना, ताकना; यथा 'चितवति चकित चहूँ दिसि सीता ।' भावती = जो अच्छी लगे; प्रिय; यथा 'नीरज नयन भावते जी के ।१।२४३।२।', 'चितवनि ललित भावती जी की । १। १४७।३।' भभरि = भड़भड़ाकर; भयभीत होकर; घबड़ाकर; यथा 'सभय लोक सब लोकपति चाहत भभरि भगान ।२।२३०।' समुहाहिं = सामने वा सम्मुख आती हैं; यथा 'चली बलीमुख-सेन पराई । अति भय त्रसित न कोउ समुहाई । ६।६४।१०।' रुचि भावती = मनचाही बातें; मनोवांछित; मनको अच्छी लगनेवाली, जी-को भानेवाली बातें । अनभाई = अरुचिकर; अप्रिय; नापसन्द । आधि = मानसिक व्यथा; चिन्ता । आधि-मगन = चिन्ताग्रस्त; मानसिक व्यथाओंमें डूबा हुआ । झुठाई = झूठापन; असत्यता; असत्यभाषण । सगाई = संबंध ।

पद्यार्थ—हे गोस्वामीजी ! हे श्रीरामजी ! मैं आपकी बलिहारी जाता हूँ । (आप मुझपर) अपनी- सी कृपा कीजिए ।१। परमार्थ (मोक्ष वा प्रभुपद-प्राप्ति) के, स्वर्ग (प्राप्ति) के और स्वार्थके समस्त साधन तथा सुख देनेवाली भलाई (इत्यादि) † उत्तम आचरणोंको कलिने कोपयुक्त होकर अपनी कठिन कुचालें चलाकर लुप्त कर दिया है ।२। जहाँ-जहाँ चित्त अपना हित ताकता है, वहां नित्य नवीन दुःखोंकी बाढ देखनेमें आती है। मनको भानेवाली बातें (तो) भड़भड़ाकर भाग जाती हैं और असंख्यो अप्रिय अरुचिकर वस्तुएँ सामने आ खड़ी होती हैं ।३। (मेरा) मन मानसिक व्यथाओ चिन्ताओंमें डूब गया है, शरीर रोगोंसे व्याकुल है और वचन असत्य (भाषण) से मलिन (दूषित) है। इतनेपरभी, प्रभो ! आपसे ही तुलसीका सब प्रकारसे स्नेह संबंध है ।४।

टिप्पणी—१ 'बलि जाउँ हो ' इति । (क) 'बलि जाना' का अर्थ जानकि-

---

† अर्थान्तर—मोक्षके, स्वर्गप्राप्तिके और स्वार्थ(अर्थात् व्यवहार)के साधन, इनके जितने सुख देनेवाले और कल्याणकारी साधन हैं, उन सभीकी रीतियोंको (वि०, दीन, भ०) ।

जीवन की बलि जैहौं' १०४ (१) के शब्दार्थमें देखिए। बलिहारी जाती हूँ; अर्थात् धर्म-कर्म-सहित आत्माको, अपने अपनपौको, आपके ऊपर निछावर करता हूँ। 'गुसाईं' शब्द गोस्वामीका अपभ्रंश है और प्रायः 'स्वामी' अर्थमें इसका प्रयोग होता है। पूर्वभी बहुत बार आया है। यथा 'यह बिनती रघुबीर गुसाईं।१०३।', 'केसव कारन कवन गुसाईं। ११८।', 'तिन्हहिं उजारि नारि अरि धन पुर राखहिं राम गोसाईं।१४५।', 'कहौं कौन मुँह लाइ कै रघुबीर गुसाईं।१४८।', इत्यादि। कहीं-कहीं प्रसंगानुकूल 'गो (इन्द्रिय, पृथ्वी, गौ) के स्वामी' भाव भी इससे प्रकट होता है।

१ (ख) 'कीजिये कृपा आपनी नाईं' इति। 'अपनी नाई कृपा' का भाव कि अपने कृपाल स्वभावके अनुसार, अपने कृपा-गुणको स्मरण करके कि हमही एकमात्र जीवका उद्धार करनेको समर्थ हैं, जीव बेचारा क्या कर सकता है, हम इसकी रक्षा न करेंगे तो यह अपने बलसे कब भवसे छूट सकता है, तथा 'जासु कृपा नहिं कृपा अघाती' इसपरभी ध्यान रखते हुए, वैसी कृपा कीजिए। तात्पर्य यह है कि आप परम स्नेही, करुणानिधान, कारणरहित कृपाल, आश्रित-वात्सल्यजलधि, शीलसिंधु और गरीबनिवाज आदि हैं, आपका स्वभावही है 'बिनु हेतु' कृपा करना तथा जीवके दोषोंको देखकर भी भूल जाना, इत्यादि अपने गुणों तथा अपने स्वभावकी ओर दृष्टि डालकर मुझपरभी कृपा कीजिए। मुझमे पुरुषार्थ नहीं है जिससे मैं आपको प्रसन्न कर सकूँ। आप अपनीही ओरसे कृपा करें। आपनी नाईं = जैसी आपकी रीति है, उसी प्रकार।

२ 'परमारथ सुरपुर साधन ...' इति। (क) परमार्थ (अर्थात् सद्गति, प्रभु-पदप्राप्ति) के साधन ज्ञान, वैराग्य, विवेक, भक्ति आदि। सुरपुर (देवलोक, स्वर्ग आदि) के साधन सुकृत, यज्ञ, जप, तप, तीर्थ, व्रत आदि; यथा 'स्वर्ग सुकृतैक फलु' (२१०)। स्वार्थ (अर्थात् व्यवहार) के साधन कर्म हैं। इसके अतिरिक्त 'सुखद भलाई' है। भलाईकी भी चाह की-जाती-है। यथा 'मति कीरति गति भूति भलाई। जब जेहिं जतन जहां जेहिं पाई। सो जानब सतसंग प्रभाऊ। १।३।५-६' सत्संग इसका भी साधन है।

[वैजनाथजीने 'स्वारथ सुखद' से वनिता, भोग, वस्त्र, वाहन और भूषण आदि लोक सुखोंको लिया है। इनके साधन सवासनिक कर्म हैं। 'भलाई' से लोकमें प्रशंसाको लिया है और इसका साधन सुनीतिपर चलना लिखा है। भट्टजीने "सुख देनेवाले और भलाईके (जप, तप, पूजा आदि) जितने साधन हैं" ऐसा अर्थ किया है। सू० शुक्लने "सुखदाई स्वार्थकी सब भलाई"; वियोगीजी और दीनजी आदिने "स्वार्थ अर्थात् व्यवहारके जितने सुखदेनेवाले और कल्याणकारक उपाय हैं"—ऐसा अर्थ किया है]

२(ख) 'कलि सकोप लोपी सुचालि ' ' इति। कलिने उपर्युक्त सब सुन्दर आचरणोंको क्रोध करके लुप्त कर दिया। कलिकाल शुभसाधनोंमें कामादिद्वारा विघ्न करता है, वे आकर साधकको बड़ा धक्का देते हैं। यथा 'कामु कोहु लाइ कै देखाइयत आँखि मोहि। क० ७।१००।', 'कामको कोहको लोभको मोहको मोहिं सो आनि प्रपंचु रचा है। क० ७।१०१।', 'कलिकाल बिचारु-अचारु हरो। क० ७।१०३।', 'कलिको कलुष मन मलिन किए महत। क०७।६६।', 'कबहुँक हौं संगति सुभाउ ते जाउँ सुमारग नेरो। तब करि क्रोध संग कुमनोरथ देत कठिन भटभेरो। १४३।', 'आश्रम बरन धरम बिरहित जग लोक बेद मरजाद गई है। '' साहिति सत्य सुरीति गई घटि, बढ़ी कुरीति कपट कलई है। परमारथ स्वारथ साधन भई अफल सकल नहिं सिद्धि सई है। कलि करनी बरनिये कहाँ लों करत फिरत बिनु टहल टई है। तापर दाँत पीसि कर मींजत को जानै चित कहा ठई है। १३६।' अतः इन कुचालों (कुरीतियों) के कारण सुचालें लुप्त हो गईं। यथा 'सुगुन ज्ञान बिराग भगति सुसाधननिकी पाँति। भजे बिकल बिलोकि कलि अघ अवगुननिकी थाति। अति अनीति कुरीति भइ भुइँ तरनिहूं ते ताति। २२१।'

[भाव कि एकभी सुचालका निर्वाह नहीं होने पाता। चोरी, जुआ, हिंसा, परहानि, अपवाद, विरोध छल, दंभ, व्यभिचार और पाखण्ड आदि कठिन कुमार्ग चलाया। (बै०)]*

३ (क) 'जहँ जहँ चित चितवत '' इति। तीर्थाटन, व्रत, योग, सत्सग, कथा-वार्ता, भगवदोत्सव आदिसे हित होता है। जब इनके करनेकी ओर चित्त जाता है और उसमें मनुष्य लगता है, तो उनमें नित्य-नये दुःख उपस्थित होते हैं, इनकी बाढ आती है। कभी शरीर रोगग्रस्त हो जाता है, कभी किसी प्रियका वियोग हो जाता है, कभी धनकी हानि होती है, इत्यादि सकट प्रति दिन बढ़ते-ही जाते हैं।

३ (ख) 'रुचि भावती भभरि '' ' इति। प्रार्थीकी मनभावती रुचि क्या है यह उन्होंने मनोराज्यभूमिकावाले पदोंमें तथा अन्य पदोंमें स्वयं प्रकट कर दिया

*इसपर कबीरजीका सुन्दर पद है—"उर लागै अरु हाँसी आवै, अजब ज़माना आया रे। धनदौलत ले माल खजाना, वेश्या नाच नचाया रे॥ मुट्ठी अन्न साधु कोइ माँगै कहैं नाज नहिं आया रे। कथा होय तहँ श्रोता सोवैं, वक्ता मूड पचाया रे॥ होय जहाँ कहिं स्वाँग-तमासा, तनिक न नींद सताया रे। भाँग तमाखू सुलफा गाँजा, सूखा खूब उड़ाया रे॥ गुरुचरणामृतनेम न धारै, मधुवा चाखन आया रे। उलटी चलन चली दुनियामें, ताते जिय घबराया रे। कहत 'कबीर' सुनो भाइ साधो, का पाछे पछताया रे॥" (वि०)।

है। 'कबहुँक हौं एहि रहनि रहौंगो। १७२।'—इस पदमें सन्तस्वभाव ग्रहण करने, यथालाभसंतोष, परहितनिरतता, विगतमान सम शीतल मन, देहचिन्ताका परित्याग आदि की लालसा कही गई है; पद १६१ में 'स्वाति सनेह सलिल सुख चाहत चित०', पद १४६ में 'हौं सब बिधि राम रावरो चाहत भयो चेरो।', पद १०५ में 'श्यामरूप सुचि रुचिर कसौटी चित कंचनहिं कसैहौं। परबस जानि हँस्यो हौं इंद्रिन्ह निज बस ह्वै न हसैहौं। मन मधुपहिं पनु कै तुलसी रघुपति-पद-कमल बसैहौं।', पद १०४ मे श्रीजानकीजीवनपर बलि जानेकी रुचि करते हुए 'नातो नेह नाथ सो करि सब नाते नेह बहैहौं।'—(इसमे समस्त इन्द्रियोको प्रभुमे ही लगानेकी सोच रहे हैं), पद २०५ मे मनको उपदेश करतेहुए 'सम संतोष बिचार बिमल अति सतसंगति ए चारि दृढ़ करि धरु। ' श्रवन कथा मुख नाम हृदय हरि सिर प्रनाम सेवा कर अनुसरु। नयनन्हि निरखि कृपा-समुद्र हरि अगजगरूप भूप सीताबरु।', पद २१० में 'मुख्य रुचि हेतु बसिबे के पुर रावरे', पद २३३ मे 'मनोरथ मनको एकै भाँति। चाहत मुनिमन-अगम सुकृत फल'—इत्यादि मनको भानेवाली रुचियाँ कही गई है।

२ (ग) 'समुहाहिं अमित अनभाई' जो नहीं भातीं, जैसे कि काम, क्रोध, मद, मान, लोभ, मत्सर आदि, वे सामने आती है। यथा 'भजनु बिबेकु बिराग लोग भले करम-करम करि ल्यायो। सुनि रिस भरे कुटिल कामादिक करहिं जोरु बरिआई। तिन्हहिं उजारि नारि अरि धन पुर राखहिं राम गोसाईं। १४५।', 'काल कर्म इंद्रिय-बिषय गाहकगन घेरो। हौं न कबूलत बाँधि कै मोल करत करेरो। १४६।', 'लोभ मोह मद काम क्रोध रिपु फिरत रैनि दिन घेरे। तिन्हहिं मिले मन भयो कुपथरत ''।१८७।', 'तेहि रुचिहि कामादि गन घेरे। २१०।', 'राम-कामतरु छाँह चाहै रुचि मन माँह, तुलसी बिकल बलि कलि कुधरम। २४९।', 'तन सुचि मन रुचि मुख कहो जन हौं सिय-पी को। केहि अभाग जानो नहीं जो न होइ नाथ सों नातो नेहु न नीको॥ जल चाहत पावक लहों, बिष होत अमीको। २६५।', इत्यादि।

[(वै०)—लाभु प्रियमिलन और आरोग्य आदि रुचिकी 'भावती' हैं और हानि, रुज, वियोग और दारिद्र्य आदि 'अनभाई' हैं।]

४ 'आधि मगन मन ' इति। (क) यहाँ मन, तन और वचन तीनोंको दूषित दिखाते हैं। मन चिन्ताग्रस्त है, भय, शंका, लज्जा और विषाद आदि-मेही मन डूबा रहता है। इसमे मानसिक रोगभी आगए। शरीर रोगोंसे ग्रस्त है, एक न एक रोग बना ही रहता है। और 'नहिं असत्य सम पातक पुंजा', सो मेरे मुखसे वाणी सदा असत्य निकलती है। अन्यत्रभी कहा है—'रोग बस तन कुमनोरथ मलिन मन पर-अपवाद मिथ्यावाद बानी हई। साधन की ऐसी

विधि साधन विना न सिधि । २५२।' भाव यह कि परमार्थ-साधनमें मन, कर्म और वचन तीनों शुद्ध चाहिए सो मेरे तो तीनो नष्ट हैं; अतएव मुझसे कोई साधनभी नहीं हो सकता।

४ (ख) 'एतेहुँ पर तुम्हही सो' इति। इस चरणके अंतिम शब्दो 'सकल सनेह सगाई' के साथ क्या क्रिया होनी चाहिए, इसमें मतभेद है। अर्थ इस प्रकार किये गये है—(१) "आपसे तुलसीकी सकल स्नेहसहित सगाई होवे। भाव कि कुटिल कर्म करता हूँ तव आपसे नेह-नाता कैसे हो सकता है? अतः आप अपनी ओर देखकर कृपा कीजिए, शरणमें रख लीजिए, मेरा कुछ उपाय नहीं।" (वै०)। (२) आपके साथ इस तुलसीदासके प्रेम और सब संबंध वैसेके वैसेही बने हुये हैं (मुझमें भलेही अनेक दोष आ गए हों, पर मंजिष्ठाके रंगके समान मेरा प्रेम पक्का ही बना है)। (दीन)। (३) 'सम्बंध और प्रेम पूराका-पूरा ही बना हुआ है। (इसीसे तो मैं आपकी वलैया लेता हूँ। धन्य!)।" (वि०)। (४) "तुमसे तुलसीदासका (स्वामि-सेवकका) नाता और प्रेम पूरा-पूरा हो रहा है। (तुम्हे धन्य है)।" (भ०)। (५) आपके साथ प्रेम ज्योंका त्यो बना हुआ है। (धन्य हैं, जो इस प्रकारके अधमके साथभी प्रेमका संबध स्थायी रखते है)।" (पो०)। (६) 'इतनेपरभी सपूर्ण प्रेम संबंध आपहीसे चाहता हूँ।' (च०)। (७) "समस्त सनेहकी नतैती आपहीसे है।'—यहां नातेदारी भंग करनेवाले प्रति-वधोके विद्यमान् रहते हुए भी स्नेहका नाता बना रहना 'तृतीय विभावना अलं-कार है।" (वीर)। (८) सब सनेहका सवंध आपहीसे है, जो इच्छा हो सो करो। (ङु०, भ० स०)।

☞ प्रेमका सवंध गुरु, माता पिता आदिका कहा जाता है। सो ये सब नाते तुलसीदासजीके प्रभुसे ही हैं; यथा 'तुलसिदास कासों कहै तुम्ह ही सब मेरें प्रभु गुरु मात पितै हौ।२७०।' पूर्वभी कहा है–'तोहि मोहि नातो अनेक मानिये जो भावै। ज्यो त्यो तुलसी कृपाल चरन-सरन पावै।७९।', 'हौं जड़ जीव ईस रघुराया। हौं कपूत तुम्ह हित पितु माता।१७७।' और भी जो ये वचन कहे हैं—'दुख सुख सहौं रहौं सरनागत तोरे।१०९।', 'एतेहुँ पर तुम्ह-रोई कहावत लाज अँचई घोरि।१५८।', 'भयेहुँ उदास राम मेरें आस रावरी।' 'पेम-नेमके निबाहे चातकु सराहिये।१७८।', 'नाहिन और ठौर मो कहुँ तातें हठि नातो लावत। राखु सरन उदार चूड़ामनि।१८५।', 'गरैगी जीह जौं कहौ और को हौं। कहा भयो जो मन मिलि कलिकालहिं कियो भुरुटु भौर को हौ।२२९।', 'होहुँ रावरो जद्यपि अघ अवगुनन्हि भर्‌यो हो।२६६।'—इन उद्धरणोके अनु-सार भाव यह है कि यद्यपि मेरे मन, तन, वचन सब दूषित हैं, फिरभी मेरा स्नेह आपको छोड़ दूसरे किसी स्वामीसे नहीं है, मैं अन्याश्रयशून्य हूँ। अतएव आप अपना जानकर जिसभी भाँति चाहे कृपा करे।–'ज्यों त्यो तुलसी कृपाल

चरन सरन पावे ।७९।', 'ज्यों भावे त्यों करु कृपा तेरो तुलसी है । १४९ ।', 'तुलसी प्रभु निज ओर तें बनि परै सो कीबी ।१४८।', 'तुलसिदास भलो पोच रावरो नेकु निरखि कीजै निहालु । १५४ ।','अब रावरो कहाइ न बूझिये सरन-पाल सासति सहों । महाराज राजीवबिलोचन मगन पाप संताप हों । तुलसी प्रभु जबतब जेहि तेहि विधि राम निबाहे निरवहों ।२२२।', 'अपराधी तौ आपनो तुलसी न बिसरिये । २७१ ।'—के भाव 'एतेहु पर सगाई' के है ।—[दीनजी और वि० के अनुकूल यह मत है। वैजनाथजीके तथा चरखारीटीकाके भाव पद १०३ के 'है जगमे जहँ लगि या तनु की प्रीति प्रतीति सगाई । तें सब तुलसिदास प्रभुही सों होहु सिमिट एकठाई ।'— इस अंशको लेकर कहे गये जान पड़ते है।श्रीभट्टजी और पोद्दारजीके भाव पद१७१के'एतेहु पर हित करत नाथ मेरो करि आयो अरु करिहै । तुलसी अपनी ओर जानियत प्रभुहि कनोड़ाइ भरिहै।'—इस अशके अनुसार है ।]

☞ स्मरण रहे कि ऊपर अन्तरा १ मे जो 'कीजियै कृपा आपनी नाई' यह प्रार्थना की है,उसका कारण यहाँ अंतिम अंतरामे कहा हे कि मैं सब प्रकार बिगड़ा हुआ हूँ. पर बुरा-भला जोभी हूँ, आपका ही हूँ,दूसरेसे मेरा संबंध नहीं। अतएव कृपा कीजिए ।

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु ।

१९६ (राग ललित—ज०)

काहे को फिरत मन करत बहु[1] जतन,
मिटै[2] न दुख बिमुख रघुकुलबीर ।
कीजै जौं कोटि उपाय त्रिबिध ताप न जाइ,
कह्यो जो[3] भुज उठाइ मुनिबर कीर ।१
सहज टेव[4] बिसारि तुही धौं देखु[5] बिचारि,
मिलै न मथत बारि घृत बिनु छीर[6]
समुझि तजहि भ्रम भजहि पद जुगम,
सेवत सुगम गुन गहन गंभीर ।२

---

१ बहु जतन—रा०, भा०,बे०, ५१, आ० ।जतन बहु—प्र०, ७४। २ दुख न मिटै—७४। ३ भुजा–७४। जो भुज–औरोंमे। ४ टेंव (टेव)–रा०, ह०, ५१, ७४, ज०, आ० । टेउ–भ०, भा० । टेढ़— बे० । ५ देखु—भा०, बे०,आ०,५१ । देखि—रा० । देखै—प्र०, ह०, ज०, ७४, १५ । ६ पीर (खीर)—रा० । छीर (छीर)-प्रायः औरोमें ।

आगम निगम ग्रंथ रिषि मुनि सुर संत,
सबही को एक मत सुनि [7] मति धीर।
तुलसीदास [8] 'प्यास [9] मरै पसु बिनु प्रभु',
जद्यपि है [10] निकट सुरसरि तीर।३

शब्दार्थ—काहेको = किस लिये; क्यो (व्यर्थ)। जो = जैसा कि; यह बात। कीर = तोता = शुक (शुकदेवजी)। भुज उठाइ = शपथ वा प्रतिज्ञा पूर्वक। यथा 'सो गोसाइँ नहिं दूसर कोपी। भुजा उठाइ कहउँ पन रोपी। २।२६६।७।' भुजा उठाकर प्रतिज्ञा करनेकी रीति है; यथा 'निसिचरहीन करउँ महि भुज उठाइ पन कीन्ह। ३।६।', 'पन बिदेह कर कहहिं हम भुजा उठाइ बिसाल।२।२४२।' टेव = अभ्यास; स्वभाव; बान। सहज = स्वाभाविक। तुही धौं = भला तूही तो। छीर (क्षीर) = दूध। जुगम (युग्म) = युगल; दोनों। गहन = वन; यथा 'मिलइ न जल घन गहन भुलाने।४।२४।३।' गँभीर = गहरा और घना (सघन)। मत = सिद्धान्त।

पद्यार्थ—रे मन! तू किस लिये अनेक यत्न करता फिरता है? (अर्थात् ये सब उपाय व्यर्थ हैं, क्योकि) रघुकुलवीर (श्रीरामचन्द्रजी) से विमुख होनेसे दुःख नहीं मिटनेका। श्रीरघुकुलवीरसे विमुख होकर 'यदि तू करोड़ों उपाय करे तोभी तीनो प्रकारके (दैहिक, दैविक और भौतिक) ताप नहीं जा सकते' जैसा कि (अर्थात् यह बात) मुनिश्रेष्ठ श्रीशुकदेवजीने प्रतिज्ञापूर्वक कहा है।१। अपनी स्वाभाविक बानको भुलाकर भला तूही विचारकर देख (तो सही) कि विना दूधके पानीको मथनेसे घी नहीं प्राप्त हो सकता। (ऐसा) समझकर भ्रमको त्याग दे, (श्रीरघुवीरके) युगल चरणोंकी भक्ति कर, जो सेवा करनेमें सुगम और सद्‌गुणोंके गहरे सघन वन हैं।२। तंत्रशास्त्रों, वेदादि सद्‌ग्रन्थों, ऋषि, मुनि, देवताओं और सन्तों—सभीका एक सिद्धान्त है, बुद्धिको स्थिर करके सुन। तुलसीदासजी कहते हैं (वा, रे तुलसीदास!)—'विना अपने स्वामीके पशु प्यासा मरता रहता है यद्यपि वह गगातटके समीपही है'।३।

टिप्पणी—१ 'काहेको फिरत ' इति। (क) 'काहे को फिरत' से सूचित हुआ कि मन अनेक यत्न करता है। यत्न किस लिये और क्या करता है, यह प्रार्थीने अन्यत्र स्वयं कहा है। यथा 'निसि दिन भ्रमत बिसारि सहज सुख जहँ

७ सुनि—रा०, ह०। सुनु—भा०, वे०, ७४, आ०। ८ तुलसीदास—रा०, भा०, वे०, ७४। तुलसिदास—ह०, ज०, ५१, आ०। ९ प्यास मरै पसु बिनु प्रभु—रा०, ७४, ह०, १५। मरै प्यास प्रभु बिनु पसु—भा०, वे०। प्रभु बिनु प्यास मरै पसु—५१, आ०। १० रहै-७४। रहे—डु०, भ० स०।

तहँ इन्द्रिन्ह तान्यो। 'जनम अनेक किये नाना विधि करम-कीच चित सान्यो। ८८।', 'जे सुख संपति सरग नरक संतत सँग लागी। हरि परिहरि सोइ जतन करत मन मोर अभागी। ११०।', 'जो सुख सुरपुर नरक गेह बन आवत बिनहिं बुलाएँ। तेहि सुख कहँ बहु जतन करत मन समुझत नहिं समुझाएँ।२०१।', 'सुख हित कोटि उपाय निरंतर करत न पाँय पिराने। सदा मलीन पंथके जल ज्यों कबहुँ न हृदय थिराने॥ यहु दीनता दूरि करिबे कों मैं अमित जतन उर आने।२३५।', इत्यादि। विषयोंमें सुख समझकर उनके लिये प्रयत्न करता है, परन्तु सुखके बदले दुःख मिलता है; यथा 'जतन अनेक किये सुख कारन हरि-पद विमुख सदा दुख पायो।२४३।' पिछले पदमे भी कह आये हैं कि 'जहँ जहँ चित चितवत हित तहँ नित नव बिपाद अधिकाई।' आगेके 'मिटै न दुख' से यहभी जनाया कि सुख मिलने और दुःख मिटानेके अनेक यत्न करता है। कर्म, ज्ञान, योग, यज्ञ, अन्य देवाराधन, तप, व्रत, वैराग्य आदि 'बहु यत्न' हैं। 'काहे को करत फिरत' का भाव कि इनसे कुछ लाभ नहीं होनेका, केवल श्रमही हाथ लगेगा।

पुनः, आगेके 'मिटै न दुख' के साथ 'काहेको फिरत ' इस चरणका भाव यह भी है कि जब सुखकी प्राप्ति और दुःखकी निवृत्तिके लिये उपाय करनेपरभी उलटाही फल प्राप्त होता है तब तो तुझे उन कर्मोंसे स्वयं उपरत हो जाना चाहिए था। यथा 'अत्रापि दम्पतीनां च सुखायान्यापनुत्तये। कर्माणि कुर्वतां दृष्ट्वा निवृत्तोऽस्मि विपर्ययम्। भा०७।१३।२५।' (अवधूतने प्रह्लादजीसे कहा है कि प्रयत्नोंका उलटा फल देख मैं कर्मोंसे उपरत होगया)। कर्मोंसे उपरत न होनेसे आगेभी तेरी सब क्रियायें व्यर्थ होती रहेंगी। यथा 'देहादिभिर्दैवतन्त्रैरात्मनः सुखमीहतः। दुःखात्ययं चानीशस्य क्रिया मोघाः कृताः कृताः। भा०।७।१३।२९।' (अर्थात् किन्तु जो पुरुष दैवाधीन शरीरादिके द्वारा अपने लिये सुखप्राप्ति और दुःखनिवृत्तिकी चेष्टा करता रहता है, उस दैवहीन पुरुषकी बारबार की-हुई सभी क्रियाएँ व्यर्थही होती हैं)।

प्रह्लादजीने यही बात बालकोंसे कही है, यथा 'सुखाय दुःखमोक्षाय संकल्प इह कर्मिणः। सदाप्नोतीहया दुःखमनीहायाः सुखावृतः। भा० ७।७।४२।' अर्थात् संसारमे कर्मपरायण पुरुषोंका संकल्प सुखकी प्राप्ति और दुःखकी निवृत्तिके लियेही होता है, किन्तु सकाम कर्म करनेसे उसे सर्वदा दुःखही उठाना पड़ता है, इसकी अपेक्षा तो वह पहलेही कामनावश कर्म न करनेके कारण आनंदमे रहता था।—(इससे जनाया कि निष्काम कर्म करना चाहिए, सकाम नहीं)।

विदुरजीनेभी कहा है कि जगत्में सब लोग सुखहीके लिये कर्म करते हैं, परन्तु उन्हे न तो सुख मिलता है और न दुःखकी निवृत्ति होती है, प्रत्युत उससे

दुःखही उठाना पडता है,—'सुखाय कर्माणि करोति लोको न तैः सुखं वान्य-दुपारमं वा। विन्देत भूयस्तत एव दुःखं यदत्र युक्तं भगवान्वदेन्नः ।भा० ३।५।२।'

१ (ख) 'मिटै न दुख्ख बिमुख ' इति। इससे जनाया कि जो उपाय तू करता है. वे सब विमुखताके उपाय है। अतः उनसे दुःख नहीं मिटता। 'विमुख रघुकुलवीर'–श्रीरामजीके भजन, स्मरण, चरणचिन्तन. आदि भक्तिसे रहित होना श्रीरघुवीरसे विमुख होना है। विषयोंमे आसक्ति विमुखता है। विषयमे तो दुःखही दुःख होता है। यथा 'बिषयहीन दुख, मिलें बिपति अति, सुख सप-नेहुं नहिं पायो ।१६६।' विना श्रीरामसम्मुख हुए, बिना उनकी भक्ति किये दुःख नहीं मिट सकता, यह पूर्वभी समझा आये हैं; यथा 'तुलसिदास रघुनाथ बिमुख नहि मिटै बिपति कबहूँ ।८६।'. 'मिटै न बिपति भजे बिनु रघुपति श्रुति संदेह निबेरो ।८७।' ☞ 'बिमुख रघुकुलबीर' देहलीदीपकन्यायसे अगले चरणके भी साथ है।

१ (ग) 'कीजे जो कोटि उपाय ' इति। विमुखका त्रितापसे पीडित होनाभी अन्यत्र कहा है। यथा 'अति दुरलभ तनु पाइ कपट तजि भजे न राम मन बचन काय। रामबिमुख सुख लह्यो न सपनेहुँ निसि बासर तयो तिहूँ ताय ।८३।'. 'सुर मुनि मनुज दनुज अहि किन्नर मैं तनु धरि सिर काहि न नायो। जरत फिरत त्रैताप पाप बस काहु न हरि करि कृपा जुडायो। २४३।'

१ (घ) 'कह्यो जो रुज उठाइ ' इति। इस सिखापनके प्रमाणमें शुकदेव-जीको देते हैं जो सब मुनियोंमे श्रेष्ठ हैं। उनकी श्रेष्ठता इससे स्पष्ट है कि परी-क्षित महाराजके पास आये हुए समस्त ब्रह्मर्षि, देवर्षि और राजर्षि शुकदेव-जीके आतेही अपने-अपने आसनोसे उठकर खड़े हो गए थे। यथा 'प्रत्युत्थितास्ते मुनयः स्वासनेभ्यः। भा० १।१६।२८।' सूतजी कहते है कि ऊँचे सिंहासनपर विराजमान श्रीशुकदेवजी ब्रह्मर्षि, देवर्षि और राजर्षियोंके समूहसे घिरे हुए ऐसे शोभायमान हुए जैसे ग्रह, नक्षत्र और तारागणसे घिरे हुए चन्द्रदेव सुशोभित होते हैं।—'महासने सोपविवेश पूजितः ॥ स संवृतस्तत्र महान् महीयसां ब्रह्मर्षि-राजर्षिदेवर्षिसङ्घैः। व्यरोचतालं भगवान्यथेन्दुर्ग्रहर्क्षतारानिकरैः परीतः। भा० १।१६।२६-३०।' श्रीपरीक्षितजीने उनके संबंधमें उन्हींसे कहा है कि आप इस विषयमे स्वयम्भू ब्रह्माके समानही प्रामाणिक है (क्योकि आपका ज्ञान स्वतः सिद्ध है), दूसरे मुनिगण तो अनुक्रमसे अपने पूर्वजोकाही अनुकरण करते है— 'अत्र प्रमाणं हि भवान्परमेष्ठी यथात्मभूः। परे चेहानुतिष्ठन्ति पूर्वेषां पूर्वजैः कृतम्। भा० २।८।२५।'

'भुजा उठाकर कह्यो' से जनाया कि यह निश्चित किया हुआ सिद्धान्त है, वह सदा सत्य है, इसमे किंचित् संदेहकी जगह नहीं है। 'विनिश्चितं वदामि ते

न अन्यथा वचांसि मे'—श्रीभुशुण्डीजीके इस वाक्यका भाव 'भुज उठाइ' में है।

१ (ङ) 'त्रिबिध ताप न जाइ''''मुनिबर कीर' इति। भा० १२।४ श्रीशुक उवाच हैं। उसमें उनके ये वाक्य हैं—''संसारसिन्धुमतिदुस्तरमुत्तितीर्षोर्नान्यः प्लवो भगवतः पुरुषोत्तमस्य। लीलाकथारसनिषेवणमन्तरेण पुंसो भवेद् विविध-दुःखदवार्दितस्य॥ ४०।'' (अर्थात् जो लोग अनेक दुःखरूपी दावाग्निसे पीड़ित इस दुस्तर संसारको पार करना चाहते हों. उनको भगवान पुरुषोत्तमके लीला-कथाके सेवन करनेके सिवा कोई तरणी नहीं है)।—यह वाक्य उन्होंने श्रीमद्भा-गवतकथाके उपसंहारमे कहा है। अतः यह उनका निश्चित सिद्धान्त है।

परमहंस श्रीशुकदेवजीने 'संसारसिन्धुमतिदुस्तरम्''' यह कहकर फिर यह भी कहा है कि अविनाशी श्रीनारायण ऋषिने इसे नारदसे कहा था, देवर्षि नारद-ने व्यासजीसे कहा था और व्यासजीने मुझसे कहा। यथा 'पुराणसंहितामेता-मृषिर्नारायणोऽव्ययः। नारदाय पुरा प्राह कृष्णद्वैपायनाय सः।४१। स वै मह्यं महाराज भगवान बादरायणः। इमां भागवतीं प्रीतः संहितां वेदसम्मिताम्।४२।'—इस वाक्यसे अपने कथनको प्रामाणिक, सत्यसार और वेदसम्मित बताया।—अतः यहां कह्यो भुज उठाइ' कहा गया।

टीकाकारोंने जो भा० १०।१४।४; ३६ और भा० १०।२।३२ को प्रमाणमे दिया है, वे वाक्य क्रमशः ब्रह्माजी और देवताओंके हैं, श्रीशुकदेवजीके नहीं हैं। अतः वे गोस्वामीजीके वाक्यके प्रमाण नही हो सकते।

२ 'सहज टेंव बिसारि''' ' इति। (क) मनका स्वभाव है चंचलता और विष-योंमे अनुराग तथा हठ। यथा 'सब अंग सुभग बिंदुमाधव छबि तजि सुभाउ अवलोकु एक पलु।६३।', 'यों मन कबहुँ तो तुम्हहिं न लाग्यो। ज्यों छलु छाड़ि सुभाय निरंतर रहत बिषय अनुराग्यो।१७०।', 'मेरो मन हरि हठ न तजै।'' करत सुभाउ निजै।८६।' मन स्थिर होनेपरही विचार कर सकता है, इसीसे सहज टेवको छोड़नेको कहते हैं। 'मिलै न मथत बारि घृत''' ' पानीको मथानीसे मथनेसे घी नहीं प्राप्त होगा। वैसेही सुखसाधनके करोड़ों यत्न करनेपरभी सुख प्राप्त नहीं हो सकता। पूर्वभी मनको यह शिक्षा दी थी; यथा 'सुखसाधन हरि बिमुख बृथा जैसे श्रम फल घृत-हित मथे पाथ।८४।' वहाँ भी इस बातको विचार-नेको कहा था; किन्तु वह विचार नहीं करता, इसीसे कहते हैं कि 'सहज टेंव बिसारि बिचारि।' यहाँ रामविमुखके समस्त सुखसाधन जलरूप है, सुख घी है। परि-श्रम हाथ लगा, साधन व्यर्थ हुए—यही दुःखका न मिटना है। 'बिनु छीर' अर्थात् दूधसे ही घी मिलता है। श्रीरामसम्मुखता, श्रीरामभक्ति क्षीर है। उससे सुख, शान्ति आदि घृत मिलेगा, दुःख छूटेगा। त्रिपाद्विभूति महानारायणोपनिषद्की श्रुतिभी है—'सर्वोपाय परित्यज्य भक्तिमाश्रय। भक्ति निष्ठो भव, भक्तिनिष्ठो भव।

भक्त्या सर्वसिद्धयः सिद्ध्यन्ति भक्त्याराध्यं न किञ्चिदस्ति।'

२ (ख) 'समुझि तजहि भ्रम''''इति। 'देखु बिचारि' कहकर अब 'समुझि' कहनेका भाव कि विचार करनेपर देख तो पड़ेगा कि बिना रामभक्तिके दुःख नहीं मिटनेके, किंतु इतनेसे ही काम न चलेगा। इसे समझना हृदयमें धारण करना होगा। यह धारणा हो जानेपर ही भ्रमका त्याग हो सकेगा।—'बिचारि देखु समुझि तजहि' क्रमका यह भाव है। 'अन्य साधनोंसे दुःख मिटेगा, त्रितापका नाश होगा'—यही भ्रम है; इसीका त्याग यहाँ कहा।❀ जब यह भ्रम नष्ट हो जायगा तभी अन्य साधनोंकी ओरसे मन फिरेगा, अन्याश्रय छूटेंगे और भगवान‌के सम्मुख जीव होगा। भ्रमके त्यागके पश्चात्‌का कर्तव्य भी बताते हैं जिससे त्रितापका नाश होगा।

२ (ग) 'भजहि पद जुगम''' इति। किसके युगल चरणोंकी भक्ति करें, यह ऊपर बता आये हैं। 'मिटै न दुख बिमुख रघुकुलबीर'. अतः दुःख मिटानेके लिये 'रघुबीर' के चरणोंको भज। 'सेवत सुगम' ये चरणोंके भी विशेषण हो सकते है और रघुवीरके भी। चरणोंकी सेवा है चरणोंके नखों, तलवों और चरणचिह्नों आदि का ध्यान। चरणचिह्न और उनके उद्देश्य आदिका उल्लेख 'युगल पदपद्म सुखसद्म पद्मालयं चिह्न कुलिसादि सोभातिभारी।' ५१ (९ ख ग), 'मृदुल चरन सुभ चिह्न पदज नख' ६२ (३ क-ख). और 'तरुन अरुन अंभोज चरन मृदु नख दुति हृदय तिमिरहारी। कुलिस केतु जव जलज रेख बर अंकुस मन गज बसकारी' ६३ (२ ग) में देखिए। चरण भवसागरके लिये नौकारूप हैं,—'भवजलधि पोत चरनारबिंद। ६४।' 'श्रीरघुबीरचरन चिंतन तजि नाहिन ठौर कहूँ०'—यह पद ८६ में कह आये हैं; अतः 'भजहि पद जुगम' की शिक्षा दी। ध्यान सुगम है; अतः 'सेवत सुगम' कहा। 'गुन गहन गँभीर' अर्थात् चरणोंमें भारी भारी अनन्त अपार गुण हैं। इनके ध्यानसे सद्‌गुणोंकी प्राप्ति होती है, मन वशमें हो जाता है, त्रिताप मिटते, भवपार मिलता और सुखशान्ति प्राप्त होती है। इत्यादि।

३ 'आगम निगम''' इति। (क) यहाँ ऋषि और मुनि दोनोंको कहकर इनमें भेद दिखाया। स्कन्द पुराणमें सुतनुने बताया है कि ब्राह्मणोंके आठ भेद हैं—मात्र, ब्राह्मण, श्रोत्रिय, अनूचान, भ्रूण, ऋषिकल्प, ऋषि और मुनि। ये आठ प्रकारके ब्राह्मण श्रुतिमें पहले बताये गये हैं। इनमें विद्या और सदाचारकी विशेषतासे पूर्व-पूर्वकी अपेक्षा उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं †। जो पहले ऊर्ध्वरेता

❀ भावार्थान्तर—(१) झूठेमें जो सचाईका भ्रम है। (वै०)। (२) 'नानात्व जगत्‌की भ्रमात्मक दृष्टिका त्याग' (श्री० श०)।

† अथ ब्राह्मणभेदांस्त्वमष्टौ विप्रावधारय॥ मात्रश्च ब्राह्मणश्चैव श्रोत्रियश्च

(नैष्ठिक ब्रह्मचारी) होकर नियमित भोजन करता है, जिसको किसीभी विषयमें कोई संदेह नहीं है तथा जो शाप और अनुग्रहमें समर्थ और सत्यप्रतिज्ञ है; ऐसा ब्राह्मण 'ऋषि' माना गया है। यथा 'ऊर्ध्वरेता भवत्यग्रे नियताशी न संशयी। शापानुग्रहयोः शक्तः सत्यसन्धो भवेदृषिः।' (श्लो० २८६)। जो निवृत्तिमार्गमें स्थित, संपुर्ण तत्त्वोंका ज्ञाता, काम-क्रोधसे रहित,ध्याननिष्ठ,निष्क्रिय, जितेन्द्रिय तथा मिट्टी और सुवर्णको समान समझनेवाला है; ऐसे ब्राह्मणको 'मुनि' कहते है। यथा 'निवृत्तः सर्वतत्त्वज्ञः कामक्रोधविवर्जितः। ध्यानस्थो निष्क्रियो दान्त-स्तुल्यमृत्काञ्चनो मुनिः।' (साहे० कुमा० ३।२८७)।

'सबं ही को एक मत'—पूर्व कहा था—'बहु मत मुनि बहु पंथ पुराननि जहाँ तहाँ झगरो सो' (१७३)। इससे यहाँ 'एक मत मुनि'से जनाया कि अन्य साधनो तथा अन्य विषयोंमें सबके भिन्न-भिन्न मत है. परन्तु इस बातमें सब एकमत है, सबने इस सिद्धान्तको माना है। 'मति धीर'—सहज टेव बिसार-कर देखने और समझकर भ्रमका त्याग करनेका उपदेश ऊपर दे आये हैं, उससे बुद्धि धीर हुई, तब मतिधीर कहकर निश्चित सिद्धान्त सुनाते है। पुनः भाव कि अब मैं सबका 'एकमत' कहता हूँ.इसे बुद्धिको स्थिर करके सुन।

३ (ख) 'प्यास मरै पसु बिनु प्रभु ' इति। पशुपालने पशुको सुरसरिके तटपर बाँध दिया, पशु प्यासके मारे मर रहा है, परन्तु जलके निकट रहते हुए भी पी नहीं सकता, प्यास बुझा नहीं सकता, जबतक उसका मालिक उसका बंधन न खोले। वैसेही जीव माया, मोह, विषयाशारूपी रस्सीसे बँधा है, बाँधनेवाले प्रभु हैं; यथा 'तुलसिदास यह जीव मोह-रजु जेहि बाँध्यो सोइ छोरै। १०२।', 'तुलसिदास प्रभु मोह श्रृंखला छूटिहि तुम्हरेहि छोरें। ११४।', 'बिनु तव कृपा दयालु दासहित मोह न छूटै माया। १२३।', 'पसु लौं पासुपाल ईस बाँधत छोरत नहत।१३३।' जब ये प्रभु इसको बंधनसे मुक्त करें और भक्ति-रूपी सुरसरिका जल यह पिये, तब विषयाशारूपी प्यास इसकी मिटे। नारदजी-के वाक्य हैं—'यत्प्राप्य न किञ्चिद्वाञ्छति न शोचति न द्वेष्टि न रमते नोत्साही भवति।' (भक्ति सूत्र ५); अर्थात् प्रेमरूपा भक्तिकी प्राप्ति होनेपर मनुष्य न किसी भी वस्तुकी इच्छा करता है, न द्वेष करता है, न किसी वस्तुमें आसक्त होता है और न उसे(विषयभोगोंकी प्राप्तिसे)उत्साह होता है। श्रीशुकदेवजीने भी कहा है कि जो परम कल्याणके स्वामी भगवान् हरिकी भक्ति करता है, वह अमृतके समुद्रमें क्रीड़ा करता है,—'विक्रीडतोऽमृताम्भोधौ' (भा० ३।१२।२२)। प्रेमामृतमें डूबा हुआ भक्त क्यों तुच्छ विषयभोगोंकी इच्छा करने लगा?

ततः परम्। अनूचानस्तथा भ्रूणो ऋषिकल्प ऋषिर्मुनिः॥ इत्येतेऽष्टौ समुद्दिष्टा ब्राह्मणाः प्रथमं श्रुतौ। तेषां परःपरः श्रेष्ठो विद्यावृत्त विशेषतः॥'(साहे० कुमा० ३।२८७,२८८,२८९)।

[वेदशास्त्रोंका विद्वान् जीव ब्रह्मानन्दरूपी गंगाके तटपर मायारूपी रस्सी से बँधा है, विना प्रभुकी कृपाके जीवका दुःख दूर नहीं हो सकता, अतएव प्रभुकी शरण होना चाहिए,- यह सबका मत है। (ड०, वै०)। 'भाव कि सारे साधन होते हुए भी भगवत्कृपाके विना जीवका निस्तार नहीं होता।' (दीनजी)।

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

१६७

नाहिनै[1] चरन रति ताही[2] तें सहौं बिपति,
कहत श्रुति[3] सकल मुनि मति धीर।
बसै जो ससि उछंग सुधा स्वादित कुरंग,
ताहि कि[4] भ्रम निरखि रबिकर-नीर।१
सुनिअ[5] नाना पुरान मिटत नहिं अज्ञान,
पढ़िय[6] न समुझिअ[7] जिमि खग कीर।
बंझत[8] बिनहि पास सेमर[9] सुमन आस,
करत चरत तेइ[10] फल बिनु हीर।२
कछु न साधन सिधि जानों न निगम बिधि,
नहिं जप तप बस मन न समीर।
तुलसिदास[11] भरोस परम करुनाकोस,
प्रभु हरिहैं बिषम भव-भीर।३

शब्दार्थ-मतिधीर = दृढ़ शान्त निश्चल बुद्धिवाले। धीर = जो इस शरीरका कोई प्रयोजन न देखकर विरक्त और मोह-बंधन-रहित होकर अज्ञातभावसे रहता हुआ उसका त्याग करता है, —'गतस्वार्थमिमं देहं विरक्तो मुक्तबन्धनः। अविज्ञातगतिर्जह्यात्स वै धीर उदाहृतः। भा० १।१३।२५।' उछंग = गोद; यथा

१ नाहिनै—रा०। नाहिन—प्रायः औरोंमें। २ ताही—रा०, ह०, ५१,७४, १५। ताहि—भा०, बे०, श्रा०। ३ श्रुति सकल—रा०, ह०.ज०, ५१, १५,श्रा०। सकल श्रुति—भा०,बे०। ४ कि—रा०, बे०। की—ह०, ५१, ७४। को—ड०, मु०। के—१५, ज०। क्यो—भा०, श्रा०। ५ सुनै, ६ पढ़ै, ७ समुझै, १० तेऊ, ११ तुलसीदास—भा०, बे०। उपर्युक्त पाठ रा०, ह०, ५१, ७४ का है। ८ बंधत—च०, भ०। बूझत—ड०,वै०। बझत—प्रायः औरोंमें। ९ सेंवर—रा०। १० तेऊ—भा०, बे०। ११ दास तुलसी—७४।

'कबहुँ उछंग कबहुँ वर पलना। मातु दुलारइ कहि प्रिय ललना। १।१९८।८', 'लै उछंग कबहुँक हलरावै। कबहुँ पालने घालि झुलावै। १।२००।८।' स्वादित = स्वाद पाया हुआ; जिसने स्वाद पाया है या चखा है। कुरंग = हिरन। ताहि = उसे। कि = क्योंकर; किस प्रकार; कैसे; यथा 'जगदंबा जहँ अवतरी सो पुर बरनि कि जाइ।' ताहि कि = उसे क्योकर; भला उसे; क्या उसे। भ्रम = धोखा; भ्रान्ति। बझना = बंधनमें पड़ना; बँधना; फँस जाना। तेइ = वही। हीर = सार; गूदा। बिनु हीर = निस्सार। पास (पाश) = फंदा। सेमर—एक वृक्ष है। इसके फूल लाल-लाल बड़े सुन्दर होते हैं, परन्तु उसके फलमे गूदा या रस नहीं होता; उसमें भुरभुरी रूई निकलती है जो प्रायः तकियोंमे भरी जाती है। यह बसंतमें फूलता है। चरत = चोंच मार-मारकर काटता है। बिधि = विधान; नियम; रीति; कर्तव्य कर्म धर्म। समीर = पवन; वायु। अर्थात् प्राणवायु।

पद्यार्थ—(भगवान् श्रीरामके) चरणोंमे प्रेम नहीं ही है, इसीसे (मैं) विपत्ति सहता हूँ—(ऐसा) समस्त वेद, समस्त मुनि और समस्त धीरबुद्धि पुरुष कहते हैं। (क्योंकि) जो हिरन चंद्रमाकी गोदमे निवास करता है और अमृतका स्वाद पाये हुये है, भला मृगतृष्णाजलको देखकर उसे भ्रम हो सकता है? (कदापि नहीं) १। अनेक पुराण सुनते रहिये पर अज्ञान नहीं मिटता, पुराण पढ़ते रहिए पर समझ नहीं आती; जैसे तोता पक्षी (रटा हुआ) पढ़ता है पर समझता नहीं। सेमरके फूलों (के सौदर्न्यपर मुग्ध होकर उन) से विना बंधनके ही आशा (रूपी पाश) में फँस जाता है, सुन्दर फूलों से (सुंदर) फलोंकी आशा करता है और उन्हीं निस्सार फलोको (फिर दूसरे वर्ष) चोंच मार-मारकर काटता है।२। तुलसीदासजी कहते हैं कि मैं न तो कुछ साधन जानता हूँ न सिद्धि, न वेदविहित कर्म और न जप-तप ही जानूँ, न मन ही वशमें है न पवन। मुझे भारी भरोसा है कि परम करुणाके भण्डार प्रभु (श्रीरामजी) कठिन भवभयको हरण करेंगे।३।

टिप्पणी—१ 'नाहिनै चरन रति ' इति। (क) पद १९२ में उपदेश करते हुए कहा था कि श्रीराममे नाता-नेहु न होनेसे स्वार्थ परमार्थ कुछभी सिद्ध नहीं होता।—'जौपै जानकिनाथ सो नातो नेहु न नीच। स्वारथ परमारथ कहाँ ।' फिर पद १९४ मे समझाया कि यदि श्रीरामसे अनुराग न हुआ, तो नरदेह पानेका कुछ लाभ नहीं। पद १९० मे कहा था कि तूने उनसे स्वाभाविक स्नेह नहीं किया, इसीसे 'भवभाजन' हुआ, भवका अधिकारी हुआ; यथा—'....कियो न सनेहु। तातें भवभाजन भयो।' और प्रस्तुत पदमें 'चरन रति' न होनेसे विपत्ति का सहना कहते हैं। चरणानुराग न करनेसे दुःख भोगना पड़ता है, यथा 'अति दीन मलीन दुखी नितहीं। जिन्हकें पद-पंकज प्रीति नहीं।७।१४।'

पद १६८ में कहा था कि 'जौं पै रामचरन रति होती। तौ कत त्रिविध सूल निसि बासर सहते बिपति निसोती।' अर्थात् श्रीरामचरणोंमें प्रेम होता तो निरी विपत्तिही विपत्ति क्यों सहता? और, प्रस्तुत पदमें उसी बातको इस प्रकार कहते हैं कि वेद और मुनि सब यही कहते हैं कि चरणरति नहीं है, इसीसे विपत्ति सहनी पड़ती है। भाव दोनोंका एकही है।—अतः विशेष १६८ (१) में देखिए। इस तरह उत्तरार्धमें जो कहा है 'बसै जो ससि-उछंग', वही भाव १६८ (२) के 'जौं संतोष सुधा निसि बासर सपनेहुँ कबहुँक पावै। तौ कत विषय बिलोकि झूठ जल मन कुरंग ज्यों धावै।' में कहा गया है।

१ (ख) 'कहत श्रुति सकल मुनि' इति। पिछले पदमें श्रीशुकदेवजीका प्रमाण दिया था कि 'बिमुख रघुकुलबीर। कीजे जो कोटि उपाय त्रिविध ताप न जाइ।' पद ८७ में श्रुतिका प्रमाण दिया था; यथा 'मिटै न बिपति भजे बिनु रघुपति श्रुति संदेह निवेरो। ८७ (४)।' श्रुतिसम्मत* भागवतमें ब्रह्माजीने भी कहा है—'तावद्भयं द्रविणगेहसुहृन्निमित्तं शोकः स्पृहा परिभवो विपुलश्च लोभः। तावन्ममेत्यसदवग्रह आर्तिमूलं यावन्न तेऽङ्घ्रिमभयं प्रवृणीत लोकः। भा० ३।९।६।' (अर्थात्) प्रभो! जबतक पुरुष आपके अभयप्रद चरणकमलोंका आश्रय नहीं लेता तभी तक उसे धन गृह और सुहृद्जनोंके कारण प्राप्त होनेवाला भय तथा शोक, स्पृहा, पराभव और अत्यन्त तृष्णा आदि सताते हैं तथा तभीतक उसे 'मैं और मेरेपन' का दुःखजनक असत् आग्रह रहता है।'—'विपत्ति' में इस उद्धरणके भय, शोक, स्पृहा, पराभव और तृष्णा आदि सब आ जाते हैं।

२ 'बसै जो ससि उछंग'' इति। (क) पूर्व पद १३६ (२) के 'आनंदसिंधु मध्य तव बासा। बिनु जाने कस मरसि पियासा। मृगभ्रमबारि सत्य जल जानी। तहँ तू मगन भयो सुख मानी॥ तहां मगन मज्जसि पान करि त्रयकाल जल नाहीं जहां।', १६८ (२) के उपर्युक्त 'जौं संतोषसुधा' तथा 'ब्रह्मपियूष मधुर सीतल जौं पै मन सो रस पावै। तौ कत मृगजलरूप विषय कारन निसिबासर धावै। १६६ (२)।' मे और प्रस्तुत पदमें भावसाम्य है। अतः पाठक यहांके विशेष भाव १३६ (२ क–ग), १६८ (२ क, ख) और ११६ (३) में देख ले)

२ (ख) चन्द्रमामें पृथिवीकी छाया पडनेसे जो कालिमा उसमें देख पड़ती है, उसको प्राचीन कवियोने 'मृग' नाम दिया है। मानसमें भी श्रीभरद्वाजजी-का वाक्य है—'कीरति-बिधु तुम्ह कीन्ह अनूपा। जहँ बस राम-पेम मृगरूपा। २।२१०।१।'—इसमेंभी मृगका चन्द्रमामें बास कहा गया है। चन्द्रमामें इस श्यामता (मृग) का नित्य निवास होनेसे चन्द्रमाका नाम मृगाङ्क भी है; अर्थात् जिसके अंक (गोद) मे मृग रहता है। चन्द्रमा अमृतमय है, इससे उसका नाम

* यथा 'इमां भागवतीं प्रीतः संहितां वेदसंमिताम्। भा० १२।४।४२।'

'सुधाकर' है । इसी सबबसे यहाँ 'बसै जो ससि उछंग, सुधा-स्वादित कुरंग' कहा । चन्द्रमाकी गोदमें बैठनेसे उसे अमृत पीनेको मिला, अतः वह अमृतके स्वादको जानता है । इसीसे वह सुधा-स्वादित हिरन मृगतृष्णाजलको देखकर धोखा नहीं खाता । यह तो दृष्टान्त हुआ । अब दार्ष्टान्त सुनिये ।

यहाँ आनंदसिंधु श्रीरघुनाथजी चन्द्रमा हैं, भक्त जीव गोदमें बैठा हुआ मृग है; यथा 'आनंदसिंधु मध्य तव बासा । १३६(२) ।' वे आनंदसिंधु अमृतके समुद्र हैं; यथा 'सुधा-समुद्र समीप बिहाई । मृगजलु निरखि मरहु कत धाई । १।२४६।५।' ब्रह्मपियूष और संतोष तथा सहज आत्मस्वरूपको ऐसे प्रसंगोंमें सुधा कह आये हैं; यथा 'ब्रह्मपियूष मधुर सीतल जौं पै मन से रस पावै । ११६(३)।', 'जौं संतोष-सुधा निसि-बासर सपनेहु कबहुँक पावै ।....१६८(२)।' तथा 'निज सहज अनुभव रूप तव खलु भूलि जनु आयो तहाँ ।१३६ (२)।', 'निसि दिन भ्रमत बिसारि सहज सुख .... । ८८।'

विषय (सुख) रविकरवारि है, आशा प्यास है, जीव अथवा मन मृग है; यथा 'तौ कत मृगजलरूप विषय कारन ११६।', 'तौ कत बिषय बिलोकि झूठ जल ।१६८।'

जो जीव आनन्दसिंधुकी गोदमें बैठा हुआ ब्रह्मानंद, संतोष और सहज स्वरूपामृतको पान कर रहा है, वह विषयरूपी मृगजलको देखकर भी भ्रममें नहीं पड़ता । भगवद्भक्त जो अमानी दास हैं वे भगवान्‌के प्यारे पुत्र हैं, उनकी भक्तिरूपी गोदमें बैठे हैं(भगवान् उनकी रक्षा करते हैं);यथा 'बालक सुत सम दास अमानी ।','करउँ सदा तिन्ह कै रखवारी । जिमि बालक राखै महतारी ।३ ४३।'

कथन का तात्पर्य तो इतनाही है कि जो आनंदसिंधुकी गोदमें बैठा है,अर्थात् जिसका श्रीरामपदारविन्दमें प्रेम है, वह विषयमें आसक्त नहीं हो सकता; यथा 'रामचरनपंकज प्रिय जिन्हहीं। बिषय भोग बस करहिं कि तिन्हहीं ।२।८४।८।'; मेरी श्रीरामचरणोंमें प्रीति नहीं है, इसीसे मैं विषयोंमें आसक्त हो विपत्ति सहता हूँ ।—इसीको सीधे न कहकर ललित और दृष्टान्त अलंकारसे इस प्रकार कहा गया है कि 'बसै जो ससि ....नीर'।

पुनः, यहां काकोक्तिसे यह अर्थ देते हुए कि उसको भ्रम नहीं है, यह भी ध्वनितार्थ सूचित करते हैं कि जो जंगली मृग है उन्हींको रविकरनीरमें सच्चे जलका भ्रम होता है, वैसेही रामविमुखोंको ही सांसारिक विषयोंमें सच्चे सुख-का भ्रम होता है और वे सासारिक महा दुःख भोगते हैं ।

[भाव यह कि जो भगवान्‌की शरण गए उनपर प्रभुने कृपा की, वे भक्ति-रूप चन्द्रमाकी गोदमें प्रेमामृत पान करते हैं । जो हरिविमुख है उनपर हरि-कृपा न होनेसे वेही सर्वथा झूठी संसारी वस्तुओंमें सुख मानकर उनके पीछे

दौड़े-दौड़े मरते हैं। श्रीरामनामजप अमृत है जो रामानुरागी पीते हैं। (डु०, भ० स०)]

टिप्पणी—३ 'सुनिअ नाना पुरान ...' इति। (क) नाना पुराण सुनते रहिए फिर भी अज्ञान नहीं मिटता, पुराणोंको पढ़ते रहिए फिरभी उसका तत्व समझमे नहीं टिकता। इस कथनसे जनाया कि पुराणोमे सार-सिद्धान्तके उपदेश भरे पड़े हैं; उनके सुनानेवाले व्यास उन्हें सुनाते-समझाते हैं और स्वयं पढ़नेसे भी सिद्धान्त पढ़नेमें आता है,फिरभी अज्ञान नहीं मिटता।-यह मोहका प्राबल्यदिखाया।

३ (ख) पूर्व पद ११७ और ११६ मे भी कह आये हैं—'वेद पुरान सुनत समुझत रघुनाथ सकल जग व्यापी। भेदत नहिं श्रीखंड वेनु इव सारहीन मन पापी।', 'सुनिअ गुनिअ समुझिअ समुझाइअ दसा हृदयं नहिं आवै। जेहि अनुभव बिनु मोहजनित दारुन भव-बिपति सतावै।'— क्या सुनते हैं, क्या पढ़ते है, क्या समझना चाहिए जो नहीं समझते, इत्यादि सब इन उद्धरणोंमे बता आये हैं—११७ (४) और उसका नोट २ तथा ११६ (२ क-ख) देखिए। प्रस्तुत पदके'न समुझिअ' मे'भेदत नहिं' और'दसा हृदय नहिं आवै'काभाव है।

३ (ग) सुनने और पढ़नेसे भी मोह नहीं छूटता, सांसारिक निस्सार विषयोंमे मन आसक्त हो जाता है। इस पर 'खग कीर' का उदाहरण देते हैं। तोता पढ़ानेसे सुनता भी है और पाठ पढ़ताभी है। कवियोने तोतेके मोहपर कवितायेंभी की-हैं। यथा 'सेमर सुवना वेगि तजु, घनी विगुर्चन पाँख। ऐसा सेमर जो सेवै, हृदया नाहीं आँख।' (कबीरसाहब, वि० से उद्धृत)।

३ (घ) 'सेमर सुमन आस ...' इति। कविने महामोहके उदाहरणमें इसको दोहावलीमें इस प्रकार कहा है—'सोई सेंवर तेइ सुवा सेवत सदा बसत। तुलसी महिमा मोह की सुनत सराहत संत। दो० २५६।' अर्थात् वही सेमलका पेड़ है और वही तोते हैं, तोभी मोहवश वसन्तऋतु आनेपर सदा वे तोते उसीको सेवन करते हैं। इस बातको सुनकर संतलोगभी मोहकी महिमाकी सराहना करते है।

भाव यह है कि तोता वसन्तमे सेमलके वृक्षमे लगे हुए सुन्दर लाल-लाल फूल देखकर समझता है कि जब इसमे ऐसे सुन्दर फूल है तो फल न जाने कितना मीठा रसीला गूदेदार होगा। वह इसी आशामे रहता है। फल लगनेपर वह उसी आशासे फलमे चोंच मार-मारकर उसे काटता है तो उसे सारहीन पाता है, उसमे खानेकी वस्तु नहीं मिलती, सेमरकी रूई निकलती है; तब वह पछताता है। परन्तु फिर अगले वर्ष जब वसन्त आता है,तब वह भूल जाता है कि गत वर्ष इससे ठगे जा चुके हैं, इसमे गूदा नहीं होता, और फिर उसीका सेवन करता है। इसी तरह प्रति वर्ष यह अनुभव कर चुकनेपरभी कि इसका फल सारहीन है, वह उसीकी आशामे चोंच मारा करता है, हाथ कुछ नहीं

लगता, फिरभी वह उसे नहीं छोड़ता।

अब दार्ष्टान्त सुनिए। संसार सेमलका वृक्ष है जो सुंदर फूलोंफलोंसे युक्त दिखाई देता है। पूर्वभी कहा है—'जग नभवाटिका रही है फलि फूलि रे। धूआँ के से धौरहर देखि तू न भूलि रे।६६।' शब्दादि पंच विषय, स्त्री-पुत्र-देह-गेह आदि समस्त विषय सेमरके फल हैं। सेमलके फल सेवन करनेपर सार-हीन निकलते हैं, वैसेही विषय-सेवनपर विषय सारहीन सिद्ध होते हैं, उनमें सुखरूप सार नहीं है। इस प्रकार भाव यह हुआ कि संसारमे बारंबार जन्म लेकर अनुभव करता हूँ कि विषय ठग हैं, अनर्थरूप हैं, उनमे सुख नहीं है, फिर भी विषयमें सुखकी आशासे अनुरागकर भवमे पड़ता हूँ। प्रत्येक जन्ममें पश्चात्तापभी होता है, यथा 'बहु बिधि पुनि गलानि जिय जानी। अब जग जाइ भजों चक्रपानी।१३६(४)।'—(यह गर्भवासके कष्ट होनेपर पश्चाताप हुआ), 'अब सोचत मनि-बिनु भुजंग ज्यों बिकल अंग दले जरा धाय। सिर धुनि धुनि पछितात मींजि कर कोउ न मीत हित दुसह दाय। ८३।'—(यह जीते जी पछतावा होता है)। विषयके संबधमे अनुभव; यथा 'बंचक बिषय बिबिध तनु धरि अनुभये सुने अरु डीठे। यहु जानतहुँ हृदय अपने सपने न अघाइ उबीठे। १६६।', 'जानत अर्थ अनर्थरूप तमकूप परब यहि लागें। तदपि न तजत स्वान अज खर ज्यों फिरत बिषय अनुरागे।११७।'

☞ मिलान कीजिए—'कुत्राशिषः श्रुतिसुखा मृगतृष्णरूपाः, क्वेदं कलेवरमशेषरुजां विरोहः। निर्विद्यते न तु जनो यदपीति विद्वान्कामानल मधुलवैः शमयन्दुरापैः। भा० ७।६।२५।' अर्थात् अहो! कहां केवल सुननेमे सुखदायक मृगतृष्णारूप विषय-भोग और कहाँ संपूर्ण रोगोका उत्पत्तिस्थान यह शरीर? किन्तु मनुष्य इनकी असारता और नाशवत्ताको जानकर भी, बड़ी कठिनतासे प्राप्त होनेवाले (भोगरूप) मधुकणोंसे अपनी भोगेच्छारूप अग्निको शान्त करता हुआ, इनसे विरक्त नहीं होता।

वैजनाथजी तथा उनके अनुयायी कुछ टीकाकारोंने 'बझत बिनहिं पास' और 'सेमर-सुमन आस करि' को अलग-अलग कीरके अज्ञानके दो उदाहरण माने हैं। इस प्रकार 'बझत बिनहि पास' का भाव हुआ कि वह आपही चोंगलीपर बैठकर उसमें लटक जाता है, उसे छोड़ता नहीं, समझता है कि चोंगलीने मुझे पकड़ लिया है, बस व्याधा उसे विना किसी फंदेके ही पकड़ लेता है। इस तरह इसमे पद १२०के 'बिनु बाँधे निज हठ सठ परबस पर्‌यो कीर की नाईं।' का भाव है।१२०(२ख ग) देखिए। दूसरा उदाहरण दूसरी मूर्खताका है।

वै०—जीव विषयमे जिस प्रकार भूला रहता है सो सुनिए। भूषणवस्त्रसे सुसज्जित स्त्रीको देख उसके मिलनेकी आशा किये उसकी प्राप्तिमे दण्ड

और अपमान आदि दुःख सहना पड़ा, तब पछताया कि अब ऐसा न करूँगा। परन्तु फिर स्त्रीको देखकर पीछेका पश्चात्ताप भूल जाता है, वैसाही पुनः करता है। पुनः, षट्रस स्वादिष्ट, गरिष्ट भोजन भरपेट खा लेता है जिससे वमन, विरेचन, अफरा और शूल आदि दुःख होनेपर पछताता है; परन्त फिर वैसाही करता है। इस प्रकार जान-जानकर बारबार वही करता है।—अतएव अपनी क्रियाका भरोसा कैसे रख सकूँ?

टिप्पणी—४ 'कछु न साधन सिधि जानौं'' इति। (क)—ऊपर 'कीर' पक्षीका उदाहरण देकर अपने महामोहका प्राबल्य दिखाया। अपने कर्म तो इस प्रकारके हैं कि बारंबार असारताका अनुभव कर-करके भी उसीके लिये लोलुप रहता हूँ, तब अपने सामर्थ्यसे मैं कब भवबंधनसे छुटकारा पा सकता हूँ? जो कहिये कि जप, तप, योग आदि वेद-विधि अनुसार साधन करो, तो उसपर कहते हैं कि मैं ये कुछभी नहीं जानता। साधन—ज्ञान, वैराग्य और भक्ति आदि। साधन नहीं है, यथा 'ज्ञान विराग भगति साधन कछु सपनेहुँ नाथ न मेरे।१८७।' वेद विधि—अर्थात् वेदविहित कर्म-धर्म। 'मन बस न समीर'—अर्थात् जैसे योगी लोग प्राणायाम द्वारा पवनको वश करते हैं, मनको इधर-उधर नहीं जाने देते; यथा 'जिति पवन मन गो निरस करि' ४।१०छं०।' सो येभी मेरे वशमें नहीं हैं।

४ (ख) 'भरोस परम करुनाकोस'' इति। भाव कि महामोह और विषम भवभयका हरण एकमात्र आपकी करुणासे हो सकता है, अतः मुझे इसी परमकरुणाका भरोसा है। विषम भवभयका कारण मोह है जो ऊपर दिखा आये। यह मोह 'प्रभु' केही छुटाये छूटता है; यथा 'तुलसिदास प्रभु मोह शृंखला छूटिहि तुम्हरेहि छोरें।११४।' पूर्व यह भी कह आये हैं कि जीवमात्रको आपनेही मोहमें बाँधा है, अतः आपही मोहबंधन काट सकते हैं, दूसरा नहीं; यथा 'तुलसिदास यह जीव मोह रजु जेहि बाँध्यो सोइ छोरै।१०२।' वह दशा जिससे मोहजनित भवविपत्ति दूर होती है हृदयमें आपकी कृपा करुणासे प्राप्त हो सकती है, अन्यथा नहीं, यह विश्वास और भरोसा प्रार्थीको है। यथा 'सुनिअ गुनिअ समुझिअ समुझाइअ दसा हृदय नहिं आवै। जेहि अनुभव बिनु मोहजनित दारुन भव-बिपति सतावै॥'' तुलसिदास हरिकृपा मिटै भ्रम, यह भरोस मन माहीं। ११६।'; ऐसेही प्रसंगमें पद ११७ में भी करुणाका ही भरोसा जनाया है; यथा 'मैं अपराधसिंधु करुनाकर जानत अंतरजामी। तुलसिदास भवब्यालग्रसित तव सरन उरगरिपुगामी।' वैसेही यहाँभी करुणा-गुणका अवलंब कह रहे हैं। आप 'परम करुणाके कोश' हैं, अतएव करुणाही नहीं किन्तु परम करुणा करके मेरे भवभयको अवश्य हरण करेंगे।

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

१९८ (केदार-ज०)

मन पछितैहै औसर[1] बीतें।
दुर्लभ देह पाइ हरिपद भजु करम बचन अरु ही तें।१।
सहसबाहु दसबदन आदि नृप[2] बचे न काल बली तें।
हम हम करि धन धाम सँवारे अंत चले उठि रीतें।२।
सुत बनितादि जानि स्वारथरत न करु नेह सबही तें।
अंतहु तोहि तजहिंगे[3] पाँवर[4] तू न तजहि[5] अबही तें।३।
अब नाथहिं अनुरागु जागु जड़ त्यागु दुरासा जी तें।
बुझै न काम अगिनि तुलसी कहुँ बिषय-भोग बहु घी तें।४।

शब्दार्थ—ही = हृदय। सहसबाहु = राजा सहस्रार्जुन जिसको परशुराम-जीने मारा था। दसवदन = दशमुखवाला रावण। हम हम करना = जो कुछ है सो हमही हैं, हमारे सिवा दूसरा कोई जगत्पति जगत्पालनकर्ता आदि नहीं है—ऐसा कहना। = अहंकार अभिमानके वशीभूत होना। सँवारना = सुचारु-रूपसे संपन्न करना; सजा सजाकर रखना। रीते = खाली (हाथ)। अंत = मरण काल; मरते समय; अखीर। अंतहु = अंत समय। = आखिर तो; निदान। दुराशा = बुरी वासनायें। = ऐसी आशा जो पूरी होनेवाली न हो; दुःखप्रद आशा।

पद्यार्थ—रे मन! अवसर निकल जानेपर तुझे पछताना पड़ेगा। दुर्लभ (मनुष्य) देह पाकर कर्म, वचन और मनसे भगवान्‌के चरणोंकी सेवा कर (भगवद्भजन कर)।१। हजारभुजाओंवाला सहस्रार्जुन और दशमुखवाला रावण आदि राजा (भी) बलवान् कालसे न बचे। हम-हम करके (इन्होंने) धन और धाम सजा-सजाकर रक्खे; (परन्तु) अंतमें खाली (हाथ) उठकर चल दिये।२। पुत्र और स्त्री आदिको स्वार्थपरायण (अपने स्वार्थसे प्रेम करनेवाले, स्वार्थी मतलबी) जानकर (इन) सभी (लोगों) से प्रेम न कर। अरे नीच! आखिर तो ये तुझे त्याग ही देंगे, (तब) तू उन्हें अभीसे क्यों नहीं त्याग देता?।३। रे जड़ (जिसकी बुद्धि पथरा गई है, मूर्ख)! अब जाग जा (सचेत होजा), अपने स्वामी (श्रीरामचन्द्रजी) से अनुराग कर और दुराशाओंको हृदयसे त्याग दे। रे तुलसी! कामनारूपी अग्नि विषयभोगरूपी बहुतसे घीसे कभीकहींभी नहींबुझती।४।

---

१ औसर—रा०, भा०, वे०। अवसर—ह०, ५१, ७४, आ०, १५। २ दै—प्र०, १५। ३ तजहिंगे—रा०, १५, छु०, ७४। तजैंगे—भा०, वे०, आ०। ४ पामर—ह०, ५१, आ०। पांवर—रा०, भा० वे०। ५ तजै—ह०, ज०, भ०, ७४, दीन, वि०। तजहि—रा०, भा०, वे०, मु०, वै०, छु०।

टिप्पणी—१ 'मन पछितैहै औसर बीते।' इति। (क) पूर्वभी मनको इसी तरह समझाया था; यथा 'तौ तू पछितैहै मन मीँजि हाथ।८४।' भेद केवल इतना है कि वहाँ समझानेकी शैली दूसरी है और यहाँ दूसरी। वहाँ यह कहकर समझाया था कि सुरदुर्लभ तन तुझे प्राप्त हुआ है, इसे व्यर्थ क्यों खोता है? हरिविमुखके सब सुखसाधन व्यर्थ जाते हैं—यह विचारकर रामसम्मुख हो, इत्यादि। और यहाँ प्रथम ही 'हरिपद भजु' यह उपदेश करके तब उसका कारण आगे बताते हैं कि 'सहसबाहु अवही तें।' यदि मेरा कहा न मानेगा तो पछतायेगा। पद ८३, ८४, १९८ और २०१ का मिलान आगे पद २०१ में टि० ५ (ग) में देखिए।

१ (ख) 'दुर्लभ देह पाइ' इति। पद ८३ में पश्चात्ताप करते हुये कहा था कि जन्म व्यर्थ गया,-'अति दुर्लभ तनु पाइ कपट तजि भजे न राम मन वचन काय।', और यहाँ मनको उपदेश करते हैं कि 'हरिपद भजु'। 'दुर्लभ तनु पाइ' और 'मन वचन काय' के भाव यहाँ के 'दुर्लभ देह पाइ' और 'करम वचन अरु ही तें' में हैं। 'हरिपद' और 'राम' या 'रामपद' एकही है; यथा 'रामाख्यमीशं हरिम्' (मानस बालकांड मं० श्लो०)। ८३ (१-ग-घ) में इनके भाव देखिए।

२ 'सहसबाहु दसवदन आदि' इति। (क) सहस्रबाहुकी कथा परशुरामजीकी कथामें ५२ (६ क) में आ चुकी है और रावणको सभी जानते हैं। ये नाम देकर जनाया कि एकहजार भुजाओंसे लड़नेवाले और दस-दस सिर और बीस-बीस भुजाओंवाले ऐसे परम समर्थ बलवान वीरभी जब कालसे न बचे, तब तेरे तो एकही सिर और दोही हाथ हैं, तू किस अभिमानमें बैठा है? 'आदि' में अन्य सभी महाबलवान्, महावीर्यशाली तथा परमनिष्ठावान् राजाओंको कह दिया। इसमें इक्ष्वाकु, जह्नु, मान्धाता, सगर, मरुत, ययाति और नहुष आदि प्रतापशाली राजाभी आगए। इन्होंने अनन्त धन संचय किया, पर कालने आज उन्हें कथामात्रही शेष रक्खा है। यथा 'इक्ष्वाकुजह्नुमान्धातृसगराविक्षितान्रघून्। ययातिनहुषाद्यांश्च ज्ञात्वा निष्ठामुपागतान्॥ वि० पु० ४।२४।१४१। महाबलान्महावीर्याननन्तधनसञ्चयान।'

२ (ख) 'हम हम करि धन-धाम' इति। 'हम-हम करि' अर्थात् अहंकारपूर्वक। भाव कि यह मानकर एवं कहकर कि जो कुछ हैं हमही हैं, हमही सारी पृथ्वीके पति हैं दूसरा नहीं। श्रीमद्भागवतमें भवाटवीके स्पष्टीकरण प्रसंगमें ऐसाही कहा है; यथा 'यदपि दिग्गिभजयिनो यज्विनो ये वै राजर्षयः किं तु परं मृधे शयीरन्नस्यामेव ममेयमिति कृतवैरानुबन्धायां विसृज्य स्वयमुपसंहृताः। भा० ५।१४।४०।' अर्थात् जो दिग्गजोंको जीतनेवाले और बड़े-बड़े यज्ञोंका अनुष्ठान करनेवाले हैं, वेभी इस पृथिवीमें 'यह मेरी है, तेरी नहीं' इस प्रकार वैर

की कथाओंसे यही शिक्षा मिलती है । श्रीशुकदेवजीने भी यही कहा है; यथा 'कथा इमास्ते कथिता महीयसा विताय लोकेषु यशः परेयुषाम् । विज्ञानवैराग्यविवक्षया विभो वचोविभूतीर्न तु पारमार्थ्यम् । भा० १२।३।१४।' अर्थात् हे राजन् ! संसारमें अपनी कीर्तिको फैलाकर मरे हुए इन महापुरुषोंकी कथायें मैंने विज्ञान और वैराग्य वर्णन करनेकी इच्छासे (विषयोंकी असारता और इनसे वैराग्य बतलानेके हेतु) ही तुमको सुनाई हैं । यह सब वाणीका विलासमात्र है, इसमें परमार्थ कुछ नहीं है ।

श्रीपराशरजीनेभी उपर्युक्त (वि० पु० के उद्धरण) वचन कहकर यही सिद्धान्त किया है कि इन राजाओंके चरित्रोंको सुनकर, जिन्हें कि कालने आज कथामात्रही शेष रक्खा है, प्रज्ञावान् मनुष्य पुत्र, स्त्री, घर, क्षेत्र और धन आदिमें ममता न करेगा ।—'कृतान्कालेन बलिना कथाशेषान्नराधिपान् ।।१४२। श्रुत्वा न पुत्रदारादौ गृहक्षेत्रादिके तथा । द्रव्यादौ वा कृतप्रज्ञो ममत्वं कुरुते नरः ।१४३।' (वि० पु० ४।२४)। और भी कहा है ।—''एतद्विदित्वा न नरेण कार्यं ममत्वमात्मन्यपि पण्डितेन । तिष्ठन्तु तावत्तनयात्मजाद्याः क्षेत्रादयो ये च शरीरिणोऽन्ये । वि० पु० ४।२४।१५१।'' अर्थात् ऐसा जानकर पुत्र, पुत्री और क्षेत्र आदि तथा अन्य प्राणी तो अलग रहें, बुद्धिमान् मनुष्यको अपने शरीरमेंभी ममता नहीं करनी चाहिए ।

'चले उठि रीतें'—भाव कि जिन धन और धाममें इतना भारी ममत्व था, जिनके लिये अहंकारवश किसीको कुछ न समझा था, वह सब तो यहीं ज्योंका त्यों पड़ा रह गया, उसे साथ न ले जा सके, यहांसे खाली हाथ स्वयं उन्हींको उठ जाना पड़ा ।

३ 'सुत बनितादि जानि ' इति । (क) सुत, बनिता आदि । 'आदि' से माता, पिता, भाई, बहिन, सखा, स्नेही और बंधु-वर्ग सबको कह दिया । स्वार्थपरायणता इनकी पूर्व दिखा आये हैं । यथा 'जिन्ह लगि निज परलोक बिगार्‌यो ते लजात होत ठाढे ठायँ ।८३।' 'त्यों सेयतहुँ निरापने मातु पिता सुत नारि ।। दै दै सुमन तिल बासि कै अरु खरि परिहरि रस लेत । स्वारथहित भूतल भरे''' । १९०।'—८३ (६ क), १९० (२, ३ क-ख) देखिए । यहां सुत और बनिता दो नाम दिये, क्योंकि ये दो ममताके विशेष आश्रयरूप हैं । प्रीति सबसे अधिक पुत्रमें होती है; यथा 'सुत की प्रीति ।२६८।' सो वही पिताकी संपत्ति तुरंत पानेके लिये पिताको ही मार डालता है। और जो अपनी अभिलाषाकी पूर्तिके लिये अपनेआत्माके समान प्रियतमा जान पड़ती है, उस स्त्रीका वास्तवमें कोईभी प्रिय नहीं होता । अपने स्वार्थका विघात होनेपर पति, पुत्र और भाईको भी वह स्वयं मार डालती है, या दूसरोंसे मरवा डालती है— 'न हि कश्चित्प्रियः

स्त्रीणामञ्जसा स्वाशिपात्मनाम्। पतिं पुत्रं भ्रातरं वा घ्नन्त्यर्थे घातयन्ति च। भा० ६।१८।४२।'—जब ये दोनों ही ऐसे स्वार्थी हैं, तब दूसरोंका कहनाहीं क्या?—ये कश्यपजीके वाक्य हैं।

३ (ख) 'न करु नेह सबही तें'—अर्थात् सुत, वनिता आदि जितनेभी हैं किसीसे प्रेम न कर; इसका एक कारण तो यह बताया कि वे सब स्वार्थी हैं और दूसरा कारण आगे बताते हैं कि 'अंतहु '। ☞'अंतहु' अर्थात् आखिर तो एवं अतकाल समय। सुत-कलत्रादि यदि पहले मरे तो भी उनका तुझे छोड़ना हुआ और यदि तू प्रथम मरा तो वे तेरे साथ न जायँगे, अधिकसे अधिक श्मशान तक तेरे शवके साथ जाकर लौट आयँगे; यह भी छोड़ना हुआ। अंतः इनसे स्नेह न कर। भाव यह है कि ममताके आश्रयरूप पुत्र, स्त्री, घर, धन, राज्य, कोश. गज, अमात्य, सेवक तथा विश्वासपात्र व्यक्ति सभी तो देहके साथही नष्ट हो जानेवाले है, तब इन तुच्छ विपयोंसे आत्माका क्या प्रयोजन? ये सब आत्माके लिये अनर्थरूप है। अतः किसीमें स्नेह न कर।—'किमेतैरात्मनस्तुच्छैः सह देहेन नश्वरैः। अनर्थैरर्थसंकाशैर्नित्यानन्दमहोदधेः। भा० ७।७।४५।' भगवान्ने उद्धवजीसे कहा है कि पुत्र, स्त्री, सुहृद और बधुओंका समागम पथिकोंके समागमकी नाई है, क्योंकि जेसे निद्रा जानेपर स्वप्न चला जाता है वैसेही देहके न रहनेपर ये सब चले जाते हैं— 'पुत्रदाराप्तबंधूनां सङ्गमः पान्थसङ्गमः। अनुदेहं वियन्त्येते स्वप्नो निद्रानुगो यथा। भा० ११।१७। ५३।', 'यद्यद्धास्यति लोकेऽस्मिन् सम्परेतं धनादिकम्। तस्य त्यागे निमित्तं किं ।भा०८।२०।६।'(अर्थात् ये धन आदि पदार्थ हमारे न छोड़नेपर भी हमें मरनेपर छोड़देंगे. तब उन्हे अपनेसे ही त्याग न देनेमें क्या कारण हो सकता है, उन्हे क्यो न त्याग दिया जाय?

जीव अकेला ही जन्म लेता है, अकेला मरता है। मृत्यु हो जानेपर इस शरीरको काठ और मिट्टीके ढेलेकी भाँति त्यागकर भाई-बंधु मुँह फेर लेते हैं, उसके साथ केवल उसका धर्मही जाता है। यथा 'देहे पञ्चत्वमापन्ने त्यक्त्वैकं काष्ठलोष्टवत्। बान्धवा विमुखा यान्ति धर्मो यान्तमनुव्रजेत।' (स्कं ब्रा० धर्म० ५।२६)।—यह सब 'अंतहु तोहि तजहिंगे' का भाव है। म० भा० शान्ति० २७७ पुत्र-पिता-संवादमे पुत्रने कहा है—'जब एक दिन आपको मरना ही है, तब इन धन-वैभव, बंधु-बान्धव तथा स्त्री-पुत्रोंसे क्या प्रयोजन है? सोचिये तो सही, आज आपके पिताजी कहां है, दादा-बाबा कहां चले गये?'—'किं ते धनैर्बान्धवैर्वापि किं ते दारैर्ब्राह्मण यो मरिष्यसि। ' 'पितामहास्ते क्व गताः पिता च।३८।' —(ऐसा भी कह सकते है कि'हम हम करि धन धाम सँवारे' में जड़ पदार्थोंको कहा और बनिता आदि से देहसबंधी चेतन पदार्थ कहे गये।)

स्त्रीणामञ्जसा स्वाशिपात्मनाम्। पतिं पुत्रं भ्रातरं वा घ्नन्त्यर्थे घातयन्ति च। भा० ६।१८।४२।'—जब ये दोनों ही ऐसे स्वार्थी हैं, तब दूसरोंका कहनाही क्या?—ये कश्यपजीके वाक्य हैं।

३ (ख) 'न करु नेह सबही तें'—अर्थात् सुत, वनिता आदि जितनेभी हैं किसीसे प्रेम न कर; इसका एक कारण तो यह बताया कि वे सब स्वार्थी हैं और दूसरा कारण आगे बताते हैं कि 'अंतहु '। ☞'अंतहु' अर्थात् आखिर तो एवं अंतकाल समय। सुत-कलत्रादि यदि पहले मरे तो भी उनका तुझे छोड़ना हुआ और यदि तू प्रथम मरा तो वे तेरे साथ न जायँगे, अधिकसे अधिक श्मशान तक तेरे शवके साथ जाकर लौट आयेंगे; यह भी छोड़ना हुआ। अतः इनसे स्नेह न कर। भाव यह है कि ममताके आश्रयरूप पुत्र, स्त्री, घर, धन, राज्य, कोश, गज, अमात्य, सेवक तथा विश्वासपात्र व्यक्ति सभी तो देहके साथही नष्ट हो जानेवाले है, तब इन तुच्छ विषयोंसे आत्माका क्या प्रयोजन? ये सब आत्माके लिये अनर्थरूप है। अतः किसीमें स्नेह न कर।—'किमेतैरात्मनस्तुच्छैः सह देहेन नश्वरैः। अनर्थैरर्थसंकाशैर्नित्यानन्दमहोदधेः। भा० ७।७।४५।' भगवान्ने उद्धवजीसे कहा है कि पुत्र, स्त्री, सुहृद और बंधुओंका समागम पथिकोंके समागमकी नाईं है, क्योंकि जैसे निद्रा जानेपर स्वप्न चला जाता है वैसेही देहके न रहनेपर ये सब चले जाते हैं— 'पुत्रदाराप्तबंधूनां सङ्गमः पान्थसङ्गमः। अनुदेहं वियन्त्येते स्वप्नो निद्रानुगो यथा। भा० ११।१७। ५३।'. 'यद्यद्धास्यति लोकेऽस्मिन् सम्परेतं धनादिकम्। तस्य त्यागे निमित्तं किं ।भा०८।२०।६।'(अर्थात् ये धन आदि पदार्थ हमारे न छोड़नेपर भी हमे मरनेपर छोड़देंगे, तब उन्हे अपनेसे ही त्याग न देनेमें क्या कारण हो सकता है, उन्हे क्यों न त्याग दिया जाय?

जीव अकेला ही जन्म लेता है, अकेला मरता है। मृत्यु हो जानेपर इस शरीरको काठ और मिट्टीके ढेलेकी भाँति त्यागकर भाई-बंधु मुँह फेर लेते हैं, उसके साथ केवल उसका धर्मही जाता है। यथा 'देहे पञ्चत्वमापन्ने त्यक्त्वैकं काष्ठलोष्टवत्। बान्धवा विमुखा यान्ति धर्मो यान्तमनुव्रजेत।' (स्कं० ब्रा० धर्म० ५।२६)।—यह सब 'अंतहु तोहि तजहिंगे' का भाव है। म० भा० शान्ति० २७७ पुत्र-पिता-संवादमे पुत्रने कहा है—'जब एक दिन आपको मरना ही है, तब इन धन-वैभव, बंधु-बान्धव तथा स्त्री-पुत्रोसे क्या प्रयोजन है? सोचिये तो सही, आज आपके पिताजी कहां है, दादा-बाबा कहां चले गये?'—'किं ते धनैर्बान्धवैर्वापि किं ते दारैर्ब्राह्मण यो मरिष्यसि। 'पितामहास्ते क्व गताः पिता च।३८।'—(ऐसा भी कह सकते है कि 'हम हम करि धन धाम सँवारे' में जड़ पदार्थोंको कहा और वनिता आदि से देहसंबंधी चेतन पदार्थ कहे गये।)

३ (ग) 'तू न तजहि अबही तें'—भाव कि एक तो स्वार्थीका संग योंही न करना चाहिए, दूसरे जब वे एक-न-एक दिन जीते-जी अथवा अन्त समय तुझे त्यागही देंगे, तब उनका साथ अभीसे छोड़ देना उचित है। उनका साथ छोड़ दें तो किसका साथ करें, जो कभी त्याग न करे और स्वार्थीभी न हो,–यह आगे बताते है और पूर्वभी बारंबार बता आये हैं। तजनेका भाव यह है कि उनकी ममता छोड दे।

४–'अब नाथहिं अनुरागु जागु जड़' इति। (क) ऊपर धन, धाम, सुत और वनिता आदिमें जो स्नेह है उसको त्याग करनेको कहा। यह स्नेह (मोह ममत्व) ही रात्रि है जिसमे जीव सो रहा है; यथा 'सुत-बित-दार-भवन-ममता निसि सोवत अति न कबहुँ मति जागी।१४०।' सोते समय मनुष्य जड़वत् होता ही है, अतः जगानेमें 'जड़' संबोधित किया। मोह-ममतामें पड़े हुये जीवकी बुद्धि पथरा जाती है। पूर्व भी उसको ऐसी अवस्थामे 'जड़' कहा है; यथा 'जागु जागु जीव जड़ जोहै जग जामिनी।' ७३ (१ ग) देखिए। —'जागु जड़' के विशेष भाव ७३ (३ ख) और १४० (२ ख) में देखिए। [मोह-वश अपनी हानि-लाभ दुःख-सुख जिसे न सूझ पडे वह 'जड' है। (वै०)] विषयों-से वैराग्य होना जागना है। जागनेपर क्या करे सो भी बताते है कि 'नाथहिं अनुरागु'। अनुराग-शब्दसे सूचित किया कि जो राग सुत, स्त्री, धन,धाम आदि में था, उसे समेटकर प्रभुमें लगादे।

४ (ख) 'त्यागु दुरासा जी तें' इति। यह अनुरागकी स्थितिके लिये संयम बताते हैं कि विषयवासनाओं विषयभोगके मनोरथोंको हृदयसे त्याग दे। क्यों विषयोंकी आशाका त्याग करें इसका कारण उत्तरार्धमे स्वयं कहते हैं। विषयों-को पुरुषार्थ मान लेनेसे लौकिक तथा पारलौकिक मनोरथोंका अन्त नहीं होता। विषयकी आशाके रहते भक्ति नहीं रह सकती। यथा 'बिषय आस दुर्बलता गई॥ बिमल ज्ञान जल जब सो नहाई॥ तब रह रामभगति उर छाई।७।१२२।'

४ (ग) 'बुझै न काम अगिनि' इति। भाव कि जैसे जैसे घी अग्निमें पड़ता जाता है तैसे-तैसे अग्नि और भी अधिक प्रज्वलित होती जाती है; वैसेही एक विषयकी कामना हुई और वह विषयभोग प्राप्त हो गया, तो तुरंत ही दूसरी कामना उत्पन्न हो जाती है; इसी प्रकार विषयकी कामनाओंका ताँता लगा रहता है, कभी इति नहीं होती। विषयभोगसे कभी तृप्ति नहीं होती, प्रत्युत कामनायें बढ़तीही जाती हैं। यथा 'सेवत बिषय बिबर्द्ध जिमि नित-नित नूतन मार। ल० ९१।'–(रावणके सिर ज्यो-ज्यों काटे जाते त्यो-त्यों वे अपार बढ़ते जाते थे, उस अपार वृद्धिपर यह उदाहरण दिया गया है)।

यहां कामको अग्नि और विषयको घृत कहा है। घी अग्निमे छोडनेसे वह

(अग्नि)बुझती नहीं वरन् अधिक बढ़ती है। श्रीसौभरि ऋषि तथा ययाति आदिके प्रसंगोंमें भी ऐसीही उपमा दी गई है। यथा—'एवं गृहेष्वभिरतो विषयान्विविधैः सुखैः। सेवमानो न चातुष्यदाज्यस्तोकैरिवानलः। भा० ९।६।४८।' (श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि सौभरि ऋषि गृहस्थीमें इस प्रकार अनुरक्त रहकर विविध विषयभोग करते हुये भी उन सुखोंसे इसी भाँति तृप्त न हो सके जैसे घीके छीटोंसे अग्नि शान्त नहीं होती)। यह उद्धरण 'बुझै न काम' का उदाहरण है।

'न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति। हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते। भा०९।१९।१४।'(ययातिजी देवयानीसे कह रहे है कि विषयोंके भोगनेसे भोगवासना कभी शान्त नहीं हो सकती, वरन् जैसे घीकी आहुति डालनेसे आग और भड़क उठती है वैसेही भोगवासनाओंकी भी वृद्धि भोगोसे होती है।) —इस उद्धरणमें कामाग्निका विषयरूपी घृतसे अधिक प्रबल होना दिखाया है।

☞ जैसे ययातिने यह कहकर फिर निश्चय किया था कि 'तां तृष्णां दुःखनिवहां शर्मकामो द्रुतं त्यजेत् ।१६।', 'तस्मादेतामहं त्यक्त्वा ब्रह्मण्याधाय मानसम्। ।१९।' —(जो अपना कल्याण चाहता है उसे शीघ्र इस तृष्णा (भोगवासना) का त्याग कर देना चाहिए। इस लिये अब मैं विषयभोगोकी वासनाका त्याग करके अपना अन्तःकरण परब्रह्ममें लगाऊंगा); ठीक वैसाही इन अंतिम दो चरणोंमें गोस्वामीजीने कहा है। भेद केवल इतना है कि क्रम पलट दिया है। यहाँ 'अब नाथहिं अनुरागु जागु' प्रथम है और 'बुझै न काम अगिनि '' ' उसका कारण अंतमें कहा है और वहां (ययातिवाक्योंमें) 'न जातुः कामः एवाभिवर्द्धते' इसे प्रथम कहा है, 'तस्माद् ब्रह्मण्याधाय मानसम्।' को अन्तमें। 'त्यागु दुराशा ' ' और उसकी जोड़के 'तां तृष्णां द्रुतं त्यजेत्' दोनोमे मध्यमे ही है।

राजा पुरूरवानेभी कहा है— 'न तृप्यत्यात्मभूः कामो वह्निराहुतिभिर्यथा। भा० ११।२६।१४।' (जैसे आहुतियोंसे अग्नि शान्त नहीं होती, वैसेही मेरे मनमें प्रकट हुआ कामदेव तृप्त न हो सका)।

नोट—ऊपर कहा था कि "सुत बनितादि' अंतहुँ तोहि तजहिंगे',अतः उनको छोड़ देना उचित है।" यह कहकर 'अब नाथहिं अनुरागु' उपदेशसे जनाया कि जो सबको छोड़कर श्रीहरिसे अनुराग करता है,उसको ये कभी नहीं छोड़ते। यथा 'ये दारागारपुत्राप्तान् प्राणान् वित्तमिमं परम्। हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे। भा० ९ ४।६५।' (यह भगवान्ने दुर्वासाजीसे कहा है)। मानसमे भी कहा है—'सबकै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहि बाँध बरि डोरी॥ ' अस सज्जन मम उर बस कैसे। लोभी हृदय बसइ धन जैसें।५।४८।'

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

१९९ (१२७)

काहे को फिरत मूढ़ मन धायो ।
तजि हरिचरनसरोज सुधारस रबिकरजल लय लायो ।१।
त्रिजग देव नर असुर अपर जगजोनि सकल भ्रमि आयो ।
गृह बनिता सुत बंधु भये बहु मातु पिता जिन्ह जायो ।२।
जातें निरय निकाय निरंतर सो[1] इन्ह तोहि सिखायो ।
तव हित होइ कटहिं भवबंधन सो मग तो[2] न बतायो ।३।
अजहुँ बिषय कहुँ जतन करत जद्यपि बहु बिधि डहँकायो ।
पावक-काम भोग-घृत तें सठ कैसेंव[3] परत बुझायो ।४।
बिषयहीन दुख मिलें बिपति अति सुखु सपनेहुँ नहिं पायो ।
उभय प्रकार[4] प्रेतपावक ज्यों धन दुखप्रद श्रुति गायो ।५।
छिनु छिनु छीन होत जीवन दुरलभ तनु वृथा गँवायो ।
तुलसिदास हरि भजहि आस तजि काल उरग जग खायो ।६।

शब्दार्थ—मूढ़=जिसकी विक्षिप्त दशा हो । धायो=दौड़ा-दौड़ा; मारा-मारा । लय=लौ; लगन । लय लायो=लौ लगाई । त्रिजग (तिर्यक्)=पशु-पक्षी आदिकी योनि;—९२ (१ क-ख), १५७ (५ क) देखिए । अपर=और; अन्य । भ्रमना=फिरना; भटकना; चक्कर लगाना । बनिता=स्त्री । जाना=पैदा करना; जन्म देना । निरय=नरक । निकाय=समूह । तो—यह एक अव्यय है जिसका व्यवहार किसी शब्दपर जोर देनेके लिये अथवा कभी योंही किया जाता है । पद्यमें इसका प्रयोग 'तुझ' 'तोको' अर्थ मेंभी होता था । डहँकाना= किसीके धोखेमे आकर अपने पासका कुछ खोना ।=ठगा, छला या धोखेमे डाला जाना । डहँकायो=ठगा गया । कैसेंव=किसी प्रकारभी । परना (पड़ना) =जा सकना । बुझायो परत=बुझाया जा सकता है । प्रेतपावक—वह प्रकाश जो प्रायः दलदलों, जंगलों या कबरस्तानोंमें रातके समय चलता हुआ दिखाई

---

१ सो—६६, भा०, बे०, बै०, मुं०, भ०, ७४ । सोइ—ह०, ५१, दीन०, वि० । सोई—रा० । २ तो—६६, रा०, भ० । तौ—प्र०, ह०, ७४ । तोहि—भा०, बे०, मु०, ५१, आ० । ३ कैसेंव—६६. रा० । कैसेंउ—भ० । कैसे—भा०, बे०, ७४, ५१, आ० । ४—प्रकार ६६ में नहीं है, औरोंमें है ।

पड़ता है और जिसे लोग भूतों–पिशाचोंकी लीला समझते है। प्रायः जहां फास-फोरस होता है वहां यह बात देखनेमें आती है। ☞ यह प्रेतकी एक योनिभी है, जो अबभी प्रायः जंगलोंके किनारेवाले देशोंमे, विशेषतः भैंस आदि चराने-वालोंको, प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं। उनके मुखमें अग्निकी-सी ज्वाला देख पड़ती है। वे जीव-जन्तुओं कीड़ों पतिंगोंको खाते है और भैंसको बहुत दिक करते हैं। इनके मिलनेपर भय लगता है और देख लेनेपर यदि वह न मिला तो शंकासे भय बराबर बना रहता है।–हिन्दूधारणाके अनुसार यहां 'प्रेतपावक' का यही प्रेतयोनि अगियावेतालही अर्थ है। पद ५९ मे चित्तको इसी वेतालसे रूपित किया गया है। ५९ (६ घ) देखिए।

पद्यार्थ—रे मूढ़ मन! तू किस लिये (इधर-उधर विक्षिप्त) मारा-मारा फिरता है? भगवानके चरणकमलरूपी (एव चरणकमलके) अमृतरसको छोड़कर तूने मृगतृष्णाजलसे (क्यो) लौ लगाई है?।१। पशु-पक्षी आदि, देवता, मनुष्य, असुर (दैत्य, दानव, राक्षस आदि) तथा ससारकी अन्य सभी योनियोमे तू चक्कर लगा आया। (इन सभी योनियोमें तेरे) घर, स्त्री, पुत्र, भाई और जिन्होंने तुझे जन्म दिया वे माता-पिता (सभी) बहुतेरे हुए (अर्थात् प्रत्येक जन्ममे तुझे ये सब मिले)।२। इन्होंने तुझे निरन्तर (रात-दिन) वही शिक्षा दी जिससे सदा नरक-समूहकी प्राप्ति हो। वह मार्ग तो तुझे बताया नहीं जिससे तेरा कल्याण हो, भवबंधन कट जाय।३। यद्यपि बहुत प्रकारसे तू ठगा गया, तथापि तू अबभी विषयोंके लियेही यत्न करता है। रे शठ! कामरूपी अग्नि क्या किसी प्रकारभी विषयभोगरूपी घीसे बुझाया जा सकता है?।४। विषयकी प्राप्ति न होनेसे दुःख और उसके प्राप्त होनेपर (तो) अत्यन्तही विपत्ति पाई, सुख स्वप्नमे भी नहीं मिला। धन दोनों प्रकारसे (अर्थात् अप्राप्ति और प्राप्ति दोनों दशाओंमे) प्रेत-पावकके समान दुःखदेनेवाला है—ऐसा वेदोंने कहा है।५। जीवन (आयु) क्षण क्षण क्षीण होता जाता है। दुर्लभ मनुष्यशरीर तूने व्यर्थ गॅवा दिया। तुलसीदास! (तू सब) आशाओंको त्यागकर भगवान्का भजन कर। (सावधान हो जा, देख ले) कालरूपी सर्पने (सारे) संसारको खा (ग्रस) लिया है।६।

नोट—१ प्रेमी पाठक सूक्ष्म दृष्टिसे देखेंगे तो ज्ञात होगा कि जो उपदेश पिछले पदमे किया है, प्रायः वही यहाँ भी किया जा रहा है। दोनोंका मिलान यहाँ किया जाता है।

पद १९८		पद १९९
मन पछितैहै औसर बीते	१	'छिनु-छिनु छीन होत जीवन दुरलभ तनु वृथा गॅवायो।', 'काहेको फिरत मूढ़ मन धायो। तजि हरिचरन ''रबिकरजल लय लायो।'

दुर्लभ देह पाइ हरिपद भजु०	२	हरि भजहि आस तजि
सहसबाहु ''बचे न काल बली तें	३	काल उरग जग खायो
सुत बनितादि जानि स्वारथरत	४	गृह बनिता सुत बंधु भये बहु मातु पिता जिन्ह जायो ॥ जाते निरय निकाय निरंतर सो इन्ह तोहि सिखायो। तब हित होइ कटहिं भवबंधन सो मगु तोहिं न बतायो ॥
न करु नेह सबही तें । अतहुँ तोहि तजहिंगे पाँवर तू न तजहि अबही तें।	५	अजहुँ बिषय कहँ जतन करत बहु जद्यपि बहु बिधि डहँकायो ।
अब नाथहिं अनुरागु जागु जड़ त्यागु दुरासा जी तें	६	हरि भजहि आस तजि
बुझै न काम अगिनि कहुँ बिषय-भोग बहु घी तें	७	पावक काम भोग घृत तें सठ कैसेव परत बुझायो

☞'विषयहीन दुख मिलें बिपति अति सुख सपनेहु नहिं पायो। उभय प्रेत पावक ज्यों धन दुखप्रद '' यहां विशेष है।

टिप्पणी—१ 'काहे को फिरत मूढ़ ' इति । (क) रविकरजलके लिये दौड़े-दौड़े फिरना पूर्व कह आये हैं, यथा 'तौ कत मृगजलरूप बिषय कारन निसि बासर धावै। ११६।'. 'मृगभ्रमवारि सत्य जल जानी। तहँ तूं मगन भयो सुख मानी। १३६।', 'तो कत बिपर्य बिलोकि झूठ जल मन कुरंग ज्यो धावै।१६८।', अतएव कहते हैं कि क्यों 'बिचित्रकी नाईं' उसमें लगन लगाये उसके पीछे दौड़ता है? भाव कि विषयरूपी रविकर-जलमे सुखरूपी सच्चा जल है ही नहीं, तब वहां सुख कैसे मिल सकता है? अतः उसके पीछे दौड़ना मूर्खता ही है। रविकरजल यहाँ विषयभोग हैं यह उपर्युक्त उद्धरणोंसे स्पष्ट है । रवि-करजल—१११ (३क), ७३ (२ग-घ) देखिए।

१ (ख) 'तजि हरिचरनसरोज-सुधारस ' इति। इसके दोनों प्रकारसे अर्थ हो सकते हैं–'हरिपदकमलरूपी सुधारस' तथा 'हरिपदकमलके सुधारसको'। हरि (हरिपद) स्वयं सुधारसरूप हैं। हरिनाम, हरिभक्ति, हरिचरणानुराग आदि भी रसरूप हैं। यथा 'रसो वै सः' तैत्ति० २।७।', 'ब्रह्म-पियूष मधुर सीतल जौ पै मन से रस पावै। तौ कत ।११६।'. 'हरिनाम सुधा तजि सठ हठि पियत बिषय बिष माँगी। १४०।' (इसमें हरिनामरूपी अमृतको त्यागकर विषयकी इच्छा दिखाई है); 'श्रीहरिचरनकमल नौका तजि फिरि-फिरि फेन गह्यो।९२।'(इसमें हरिचरणकमलरूपी नाव ऐसा अर्थ है)तथा 'हरि परिहरि सोइ जतन करत मन मोर अभागी। ११०।' (इसमे हरिको त्यागकर विषयके लिये उपाय करना कहा है)। इसी प्रकार 'हरिचरनसरोजरूपी अमृतरसको छोड़कर'

यह अर्थ होता है। पुनः, 'हरिपद रति रस वेद बखाना। १।३७।१४।', 'पूनो प्रेम भगति रस हरि रस जानहिं दास। २०३।', इत्यादि प्रमाणोंसे 'हरिचरण कमलके अनुरागरूपी अमृतरस' यह अर्थ होता है।

'तजि हरि चरन सरोज ' से जनाया कि हरिपदकमलरूपी सुधारस अपने पास है सो उसको त्याग देता है; यथा 'परिहरि हृदयकमल रघुनाथहिं बाहर फिरत बिकल भयो धायो। २४४।', 'दूरि न सो हितू हेरु हियें ही है।१३५।' इससे यह भी जनाया कि तूने इस सुधारसका स्वाद लिया ही नहीं, पास रहते हुए भी तू अपने हठसे इससे वंचित रहा, यदि तू इसका स्वाद ले-लेता तो विषयकी ओर कभी न दौड़ता। यथा 'ब्रह्मपियूष मधुर " ।११६।' (उपर्युक्त), 'बसै जो ससि-उछंग सुधास्वादित कुरंग, ताहि कि भ्रम निरखि रबिकरनीर।१६७।' 'रविकरजल लय लायो'—श्रीशुकदेवजीने भवाटवीके स्पष्टीकरणमें भी ऐसाही कहा है कि घररूप संसारवनमें पहुँचकर यह भोजन, जलपान और मैथुन आदि विषयोंमें आसक्त होकर कभी मृगतृष्णाके समान मिथ्या विषयोंकी ओर दौड़ता है। यथा 'तत्र च क्वचिदातपोदकनिभान्विषयानुपधावति पानभोजनव्यवायादिव्यसनलोलुपः। भा० ५।१४।७।' रविकर जलके लिये दौड़ना कहकर यहाँ मनको कुरंग (हिरन) जनाया; क्योंकि हिरनही रविकरजलके पीछे दौड़ता है। मृगवारि, हरिणवारि इसीसे 'रविकरनीर' के पर्याय हैं।

२ 'त्रिजग देव नर असुर''''' इति। (क) पृथ्वी, स्वर्ग और पाताल तीन लोक कहे गए हैं। नरसे पृथ्वी, देवसे स्वर्ग और असुरसे पातालमें जन्म कहा। तिर्यक् योनिवाले पशु, पक्षी आदि। तिर्यक् वे हैं जिनका मेरुदंड चलते समय टेढ़ा हो। यथा "स तिर्यङ् यस्त्रियोऽञ्चति। अमर।३।१।३४।", "एकं वक्रं गच्छता।" 'अपर जोनि' में कृमि, जलचर और बानर आदिभी आगए। इस तरह इसमें 'जहँ जहँ जेहि जोनि जनम महि पताल बियत। १३२।' का भाव है।

२ (ख) 'गृह बनिता सुत बंधु भये बहु ' अर्थात् प्रत्येक योनिमें ये सब सम्बंधी मिले। आगेभी कहा है;—'जननि जनक सुत दार बंधुजन भयो है बहुत जहं जहं जायो।।२४३।'

३ 'जातें निरय निकाय निरंतर ' इति। (क) माता-पिता आदि सबने प्रवृत्ति मार्गकी शिक्षा दी, यही सिखाया कि संसारमें वही साधन करना चाहिए जिससे अपना और अपने परिवारका पोषण हो, धन, धाम, स्त्री, पुत्र और परिवार बढे। यथा 'मातु पिता बालकन्हि बोलावहिं। उदर भरै सोइ धर्म सिखावहिं। ७।६६।८।' प्रवृत्तिमार्गमें किये हुये लौकिक और वैदिक दोनों प्रकारके कर्म जीवको जन्ममरणरूप संसारमें गिराते हैं। यथा 'अथ च तस्मादुभयथापि हि कर्मास्मिन्नात्मनः संसारावपनमुदाहरन्ति। भा० ५।१४।२३।' भगवान्

कपिलदेवजी कहते हैं कि जहाँ-तहाँसे भयंकर हिंसावृत्तिके द्वारा धन संचयकर यह स्त्री-पुत्रादिके पोषणमेंही लगा रहता है, उनके पेटसे बचे हुए अन्नको खाकर स्वयं नरकमें पड़ता है—'पुष्णाति येषां पोषेण शेषभुग्यात्यधः स्वयम्। भा० । ३ । ३० । १० ।'

२ (ख) 'तब हित होइ कटहिं भवबंधन''' इति। श्रीरामभजनसे भवबंधन कट जाता है; यथा 'द्वैतमूल भय-सूल-सोक-फल भवतरु टरइ न टास्यो। राम-भजन तीछन कुठार लेइ सो नहिं काटि निवास्यो। २०२।' एकमात्र सत्यस्वरूप आनन्दनिधि भगवान्‌काही भजन करना चाहिए, किसी अन्य पदार्थमें आसक्त न होना चाहिए, क्योंकि भगवानके सिवा अन्यत्र आसक्तिसे आत्माका अधः पतन होता है।—'तं सत्यमानन्दनिधिं भजेत, नान्यत्र सज्जेद्यत आत्मपातः। भा० २।१।३९।' भगवान्‌का नाम जपनेसे भवबंधन कट जाता है, यथा 'जासु नाम जपि सुनहु भवानी। भवबंधन काटहिं नर ज्ञानी।५।२०।३।'. 'गिरिजा जासु नाम जपि मुनि काटहिं भवपास।६।७२।' अतएव माता-पिता आदिको चाहिए था कि शिक्षा देते कि देखो, श्रीरामजीके नामका ऐसा प्रताप है, इससे लोक-परलोक दोनों बन जाते हैं, अतएव श्रीरामजीका भजन करो। परन्तु उन्होंने 'राम-भजन' की शिक्षा नहीं दी। यथा 'जननि जनक सुत दार बंधुजन भयो है बहुत जहँ-जहँ जायो। सब स्वारथहित प्रीति कपट चित काहुं न नहिं हरिभजन सिखायो।२४३।' 'सो मग' अर्थात् भवबंधन काटनेवाला मार्ग।

४ 'अजहुँ बिषय कहुँ जतन करत'' इति। (क) भाव कि जब मनुष्य एक दो बार ठग जाता है, तो फिर वह सावधान हो जाता है। देखिए, प्रियव्रतजी क्या कहते हैं—'अहो असाध्वनुष्ठितं यदभिनिवेशितोऽहमिन्द्रियैरविद्यारचित-विषमविषयान्धकूपे तदलमलममुष्या वनिताया विनोदमृग मां धिग्धिगिति'। भा० ५।१।३७।'—अहो! बड़ा बुरा हुआ! मेरी विषयलोलुप इन्द्रियोंने मुझे इस अविद्याजनित विषम विषयरूप अंधकूपमें गिरा दिया! बस, ये विषयभोग हो लिये। स्त्रीके क्रीड़ामृगरूप मुझे धिक्कार है! धिक्कार है!'—इसी तरह तू कई बार ठगा गया, तब तो तुझे उनका त्याग करना चाहिए था; पर तू फिर उन्हीं विषयभोगोंके लिये प्रयत्न करता है; अतएव तुझसे बढ़कर मूढ़ कौन होगा? यथा, 'जदपि विषय सँग सहे दुसह दुख विषम जाल अरुझान्यो। तदपि न तजत मूढ़ ममता बस, जानतहूँ नहिं जान्यो।८८ (२)।', 'बंचक विषय विविध तनु धरि अनुभये सुने अरु डीठे। यहु जानतहुं हृदय अपने सपने न अघाइ उबीठे।१९९।' 'बचक विषय'' डीठे' का सब भाव यहाँके 'डहँकायो' में है। विशेष १९९ (२ क-ख), ८८ (२ क-ग) देखिए। 'बहु बिधि डहँकायो' यह कि विषयोंमें सुख दिखाकर ज्ञान, वैराग्य, भक्ति आत्मस्वरूप इत्यादि सब ठग लिये जिससे भवमें पड़कर चौरासीलक्ष योनियोंमें बार-बार घूमना पड़ा।

४ (ख) 'पावक-काम भोग घृत ' इति। यह बिलकुल पद १९८ का 'बुझै न काम-अगिनि तुलसी कहुँ बिषय भोग बहु घी तें' ही है। पावक-काम = काम-अगिनि; भोग घृत ते = भोग (बहु) घी तें। भेद केवल इतना है कि यहाँ 'सठ कैसेंव परत बुझायो' है और वहां 'बुझै न कहुँ' शब्द हैं, यद्यपि भाव दोनोमे प्रायः एकही है। भेदका कारण स्पष्ट है कि उस पदमे सामान्य रीतिसे उपदेश किया था कि विषयभोगोंसे विषयवासना कभी मिटती नहीं, अतः हरिपद भज! इसपर भी जब वह नहीं मानता तब डाँटकर कहते हैं—'काहेको फिरत मूढ़ मन धायो?' 'पावककाम भोग बुझायो?'—इसीसे यहाँ 'मूढ़' और 'शठ' संबोधित किया है। 'सठ कैसेंव परत बुझायो' अर्थात् अरे शठ! क्या किसी प्रकारभी कामाग्नि विषयभोगसे शान्त हो सकती है? कदापि शान्त नहीं हो सकती। विशेष भाव १९८(४ ग) मे देखिए।

५ 'बिषयहीन दुख मिले बिपति ' इति। (क) उत्तरार्धमें उदाहरण देते हुए 'धन दुखप्रद श्रुति गायो' कहा है। कारण कि सब विषयोका मूल धन है, धन होने पर ही प्रायः अन्य विषयोकी वासनायें उठा करती हैं। विषयोंकी संख्या नहीं है, उनमेंसे धनभी एक विषय है। किसीभी विषयकी वासना उठी और वह पूरी न हुई, तो दुःख होता है। और विषयभोगकी प्राप्ति हो, तब तो अत्यंत विपत्तिही आगई; क्योकि यह आत्माके लिये परम अनर्थरूप है। विषयोके सेवनसे वारंवार अनेक योनियोमे जन्म लेना और मरना होता है। यथा 'क्षुद्रान्कामांश्चलैः प्राणैजुषन्तः संसरन्ति ते। भा० ११।२१।१।', 'जानत अर्थ अनर्थरूप तम-कूप परब यहि लागे।११७'—विशेष ११७ (२ क-ख) देखिए। धन भी दोनों प्रकारसे दुःखप्रद है। धनहीन होनेसे दुःख होता है, यथा 'नहिं दरिद्र सम दुख जग माहीं। ७।१२१।१३।' धनहीन दरिद्र कहलाता है। और धन होनेपर उसमे चोरी, हिंसा आदि पन्द्रह अनर्थ कहे गए हैं– ११७(२क)की पाद-टि० देखिए। धन होनेपर ही चोर, डाकू आदि प्राण ले लेते है, धनके कारण भाई, बेटे आदि विष दे देते हैं, इत्यादि 'विपति अति' है। यथा "भिद्यन्ते भ्रातरो दाराः पितरः सुहृदस्तथा। एकास्निग्धाः काकिणिना सद्यः सर्वेऽरयः कृताः। भा० ११।२३।२०। अर्थेनाल्पीयसा ह्यते संरब्धा दीप्तमन्यवः। त्यजन्त्याशु स्पृधो घ्नन्ति सहसोत्सृज्य सौहृदम्।२१।" अर्थात् भाई-बधु, स्त्री, माता-पिता, सगे-संबंधी जो स्नेह-बधनसे बँधकर बिल्कुल एक हुए रहते है, सबके सब कौड़ी (धन) के कारण इतने फट जाते हैं कि एक-दूसरेके शत्रु बन जाते हैं। थोड़से धनके लिये क्रुद्ध और लुब्ध होकर बातकी बातमे पुराने प्रेमबंधनको तोड़कर एक-दूसरेका प्राण तक ले लेते हैं।

५ (ख) 'सुख सपनेहु नहिं पायो' इति। विषयके अभावमे दुःख कहा। फिर

उसके मिलनेपर दुःख कहा। अब उसके उपार्जनमें भी दुःख दिखाते हैं। धनको बड़े परिश्रमसे कमाना पड़ता है।यह उपार्जनमें दुःख हुआ। फिर उसकेबढ़ाने और रक्षा करनेकी चिंता सोते जागते लगी रहती है तथा व्यय करते समयभी भय,चिंता और भ्रम बना रहता है;यथा'अर्थस्य साधने सिद्धे उत्कर्षे रक्षणे व्यये। नाशोपभोग आयासस्त्रासश्चिन्ता भ्रमो नृणाम्। भा० ११।२३।१७'— इस तरह जागते समयकी तो बातही क्या सोतेमें भी सुख नहीं मिलता। देखिए, श्रीप्रह्लादजी-के प्रश्न करनेपर अवधूतने कहा है— 'धनलोलुप और अजितेन्द्रिय धनी पुरुषों-का क्लेश मुझे स्पष्ट दिखाई देता है; उन्हें सर्वत्र संदेह रहता है और भयके कारण नींदतक नहीं आती। प्राण और धनवालोंको राजा, चोर, शत्रु, स्वजन, पशु,पक्षी, याचक, काल तथा स्वयं अपनेसे भी (कि मैं कहीं किसीको देकर भूल न जाऊँ, अथवा स्वभावदोषसे कहीं अधिक खर्च न कर डालूँ—इस आशंकासे उसे अपनेसेभी) सर्वदा भय बना रहता है।—'पश्यामि धनिनां क्लेशं लुब्धानामजितात्मनाम्। भयादलब्धनिद्राणां सर्वतोऽभिविशङ्किनाम्। ३१। राजतश्चौरतः शत्रोः स्वजनात्पशुपक्षितः। अर्थिभ्यः कालतः स्वस्मान्नित्यं प्राणार्थवद्भयम्। ३२।' (भा०७।१३)। यह कहकर उससे उपदेश जो निकलता है वह भी कहा है—'अतः बुद्धिमानको चाहिए कि जिनके कारण मनुष्यको शोक, मोह, भय, क्रोध, राग, कायरता और श्रम आदिका शिकार होना पड़ता है, उन धन और प्राणोंकी इच्छाको त्याग दे।'—'शोकमोहभयक्रोधरागक्लैब्यश्रमादयः। यन्मूलाः स्युर्नृणां जह्यात्स्पृहां प्राणार्थयोर्बुधः।३३।'

५. (ग) 'उभय प्रकार प्रेत-पावक ज्यों' इति। ऊपर 'प्रेतपावक' के शब्दार्थ में लिखा जा चुका है कि उसके मिलनेसे दुःख और अदृश्य होनेपर भी दुःख होता है। समानता इस प्रकार दोनोंमें है। भा० ५।१४ भवाटवीस्पष्टीकरणमें स्वर्ण (धन) के संबंधमें ही अगियावेतालकी उपमा आई है; यथा—'क्वचिच्चाशेष-दोषनिषदनं पुरीषविशेषं तद्वर्णगुणनिर्मितमतिः सुवर्णमुपादित्सत्यग्निकामकातर इवोल्मुकपिशाचम्। भा० ५।१४।७।' जिसका भावार्थ यह है कि जैसे वनमें जाड़ेसे ठिठुरता हुआ पुरुष अग्निके लिये व्याकुल होकर अगियावेतालकी ओर उसे आग समझकर दौड़ता है, वैसेही यह जीव रजोगुणका वेग होनेपर सारे अनर्थोंकी जड़ अग्निके मलरूप स्वर्णको ही सुखका साधन समझकर उसे पानेके लिये दौड़-धूप करता है। (श्लोकमें इतनाही कहा है। भाव यह है कि जैसे वहाँ आग तो मिलती नहीं, उलटे प्राणसे हाथ धोना पड़ता है, वैसेही धनोपार्जनसे सुख न मिलकर दुःख ही मिलता है।)

[टीकाकारोंके भाव।—(१) प्रेतके मुखमें जो अग्नि जलती देख पड़ती है, उसमें सत्यता कभी नहीं है, वैसेही विषयसुख सदा झूठाही है। (वै०)। (२)

वास्तवमें वह आग नहीं है। वह आग-सी देख पड़ती है, वह तो प्रेतके मुखकी ललाई है, अतः वहाँ आग कैसे मिले, केवल दुःखही फल मिलेगा और उसके निकट जा भी पहुँचे तो भय आदिसे शरीरका नाश हुआ। इसी प्रकार जबतक धनकी प्राप्ति नहीं, तबतक अनेक यत्न करनेमें दुःख हुआ और प्राप्तभी हुआ तो रक्षामें दुःख। (ड०, भ० स०)। (३) "जैसे रात्रिमें मार्ग भूला हुआ पथिक अगियावेतालकी आगको ग्राममें जलती हुई आग समझकर ग्राम मिलनेकी प्रतीतिसे सुखी होता है और उसीके अवलंबसे जिस जिस ओर आग जलती है चलता रहता है; परंच सिवाय भटकने और क्लेश उठानेके उसको वेतालकी अग्निसे ग्राम मिलनेका सुख नहीं मिलता है। और जब बीच-बीचमें वह प्रेताग्नि बन्द हो जाती है, तबभी वह पथिक उस अग्निकी इच्छा करता है कि अग्निके द्वाराही सीधा जानेसे मुझे ग्राम मिलेगा; इस लिये वैतालकी अग्नि बंद हो जाने परभी वह घबड़ाता हुआ क्लेशित होता है। ऐसेही जीवको धन; कुटुंब आदिक ऐश्वर्यभी भुलावा देते हैं। इनके होने और न होने दोनों दशाओंमें क्लेश होता है—होनेमें तो वैताल-अग्निके समान उसकी आसक्तिद्वारा वारंबार जन्म-मरण आदि संसृतिमें ही भटकता फिरता है, आत्मपदकी प्राप्ति नहीं होती, जिससे सुस्थिर होकर परमानन्द भोग करे। और ऐश्वर्य न होनेमें वैतालाग्निके बुझ जाने के समानही जीव घबडाता है, उसको ऐश्वर्यका होनाही सुखकी प्रतीति होती है, वह विषयसुखको परमानन्द समझता है।" (सू० शुक्ल)।

(४) "जैसे प्रेताग्निके दिखलाई देनेके पूर्व तो यात्री अँधेरेमें सुस्तान न मिलनेसे दुःखी रहता ही है, पर उसे देखनेपरभी इधर-उधर भटकताही फिरता है। वैसेही धन न रहनेपर दरिद्रताका दुःख तो होताही है पर धन मिलनेपर भी इच्छा न पूरी होनेसे तथा लोभमें फँसे रहनेके फलस्वरूप मनुष्यको कष्ट भोगना पड़ता है।" (दीनजी)।

(५) "जैसे बनमें यात्री भ्रमकी आग देखकर मार्ग भूल जाते हैं और उसके भ्रममें पड़कर उनसे न आगेही बढ़ा जाता है और न लौटाही जाता है, उसी प्रकार विषयोंके मिथ्या प्रलोभनमें पड़कर मनुष्य लोक और परलोक दोनोंसे ही हाथ धो बैठता है। न तो उसे यथेष्ट विषयसाधनही मिलते हैं और न उनकी ओरसे अरुचिही होती है। (वियोगीजी)

(६) "वेदोंने इस धनको मुरदेकी आगके समान दुखदाई बताया है। जैसे मुरदेको न जलाया जाय, तो वह सड़ जाय और जो जलाया जाय तो उसकी आग किसी कामकी नहीं होती।" (भट्टजी)

(७) जैसे जाड़ेसे आतुर मनुष्य अगियवैतालके मुखसे निकलती हुई लुकको

देखकर "उसकी खोजमें दौड़े, तो पहले उसके पास पहुँचना कठिन है, क्योंकि वह सहसा सम्मुख नहीं होता; कहीं मिल गया तो इसके प्राणोंकी दशा आ जाती है। वैसेही दरिद्रतारूपी जाड़ासे जड़वत् प्राणी धन कमानेमें अथक परिश्रम करके कष्ट उठाते हैं; फिर प्राप्त होनेपर उपर्युक्त दोषोंके निशाना होते हैं। अंतमें नरकमें जाते हैं, यही प्राणहानिके समान है।" (श्री० श०)। इसके बाद उन्होंने भा० ५।१४।७ वाला श्लोक दिया है।]

टिप्पणी—५ (घ) 'श्रुति गायो'—यह कहकर अपने कथनको श्रुतिसम्मत बताया। श्रीमद्भागवतपुराण वेदसम्मत है, यथा 'प्राह भागवतं नाम पुराणं ब्रह्मसम्मितम्। भा० २।८।२८।' अतः उसके प्रमाण श्रुतिवाक्य हैं।

६ 'छिनु-छिनु छीन होत ' इति। (क) जीवन क्षण-क्षण घटता है। अर्थात् जो क्षण बीतता है, वह आयुका एक क्षण कम होता है; इस प्रकार प्रति क्षण आयु घटती जाती है। इतनी आयु जो बिना हरिभजनके बीत गई, वह सब व्यर्थ गई। किस प्रकार जन्मको व्यर्थ गँवादिया, यह पूर्व पद ८३ 'कछु ह्वै न आइ गयो जनम जाय। 'और आगे पद २३४ 'जनम गयो बादिहि बर बीति। ' में प्रार्थी कविने स्वयं दिखाया है। पद ८४ में मनको समझाते हुए कहा था कि 'भयो सुगम तोको अमर अगम तनु समुझि धौं कत खोवत अकाथ ?'. दुर्लभ तनको व्यर्थ क्यों खो रहा है? पर उसने सुनी-अनसुनी कर दी। अतः अब कहते हैं कि तूने इसे व्यर्थ गँवा ही दिया, अब जो क्षण जीवनके शेष है इन्हींमें सावधान हो जा, बिगड़ी बना ले।

६ (ख) 'धन दुखप्रद ' कहकर 'तनु बृथा गँवायो ' का तात्पर्य यह है कि मरणधर्मा मनुष्यको अनर्थकारी विषयमें आसक्त न होना चाहिए। श्रीमद्भागवत मेंभी इसी प्रकार 'अर्थ' के अनर्थोंको गिनाकर ऐसेही विचार प्रकट किये हैं। यथा 'लब्ध्वा जन्माऽमरप्रार्थ्यं मानुष्यं तद्द्विजाग्र्यताम्। तदनादृत्य ये स्वार्थं घ्नन्ति यान्त्यशुभां गतिम्॥ स्वर्गापवर्गयोर्द्वारं प्राप्य लोकमिमं पुमान्। द्रविणे कोऽनुषज्जेत। मर्त्योऽनर्थस्य धामनि॥ २२-२३। किं धनैर्धनदैर्वा किं कामैर्वा कामदैरुत। मृत्युना ग्रस्यमानस्य कर्मभिर्वोत जन्मदैः। २७" (भा० ११।२३)। अर्थात् देवभी जिसकी याचना करते हैं ऐसे मनुष्य तन और वहभी ब्राह्मण शरीर पाकर जो उसका तिरस्कार करते है, वे अपने स्वार्थका नाश करते हैं और अशुभ गतिको प्राप्त होंगे। इस लिये इस स्वर्ग और मोक्षके द्वाररूप मनुष्यदेहको पाकर कौन मरणधर्मा पुरुष अनर्थोंके मूल वा आश्रयरूपी धनके चक्करमें पड़ा रहेगा? (अर्थात् इससे बड़ा मूर्ख और कौन होगा ?)। यह मनुष्य शरीर कालके विकराल गालमें पड़ा हुआ है। इसको धनसे, धन देनेवाले देवताओं और लोगोंसे, भोगवासनाओं और उनको पूर्ण करनेवालोंसे तथा पुनः पुनः जन्म-मृत्युके चक्करमें डालनेवाले सकाम कर्मोंसे लाभही क्या है?—यह सब भाव 'छिनु गँवायो'

और 'काल उरग जग खायो' में है। वहाँ के 'मृत्युना ग्रस्यमानस्य', 'लब्ध्वा जन्माऽ मरप्राथ्यं ... धामनि' की जगह यहाँ क्रमशः 'काल उरग जग खायो' और 'दुर्लभ तनु वृथा गँवायो' हैं।

राजा बलिने जो भगवान्‌से कहा है— 'किमात्मनानेन जहाति यो ऽन्ततः किं रिक्थहारैः स्वजनाख्यदस्युभिः। किं जायया संसृतिहेतुभूतया मर्त्यस्य गेहैः किमिहायुषो व्ययः। भा० ८।२२।६।' अर्थात् (मेरे पितामह प्रह्लादने यह निश्चय कर लिया कि) इस शरीरको लेकर क्या करना है जब एक-न-एक दिन यह साथ छोड़ही देता है ? जो धन-संपत्ति लेनेके लिये स्वजन बने हुए हैं, उन डाकुओंसे अपना स्वार्थ ही क्या है ? पत्नीसे भी क्या लाभ है, जब वह जन्म-मृत्युरूप संसार-चक्रमें डालनेवाली है ? जब मर ही जाना है तब घरसे भी मोह क्यों ? इन सब वस्तुओंमें उलझ जाना तो केवल अपनी आयुको खो देना है।— यह सब गोस्वामीने 'काल उरग जग खायो' 'दुरलभ तन वृथा गँवायो' से जना दिया है।

६ (ग) 'तुलसिदास हरि भजहि आस तजि' इति। सब प्रकारकी आशायें, तृष्णायें छोड़कर भजन करनेसे ही भक्त सुशोभित होता है; यथा 'बिनु घन निर्मल सोह अकासा। हरिजन इवँ परिहरि सब आसा। ४।१६।६।' सुगति, सुमति, संपत्ति, ऋद्धि, सिद्धि, प्रतिष्ठा आदि किसीकी चाह न करके हेतुरहित भक्ति करना 'आशा तजि' भजन करना है। पुनः, इससे अन्य देवता, मनुष्य आदिकी भी आशाका त्याग जनाया। भजनके लिये आशाका त्याग आवश्यक है, इसीसे इसपर यत्र तत्र बहुत आग्रह किया है; यथा 'तुलसिदास सब आस छाड़ि करि होहि रामको चेरो। ८७', 'और आस बिस्वास भरोसो हरो जियकी जड़ताई। १०३', इत्यादि। ८७ (४ क, ग), १०३ (१ ख), १९८ (४ ख) देखिए।

आगे कालको 'उरग' (सर्प, व्याल) की उपमा दी है, इससे यहाँ 'हरि' नाम देकर श्रीराम उरगारि-जानं'। ६१।'का भाव भी ले सकते हैं, यथा 'ग्रसत भव व्याल अति त्रास तुलसीदास त्राहि श्रीराम उरगारि जानं। ६१।'

'छिनु-छिनु छीन ' कहकर 'हरि भजहि' कहनेका भाव कि 'हरिभजन' से अब भी मनुष्यजन्म सफल हो जायगा। और आगेके 'काल उरग जग खायो' के संबंधसे भाव यह होता है कि सारा संसार काल-सर्पके मुखमें जा रहा है, वह ग्रसने न पावे इसके पूर्व ही उपाय कर ले। वह उपाय यह है कि 'हरि भजहि।' भगवान्‌के भजनसे वे कालसर्पसे तेरी रक्षा करेंगे, क्योंकि काल उनसे डरता है, वे कालके भी काल हैं, काल-सर्पको वे भक्षण कर लेंगे। यथा 'तव भय डरत सदा सोउ काला। ३।१३।८', 'तात राम नहिं नर भूपाला। भुवनेश्वर कालहु कर काला। ५।३९।१', 'काल-व्याल कर भच्छक जोई। ६।५५।८।'; उन्होंने भुशुण्डीजीकी काल-से रक्षा की-है पर निरंतर भजन करनेको भी कहा है ? यथा 'कबहूँ काल न

व्यापिहि तोही। सुमिरेसु भजेसु निरंतर मोही।७।८८।१।' अतः मनको हरि-भजनका उपदेश करते हैं।

कालको सर्पकी उपमा देकर जनाया, कि सारा संसार मेंढकरूप है। सर्प मेंढकको निगल जाता है, वैसेही काल क्षण-क्षण-द्वारा संसारको धीरे-धीरे खाता है। आयु क्षण-क्षण घटते-घटते पूरी घट जाती है,यही कालका निगल जाना है।

[सर्पके मुखमें विष होता है, वैसेही विषयरूपी विषके साथ आयु विताना काल-सर्पके विषैले मुखमें बैठना है। इसका फल चौरासी भ्रमण है।(श्री०श०)]

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

२०० (११५)

तांबे सो पीटि[1] मनहुँ तन पायो।
नीचु मीचु जानत न सीस पर ईस निपट विसरायो।१
अवनि रवनि धन धाम सुहृद सुत कैं[2] न इन्हहि अपनायो।
काके भये गये सँग काकें सब सनेह छल छायो।
जिन्ह भूपन्हि जग जीति बाँधि जम अपनी बाँह बसायो।
तेऊ काल कलेऊ कीन्हें[3] तू गनती[4] कब आयो।३
देखु[5] विचारि सारु का सांचो कहा निगम निजु गायो।
भजहि न अजहुँ समुझि तुलसी तेहि जेहि महेस मन लायो।४

शब्दार्थ—पीटि = पीटा हुआ। पीटना = बारंबार आघात या चोट देकर ठोस और दृढ़ बनाना। निपट = एकदम; बिलकुल; नितान्त। रवनि (रमणी) = स्त्री। कैं = किसने। अपनाना = अपना मान लेना; (किसी वस्तुपर) ममत्व करना। काकें = किसके। छल छायो = छलसे भरा या ढका हुआ है; छलका निवास है। तेऊ = उनको भी। कलेऊ (कलेवा) = प्रातःकालका सूक्ष्म भोजन; जलपान; नाश्ता। 'कलेवा करना' मुहावरा है, 'निगल जाना' 'खा डालना' अर्थमें प्रयुक्त होता है। गनती मे आना = किसी कोटिमे, कुछ महत्वका या कुछभी समझा जाना। कब = किस समय अर्थात् कभी तो नहीं। सार = तत्व। निजु = यथार्थ;

१ पीटि—६६, रा०, ङु०, ५१, ७४। पीठि—ह०, वै०.चि०,१५। पीठ—भा०. वे०, मु०। दीनजीकी भूमिकामें 'पीटि' है। २ कैं—६६। के—रा०, भ०। के—ङु०। को— भा०, ह०, प्र०, ५१, ७४, आ०। ३ कीन्हो—भ०। ४ गिनती—५१, ७४, मु०, आ०। गनती—६६, रा०। ५ देखि—ह०।

सिद्धान्तरूपसे । = निश्चय पूर्वक । (भ०)। = प्रधानतः . विशेषरूपसे । (दीनजी)।

पद्यार्थ—(तेरे आचरणोंसे ऐसा जान पड़ता है । मानों ताँबेके समान पीटा हुआ ठोस शरीर पाया है ।† अरे नीच ! जानता नहीं कि मृत्यु सिरपर है, ईश्वरको तूने एकदम भुला दिया ।१। पृथ्वी, स्त्री, धन, घर, मित्र और पुत्र—इन्हें किसने नहीं अपनाया ? (अर्थात् पशु, पक्षी, मनुष्य सभीने तो इनमें ममत्व किया, इनको अपना माना) । (परन्तु) ये किसके हुए ? किसके साथ गए ? सभीका स्नेह छलसे भरा हुआ है ।२। जिन राजाओंने संसारको जीतकर अपने बाहुबलसे यमको बाँधकर (अधीन करके) अपने आश्रित बसाया था, उन्हें भी कालने कलेवा कर डाला, तब भला तू कब गिनतीमें आया है ?(अर्थात् तुझे वह कब कुछ समझता है, जब चाहे खा डाले) ।३। विचारकर देख कि सार क्या है ? सत्य क्या है ? (वा, सच्चा सार क्या है ?) वेदों ने निश्चित सिद्धान्त क्या कहा है ? ❀ रे तुलसी ! अबभी समझ-बूझकर तू उनको(क्यों)नहीं भजता जिनसे महान ईश शिवजीने मन लगाया है (प्रेम किया है) ? ।४।

टिप्पणी—१ 'ताँबे सो पीटि मनहुँ तनु पायो । ' इति । (क) पिछले पदमें माता-पिता-आदिका स्वार्थ और विषयकी प्राप्ति-अप्राप्ति दोनोंमें दुःख तथा संसार सब कालके मुखमें है—यह दिखाकर हरिभजनका उपदेश दिया था । इसपरभी उसने कुछ न सुना, अतः अब 'नीच' संबोधितकर उसके महामोहको दर्शाते हुए दूसरी प्रकारसे वही उपदेश करते हैं ।(ख)'ताँबे सो' '—भाव कि इसके मोहकी बलिहारी है ! इसके देहाभिमानको तो देखो ! यह अपनी देहको अचल, अजर और अमर माने बैठा है। 'ताँबे सो पीटि' अर्थात् ठोस अजर अमर । 'पीठि' का अर्थ लोगोने 'मढ़ा हुआ' किया है । भाव वही है । (ग) 'नीचु मीचु जानत न०' इति । पद १९९ में जो कहा था कि छिनु-छिनु छीन होत जीवन', 'काल उरग जग खायो ', उसीको लेकर यहां कहते है कि अरे नीच ! तू जानता नहीं कि मृत्यु तेरे सिरपर आगई, यही समझता है कि सबको कालने खाया तो क्या ? मुझे नहीं खायेगा । (घ) 'ईस निपट बिसरायो'—भाव कि तू अपनेको अजर-अमर माने बैठा है. इसीसे ईश्वरको भूल गया । जैसे हिरण्यकशिपु और रावणने भुला दिया था । यदि जानता कि तूभी कालका कलेवा होनेवाला है, तो ईश्वरको कदापि न भुलाता ।

२ (क) 'अवनि रवनि धन धाम' ' इति । पृथ्वी, स्त्री, धन, धाम, सुहृद और पुत्रको सुर, नर, असुर आदि सबने अपनाया, सबने इनसे ममत्व किया, ऐसा कोई नहीं जिसने इनकी चाह न की-हो । पद १९९ मे केवल अपने संबंधमें

† मानो(राजा से)ताम्रपत्र लिखा लिया है(कि मृत्यु न होगी)। (प.रा.व.श.)।
❀ वेदोंने विशेषतः किसका प्रतिपादन किया है । (दीनजी) ।

कहा था कि 'गृह वनिता सुत बंधु भये बहु मातु पिता जिन्ह जायो' और अब सबके संबंधमें कहते हैं कि ऐसा कोई नहीं है जिसने इन विषयोंको न अपनाया हो।

२ (ख) 'काके भये गये संग ''' इति। भाव कि तूही बता कि कोई ऐसा है कि जिसके ये हुए हों, साथ गये हों, इत्यादि। जीतेजी-ही ये अपने नहीं होते, वृद्धावस्थामें तो ये मृत्युही मनाया करते हैं कि कब यह बुड्ढा मरे और हम इससे छुटकारा पावें, और मरनेपर तो बरबसही सब साथ छोड़ देते हैं, कोई साथ नहीं जाता। विशेष 'अंतहुँ तोहि तजेंगे पाँवर।'१९८(३ ख) में देखिए।

२ (ग) 'सब सनेह छल छायो' अर्थात् सब स्वार्थके प्रेमी हैं, जबतक उनका स्वार्थ बनता है तबतकके साथी हैं, फिर कोई बातभी नहीं पूछता। 'सुत वनितादि जानि स्वारथरत न करु नेह सबही तें। १९८(३)'का ही भाव यहाँ है।

३ (क) 'जिन्ह भूपन्हि जग जीति ' इति। यहाँ रावण और हिरण्यकशिपु आदिसे तात्पर्य है। इन्होंने तप कर करके ऐसेही वर प्राप्त कर लिये थे। पद १९९ में सहस्रार्जुन और रावण आदिके संबंधमें केवल इतना कहा था कि वेभी 'बचे न काल बली तें'। और,यहाँ बताते हैं कि इन्होंने कालको बाँधकर अपने अधीन कर रक्खा था, तबभी कालसे वे न बच सके। यम (काल) को बाहुबलसे जीतकर अपनी बाँह बसाना, अपने अधीन कर रखना कविने मानसमें कहा है, यथा 'कर जोरें सुर दिसिप बिनीता। भृकुटि बिलोकत सकल सभीता ५।२०।७', 'रवि ससि पवन बरुन धनधारी। अगिनि काल जम सब अधिकारी॥'''' आयसु करहिं सकल भयभीता। नवहिं आइ नित चरन बिनीता।१।१८२', 'बरुन कुबेर पवन जम काला। भुज बल जितेउँ सकल दिगपाला। देव दनुज नर सब बस मोरें। कवन हेतु उपजा भय तोरें।६।८।३-४'—ये रावणके वाक्य हैं।

इसी प्रकार हिरण्यकशिपु आदि त्रैलोक्यविजयी राजाओंके संबंधमें समझ लें। पितृगणोंके,अधिपति, लोकपाल, भूतों और प्रेतोंके नायक सभी हिरण्यकशिपुके वशमें थे। 'सर्वसत्त्वपतीञ्जित्वा वशमानीय ।'(भा० ।७।४।५-७)।वह स्वयं यमराज बन बैठा था।—'स्वयं यमः' (वि० पु० १।१७।४)

३ (ख) 'तेऊ काल कलेऊ कीन्हे '' इति। कालके जलपानभर ही वे हुए। जलपान भोजन(नाश्ता,सूक्ष्म भोजन)में देर नहीं लगती;वैसेही काल इन्हें बात-की बातमें चट कर गया। 'तू गनती कब आयो' अर्थात् ऐसे-ऐसे प्रतापशाली महाबली हो जब न बचे, तब तू तो एक महा तुच्छ जीव है, तुझे क्या वह छोड़ देगा, तू किस अभिमान या मोहमें पड़ा है कि तू बच जायगा ?

☞ मिलान कीजिए—'कथमेष नरेन्द्राणां मोहो बुद्धिमतामपि। येन फेनसधर्माणोऽप्यतिविश्वस्तचेतसः॥', 'एते तथान्ये च तथाभिधेयाः, सर्वे भविष्यन्ति यथैव पूर्वे।' (वि०पु० ४।२४।१२८,१५०)। अर्थात् बुद्धिमान् होते हुये भी

इन राजाओंका कैसा मोह है कि ये पानीके बुलबुले या फेनके समान क्षण-स्थायी होते हुए भी अपनी स्थिरतामें इतना विश्वास रखते हैं। ये तथा और लोगभी पूर्वोक्त राजाओंकी भाँति कथामात्रही शेष रह जायँगे। 'एतद्विदित्वा न नरेण कार्यं ममत्वमात्मन्यपि पण्डितेन। तिष्ठन्तु तावत्तनयात्मजाद्याः क्षेत्रादयो ये च शरीरिणोऽन्ये। वि० पु० ४।२४।१५१।' अर्थात् ऐसा जानकर पुत्र, पुत्री और क्षेत्र आदि तथा अन्य प्राणियोंकी तो बात ही क्या, बुद्धिमान्‌को अपने शरीरमें भी मोह न करना चाहिए।

उपर्युक्त श्लोकोंमें जो पराशरजीका उपदेश है, वह उपदेश इस पदके 'ताँबे सो पीटि' से लेकर 'तू गनती कब आयो' तक में निहित है।

४ 'देखु बिचारि सारु का साँचो ''''इति।(क) 'देखु बिचारि'—भाव कि बुद्धि से विचारे बिना सारांश न देख पड़ेगा। सच्चा सार क्या है? सत्य क्या है? यह उत्तरार्धमें स्वयं कहा है। जिस बातका उपदेश कर रहे हैं, वही सार है। 'जेहि महेस मन लायो' वही सार है, सत्य है, उसीको वेदने सिद्धान्तरूपसे गाया है। तथा 'भजहि न' से जनाया कि भजन ही सार है, सत्य है, इत्यादि। इस प्रकार संसारमें हरि और हरिभजनको सार बताया। हरिभजन सार है, यथा 'उमा कहउँ मैं अनुभव अपना। सत हरिभजन जगत सब सपना। ३।३९।५।' यह भगवान् शंकरका अनुभव है; इसीसे शतकोटिरामचरितसे केवल 'राम' नाम-को लेकर वे उसीको दिनरात जपते हैं और रामचरणानुरागका ही वर माँगा करते हैं तथा श्रीरामजीमें नाम-द्वारा प्रीति जोड़े हुए हैं। यथा 'रामचरित सत-कोटि महँ लिय महेस जिय जानि।१।२५।', 'तव नाम जपामि नमामि हरी। ७।१४।', 'बार बार बर मागउँ हरषि देहु श्रीरंग। पदसरोज अनपायनी भगति सदा सतसंग।७।१४।', 'सुमिरि सप्रेम नाम जासों रति। चाहत चंद्रललाम सो। १५७।' श्रीरामनाम और श्रीराम (ब्रह्म) वेदके सार हैं, नाम-नामीमें अभेद है। यथा 'बिधि हरि-हरमय वेदप्रान सो।१।१९।२।', 'एहि महँ रघुपति नाम उदारा। अति पावन पुरान श्रुति सारा।१।१०।१।' वेद इन्हींका भजन और यशगान करते हैं। यथा 'पदकंज द्वंद मुकुंद राम रमेस नित्य भजामहे।', 'हम तव सगुन जस नित गावहीं।'(७।१३ वेदस्तुति)। अतएव यह निर्विवाद सिद्ध है कि श्रीरामजी ही वेदोंके सार और सत्य हैं। श्रीवसिष्ठजीकाभी वाक्य है—'वेद तत्व नृप तव सुत चारी।१।१९८।१।' शिवजी इन्हींका भजन करते हैं; यथा 'रामहि भजहिं तात सिव धाता। नर पाँवर कै केतिक बाता।७।१०६।३।' 'महेश' नाम से जनाया कि देवताओंमें इनसे बड़ा कोई नहीं है, जब इतने महान् ईश्वर सामर्थ्यवान् होकरभी ये इनमें अनुराग किये हैं, तब तूही समझ कि तेरा क्या कर्त्तव्य होना चाहिए? स्कंद पु० काशी० उ० अध्याय ८२ में देवर्षि नारदके

वाक्य भी प्रमाण हैं। उन्होंने राजा अमित्रजितकी प्रशंसा करते हुए कहा है।— 'आज तुम्हारा कल्याणकारी दर्शन पाकर मैं पवित्र हो गया। इस क्षणभङ्गुर संसारमें एकही सार वस्तु है, वह यह कि भगवान् कमलाकान्तके चरणारविन्दोंमें भक्तिभाव बढ़ाया जाय; क्योंकि वह समस्त पुरुषार्थोंका देनेवाला है। यथा 'एक एव सारोऽयं संसारे क्षणभङ्गुरे। कमलाकान्तपादाब्जभक्तिभावोऽखिलप्रद ।४०।' (ख) 'भजहि न अजहुँ समुझि' अर्थात अब तो यह सब समझ गया, तो भी, अरे नीच ! तू अब भी क्यों नहीं भजता ? 'अजहुँ' का संबंध 'नीचु मीचु जानत न सीस पर०' से है।

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु ।

२०१ (१२५)

लाभु कहा मानुष तनु पायें❀ ।

काय बचन मन सपनेहुं कबहुँक घटत न काज परायें ।१
जो सुख सुरपुर नरक गेह बन आवत बिनहिं बुलायें[1] ।
तेहि सुख कहँ बहु जतन करत मन समुझत नहिं समुझायें।२
परदारा परद्रोह[2] मोह बस कियो मूढ़[3] मन भायें[4] ।
गरभबास दुखरासि जातना तीव्र बिपति बिसरायें[5] ।३
भय निद्रा मैथुन अहार सबके समान जग आयें[6] ।
सुरदुरलभ तन धरि/तरि[7] न भजे हरि मद अभिमान गवायें[8] ।४
गई न निज-पर-बुद्धि सुद्ध ह्वै रहे न राम लय लायें ।
तुलसिदास बीतें[9] यह अवसर का पुनि के पछितायें ।५।

❀ ६६ और ७० में तुकान्तमें सर्वत्र 'यें' है। ह०, भ० मे 'यो' और रा० मे 'एं' है। वै०, छु०, वि०, पो०, में 'ये' और मु०, दीन में 'ए' है। १ बोलाए—भा०, वे०, ७४। २ दोह—६६। द्रोह—औरोंमें। ३ कियो—६६, ह०, भ०, ज०। किये—७४, आ०, भा०। किए—रा०। ४, ५, ६ ८ भा० मे तुकान्तमें 'यो' है। ६ आयें—६६। जायो—ह०, भा०, वे०, भ०। जाएं (जायें)—प्रायः औरोंमें। ७ तरि—६६। धरि—औरोंमें। ९ यह अवसर वीतें—भा०, वे०, आ०। वीतें यह अवसर—६६, रा०, ह०, ज०, ७४, भ०।

शब्दार्थ—पायें=पानेसे। काय=शरीर। घटना=लगना; उपस्थित होना; करना। यथा 'सब विधि घटब काज मैं तोरें।४।७।१०।' परायें=दूसरेके। काज=काम। पराये काज=परोपकारमें। आवत=चला आता है; प्राप्त हो जाता है। कहँ=के लिये। मन भाये=जो-जो मनको अच्छे लगे; मन-माने।=मनोनुकूल। मैथुन=स्त्री प्रसंग; स्त्री-संभोग। समान=एकही-सा। आना=(किसी भावका) उत्पन्न होना;(जैसे, 'निद्रा आना')। पुनि के=पीछे; तदनन्तर;उपरान्त।

पद्यार्थ—मनुष्य शरीर पानेसे लाभ ही क्या हुआ (जब कि तू) स्वप्नमेंभी कभी तन, वचन और मनसे दूसरोंके काममें नहीं लगता (अर्थात् परोपकार नहीं करता? ।१। जो सुख स्वर्ग, नरक, घर और वनमें (अर्थात् जहाँही रहे तहांही) विना वुलाये (स्वतः) ही आ-प्राप्त होता है, रे मन! तू उसी सुखके लिये बहुत उपाय करता है, समझानेसे भी नहीं समझता ।२। अरे मूढ़! मोहके वश होकर तूने परस्त्री (गमन) और परद्रोह मनभाया किया (एवं परस्त्री और परद्रोहके लिये मनमाने आचरण किये)। गर्भवासके दुःखसमूह और यमयातनाकी-सी तीक्ष्ण विपत्तिको तूने भुला दिया ।३। भय, नींद, स्त्री-संभोग और भोजन—ये तो संसारमें (पशु, पक्षी, कीट-पतंग, मनुष्य आदि) सबके एक समानही होते हैं, (अर्थात् देखे या पाये जाते हैं)। देवदुर्लभ (मनुष्य) शरीर धरकर (वा, शरीररूपी नावसे) भगवान्का भजन न किया मद और अभिमानमेंही उसे खो दिया †।४। अपनी-पराई-धारणा अर्थात् भेद-बुद्धि न गई और न शुद्ध (विकार रहित) होकर श्रीरामचन्द्रजीमें लौ (लगन, प्रेम) ही लगाये रहा। रे तुलसीदास! यह अवसर निकल जानेपर फिर पीछे पछतानेसे क्या होगा)? अर्थात् पछतानाही हाथ लगेगा ।५।

टिप्पणी—१ 'लाभु कहा मानुष तनु पायें। 'इति।(क) पूर्व १६४(१) मेंभी गोसाईंजीने कहा था; यथा 'तो लह्यो लाहु कहा नर-देही सो।' वहाँका 'लाहु कहा लह्यो' ही यहाँ 'लाभु कहा' है। यहाँ 'लह्यो' का अध्याहार अर्थमें लग जाता है। वहाँ का 'नरदेही सो' ही यहाँ 'मानुष तनु पायें' है। 'सो' में 'पायें' का भावार्थ है।

१(ख) 'काय वचन मन सपनेहुं..' इति। यहाँ वेद-पुराणादिका सिद्धान्त कहते हैं कि मन-कर्म-वचनसे परहित करना चाहिए। परहित परमधर्म है और संतोंका सहज स्वभाव है, इसकी लालसा भक्त किया करते हैं; यथा 'परहित सरिस धर्म नहि भाई। निर्नय सकल पुरान वेद कर।७।४१।', 'पर उपकार वचन मन काया। संत सहज सुभाउ खगराया।७।१२१।१४।', 'कबहुँक हौं एहि रहनि रहौंगो। श्रीरघुनाथ कृपाल कृपा तें संत सुभाउ गहौंगो॥... परहितनिरत निरंतर मन क्रम वचन नेमु निबहौंगो।१७२।'—यह लालसा प्रार्थीने की-थी

† अर्थान्तर-'मद अभिमान को त्यागकर हरिको न भजा'।(दीनजी)।

और आगे चलकर विनय करते हुए प्रभुसे कहाभी है कि 'जानतहूँ मन बचन कर्म परहित कीन्हे तरिये' में 'सोइ बिपरीत करत०।' अब मनको फटकारते समझाते हुये कहते हैं कि भवतरणका सहज उपाय है परोपकार करना, सो तू स्वप्नमे भी कभी नहीं करता, तब नरतन पानेका क्या लाभ हुआ? नरतन तो भवनिधि पार करनेका साधन है, सो तूने यह लाभ न उठाया, परहित करके भवपार न हो गया। परहितसे भवतरणमात्रही नहीं किन्तु सब कुछ सुलभ हो जाता है; यथा 'परहित बस जिन्ह के मन माहीं। तिन्ह कहँ जग दुरलभ कछु नाहीं।३।३१।९।'

पद १९४ में नरतनका लाभ 'रामानुराग' बताया था और यहाँ 'मन-कर्म-वचनसे परहित' करनेको लाभ कहते हैं। दोनोंमे विशेष कोई भेद नहीं है। परहित परम धर्म है, धर्मसे भगवान्मे भक्ति होती है। यथा 'जप जोग धर्म-समूह तें नर भगति अनुपम पावई।३।६।' दूसरे, परहित तभी संभव है जब जीव दूसरोंमेंभी अपने प्रभुको ही देखता है, इसी भावसे 'जन जनार्दन' की सेवा कही जाती है। इस प्रकार परोपकार, जीवमात्रपर दया भगवद्भक्तिका एक लक्षण है और भक्तका कर्तव्य है। मन-वचन-कर्मके भाव १७२ (२ ग) में देखिए। 'काय' से जो होता है वह 'कर्म' ही है।

नोट—१ श्रीमद्भागवतमे भगवान्‌नेभी यही कहा है कि इस लोकमें इतनेसे ही जन्मकी सफलता है कि प्राणोंसे, धनसे, बुद्धिसे (विवेक-विचारसे) और वाणीसे भी सदैव दूसरोंका हित करता रहे। यथा 'एतावज्जन्मसाफल्यं देहिनामिह देहिपु। प्राणैरर्थैर्धिया वाचा श्रेय एवाचरेत् सदा। भा० १०।२२।३५।' वही बात यहाँ प्रथम दो चरणोंमे कही गई है। आगे पद २०३ मे इसीको औरभी स्पष्ट शब्दोंमें कहा है; यथा 'सातैं सप्त धातु निरमित तनु करिय बिचार। तेहि तनु केर एक फल कीजे पर-उपकार। (८)।' भागवतके 'प्राणसे धनसे', 'बुद्धिसे' और 'वाणीसे' यहाँके 'काय, मन और वचन' हैं।

टिप्पणी—२ 'जो सुख सुरपुर नरक गेह ''। इति।(क) विषयभोग शूकर-श्वानादि योनियों तथा नरकमे भी प्राप्त हो जाता है। यथा 'स्यान्नरकेऽपि यत्। भा० ६।१८।७५।', 'नायं देहो देहभाजां नृलोके, कष्टान्कामानर्हते विड्भुजां ये। भा० ५।५।१।' अर्थात 'वह तो नरकमेंभी प्राप्त हो सकता है'। इस लोकमे मनुष्यको यह उचित नहीं है कि इससे, विष्ठा खानेवाले शूकरादिको भी सुलभ दुःखमय विषयभोगोंमे फँसा रहे। भा० ७।६।३-४ मे श्रीप्रह्लादजीकेभी ऐसेही वाक्य हैं। विशेष 'जे सुख संपति सरग नरक संतत सँग लागी। ११० (२ क) मे देखिए। 'बिनहिं बुलायें' मे 'संतत सँग लागी' का भाव है। १९२(२ घ) 'बिषय सुखहि चहत, लहत नियत' भी देखिए।

२ (ख) 'तेहि सुख कहँ बहु जतन करत ' इति। विषयसुखके लिये प्रयत्न करना पूर्व कह आये हैं,यथा'हरि परिहरि सोइ जतन करत मन मोर अभागी। ११० (२)।', 'काहेको फिरत मन करत बहु जतन।१९८।', 'अजहुँ विषय कहुँ जतन करत जद्यपि बहु विधि डहँकायो।१९९।' समझाना भी पूर्व कह आये है, यथा 'तौ तू पछितैहै मन मींजि हाथ। ' सुखसाधन हरिबिमुख बृथा जैसे श्रम फल घृतहित मथे पाथ। यह बिचारि तजि कुपथ कुसंगति ।८४।', 'काहे-को फिरत मूढ़ मन धायो। ''' पावक-काम भोग-घृत ते सठ कैसेव परत बुझायो।। विषयहीन दुख मिलें विपति अति सुख सपनेहुँ नहिं पायो । १९९।'; इसीसे अत्र कहते हैं कि'समुझत नहिं समुझायें।' उन्हीं सुखोंके लिये यत्न करना कह-कर जनाया कि तू बड़ा अभागी है, यथा'मन मोर अभागी।'(उपर्युक्त ११०)। विशेष ११० (२ ग-घ) और १३२ (२ घ) देखिये।

इस कथनमे श्रीनारदजीके'तस्यैव हेतोः प्रयतेत कोविदो न लभ्यते यद्भ्रमतामुपर्युधः। तल्लभ्यते दुःखवदन्यतः सुखं कालेन सर्वत्र गभीररंहसा। भा०१।५।१८।' (अर्थात् दुःखके समान विषयसुख तो गम्भीर वेगवाले कालके द्वारा सभी योनियोंमे स्वभावसे ही मिल सकता है चतुर मनुष्यको चाहिए कि उसी वस्तुकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न करे जो ब्रह्मासे लेकर तृणपर्यन्त समस्त ऊँची नीची योनियोमे भ्रमण करते हुए प्राप्त न हो सकती हो।')— का भावभी जना दिया।

३ 'परदारा परद्रोह मोहबस ' इति। (क) परस्त्रीमें प्रेम तथा परद्रोह आदि पाप सब मोहके कारणही होते हैं; यथा 'करहिं मोह बस द्रोह परावा। ७।४०।','करहिं मोह बस नर अघ नाना। स्वारथरत परलोक नसाना।७ ४१।४।' 'परत्रिय लंपट कपट सयाने। मोह द्रोह ममता लंपटाने।७।१००।१।','नृप-अभि-मान मोहबस किंवा। हरि आनिहु सीता जगदंबा।३।२०।५।'

३ (ख)'गरभ बास दुखरासि ''' इति। गर्भवासके दुःख कुछ विस्तारपूर्वक पद १३६ 'ताको फल गरभबास दुख आगे।' से 'सीस धुनि धुनि रोवही' तकमें कह आये हैं— सिर नीचे पैर ऊपर, मलमूत्रादिसे घिरा हुआ माताके उदरमे पड़ा हुआ था,इत्यादि।विशेष १३६(३ख,ग,घ)मे देखिए।'जातना तीव्र बिपति'-पद १३६के'जातनापावक दहो' 'तब तीव्र कष्ट न जान कोउ'की टि०५(ग,घ,ङ)देखिए। 'बिसराये' से सूचित हुआ कि इस कष्टका तुझको ज्ञान था;यथा'आगे अनेक समूह संसृति उदर गति जान्यो सोऊ।१३६(२)।'उसको तूने भुला दिया।पूर्व भी कहा है कि 'बिसरे तब सब प्रथम बिषादा।' इससे यह भी सूचित किया कि उसे समझकर तुझे ग्लानि होनी चाहिए, किन्तु तुझे ग्लानिभी नहीं होती। यथा 'बिसरे बिषाद निकाय संकट समुझि नहिं फाटत हियो। १३६ (७)।'

४ 'भय निद्रा ''' इति। (क) 'सबहीके' अर्थात् पशु, पक्षी, मनुष्य आदि सबके, केवल मनुष्यहीके नहीं। भाव यह कि यदि हमारा जीवन भय, निद्रा

आदिमें ही बीता तो हममें और खर, श्वान तथा शूकर आदिमें भेद ही क्या रह गया ? वे ही हमसे अच्छे हैं, हमारा जीवन व्यर्थ है, जीना न जीना बराबर है। यथा 'जौं पै रहनि राम सों नाहीं। तौ नर खर कूकर सूकर से जाय जियत जग माहीं। १७५।' चाणक्यजीने भी कहा है— 'आहारनिद्राभयमैथुनञ्च सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम्। धर्मोऽहि तेषामधिको विशेषः धर्मेणहीनाः पशुभिः समानाः ॥' (चाणक्यनीति १७।१७; हितोपदेश प्रस्तावना)। अर्थात् आहार, निद्रा, भय और काम ये पशु और मनुष्य दोनोंमें एक-से हैं। मनुष्यमें धर्महीकी विशेषता है। धर्महीन पुरुष पशुओंके समान हैं। प्रस्तुत पदमें वही चार नाम आये हैं। गोस्वामीजीने 'भय' को सबसे प्रथम यहां रक्खा है। भाव यह है कि शरीर दिन दिन क्षीण होता जाता है, विषयप्राप्तिकी चिन्ता और उसके मिलनेपर उसकी रक्षा एवं उसके विनष्ट होनेका भय सदा लगा रहता है, जिससे निद्रा, मैथुन और आहारका भोगभी यथार्थ नहीं हो पाता। केवल शब्दके स्थानपरिवर्तनसे गोस्वामीजीके कथनमें कितनी भावोत्कृष्टता आगई यह पाठकवृन्द स्वयं विचार लें।

पुनः, कवि पूर्व पद १७५ में जो कह आये हैं कि 'काम कोह मद मोह नींद भय भूख प्यास सबही कें', उसका ही भाव यहां भी है। वहांके भय, नींद, काम, भूख प्यास क्रमशः यहांके भय, निद्रा, मैथुन और अहार हैं। क्रोध, मद और मोह कामके साथी ही हैं। वहांका 'सबहीकें' यहांका 'सबके समान आये' ही है। अतएव १७५ (२ क-ख) में विशेष भाव देखिए। (ख)-'सुर दुरलभ तन ' इति। 'धरि' पाठके अर्थ सब जानते हैं। पूर्व भी कहा है—'जो तन धरि '। १६४।' परन्तु १६६६ की प्रतिमें 'तरि' पाठ है। इसके अनुसार तनरूपी तरि (नाव) अर्थ होगा। 'नरतन' को बेड़ा या नावकी उपमा दी जाती है। यथा 'नरतन भववारिधि कहँ बेरो। सनमुख मरुत अनुग्रह मेरो॥ करनधार सदगुर दृढ़ नावा। दुरलभ साज सुलभ करि पावा।७।४४।७-८।' नरतन सुरदुर्लभ है।—'अति दुर्लभ तनु पाइ' ८३ (१ ग), १०२ (१ क-ख), १३५ (१ ख) देखिए। नरतनका साफल्य—८३ (१ घ) देखिए। 'न भजे हरि' से हरिभजन द्वारा नरतनकी सफलता जनाई। (ग)—'मद अभिमान गँवायें'—मद-मानमें ही शरीरको खो दिया। दूसरा अर्थ यह भी होता है कि मद-अभिमानको खो (त्याग) कर हरिको न भजा। प्रथम अर्थका उदाहरण है—'हृदय मलिन वासना मान मद ।८२।' भजन इनके रहते नहीं हो सकता, इससे इनका त्याग यत्र-तत्र कहा गया है; यथा 'परिहरि मान मोह मद भजहु कोसलाधीस ।५।३९।', 'भवभंजन रघुनाथ भजु तुलसी तजि मान मद ।१२४।'—(घ) 'भय निद्रा''''' कहकर 'न भजे हरि' कथनका भाव कि पशु, पक्षी आदि एवं देवशरीर भी कर्मप्रधान नहीं हैं, किंतु भोग-शरीर हैं, उनमें भवतरणके साधन (हरिभक्ति आदि) नहीं हो सकते।

५ 'गई न निज-पर-बुद्धि ' इति। (क) निज-पर-बुद्धि अर्थात् भेदबुद्धि, द्वैतबुद्धि। 'स्वपरमति' ५७ (४ झ) देखिए। इस संसारमें यह अपना है, यह पराया—इस प्रकारके अभिनिवेशरूप अज्ञानके सिवा वास्तवमें प्राणियोंका अपना आप और अन्य, अथवा अपना और पराया है ही क्या?— 'क आत्मा कः परो वात्र स्वीयः पारक्य एव वा। स्वपराभिनिवेशेन विनाज्ञानेन देहिनाम्। भा० ७।२।६०।' भाव कि यह अज्ञान है; अतः इसे त्यागकर सबमें अपने प्रभुको ही देखना चाहिए था, सो न किया।

५ (ख) 'सुद्ध होइ रहे न राम लय लाये' इति। इससे जनाया कि श्रीरामजीमें लौ तभी लग सकती है जब अपनी-पराई-वाली बुद्धि न रह जाय। प्रह्लादजीका मत है कि निज-पर-भावका त्याग आत्माके बारह लक्षणोंपर विचार करनेसे हो जाता है। वे लक्षण ये हैं—'नित्य, अविनाशी, शुद्ध, एक, क्षेत्रज्ञ, अधिष्ठान, अविकारी, स्वयंप्रकाश, सबका कारण, व्यापक, असंग और अनावृत (पूर्ण)। (भा० ७।७।१९-२०)।

भगवच्चरणयुगलके अनवरत ध्यानके प्रभावसे अन्तः करणकी संपूर्ण वासनाओंके क्षीण होजानेसे चित्त शुद्ध हो जाता है, (प्रियव्रतजीके प्रसंगमें श्रीशुकदेवजीने यह कहा है। यथा 'भगवत आदिपुरुषस्याङ्घ्रियुगलानवरतध्यानानुभावेन परिरन्धितकषायाशयो ऽवदातोऽपि । भा० ४।१।२३।')। वासना न रह जानेपर श्रीराममें लौ लगती है, यह कविने स्वयं कहा है; यथा 'मन ते सकल बासना भागी। केवल रामचरन लय लागी। ७।११०।६।' निज-पर-बुद्धि अर्थात् द्वैतबुद्धिसे जीवोंमें शत्रु, मित्र और मध्यस्थ भाव उत्पन्न होते हैं। ये ही मनके विकार हैं। यथा 'जौ निज मन परिहरै बिकारा। सत्रु मित्र मध्यस्थ तीनि ये मन कीन्हे बरिआई। १२४।' यह विकार छूट जाय तो मन शुद्ध हो जाय, तभी श्रीरामजीमें 'लय' लग सकती है। ('रसन रास एक तार', 'तुलसी रत मन होइ रहै अपने साहिब माहिं' इत्यादि भाव 'लय' के हैं)। अतः 'गई न निज-पर-बुद्धि', 'सुद्ध होइ' और 'रहे न राम लय लायें' इस क्रमसे कहा।

५ (ग) 'बीते यह अवसर का पुनि के ' इति। 'यह अवसर बीते' अर्थात् इस बार जो भगवत्-कृपासे 'साधनधाम मोक्षकर द्वारा' मनुष्यशरीर मिल गया है सो इस जन्मके बीत जानेपर। पूर्व मनको समझाया था कि तू इस शरीरके व्यर्थ बीत जानेपर हाथ मल मलकर पछतायेगा; यथा 'तौ तू पछितैहै मन मीजि हाथ। भयो है सुगम तोकों अमर-अगम-तनु समुझि धौं कत खोवत अकाथ ८४।' शरीर जर्जर हो जानेपर जब जीवके दुसह संकटमें कोई उसके पास खड़ाभी नहीं होता और वह 'कछु होइ न आइ गयो जनम जाय" यह सोचकर 'सिर धुनि धुनि पछितात मींजि कर', उस दशामेभी उसे समझाया

है कि 'अजहुँ सुमिरि रघुनाथहिं तरथो गयंद जाके एक नाय ।' (८३)। फिर पद १९८ मेंभी मनको समझाया है कि मन वचन-कर्मसे हरिका भजन कर, नहीं तो पछतायेगा; यथा 'मन पछितैहै अवसर बीते। दुरलभ देह पाइ हरिपद भजु करम वचन अरु ही तें।'—अब प्रस्तुत पदमें उसे बताते हैं कि पीछे पछतानेसेभी कुछ लाभ न होगा। भाव कि अबभी तुरंत रामभजनमें लग जा, तो भला होगा। पद १९८ में 'हरिपद भजु करम वचन अरु ही तें' जो कहा था उसी भावको यहाँके 'लय लायें' से जनाया है।

☞ मिलान कीजिए—"प्राप्ता नृजातिं त्विह ये च जन्तवो, ज्ञानक्रियाद्रव्यकलापसंभृताम्। न वै यतेरन्नपुनर्भवाय ते, भूयो वनौका इव यान्ति बन्धनम्। भा० ५।१९।२५।" अर्थात् जिन जीवोंने इस भारतभूमिमें ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय और पंचभूतोंकी चातुरीसे युक्त यह मनुष्यजन्म प्राप्त किया है, वे यदि आवागमनके चक्रसे निकलनेका यत्न नहीं करते, तो वनवासी पक्षियोंके समान वे फिर बंधनमें पड़ जायँगे।

इस प्रकार 'बीते यह अवसर' का भाव हुआ कि पुनः चौरासी-भ्रमणके चक्करमें पड़ जानेपर पछतानेसे कुछ नहीं होनेका, क्योंकि अन्य योनियाँ तो केवल कर्मभोग योनियाँ हैं।

सू० शुक्ल—जड़ राज्यसे लेकर चैतन्य सृष्टिमें देवयोनितक प्राकृतिक शरीरका गमनागमन हुआ करता है और सभीमें भय, निद्रा, मैथुन, अहार स्वभावसे ही होते रहते हैं। क्रम यह है कि कुहराके रूपमें परिणत हो अन्नादि उद्भिज योनिमें प्रवेश करते हैं और कर्मानुसार पशु, पक्षी, मनुष्यादिकोंके भक्षण करनेपर स्त्रीपुरुषोंमें वीर्यरूप होकर उस-उस योनिमें उत्पन्न हुआ करते हैं। उद्भिज अर्थात् वनस्पतिकी सृष्टि केवल अन्नमयकोशकी होती है। उनमें प्राण, मन, बुद्धिका विकाश नहीं होता। स्वेदज (ऊष्मासे उत्पन्न जीवोंमें अन्नमयकोश और प्राणमयकोश दो होते हैं, इसीसे स्थावरसे जंगमरूपमें आजाते हैं, परंच उनमेंभी मन और बुद्धिका प्रकाश नहीं होता। अण्डज जीव अन्नमय, प्राणमय और मनोमयकोशके होते हैं, इसीसे उनमें उड़नेकी शक्ति विशेष होती है। जरायुजमें पशुओंके शरीर अन्नमय, प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमयकोशके होते हैं, इसीसे वे अपने पालनेवालेको विशेषरूपसे पहचानते हैं। और मनुष्यका शरीर तो अन्नमय, प्राणमय मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय कोशका होता है; इसीसे सच्चिदानंद परमात्माका ज्ञान इसी शरीरमें होता है। और, सत (प्रकाशस्वरूप ज्ञान), रज (कर्मरूप), तम (अंधकाररूप अज्ञान) का विषम रूपसे संघट्ट होना दैवी प्रकृति है, जो परा और अपरा भेदसे दो प्रकार की है। परा-शक्ति सत्त्व-प्रधान सच्चिदानंदरूपिणी है; इसकी आकर्षणशक्तिमें चलते हुये जीव क्रमोन्नति करते हुए ब्रह्मभावतक पहुँच जाते हैं। अपराशक्ति तमः प्रधान महामोह अज्ञानरूपिणी है; इसकी आकर्षण

शक्तिमें व्यवहार करते हुए अधः पतन हो फिर अज्ञान प्रधान जड़राज्यमें पतित होते हैं। परंच जिसका पूर्णरूपसे पतन हो गया उसे रजोगुणकी स्वाभाविक कर्म-क्रिया आकर्षित करती है; इस लिये रजोगुणकी पूर्ण सृष्टि (मनुष्य-योनि) तक स्वभावसे ही क्रमोन्नति करते रहते हैं। इसीसे उद्भिज,स्वेदज,अण्डज और जरायुजमें पशुओंकी क्रमोन्नति होती रहती है; परंच मनुष्यका शरीर तो तमोगुण और सत्वगुणका मध्य रजोगुणी है; इस लिये इनके पीछे सत्वप्रधान पराशक्ति और तमः प्रधान अपराशक्ति दोनों लगी हैं। जो मनुष्य परमपुरुषार्थ द्वारा दैवीसंपत्तिमें अभ्यास करते हैं वे क्रमोन्नतिसे मुक्त हो जाते हैं और जो आसुरी संपत्तिमें लग जाते हैं वे क्रमशः अधः पतनसे अज्ञानप्रधान जड़भावमें गिरकर दुःख उठाते हैं। अतएव जड़राज्यसे उन्नति करते-करते बहुत जन्मोंमें नरदेह पाकर फिर आसुरी सपत्तिमें पड़ अधः पतन नहीं करना चाहिए; किन्तु परमपुरुषार्थ द्वारा दैवीसंपत्तिमें अभ्यास बढ़ाते हुए क्रमोन्नतिमें ही अग्रसर होना चाहिए।

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

२०२ (१२६)

काजु कहा नरतनु धरि सार्‌यो।
पर-उपकार सार श्रुति को सो तो[1] धोखेहु मैं[2] न बिचार्‌यो।१
द्वैत मूल भय सूल सोक फल भवतरु टरइ न टार्‌यो।
राम-भजन तीछन कुठार लेइ[3] सो नहिं काटि निवारयो।२।
संसय-सिंधु नाम-बोहित भजि निज आतमा न तारयो।
जनम अनेक बिबेकहीन बहु जोनि भ्रमत नहिं हारयो।३।
देखि आन की सहज संपदा द्वेष-अनल मनु जारयो।
सम दम दया दीन-पालन सीतल हियं हरि न सँभारयो।४।
प्रभु गुरु पिता सखा रघुपति मैं[4] मन क्रम बचन बिसारयो[5]।
तुलसिदास यहि आस[6] सरन राखिहिं[7] जेहि गीध उधारयो।५।

---

१ तो—६६, रा०, भा०, वे०. डु०, भ० । तौ–प्र० । ह०, ७४, मु०, वै०, दी०, वि० मे 'तो' नहीं है। २ मैं–६६, रा०, भा०, वे०, मु० । मे–५१, डु०, वै०, भ०, ७४ । तैं–ह०, ज०, १५ । ३ लेइ–६६, भ०, ७४। लै–रा०, ह०, ज०, ५१, १५, आ० । ४ मे–वै० । तैं–भ०, दी०, वि० । पै–ह० । तै–ज० । मैं–औरोंमे । ५–सँभार्‌यो–६६ । लेखप्रसाद है। ६ आस–५१ ।

शब्दार्थ—सारना = साधना (सिद्ध करना); करना; यथा 'अस कहि राम तिलकु तेहि सारा। ५।४६।१०।' धोखेहुँ = धोखेसे भी; जानबूझकर नहीं किन्तु भूलसे। यथा 'जिमि धोखें मद पान कर सचिव सोच तेहि भाँति २।१४४।' टरना (टलना) = स्थानसे हटना। टारना = टालना; हटाना। टार्यो = हटानेसे; टाले भी। तीछन (तीक्ष्ण) = तेज; पैनी धारवाली। कुठार = कुल्हाड़ा। निवारना = दूर करना; अलग करना, हटाना। तारना = उद्धार करना। = भवबंधनसे छुटाना। बोहित = जहाज। सहज = जन्मके साथही पैदा हुई अर्थात् संस्कारसे मिली हुई। = निजकी; अपनी, अर्थात् किसी दूसरेसे पाई या हरण की-हुई नहीं। (दीनजी)। द्वेष = ईर्ष्या। जारना = जलाना।

पद्यार्थ—नरशरीर धारणकर कौन-सा काम साधा? (अर्थात् कुछभी तो न किया, जन्म व्यर्थ खो दिया)। परोपकार वेदोंका सार सिद्धान्त है; सो उसे तो मैंने कभी भूलकरभी न विचारा।१। द्वैत (निज-पर-बुद्धि, भेदबुद्धि) जिसकी जड़ है, और भय, शूल, शोक जिसके फल हैं वह संसाररूपी वृक्ष टाले नहीं टलता। श्रीरामभजनरूपी तेज धारवाला कुल्हाड़ा लेकर उसको काटकर अलग न कर दिया।२। संशयरूपी समुद्र (को पार करने) के लिये (जो) जहाजरूप (है उस श्रीराम) नामको भजकर अपनी आत्माका उद्धार नहीं किया (अर्थात् श्रीरामनामरूपी जहाजपर चढ़कर भवपार न हो गया)। ज्ञानशून्य रहकर अर्थात अज्ञानवश अनेक जन्मोंतक बहुतसी योनियोंमें चक्कर खाता हुआ (कभी) हार नहीं मानी।३। दूसरोंकी सहज संपत्ति देखकर (मैंने) मनको ईर्ष्यारूपी अग्निमें जलाया। शम, दम, दया, दीन-दुखियोंका पालनकर शीतल (शान्त) हृदयसे हरिका स्मरण नहीं किया।४। स्वामी-गुरु-पिता-सखारूप श्रीरघुनाथजीको मैंने मन, कर्म और वचन (तीनों) से भुला दिया। तुलसीदास! इस त्राससे वेही शरणागतकी रक्षा करेंगे, अथवा शरणमें रक्खेंगे, जिनने गीधका उद्धार किया है।५।

टिप्पणी—१ 'काजु कहा नरतनु धरि सार्यो।' इति। (क) पद १६८ से २०१ तक नाना प्रकारसे मनको समझाते रहे। अब इस पदमें विचारण-भूमिकासे विनय करते हैं। इस पदको 'काजु कहा नरतनु धरि सार्यो' इस प्रकार प्रारंभ करके 'इस शरीरको धारणकर मनुष्यका क्या-क्या कर्तव्य है'-यह दिखाते हुए शोक करते हैं कि हमने यह कुछ नहीं किया। ☞ इसी प्रकार प्रत्येक जीवको विचार करना चाहिए,—यह यहाँ उपदेश मिलता है।

१ (ख) दूसरे चरणके 'पर उपकार धोखेहुं मैं न विचार्यो' इसके साथ 'काजु कहा…' का भाव, महर्षिदधीचिके 'अहो दैन्यमहो कष्टं पारक्यैः क्षण-भङ्गुरैः। यन्नोपकुर्यादस्वार्थैर्मर्त्यः स्वज्ञातिविग्रहैः। भा० ६।१०।१०।' इस वाक्य—

के अनुसार, यह होता है—'अहो, कैसी कृपणता है! कैसे दुःखकी बात है कि जिनसे मनुष्यका कुछभी स्वार्थ सिद्ध नहीं होता तथा जो दूसरोंके ही भोग्य और क्षणभंगुर हैं, उन धन, जन और शरीरादिसे' मैंने 'दूसरोंका कुछभी उपकार नहीं' किया—इस प्रकार प्रार्थी इस पदमें अपना दैन्य प्रकट कर रहे हैं।

१ (ग) 'पर उपकार सार श्रुतिको'—भगवान्‌ने इसे संपूर्ण वेदों और पुराणोंका सार बताया है। यथा 'परहित सरिस धर्म नहि भाई। परपीड़ा सम नहिं अधमाई॥ निर्नय सकल पुरान बेद कर। कहेउँ तात जानहिं कोबिद नर। ७।४१।१-२।', 'अष्टादश पुराणानां व्यासस्य वचनद्वयम्। परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्॥' (प्रसिद्ध श्लोक)।

१ (घ) 'सो तो धोखेहुँ मैं न बिचार्‌यो'—अर्थात् मैंने कभी भूलकरभी इसका विचार नहीं किया, कभी स्वप्नमेंभी मेरे मनमें यह विचार स्फुरित न हुआ; तब करना तो बहुत दूर रहा। पिछले पदमें मनको समझाते हुए जो कहा था कि 'काय-बचन-मन सपनेहुँ कबहुँक घटत न काज पराए', वही यहाँ विचार-भूमिकामें शोक प्रकट करते हुए सोच रहे हैं।

२ 'द्वैत मूल भय-सूल-सोक फल' ' इति। (क) द्वैतबुद्धिसे भवविपत्ति उत्पन्न होती है, यथा 'जौं निज मन परिहरै बिकारा। तौ कहँ द्वैतजनित संसृति दुख संसय सोक अपारा। १२४ (१)।'; अतः द्वैतको भवरूपी वृक्षका मूल कहा। यही 'पुनरपि जननं पुनरपि मरणं' का कारण है। अविद्याकोभी संसारका मूल कहा गया है, यथा 'संसृतिमूल अविद्या नासा। ७।११६।८।' द्वैत-बुद्धि अविद्या ही है। यथा 'मैं अरु मोर तोर तैं माया। जेहिं बस कीन्हे जीव निकाया॥.... एक दुष्ट अतिसय दुखरूपा। जा बस जीव परा भवकूपा॥ ३।१५।' दोनोंमें भेद नहीं है। अविद्याका नाश द्वैतकाभी नाश है। 'भेद भ्रम' को भवमूल अन्यत्रभी कहा गया है; यथा 'आतम अनुभव सुख सुप्रकासा। तब भवमूल भेद-भ्रम नासा।७।११८।२।' भेद भ्रमभी द्वैतही है। भवतरुमें भय, शूल, शोक ये फल लगते हैं। अर्थात् संसारमें अनेक योनियोंमें जन्म लेनेपर जन्मसे लेकर मरणपर्यन्त भय, शूल और शोकही भोगने पडते हैं। यथा 'भय सूल सोक अनेक जेहि तेहि पंथ तू हठि-हठि चल्यो। बहु जोनि जन्म जरा बिपति मतिमंद हरि जान्यो नहीं।१३६ (१)।' भवको वृक्षसे पूर्वभी रूपित कर चुके हैं, और वहाँ श्रीरामजीको भवको काटडालनेवाला कुठारभी कहा है। यथा 'स्वर्ग अपवर्गपति भग्न—संसारपादप-कुठारं।५०।'—संसाररूपी वृक्षका रूपक पद ५० की टि० ३ (च) में दिया जा चुका है, अतः पाठक चाहें तो वहाँ देख लें।

२ (ख) 'भवतरु टरइ न टार्‌यो। रामभजन' ' इति। यह संसारवृक्ष द्वैत-बुद्धिके कारण दृढ़तापूर्वक जम गया है, यह नित्य नवीन बढ़ता-फूलता-फलता

रहता है—'परदार परधन द्रोहपर,संसार बाढ़ै नित नयो ।१३६ (७)।'; इसीसे यह किसीके टाले भी नहीं टलता ।— यह कहकर उसको मूलसहित उखाड़ डालनेका जो एकमात्र उपाय है सो बताते हैं । वह है— 'रामभजन' ।

२ (ग) 'रामभजन तीछन कुठार लेइ ''' इति । भवको वृक्षकी उपमा दी, अतः उसके काटनेके लिये तीक्ष्ण कुल्हाड़ा चाहिए । 'रामभक्ति' वह कुल्हाड़ा है । रामभक्ति करनेसे श्रीरामजी भवसे सदाके लिये निवृत्त करदेते हैं । उनको पूर्व 'भग्नसंसारपादप-कुठार' कह ही आये हैं । 'रामभजन' मे भगवान्की प्रपत्ति, रामनाम-जप, चरितश्रवण, रूपध्यान आदि भजनके सभी भावोंका ग्रहण है । विना रामभजनके भवका सर्वथा नाश नहीं हो सकता, रामभजनसेही उसका नाश होता है । यथा 'बिनु हरिभजन न भवभय नासा । ७।६०।८।', 'भगति करत बिनु जतन प्रयासा । संसृति मूल अविद्या नासा ।७।११६।८।', 'रघुपति विमुख जतन कर कोरी । कवन सकै भवबंधन छोरी ।१।२००।३।', 'गावत गुन-गन रामके केहि की न मिटी भवभीर ।१६३।','रघुपति भगति संतसंगति बिनु को भवत्रास नसावै ।१२१।' पद ५० मे श्रीरामको 'कुठार' की उपमा दी और यहां रामभजनको 'तीक्ष्ण कुठार' कहा । इस प्रकार भगवान्से उनकी भक्तिमें विशे-पता दिखाई ।

नोट—१ पद १९९ मे यह समझकर कि कालरूपी सर्प संसारके सभी जीवोंको खा रहा है, जीवन क्षण-क्षण क्षीण हो रहा है, हरिभजन करनेको कहा था । पद २०० में हरिभजनको वेदोका सारसिद्धांत बताकर और यह कहकर कि तू भी कालका कलेवा होनेवाला है,हरिभजन करनेका उपदेश किया था । प्रस्तुत पदमें यह कहकर कि रामभजन ही भवतरुको निर्मूल करनेवाला है,शोक करते हैं कि मैंने रामभजन नहीं किया जिससे भवका समूल नाश हो जाता ।

टिप्पणी—३ 'संसय सिंधु नाम बोहित ''' इति । (क) सद्गुरु सद्ग्रन्थादि द्वारा आत्माके यथार्थ स्वरूपविषयक उपदिष्ट ज्ञानमे श्रद्धा न होना तथा उसमे संदेह होना 'संशय' है । यहां 'निज आतमा न तार्यो' के संबंधसे आत्मविषयक संशयही अभिप्रेत है । संशयकी उत्पत्ति भी द्वैतसे होती है; यथा 'तौ कहां द्वैत-जनित संसृति दुख संसय सोक अपारा ।१२४।' द्वैतसे 'अपार संशय' उत्पन्न होते हैं, अतः संशयको समुद्रकी उपमा दी । संशय सकल—४७ (३ झ), ४४ (६ ग), १०८(३ ख), १०६ (१) आदि कई पदोंमें दिखाये जा चुके हैं । संशय-वालेका नाश होता है—'संशयात्मा विनश्यति । गीता ४।४०।' उसके लिये न लोक है, न परलोक और न सुखही । अर्थात् उसके धर्म, अर्थ और कामरूप पुरुषार्थ ही नहीं सिद्ध हो पाते, तब मोक्षकी तो बात ही क्या ? अतः जीवको चाहिए कि संशयको किंचित् न रहने दे । संशयको सिंधु कहा; अतः नाममे

जहाजका आरोपण किया गया; क्योंकि जहाज द्वारा समुद्र पार करना होता है।

☞ यहां आत्माको संशयसिंधुसे पार करनेका साधन नाम-जप बताया। अपनेमें संशय होना पूर्व पद १२१ 'देखत सुनत कहत समुझत संसय संदेह न जाई' और पद ११३ 'तुलसिदास प्रभु तव प्रकास बिनु संसय टरै न टारो।' इत्यादि कई पदोंमें कह आये हैं। अब बिचार करते हैं कि यह जानते हुये भी कि नाम-जपसे आत्मा संशयनिवृत्त हो जाता है, मैंने यह भी न किया।

३ (ख) 'जनम अनेक बिबेक हीन ' इति। सत्य और असत्यकी पहचान न कर सकना विवेकहीनता है। सत्यको असत्य और असत्यको सत्य मानना अविवेक है। अपनी विवेकहीनता पूर्व कह आये हैं; यथा 'साँचो जान्यो झूठ कै झूठे कहँ साँचो जानि। को न गयो को न जात है को न जैहै करि हित हानि। १९०।', 'सुनिय नाना पुरान मिटत नहिं अज्ञान, पढ़िय न समुझिय जिमि खग कीर। १९७।', 'खानि चारि संतत अवगाहीं। अजहुँ न करु बिचार मन माहीं। १३६(४)।' जबतक जीव देह, गेह, स्त्री, पुत्र, धन आदि विषयोंको सत्य मानकर उनमें आसक्त रहता है, तब तक जन्म-मरणका ताँता लगाही रहता है; यथा 'जब लगि नहिं निज हृदि प्रकास अरु बिषय आस मन माहीं। तुलसिदास तब लगि जग जोनि भ्रमत सपनेहु सुख नाहीं। १२३।' बारंबार जन्म अनेक योनियोमें लेना भी पूर्व कह आये है; यथा 'चर अरु अचर गगन जल थलमें कौन स्वाँग न कर्‌यो। ९१।' प्रत्येक योनिमें विषयही चाहता रहा; यथा 'जहँ जहँ जेहि जेहि जोनि जनम महि पताल बियत। तहँ तहँ तू बिषय-सुखहि चहत लहत नियत। १३२।' इसी से विवेकहीन संसारकी योनियोंमें भ्रमण करना कहा। 'नहिं हार्‌यो' का भाव कि अब भी विषयोंके पीछे दौड़ता है; यथा 'अजहुँ बिषय कहुँ जतन करत बहु जद्यपि बहु बिधि डहँकायो। १९९।', 'फिरि गर्भगत आवर्त संसृति चक्र जेहि सोई सोई कियो। कृमि-भस्म बिट परिनाम तनु तेहि लागि जगु बैरी भयो। १३६(७)।' पुनः भाव कि यदि थक जाता, हृदयमें हार मान लेता, तो अवश्य प्रभुको स्मरण करता, उनकी शरण जाता। सो मैंने अबतक हार नहीं मानी। यहाँ यह दैन्य प्रकट करते हुए शोक करते हैं। आगे विवेक होनेपर थकना कहकर शरणमें होंगे। यथा 'इहै जानि चरनन्हि चितु लायो।'''' जतन अनेक किये सुख कारन हरिपदविमुख सदा दुख पायो। अब थाक्यो जलहीन नाव ज्यों देखत बिपति जाल जग छायो। अब तजि दोष करहु करुना हरि तुलसिदास सरनागत आयो। २४३।'

४ 'देखि आनकी सहज '''' इति। (क) 'सहज संपदा' वह है जो प्रारब्धानुसार प्राप्त हुई है। जैसे कि पैत्रिक संपत्ति एवं जो धर्मानुसार अपने परिश्रमसे प्राप्त हुई है। 'सहज' का अर्थ 'साधारण' भी होता है। दूसरेकी थोड़ीसी भी

सपत्तिको देखकर जलता हूँ। पूर्व यह अवगुण अपनेमें दिखा आये हैं, यथा 'देखि आनकी बिपति परम सुख सुनि संपति बिनु आगि जरौं।१४१।' द्वेषाग्निमें जलना यह कि ईर्ष्या-डाह करता हूँ कि 'हाय! इसको इतनी संपत्ति बैठे-बिठाये मिल गई! मुझको न मिली! इसकी सपत्तिमें आग न लगी!'

४ (ख) 'सम दम दया दीनपालन ...' इति। अन्तः करणको वशमें रखना 'शम' है। बाह्य इन्द्रियोंको अनर्थकारी विषयोंसे रोकना 'दम' है। दूसरेका दुःख देखकर विना किसी स्वार्थके दुःखी हो जाना 'दया' है।—'स्वार्थनिरपेक्ष परदुःख दुःखित्वम दया।' दयासे द्रवीभूत होनेपरही दीन-दुःखियोंका पालन हो सकता है. इसीसे दया गुणको कहकर तब दीनपालन गुणको कहा। यथा 'कोमल चित दीनन्ह पर दाया।७।३८।' 'शीतल हिय' अर्थात् शान्तचित्त होकर। शम-दम-दयावान्का हृदय शीतल होता है, इन गुणोंसे श्रीरामभजन होता है। यथा 'अति सीतल अतिही सुखदाई। सम दम रामभजन अधिकाई। वै० सं०।' शीतलसे जनाया कि समस्त विषयकामनाओंसे रहित होकर। जबतक वासनायें रहती हैं, हृदय शीतल नहीं हो सकता। यथा 'हृदय मलिन बासना मान मद। ८२।' सो मेरा मन कभी शान्त हुआ ही नहीं, तब उनका स्मरणही कैसे करता?

५ 'प्रभु गुरु पिता सखा ...' इति। (क)—ऊपर स्मरण न करना कहा और अब कहते हैं कि इतनाही नहीं, मैंने उनको मन-कर्म-वचन तीनोंसे भुला दिया। श्रीरघुनाथजीही वास्तवमें जीवके माता, पिता, स्वामी, गुरु, सखा सब कुछ हैं, उनसे जीवके सब नाते सत्य होते हैं; वही सब प्रकार हितकारी हैं। यथा 'तैं जननि जनक गुरु बंधु सुहृद पति सब प्रकार हितकारी।११३ (४)।' अतः उनको भुलाना न चाहिए, पर मैंने भुला दिया। यथा 'निज हित नाथ पिता गुरु हरि सो हरपि हृदय नहिं आन्यो।८८।', 'सुखहू को सुख राम सो बिसारो।१७६।', 'नीचु मीचु जानत न सीस परें ईस निपट बिसरायो।२००।', 'जासों सब नातो फुरै तासो न करी पहिचानि।१९०।' श्रीरामजीको भुला देनेसे बढ़कर कोई निषिद्ध कार्य नहीं है; यथा 'रामको बिसारिबो निषेधसिरताज रे।६७।' ऊपर 'हरि न सँभारयो' से सब विधियों (परम कर्तव्य धर्मों) से रहित कहा; क्योंकि 'रामसुमिरन सब विधिही को राज रे', यह पद ६७ मे कह आये है। और यहाँ श्रीरघुपतिको 'बिसारयो' से निषेधमे रत दिखाया।

५ (ख) 'मन क्रम बचन बिसारयो' मे यहभी भाव है कि जिनको मन कर्म-वचनसे भजना चाहिए, (यथा 'दुरलभ देह पाइ हरिपद भजु करम बचन अरु ही तें।१९८।', 'अति दुर्लभ तनु पाइ कपट तजि भजे न राम मन बचन काय। ८३।'), उनको भजना तो दूर गया, उलटे मन-कर्म-वचन तीनोंसे भुला दिया। वचनसे कभी उनकी चर्चा न की, कभी नाम उच्चारण न किया। कर्म कि उनकी

कोई सेवा भूलकरभी न की और मनमें कभी उनको न आने दिया।

५ (ग) 'तुलसिदास यहि त्रास सरन ' इति। 'यहि त्रास' से जनाया कि प्रार्थी अपने उपर्युक्त आचरणोंसे बहुत त्रास खा रहा है। भवत्रास आदिसे त्रसित हो रक्षाकी प्रार्थना पूर्व करचुके हैं; यथा 'तुलसिदास सब त्रास हरहु अब होहु राम अनुकूला रे।१८६।', 'त्राहि रघुबंसभूषन कृपाकर कठिन काल-बिकराल-कलि-त्रास-त्रस्तं।५६।', 'ग्रसत भवव्याल अति त्रास तुलसीदास त्राहि श्रीराम-उरगारिजानं। ६१।' प्रस्तुत पदमे अपनी दीन दशापर बिचार करते हुए गीधके उद्धारको स्मरणकर विश्वास करते हैं कि मुझेभी शरणमें लेकर मेरी इस त्राससे रक्षा करेंगे। 'त्रास सरन राखिहिं' से जना दिया कि मैं सभीत शरणागत हूँ औरऐसेकी रक्षा करना उनकी बान है। यथा 'जौं सभीत आवा सरनाई। रखिहउँ ताहि प्रान की नाई।५।४४।' यह भरोसा पूर्वभी कह आये हैं; यथा 'तुलसिदास भरोस परम करुनाकोस प्रभु हरिहैं बिषम भव-भीर।१६७।', 'बचन मन करम गत-सरन तुलसीदास त्रासपाथोधि इव कुंभजातं।५३।', 'अवधपति सर्वदा दास तुलसी त्रासनिधि बहित्रं।५०।' उसीको 'राखिहिं' कहकर यहाँभी दृढ़ किया है।

५ (घ) 'गीध उधार्यो' इति। इस पदमे अपनी दीनता दिखाई है। भगवान् दीनोंका उद्धार करते हैं। गीध (जटायु) अधम, मांसाहारी होनेसे सद्गति पानेमे दीन था। उसके उद्धारमें कविने कहा है–'कोमलचित अति दीनदयाला। कारन बिनु रघुनाथ कृपाला॥ गीध अधम खग आमिषभोगी। गति दीन्ही जो जाचत जोगी।३।३३।' गीधके उद्धारकर्ता कहकर यहाँ प्रभुके उन्हीं गुणोंका आश्रय दिखाया है।

☞ ऐसा ही अटल विश्वास प्रभुके गुणोंपर रखना चाहिए। मिलान कीजिए–'एतेहु पर हित करत नाथ मेरो, करि आयो अरु करिहै। तुलसी अपनी ओर जानियत प्रभुहि कनोड़ोइ भरिहै।१७१।' यहाँ 'आत्मतुष्टिप्रमाण अलंकार' है।

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

२०३

श्रीहरि-गुर-पद-कमल भजहु[1] मन तजि अभिमान।
जेहि सेवत पाइअ हरि सुखनिधान भगवान।१
परिवा प्रथम प्रेम बिनु राम मिलहिं[2] अति दूरि।
जद्यपि निकट हृदय निज रहे सकल भरि पूरि।२

---

१ भजहु–रा०, ५१, ह०, वे०, प्र०, आ०। भजहि—७४। भजु—भा०, भ०। भजि–ज०। २ मिलहिं–रा०, भा०, वे०, ह०, ज०। मिलन–५१, ७४, आ०।

दुइजि द्वैत मति[3] छाँड़ि चरहि[4] महि मंडल धीर ।
बिगत मोह माया मद हृदय बसत[5] रघुबीर ।३
तीजि त्रिगुन-पर परम पुरुष श्रीरमन[6] मुकुंद ।
गुन सुभाउ त्यागें बिनु[7] दुरलभ परमानंद ।४
चौथि चारि परिहरहु[8] बुद्धि मन चित अहंकार[9] ।
बिमल बिचार परम पद निज सुख सहज उदार ।५
पाँचइँ[10] पाँच परस रस सब्द गंध अरु रूप ।
इन्ह कर कहा न कीजिअ बहुरि परब भवकूप ।६
छठि षडबर्ग करिअ[11] जय जनकसुतापति लागि ।
रघुपति कृपा-बारि बिनु नहिं बुताइ[12] लोभागि ।७
सातँ सप्त धातु निर्मित तनु करिअ बिचार ।
तेहि तनु केर[13] एक फल कीजिअ पर-उपकार ।८
आठइँ आठ-प्रकृति-पर निर्बिकार श्रीराम ।
केहि प्रकार पाइअ हरि हृदयँ बसहिं[14] बहु काम ।९
नवमी नवद्वार पुर बसि जेहि[15] न आपु भल कीन्ह ।
ते नर जोनि अनेक भ्रमत दारुन दुख दीन्ह[16] ।१०

---

३ मति–रा०, आ० । मत– भा०, वे०, ह०, ७४ । ४ चरहि—रा०, ह०, ५१, ७४, भ० । चरहिं—भा०, वे०, डु०, भ०सं० । बिचरहि—ज० । ५ बसत–भा०, बे०, ह०, दीन, वि० । सदा–रा०. प्र०, ज०, ५१, मु०, डु०, वै०, भ०, ७४ । ६ श्रीरमा रमन–रा० । श्रीरमन–प्रायः औरोंमे । ५ बिनु–रा०, ह०, ज०, ५१, आ०, वे० । बिना–भा०, प्र० । ८ परिहरहु–रा०, ह०, बे०, ५१, ७४, आ० । परिहरै–भा०, प्र०, भ० । ९ हंकार–मु०, ह० । अहँकार–प्रायः औरोंमे । १० पाँचैं–भा०, वे० । पाँचइँ–प्रायः औरोंमे । ११ करै—प्र० । १२ बुझाइ–७४, १५ । १३ केर–रा०, ५१, ७४, आ० । कर अब–भा०, वे०, ह०, ज०, १५ । १४ बसत–प्र० । १५ जेहि–मु० और ७४ मे नहीं है । जेहि–प्रायः और सबोमे है । १६ दीन्ह–रा०, ह०, ५१, १५, आ० । 'दीन' (और पूर्वार्धमे 'कीन')–डु०, धीर । लीन्ह–भा०, वे०, भ० ।

शब्दार्थ—परिवा = मासके शुक्लपक्षका प्रथम दिन वा तिथि; प्रतिपदा। द्वैत मति = द्वैतबुद्धि। चरहि (सं० चर् धातु से) = विचरण कर, विचरता रह। धीर = धैर्यपूर्वक; अचंचल चित्तसे। दुइजि = पक्षका दूसरा दिन द्वितीया। तीजि (तीज) = तृतीया तिथि; पक्षका तीसरा दिन। त्रिगुन-पर = सत्व-रज-तम गुणोंसे परे। मुकुंद = मोक्षदाता भगवान्; मुकुन्द भगवान्। परमानंद = परम आनंद। निज सुख = आत्मसुख; स्वस्वरूपानंद। उदार = श्रेष्ठ। परस = स्पर्श विषय। परब = पड़ोगे; पड़ना होगा। षड्वर्ग = षट् विकार, षड्रिपु। = काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर। बुताना = बुझना; शान्त होना। लोभागि = लोभरूपी अग्नि। सप्तधातु = आयुर्वेदके अनुसार शरीरके सात संयोजक द्रव्य; अर्थात् रक्त, पित्त, मांस, वसा, मज्जा, अस्थि और शुक्र (वीर्य)। (श० सा०)। अन्यत्र किसीने त्वचा, चर्म, मांस, रुधिर, मेद, मज्जा और अस्थि ये सात धातु कहे हैं, यथा 'त्वक्-चर्ममांसरुधिरमेदोमज्जास्थिधातवः।' निर्मित = बना या निर्माण किया हुआ। रचा हुआ। आठ प्रकृति = पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन बुद्धि और अहंकार। यथा 'भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च। अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा। गीता ७।४।' (भगवान् कहते हैं कि ये आठ प्रकृति मेरी है)। नवद्वार पुर = नौ द्वारोंवाला नगर। शरीरमें नौ छिद्र है—दो नेत्र, दो कान, दो नथुने (नाकके), मुख, मूत्रेन्द्रिय और गुदा। येही नौ द्वार हैं। इसीसे शरीरको नौ दरवाजेका पुर कहते हैं।

नोट—१ इस पदमें फागुन मासके शुक्लपक्ष की 'प्रतिपदा' से लेकर 'पूर्णिमा' तक पन्द्रहो तिथियोंके रूपकमें भगवत्प्राप्तिके पन्द्रह साधन वा पुरुषार्थ बताए गये हैं।

२ इसमे संत्र मतोंका उल्लेख करके ग्रन्थकार सब मतोको प्रमाण करते है। (पं० रा० कु०)।

३ "यह पद साहित्य, भक्ति एवं तत्त्वज्ञानकी दृष्टिसे बड़ाही सुन्दर, सारमय और भावपूर्ण है। साधक जनोंके हृदयका तो हार ही है। क्रमशः इस पदके सिद्धान्तपर चलता हुआ साधक पूर्ण अवस्थाको प्राप्त कर सकेगा, इसमे किंचिन्मात्र भी संदेह नहीं है।"

४ "फागुनकी ये तिथियाँ होलीके अन्तर्गत हैं। इनमें लोग वसन्तऋतुके गीत गा-गाकर विषयोंमे आसक्त होते हैं। इनको गोस्वामीजी उपदेश करते हैं कि फागुनके आगमनपर भगवन्-संबंधी ऐसा फाग खेलिए तथा इन पन्द्रह तिथियों-को इस भाँति जानिए जैसा प्रस्तुत पदमें बताया गया है।" (चरखारी टीकाकार)।

५ बैजनाथजी लिखते है कि जैसे चन्द्रमामें सोलह कलायें हैं। कृष्णपक्षमे क्रमशः प्रति तिथिमे एक-एक कला क्षीण होती है। अमावस्या तक १५ कलायें क्षीण हो जाती हैं। एक कला जो रहजाती है, वह सूर्यके संग लुप्त होकर ओषधियों-

में प्रवेश करती है।

वैसेही कुसंगरूपी कृष्णपक्ष पाकर जीवरूपी पूर्णचन्द्रकी १५ कलायें—'निराशा, सद्वासना, कीर्ति, जिज्ञासा, करुणा, मुदिता, स्थिरता, असंग, उदासीनता, श्रद्धा, लज्जा, साधुता, तृप्ति, क्षमा और विवेक-क्रिया' क्रमशः क्षीण हो जाती हैं। केवल सोलहवीं एक 'प्रेमा' कला रह जाती है जो अविवेक-रूपी सूर्य-के साथ अस्त होकर इन्द्रियरूपी ओषधियोंमें व्याप्त होकर गुप्त रहती है।

प्रस्तुत पदमें यह दिखाया है कि जैसे चन्द्रमामें शुक्लपक्षका संग पाकर पुनः सब कलायें आकर क्रमशः एकत्र हो जाती हैं, वैसेही जीव संत-संग पाकर अपनी खोईहुई उपर्युक्त सब कलायें प्रस्तुत पदमें दिए हुए उपदेशों वा साधनोंमें लग जानेसे प्राप्त कर लेगा।

६ चन्द्रमाकी सोलह कलायें—'अमृतां मानदां तुष्टिं पुष्टिं प्रीतिं रतिं तथा। लज्जां श्रियं स्वधां रात्रिं ज्योत्स्नां हंसवतीं ततः। छायां च पूर्णां वामामसा चन्द्रकला इमा ॥' (वैजनाथजीकी 'मानस' के 'सत-संग अपवर्ग० ।७।३३।' की टीका से)। 'शारदा तिलक' में चन्द्रमाकी सोलह कलाओंके नाम इस प्रकार हैं—"अमृता मानदा पूषा तुष्टिः पुष्टी रतिर्धृतिः। शशिनी चन्द्रिका ज्योत्स्ना कान्तिः श्रीः प्रीतिरङ्गदा। पूर्णा पूर्णामृता कादायिन्यः शशिनः कलाः।"

एक दूसरे तंत्र ग्रन्थमें 'अ' से लेकर 'अः' तक १६ स्वरों को ही चन्द्रकला कहा है। स्कं० पु० आव० रेवा० १०३।६४ में 'प्रीतपन्. द्वितीया, तृतीया, चतुर्थी, पंचमी, षष्ठी, सप्तमी, अष्टमी, नवमी, दशमी. एकादशी, द्वादशी, त्रयोदशी, चतुर्दशी, पूर्णमासी और अमावस्या'—ये सोलह कलाओंके नाम बताये गए है। यथा "प्रतिपच्च द्वितीया च तृतीया च महेश्वरि। चतुर्थी पंचमी चैव अव्यया षोडशी कला ॥" और यह भी कहा है कि अमावस्याके चन्द्रमा वनस्पतिमें व्याप्त रहते हैं।

पद्यार्थ—रे मन! भगवत्स्वरूप श्रीगुरुजीके चरणकमलोंका अभिमानको त्यागकर भजन कर। जिनकी सेवा करनेसे सुखसिंधु भगवान् हरिकी प्राप्ति होती है।१। (अब यहाँसे तिथियोंके रूपकसे साधनोंको कहते हैं—) प्रतिपदारूपी प्रथम साधन प्रेम है। 'विना प्रेमके श्रीरामजी मिल जायँ' (यह) अत्यन्त दूर (दुर्लभ बात) है, यद्यपि वे निकट अपने हृदयमें ही सब प्रकारसे (एवं सर्वत्र सबके हृदयोंमें) परिपूर्ण निवास करते हैं।२। द्वितीया (रूपी दूसरा साधन) यह है कि द्वैतबुद्धिको त्यागकर स्थिरचित्त होकर पृथ्वी-मण्डलमें विचरता रहे। मद-मोह-मायारहित हृदयमें श्रीरघुवीर निवास करते हैं।३। तृतीया (रूपी तीसरा साधन) यह है कि परम पुरुष, श्रीजीमें रमण करनेवाले, मोक्षदाता भगवान् तीनों गुणोंसे परे हैं, अतः त्रिगुणात्मक प्रकृतिका त्याग किये विना परमानन्द

(की प्राप्ति) दुर्लभ है। अर्थात् तीनों गुणोंकी वृत्तियो वा प्रकृतियोंका त्याग करना तीसरा साधन है।४। चतुर्थी-तिथि (रूपी साधन यह) है कि बुद्धि, मन, चित्त और अहंकार इन चारोंको त्याग दो।(तब)निर्मल विचार द्वारा स्वाभाविक ही श्रेष्ठ आत्मसुखरूप परम पदकी प्राप्ति होगी।५। पंचमी (रूपी पाँचवाँ साधन) यह है कि स्पर्श, रस, शब्द, गन्ध और रूप पाँच (विषय) हैं। इनका कहा न कीजिए (इनके कहनेपर न चलिये, इनके अधीन न हूजिए। नहीं तो) फिर भवरूपी कुएँमें पड़ना होगा।६। षष्ठी (रूपी साधन) यह है कि श्रीजनक-सुताजीके पति श्रीरामजीके (प्राप्तिके) लिये छः विकारों (षट् वर्ग) को जीत लीजिए। श्रीरघुनाथजीके कृपारूपी जलके विना लोभरूपी अग्नि नहीं बुझती। (तात्पर्य कि श्रीरामजीकी कृपाका आश्रय लेकर इनपर जय प्राप्त करना चाहिए)। ७। सप्तमी (रूपी साधन) यह है कि विचार करते रहिये कि शरीर सात धातुओंसे बना है, उस शरीरका एकमात्र फल यही है कि परोपकार किया जाय।८। अष्टमी (रूपी साधन) यह है कि (विचार करता रहे कि) श्रीरामचन्द्रजी अष्टप्रकृतिसे परे और विकाररहित हैं; (जबतक) हृदयमें अगणित कामनायें बस रही हैं (तब तक) हरिकी प्राप्ति किस प्रकार हो सकती है? (अर्थात् प्राकृत कामनाओंका सर्वथा त्याग करके हृदयको विकाररहित बनाना आठवाँ साधन है)। ९। नवमीतिथि (रूपी साधन) यह है कि जिन पुरुषोंने नौ दरवाजेवाले नगर (नौ छिद्रोंवाले शरीर) में बसकर अपना भला (कल्याण) नहीं कर लिया, वे कठिन दुःखोंसे दीन होकर अनेकों योनियोंमें चक्कर खाते रहते हैं। (अर्थात् नर शरीर पाकर भवनिवृत्तिका उपाय कर लेना चाहिए)।१०।

टिप्पणी—१ 'श्री हरि गुर पद' इति। (क) श्रीहरि-गुरुकी सेवाका उपदेश मनको कर रहे हैं; कारण कि और कर्मोंमें आसक्त हुआ मन नाना प्रकारकी वृत्तियोंसे युक्त होकर त्रिगुणात्मक संसारका कारण होता है; यही देहमें अहंता और संबंधियोंमें ममता स्वीकार कराके भ्रममें डाल देता है कि 'यह मैं हूँ, यह तू है', इसीसे मनुष्य अनंत और अपार संसारमें भटका करते हैं। मनही मनुष्यको शोक, मोह, राग, लोभ और वैरसे बाँधता है, यह प्रबल शत्रु है। यह वशमें हो जाय तो यही मन भगवत् प्राप्तिका कारण बन जाता है। यथा 'देह मनोमात्रमिमं गृहीत्वा ममाहमित्यन्धधियो मनुष्याः। एषोऽहमन्योऽयमिति भ्रमेण दुरन्तपारे तमसि भ्रमन्ति॥' (भा० ११।२३।५०)। 'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः। वि० पु० ६।७।२८।'

१ (ख) 'भजहु' का अर्थ है 'सेवा करो'; 'भज सेवायाम्' से यह शब्द बना है। सेवाके छः अंग हैं—प्रणाम, स्तुति, सर्वकर्मार्पण, उपासना, चरणोंका ध्यान और कथाश्रवण। इन षडंगोंसे युक्त सेवा किये विना परमहंसोंको प्राप्त

होनेवाली भक्ति प्राप्त नहीं हो सकती। यथा 'ततोऽहत्तमे नमःस्तुतिकर्मपूजाः कर्म स्मृतिश्चरणयोः श्रवणं कथायाम्। संसेवया त्वयि विनेति षडङ्गया किं भक्तिं जनः परमहंसगतौ लभेत। भा० ७।९।५०।'

श्रीहरि-गुरुचरणसेवासे मनको मारनेका उपदेश जड़भरतजीनेभी राजा रहूगणको किया था। यथा 'भ्रातृव्यमेनं तददभ्रवीर्यमुपेक्षयाध्येधितमप्रमत्तः। गुरोर्हरेश्चरणोपासनास्त्रो जहि व्यलीकं स्वयमात्ममोषम्। भा० ५।११।१७।' अर्थात् जो उपेक्षा करनेसे अति बलवान् हो गया है, अपने आत्माको आच्छादित करनेवाले उस मनरूप प्रबल कपटी शत्रुको तुम श्रीगुरु-हरिके चरणोंकी सेवारूप शस्त्रसे सावधानतापूर्वक मार डालो।

१ (ग) 'तजि अभिमान' इति। सेवा कपटसे भी लोग करते हैं, जैसे भुशु डी जीने की थी, उनके हृदयमे अभिमानभी था। यथा 'तेहि सेवउँ मैं कपट समेता। ७।१०५।', 'गुरु आयउ अभिमान तें उठि नहिं कीन्हि प्रनाम। ७।१०६।' फल उनको क्या मिला ?—यह मानसमे सबने पढ़ा है—तिर्यक् योनियोमे सहस्र जन्मका शाप। इसीसे भगवान् रामने अभिमानरहित होकर गुरुपदकमलकी सेवाको अपनी भक्ति बताया है, यथा 'गुर-पद-पंकज-सेवा तीसरि भगति अमान।३।३५।' अभिमान होना संभव है। हम राजा हैं, चाँदी-सोना धनसे सेवा करते हैं, नीच टहल कैसे करें ? ये भी मनुष्य हैं, हमभी मनुष्य है। हम वेद शास्त्रके विद्वान् हैं, ये तो पढे-लिखे नहीं हैं। इत्यादि प्रकारका अभिमान हो जाता है। जो भजनका सर्वनाशक है। अतः 'अभिमान' का त्याग कहा। भाव यह कि श्रद्धा तथा आदरपूर्वक दास बनकर भक्तिपूर्वक सेवा करो, उनमे दोष न देखना और सेवा करनेमे कभीभी अपने बड़प्पनका विचार न आने देना चाहिए। सेवामे इन सब बातोंका विचार तभी स्थिर रह सकता है जब गरुमे भगवान्का भाव रहे। 'गुरु' साक्षात् परब्रह्म हैं, यह बुद्धि सदा बनी रहनेसे अभिमानरहित सेवा बन पड़ेगी, अन्यथा नहीं; इसीसे यहाँ 'श्रीहरि-गुरु' शब्द दिया; अर्थात् गुरुको भगवान्का स्वरूप बताकर तब उनके पदकमलकी सेवा कही।

भगवानने उद्धवजीसेभी गुरु तथा उनकी सेवाके संबंधमें इसी धर्मका प्रतिपादन किया है। यथा 'आचार्यं मां विजानीयान्नावमन्येत कर्हिचित्। न मर्त्यबुद्ध्याऽसूयेत सर्वदेवमयो गुरुः। भा० ११।१७।२७।' इसके 'आचार्यं मां विजानीयान' (आचार्यको मेरा स्वरूप जाने), 'न मर्त्यबुद्ध्या' (अनित्य नर-बुद्धिसे नहीं) तथा 'सर्वदेवमयो गुरुः' (गुरु सर्वदेवमय है) को इस पदके 'श्रीहरि-गुरु' की व्याख्या समझिए। 'तजि अभिमान' की व्याख्या श्लोकके 'नावमन्येत कर्हिचित्' (कदापि अपमान न करे) और 'न असूयेत' (निंदा न करे) में है। भा० ११। १८ के 'तावत्परिचरेद्भक्तः श्रद्धावाननसूयकः। यावद्ब्रह्म विजानीयान् मामेव गुरु-

माद्दतः ।३६।' (अर्थात् जबतक ब्रह्मज्ञान प्राप्त न हो जाय तबतक श्रद्धासहित, भक्तिपूर्वक, ईर्ष्या त्यागकर आदरके साथ गुरुको मेरा स्वरूप मानते हुए उनकी सेवा करनी चाहिए), इस श्लोकमे 'भजहु तजि अभिमान' की पूरी व्याख्या आगई।

१ (घ) 'जेहि सेवत पाइअ हरि ' ' इति । इस चरणमे श्रीगुरुसेवाका माहात्म्य वा फलश्रुति कहते हैं। जब मनुष्यको परिणाममे दुःखरूप विषयोसे वैराग्य उत्पन्न हो जाता है, तब उसे जिज्ञासा होती है कि मैं कहाँ जाऊँ ? मेरे दुःख कौन दूर करेगा ? सुखकी प्राप्ति कैसे हो ? इत्यादि। गुरुकी शरण जानेसे वे उसे बताते हैं कि दुःख निवारण करनेवाले और आनंदसिंधु भगवान् हरि हैं। इन्हीं भावोको लेकर यहाँ 'हरि सुखनिधान भगवान' यह विशेषण दिया गया। उनके मिलनेका उपाय वे जानते है. पर यह गूढ तत्व है। अमान होकर सेवा करनेसे जब वे अधिकारी समझेंगे मिला देंगे। देखिए वेद-शास्त्रोंके ज्ञाता आरण्यक मुनि जब लोमशजीकी शरण इस जिज्ञासासे गए, तब उन्होंने बताया कि 'श्रीरामसे बढ़कर कोई देवता, व्रत, योग और यज्ञ आदि नहीं है। समस्त दुःखोंका नाशक सर्वोत्तम साधन श्रीराम ही है। उनके स्मरण. जप और पूजनसे परम पद, लोक-परलोककी उत्तम समृद्धि, तथा उत्तम भक्ति आदि सभी कुछ प्राप्त हो जाते हैं। अतः तुम सब प्रकारसे परम मनोहर श्रीरामचन्द्रका भजन करो'। —'तस्मात्सर्वात्मना रामचन्द्रं भज मनोहरम् ।'(प०पु०पा० ३५।५२)। इसी साधनमें श्रीआरण्यक मुनि लग गए और उन्हें श्रीरामजीके साक्षात् दर्शन हुए। मुनिके ब्रह्मरंध्रसे तेज निकलकर श्रीरघुनाथजीमे समा गया।

२ 'परिवा प्रथम प्रेम बिनु ' ' इति। (क) यहाँसे श्रीहरिप्राप्तिके साधन कहते है। शुक्लपक्षकी तिथियोके रूपकसे साधन कहे गए हैं, क्योकि इस पक्षमें वृद्धिक्रम है। जैसे प्रतिपदा पक्षकी प्रथम तिथि है, वैसेही प्रभुकी प्राप्तिमे प्रथम साधन प्रेम है। बिना प्रेमके प्रभु मिल जायँ, यह अत्यन्त दुर्लभ है।

बैजनाथजीने रूपकका विस्तार इस प्रकार किया है।—चन्द्रमाकी एक कला अमावस्याको सूर्यके संग पड़कर लुप्त होकर औषधियोंमें गुप्त रही। शुक्लपक्षकी प्रतिपदा पाकर चन्द्रमा दो कलायुक्त होकर किंचित् प्रकाशमान हुआ। वैसेही मंद जीवकी प्रेमाकला अविवेकके संग पड़कर इन्द्रियोंमे व्याप्त होकर गुप्त रही। सत्संगमे अभ्यास पाकर वह किंचित् प्रकाशमान हुआ। (मन्द जीव-कलारहित चन्द्रमा, कुसंग-कृष्णपक्ष, मिथ्या-दृष्टि-अमावस्या, अविवेक-सूर्य, इन्द्रियगण-औषधि, सत्संग-शुक्लपक्ष, अभ्यास-प्रतिपदा और प्रथम प्रेम-प्रेमकला ये उपमेय उपमान हैं। इनके मतानुसार 'प्रथम' प्रेम-का विशेषण है अर्थात् पूर्वकी प्रेमकला।) किंचित् प्रकाशमान होना यह है कि सत्संगमे अभ्यास होनेपर कानोंको प्रभुके गुणानुवाद सुननेमे रुचि हुई, नेत्रोमे प्रेमाश्रु, शरीरमे रोमांच और कंठ-

गद्गद होने लगा।

२ (ख) 'जद्यपि निकट हृदय ' इति। श्रीरामजी सभी जीवोंके हृदय-कमलमें निवास किये हुए हैं, यह पूर्व दिखा आये हैं। यथा 'मम हृदय भवन हरि तोरा।१२५ (२)।', 'परिहरि हृदयकमल रघुनाथहिं बाहर फिरत विकल भयो धायो।२४४ (१)।' हृदयमें होनेसे 'निकट' बताया, यथा 'दूरि न सो हितू हेरु हिये हि है।१३५ (३)।'

'सकल भरिपूरि' अर्थात् सबके हृदयोंमें तथा चराचरमात्रमें सर्वत्र वे पूर्णरूपसे व्याप्त हैं. कहीं कम हों कहीं अधिक ऐसी बात नहीं है। पूर्वभी कहा है,-'देसकालपूरन सदा बद वेदपुरान! सबको प्रभु सब मों बसै ।१०७', 'हरि व्यापक सर्वत्र समाना। १।१८५।३।', 'अचर-चर-रूप हरि सर्वगत सर्वदा बसत।' ४७ (२ ख) देखिए।

३ 'दुइजि द्वैतमति छाँड़ि " इति। (क) द्वैतमति = भेदबुद्धि। जीव-जीवमें औपम्य देखना. सबमें एकमात्र अपने प्रभुको रमण करते न देखना, किसीको मित्र किसीको शत्रु मानना. मैं-मेरा तू-तेरा भाव, इत्यादि, सृष्टिमें नानात्वदृष्टिका होना 'द्वैतबुद्धि' है। विशेष 'द्वइतरूप तमकूप ' ११२ (४ ग) तथा 'सपनेहुं नहीं सुख द्वैत दरसन' १३६ (१२ ग तथा शब्दार्थ) देखिए। द्वैत-बुद्धिही मोह-शोक-संशय आदिका कारण है. इसके छूटनेपर ही भगवत्कृपासे सुख होता है। मनही देहमें अहता और संबंधियोंमे ममता स्वीकार कराके निज-पर-बुद्धि उत्पन्न कर देता है, यदि मन इस विकारको त्याग दे तो जीव-सुखी होकर सर्वत्र विचर सकता है। यथा 'जौ निज मन परिहरै विकारा। तौ कहँ द्वैत-जनित संसृतिदुख संसेय सोक अपारा। ११४ (१)।', 'पावै सदा सुख हरिकृपा संसार आसा तजि रहै। सपनेहुँ नहीं सुख द्वैतदरसन बात कोटिक को कहै। १३६।'

३ (ख) 'धीर' इति। धैर्य = इन्द्रियनिग्रह; यथा 'धैर्यमिन्द्रियनिग्रहः।म०भा० वन० ३१३।९६।' 'जो इस शरीरका कोई प्रयोजन न देखकर विरक्त और मोह-बंधनसे रहित होकर अज्ञातभावसे रहता हुआ इसका त्याग करता है, वही 'धीर' कहलाता है।'—यह विदुरजीका मत है। (भा० १।१३।२५)। ऐसे पुरुष-श्रेष्ठ प्रायः घरसे निकलकर सुखपूर्वक पृथ्वीपर विचरते रहते हैं,-वही उपदेश गोस्वामीजी यहाँ करते हैं-'चरहि महि मंडल धीर।'

अतिशय निज-पर-त्यागी कामादिसे विचलित न होनेवाले 'धीर' कहे गए हैं; यथा 'अखिलजीववत्सल निर्मत्सर चरनकमल अनुरागी। ते तव प्रिय रघु-बीर धीरमति अतिसय निज-पर-त्यागी।११८।', 'लछिमन देखत काम अनीका। रहहिं धीर तिन्ह कै जग लीका। ३।३८।११।'—इस प्रकार शान्तचित्त होकर विचरण करे। सदा विचरते रहनेसे फिर मनमें काई नहीं लगती। कहा भी

है—'सम मानि निरादर आदर ही। सब संत सुखी विचरंति मही।७।१४।'
'धीर' का अर्थ, श्रुतियोंमें जहां आत्मसाक्षात्कारकी बात आई है, 'आत्मवेत्ता
या आत्मवान' किया गया है-११८ (४) देखिए। इसके अनुसार अर्थ होगा कि
द्वैतबुद्धि छोड़कर आत्मवान् महिमंडलमें विचरता रहे।

३ (ग) 'विगत मोह माया मद' इति। मोहादि मलरूप हैं; यथा 'मोह
जनित मल लाग विविध विधि।८२।' और श्रीरघुवीर निर्मल हैं; वे मोहादि मल-
ग्रसित हृदयमें नहीं रहते, निर्मल स्थानमें ही रहते हैं; यथा 'हरि निर्मल मल-
ग्रसित हृदय असमंजस मोहि जनावत। जेहि सर काक कंक बक सूकर क्यों
मराल तहँ आवत।१८५।', 'करहु हृदय अति बिमल बसहिं हरि कहि कहि
सबहिं सिखावौं। हौं निज उर अभिमान मोह मद खलमंडली बसावौं।१४२।'—
(इसमें मोह, मद और अभिमान ये तीन हैं और प्रस्तुत पदमें भी तीन नाम हैं—
मोह, मद और माया। मैं और मोर, तैं और तोर यही माया है। अभिमानमें
भी 'मैं—मोर' ही है। यह माया-मोह का मूल है)। तथा 'हनुमत-हृदि-बिमल
कृत परम मंदिर सदा' ५१ (९ घ) देखिये।

अतः दूसरा साधन यह बताया कि द्वैत-बुद्धिका त्याग करे, जिससे हृदय
मोहादिरहित हो जायगा, श्रीरघुवीर धनुर्धारी उसमें बसेंगे, उनको हृदयमें धारण
किये हुए निश्चिन्त होकर महिमंडलमें विचरता रहे। मिलान कीजिये,—('जपु
नाम करहि प्रनाम कहि गुनग्राम) रामहिं धरि हियँ। विचरहि अवनि अवनीस-
चरनसरोज मन मधुकर किएँ।१३५।'

[बैजनाथजी लिखते हैं कि 'द्वितीयाको चन्द्रमामें तीन कलायें एकत्र होनेसे
उनका प्रकाश दिखाई देने लगता है, लोग उसे प्रणाम करते हैं। वैसे ही यहाँ
सत्संगके प्रभावसे उरमें चैतन्यता आनेपर देहाभिमानसे असत्यमें सत्यकी
प्रतीतिरूपी द्वैतबुद्धिको छोड़कर धीरतासहित जितने शुभ तीर्थ हैं उनमें
विचरै। कैसे विचरै—यह उत्तरार्धमें बताते हैं कि मोह (देहाभिमान), माया
(इन्द्रिय-विषय) और मद (जाति, विद्या, रूप, ऐश्वर्य, कुलीनता आदि पर हर्ष
होना) को त्यागकर हृदयमें रघुनाथजीको धारण किये रहो, इति प्रकाश
द्वितीया को; जीवमें सद्वासनारूप तीसरी कला प्रकट होगी।']

४ 'तीजि त्रिगुनपर' इति। (क) तीसरा साधन कहते हैं। भगवान् राम
सत्व, रज और तम तीनों मायिक गुणोंसे परे हैं, परम पुरुष हैं, श्रीरमण और
मुकुन्द (मोक्षदाता) हैं। यथा 'निज इच्छा निर्मिततनु माया-गुन-गो-पार।१।१९२।',
'गुनातीत सचराचर स्वामी। राम' ।२।३९।१।', 'गुनातीत अरु भोग पुरंदर।
७।२४।२।', 'ज्ञान-गिरा गोतीत अज माया-मन-गुन-पार।७।२५।', 'पुरुष प्रसिद्ध
प्रकासनिधि प्रगट परावरनाथ। रघुकुलमनि' ।१।११६।' 'जय राम सदा

सुखधाम हरे।' 'सुखमंदिर सुंदर श्रीरमनं। ७।११० छंद।', 'गुनसील कृपा परमायतनं। प्रनमामि निरंतर श्रीरमनं। ७।१४ छंद १०', 'श्रियोरमणसामर्थ्यात्सौन्दर्यगुणसागरात्। श्रीराम इति नामेदं तस्य विष्णोः प्रकीर्तितम।' (हारीतस्मृति), 'भूधर सुंदरं श्रीवरं। ५३ (४)।'; 'भालु कीस सब हरषे जय सुखधाम मुकुंद। ६।१०२।', 'जय कृपाकंद मुकुंद द्वंदहरन सरन सुखप्रद प्रभो। ६.१०२ छंद।', 'जय कृपाल जय जयति मुकुंदा। ६।१०२।११।', 'अविगत गोतीतं चरित पुनीतं मायारहित मुकुंदा।१।१८६।'; 'पदकंजद्वंद मुकुंद राम रमेस नित्य भजामहे।७।१३।४।'—विशेष 'कमलारमन' ५८ (१ ग) देखिए। जो सबका जाननेवाला है, जिसको जाननेवाला कोई नहीं है, जो सबका आदि पुरातन है,उसको महा वा परम पुरुष कहते हैं; यथा 'स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम। श्वे० ३। १९।' ☞स्मरण रहे कि श्रीरामजीके प्रधान अष्टोत्तरशत नामोंमे 'आदि पुरुष', 'महापुरुष' और 'परम पुरुष' ये भी नाम हैं। (प० पु० उ० २८१।३१)।

४ (ख) 'गुन सुभाउ त्यागे''''' इति। भगवान् तीनों गुणोंसे परे हैं, अतः गुण-स्वभावादिसे बँधा हुआ जीव उन परमानन्दस्वरूपके निकट कैसे पहुँच सकता है ? उसको गुण-स्वभावका त्याग करना पड़ेगा। इसके त्यागका सुलभ उपाय पूर्व बता आये हैं कि श्रीरामनाम जपना चाहिए। यथा 'काल करम गुन सुभाव सबके सीस तपत। रामनाम-महिमा की चरचौ चलें चपत। १३०।', गुणोंकी वृत्तियोका वर्णन 'ज्ञानगोतीत गुनवृत्तिहर्त्ता' ४६ (७ घ,च) तथा 'देव पूर्नानंदसंदोह अपहरन संमोह अज्ञान गुनसन्निपातं।' ५३ (६ ग ङ) मे किया गया है। शम-दम आदि सत्वगुणकी, इच्छा-प्रयत्न-भेदबुद्धि-हठपूर्वक उद्योग आदि रजोगुणकी और क्रोध-मोह-आलस्य आदि तमोगुणकी वृत्तियाँ हैं। "मैं और मेरा" वाली बुद्धिमे तीनो गुणोका संमिश्रण है। जबतक एकभी गुण रहता है, संसारबंधन नहीं छूटता। श्रीमद्भागवत और गीतामें बताया है कि अखण्ड भक्तियोगद्वारा, गुणोंको जीत लेने पर, मेरी निष्ठा पाप्त करके मेरे भावको पाप्त हो जाता है। भा०११।२५।३२ के 'मद्भावाय प्रपद्यते' और गीताके 'गुणान्समतीत्येतान ब्रह्मभूयाय कल्पते।१४।२६।' का भाव प्रस्तुत पदके 'श्रीरमन मुकुंद परमानंद' मे है। भगवान् परमानन्दस्वरूप हैं, यह भी पूर्व बता आये है। यथा 'देव पूर्नानंदसंदोह।५३।' स्वतः सिद्ध निरवधि आनन्दकन्द होनेसे वे 'परमानंद स्वरूपं' हैं। श्रुतिभी कहती है– 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात् तै० भृगु० अनुवाक ६।' (आनंदही ब्रह्म है—ऐसा जाना)। मानसमें भी कहा है– 'राम ब्रह्म व्यापक जग जाना। परमानंद परेस पुराना।१।११६।८।', 'जय जय अविनासी सब-घट-बासी व्यापक परमानंदा।१।१८६।', 'परमानंद कृपायतन

मन परिपूरन काम ।७।३४।' अतः हमने 'परमानंद' से परमानन्दरूप भगवान् का अर्थ ग्रहण किया है।

☞ 'परमानद' से गीता ६।२८ के 'ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्त सुखमश्नुते' एवं ५।१२ के 'सुखमक्षयमश्नुते' मे कथित ब्रह्मानुभवस्वरूप अक्षय एवं अपरिमित सुखको ले सकते है और परमानन्दरूप भगवान्को भी। क्योंकि श्रुतियोंमें 'आनन्द' शब्दका ब्रह्मके लिये बारंबार प्रयोग हुआ है।—'आनन्दमयोऽभ्यासात्।' (ब्रह्म सूत्र १।१।१२)।

[वैजनाथजी लिखते हैं—"तीजको चन्द्रमामे चार कलायें एकत्र होनेसे वह अधिक प्रकाशमान और शुभकार्योंमे मंगलकारी होता है। वैसेही यहाँ प्रेम सहित सत्संगके प्रतापसे सद्वासना उठी, तब जीव धर्मसहित शुभ कर्म करने लगा। सुयश तृतीयाको दानद्वारा कीर्तिकला प्रकट हुई, जीव हरिप्राप्तिका अधिकारी हुआ। नहीं तो 'त्रिगुनपर मुकुंद' की प्राप्तिरूपी परमानंद दुर्लभ है। अतः सत्वगुणसे लोभी स्वभाव, रजोगुणसे कामी और तमोगुणसे क्रोधी स्वभाव इत्यादि त्यागकर शुभ आचरणसे चलें। सो सुयश-तीजको कीर्तिकला प्रकटी।" 'परमानंद' के अर्थान्तर ये है-(१) मोक्ष-(पो०)। (२) ब्रह्मानंद; ब्रह्मसाक्षात्कार (वि०)। (३) ('श्रीरामप्राप्तिका) परमानंद', 'श्रीरामभक्ति एवं उनकी प्राप्तिका परमानंद', उनका परिकर बनकर उनके शेषत्वका परमानद'। (श्री० श०)।]

५ 'चौथि चारि परिहरहु' इति। (क) यह चौथा साधन है। एक अन्तः-करणही मन, बुद्धि, चित्त और अहंकारके रूपमे संकल्प, निश्चय, चिंतन और अभिमानरूप चार प्रकारकी वृत्तियोंसे लक्षित होता है। मन वासनावाला है। बुद्धि स्वयं वासनावाली नहीं है, यह विषय और इन्द्रियोंके संयोगसे उत्पन्न होती है और यही गुणोंकी सृष्टि करती है। मनके संकल्प-विकल्पसे कामनाओंकी उत्पत्ति होती है और बुद्धिकी भिन्न-भिन्न वृत्तियोंके कारण पदार्थोंके स्फुरणका ज्ञान, इन्द्रियोका विषयोके साथ संयोग करा देना, विपरीतज्ञान आदि होते है। चित्तका एकाग्र करना भी बुद्धिका एक गुण है। चित्तद्वारा अभ्यास होता है, यथा 'जनम-जनम अभ्यास निरत चित अधिक-अधिक लपटाई ।८२।' विशेष ५४ (२) के नोट ७ मे देखिए।

अहंकार ही अज्ञान और सृष्टिकी विविधताका मूल है। "जो 'अहं' का विषय नहीं है, उसमें 'मैं'—का अभिमान कर लेना", "कार्य और कारणके सघात-रूप शरीरसे आत्मभावकी प्रतीति", "यद्यपि सब कर्म सत्व, रज और तम गुणोंके होते है तो भी यह मान लेना कि मैं करता हूँ"—इसी वृत्तिका नाम 'अहकार' है। यह मोहका सगा भाई है, बड़ा प्रबल शत्रु है।

[illegible] द्ध वृत्तियाँ है, जैसे कि— परधनापहरण, [illegible]

चिन्तन इत्यादि व्यापार जिनसे दूसरोंको दुःख होता है। इसीसे इन्हें पद ५६में बाज़, उल्लू, गृध्र आदि मांसाहारी जीवोंकी उपमा दीगई है।—'चित्तवृत्ति खग निकर सेनोलूक काक बक गृध्र आमिप अहारी।'

यहाँ विमुख अन्तः करण अभिप्रेत है, उसीका त्याग कहा है। क्योंकि भगवत्-बिमुख मन, बुद्धि आदि संसारका कारण होनेसे जीवके प्रबल शत्रु हैं। शत्रुका त्याग किया ही जाता है,—'रिपु रिन रंच न राखब काऊ।' जबतक शरीर है, अन्तः करण चतुष्टय तो साथ छोड़ नहीं सकता। इनकी भगवत्-विमुख वृत्तियोंका त्याग ही इनका त्याग है। त्याग इस प्रकार होता है-सत्त्वादि गुणही अपने कार्यरूप नाना प्रकारके गुणो और कर्मोंमे बरत रहे है,इनका कर्त्ता मैं नहीं हूँ—'गुणा गुणेषु वर्तन्ते'-ऐसा मानता रहे। अथवा, ईश्वरही समस्त प्राणियोंके हृदयमे स्थित रहकर यन्त्रारूढ़ सभी प्राणियोंको अपनी मायासे घुमा रहा है (गीता १८।६१)—ऐसा समझकर इनके सब कर्मोंको ईश्वरको समर्पणकर, केवल ईश्वराराधना समझकर अनासक्तिभावसे करता रहे-'मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्य' (गीता ३।३०)।

["त्यागका अर्थ यही है कि इसके साथ जो तादात्म्य हो रहा है उसे त्यागकर इसका द्रष्टा बन जाय। अथवा इसे भगवान्के अर्पण करके इसके द्वारा केवल भगवत्सम्बन्धी कार्यही करे।"-(पो०)। "मेरे बुद्धि, चित्त, अहकार और मन क्रमशः शंख, चक्र, गदा और पद्मकी तरह उन्हींके हाथोके आयुध है। इनकी वृत्तियाँ उन्हींके द्वारा मेरे कर्मानुसार होती है ऐसी दृढ़ बुद्धि" रहे। (श्री० श०)। 'इन चारोंकी असद्वासना-छल-कपटका त्याग करो'-(वै०)। 'मनका धर्म संशय, चित्तका सुमिरन, बुद्धिका निश्चय और अहंकारका धर्म आग्रह है; इन चारोके भेदरूप वृत्तिका त्याग करे।' (डु०)।चारोंके धर्मोका त्याग करे (च.)]

वैजनाथजी लिखते हैं कि—"चौथका चन्द्रमा पाँच कलासे युक्त होनेसे और अधिक प्रकाशमान् होता है, परन्तु कलंकी होनेसे सब इसका त्याग करते हैं। यथा 'तजउ चौथिके चद की नाई।५।३८।' वैसेही मन आदिकी असद्वासनाका त्याग करो—इति निष्कपट चौथको जिज्ञासा-कला प्रकट करे।"

५ (ख) 'विमल बिचार परमपद ' इति। अन्तः करण चतुष्टयके त्यागसे विचार निर्मल उत्पन्न होगा। यथा "जौ निज मन परिहरै विकारा। तौ कहां द्वैतजनित संसृति दुख संसय सोक अपारा। १२४।' विकारोंके त्याग करनेपर आत्मस्वरूपमे अनुराग होता है, यथा 'देह जनित विकार सब त्यागे। तब फिरि निज स्वरूप अनुरागे।१३६ (११)' निज स्वरूप अर्थात् स्वस्वरूप वा आत्मस्वरूपकी प्राप्ति ही 'उदार सुख' है; यथा 'निज सहज अनुभव रूप तव खलु भूलि जनु आयो तहाँ। निर्म्मल निरजन निर्विकार उदार सुख तैं परिहर्‍यो।१३६

(२) ।' आत्मस्वरूपकी प्राप्ति 'परमपद' की प्राप्ति है ।

'यदा रहितमात्मानं भूतेन्द्रियगुणाशयैः । स्वरूपेण मयोपेतं पश्यन्स्वाराज्यमृच्छति। भा० ३।९।३३।' (भगवान् कहते है कि जिस समय जीव पंचभूत, इन्द्रियगण और अन्तःकरणसे रहित शुद्ध आत्माको अपने रूपमे तन्मय देखता है तब मोक्षको प्राप्त कर लेता है। (शुकोक्तिसुधासागर) ।

६ 'पाँचइँ पाँच परस '' ' इति । (क) त्वक् (त्वचा) का विषय स्पर्श, जिह्वाका रस, श्रवणका शब्द, घ्राण (नाक) का गंध और नेत्रका विषय रूप है । मन इन्द्रियोके विषयोंके वश होकर उनमे सुख मानने लगता है और उनके न मिलनेपर दुःख मानता है। वास्तवमे विषयकी प्राप्तिभी भारी विपत्तिका कारण है, मन इसका अनुभव करकेभी इनके फंदेमे फँसता रहता है । यथा 'अजहुँ बिषय कहुँ जतन करत जद्यपि बहु बिधि डहँकायो । ' बिषयहीन दुख मिलें बिपति अति सुख सपनेहुँ नहिं पायो । उभय प्रेतपावक ज्यो धन दुखप्रद श्रुति गायो ।१९९।', 'जदपि बिपयसँग सहे दुसह दुख बिषम जाल अरुझान्यो। तदपि न तजत मूढ़ ममता वस जानतहूँ नहिं जान्यो ।८८।', 'देखत विपति विषय न तजत हौ ।९२।'; अतः मनको इस साधनका उपदेश करते है कि इनका कहना न मानो। अर्थात् ये जिधर चलनेको कहे उधर न जाओ, इन्द्रियोंको उधर जानेसे रोको, उनमे दोषदृष्टि कर लो । जैसे कि त्वक् इन्द्रिय स्त्री, स्वर्ण, आभूषण और वस्त्र आदि के स्पर्शरूप उपभोगकी ओर ले जाय तो सोचे कि ये मुझे नष्ट कर देंगे । जिह्वा उत्तम मिष्टान्न आदिकी ओर लेजाय तो सोचे कि इनमे क्या स्वाद है, यह भी विष्टाही होजायँगे, इनसे रोग उत्पन्न होगा, इत्यादि । इसी प्रकार सबमे दोष देखता रहे । सबमे यह विचार बना रहे कि इनमें आसक्ति हो जानेसे भवकूपमे पड़ना होगा । ये सब विषय अनर्थरूप हैं । यथा 'जानत अर्थ अनर्थरूप तम कूप परब यहि लागे ।११७।'

६ (ख) 'बहुरि परब' का भाव कि विषयोंमें आसक्त होनेसे अनेक योनियोमे बारंबार जन्म हो चुका है; यथा 'बिषय-बारि मन मीन भिन्न नहिं होत कबहुँ पल एक। ताते सहिय बिपति अति दारुन जनमत जोनि अनेक ।१०२।' अब फिर भगवत्कृपासे भवसे छूट जानेका उपाय करके जन्म-मरणसे निवृत्त हो जानेके लिये नर शरीर मिला है, यदि अबभी विषयोके कहनेमें लगेगा तो 'बहुरि' (फिर) चौरासी लक्ष योनियोमे भ्रमण करना पड़ेगा ।

वैजनाथजी—"पंचमीको चन्द्रमा षट्कलायुक्त होनेसे अधिक प्रकाशमान्, विघ्नहर्ता और राजसम्मानादिरूप आनंदका देनेवाला होता है । वैसेही यहाँ शब्दादि विषय जो विघ्नकर्ता है, भवकूपमे डालनेवाले है, इनमे इंद्रियोंको न लगाकर भगवान्की प्रीतिमे लगाइये, तब सहजही आनंद होगा, दूसरेका दुःख देख-

कर न सहा जायगा (करुणा आजायगी)। यही आनंद पंचमी है, इसमें जीव-की करुणा-कला प्रकट होगी, जिसमे विघ्न कुछ नहीं है और सहजही सर्वत्र सम्मान होता है।"

७ 'छठि षड्वर्ग करिअ जय '' ' इति। (क) कामादिको खलदल, शत्रु और राक्षस आदि कहा गया है। यथा 'मम हृदय-कंज निवास करि कामादि खलदल गंजन।४५।', 'अब मोहि देत दुसह दुख बहु रिपु कस न हरहु भव-भीर ॥ लोभ ग्राह दनुजेस क्रोध कुरुराजबंधु खल मार।६३।', 'लोभ मोह मद काम क्रोध रिपु फिरत रैनि-दिन घेरे।१८७', 'मोह दसमौलि तद्भ्रात अहंकार पाकारिजित काम विश्रामहारी। लोभ अतिकाय, मत्सर महोदर, दुष्ट क्रोध पापिष्ठ विबुधान्तकारी। ' मद सूलपानी। अमित बल परम दुर्जय ।५७।' शत्रु आदिका दमन करना आवश्यक है; यथा 'रिपु रिन रंच न राखब काऊ।२।२२९।'; इसीसे इनको जीतनेको कहा। नहीं तो ये जीवका नाश कर डालेंगे। इसीसे सर्वत्र इनका त्याग या दमन कहा गया है। ४५ (५ ख) देखिये। यहाँ इनका जय 'श्रीजनकसुतापतिके लिये' कहा गया है। दूसरा अर्थ यहभी हो सकता है कि षड्वर्गको जीत और श्रीसीतापतिमें लग। दोनो अर्थोंमें भाव यही है कि बिना इनको जीते श्रीसीतापतिका भजन नहीं हो सकता। विभीषणजीने रावणसे कहा है,–'काम क्रोध मद लोभ सब नाथ नरक के पथ। सब परिहरि रघुबीरहि भजहु ''।५।३८।'

इनपर जय पानेके उपायभी बताये हैं। श्रीरघुनाथजीकी शरण जाय, उनसे प्रार्थना करे कि वे हृदयमे निवास करें, तब उनकी कृपासे सहजहीमें इन दुष्टोपर जय होगी। यथा "मम हृदय-कंज निवास करि कामादि खलदलगंजन।', कबहुँ रघुबंसमनि सो कृपा करहुगे। '''मोह-मद-मान-कामादि खलमंडली सकुल निर-मूल करि दुसह दुख हरहुगे।२११।'; 'तब लगि हृदय बसत खल नाना। लोभ मोह मतसर मद माना॥ जब लगि उर न बसत रघुनाथा। धरे चाप सायक कटि भाथा।५।४७।'–४५ (५ क) भी देखिए।

पुनः, विषयोंसे उपरत होनेका उपदेश 'पंचमी' साधन कह चुके। उनसे उपराम होनेपर हाथमें भगवत्सेवासे तीक्ष्ण किये हुये ज्ञानखड्गसे काम लेना चाहिए; यथा 'असज्जितात्मा हरिसेवया शितं ज्ञानासिमादाय तरातिपारम्।' भा० ५।१३।२०।—यह जड़भरतने रहूगणसे भवपारका उपाय कहा है। भुशुंडी-जीने भी कहा है–'बिरति-चर्म असि-ज्ञान मद-लोभ-मोह-रिपु मारि। जय पाइअ सो हरिभगति देखु खगेस बिचारि।७।१२०।" अर्थात् ज्ञान और वैराग्य-युक्त भक्तिसे इन शत्रुओंपर विजय प्राप्त हो सकेगी। भा० ५।११।१५ मे भी कहा है कि जबतक मनुष्य ज्ञानोदयके द्वारा सबका संग त्यागकर छः शत्रुओंको जीतकर

आत्मतत्त्वको नहीं जानता तबतक वह संसारमें भटकताही रहता है।

ज्ञान-वैराग्यद्वारा जीत इस तरह होती है कि पहले तो विषयोंसे मन हटने-पर कामादिका बल न चल सकेगा। फिर जब 'देख ब्रह्म समान सब माहीं', 'निज प्रभुमय देखहिं जगत्' यह ज्ञानावस्था आती है, तब शत्रु-मित्र-उदासीन-बुद्धिही नहीं रह जाती, साध्याभावसे साधनरूप कामादि मर जाते हैं।

[वैजनाथजीका मत है कि धैर्यसे कामको, क्षमासे क्रोधको, संतोषसे लोभ-को, विवेकसे मोहको, शान्तिसे मदको और शमतासे मत्सरको जीतो।]

७ (ख) 'जनकसुतापति लागि' अर्थात् उनकी प्राप्तिके लिये, उनके भजनके लिये, उनको हृदयमें बसानेके लिये, उनकी विशेष कृपाके लिये। ऊपर द्वितीया-रूपी साधनमें बता आये हैं कि 'विगत मोह माया मद हृदय बसत रघुबीर' अर्थात् मलग्रसित हृदयमें नहीं बसते, हृदय निर्व्यलीक स्वच्छ होना चाहिए। और यहाँ छठे साधनमें मोहादिसे रहित होनेका उपाय बताया कि इनको शत्रु मानकर इनपर विजय प्राप्त करो। जीवके कल्याणमार्गके बाधक होनेसे ये शत्रु माने गये और इनका जीतना अनिवार्य सूचित किया।

७ (ग) 'रघुपति कृपा-बारि ' इति। यहाँ केवल लोभको आगकी उपमा देकर जनाया कि लोभ सबसे अधिक प्रबल है। आगमें जितना ईंधन डालो वह भस्मही होता जाता है, अग्नि अधिक प्रज्वलित होती जाती है। यद्यपि कामही क्रोध और लोभका जनक है, प्रेरक है, इसीकी प्रेरणासे क्रोध और लोभ शरीरमें कार्य करते रहते हैं। काम (इच्छा)का प्रतिबंध होनेपर उसकाही रूपान्तर क्रोधमें होता है। इसी तरह इच्छित वस्तु मिलनेपर इच्छाका रूपान्तर लोभमें होता है। लोभ उत्पन्न होनेपर फिर इससे अधिकप्रबल मनका पतनकरनेवाला कोई नहीं रह जाता। ब्रह्माण्डभरका प्रभुत्व मिल जाय तोभी यह तृप्त नहीं,—'जिमि प्रतिलाभ लोभ अधिकाई'। इसीसे लोभको पद ५८ में 'अतिकाय' से रूपित किया है और मानसमें इसे 'अपार' कहा है,—'कफ लोभ अपारा ।७।१२१।३०।' इसका पार मनुष्यको नहीं लगता। यही मद-मत्सरादिकी जड़ है।

भीष्मपितामहजी कहते हैं—अज्ञान और अत्यन्त लोभ इन दोनोंको एक समझो, क्योंकि इनके परिणाम और दोष समानही हैं—'उभावेतौ समफलौ समदोषौ च भारत। (म० भा० शां० १५९।९)। लोभही एकमात्र पापका अधि-ष्ठान है। लोभसेही क्रोध, कामकी प्रवृत्ति माया, मोह, अभिमान, उद्दण्डता, पराधीनता, निर्लज्जता, असहनशीलता, धर्मक्षय, चिन्ता, अपयश, अत्यन्त तृष्णा, मद, कुटिलतापूर्ण बर्ताव आदि अधर्मो, पापों और दुःखकी उत्पत्ति होती है। इसका स्वरूप यथार्थरूपसे किसी प्रकारभी जाना नहीं जाता। लोभका पेट कभी नहीं भरता। (१५८।१-१४)।

अग्नि घृत और ईंधनसे बढ़ती है, वैसेही लोभ प्रति-लाभसे बढ़ता है। अग्नि जलसे ही बुझती है। लोभाग्नि श्रीरघुपतिकृपारूपी जलसे ही बुझती है। इसका भाव यह है कि इसकी शान्तिके लिये श्रीरघुपतिकृपाकाही आश्रय लेना चाहिए। अन्यत्रभी कहा है—'रामकृपा नासहिं सब रोगा।७।१२२।५।' ('सब' में उपर्युक्त षड्वर्गके अतिरिक्त और भी सब मानसरोग आगए), 'काम-भुअंग डसत जब जाही। विषय नींब कटु लगत न ताही॥ जब कब रामकृपा दुख जाई।१२७', 'तुलसिदास हरिकृपा मिटै भ्रम यह भरोस मन माहीं।' ११६ (५ ख) देखिए।

जब श्रीरामकृपा होती है तब सद्गुरु मिलते हैं, उनके वचनपर विश्वास, विषयाशाका त्याग और श्रद्धापूर्वक भक्ति होती है। यथा 'सद्गुर बैद बचन बिस्वासा। संजम यह न बिषय कै आसा॥ रघुपति-भगति सजीवनमूरी। अनूपान श्रद्धा मति रूरी॥ एहि बिधि भलेहिं सो रोग नसाहीं। नाहिं न जतन कोटि नहिं जाहीं।७।१२२।५-८।'

[वैजनाथजी—"षष्ठीको चन्द्रमामें सात कलायें एकत्र होनेसे वह अधिक प्रकाशमान तो होता है, परन्तु शत्रुतावर्द्धक होता है। वैसेही जीवके कामादि षड्वर्ग शत्रु हैं, इनको जीतना (रूपी) श्रेष्ठता आर्यत्व (रूपी) षष्ठीको आनन्द होना (रूपी) 'मुदिता' कला का प्रकट होना है।"]

८ 'सात सप्तधातु निर्मित ' इति। (क) मनुष्य शरीर-प्राप्तिका साफल्य इसीमें है कि उससे परोपकार किया जाय; यथा 'लाभु कहा मानुष-तनु पाएं। काय बचन मन सपनेहुँ कबहुँक घटत न काज पराएं।२०१।', 'काजु कहा नर-तनु धरि सार्यो। पर-उपकार सार श्रुतिको सो तो धोखेहुं मैं न बिचार्यो।२०२।'

८ (ख) 'करिअ बिचार' इति। क्या विचार करें? यह कि सातों धातुएँ स्वयं अपवित्र हैं. जीव गर्भमें आनेपर चार मासमें ही मांस आदि सातों धातुओंसे युक्त हो जाता है। यथा 'चतुर्भिर्धातवः सप्त। भा० ३।३१।४।', 'सप्तवध्रिः' (भा० ३।३१।११)। इन सप्त धातुओंकी उत्पत्ति पृथिवी, जल और तेज इन मायिक तत्वोंसे होती है और इनकी वृद्धि माताके उदरमें माताके खायेहुयेअन्न और जलसे होती है। यथा 'भूम्यप्तेजोमयाः सप्त' (भा० २।१०।३१।'), 'मातुर्जग्धान्नपानाद्यैरेधद्धातुः (भा० ३।३१।५)। शरीरमें जो प्राण हैं वे आकाश, जल और वायु तत्वसे निर्मित हुए, यथा 'प्राणो व्योमाम्बुवायुभिः। भा० २।१०।३१।' पृथिवी और जल आदि पाँचो तत्त्व मायिक और नश्वर हैं, अतः सप्तधातु वा पंचतत्वोंसे रचित होनेसे शरीरभी नश्वर है, अपवित्र है, अधम है; यथा 'छिति जल पावक गगन समीरा। पंचरचित अति अधम सरीरा।४।११।' अतः इनमें ममत्व नहीं करना चाहिए। ऐसे अपवित्र शरीरसे भी की हुई भगवदाराधनासे प्रभु इस शरीर-बंधनसे छुड़ा देते हैं। इत्यादि रीतिसे विचार करते रहनेसे मनुष्य देहाभिमानी

होनेसे बचेगा, मैं-मोर अहंकार छूटेगा और वह सबमें प्रभुको ही देखता हुआ अपनी-परायी-बुद्धि त्यागकर परोपकारमें लगेगा।

["सप्तमीको आठकला युक्त होनेपर चन्द्रमा प्रकाशमान् और मंगलकारी होता है। वैसेही शरीरसे परोपकार करना (अर्थात् देहाभिमान त्यागकर दयावान होना और मनको स्थिरकर भजन करना)—यही त्याग सप्तमी है, इसमे स्थिरतारूपा कला प्रकट होती है।" (वै०)]

६ 'आठइँ आठ-प्रकृति-पर ' इति। (क) प्रकृति अष्ट प्रकारकी कही गई है। यह जड है और इस विचित्र अनन्त भोग्य पदार्थों, भोगोंके साधनो और भोग स्थानोके रूपमे स्थित जगत्की कारणरूपा है। भगवान् श्रीराम प्रकृतिसे परे और विकाररहित है। यथा 'परम ब्रह्म विमुक्त प्रकृतेः परम्। म० भा० शान्ति-२०५।२२।' (अर्थात् परब्रह्म परमात्मा प्रकृतिसे सर्वथा परे है), 'प्रकृति-पार प्रभु सब-उर-बासी।७।७२।७।', 'सकल बिकार रहित गत भेदा।२।६३।८।', 'चिदानंदमय देह तुम्हारी। बिगत बिकार जान अधिकारी।२।१२७।५।',—यह सगुण ब्रह्म श्रीरामके विषयमे प्रमाण है और निर्गुण ब्रह्म तो निर्विकार मानाही जाता है, यथा 'लागे करन ब्रह्म उपदेसा। अज अद्वैत अगुन हृदयेसा॥ निर्बिकार निरवधि सुखरासी।७।१११।३-५।','अस प्रभु हृदय अछत अबिकारी॥१।२३।७।'

६ (ख) 'केहि प्रकार पाइअ ' इति। प्रकृतिके पृथिवी-जल-तेज-वायु-आकाश गध-रस-रूप-स्पर्श शब्द गुणोंवाले हैं, मन इन्द्रियोका राजा है, समस्त इन्द्रियाँ इसके वशमे हैं। अहंकारही सारे विकारोंका मूल है। यह मन और बुद्धिको प्रेरितकर इन्द्रियोंको विषयोमे आसक्त कर देता है। अहंकारसे देहाभिमान होता है, मन वासनाओंका शिकार बनता है, कामनाओका वारापार नहीं, इति नहीं होती। भगवान् मोह-मायादिरहित हृदयमे निवास करते हैं, यह ऊपर कह आये है–टि० ३ (ग) देखिए। कामभी मोहकी सेनामेसे एक है; यथा 'काम क्रोध लोभादि मद प्रबल मोह कै धारि।३।४३।'अतः जबतक हृदय कामरहित नहीं है तबतक भगवान् वहाँ नहीं रहेगे। तात्पर्य यह कि आठवीं तिथिरूप साधन यह है कि मनको निष्काम बनावें। अन्यत्रभी कहा है—'जहाँ राम तहँ काम नहि जहां काम नहिं राम। तुलसी कबहूँ ना लखे, रवि रजनी इक ठाम।' (अज्ञात)।

["अष्टमीको चन्द्रमा नवकलायुक्त प्रकाशमान् तो होता है, परन्तु शुभकार्यमे उसका त्याग है। वैसेही जीवमे आठ प्रकृति हैं, जिनके वशमे पड़नेसे जीवमें अनेक कामनायें उत्पन्न होती हैं और हरि प्रकृतिसे परे सच्चिदानन्द हैं, निर्विकार है।अतः 'किस प्रकार उनकी प्राप्ति हो इसका उपाय करना चाहिए',ऐसा बिचारकर मुमुक्षु होकर शम-दम–उपराम–तितिक्षा–श्रद्धा–समाधानादि द्वारा कामनाओको

सिटावे, वैराग्यसे विषयका त्याग करे और विवेकसे अहंकार, बुद्धि और कारण-मायाको मिटावे। ज्ञानदृष्टिसे शुद्ध आत्मरूप सँभालनेके लिये असंग रहकर प्रभुको सेवन करे,—इति ज्ञानरूपी अष्टमीको जीवसे असंग-दशा प्रकट होती है" (वै०)]

१० 'नवमी नवद्वार-पुर' इति। (क) अब नवाँ साधन कहते हैं। 'पुर' यह शरीर है। इसमें नौ छिद्र हैं—दो नेत्र, दो कान, दो नथुने, एक मुँह, मूत्रेन्द्रिय (लिंग) और गुदा। ये ही शरीररूपी पुरके नौ द्वार हैं। नवो छिद्रोंसे नित्यप्रति मल निकलता रहता है, कभी यह शरीर मलरहित नहीं होता। ऐसे मलयुक्त शरीरमे बसनेसे घृणा होनी चाहिए। अतः उपाय कर लेना चाहिए कि फिर शरीर धारण करना न पड़े। पुनः भाव कि शरीरमे प्राणके निकलनेके लिये एक नहीं, नौ-नौ द्वार हैं, न जाने प्राण कब किस राहसे निकल जाय, इसका कौन ठिकाना? अनित्य और मलयुक्त होनेपर भी यह परम पुरुषार्थका साधकभी है; यथा 'दुर्लभं मानुषं जन्म तदप्यध्रुवमर्थदम्। भा० ७।६।१।' अतः आयु तथा शरीरमे स्वास्थ्य और शक्ति रहतेही भवसे छूटनेका उपाय कर लेना कर्तव्य है। यथा 'ततो यतेत कुशलः क्षेमाय भयमाश्रितः। शरीरं पौरुषं यावन्न विपद्येत पुष्कलम्। भा० ७।६।५।' (अर्थात् जबतक यह सर्वावयवपूर्ण मानवशरीर विपत्तिग्रस्त नहो तबतकही भवभयमे पड़े हुए विवेकी पुरुषको अपनेकल्याणका उपाय कर लेना चाहिए), 'धर्ममर्थं च कामं च मोक्षं न जरया पुनः। शक्तः साधयितुं तस्माद् युवा धर्मं समाचरेत्। प० पु० भूमि० ६६। ११७।' (अर्थात् बुढ़ापेसे आक्रान्त होनेपर मनुष्य धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—इनमेंसे किसीका भी साधन नहीं कर सकता; इस लिये युवा अवस्थामे ही धर्मका आचरण कर लेना चाहिए।)

१० (ख) 'ते नर जोनि अनेक' इति। मनुष्य तन पाकर विषयोमे आसक्त होकर अपने कल्याणका उपाय न करनेका क्या फल होगा, यह इस चरणमे बताते हैं। अनेक योनियोमें बारबार जन्म लेकर दारुण दुःखसे दीन होकर चक्कर लगाते रहना पड़ेगा। यथा 'विषय बारि मन मीन भिन्न नहि होत कबहुँ पल एक। ताहितें सहिय बिपति अति दारुन जनमत जोनि अनेक।१०२।'

१० (ग) 'भल कीन्ह' इति। भल (कल्याण) का उपाय क्या है? श्रीरामजीके चरणोमे प्रीति प्रतीति, उनका गुणगान, नाम जप, कीर्तन आदि भजन तथा सत्संग संपूर्ण सुमंगलोका दाता और भवविपत्ति-निवारक है। यथा 'प्रीति प्रतीति रामपदपंकज सकल सुमंगलखानी॥ अजहुँ जानि जिय मानि हारि हिय होइ पलक महँ नीको। सुमिरु सनेह सहित हित रामहिं मानु मतो तुलसीको। १६४।', 'सजल नयन गदगद गिरा गहवर मन पुलक सरीर। गावत गुनगनरामके केहि की न मिटी भवभीर।१६३।', 'अजहूँ विचारि विकार तजि भजि राम जन-

सुखदायकं। भवसिंधु दुस्तर जलरथं '। रघुपति-भगति सुलभ सुखकारी। सो त्रयताप सोक भय हारी।१३६ (११)', 'द्वैतमूल भय-सूल-सोक फल भवतरु टरइ न टार्‌यो। रामभजन तीछन कुठार लेइ सो नहिं काटि निवार्‌यो।२०२।', 'सहज सनेही राम सों तैं कियो न सहज सनेहु। तातें भव भाजन भयो ...। १९०।', 'बिगरी जनम अनेक की सुधरै अबही आजु। होहि रामको राम जपु (राम भजु) तुलसी तजि कुसमाजु। दो० २२।', इत्यादि। श्रीरामजीकी शरण जाना तथा उनका भजन करनाही कल्याणका उपाय तथा मनुष्यका एकमात्र कर्तव्य है। यथा 'यथा हि पुरुषस्येह विष्णोः पादोपसर्पणम्। यदेष सर्वभूतानां प्रिय आत्मेश्वरः सुहृत्। भा० ७।६।२।' (इस मनुष्यजन्ममें भगवान् विष्णुके चरणोंकी शरण लेना ही जीवका एकमात्र कर्त्तव्य है, क्योंकि संपूर्ण प्राणियोंके वे ही आत्मा, प्रिय, ईश्वर और सुहृद् हैं।)

वैजनाथजी—नवमीको चन्द्रमा दशकलायुक्त होनेसे अधिक प्रकाशमान् होता है, परन्तु उसमे शुभकार्यका त्याग है। वैसेही 'विषयोंमे पड़नेसे अनेक योनियोंमे दारुण दुःखसे दीन होकर भ्रमण करते रहना पडेगा,–इस भयसे देहाभिमान तथा विषय-सुखका त्यागकर लोकव्यवहारसे उदासीन होकर प्रभुका भजन करना—यह जो वैराग्य है यह नवमी है, जिसमे जीवकी 'उदासीनता' कला प्रकट होती है।

२०३ (अनुसंधान)

दसइँ[1] दसहु कर संजम जौं न करिअ[2] जिय जानि।
साधन बृथा होइ[3] सब मिलहिं न सारंगपानि।११।
एकादसी एक मन बस कैसेहु[4] करि जाइ।
सोइ ब्रत कर फल पावै आवागमन नसाइ।१२।
द्वादसि दान देहु अस अभय होइ त्रैलोक।
परहित निरत सो[5] पारन बहुरि न ब्यापइ[6] सोक।१३।

१ दसइँ–रा०, ह०, ५१, ७४, आ०। दसमी–प्र०, १५, ज०। दसहि–भा०, वे०। २ करै–प्र०, १५। करहि–ज०। ३ होहिं–प्र०, डु०। होय,मु०, भा०, वे०। होइ (होई–वै०, भ०, दीन, वि०)–रा०, ७४। ४ कैसेहु करि–भा०, वे०, प्र०, ज०, १५। कैसेहुँ करि–७४। कै सेवहु–डु०, वै०, भ०, ह०, ५१,दीन,वि०,मु०। कै सेवहु करि–रा०। ५ सु–७४। ६ ब्यापत–भ०, दीन, वि०।

तेरसि तीनि अवस्था तजहु भजहु भगवंत।
मन क्रम बचन अगोचर ब्यापक ब्याप्य अनंत।१४।
चौदसि चौदह भुवन अचर[7] चर रूप गोपाल।
भेद गए बिनु रघुपति अति न हरहिं जगजाल[8]।१५।
पूनिउँ[9] प्रेम-भगति-रस हरि-रस जानहिं दास।
सम सीतल गत-मान ज्ञानरत बिषय उदास।१६।
त्रिबिध सूल होलिय[10] जारिअ[11] खेलिअ अब[12] फागु।
जौं जिय चहसि परम सुख तौ एहि मारग लागु।१७।
श्रुति पुरान बुध संमत चाचरि[13] चरित मुरारि।
करि बिचार भव तरिअ[14] परिअ न[15] कबहुँ जमधारि।१८।
संसय-समन दमन-दुख सुखनिधान हरि एक।
साधु कृपा बिनु मिलहिं न[16] करिअ उपाय अनेक।१९।
भवसागर कहँ नाव[17] सुद्ध संतन्ह के चरन।
तुलसिदास प्रयास बिनु मिलहिं राम दुखहरन।२०।

शब्दार्थ—दसहु = दशो इन्द्रियों। सजम (संयम) = वशमें रखनेकी क्रिया; निग्रह; विषयोंकी ओर जानेसे रोकना। सारँगपानि (शार्ङ्गपाणि) = जिनके हाथमें शार्ङ्ग नामक धनुष है, शार्ङ्ग धनुष धारण करनेवाले। यथा 'जयति सुभग सारंग सुनिखग'।४४ (४)।'—विशेष ४४(४) के शब्दार्थमें देखिए। कैसेहु = किसीभी प्रकारसे। जैसेभी बने वैसे। करि जाइ = कर लिया जाय; किया जा सके। पारन (पारण) = किसी व्रत या उपवासके दूसरे दिन किया जानेवाला पहला भोजन और तत्संबंधी कृत्य। देवपूजन करके और ब्राह्मणको खिलाकर

७—अचर—डु०, वै०। चर अचर—भ०, दीन। अचर चर—प्रायः औरोंमे। ८ भवजाल—भा०। ९ पूनिउँ—रा०, भा०, वे०, ह०, डु०। पूनो—प्र०, ५१, ७४, आ०। पून्यो—१५। १० होली—भा०, ७४, १५। ११ जरै खेलै—भा०, १५। जालिय-खेलिय—डु०, वै०। जरै जो खेलै—ज०। १२ असि—रा०, वे०, ह०, ५१। अब—डु०, वै०, वि०, पो०। अस—प्रायः औरोंमे। १३ चाचरि—रा०, भा०, वे०, मु०। चाँचरि—ह०, ७४, आ०। १४ तरै—परै—१५। १५ कबहुँ न—भा०, वे०। १६ नहिं—भा०, वे०, ७४, ज०। न—रा०, ह०, ५१, आ०। १७ नाउ—रा०।

तब भोजन करने चाहिए। ठीक रीतिसे पारण न करनेसे पूरा फल नहिं होता। पुनः, पारण = समाप्ति। = तृप्त या पूरा करनेकी क्रिया। तीनि अवस्था = जाग्रत् स्वप्न और सुषुप्ति ये तीन अवस्थायें। व्याप्य = जिसमें व्याप्त हैं अर्थात् चराचर जगत्। चौदह भुवन = सात लोक ऊपरके और सात नीचेके मिलकर चौदह लोक माने गए हैं। वे ये हैं—भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्य, तल, अतल, वितल, सुतल, तलातल, रसातल, पाताल। विशेष ४४ (शब्दार्थ), ५४ (३ च) में देखिए। अति = पूर्णतया; जड़से; एकदम। पूनिउँ = पूर्णिमा। उदास = उदासीन; विरक्त। फाग = फागुनके महीनेमें होलिका उत्सव मनाया जाता है, जिसमें लोग एक दूसरेपर रंग और गुलाल आदि डालते हैं और वसन्त ऋतुके गीत गाते हैं—यह फागोत्सव कहलाता है। चैत्रमासकेभी कुछ दिन इस उत्सवमें आ जाते हैं। मारग = मार्ग। चाचरि (सं० चर्चरी) = होलीमें गाया जानेवाला एक प्रकारका गीत। = होलीका स्वाँग खेल तमाशे; हर्षक्रीड़ा। धारि = सेना।

पद्यार्थ—दशमी (रूपी साधन) यह है कि यदि जी-से जानकर (हृदयमें समझ-बूझकर) दशों (इन्द्रियों) का संयम न किया जायगा, तो सारा साधन व्यर्थ हो जायगा, शार्ङ्गपाणि भगवान् श्रीरामजी नहीं मिलेंगे। अर्थात् इन्द्रियनिग्रह करना दसवाँ साधन है।११। एकादशी(रूपी साधन)यह है कि (दशों इन्द्रियोंका राजा जो ग्यारहवाँ है वह) एक मन किसीभी प्रकारसे वशमें कर लिया जाय। वही उस व्रतका फल पायेगा, (उसके) आवागमन (जन्म-मरण) का नाश हो जायगा। १२। द्वादशी (रूपी बारहवाँ साधन) यह है कि दान ऐसा दो कि तीनों लोक अभय हो जायँ अर्थात् अभय दान दो, किसीको तुमसे दुःख या भय न पहुँचे †। पराये हितमें तत्पर रहना उस (व्रत) का पारण है। फिर शोक नहीं व्यापेगा।१३। तेरस (त्रयोदशीरूपी साधन) यह है कि तीनों अवस्थाओंको त्याग दो। भगवानका भजन करो जो ऐश्वर्यमान् हैं, जो मन, कर्म और वचनका विषय नहीं हैं, जो सबमें व्याप्त हैं और व्याप्य (भी स्वयं ही) हैं तथा अनंत हैं। १४। चतुर्दशी (रूपी चौदहवाँ साधन) यह है कि चौदहों लोक जड़-चेतन (सब) इन्द्रियोंके प्रेरक भगवान्का रूप है। भेदबुद्धिके नष्ट हुए बिना श्रीरघुनाथजी जगत्‌रूपी जालका अत्यन्त नाश नहीं करते।१५। पूर्णिमा (रूपी पन्द्रहवाँ साधन) है प्रेमभक्तिरस और हरिरस ❀। इस रसको समदृष्टि, शीतल, मनरहित, ज्ञान-

---

† 'जिसमें तीनों लोकसे अभय हो जाय, जिसका विरोधी कोई कहीं नहीं है' —(वै०)। (२) 'ऐसा दान करना चाहिए कि किसी लोकमें (जन्ममरणका) भय न रहे। (दीनजी)।

❀ अर्थान्तर—१ सिद्धा प्रेमाभक्ति रसरूपा निष्कामा है। उसके रसको

परायण और विषयविरक्त भगवद्दासही जानते हैं।१६। (अब होलीका रूपक बाँधते हैं–) दैहिक, दैविक और भौतिक तीनों प्रकारके शूलोंकी होली जलाइये, ऐसा फाग खेलिए। रे मन (एवं, रे जीव)! यदि तू परमानन्द चाहता है तो इस मार्गमें लग जा।१७। वेदों, पुराणों और पंडितोंका संमत है (अर्थात् सब एक-मत होकर यही कह रहे हैं) कि भगवानके चरित (ही) होलीके गीत आदि हैं। इनको ऐसा विचारकर भवपार हो जाइये, फिर कभी यमराजकी सेना(के चंगुल वा पाश) में न पड़ना होगा।१८।संदेहोंको दूरकरनेवाले, दुःखोंका नाश करने-वाले और सुखके निधान (खज़ाना, भंडार, स्थान या समुद्र) एक भगवान् हरि ही हैं, अनेकों उपाय करो, (किन्तु) संतकी कृपाके विना वे नहीं मिलते।१९।शुद्ध सन्तोंके चरण भवसागर (पार करने) के लिये नाव हैं। तुलसीदासजी कहते हैं कि दुःखके हरनेवाले श्रीरामचन्द्रजी (सन्तोंके चरणका आश्रय लेनेसे) अना-यास मिल जाते हैं।२०।

टिप्पणी—११ 'दसइँ दसहु कर संजम ...' इति। (क) 'दसहु' अर्थात् दशों इन्द्रियों।पाँच ज्ञानेन्द्रिय और पाँच कर्मेन्द्रिय।ज्ञानेन्द्रियोंसे केवल विषयोंके गुणों-का अनुभव होता है। नेत्रसे रूप विषयका, रसनासे रस-विषयके स्वादका, कानोंसे शब्दका, नाकसे गंधका और त्वचासे स्पर्शविषयद्वारा कड़े और नर्म आदिका ज्ञान होता है। कर्मेन्द्रियसे विविध कर्म किये जाते हैं। मुख बोलने आदि, हाथ पकड़ने आदि, पैर चलने, उपस्थ मूत्रत्याग और गुदा मलत्याग करनेका कार्य करते हैं। विषयोंकी ओर इन्द्रियोंको न जाने देना, उनको उधरसे रोकना इनका 'संयम' है। इन्द्रियोंके देवता विषयभोगके अनुरागी हैं, इससे वे

भगवान् और हरिदास जानते हैं। उसके होनेसे समता आदि गुण होते हैं। (भ० स०, ड०)। २ 'प्रेमा भक्तिका रस जिनको प्राप्त हुआ, वेही दास हरिके रसका स्वाद जानते हैं। (वै०)। ३ प्रेम और भक्तिके रससे भक्तजन भगवान-के रसको जानते हैं और फिर वे सबको समान समझनेवाले, शान्त आदि हो जाते हैं। (भ०)। ४. प्रेमलक्षणा भक्तिका आनन्द और भगवत्प्रेमको दास जानते हैं, वे शान्त, शीतल रहते हैं। (वीर)। ५–पन्द्रहवाँ साधन यह है कि समभावसे युक्त, शान्त, मानरहित, ज्ञानमें लीन और विषयोंसे विरक्त हो जाना चाहिए। तभी श्रीहरिके प्रति प्रेम और भक्ति होनेका रस मिलेगा। इस रसका आनंद केवल भगवद्भक्त ही जानते हैं। (दीन.वि०)। ६ प्रेमभक्तिके रसमें सरा-बोर होकर भक्तको श्रीहरिका रस--भगवानका परम रहस्यमय तत्व जानना चाहिए। उसीसे वह सर्वत्र समदर्शी हो सकता है। (पो०)। ६ प्रेमभक्ति रस है, हरि भगवान स्वयं रसरूप हैं (अतएव उनकी भक्ति रसरूपा है) यह वे ही भक्त जो सम हैं। (श्री० श०)।

इन्द्रियोंको विषयकी ओरसे निवृत्त नहीं होने देना चाहते; यथा 'इंद्रिन्ह सुरन्ह न ज्ञान सोहाई। विषयभोग पर प्रीति सदाई ॥', 'इंद्री द्वार झरोखा नाना। तहँ तहँ सुर बैठे करि थाना ॥ आवत देखहिं विषय बयारी। ते हठि देहिं कपाट उघारी।' (७।११८)। और विषयोंमें पड़नेसे भवकूपमें पड़ना होता है, यह ऊपर कह आये हैं—"बहुरि परब भवकूप"। अतः इन्द्रियोंको रोकना कहा।

☞ स्मरण रहे कि देवता कभी नहीं चाहते कि मनुष्य मोक्ष प्राप्त करले। भगवान्ने अर्जुनजीसे बताया है कि 'देवलोक क्रियावान् पुरुषोंसे भरा पड़ा है। देवताओंको यह अभीष्ट नहीं है कि मनुष्यके मर्त्यरूपकी निवृत्ति हो'।—'क्रियावद्भिर्हि कौन्तेय देवलोकः समावृतः। न चैतदिष्टं देवानां मर्त्यरूपनिवर्तनम्। म० भा० आश्व० १९।५९।' इसीसे देवता विघ्न डालते हैं। इन्द्रियोंका संयम क्योंकर करें—यहभी पूर्व पद१०४,१०५,१४२ और१७० में कुछ दिखाया गया है। यथा 'श्रवनन्हि और कथा नहिं सुनिहौं रसना और न गैहौं। रोकिहौं नयन विलोकत औरहिं सीसु ईस ही नैहौं।१०४।', इत्यादि। अर्थात् कानोंको पर-निंदा, पर-अपवाद तथा विषयवार्ता सुननेसे रोककर हरिकथा, कीर्त्तन आदिके सुननेमें लगा दे। रसना जो षट्रसमें आसक्त है उसको भगवान्के जूठन-प्रसाद-का आस्वादन करनेमें लगावे। मुख (वाणी) जो परनिंदाकथनमें लगा है उसे संत-हरि गुणगानमें लगा दे। नेत्रोंको परस्त्रियों और युवतियोंकी ओरसे रोककर 'अग-जगरूप भूप सीतावर' तथा संतोंके दर्शन करावे। इसी प्रकार नासिकाको भगवान्के प्रसाद माला, अतर आदिके सुगंधमें, शरीरको चंद्रवदनीके पट-भूषणादिके स्पर्शसे हटाकर श्रीरघुपतिपदकमलोंके स्पर्शमें, हाथोंको भगवत्- कैंकर्यमें,और पैरोंको भगवान्के आश्रमोंतक चलनेमें लगावे। और, भगवानका भजन शरीरसे कर सके इस निमित्त उपस्थ और गुदाकी शुद्धि शौचक्रिया करे, क्योंकि स्वास्थ्यकी रक्षाके लिये शौचभी आवश्यक है।—पद१४२ और १७० में इन संयमों-का लक्ष्य है। मानसमें भी कहा है—'संजम यह न विषयकी आसा।'

११ (ख) परन्तु इन्द्रियाँ मनके अधीन हैं, यथा 'मनोवशेऽन्ये ह्यभवन् स्म देवा मनश्च नान्यस्य वशं समेति। भा० ११।२३।४८।' मनही श्रोत्र-आदि इंद्रियों-से युक्त होकर शब्दादि विषयोंका भली भाँति अनुभव करता है; यथा 'मनः श्रोत्रादिभिर्युक्तं शब्दादीन् साधु पश्यति। म० भा० शान्ति २०४।११।' अतः इन्द्रियोंके संयमके लिये मनका संयमभी चाहिए। इसी लिये यहाँ इन्द्रियोंका संयम कहकर अगले अन्तरामें मनका वश करनाभी आवश्यक बताया है। अतः उसेभी यहाँ साथ-साथ लिखता हूँ। इन्द्रियद्वारा विषयोंको ग्रहण न करने-से पुरुषके वे विषय निवृत्त हो जाते हैं,—'विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः। म० भा० शान्ति २०४।१६।'

११ (ग) 'मिलहिं न सारगपानि' इति। श्रीमनुजीने बृहस्पतिजीसे यही बात यों कही है—इन्द्रियोंके विषयोंको दिखलानेवाला मन जब पहलेसे ही विषयोंकी ओर अपहृत हो जाता है, तब वह विषयरूप गुणोंकी अपेक्षा रखनेवाला मन निर्गुण तत्वका दर्शन करानेमें समर्थ नहीं होता। समस्त इन्द्रियोंको रोककर संकल्पमात्रसे मनमें स्थित हो उन सबोंको हृदयमें एकत्र करके साधक उससे भी परे विद्यमान परमात्माको प्राप्त कर लेता है।— "मनस्त्वपहृतं पूर्वमिन्द्रियार्थनिदर्शकम्। न समक्षगुणापेक्षि निर्गुणस्य निदर्शकम्॥१३॥ सर्वाण्येतानि संवार्य द्वाराणि मनसि स्थितः। मनस्येकाग्रतां कृत्वा तत्परं प्रतिपद्यते। म० भा० शान्ति २०५।१४।" मनके द्वारा साधनके विपरीत भोगोंकी इच्छा रखनेसे परमात्माकी प्राप्ति नहीं होती,— 'मनसा चान्यथा काङ्क्षन् परं न प्रतिपद्यते। म० भा० शा० २०४।७' मन और इन्द्रिय दोनोंको वश करनेपर श्रीरघुनाथजीका दर्शन होना मानसमें भी कहा गया है। यथा 'पश्यंति यं जोगी जतन करि करत मन गो बस सदा।३।३२।', 'जिति पवन मन गो निरस करि मुनि ध्यान कबहुँक पावहीं।४।१०।', 'निरस्य इंद्रियादिकं प्रयांति ते गतिं स्वकं।३।४।' म० भा० आश्व० १९ में भी कहा है कि 'इन्द्रियोंको वशमें रखनेवाला पुरुष देवताओंका भी देवता हो सकता है। वह इस अनित्य शरीरका त्याग करके अविनाशी ब्रह्मको प्राप्त होता है।' — 'देवानामपि देवत्वं युक्तः कारयते वशी। ब्रह्म चाव्ययमाप्नोति हित्वा देहमशाश्वतम्।२६।'

११ (घ) 'जिय जानि' इति। जीमें जानकर। क्या जानकर,—यह आगे कहते हैं कि श्रीरघुनाथजीकी प्राप्तिके सभी साधन बिना इन्द्रियसंयमके व्यर्थ हो जायँगे। श्रीरामजीका एक नाम शार्ङ्गपाणि है, वे शार्ङ्ग नामक धनुष धारण किये रहते हैं। यथा 'नाइ चरन सिरु कह मृदु बानी। बिनय सुनहु प्रभु सारँगपानी।६।१५।२।', 'हृदय भगति मति सारँगपानी। १।१८८।८।'

११ (ङ) इन्हीं शब्दोंमें संयमका उपायभी बताया है कि बार-बार हृदयमें यह विचार करनेका अभ्यास करो कि 'रे मन! बिना इन्द्रियसंयमके हरिप्राप्ति नहीं होनेकी, सब साधन संयमबिना व्यर्थ हैं। अभ्याससे विषयमें दोषदृष्टि करते रहनेसे विषयोंसे वैराग्य होगा, इन्द्रियाँ उधर न जायँगी।

वैजनाथजी— समाधि, धारणा और ध्यान तीनोंका एकत्र होना 'संयम' है। नाभिचक्रादि एकदेशमें चित्तको स्थिर रखना 'धारणा' है, उसी देशपै इष्टमूर्तिको स्थिर रखना 'ध्यान' है और इष्टरूपमें लय हो जाना 'समाधि' है। सत्य आदि धर्म द्वारा इन्द्रियको वशमें करके श्रद्धाद्वारा अन्तःकरणचतुष्टयको स्थिर करे, फिर हृदयकमलमें चित्तको स्थिरकर उसी कमलमें श्रीरघुनाथजीके रूपको स्थिर रक्खे। इन्द्रिय और मन आदिकी सुध भुलाकर श्रीरामरूपमें

शुद्ध आत्मस्वरूपकी प्रत्यय प्रवाह तैलधारवत् सदा एकरस लगी रहे। तब श्रीरघुनाथजीकी प्राप्ति होगी।" —इस प्रकार सयम किये बिना श्रीरघुनाथजी नहीं मिलेंगे। — यही धर्मरूप दशमी है, इसमे जीवकी श्रद्धा-कला प्रकट होगी। दशमीका चन्द्रमा धर्मलाभदायक है।

टिप्पणी—१२ 'एकादसी एक मन ···' इति। (क) 'कैसेहु करि जाइ' कथनका भाव कि आचार्योंने मनको वशमें करनेके अनेक उपाय कहे हैं। योग, जप, तप, ध्यान, प्राणायाम आदि जो भी उपाय अपनेको सुगम जान पड़े उसीसे मनको वशमे करे। कविने मानसमे मनकी शान्तिका उपाय 'रामचरितमानस'-सर मे अवगाहन-आदि बताया है; यथा 'मन-करि विषय अनल बन जरई। होइ सुखी जौं येहिं सर परई। १।३५।८।' भगवान्के गुणग्राम 'काम-कोह-कलिमल करिगनके, केहरिसावक जन मन बन के॥' तथा 'सेवक मन मानस मराल से। ' है। (१।३२।७,१४)। भगवंत्चरित पठन-श्रवणसे भगवान्के स्वाभाविक अपार अतिशय सौन्दर्य, सौशील्य, सौहार्द, वात्सल्य, कारुण्य, माधुर्य, गाम्भीर्य, औदार्य, शौर्य, वीर्य, पराक्रम, सर्वज्ञत्व, सत्यकामत्व, सत्यसङ्कल्पत्व, सर्वेश्वरत्व, सर्वकारणत्व और सौलभ्यत्व आदि अनन्त कल्याणमय गुणोंकी निरन्तर प्रेमयुक्त स्मृति होगी। इस प्रेमयुक्त स्मृतिके अभ्याससे मन स्थिर हो जायगा। विनयमे कविने चरणचिह्न 'अंकुश' का ध्यान, श्रीरामनामका निरन्तर जप आदि सुगम उपाय बताये हैं। यथा 'कुलिस केतु जव जलज रेख वर अंकुस मन-गज-त्रसकारी।६३।', 'नाम सो प्रतीति प्रीति हृदय सुथिर थपत। १३०।' (इसमे मन, बुद्धि, चित, अहंकार सबको स्थिर कर देना कहा है)। मनको जहाँ लगाओ वहीं लग जाता है, और वह लगाना होता है इन्द्रियोंके द्वारा ही। हम बार-बार जिस प्रकारकी बातें देखेंगे, पढ़ेंगे, सुनेंगे इत्यादि, उन्हींका मनमें बारंबार चिन्तन होगा और जिस विषयका अधिक चिन्तन होगा उसीमे आसक्ति होगी। भगवानका वाक्य है—'विषयान् ध्यायतश्चित्तं विषयेषु विषज्जते। मामनुस्मरतश्चित्तं मय्येव प्रविलीयते। भा० ११।१४।२७।' अर्थात् 'विषयोंका चिन्तन करनेसे मन विषयोंमे आसक्त होता है और मेरा बार-बार स्मरण करनेसे वह (मन) मुझमे लीन हो जाता है'। अतः ध्यान, चिन्तन, निरन्तर भगवान्के नाम और गुणगणोंका श्रवण, कीर्तन, मनन, भगवत्-भागवत्-सेवा तथा सत्संग आदि भगवदनुकूल विषयोमें मनको हठात् लगाना चाहिए। — इस प्रकार मन वशमें हो जायगा।

ऊपर दसवें साधन 'दसहु कर संजम' से विषयोंका त्याग कहा गया और यहाँ मनका वशीकरण कहकर विषयासक्तिका भी त्याग कहा गया।

१२ (ख) 'सोइ व्रत कर फल पावै ···' इति। हम पद ५२ में बता आये हैं

कि जब भगवान् बदरिका आश्रममें सिंहावती नामकी गुफामें सो रहे थे और मुर दैत्य उनको मार डालनेके विचारसे वहाँ पहुँचा, उसी समय भगवान्के शरीरसे दिव्य अस्त्र-शस्त्रोंसे युक्त एक रूपवती कन्या प्रकट हुई और उसने मुरका वध किया। भगवान् जाग पड़े और उस कन्यासे मनोवांछित वर माँगनेको कहा। यथा 'त्रिषु लोकेषु मुनयो देवता गताः। त्रूहि भद्रेऽद्य मह्यं त्व यत्ते मनसि रोचते। ददामि न संदेहो यत्सुरैरपि दुर्लभम्। प० पु० उ० ३९।९४। कलकत्ता मोर सं०।' वह कन्या साक्षात् एकादशी ही थी। उसने कहा—'प्रभो! यदि आप प्रसन्न हैं तो मैं आपकी कृपासे सब तीर्थोंमें प्रधान, समस्त विघ्नोंका नाश करनेवाली तथा सब प्रकारकी सिद्धि देनेवाली देवी होऊँ। जनार्दन! जो लोग आपमें भक्ति रखते हुए मेरे दिनको उपवास करेंगे, उन्हें सब प्रकारकी सिद्धि प्राप्त हो। माधव! जो लोग उपवास, नक्त अथवा एकभुक्त करके मेरे व्रतका पालन करें, उन्हें आप धन, धर्म और मोक्ष प्रदान करें।' भगवानने एकादशीको यह वर दिया। * 'जो मनुष्य एकादशीको उपवास करता है, वह वैकुण्ठधाममें, जहाँ साक्षात भगवान् गरुडध्वज विराजमान हैं, जाता है।' **

एकादशीव्रतका फल 'सब प्रकारकी सिद्धि, अर्थ, धर्म और मोक्ष' तथा भगवद्धामकी प्राप्ति है। यह सब फल मनको किसीभी साधनसे वशमें कर लेनेसे प्राप्त हो जायगा। 'आवागमन नसाइ' यह ही मोक्ष और वैकुण्ठधामकी प्राप्ति है।

[वैजनाथजी—"एकादशीको बारह कलायुक्त चन्द्रमा होना है। व्रत परमार्थ शुभकारी है। वैसेही शील स्वभाव धारणकर मनको स्वाधीन रक्खे अर्थात् लोकवेदरीतिके प्रतिकूल आचरण न करने पावे। प्रिय वचनसे सम्मान करे। शील

---

* "त्रिभुवनेषु च देवेश चतुर्युगेषु साम्प्रतम। त्रिषु लोकेषु सर्वत्र तादृशं कुरु मे प्रभो॥ सबतीर्थप्रधाना हि सर्वविघ्नविनाशिनी। सर्वसिद्धिकरी देवी त्वत्प्रसादाद्भवाम्यहम्। ९९। मामुपोष्यन्ति ये भक्त्या तव भक्त्या जनार्दन। सर्वसिद्धिर्भवेत्तेषां यदि तुष्टोऽसि मे प्रभो।१००। उपवासं च नक्तं च एकभुक्तं करोति च। तस्य वित्तं च धर्मं च मोक्षं वै देहि माधव।१०१।" विष्णुरुवाच। 'यत्त्वं वदसि कल्याणि! तत्सर्वं च भविष्यति। सर्वान्मनोरथान्भद्रे दास्यसि त्वं च नान्यथा। १०२। मम भक्ताश्च ये लोकेये च भक्तास्तु कार्त्तिके। चतुर्युगेषु विख्याता त्रिषु लोकेषु वै तथा। त्वां च शक्तिमहं मन्य एकादशीव्रतस्थिताः। मम पूजां करिष्यन्ति मोक्षगास्ते न संशयः। १०४। ' (प० पु० उ० ३९ कलकत्ता मोरसंस्करण)।

** यथा—"एकादश्यां प्रकुर्वीत ह्युपवासं नरास्तु ये। ते यान्ति वैष्णवं स्थानं यत्रास्ते गरुडध्वजः। प. पु. उ ३९।११५ कलकत्ता मोर-संस्करण।"—ये भगवान् शङ्करके वाक्य है। उन्होने युधिष्ठिर-कृष्णसंवाद कहा है।

स्वभावसे लज्जा उत्पन्न होती है; अतः उसके प्रभावसे इन्द्रियाँ भी विषयव्यवहार न कर सकेंगी। अन्तः करणमें मन सबसे सबल है, उसको वशमें करके प्रभुकी सेवा अनन्यभावसे करे।"— (गौ० का पाठ 'करि सेवहु जाइ' है। उसीका यह भाव है)। "अनन्यव्रतसे प्रभुकी समीपता पावेगा, इत्यादि शील एकादशीको लज्जा कला प्रकट हुई।"]

१३ 'द्वादसि दान देहु अस ''' इति। (क) गोस्वामीजी इस पदमें फाल्गुन शुक्लपक्षकी तिथियोंका उल्लेख कर रहे हैं। फाल्गुनकी इस एकादशीका नाम 'आमलकी' है। भगवान् श्रीकृष्णने युधिष्ठिरजीसे बताया है कि इसका पवित्र व्रत विष्णुलोककी प्राप्ति करानेवाला है। इस व्रतकी विधिभी बताई है जो प० पु० उ० ४७।४०-६० मे वर्णित है। द्वादशीको व्रत और पूजाकी सब सामग्री आदि ब्राह्मणको दान करने और भोजन करानेके पश्चात् स्वय भोजन करनेका विधान है। अतः द्वादशीरूपी साधनमे भी 'दान' देना कहा गया।

दान चार प्रकारके कहे गए हैं,--नित्य, नैमित्तिक,काम्य और विमल।— 'नित्यं नैमित्तिकं काम्य त्रिविधं दानमुच्यते। चतुर्थं विमलं प्रोक्त सर्वदानोत्तमोत्तमम्।' (प० पु० स्वर्ग० ५७।४)। इनके भी अगणित प्रकार हैं। भूमिदान, अन्नदान, विद्यादान, गौदान आदि सभी कल्याणकारी है। म० भा० शां० २३३ मे प्राणदान, धनदान, पुत्रदान, स्वर्णदान, गौदान, रत्न-गृह-स्त्रीदान, जीवनदान और नेत्रदान आदि द्वारा शुभलोकोंकी प्राप्तिके इतिहासोंका उल्लेख है। इत्यादि। कलियुगमे तो एक यही धर्म रह गया है। यथा 'प्रगट चारि पद धर्मके कलि महुँ एक प्रधान। येन केन बिधि दीन्हे दान करइ कल्यान। ७।१०३।', 'तपः कृते प्रशंसन्ति त्रेतायां ज्ञानकर्म च। द्वापरे यज्ञमेवाहुर्दानमेकं कलौ युगे॥' (प० पु० सृष्टि १८।४३७)।

☞ समस्त दानोमे सर्वोत्तम दान है—'संपूर्ण भूतोंको अभयदान' (मन-कर्म-वचनसे अहिंसा, दया, क्षमा, सब भूतों (प्राणियो) मे अपनीही आत्माको देखना आदि अभयदान है)। इससे बढ़कर कोई दान नहीं है। यथा 'सर्वेषामेव दानानामिदमेवैकमुत्तमम्। अभयंसर्वभूतानां नास्ति दानमतः परम्॥' (प० पु० सृष्टि १८।४३८ नन्दावाक्य। ८२।३६ श्रीपुलस्त्यवाक्य), 'नास्त्यहिंसासम दानं। १८।४४०।', 'सर्वेषामेव दानानां नास्ति दानमतः परम्। चराचराणां भूतानामभयं यः प्रयच्छति।' (स्क०पु० ना० ५१।६८ नन्दिनीवाक्य), 'नास्ति धर्मो दयापरः' (स्कं० ना० २६।२२१)।

अब अभयदानका फल सुनिए। म० भा० शां० २६८ में पराशरजी कहते हैं कि जो मनुष्य जब अधर्ममय बंधनका उच्छेद करके धर्ममे अनुरक्त हो जाता है और संपूर्ण प्राणियोंको अभयदान कर देता है, उसे उसी समय उत्तम सिद्धि

प्राप्त होती है; यथा 'छित्त्वाधर्ममयं पाशं यदा धर्मेऽभिरज्यते। दत्त्वाभयकृतं दानं तदा सिद्धिमवाप्नुते। ४।' (क्या सिद्धि प्राप्त होती है, इसमें यह नहीं खोला है)। स्कं० पु० ना० २६ मे दिव्यरूपधारी सर्पने महर्षि वत्ससे कहा है—'चराचराणां भूतानामभय यः प्रयच्छति। सर्वदा सर्वसौख्याढ्यो जायते दिवि चेह च। २२०।' अर्थात् जो समस्त प्राणियोंको अभय देता है, वह इहलोक और परलोकमे सदा सब प्रकारके सुखसे सम्पन्न होता है।

म० भा० शान्ति० अध्याय ३२६ में श्रीजनकजीके और २६६ में भगवान् कपिलके तथा प० पु० सृष्टि० १८ में नन्दाजीके वाक्य इस सम्बन्धमें विशेष स्पष्ट हैं। श्रीजनकजी कहते हैं— 'न बिभेति परो यस्मान्न बिभेति पराच्च यः। यश्च नेच्छति न द्वेष्टि ब्रह्म सम्पद्यते तदा॥ ३२६।३३।' अर्थात् जिससे दूसरा कोई प्राणी नहीं डरता, जो स्वयं किसी दूसरे प्राणीसे भयभीत नहीं होता तथा जो न किसीकी वस्तुकी इच्छा करता है और न किसीसे द्वेष ही रखता है, वह तत्काल ब्रह्मभावको प्राप्त होता है। भगवान् कपिलजी कहते हैं कि ऐसे मनुष्यको देवता ब्रह्मज्ञानी मानते हैं। यथा 'अभयं सर्वभूतेभ्यः सर्वेषामभयं यतः। सर्वभूतात्मभूतो यस्तं देवा ब्राह्मणं विदुः।२६६।३३।' नन्दाजीने बताया है कि समस्त चराचर प्राणियोंको अभयदान देनेवाला सब प्रकारके भयसे मुक्त होकर परब्रह्मको प्राप्त होता है।—'चराचराणां भूतानामभयं यः प्रयच्छति। स सर्वभयसंत्यक्तः परं ब्रह्माधिगच्छति॥' (सृष्टि० १८।४३६)।

उपर्युक्त अभयदान ही यहाँ द्वादशीरूपी साधन है।

१३ (ख) 'परहित निरत सो पारन·····' इति। ऊपर बताया जा चुका है कि दानके पश्चात् भोजन कराके तब स्वयं भोजन किया जाता है, द्वादशी रहते-ही यह भोजन किया जाता है। इसीका नाम 'पारण' है। यहाँ द्वादशीरूपी साधन अभयदानके पश्चात् 'परहितनिरत रहना' पारण है। भाव यह है कि हमसे चराचर किसी प्राणीको भय नहीं रह गया. इतनेपर ही न रुक जाय, व्रत पूरा तभी होगा जब शरीरके रहते परोपकारमे तत्पर रहे। परोपकारमे रत होना तभी संभव है जब समस्त चराचरमे समबुद्धि होती है। इस तरह जन-जनार्दन की ही वह सेवा हुई। समस्त भूतोंके अपकारकी प्रवृत्तिसे निवृत्त होकर (अर्थात् सबको अभयदान देकर) सब शरीरोमें स्थित आत्माओमे ज्ञानकी एकाकारतासे समभावापन्न होकर सब भूतोके हितमे रत होना चाहिए। इस तरह जो भगवान्‌की उपासना करते हैं वे उन्हींको प्राप्त होते हैं। यथा 'ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते। संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः। ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः। गीता १२।३-४।' (अर्थात् जो इन्द्रियसमूहको भली भाँति रोककर, सर्वत्र समबुद्धि होकर तथा संपूर्ण भूतोंके हितोमे रत

होकर आत्माकी उपासना करते है, वे मुझे ही प्राप्त होते हैं)। भगवान् श्रीराम नें भी कहा है—'पर-हित बस जिन्हके मन मांहीं। तिन्ह कहँ जग दुर्लभ कछु नाहीं॥ तन तजि तात जाहु मम धामा॥ ३।३१।' परोपकारसे जटायुको पर धामकी प्राप्ति हुई जहाँ जानेसे सदाके लिये जीव शोकसे मुक्त हो जाता है जहाँ जाकर फिर मृत्युका कष्ट नहीं उठाना पड़ता, जहां जानेसे फिर जन्म नहीं होता, जहाँ पुनर्जन्मका भय नहीं रहता तथा जहाँ जाकर मनुष्य फिर इस संसारमे नहीं लौटता। यथा 'विद्यया तदवाप्नोति यत्र गत्वा न शोचति ॥११ यत्र गत्वा न म्रियते यत्र गत्वा न जायते। न पुनर्जायते यत्र यत्र गत्वा न वर्तते १२।' (म० भा० शां २४१)। अतः कहा कि 'बहुरि न व्यापइ सोक'।

[वै०—द्वादशीको तेरह कलायुक्त चन्द्रमा अधिक प्रकाशमान तो होता है परन्तु शुभ कार्यमे वर्जित है। द्वादशीको प्रथम दान फिर पारण होता है; वैसेही 'प्रथम असत्य त्यागकर सत्यको धारणकर जीवोंकी रक्षा करना' इति दयारूप दान करे, जिसमे तीनों लोकोसे अभय हो जाय, कहीं कोई विरोधी न रहे तत्पश्चात् परहितनिरत हो अर्थात् साधुता स्वभावसे किसीका अनभल न देखे सबपर समभाव रक्खे हुए परहितमे लगा रहे। इस रीतिसे भजन करनेवाले को जन्म-मरणादि दुःख न होगा। इति सत्य द्वादशीको साधुता कला प्रकट होती है।]

१४ 'तेरसि तीनि अवस्था तजहु '' ' इति। (क) जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति बुद्धिकी ये तीन वृत्तियाँ गुणोंके अनुसार आया जाया करती हैं। ये तीनों प्रकारके विकल्प गुणोके परिणाम है। सत्व, रज और तम इन तीनों गुणोंसे मनकी जाग्रत् आदि अवस्थायें होती है। जीव इन अवस्थाओंको अपनी अवस्था समझकर बधनमे पड़ जाता है।— इसीसे इनका त्याग कहा। तीनोंको त्यागकर भजन करनेका भाव कि जागते-सोते-आदि सभी अवस्थाओंमें निरंतर भजन करो।

जाग्रत् अवस्था वह है जिसमें श्रोत्र आदि इन्द्रियाँ शब्द आदि विषयोंको ग्रहण करती हैं। इस अवस्थामे निरन्तर शब्दादि विषयोंको ग्रहण करते-करते श्रोत्र आदि इन्द्रियाँ जब थक जाती है, तब सभी प्राणियोके अनुभवमे आनेवाला स्वप्न दिखाई देने लगता है। उस समय इन्द्रियोके लय होनेपर भी मनका लय नहीं होता है; इस लिये वह समस्त विषयोंका जो मनसे अनुभव करता है, वही स्वप्न कहलाता है। जैसे जाग्रत्-अवस्थामे विभिन्न कार्योंमे आसक्त-चित्त-हुए मनुष्यके संकल्प मनोराज्यकी विभूति हैं, उसी प्रकार स्वप्नके भावभी मनसे ही संबंध रखते हैं। कामनाओंमे जिसका मन आसक्त है,वह पुरुष स्वप्नमें असंख्य संस्कारोंके अनुसार अनेक दृश्योको देखता है। वे संस्कार उसके मनमें ही छि

रहते हैं, जिन्हें केवल परमात्मा ही जानता है।

स्वप्नदर्शनका द्वारभूत जो स्थूल मानवदेह है, वह सुषुप्ति अवस्थामें मन-मे लीन हो जाता है। (म० भा० शां० २१६।६-१४)। सुषुप्तिमें मनुष्यको कुछ-भी भान नहीं रहता; यह गाढ़ निद्रामें सोये हुए मनुष्यकी दशा है। जिस अवस्थामें सोया हुआ पुरुष किसी भोगकी इच्छा नहीं करता और न कोई स्वप्नही देखता है, उसे सुषुप्ति कहते हैं।—'यत्र सुप्तो न कञ्चन कामं कामयते न कञ्चन स्वप्नं पश्यति तत्सुषुप्तम्।' (मण्डूक ५)। प्रवाहरूपसे सदा रहनेवाली मनकी वृत्तियाँ सुषुप्तिमें तिरोहित हो जाती हैं। तत्त्वबोधमे श्रीशङ्कराचार्य स्वामीने 'सुषुप्ति' की व्याख्या इस प्रकार की है-'अहं किमपि न जानामि, सुखेन मया निद्रानुभूयत इति सुषुप्त्यवस्था।१६।' अर्थात् मैं कुछ नहीं जानता मैंने बड़े सुखसे निद्रा की, मैं सुखसे सोया'— यह ज्ञान जिस अवस्थामें होता है वह 'सुषुप्ति' है।

☞ उपर्युक्त विवेचनसे 'तीनि अवस्था तजहु' का भाव यह होता है कि संकल्प-विकल्पका त्याग करे,विषयासक्तिका त्याग करे तथा सत्व-रज तम तीनों गुणोंका त्याग करे। तीनों अवस्थाओंको गुणकृत मनकी अवस्था ही समझे। गीता २।४५ के 'निस्त्रैगुण्यो भव' का भाव भी इसमे आगया।

श्री जड भरतजी भी कहते हैं— यह मन वासनाविशिष्ट, विषयोमे आसक्त, गुणोंसे प्रेरित, विकारी और भूत-इन्द्रिय आदि सोलह कलाओंसे युक्त है। जब तक यह मन रहता है, तभीतक जीवको स्पष्टरूपसे प्रतीत होनेवाला यह स्थूल (जाग्रत अवस्थाका) एवं सूक्ष्म (स्वप्न-अवस्थाका) व्यवहार रहता है। ... गुण और कर्मोंमे आसक्त हुआ मन नाना प्रकारकी वृत्तियोंसे युक्त होता है और निर्गुण होते ही अपने कारण महत्तत्वमे लीन हो जाता है।— 'स वासनात्मा विषयोपरक्तो गुणप्रवाहो विकृतः षोडशात्मा।....।५। तावानयं व्यवहारः सदाविः क्षेत्रज्ञसाक्ष्यो भवति स्थूलसूक्ष्मः। ....७।.... तथा गुणकर्मानुबद्धं वृत्तीर्मनः श्रयतेऽन्यत्र तत्त्वम।८।' (भा० ५।११)।

१४ (ख) 'भजहु भगवंत' इति। सम्पूर्ण ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य— इन छः का नाम 'भग' है। इन छहों ऐश्वर्योंसे युक्तको 'भगवंत' कहते हैं। त्याग करने योग्य गुण आदिको छोड़कर ज्ञान, शक्ति,बल, ऐश्वर्य,वीर्य और तेज आदि सद्गुण ही 'भगवन्' शब्दके वाच्य हैं। यथा 'ज्ञानशक्तिबलैश्वर्यवीर्य-तेजांस्यशेषतः। भगवच्छब्दवाच्यानि विना हेयैर्गुणादिभिः। वि० पु० ६।५। ७९।' यहाँ भगवानके ऐश्वर्यरूपका भजन कहते हैं— इसीको उत्तरार्धमे और स्पष्ट करते हैं कि वह मन-कर्म-वचनका विषय नहीं है, इन तीनोंकी वहाँ तक पहुँच नहीं है,ये तीनों उसको जान नहीं सकते। यथा 'चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा।' (मुण्डक० ३।१।८); 'न तत्र चक्षुर्गच्छति न

वाग्गच्छति नो मनो' (केन० १।३)। वह 'व्यापक और व्याप्य' दोनों है; अर्थात् चराचरमात्रमें वह अव्यक्त भावसे स्थित है, सबको व्याप्त करके स्थित है तथा संपूर्ण लोकोंका कोईभी भाग या प्रदेश उस परमात्मासे बाहर नहीं है। चराचर संपूर्ण वस्तु व्याप्य है, उसमें व्याप्त होनेसे वह उनका शरीर हुआ; अतः 'व्याप्य' भी वे ही है। 'व्यापक व्याप्य' जानकर जब जीव सब भूतोंमें भगवान्‌को स्थित देखने लगता है, उसी समय उसका अज्ञान दूर हो जाता है। यथा 'यदा तु सर्वभूतेपु दारुष्वग्निमिव स्थितम्। प्रतिचक्षीत मां लोको जह्यात्तर्ह्येव कश्मलम्। भा० ३।६।३२।' अतः ये गुण भी कहे। भगवत—५५ (६ ग)। व्यापक—४३ (१ ख), ४६ (७ क), ५२ (८ क) मे देखिए।

वह 'अनन्त' है। व्यासजीने शुकदेवजीसे कहा है कि यदि कोई धनुषसे छूटे हुए बाणके समान अथवा मनके सदृश तीव्र वेगसे निरन्तर दौड़ता रहे, तो भी जगत्‌के कारणस्वरूप उस परमेश्वरका अन्त नहीं पा सकता।— 'यद्यजस्रं समागच्छेद् यथा बाणो गुणच्युतः॥ नैवान्तं कारणस्येयाद् यद्यपि स्यान्मनोजवः।'(म० भा० शां०२३६।२७–२८)। पुनः, तीनों कालोंमे वर्तमान सम्पूर्ण जगत्‌का आधार होनेसे देशकालकी सीमासे न आने योग्य होनेसे 'अनत' नाम है— 'अनन्तं कालत्रयवर्तिनिखिलजगदाश्रयतया देशकालपरिच्छेदानर्हं' (गीता रा० भाष्य ११।११)।

वै०—तीनों अवस्थाओंका व्यवहार त्यागकर (अर्थात् सन्तोष धारणकर इन्द्रियोंके विषयका त्याग करे, अन्त समय तृप्ति धारणकर मन आदिकी वासनाको त्यागकर) शुद्ध आत्मरूपसे भगवान् श्रीरघुनाथजीको भजो। इति संतोषरूपी त्रयोदशीको तृप्तिकला प्रकट होती है। तेरसको चन्द्रमा चौदह कलायुक्त और शुभकार्य करने योग्य होता है।

☞ तीनो अवस्थाओंका त्याग करनेका उपदेश देकर 'भजहु भगवंत' 'कहकर जनाया कि इन अवस्थाओंका त्याग करनेपर भी भगवान्‌के भजनकी आवश्यकता है। श्रीरामचरितमानसके ज्ञानदीपक प्रसंगमें कविने दिखाया है कि तीनों अवस्थायें और तीनो गुणोंका त्यागकर तुरीयावस्थामे स्थित होनेपर भी विघ्न होते हैं। (७।११७,११८ देखिए)। भक्तियोगसे वह इन दुस्तर विघ्नोंको पारकर ब्रह्मभावको प्राप्त कर लेता है। विशेष ४६ (७ घ) 'गुणवृत्तिहर्ता' मे देखिए। श्रीजड़भरतजीने भी कहा है कि अपने आत्माको आच्छादित करनेवाले उस मनरूप प्रबल कपटी शत्रुको श्रीगुरु और हरिके चरणोंकी सेवारूप शस्त्रसे सावधानतापूर्वक मार डालो।— 'गुरोर्हरेश्चरणोपासनास्त्रो जहि व्यलीकं स्वयमात्ममोषम्। भा० ५।११।१७।'

१५ 'चौदसि चौदह भुवन ' इति। (क)भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः आदि

चौदह भुवन माने गए हैं। ४४ (शब्दार्थ), ५४ (३ च) देखिए। 'अचर-चररूप गोपाल'— जड और चेतन, स्थावर और जंगम सब भगवान्‌का रूप है। पूर्व भी कह आये हैं—'अचर-चर रूप हरि' (४७), 'सर्वमेवात्र त्वद्रूप भूपालमनि' (५४)। अचर और चर दोनोको उनका रूप कहकर जनाया कि दोनो प्रकृतियाँ उनके अधीन है।— विशेष ४७ (२ ग), ५४ (३ क, ख। नोट ८) में देखिए। आगे पद २०५ मे भी 'अग-जगरूप भूप सीतावरु' कहा गया है। समस्त जीवोंमे व्याप्त होकर सबकी इन्द्रियोंके प्रेरक और पोषक होनेसे 'गोपाल' नाम है।

१५ (ख) 'भेद गए बिनु रघुपति' इति। 'भेद गए बिनु' अर्थात् भेदबुद्धि, द्वैत-बुद्धि या निज-पर-बुद्धि भवमे डालनेवाली है, यथा 'द्वैतरूप तम-कूप परौं नहिं' १११ (४ ग), 'बिगत अति स्वपरमति' ५७ (४ क)। जबतक यह पूर्णतया नष्ट नहीं हो जाती तबतक जगजालका आत्यन्तिक नाश नहीं होता। 'अति' का अन्वय 'भेद गए बिनु' और 'न हरहिं' दोनोंके साथ है। पद ५७ मे भी 'बिगत अति स्व-पर-मति' कहा है। 'न हरहिं अति' से जनाया कि भेदबुद्धिका अत्यन्त अभाव न होनेसे जगजाल कुछ न कुछ बना रहेगा। 'जोग बियोग भोग भल मंदा। हित अनहित मध्यं भ्रमफंदा। जनम मरन जहँ लगि जगजालू। २।९२।'— यह सब 'जगजाल' है।

☞ चराचरको भगवान्‌के रूपमें देखनेसे द्वैतबुद्धि सर्वथा नष्ट हो जायगी, इन्द्रियाँ शांत हो जायँगी, जगजाल न रह जायगा। इस तरह चतुर्दशीरूपी चौदहवाँ साधन यह है कि चराचरको भगवान्‌का रूप समझे।

वै०—चतुर्दशीको पन्द्रह कलायुक्त चन्द्रमा होता है। यह बहुतेरे शुभकार्योंमे वर्जित है, परन्तु धर्मक्रियामे शुभ है। वैसेही चौदहों भुवनोमे इन्द्रियोंके प्रकाशक गोपाल अन्तर्यामीरूपसे सर्वत्र बसे हुए सबके समीप हैं; परन्तु द्वैतबुद्धि मिटे बिना मोह-ममता आदि जगजाल जो जीवका बंधन है उसे रघुनाथजी अत्यन्त करके नहीं हर सकते। भाव कि जीव ज्यों-ज्यों द्वैतका त्याग करता है त्यो त्यो प्रभु उसके बंधन तोड़ते जाते हैं, ऐसा विचारकर दृढ़ धैर्य धारणकर लोभ-मोह आदिके वेगको रोक, और क्षमा धारण करके क्रोध-मान-मद-आदिके वेगको रोककर अभेदबुद्धि करके रघुनाथजीको भज; तब वे भवबंधनको हर लेगे। इति धैर्य चतुर्दशीको क्षमा कला प्रकट होती है।

१६ 'पूनिउँ प्रेम-भगति रस' इति। (क) पूर्णमासीरूपी पन्द्रहवाँ सर्वोत्कृष्ट साधन है— 'प्रेमाभक्तिरस' और हरिरस। उपर्युक्त सभी साधनोके पश्चात् इसका आविर्भाव होता है। प्रेमाभक्ति अर्थात् परमप्रेमरूपा भक्तिका वर्णन नहीं हो सकता। यथा 'प्रेमभगति जो बरनि न जाई।१।३६।६।', 'अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्', 'मूकास्वादनवत्' (अर्थात् गूँगेके स्वादकी भाँति)। (नारद भ०

सू० ५१, ५२)।

यह रसरूपा है। यथा 'राम-भगति-रस सिद्धि हित भा यह समउ गनेसु। २।२०८।' इसकी दशा और लक्षणोंका ही वर्णन हो सकता है। देवर्षिनारदके मतसे अपने सब कर्मोंको भगवान्‌के अर्पण करना और भगवान्‌का क्षणभरभी विस्मरण होनेमें परम व्याकुल होना ही 'प्रेमाभक्ति' है। यथा 'नारदस्तु तदर्पिताखिलाचारिता तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति।' (भक्ति सूत्र १९)। भक्त प्रियतमके प्रेमको पाकर सर्वथा पूर्णकाम हो जाता है, उसे किसी वस्तुके अभावका बोध नहीं रहता। उसे तो एक क्षणभी प्रियतमको छोड़ अन्य किसी विषयको स्वीकार करनेका अवकाश ही नहीं रह जाता। मानसमें प्रेमभक्तिकी कुछ दशा श्रीसुतीक्ष्णजी और श्रीभरतजीके प्रसंगोंमें कविने दिखाई है।

(ख) 'हरि रस' इति। भगवान् भी रसमय हैं। श्रुतिभी कहती है—'रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति।' (तैत्ति० ब्रह्मानन्दवल्ली ७)। अर्थात् भगवान् रसरूप हैं, रस ही हैं; और उसी रसमें परमआनन्द हैं। इस रसको पाकर पुरुष आनन्दी हो जाता है। भगवान्‌में चित्त लगानेवाले और समस्त विषयोंकी अपेक्षा छोड़नेवाले भक्तको जो परम सुख मिलता है, वह विषयासक्तको कदापि नहीं मिल सकता। यथा। 'मय्यर्पितात्मनः सभ्य निरपेक्षस्य सर्वतः। मयाऽऽत्मना सुखं यत्तत् कुतः स्याद् विषयात्मनाम्। भा० ११।१४।१२।' (यह स्वयं भगवानने उद्धवजीसे कहा है)।

(ग) प्रेमभक्ति परम आनन्दमय है और आनन्दमय श्रीहरिके साथ मिलाकर प्रेमीको आनन्दमय बना देती है। प्रेमको पाकर प्रेमी इस प्रेमको ही देखता है, प्रेमको ही सुनता है, प्रेमका ही वर्णन करता है और प्रेमका ही चिन्तन करता है।—'तत्प्राप्य तदेवावलोकयति, तदेव शृणोति, तदेव भाषयति, तदेव चिन्तयति।' (ना० भ० सू० ५५)। प्रेम अनुभवकी वस्तु है, अनुभव होता है मनमें और वह सदा प्रियतमप्रेमीके पासही रहता है। वह तो मनसे हाथ ही धो बैठता है,वह कह नहीं सकता, वह तो आनन्दमें निमग्न रहता है, उसका आस्वादन करता रहता है—गूँगेके स्वादकी भाँति।

(घ)प्रेमभक्ति और हरिरस अनिर्वचनीय है,केवल अनुभवका विषय हैं, इसीसे कहा कि 'जानहिं दास'; अर्थात् जो प्रेमी उस परमानन्दका आस्वादन करते हैं वे ही जानते हैं। कह वेभी नहीं सकते।

पुनः, 'जानहिं दास ' में श्रीनारदभक्तिसूत्र 'प्रकाशते क्वापि पात्रे।५३।' का भावभी है। अर्थात् किसी विरले योग्य पात्रमें-ही ऐसा प्रेम होता है और उस प्रेमका कुछ-कुछ प्रकाश उसकी उन्मत्तवत् दशाके समय लोगोंको दीखने लगता है। अतएव ऐसे प्रेमाभक्तिमें रँगे हुए सन्तोंका संग और सेवा करनी चाहिए,

उनकी कृपासे प्रेमाभक्तिकी प्राप्तिके साधन अपने आप हो जाते हैं। यथा 'मुख्यतस्तु महत्कृपयैव' (ना० भ० सू० ३८)।

१६ (ङ) 'सम सीतल गत मान.....' इति। उन दासोंके गुण वा लक्षण कहते हैं। 'सम' अर्थात् सबमें समान भाव रखते हैं, समदृष्टिवाले हैं। समतापूर्ण बर्तावकरनेवाले पुरुषके भीतर भगवान् सदा विराजमान रहते हैं। 'सम' से जनाया कि सबमें एक निर्विकार प्रभुको देखना उनका स्वभाव हो गया है तथा दुःख-सुख आदिमें समभाव रहता है।—५५ (२ क), ५७ (४छ) देखिए।

'शीतल' की व्याख्या; यथा 'जौं कोइ कोप भरे मुख बैना। सनमुख हनै गिरा-सर पैना॥ तुलसी तऊ लेस रिस नाहीं। सो सीतल कहिए जग माहीं॥ वै० सं० ४६।' इसमे ५७ (४) के 'शांत' का भाव है। ५७ (४ क) देखिए। पद १७२ मे अविरल भक्तिवाले सन्तोंकी रहनीका उल्लेख कविने किया है। उसमे उनको 'विगत-मान' 'सम' सीतल मन' कहा है। वे तीनोंही गुण यहाँ 'सम सीतल गत-मान' हैं। आत्माभिमान एवं प्रतिष्ठाकी चाह 'मान' है, ये दोनो उनमे नहीं होते। 'ज्ञानरत' मे ५७ (४) के 'शब्दब्रह्मक-पर-ब्रह्मज्ञानी', 'म्वहक और 'विगत अति स्व-पर-मति' के भाव हैं। अर्थात् शास्त्रजन्य ज्ञानद्वारा ब्रह्मको जानकर वे सदा ब्रह्मज्ञानमें रत रहते हैं, आत्मामे ही उनका प्रेम है, वे आत्मामे ही सन्तुष्ट रहते हैं, उनको सदा आत्मस्वरूपका साक्षात्कार होता रहता है। 'विषय उदास' अर्थात् 'विषयरसरूखे' हैं, विषयोमे उनका प्रेम नहीं है, वे सांसारिक पदार्थोंकी इच्छा नहीं करते।

[वि०—'जानहिं दास'—"प्रेमपरा भक्तिका आनन्दरस दासभावके भक्तही जानते हैं। सर्वसाधनोंके अनन्तर प्रेम-भक्ति मिलती है। दासभावमे जीव सब तरहसे परख लिया जाता है, उसे सभी साधनोंको धीरजके साथ पार करना पड़ता है, और तब कहीं प्रेमपराभक्तिकी प्राप्ति होती है।"]

वै०—१ पूर्णमासीको षोडशकलायुक्त परिपूर्ण प्रकाशमान चन्द्र होता है; जो शीतल, सबको सुखद और भुवनभूषण है। वैसेही पूर्ण प्रेमाभक्ति पूर्णमासीको विवेक-विद्या-कलाके प्रकट होनेसे जीव सोलहों कलायुक्त पूर्ण प्रकाशमान हुआ। 'सम शीतल गतमान, विषय उदास' दास जिनको प्रेमा-भक्तिरसकी प्राप्ति हुई वेही हरिके रसका स्वाद जानते हैं। वे ज्ञानरत, अर्थात् आत्म-अनुभवके व्यापारमे सदा लगे, हैं।—यही 'विवेकविद्याकला' है।

२ "आदिमे प्रेमाकलाको कहा था,— 'परिवा प्रथम प्रेम बिनु'; और यहाँ अन्तमे पुनः प्रेमाभक्तिको कहते हैं। बीचमे विवेकके साधन ज्ञान-वैराग्यादि जीवके गुण कहे।"—इस क्रममें भाव यह है कि जिसमें प्रेम है, वह जीव कुसंग पाकर विषयोंके वश होकर मन्द हो जाता है, तब भी उसका नाश नहीं होता।

जब सत्संग पाता है तब पुनः चैतन्य हो जाता है, उस समय विवेकादि साधन-कर विषयका त्याग करे और श्रीरघुनाथजीमें शुद्ध प्रेम करनेसे पूर्ण प्रेमाभक्ति प्राप्त हो जाती है।"

(ऐसा भी कह सकते हैं कि 'परिवा प्रथम प्रेम' कहकर प्रेमीको बताते हैं कि आगेके तेरह साधनोंपर उसकी दृष्टि सदा बनी रहे, तभी प्रेमाभक्तिरस तथा हरिरसका आस्वादन कर सकेगा।)

भ० स०—"यहाँ तक मुख्य साधन जीवके कल्याणके हेतु कहे। इनमें से पूर्वानुराग साधन भक्ति सबसे पहले कही। वही भक्ति प्रेमा अनेक साधनोंके बाद निष्काम और अविनाशी होकर सिद्धा भक्ति पूर्णमासीरूप सब साधनोंका फलरूपा उदय हो जाती है; तत्पश्चात् और कुछ कर्तव्य नहीं रह जाता, क्योंकि वही फलरूप है। द्वितीयासे चतुर्दशी तक उसीके सब साधन कहे। उस सिद्धा भक्तिकी प्राप्तिके द्वार श्रीगुरु हैं— यह पदके प्रथम तुकमें जना दिया। उसकी प्राप्तिसे भगवत् प्राप्त होते हैं। इसके फलको अधिक क्या कहें।"

१७ 'त्रिबिध सूल होलिय जारिअ' इति। (क) फाल्गुनकी पूर्णिमा और प्रतिपदाके बीचमें होली जलती है। सम्वत्का अन्तिम मास फाल्गुन है, इसीसे होली जलनेको सम्वत्सरका जलना भी कहते हैं। शूल तो अगणित प्रकारके हैं और सबका नाश प्रेमसे होना भी पूर्व कह आये हैं। यथा 'प्रेम तांबूल गतसूल संसय सकल'— ४७ (३ भ) देखिए। परन्तु यहाँ 'त्रिबिध' विशेषण देकर दैहिक, दैविक और भौतिक इन तीनो तापोको शूल कहा है। त्रिताप—'संताप' ४० (शब्दार्थ) देखिए। प्रेम त्रितापका नाश भी कर डालता है, यथा 'ताप त्रिबिध प्रेम-आप दूर हीं करे। ७४।' अतः कहते हैं कि प्रेमाभक्ति पाकर तीनों तापोंकी होली जलाओ।

१७ (ख) 'खेलिअ अस फागु' इति। ऐसा फाग खेलिए— कथनका भाव कि फाल्गुनमें सांसारिक गन्दे विषय सम्बन्धी जो गीत गा-गाकर फगुआ खेलता है और उसमें सुख मानता है, वह सुख सुख नहीं है, वह तो भवमें डालनेवाला है। अतः उस प्रकारका फाग त्यागकर इस प्रकारका फाग खेल, जैसा ऊपर 'परिवा प्रथम प्रेम' से 'पूनिउँ प्रेमभगति रस' तक हमने बताया है। इस तरहका भगवत्-संबंधी फाग खेलनेसे तापत्रय भस्म हो जायँगे और सच्चा परम सुख प्राप्त होगा। त्रितापके जलनेपर परमानन्दका होना होलीके बादका फागोत्सवानन्द है।

[वै०—"यद्यपि पूर्णिमा और पूर्णचन्द्र सब मासोंमें होते हैं परन्तु सवत्का अन्त फाल्गुन है; वैसेही आवागमनका अन्त इसी देहसे चाहते हैं; इसीसे फाल्गुनका रूपक कहते हैं। उसमें अरण्ड वृक्ष, तृण और बल्ला संचितकर होली

जलाकर फाग खेलते हैं, निर्लज्ज होकर अनुचित बकते हैं। वैसेही तीनों तापों-रूपी अरण्ड आदिको वैराग्यरूपी अग्निसे भस्म कर दीजिए। अर्थात् तापें तो पापसे होती हैं, जब पापही न करेंगे तब त्रिताप क्यों होने लगे। पुनः जब देहाभिमान ही नहीं तब प्रारब्धि होती है सो व्याप्ती ही नहीं,— इति होली जलाइये, फिर फाग खेलिये। भाव यह कि परलोकके कामवश लोककी लाज त्यागकर देहसंबंधियोंसे अलग रहिए।"—(वै० का पाठ 'अब खेलिय फाग' है)।

वि०— "फाल्गुनमासकी पूर्णिमासी और महीनोंकी पूर्णमासीसे कहीं अधिक आनन्दमयी समझी जाती है।"

१७ (ग) 'जौं जिय चहसि परम सुख ' इति। 'एहि मारग' अर्थात् श्री-हरि-गुरुपदकमलके भजनका मार्ग जो फाल्गुनके शुक्लपक्ष तथा होलीके रूपक-से ऊपर बता आए। यह प्रेमाभक्तिकी प्राप्तिका मार्ग है, यह 'पूनिउँ प्रेम-भगतिरस ' से सूचित कर दिया है। और प्रेमाभक्ति परमानंदरूपा है, उसको पाकर मनुष्य शान्त और आत्माराम बन जाता है। यथा 'शान्तिरूपात् परमानन्दरूपाच्च।', 'यज्ज्ञात्वा मत्तो भवति स्तब्धो भवति आत्मारामो भवति।' (ना० भ० सू० ६०,६)। समस्त कल्याणोंके स्वामी भगवान्‌की भक्तिको प्राप्त पुरुष अमृतसमुद्रमें क्रीड़ा करता है। यथा 'यस्य भक्तिर्भगवति हरौ निःश्रेयसेश्वरे। विक्रीडतोऽमृताम्भोधौ। भा० ६।१२।२२'—इत्यादि भाव 'परम सुख' से जनाये गए। 'लागु' से जनाया कि फिर इस मार्गको पकड़े चले ही जाना, इसे छोड़ना नहीं।

१८ 'श्रुति पुरान बुध समत ' इति। (क) होलीमें चर्चरी रागमें फागके गीत गाये जाते हैं; इसीसे उन्हें 'चाँचरि' कहते हैं। इसमें कहे हुए फागके गीत 'मुरारि चरित' हैं। भाव यह कि पराभक्तिके साधक तथा पराभक्तिको प्राप्त भक्त भग-वान्‌के चरित्रोंके, उनके गुणगणों आदिके ही गीत गाते और सुनते हैं, गुणगणों-का कीर्तन करते हैं। नारदजीभी कहते हैं— 'तत्प्राप्य तदेवावलोकयति, तदेव शृणोति, तदेव भाषयति, तदेव चिन्तयति।' (अर्थात् प्रेमी प्रेमका ही अवलो-कन करता, प्रेमको ही सुनता, प्रेमका ही वर्णन करता और प्रेमका ही चिन्तन करता है), 'यज्ज्ञात्वा मत्तो भवति' (अर्थात् वह उन्मत्त हो जाता है)। (ना०भ० सू०५५,६)। भाव यह कि जैसे होलीमें उन्मत्त होकर मनुष्य सांसारिक चाँचरि गाते हैं; वैसेही भक्त भगवत् प्रेममें पागल हो, प्रेमके नशेमें चूर होकर अपने भगवान्‌के गुण गाते-सुनते, उन्हींकी चर्चामें ही तल्लीन रहते हैं।— इस कथनमें श्रुति, पुराण और पंडितगण सब एकमत हैं। आश्रितविरोधियोंके नाशक और आश्रितोंके रक्षक होनेसे 'मुरारि' नाम है।— ५२ (३ ख) देखिए।

१८ (ख) 'करि बिचार भव तरिअ' ...' इति। ऐसा विचारकर भगवद्गुणगण गान करके भवपार हो जाइए। रामचरितगान भवपार करता है; यथा 'भवसागर चह पार जो पावा। रामकथा ता कहँ दृढ़ नावा। ७५३।३।' (यह श्रीगिरिजाजीका वाक्य है)। 'परिअ न कबहुँ जमधारि' अर्थात् इसके गान करनेवालेके पास यमदूत नहीं जाते।श्रीरामकथा यमगणके मुखमें कालख लगाने वाली है, यथा 'जमगन मुँह मसि जग जमुना-सी।१।३१।११।' वि० पु० ३।७ में श्रीमैत्रेयजीके पूछनेपर कि "किन कर्मोंसे मनुष्य यमराजके वशीभूत नहीं होता ?", श्रीपराशरजीने यम और उनके दूतोंके बीचमें जो संवाद हुआ था उसे कहा। यमने दूतके कानमें कहा था कि "भगवान् मधुसूदनके शरणागत व्यक्तियोंको छोड़ देना। 'जो भगवान्के सुरवरवन्दित चरणकमलोंकी परमार्थबुद्धिसे वन्दना करते हैं वे सब पापबन्धनसे मुक्त हो जाते हैं, उन पुरुषोंको तुम दूरसेही छोड़कर निकल जाना। हे कमलनयन! हे वासुदेव! हे विष्णो! हे धरणीधर! हे अच्युत! हे शङ्खचक्रपाणे! आप हमें शरण दीजिए'—जो लोग इस प्रकार पुकारते हों, उन निष्पाप व्यक्तियोंको तुम दूरसे त्याग देना" इत्यादि। (श्लोक १४, १८, २३)। अतः कहा कि गुणगानसे यमकी सेनाके बीच न पड़ोगे, वे तुम्हारे पास न आ सकेंगे। भीष्मपितामहजी नकुलजीसे कहते हैं कि जिसका हृदय निरन्तर भगवत्परायण रहता है उसका यमदूत, यमपाश, यमदण्ड, यम अथवा यमयातना कुछभी नहीं कर सकते।—'किङ्कराः पाशदण्डाश्च न यमो न च यातनाः। समर्थास्तस्य यस्यात्मा केशवालम्बनस्सदा।। श्लो० ३८।'—ये सब भाव इन चार शब्दोंसे जना दिये।

[अर्थात् 'जन्म-मरणके चक्रमें न फँसना चाहिए।' (वि०)। 'यमलोकोंमें ले जानेवाली विषयोंकी धारामें नहीं पड़ना चाहिए।' (पों०)। क० ७।३१ में दुःख, रोग और वियोगको यमके पहरेदार कहा है,उसेभी'धारि'मे ले सकते हैं।]

१६ 'संसय-समन दमन-दुख ...' इति। (क) दो या कई बातोंमेंसे एकका भी मनमें न बैठना तथा ज्ञेय पदार्थविषयक संपूर्ण संदेहका नाम 'संशय' है। संशयात्माको लोक-परलोक और सुख अप्राप्य है; इससे संशयका नाश करना आवश्यक है। भगवान् संशय और दुःख दोनोंको हर लेते हैं। यथा 'दास तुलसी चरन सरन संसय-हरन देहि अवलंब वैदेहिभर्ता।' ४४ (६ ग)।, 'कस न करहु करुना हरे दुखहरन मुरारी। त्रिविध ताप संदेह सोक संसय भय हारी।१०६।' बिना उनकी कृपाके संशय एवं दुःख दूर नहीं हो सकते। यथा 'तुलसिदास प्रभु तव प्रकास बिनु संसय टरै न टारी।११२।','जे नाथ करि करुना बिलोके त्रिविध दुख ते निर्वहे।७।१३ छंद।', 'मन सों पन रोपि कहै तुलसी रघुनाथ बिना दुख कौन हरै।' (क० ७।५५)। भगवान् सुखनिधान हैं;—'जानकीरमन सुखभवन'

४६ (२ घ); 'सच्चिदानंद आनंदकंदाकर' ५१ (१ घ), 'आनंदरासी' (५५), 'जानकीरमन आनंदकंद' ६४ (७ ख) मे देखिये। मानसमें भी कहा है–'राम सदा आनंद निधानू' तथा 'जो आनंद सिंधु सुखरासी। सीकर ते त्रैलोक सुपासी॥ १।१९७।५।' पदके प्रथम अन्तरामें भी 'सुखनिधान' विशेषण आ चुका है।

'हरि एक' का भाव कि इस आनन्दसिंधुके एक सीकरमात्रसे सारे ब्रह्माण्डका सुख है, अन्य सब प्राणियोंका सुख तथा जीवन धारण करना इसकी एक मात्राके आश्रित है। अतः कहा कि एकमात्र सुखके अधिष्ठान भगवान् ही हैं, दूसरा नहीं। अतः सशयादिके निवारणार्थ उनकी प्राप्तिका प्रयत्न करो।

१९ (ख) 'साधुकृपा बिनु ···' इति। यह उनकी प्राप्तिका उपाय बताते हैं। एकमात्र साधुकी ही कृपासे वे मिल सकते हैं। भगवान्का वाक्य है कि 'साधु मेरे हृदय हैं और मैं उनका हृदय हूँ। वे मेरे सिवा किसीको नहीं जानते और मैं उन्हे छोड़कर अन्य किसीको नहीं जानता।'—'साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम्। मदन्यत् ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि। भा० ९।४।६८।'; देवर्षि नारदजी भी कहते हैं—'तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात्' (भ० सू० ४१), भगवान्मे और उनके भक्तमें भेदका अभाव है।—अतएव वे साधु जिनपर कृपा करदें, उन्हे भगवान् अवश्य प्राप्त हो जायँगे। कथनका अभिप्राय यह है कि ऐसे प्रेमी संतोका संग करो, उनकी सेवा करो। वे तो स्वाभाविक ही दयालु होते हैं; परन्तु श्रद्धा-विश्वासपूर्वक उनका सग करे, उनकी सेवा करे, तो वे अवश्य कृपा करेंगे, उनकी कृपासे पराभक्ति तथा भगवान् प्राप्त होगें।—श्रीनारदजीका भी यही उपदेश है। यथा 'तदेव साध्यतां, तदेव साध्यताम्' (भ० सू० ४२)। अर्थात् अतएव उस (महापुरुषोंके संग) की ही साधना करो, उसीकी साधना करो। प्रस्तुत पदके उपक्रममे यही साधन कहा था,—'श्रीहरि-गुरु-पद-कमल भजहु···जेहि सेवत पाइय हरि सुखनिधान भगवान।' वही यहाँ उपसंहारमें 'सुखनिधान हरि एक। साधुकृपा बिनु मिलहिं नहिं।' से कहा है। वहाँ सेवा करनेसे 'हरि-प्राप्ति' कही थी और यहाँ बिना उनके हरिप्राप्तिको दुर्लभ बताया। 'करिअ उपाय अनेक' अर्थात् योग, यज्ञ, जप, तप आदि उपाय करनेसे नहीं मिल सकते।

मिलान कीजिए—'रहूगणैतत्तपसा न याति न चेज्यया निर्वपणाद् गृहाद्वा। नच्छन्दसा नैव जलाग्निसूर्यैर्विना महत्पादरजोऽभिषेकम्। भा० ५।१२।१२।' श्रीजड़भरतजी राजा रहूगणसे कहते हैं कि इस प्रकारका (भगवान्का) ज्ञान महापुरुषोंके चरणरजको शिरपर धारण करनेके सिवा तप, यज्ञ, दान, गृहस्थोचित धर्मोंके पालन, वेदाध्ययन अथवा जल, अग्नि या सूर्यकी उपासना आदि किसीभी साधनसे प्राप्त नहीं हो सकता।

१९ (ग) पद ५७ मे संतसंगकी याचना करते हुए संतोंके गुण और उनकी

तथा सत्संगकी महिमा भी कही है। और यह भी बताया है कि 'संत भगवंत अंतर निरतर नहीं।' यहाँ प्रस्तुत पदमे 'श्रीहरिगुरु' शब्दोसे वहाँके 'संतभगवंत अंतर निरंतर नहीं' को ही पुष्ट किया है। पद ५७ मे सन्तोके साथ सदा भगवान्का त्रिदेवों सहित निवास बताया है; यथा 'सांत निरपेक्ष निर्मम निरामय अगुन शब्दब्रह्मैक-पर-ब्रह्मज्ञानी। यत्र तिष्ठ ति तत्रैव अज-सर्व हरि सहित गच्छंति क्षीराब्धिवासी ॥'; और प्रस्तुत पदमे साधुकृपासे भगवान्का मिलना कहा है। अर्थात् वे कृपा करके भगवान्से मिला देते हैं। पद १३६ मे संतसगंसे भक्तिकी प्राप्ति, पापराशिका नाश, दैवीसंपदाकी प्राप्ति, समस्त विकारोका नाश तथा स्व-स्वरूपका ज्ञान और उसमे अनुराग आदिका होना बताते हुए ऐसे सन्तोकी प्राप्ति हरिकृपासे बताई है। यथा 'ते तब मिलहिं द्रवै जब सोई॥ जब द्रवै दीनदयाल राघव साधु संगति पाइये।' और प्रस्तुत पदमे हरिकी प्राप्ति सन्तों-की कृपापर निर्भर बताते हैं।—यह दोनों पदोमे सूक्ष्म भेद है। ☞ दोनो वाक्यों-मे विरोध नहीं है। दोनों सत्य हैं। प्रभु जब कृपा करते हैं तभी जीव जागृत होता है, यह पूर्व बता आये हैं; यथा 'जानकीसकी कृपा जगावति सुजान जीव जागित्यागि मूढ़ता अनुरागु श्रीहरे।७४।' तब जीवको विषयोंसे वैराग्य और जिज्ञासा होती है; वह गुरुकी खोजमे निकलता है, तब वेही कृपालु भगवान् उसे सन्तसे मिला देते हैं। सन्तोकी कृपासे उसे भगवान्की प्राप्ति होती है।— अतः प्रथम यह बताया गया कि श्रीराघवकी कृपासे संत मिलतेहैं और उन संतोकी कृपासे श्रीराघव मिलतेहैं।

टिप्पणी—२० 'भवसागर कहँ नाव सुद्ध संतन्ह ' इति। (क) कौन संत भवसागरके लिये जहाजरूप हैं? किनके विना प्रभु कदापि नहीं मिलनेके?— उनके लक्षण यहाँ 'शुद्ध' विशेषणसे जना दिये। पूर्व पद ११२ मे जो कहा है— 'परम पुनीत संत कोमलचित तिन्हहिं तुम्हहिं बनि आई।', पद ५७ मे 'सांत निरपेक्ष निर्मम निरामय अगुन शब्द-ब्रह्मैक-पर-ब्रह्मज्ञानी' से लेकर 'त्यक्तमद-मन्यु कृत पुन्यरासी।' तक मे जो गुण कहे है तथा पद १३६ मे 'जिन्हकें मिलें सुख दुख समान अमानतादिक गुन भये। मद मोह लोभ विषाद क्रोध सुबोध तें सहजहिं गये।१८।' इत्यादि जो प्रभाव कहे हैं।—ये जिनमे है, वेही 'शुद्ध' विशे-षणसे सूचित किये गये है। मानसमे भी ऐसेही सन्तोका मिलना श्रीरामकृपा-से बताया है; यथा 'संत बिसुद्ध मिलहिं परि तेही। चितवहिं राम कृपा करि जेही।७।६९।७।' और उनका लक्षणभी बताया है, वह यह है—'पर-दुख द्रवहिं संत सुपुनीता।७।१२५।८।'—ये दोनो वाक्य गरुड़जीके हैं। संत भवपार करने-केलिये नावरूप हैं—यह पूर्व पद १८५ मे बता आये है; यथा 'भवसरिता कहँ नाव संतयह कहि औरनि समुझावत।' १८५ (५) देखिए। और यहाँ यह बताया है कि 'शुद्ध संत' ही पार कर सकते है।

मिलान कीजिए— 'यत्सेवया भगवतः कूटस्थस्य मधुद्विषः । रतिरासो भवेत्तीव्रः पादयोर्व्यसनार्दनः । भा० ३।७।१९।' अर्थात् जिनकी सेवा करनेसे निर्विकार भगवान् मधुसूदनके चरणकमलोंमें संसार-संकटको दूर करनेवाला प्रेम और उत्साह बढ़ता है ।

२० (ख) 'प्रयास बिनु मिलहिं' इति । अर्थात यह सबसे सुगम साधन है, इसमें योग, यज्ञ, जप, तप आदि साधनोंका क्लेश नहीं है । केवल प्रभुसे शुद्ध हृदयसे प्रार्थना करते रहो कि ऐसे सन्तका समागम दें । जैसे कवि पूर्व पद ५७ में प्रार्थना कर आये हैं । यथा 'देहि सतसंग ', 'यत्र कुत्रापि मम जन्म ''' तत्र त्वद्भक्तिसज्जन समागम सदा भवतु मे राम विश्राममेकम् ।' नारदजीने भी भक्ति सूत्र ३९–४० में कहा है कि महापुरुषोंका संग दुर्लभ, अगम्य और अमोघ है, भगवानकी कृपासे ही मिलता है ।— 'महत्सङ्गस्तु दुर्लभोऽगम्योऽमोघश्च ।', 'लभ्यतेऽपि तत्कृपयैव ।'

२०(ग) 'मिलहि राम दुखहरन' उपसंहार है । 'जेहि सेवन पाइय हरि' उपक्रम है । हरि= दुःखहरण राम । गुरु सन्त हैं, हरिरूप हैं । यह उपक्रममें 'श्रीहरि-गुरु' और अंतमें 'साधु' 'सतन्ह' शब्द देकर जना दिया है । ☞ इस अंतिम चरणमें पदके प्रथम चरणका ही भाव है कि श्रीहरि-गुरु (सन्त) की सेवा अभिमान छोड़कर करनेसे सहजहीमें बिना परिश्रम भवपार हो जाओगे और भगवान्‌की प्राप्ति हो जायगी । अतः इसीकी साधना करो ।

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु ।

२०४ राग कान्हरा

जौं[1] मन लागै रामचरन अस ।

देह गेह सुत बित कलत्र महँ मगन होत बिनु जतन किये जस ।१

द्वंद-रहित गत-मान ज्ञान-रत बिषय-बिरत[2] खटाई[3] नाना कस ।

सुखनिधान सुजान कोसलपति ह्वै प्रसन्न कहु क्यों न होहिं[4] बस ।२

सर्वभूत-हित निर्व्यलीक चित भक्ति प्रेम दृढ़ नेम एकरस ।

तुलसिदास यह होइ तबहिं जब द्रवै ईस जेहि[5] हते[6] सीसदस ।३

१ जौं–रा०, ७४ । जौ–भा०, वे०, ह० । जो—ज०, १५, ५१ । २ बिरति–प्र० । खटाई—रा०, ५१ । खटाइ–भा०, वे०, ह०, ७४, आ० । खटाय–ज०, १५ । ४ होहिं–रा०, वे०, ७४, आ० । होइ–भा०, ह०, १५, भ० । ५ जेहि—रा०, वे०, आ० । जिन्ह–भा०, प्र०, १५ । ६ हते–रा०, ५१, ७४ । हत्यो–भा० वे०, ह०, भ०, छ०, मु० । हतो–दीन, वि० ।

शब्दार्थ—वित = धन। जस = जिस प्रकार; जैसा। द्वंद (द्वन्द्व) = माया-कृत विकारोंके जोड़े; जैसे कि सुख-दुःख, राग-द्वेष, मान-अपमान आदि। विशेष 'हरन दुख द्वंद' ४७ (१ ख; शब्दार्थ), 'द्वंदविपतिहारी' ६१ (१ क) देखिए। मान- ५५ (४ ख)। खटाई = वह वस्तु जिसका स्वाद खट्टा हो जैसे कच्चा आम, इमली आदि। = खटायेगा; खट(निबह) जायगा।* कस = कसाव, कसैलापन। जब खट्टी वस्तु काँसेके बरतनमें देरतक रहती है तब उसका स्वाद बिगड़कर कसैला हो जाता है और उसके खानेसे वमन हो जाता है या जी मचलाता है। = परीक्षा; यथा 'कसे कनक मनि पारिखि पाए। पुरुष "परिखिअहिं समय सुभाए। २।२८३।६।', 'ज्ञान अनल मन कसें कनक से। २।३१७।७।' सर्वभूतहित = सब जीवोंका हित करनेवाला। निर्व्यलीक = निष्कपट; निर्विकार; छलरहित; यथा 'सकर हृदि पुंडरीक निवसत हरि चंचरीक निर्व्यलीक मानस-गृह संतत रहे छाई। गी० ७।३।' सीसदस = दश सिरों वाला रावण।

पद्यार्थ—यदि मन श्रीरामजीके चरणोंमें इस प्रकार लग जाय जैसे देह, घर, पुत्र, धन और स्त्रीमें बिना उपाय किये ही मग्न हो जाता है (अर्थात् इनमें स्वाभाविक ही आसक्त हो जाता है, कोई इसको इनसे प्रेम करना सिखाता नहीं)।१। द्वन्द्वोंसे रहित, अभिमान रहित, ज्ञान-परायण और विषयोंसे नाना प्रकारकी खट्टी वस्तुओंके कसावके समान विरक्त हो जाय। (अर्थात् जैसे अनेक प्रकारकी खटाइयोंमें 'कस' कसैलापन आजानेसे वे अरुचिकर हो जाती हैं, फिर उनकी ओर मन नहीं जाता, इसी प्रकार विषयोंसे वैराग्य हो जाय, उन्हें देखने-परभी वे अरुचिकर हो जायँ, मन उनसे एकदम हट जाय)†। तब कहिये तो सुखसिंधु, सुजान कोशलपुरीके स्वामी प्रसन्न होकर क्यों न वशमें हो जायँगे? (ऐसे अधिकारीको पाकर उसके अधीन अवश्य हो जाते हैं)।२। सब जीवोंका हित करनेवाला, निष्कपट निर्विकार चित्तवाला और प्रेमाभक्तिका एकरस

---

* 'खटाइ' पाठमें दो अर्थ होते हैं। एक तो 'खटाई', दूसरे अकर्मक क्रिया 'खटाना' से बना हुआ 'खटाय' 'खटाइ' शब्द। खटाना = निभना; परीक्षामें पूरा उतरना; टिकना; यथा 'सहज एकाकिन्ह कें भवन कबहुँ कि नारि खटाहिं। १।७९।'

† अर्थान्तर—(१) नाना व्यक्तियोंमें टिकाऊ हो जाय। अर्थात् शान्त, निरपेक्ष, ज्ञानी, वैराग्यवान, तपस्वी, योगी तथा सिद्ध मानने योग्य हो जायगा।' (वीर)। वे लिखते हैं कि 'खटाइ' शब्द देशभाषाका है। इसके पर्यायी शब्द—खटनेवाला, टिकनेवाला, खटाऊ, टिकाऊ, पायदार इत्यादि हैं। 'कस' शब्द फारसी भाषाका है, इसके पर्यायी शब्द व्यक्ति, मनुष्य, साथी और मित्र आदि हैं।" (वीर)।

(अर्थात् सर्वदा सब देश-काल-अवस्थाओंमें एकसा) पक्का नियमवाला हो जाय †। तुलसीदास! यह तभी हो सकता है जब वे समर्थ भगवान् कृपा करें जिन्होंने दशशिरवाले रावणका वध किया है।३।

नोट—१ इस पदमें मेरी समझमें विचारण भूमिका और मनोराज्य भूमिकाका संमिश्रण है।

२ श्रीरामजीके चरणोंमें "कैसा आदर्श प्रेम होना चाहिए? किस आचरणसे श्रीरामजी भक्तके अधीन हो जाते हैं? श्रीरामचरणारविन्दमें स्वाभाविक प्रेम होनेपर क्या-क्या गुण प्राप्त हो सकते हैं?"—यह बताते हुए फिर इन गुणों, इस मनोराज्यकी प्राप्ति श्रीरामकृपासाध्य ही बताई है।

३ श्रीशिवप्रकाशजी (डु०)का मत है कि इस पदमें दो प्रकारके अर्थ निकलते हैं।—एक साधनपक्षके, दूसरे सिद्ध पक्षके।

४ प्रारंभ 'जौं' से हुआ है, इसकी जोडका 'तौ' कहाँ लगेगा ? 'तौ' की स्थितिके अनुसार भावार्थमें कुछ भेदभी पड़ जाता है।

टिप्पणी—१ 'देह गेह सुत वित कलत्र ' इति। इनमें स्वाभाविकही सबका प्रेम होता है, किसीको सिखाना नहीं पड़ता कि इनसे प्रेम करो, पूर्व जन्मोंके अभ्याससे इनमें स्वतः प्रेम होता है। इनका ममत्व पूर्व कह भी आये हैं। यथा 'सुत-वित-दार-भवन-ममता-निसि सोवत अति न कबहुँ मति जागी।१४०।', 'अवनि रवनि धन धाम सुहृद सुत को न इन्हहिं अपनायो।२००।', 'जिय जब तें हरि तें बिलगान्यो। तब ते देह गेह निज जान्यो।१३६।'

सू० शुक्ल—शृङ्गार, करुणा, शान्त, हास्य, वीर, अद्भुत, भयानक, वीभत्स और रौद्र ये नवो रस स्त्री,पुत्र, घर,धन और देहादिमें जुदे-जुदे आसक्त होनेसे सुख और दुःख उत्पन्न करके जीवात्माको बाँधते हैं और यही सबरसकी भावना ज्ञानदृष्टिसे केवल भगवान्‌में लगा दी जाय तो कल्याणदायी हो जाती है।

---

(२) 'विपयोंसे विरक्त खटाइयोंमें अनेक कस-सा मिल जावे तो' (सू.शुक्ल.) 'जैसे खट्टी चीजमें एकही जगह अनेक रसोंका कस (सार भाग) (खट्टा, मीठा, नमकीन, कडुवा, तीता, कसैला) मिल जानेसे अधिक रोचक हो जाते है।" (सू० शुक्ल०)।

(३) विविध प्रकारकी परीक्षाओंमें उत्तीर्ण हो जाय, कसौटीपर खरा उतरे। (दीन०, वि०, श्री० श०)। (४) 'जैसे खटाई और नाना कस' (ह०, डु०)।

☞ उपर्युक्त पद्यार्थमें दिया हुआ अर्थ वै०, पं० रा० कु०, डु०, भ०, ह० और पो० के अनुसार है।

† अर्थान्तर—१ दृढ़ भक्ति और प्रेमकी प्राप्ति हो जायगी और वह अविचल भावसे अपने नियमोंका पालन करेगा।(दीन)। २-भक्ति और प्रेम दृढ़ हो जायँगे और उसके नियम त्रिकालाबाधित सदा एक-से रहेंगे। (वि०)।

भ० स० (कु०)—१ 'जैसी स्वभाविक प्रीति देह–गेहादिमें है वैसी श्रीरघुनंदनजीमें लगे'— यह जिज्ञासुको उपदेश है। २ सिद्धपक्षका अर्थ— जिनका मन रामचरणमें लग गया है, उनको वेही चरण देहरूप, गेहरूप इत्यादि है। अन्य लोगोंका यत्न अपने शरीरके लिये होता है, (यथा 'जिमि अविवेकी पुरुष सरीरहि'), इसी तरह जीवन्मुक्तोंका सब कर्तव्य भगवान्के लिये होता है। विषयी जीवोंका घर विश्रामके लिये होता है, वैसेही भगवद्भक्तोंका विश्राम भगवच्चरणोंमें रहता है। अर्थात् भगवत्-चरणमें समर्पण होतेहैं। 'मैं कर्त्ता', 'मैं भोक्ता' यह बुद्धि उनमें नहीं होती। ससारी जीवोंके प्रेम और ममत्वकी सीमा पुत्रपर है, जीवन्मुक्तोंका प्रेम पुत्रसे भी अधिक श्रीचरणोंमें होता है। वित्त संसारी जीवोंको भोगके लिये तथा विपत्तिमें सहायक होता है। श्रीरामानुरागीको वे चरणही भोगरूप और सहायक है। जैसे कामीको स्त्री प्रिय, वैसेही सिद्धोंको श्रीचरणरूप स्त्रीमें रमण और सुख है, अन्य किसीमें नहीं। तात्पर्य कि सिद्ध भक्त चरणरूप देह-गेहादिमें एकरस स्थित हैं, उसी निष्ठामें डूबे रहते हैं। 'विनु जतन किये जस' अर्थात् यद्यपि उनको यशकी चाह नहीं, तो भी बिना यत्न किये ही लोक उनका यश गाता है। ('जस' का 'यश' अर्थ उन्होंने इस पक्षमें किया है। दूसरा अर्थ 'जैसा' तो 'अस' के सबधसे स्पष्ट है ही)।

नोट—५ भगवद्भक्तका यह लक्षण बताया गया है। अविवेकी मनुष्योंका (स्त्री, पुत्र, देह, गेह आदि) विषयोंमें जैसा प्रेम होता है, उससे सौ-कोटिगुणी प्रीतिका विस्तार वे भगवान्के प्रति करते है। यथा 'विषयेष्वविवेकानां या प्रातिरुपजायते। वितन्वते तु तां प्रीतिं शतकोटिगुणां हरौ।' (स्कद० वै० उ० १८। १०४-१०५)।— यह नारदजीने इन्द्रद्युम्न महाराजसे बताया है। वैसाही विचार यहाँ प्रार्थीने प्रकट किया है। और भी जो मनोराज्य इस पदमें कथित है वे सब वैष्णवके लक्षण हैं।

टिप्पणी—२ 'द्वंदरहित गत-मान ज्ञानरत' ' इति। (क) द्वन्द्व, मान और विवेकहीनता आदि पूर्व अपनेमें दिखा आये हैं। यथा 'तुलसिदास मतिमद द्वंदरत कहै कौन विधि गाई। ६२।', 'मान मनभंग। ६०।', 'कबहुँक हों एहि रहनि रहोगो। बिगत मान सम सीतल मन परगुन नहिं दोष कहोंगो। १७२।' (इसमें भी मानरहित होनेकी लालसा कर रहे हैं), 'जनम अनेक विवेकहीन बहु जोनि भ्रमत नहि हार्‌यो। २०२।', 'ज्ञान बिराग भगति साधन कछु सपनेहु नाथ न मेरे। १८७।', 'यों मन कबहुँ तो तुम्हहिं न लाग्यो। ज्यों छल छाड़ि सुभाय निरंतर रहत विषय अनुराग्यो। १७०।'— अतएव इनसे उपराम चाहते है, विचार करते है कि द्वन्द्वरहित, मानरहित तथा ज्ञानरत हो जाता और सब विषय नीरस होजाते। 'द्वन्द्वरहित गत-मान' अर्थात् सुख-दुःख,

भला-बुरा; मान-अपमान आदि रहित हो जाय, इन सबोंमें समान बुद्धि हो जाय। यथा 'दुख सुख अरु अपमान बड़ाई। सब सम लेखहि बिपति बिहाई। १२६।', 'निंदा अस्तुति उभय सम ममता मम पदकंज। ते सज्जन मम प्रान-प्रिय। ७।३८।' मान ज्ञानका बाधक है, इसीसे 'गतमान' कहकर तब 'ज्ञान-रत' कहा। यथा 'ज्ञान मान जहँ एकउ नाहीं। देख ब्रह्म समान सब माहीं। ३।१५।७।' इस तरह 'ज्ञानरत' से जनाया कि सबमें अपने प्रभु श्रीरामजीका दर्शन करता रहे। 'विषय विरत ''' के भाव पद्यार्थ और उसकी पाद-टिप्पणीमें आ चुके हैं।

[ढु०, भ० स०— साधनपक्षमें भाव यह है कि 'अरे जीव! यदि तू द्वन्द्व-रहित आदि गुणोंसे संपन्न हो जाय तो सुखनिधान सुजान श्रीराघव वशमें हो जायँगे। सिद्धपक्षका अर्थ— श्रीरामानुरागीको द्वन्द्व स्वयं छोड़ देते हैं, मान जाता रहता है, विषयोंसे स्वतः वैराग्य हो जाता है और ज्ञान आदि जो बड़े साधन हैं वे, यह सोचकर कि ऐसे महात्माको छोड़कर अन्यत्र कहाँ जायँ, स्वतः रामानुरागीका सेवन करते हैं।]

२ (ख) 'सुखनिधान सुजान कोसलपति '' इति। श्रीरामजी सुखसागर, आनंदनिधि और सुजान हैं। यथा 'राम सहज आनंदनिधानू। २।४१।१', 'जानसिरोमनि कोसलराऊ। १।२८।१०।' वे बिना कहे ही सबके भीतर-बाहर-की जानते हैं; यथा 'राम सुजान जान जन जी की। २।२०४।४।', 'आरत लोग राम सबु जाना। करुनाकर सुजान भगवाना॥ जो जेहि भायँ रहा अभि-लाषी। तेहि-तेहि कै तसि तसि रुख राखी। ७।२४४।' सुजान हैं और दानि-शिरोमणि राजा हैं; अतएव भक्तके भावको जानकर उसकी रुचिका पालन करते हैं, प्रसन्न होकर ऐसे भक्तके अधीन हो जाते हैं। 'सुखनिधान हरि एक'— २०३ (१६ क) तथा 'हरि सुखनिधान भगवान' २०३ (१ घ) देखिए।

३ 'सर्वभूतहित निर्व्यलीक चित ' इति। (क) इसके विपरीत आचरण पूर्व दिखा आये हैं। यथा 'जानतहूँ मन बचन करम पर-हित कीन्हे तरिये। सोइ बिपरीत देखि परसुख बिनु कारन ही जरिये। १८६।', 'काय बचन मन सपनेहुँ कबहुँक घटत न काज पराएं। २०१।', 'पर उपकार सार श्रुतिको सो सो धोखेहुँ मैं न बिचार्‍यो। २०२।', 'कपट करौं अंतरजामिहुँ सों अघ-व्यापकहिं दुरावौं। १७१।', 'जितो दुराउ दास तुलसी उर क्यों कहि आवत ओतो। १६१।', 'एकौ पल न कबहुँ अलोल चित हित दै पद सरोज सुमिरौं। १४१।' अतः इन गुणोंकी लालसा है। पूर्वभी ऐसा मनोराज्य दरसाया गया है। यथा 'कबहुँक हौं एहि रहनि रहौंगो। ' परहित-निरत निरंतर मन क्रम बचन नेमु निबहौंगो। १७२।', 'स्याम रूप सुचि रुचिर कसौटी चित कंचनहिं कसैहौं। १०५।' भग-

वानको कपट नहीं भाता, वे निर्व्यलीक हृदयमें निवास करते हैं। यथा 'मोहिं कपट छल छिद्र न भावा। ५।४४।५।', 'मिलहिं न राम कपट लय लाये। १२६।' 'निर्व्यलीक मानस गृह संतत रहे छाई। गी० ७।३।'

३(ख)'भक्ति प्रेम दृढ़ नेम एकरस'—पूर्वभी इससे मिलतीजुलती लालसा प्रकट कीथी; यथा 'मन मधुपहि पनु कै तुलसी रघुपति-पद-कमल बसैहौं। १०५।', 'चितु कहै रामसीय-पद परिहरि अब न कहूँ चलि जैहौं। १०४।' 'तुलसिदास प्रभु एहि पथ रहि अबिरल हरिभक्ति लहौंगो। १७२।' भक्तिका निरन्तर दृढ़तापूर्वक नियमसे एकरस निर्वाह होना चाहिए,जो क्षणमे चढ़ै,क्षणमे उतरजाय वह प्रेम प्रेम नहीं।—'करि प्रेम निरंतर नेम लिये। पदपंकज सेवत सुद्ध हिये।७।१४।'

नोट—६ वैष्णवोंका यह लक्षणभी नारदजीने बताया है। यथा '' परिणामसौख्यदा हि। भगवति सतत प्रदत्तचित्ताः प्रियवचसः खलु वैष्णवाः प्रसिद्धाः।' (स्कं० वै० उ० १०।११-१२)। अर्थात् जो परिणाममें सबको सुख देते हैं, भगवान्में सदा मन लगाये रहते है तथा प्रिय वचन बोलते है—वेही वैष्णवके नामसे प्रसिद्ध है।

टिप्पणी--४ मनको किस प्रकार श्रीरामजीके चरणोंमें लगना चाहिए, यह 'देह गेह सुत०' से लेकर 'भक्ति प्रेम दृढ़ नेम एकरस' तक बताया। इस प्रकार मनका लग जाना क्रियासाध्य नहीं है, अपने पुरुषार्थसे संभव नहीं है,—यह 'तुलसिदास यह होइ तबहिं जब द्रवै ईस जेहि हते सीसदस।' से बताया। दशशीश रावणको मारनेमें कोई समर्थ न हुआ, उसको श्रीरघुनाथजीने ही मारा। यथा 'सकुल लंकेस दससीस भुजबीस हारी।५०।' दशशीश रावणको मोह एवं महामोहसे रूपित कर आये हैं; यथा 'मोहः दसमौलि। ५८ (४)।', 'महामोह रावन बिभीषन ज्यों हयो हों।१८१।' और वहाँ मोहरूपी रावणसे रक्षाकी प्रार्थना भी की थी; यथा 'त्राहि तुलसीस त्राहि' (१८१), 'देहिं अवलंब कर-कमल कमलारमन '' ' (५८)। देह-गेह आदिमें आसक्ति, द्वन्द्व, मान, भेद-बुद्धि, आदि सब मोहसे उत्पन्न होते हैं। मोहका नाश करनेमें एकमात्र आप ही समर्थ हैं; अतः आपही कृपा करके मेरे मोहका नाश करके मेरे मनको अपने चरणोंमें उपर्युक्त रीतिसे लगा लें।—यह आन्तरिक प्रार्थना इस चरणमे सूचितकीगईहै।

श्रीरघुनाथजीकी कृपासे उपर्युक्त दोषोंका नाश और सद्गुणो तथा अविरल प्रेमभक्तिकी प्राप्ति भी हो जाती है। इसीसे श्रीनारद,श्रीसनकादिक और भगवान् शंकर आदि कृपा द्वारा दोषोंके नाश आदिकी प्रार्थना करते आये हैं। यथा 'मामवलोकय पंकजलोचन। कृपा-विलोकनि सोच बिमोचन ।।''''कारुनीक व्यलीक-मद-खंडन।''' तुलसिदास प्रभु पाहि प्रनत जन। ७।५१।', 'ज्ञाननिधान अमान मानप्रद।''''द्वंदविपति भवफंद बिभंजय। हृदि बसि राम काम

सद गंजय ॥ परमानंद कृपायतन मन परिपूरन काम । प्रेमभगति अनपायनी देहु हमहिं श्रीराम।७।३४।'-और उन्हें अभीष्ट मिला भी; यथा-'ब्रह्मभवन सनकादि गे अति अभीष्ट बर पाइ ।७।३५।'; 'रघुनंद निकंदय द्वन्द्व घनं । महिपाल बिलोकय दीन जनं ॥ बार बार बर मागउँ हरषि देहु श्रीरंग । पदसरोज अनपायनी भगति सदा सतसंग ।७।१४।' (यह श्रीउमापतिजीने माँगा है) ।

प्रार्थीने भी पद १७० में 'यो मन कबहुँ तो तुम्हहि न लाग्यो । ज्यों छल छाँड़ि सुभायं निरंतर रहत बिषय अनुराग्यो ।' आदि कहकर प्रभुके चरणोंमें मनके इस प्रकार लगा देनेमें प्रभुकी कृपाकी ही चाह प्रकट की है। यथा 'है तुलसिहि परतीति एक प्रभु मूरति कृपामई है ।'

५ 'जब द्रवै ईस' इति । भगवान् द्वन्द्वभंजन, ज्ञाननिधान, व्यलीकमदखंडन इत्यादि हैं, अतः वे स्वयं जनके द्वन्द्व आदिको नष्ट करते और अविरलभक्ति प्रदान कर देते हैं । अथवा कृपा करके अपने संतोद्वारा यह सब कर देते हैं, जैसा पद १३६ में कह आये हैं । यथा 'जब द्रवै दीनदयाल राघव साधु संगति पाइये। ... जिनके मिलें दुख-सुख समान अमानतादिक गुन भये। मद मोह लोभ विषाद सुबोध तें सहजहिं गये। सेवत साधु द्वैत भय भागे। श्रीरघुनाथचरण लय लागे।। देहजनित बिकार सब त्यागे ।'

ड़ु०, भ० स०—मुमुक्षुको साधनपक्षमें उपदेश है कि समस्त जीवमात्रमें हित-बुद्धि करे, चित्त निर्व्यलीक अर्थात् मिथ्यासे रहित करे और दृढ़तापूर्वक प्रेमाभक्तिका एक-समान नियम ग्रहण करे। पर यह सब श्रीरामकृपासे होता है। सिद्धपक्षका अर्थ—जो रामानुरागी जीवन्मुक्तस्वरूप हैं, सर्वभूत उनके हित होते है । अर्थात् जब वे सर्वत्र ईश्वरके अतिरिक्त कुछ और देखते ही नहीं तब विरोध कौन करेगा ? जैसे भक्तमालमें नामदेवजी और भूतोंका प्रसंग है कि भूतोंके शरीरसे ही प्रकट होकर भगवान्‌ने उनको दर्शन दिये । उन महात्माओंके चित्त-को मिथ्यापना स्वयं ही छोडकर भाग जाता है और उनके हृदयमें प्रेमाभक्ति एकरस दृढ होकर सदा निवास करती है । परन्तु यह जीवन्मुक्त दशा ईश्वरकी अनुग्रहका फल है और फल तब होता है जब जीव कुछ करनी करे । क्या करनी करे?—यह 'जेहि हते सीसदस' मेंही बता दिया । जिसने दशशीशको मारा । अर्थात् जिस जीवने प्रथम साधन अवस्थामें दश (इन्द्रियों) का मस्तकरूप मनकी विषय संबंधी वृत्तिका नाश किया। तात्पर्य कि जिसने इन्द्रियों और मनको सांसारिक विषयोंसे फेरकर उन्हें परमेश्वरके सम्मुख कर दिया है, उसपर परमेश्वरकी कृपा होती है और उसे जीवन्मुक्तकी दशा प्राप्त हो जाती है ।

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु ।

२०५

जौं मन भज्यो चहै हरि सुरतरु ।
तौ तजि विषय बिकार सार भजु[1] अजहूं[2] जो[3] मैं कहौं[4] सोई करु।१
सम संतोष बिचार बिमल अति सतसंगति ये[5] चारि दृढ़ करि धरु।
काम क्रोध अरु लोभ मोह मद राग-द्वेष निसेष[6] करि परिहरु।२
श्रवन कथा मुख नाम हृदय हरि सिर प्रनाम सेवा कर अनुसरु।
नयनन्हि[7] निरखि कृपा-समुद्र[8] हरि अगजगरूप भूप सीताबरु।३
इहै भगति बैराग्य ज्ञान यह हरितोषन यह सुभ ब्रत आचरु।
तुलसिदास सिवमत मारग यहि[9] चलत सदा सपनेहुँ[10] नाहिं डरु।४

शब्दार्थ—सुरतरु = देवताओंका वृक्ष; कल्पवृक्ष। विकार = प्रवृत्ति, आसक्ति; वासना। भजना = सेवन करना। सार = सर्वप्रधान तत्त्व। यथा 'देखु बिचारि सारु का साँचो'। २००।' सम (शम) = शान्ति; इन्द्रियनिग्रह। सम = समताका भाव। (संतोषके साहचर्यसे यह अर्थ किया गया)। धरु = धारण कर; ग्रहण कर; पकड़। निसेष करि = निःशेष करके; कुछ भी अंश न बचाकर अर्थात् पूर्णरूपसे सर्वथा निर्मल करके। अनुसरु = कर। अग-जग = चर-अचर; चराचर। बरु (वर) = दूल्हा; पति। तोषन = संतुष्ट अर्थात् प्रसन्न करनेवाला। व्रत = किसी कामके करनेका दृढ़ संकल्प। आचरना = आचरण वा व्यवहार करना; साधना; अनुष्ठान करना। मत = निश्चित किया हुआ सिद्धान्त। मारग (मार्ग) = रास्ता।

पद्यार्थ—रे मन! यदि तू हरिरूपी कल्पवृक्षका सेवन करना चाहता हो, तो विषय विकारोंको त्यागकर 'सारतत्त्व' को भज, अब भी जो मैं कहूँ वही कर।१। समता भाव, संतोष, अत्यन्त निर्मल विचार और सत्सग—इन चारोंको दृढ़ता-

---

१ भजि—रा०, ह०। भजु०—प्रायः औरोंमे। २ आजुहि तें—रा०। अजहुं ते—भा०, वे०, ह०, ज०। अजहूं ते—प्र०, १५। अजहूं—५१, ७४, आ०। ३ मैं जोइ—ह०। ४ कह्यौ—भा०, ज०। ५ ए (ये) चारि—रा०, भा०, वे०, आ०। चारिहु—७४, मु०। चारु—ह०। ६ निःशेष—५१, मु०। बिसेषि—१५। बिसेष—ज०। निसेष—रा०, भा०, वे०, ह०, आ०। ७ नयन—रा०, ह०। नयनन-भा०, वे०, आ०। नयनन्हि—७४। नयननि—प्र०। ८ समुद्रहि—रा०। समुद्र हरि—प्रायः औरोंमें। ९ एहिं—रा०। यहि—मु०, भ०, दीन, वि०। यह—प्रायः औरोंमे। १० सपने—भा०, वे०, मु०, दीन।

पूर्वक पकड़ (अर्थात् इन्हें सदा बरतता रह, कभी ये छूटने न पावें)। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, राग और द्वेषको सर्वथा पूर्णरूपेण त्याग दे।२। कानोंसे (हरि) कथा (सुन), मुखसे नाम (रट), हृदयमें हरि (को धर, ध्यान कर), सिरसे प्रणाम और हाथोंसे सेवा कर। नेत्रोंसे दयासागर, दुःखोंके हरनेवाले चराचर-रूप श्रीसीतापति राजा रामचन्द्रजीका दर्शन कर।३। यही भक्ति है, यही वैराग्य है, यही ज्ञान है, यह भगवानको सन्तुष्ट (प्रसन्न) करनेवाला व्रत है। तू इस कल्याणकारी व्रतका अनुष्ठान कर। तुलसीदासजी कहते हैं कि यह श्रीशिवजी-का निश्चित किया हुआ सिद्धान्त है। इस मार्गपर सदा चलते हुए स्वप्नमें भी भय नहीं है।४।

नोट—१ इस पदमें साधकको भजनकी रीति और भगवानकी प्रसन्नताके आचरणका उपदेश मिलता है।

टिप्पणी—१ 'जौं मन भज्यो चहै ···' इति। (क) 'जौं' का भाव कि तुझे शिक्षा तो कई बार दे चुका हूँ, पर तू सुनता ही नहीं। यथा 'तुलसिदास सब भाँति सकल सुख जो चाहसि मन मेरो। तौ भजु राम काम सब पूरन करै कृपा-निधि तेरो।१६२।' (इस उद्धरणमें 'हरि सुरतरु' का भी एक भाव आ गया कि वे सकल कामनाओंके पूर्ण करनेवाले हैं). 'दुरलभ देह पाइ हरिपद भजु।१९८।', 'तुलसिदास हरि भजहि आस तजि ।१९९।' तथा 'भजहि न अजहुँ समुझि तेहि जेहि महेस मनु लायो।२००।' पूर्व यह कहा था कि महादेवजीभी इन्हींमें लौ लगाये रहते हैं और प्रस्तुत पदमें बताते हैं कि श्रीशिवजीके मतमें जो भजन की रीति है, वही मैं कहता हूँ, उसके अनुसार भजन कर।

१ (ख) 'हरि सुरतरु'—कल्पवृक्ष कहकर जनाया कि वे सबको सम्मुख हैं, जो भी उनके पास जाय। यथा 'देउ देवतरु सरिस सुभाऊ। सनमुख बिमुख न काहुहि काऊ ॥२।२६७।८। सुरतरुको पहचानकर उसके तले जाय तभी शोच-को वह शमन करता और अभिमत प्रदान करता है। हरिसुरतरुको पहचानने और उनके निकट जानेसे सब शोच मिट जाते हैं और सब कामनायें पूर्ण होती हैं। यथा 'जाइ निकट पहिचानि तरु छाँह समनि सब सोच। मागत अभिमत पाव जग राउ रंक भल पोच।२।२६७।', 'भक्तान् भजते यथा तथा सुरद्रुमो यद्-द्रुपाश्रितोऽर्थदः। भा०१०।३८।२२।' [अर्थात् जैसे कल्पवृक्ष अपने आश्रित (निकट आकर याचना करनेवालेको) मुहँमाँगी वस्तु देता है, वैसेही भगवान्को जो जिस प्रकारसे भजता है वे उसे उसी रूपमें भजते हैं], 'स्वामीको सुभाउ कह्यो सो जब उर आनिहैं। सोच सकल मिटिहैं राम भलो मनिहैं।१३५।', 'भजु राम काम सब पूरन करै०।१६२।', 'सकल काम पूरन करै जानै सब कोइ।१०८।'

☞ हरि-सुरतरुकी पहचान, उनके निकट जाना और सेवन कैसे हो—यह आगे बताते हैं।

१ (ग) 'तौ तजि विषय विकार '—विषयविकारको त्यागकर 'सार' को भजनेको कहनेसे सूचित हुआ कि 'विषयविकार' सार नहीं हैं, वरंच निस्सार है। पूर्व भी कहा है—'अवनि-रवनि-धन-धाम-सुहृद-सुत कौं न इन्हहिं अपनायो। काके भये गये संग काके सब सनेह छल छायो।' देखु बिचारि सारु का साँचो कहा निगम निजु गायो।२००।'

'विषय-विकार' का अर्थ 'विषयवासना, विषयविलास, विषयासक्ति' तथा 'विषयरूप विकार; विषय जो विकाररूप है' दोनों प्रकार हो सकता है। विषय विकाररूप है, यथा 'दोषनिलय यह विषय सोकप्रद कहत संत श्रुति टेरे। १८७।', 'विषयहीन दुख मिलें विपति अति सुख सपनेहुं नहिं पायो। १९९।' विषयवासना भी दुःखदाई और निस्सार है; यथा 'अजहुँ बिषय कहुँ जतन करत यहु जद्यपि बहु विधि डहँकायो। पावक-काम भोग घृत तें सठ कैसेंव परत बुझायो। १९९।' इसका त्याग कहा, क्योंकि 'जब लगि विषय आस मन माहीं। तब लगि जगजोनि भ्रमत सपनेहु सुख नाहीं। १२३।'

१ (घ) 'सार भजु'— 'सार' का अर्थ है 'अशेषकारणपर', जो परम कारण-काभी कारण है, सर्वप्रधान तत्व है, वेद पुराण ऋषि-मुनि आदि सभीने जिसे ऐसा सिद्धान्त किया है। पं० रामकुमारजीका मत है कि 'सम संतोष विचार विमल अति सतसगति' जो आगे कहा है, यही 'सार' है। वे लिखते है कि योग वासिष्टमे ऐसा ही कहा है।– पद २०० (४ क) भी देखिए। वहाँ बता आये है कि श्रीरामपदारविन्दमे भक्तिभावका बढ़ाना ही ससारमे सार है।

१ (ङ) 'अजहूँ' अर्थात् अबभी मान जा, तो कुछ गया नहीं है, बिगड़ी सुधर सकती है। 'अजहुं सुमिरि रघुनाथहि' ८३ (६ ख), 'अजहुँ समुझि ' १२५ (२ क) देखिए।

२ 'सम संतोष विचार ' इति। (क) ये चारो भवतरणोपाय कहे गए है। यथा ''सन्तोषः साधुसङ्गश्च विचारोऽथ शमस्तथा। एत एव भवाम्भोधावुपायास्तरणे नृणाम्॥ सन्तोषः परमो लाभः सत्सङ्गः परमा गतिः। विचारः परमं ज्ञानं शमो हि परमं सुखम्॥ (वसिष्ठदर्शन मुमुक्षु व्यवहार प्रकरण श्लोक १०९, ११०)। 'एकोऽप्येकोऽपि सर्वेषामेषां प्रसवभूरिह। सर्वसंसिद्धये तस्माद्यत्नेनैकं समाश्रयेत्॥' अर्थात् मनुष्योंको भवसागर तरनेके लिये सन्तोष, सतोंका संग (सत्संग), विचार और शम ये ही उपाय हैं। सतोष परम लाभ है, सत्संग परम गति है, विचार परम ज्ञान है और शम (शान्ति, इन्द्रियनिग्रह) परम सुख है। ये एक-एकभी अन्य सबोके उत्पन्न करनेवाले है। अतः इन सबोकी सिद्धिके

लिये इन्हें यत्नपूर्वक ग्रहण (अभ्यास) करना चाहिए।

प्रस्तुत पदका 'ये चारि दृढ़ करि धरु' उपर्युक्त उद्धरणका 'य.नेनैकं समाश्रयेत्' है। इनको दृढ़तापूर्वक ग्रहण करनेका कारण भी श्लोकमें बता दिया गया है। इन चारोंकी चर्चा पद १२१ में भी आई है। वहाँ बताया है कि सम, संतोष, दया और विवेकसे व्यवहार करनेसे यह भयंकर संसार भी सुखकारी हो जाता है और सत्संग तथा रघुपतिभक्तिसे भवत्रासका नाश हो जाता है। यथा 'अनविचार रमनीय सदा संसार भयंकर भारी। सम संतोष दया विवेक तें व्यवहारी सुखकारी।। "रघुपतिभगति संत-संगति बिनु को भवत्रास नसावै।१२१।'

[वै०— जब तक मनमें विषमता, चित्तमें चाह, बुद्धिमें मन्दता और अहंकारमें ममता बनी है, तबतक इन्द्रियाँ विषयोंका त्याग कैसे कर सकती हैं? इसीके लिये साधन बताते हैं कि सम आदिको दृढ़तापूर्वक हृदयमें धर। समतासे मनकी विषमता मिटेगी, संतोषसे चित्तमें चाह न रहेगी, अति विमल विचारसे बुद्धिकी मन्दता और सत्संगसे अहंकारकी ममता नष्ट हो जायगी। सम-संतोषादि दृढ़ कैसे रहेंगे, इसका उपाय उत्तरार्धमें कहते हैं]

२ (ख) 'काम क्रोध अरु लोभ ' इति। कामादिका त्याग कठिन है; यथा 'मिले रहैं मार्‌यो चहैं कामादि सँघाती। मो बिनु रहैं न मेरियै जारैं छल छाती।।''' बड़े अलेखी लखि परे परिहरे न जाहीं। १४७।' ये बड़े-बड़े विज्ञानियों मुनियोंके मनमें भी अलक्ष्य सूक्ष्म रूपसें बने रहते हैं,— 'हहिं सबके लखि बिरलेन्ह पाये। ७।१२२।' यहाँ निसेष करि परिहरु' से सूचित किया कि ये विकार जड़मूलसे न रहने पावें, नहीं तो यह किया-कराया सब साधन क्षण भरमें मिट्टीमें मिला देंगे। पूर्व प्रार्थीने अपनी दशा कही है कि 'हौं निज उर अभिमान मोह मद खलमंडली बसावौं। १४२(५)।'; इसीसे यहाँ संपूर्ण खल-मडलीको निःशेषकर त्यागनेका उपदेश करते हैं। ये रंचकमात्र न रहनें पावें। पद १२५ में भी कहा है— 'मम हृदय भवन हरि तोरा। तहँ बसे आइ बहु चोरा।। तम मोह लोभ अहँकारा। मद क्रोध बोध रिपु मारा।।' राग-द्वेष आदि सब विकार हरिसेवाके बाधक हैं, इसीसे श्रीसुमित्रा अंबाने पुत्रको उपदेश किया है कि स्वप्नमें भी इनके कभी वशमें न होना, इनका सर्वथा त्याग किये हुये सेवा करना। यथा 'राग रोष इरिषा मद मोहू। जनि सपनेहु इन्हके बस होहू।। सकल प्रकार बिकार बिहाई। मन क्रम-बचन करेहु सेवकाई। २।७५।' किंचित् भी अंश यदि इनका रह गया तो कभी-न-कभी विषय-कुपथ्य पाकर अंकुरित हो आयँगे।

[जबतक इन दुर्गुणोंका निवास लेशमात्रभी रहेगा, तबतक उपर्युक्त सद्गुणोंकी वहाँ दाल गलनेकी नहीं; कामकांचनके आगे धर्म कर्मका निर्वाह नहीं

हो सकता। (वि०)। वैजानाथजीका मत है कि रागद्वेष, किसीसे प्रीति किसीसे विरोध, यह कामादि सबका कारण है; इसीसे इसे विशेषकर छोड़नेको कहते हैं]

३ 'श्रवन कथा मुख नाम ' इति। (क) इन्द्रियाँ अपना विषय चाहती हैं; वे खाली बैठी नहीं रह सकतीं। अतएव उन सबोंको उनके अनुकूल क्या विषय दिये जायँ, यह यहाँ बताते हैं। पूर्वभी इससे मिलताजुलता कहा गया है, अतः मिलानके लिये कुछ अंश उद्धृत किये जाते हैं—"देखु रामसेवक सुनि कीरति रटहि नाम करि गान गाथ। हृदय आनु धनु-बान-पानि प्रभु लसे मुनिपट कटि कसे भाथ॥ तुलसिदास परिहरि प्रपंच सब नाउ रामपदकमल माथ।८४ (३-४)।", "श्रवनन्हि और कथा नहि सुनिहौ, रसना और न गैहौं। रोकिहौ नयन बिलोकत औरहिं, सीसु ईस ही नैहौं। १०४ (३)।", 'जपु नाम करहि प्रनाम कहि गुन-ग्राम रामहिं धरि हियें। बिचरहि अवनि अवनीस-चरन-सरोज मन मधुकर किये। १३५ (५)।"

इसके विपरीत आचरण प्रार्थीने पद १४२ में दिखाये है। यथा 'जानतहूँ हरिरूप चराचर मैं हठि नयन न लावौं। अंजनकेससिखा जुवती तहँ लोचन सलभ पठावौं॥.... तिन्ह श्रवनन्हि परदोष निरंतर सुनि-सुनि भरि-भरि तावौं॥ तेहि मुख पर-अपवाद भेक ज्यों रटि रटि जनम नसावौं॥ १४२ (२-४)।' और आगेभी कहा है—'निसि दिन पर-अपवाद-कथा कत रटि-रटि राग बढ़ावहि॥', 'काम-कथा कलि-कैरव-चंदिनि सुनत श्रवन दे भावहि। तिन्हहिं हटकि कहि हरिकी कीरति करन कलंकु नसावहि।२३७।'

☞ उपर्युक्त उद्धरणोंके अनुसार 'श्रवन कथा' 'का भाव यह है कि परदोष श्रवण, परनिंदा, सांसारिक 'विषयरस नाना', कामकथायें तथा प्रपंचोका सुनना छोड़कर भगवानकी कल कीर्त्ति, विपद गुणग्रामों; चरितोको सुन। सांसारिक प्रपंचों पर-अपवादकी कथाओका रटना, कथन करना छोड़कर रामनाम रट; नामकीर्त्तन कर। हृदयसे कामादि खलमंडलीको निकालकर उसमे धनुर्धारी श्रीरामको बसा। जो सिर दूसरोंके आगे झुकाता रहता है, (यथा 'कहा न कियो कहां न गयो, सीस काहि न नायो।२७६।'), उसको भगवानके प्रणाममे लगा दे। जिन हाथोसे 'सब भाँति कु-देव कुठाकुर सेये बपु बचन हिये हूँ' तथा 'चंदन चंदबदनि भूषन पट चहे परस्यो' (१७०), उनसे भगवान्की सेवा करके उन्हें सफल कर ले, ☞ नहीं तो ये हाथ मुर्देके हाथोंके समान ही हैं—'शावौ करौ' (भा० २।३।२१)।

३ (ख) 'नयनन्हि निरखि कृपा समुद्र ' इति। भाव कि जिन नेत्रोंसे तू परस्त्रियो आदिको देखता रहा (यथा 'ज्यों चितई परनारि।१७०।', 'अंजनकेस-सिखा '।१४२।'), उनको हरिके देखनेमें लगा। वे हरि कैसे हैं? क्योंकर उनका

दर्शन हो ? इत्यादि 'कृपासिंधु सीतावरु' से बताया। चर-अचर सबमें वे हैं; अतः चर-अचर सब उन्हींका रूप है, समस्त प्राणियोंमें उन्हीं अपने प्रभुको देखता हुआ उनकी सेवा करे। 'जानतहू हरिरूप चराचर मैं हठि नयन न लावौं' यह हठ छोड़कर सबमें उनको देखनेका उपदेश करते हैं। वे हरि कृपाके समुद्र हैं, जीवोंपर कृपा करनेके लिये वेही हरि अवतीर्ण होकर 'सीतावर' रूपसे चक्रवर्ती राजा हुए हैं। यथा 'कृपासिंधु जन हित तनु धरहीं।१।१२२।१।'

[श्री० श०—"श्रवन कथा '' 'इस चरणमें नवधाभक्ति,'नयनन्हि निरखि '' ' इस चरणमें नेत्रोंके दर्शनके साथ कृपा वात्सल्यादि गुणोंके अनुसंधानसे प्रेम-लक्षणा एवं पराभक्तिका वर्णन है। 'अगजगरूप' ' इस पदसे भक्तिकी पुष्टिके लिये उन्हें अगजगरूपसे पालन-पोषण करनेवाला कहकर उनके उपकारोंका लक्ष्य कराया गया है।"]

३ (ग) पाञ्चाल देशके राजा भूरियशाके पुत्र राजा पुण्यशाको भगवान्‌का दर्शन होनेपर उन्होंने इन्हीं सब तथा और भी आचरणोंकी याचना की है; अतः हम उसे यहाँ उद्धृत करते हैं।—"भूयान्मनः कृष्णपदारविन्दयोर्वचांसि ते दिव्यकथानुवर्णने। नेत्रे ममेमे तव विग्रहेक्षणे श्रोत्रे कथायां रसना त्वदर्पिते॥ घ्राणं च त्वत्पादसरोजसौरभे त्वद्भक्तगन्धादिविलेपनेऽसकृत्। स्यातां च हस्तौ तव मन्दिरे विभो सम्मार्जनादौ मम नित्यदैव॥ पादौ विभोः क्षेत्रकथानुसर्पणे मूर्धा च मे स्यात्तव वन्दनेऽनिशम्। कामश्च मे स्यात्तव सत्कथायां बुद्धिश्च मे स्यात्तव चिन्तनेऽनिशम्॥ दिनानि मे स्युस्तव सत्कथोदयैरुद्गीयमानैर्मुनिभिर्गृहागतैः। हीनः प्रसङ्गस्तव मे भूयात् क्षणं निमेषार्धमथापि विष्णो॥ न पारमेष्ठ्यं न च सार्वभौमं न चापवर्गं स्पृहयामि विष्णो। त्वत्पादसेवां च सदैव कामये प्रार्थ्यां श्रिया ब्रह्मभवादिभिः सुरैः।" (स्क० पु० वै० वैशाख मा० १६।२४-२८)। अर्थात् आत्मीय कहे जानेवाले पदार्थोंमें जो मेरी आसक्ति है. वह सदाके लिये दूर हो जाय। मेरा मन सदा आपके चरणारविन्दोंके चिन्तनमें लगा रहे, मेरी वाणी आपकी दिव्य कथाके निरन्तर वर्णनमें तत्पर हो,नेत्र आपके श्रीविग्रहके दर्शनमें, कान कथाश्रवनमें तथा रसना आपके प्रसादके आस्वादनमें प्रवृत्त हो। नासिका आपके चरणकमलोंकी तथा आपके भक्तोंके गन्धविलेपन आदिकी सुगन्ध लेनेमें, दोनों हाथ आपके मंदिरकी झाड़ू आदिकी सेवामें, दोनों पैर आपके तीर्थ और कथास्थानकी यात्रा करनेमें तथा मस्तक आपको निरन्तर प्रणाम करनेमें संलग्न रहे। मेरी कामना आपकी उत्तम कथामें और आपका अहर्निश चिन्तन करनेमें तत्पर हो। मेरे घरपर पधारे हुए मुनियों द्वारा आपकी कथाका वर्णन तथा आपकी महिमाका गान होता रहे और इसीमें मेरे दिन बीतें। एक क्षण तथा आधे पलके लिये भी ऐसा प्रसग न हो जो आपकी चर्चासे रहित हो। मैं

परमेष्ठी ब्रह्माका पद, चक्रवर्ती राज्य और मोक्षभी नहीं चाहता। केवल आ के चरणोंकी निरन्तर सेवा चाहता हूँ. जिसके लिये लक्ष्मीजी तथा ब्रह्मा औ शङ्कर आदि देवताभी सदा प्रार्थना किया करते है।

विनयपत्रिकामे प्रार्थी ने यत्र-तत्र लालसा, मनोराज्य अथवा मनको उपदे रूपमे अथवा प्रार्थना करते हुए इन आचरणोंकी चर्चा की है। यहाँ पुरुयश की याचनासे मिलान किया जाता है।

विनय	श्लोक २३
जौ मन लागै रामचरन अस। देह-गेह-सुत-वित-कलत्र महँ मगन होत बिनु जतन किये जस। २०४	१ 'प्रसीद देवेश जगन्निवास स्मृतिर्य स्यात्तव पादपद्मे। सक्तिः सदा गच्छ दारकोशपुत्रात्मचिह्नेषु गरोषु मे प्रभो 'भूयान्मनःकृष्णपदारविन्दयोः।२४।'
मुख नाम (२०५),	२ 'वचांसि ते दिव्यकथानुवर्णने।२४।'
नयनन्हि निरखि हरि	३ 'नेत्रे ममेमे तव विग्रहेक्षणे।२४।'
कथा श्रवन (२०५)	४ 'श्रोत्रे कथायां।२४।'
रामप्रसाद जूठनि लगि त्यों न ललकि ललचानी(१७०)	५ 'रसना त्वदर्पिते।२४।'
ज्यों नासा सुगंधरसबस त्यों न राम-प्रसाद-माल लगि ललचानी।(१७०)	६ 'घ्राणं च त्वत्पादसरोजसौरभे।२५।' 'त्वद्भक्तगन्धादिविलेपनेऽसकृत्।२५।'
सेवा कर अनुसरु (२०५)	७ 'हस्तौ तव मन्दिरे विभो सम्मार्जन मम नित्यदैव।२५।'
चंचल चरन " रामसीय-आश्रमनि चलतसपने न भये श्रमित अभागे।(१७०)	८ 'पादौ विभोः क्षेत्रकथानुसर्पणे।२६।'
सिर प्रनाम (२०५)	९ 'मूर्धा च मे स्यात्तव वन्दनेऽनिशम्।२
चहों न सगति सुमति सपति कछु रिधि-सिधि बिपुल बड़ाई।(१०३)	१० 'न पारमेष्ठ्यं नच सार्वभौमं न चाप स्पृहयामि।२८।'
हेतुरहित-अनुराग-नाथपद बढ़ो अनुदिन अधिकाई।(१०३)	११ 'त्वत्पादसेवां च सदैव कामये।२८।'

४ 'इहै भगति बैराग्य ज्ञान यह " ' इति। (क) 'इहै' अर्थात् जो कुछ ऊ हमने करनेको कहा है, भक्ति, वैराग्य और ज्ञान सब इतनेहीमे आगया। अ यही भगवानको प्रसन्न करनेवाला व्रत है। ऊपर ये अलग-अलग भी है पडते हैं। 'तजि विषय बिकार', 'काम क्रोध" परिहरु';— यह वैराग्य है। ' संतोष विचार बिमल अति " यह ज्ञान है; [योगवासिष्ठके अनुसार ये

पार करनेवाले हैं)। 'श्रवन कथा मुख नाम सीतावरू'— यह भक्ति है। वैराग्य और ज्ञानके आचरण जो कहे गये हैं, वे सब भक्तिके भी अंग हैं। यह अरण्य-कांडमें शबरीजीसे जो नवधाभक्ति कही गई है, उसमें 'प्रथम भगति संतन्ह कर संगा', 'सातवं सम मोहि मय जग देखा', 'आठव जथा लाभ संतोषा', 'नवम सरल सब सन छलहीना'— ये सब भक्तिके अंग ही कहे गए हैं। इसी प्रकार 'तृन सम विषय स्वर्ग अपवर्गा' आदि भी भक्तिके लक्षण कहे गये हैं। यह 'शुभ' व्रत है; अर्थात् मङ्गलदाता कल्याणकारी है। बैजनाथजी अर्थ करते हैं कि 'ज्ञान वैराग्य सहित यही भक्ति है'।

४ (ख) 'तुलसिदास सिव मत मारग ' इति। यह भजनकी रीति तुम्ही कहते हो, या इसका कोई प्रमाण भी है? इस संभवित शंकाका समाधान करते हैं कि यह शिवजीका मत है। 'शिव मत' के दो अर्थ हैं। एक यह कि शिवजीके समान दृढ़ व्रतधारी रामभक्त दूसरा हुआ नहीं; यथा 'शिव सम को रघुपति व्रत-धारी। बिनु अघ तजी सती असि नारी॥ पनु करि रघुपति-भगति देखाई। को शिव सम रामहि प्रिय भाई।१।१०४।' इतनाही नहीं वे रामभक्तिके कोठारी हैं; जिसपर वे कृपा करें वही भक्त हो जायँ। यथा 'कोउ नहि सिव समान प्रिय मोरें। असि परतीति तजहु जनि भोरें॥ जेहि पर कृपा न करहिं पुरारी। सो न पाव मुनि भगति हमारी।१।१३८।' जिनकी कृपा विना भक्ति नहीं मिलती, उनका यह मत है। श्रीशिवजीने श्रीपार्वतीजीसे कहा है कि श्रवणादि यदि हरिकथा आदिमें न लगें तो वे व्यर्थ हैं। यथा 'जिन्ह हरि कथा सुनी नहि काना। श्रवनरंध्र अहिभवन समाना।१।११३।२।'से 'जीह सो दादुर जीह समाना।' तक। उन्हींका वाक्य है—'उमा जे रामचरनरत,बिगत काम मद क्रोध। निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं विरोध।७।११२।'

दूसरा भाव कि यह 'शिव' अर्थात् कल्याणस्वरूप मत है। इससे अवश्य कल्याण होगा। इस मार्गपर चलनेसे स्वप्नमें भी डर नहीं। इस कथनसे जनाया कि यह राजमार्गके समान है; यथा 'गुरु कह्यो रामभजनु नीको मोहू लागत रामराजडगरो सो।१७३।'और शिवजीको गुरु कहा भी है—'हित उपदेस को महेस मानो गुरु कै।' (बाहुक), 'गुरु पितु मातु महेस भवानी।१।१५।३।'

☞ उपर्युक्त जितने आचरण कहे गए हैं, उनमेंसे प्रत्येक भयका निवारण करनेवाला है, तब इन सबोंके पालन करनेवालेको भयकी शंकाही क्या? अतः कहते हैं कि 'चलत सपनेहु नाहिन डरु।'

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

पद २०६

नाहिंन[1] और कोउ[2] सरन लायक दूजो,
श्री रघुपति सम बिपति निवारन।
काको सहज सुभाउ सेवक[3] बस,
काहि प्रनत पर प्रीति अकारन।१
जन गुन अलप गनत सुमेरु[4] करि,
औगुन कोटि बिलोकि[4] बिसारन।
परम कृपाल भगत चिंतामनि,
बिरुद पुनीत पतित-जन-तारन।२
सुमिरत सुलभ दास दुख सुनि हरि,
चलत तुरत पट-पीत सँभार-न।
साखि पुरान निगम आगम सब,
जानति[5] द्रुपदसुता अरु बारन।३
जाको जसु[6] गावत कबि कोबिद,
जिन्ह कें लोभ मोह मद मार-न।
तुलसिदास तजि आस सकल भजु[7],
कोसलपति मुनिबधू उधारन।४

शब्दार्थ—शरण = इष्टकी प्राप्ति और अनिष्टकी निवृत्तिके लिये आश्रय होनेयोग्य चेतन। (गीता ९।१८)। लायक = योग्य; समर्थ। यथा 'सब दिन सब लायक गुनगायक रघुनायक गुनग्राम को।१५५।' दूजो (प्रा० दुइय, दुइज) = दूसरा। काहि = किसको; किसकी। अलप (अल्प) = बहुत थोड़ा। सँभार = सँभाल, होश-हवास; चेत; सुध। = थाम; यथास्थान रखने, गिरने या खिसकनेसे बचानेकी योग्यता। द्रुपदसुता = द्रौपदी। बारन (वारण) = हाथी; गजेन्द्र।

पद्यार्थ—श्रीरघुनाथजीके समान शरण्य होनेके योग्य (शरणागतको शरण देनेकी योग्यता रखनेवाला) तथा विपत्तिको दूर करनेवाला दूसरा कोई और

१–२ नहिं कोऊ और–प्र०। २ सरनलायक कोउ–७४।३ सेवा–ज०। दास–७४। समूह–७४। ५ जानति–रा०। जानत–प्रायः औरोंमें। ६ बिमलजसु–रा०। ७ भजि–रा०,ह०। भजु–भा०, बे०,७४,ज०,आ०

नहीं है। 'सेवकके वशमें हो जाना' यह किसका साधारण स्वभाव है? शरणागत (या प्रणाममात्र करनेवाले) पर अहैतुकी प्रेम किसका रहता है?।१। वे भक्तके बहुतही थोड़े गुणको सुमेरुपर्वतके समान बड़ा मानते हैं और करोड़ों दोषोंको (आँखोंसे) देखकरभी भुला देनेवाले हैं। परम कृपाल हैं, भक्तोंके (मनोरथ पूर्ण करनेके) लिये चिन्तामणिरूप हैं और 'पतितजनतारण' उनका पवित्र बाना है, एवं उनका बाना पवित्र है और वे पतित जनोंका उद्धार करनेवाले हैं*।२। वे स्मरण करते ही सहजही प्राप्त हो जाते हैं एवं उनका स्मरण सुगम है। क्लेशहारी वे भगवान् दासका दुःख सुनकर तुरंत चल देते हैं, उनको अपने पीताम्बरका भी सँभाल नहीं रहता। पुराण, वेद और शास्त्र सभी (इसके) साक्षी (गवाह) हैं, द्रौपदी और गजेन्द्र इसे जानते हैं†।३। जिनके न लोभ है न मोह-मद-काम वे कवि और कोविद जिनका यश गाते हैं, रे तुलसीदास! सब आशायें त्यागकर मुनिकी स्त्री अहल्याका उद्धार करनेवाले उन अयोध्यापति श्रीरामको भज।४।

टिप्पणी— १ (क) 'नाहिंन और कोउ····' इति। विपत्ति हरनेवाला और शरण देनेवाला दूसरा कोई नहीं है। आगे इसीपर द्रौपदी और गजेन्द्रका उदाहरण देते हैं। भगवान्ने ही इनको शरण दिया और इनकी विपत्ति निवारण की। आगे पद २१७ मे इसीको स्पष्ट कहा है। यथा 'विपुल भूपति-सदसि महँ नर-नारि कह्यो प्रभु पाहि। सकल समरथ रहे काहु न बसन दीन्हो ताहि। २१७ (४)।', 'रहे संभु विरंचि सुरपति लोकपाल अनेक। सोक-सरि बूड़त करीसहिं दई काहु न टेक। २१७ (३)।' ब्रह्मा और शंकरजीने भी जब रक्षा न की, तब इनसे बड़ा तो कोई देवता है नहीं जो रक्षा कर सके, अतः कहा कि 'नाहिंन और कोउ····'। यथा 'और देवन्हकी कहौं कहा स्वारथहिके मीत। कबहुँ काहु न राखि लियो सरन गये सभीत। २१६।४।' और भी कहा है—'देइ अभागेहि भाग को,कैं राखे सरन सभीत। वेदविदित विरुदावली कवि कोविद गावत गीत।' १६१ (७) देखिए; तथा'हरि सम आपदाहरन। नहिं कोउ सहज कृपाल दुसह दुखसागर तरन। २१३।' इस उद्धरणसे यह भी जना दिया कि 'विपति निवारण' में 'सहज कृपा' की आवश्यकता है, सो दूसरोंमे नहीं है। पद १८० मे जो कहा है कि 'साहिब सरनपाल सबल न दूसरो', वही भाव 'नाहिंन····दूजो' में है।

१ (ख) 'काको सहज सुभाउ सेवक बस····' इति। सेवकके अधीन होजाना उनका स्वभाव है अर्थात् अनादिकालसे यह आचरण उनमें देखा-सुना गया

* 'पवित्र करनेके विरदवाले और पतितोंका उद्धार करनेवाले हैं।(पो०)।

† सब द्रौपदी और गजेन्द्रकी कथायें जानते हैं। (वीर)।

है। यथा 'ऐसी हरि करत दास पर प्रीति। निज प्रभुता बिसारि जनके बस होत सदा यह रीति।६८।' (ऐश्वर्यको भुलाकर सेवकके अधीन हो जानेसे सिद्ध है कि यह 'सहज स्वभाव' है। सहज स्वभाव अनिवार्य होता है), 'सेवत बस सुमिरत सखा सरनागत सोहौं। गुनगन सीतानाथके ।१४८।', 'सेवक सुखद सदा बिरुद बहत हों।७६।' यह स्वभाव पूर्व 'खग सबरि निसिचर भालु कपि किये आपु तें बंदित बड़े। तापर तिन्हकि सेवा सुमिरि जिय जात जनु सकुचनि गड़े। स्वामीको सुभाउ कह्यो सो जब उर अनिहै।१३५।', इत्यादि कई पदोमें कह आये हैं।

१ (ग) 'काहि प्रनतपर प्रीति अकारन' इति। 'प्रनत' से जनाया कि केवल नतमात्र होने, प्रणाम करनेसे निस्स्वार्थ उसपर प्रेम करते हैं। यथा 'नमत पद रावनानुज निवाजा।४३।', 'सेवा बिनु गुन बिहीन दीनता सुनाये। जे जे तैं निहाल किये फूले फिरत पाये।८०।', 'सकृत प्रनाम किहे अपनाये।२।२६६।' दूसरा ऐसा प्रणतपर प्रेम करनेवाला नहीं है, यह पूर्व दिखा आये हैं। यथा 'देव दूसरो कौन दीन को दयाल। सीलनिधान सुजान सिरोमनि सरनागतप्रिय प्रनतपाल।५४।', 'सब स्वारथी असुर सुर नर मुनि कोउ न देत बिनु पायें। कोसलपाल कृपाल कलपतरु द्रवत सकृत सिरु नायें॥ हरिहु और अवतार आपने राखी बेदबड़ाई।१६३।', 'बिनु कारन पर उपकारी।१६६।' प्रणतपर कैसा प्रेम करते हैं, यह पद १०० में बता आये हैं; यथा 'सकृत प्रनाम प्रनत जस बरनत सुनत कहत फिरि गाउ।' आगे पद २१६ मेंभी कहा है—'नाहिने कोउ राम सो ममता प्रनत पर जाहि।'

२ 'जन गुन अलप सुमेरु करि' इति। (क) यथा 'जन-गुन-रज गिरि गनि सकुचत निज-गुन-गिरि रज-परमानु है। गी० ५।३५।' पद १५७ मे कहा था कि 'देखत दोष न खीझत, रीझत सुनि सेवक गुनग्रामको।' और १०७ में कहा था कि 'गुन गहि अघ अवगुन हरै' तथा १६१ मे कहा था कि 'सुनि सेवा सहि को करै परिहरै को दूषन देखि।' अर्थात् उनमे केवल गुणको ग्रहण करना और गुणोको सुनकर रीझना कहा था और यहाँ बताते हैं कि वह गुणगहनी कैसी है। ज़रा-सा भी गुण सुननेको मिलता है तो वे बड़े भारी महान् गुणमें उसकी गणना करते हैं, केवल उसे बड़ा मान लेते हों, यह बात नहीं। इसीतरह पूर्व कहा था कि दोष देखकर रुष्ट नहीं होते और न उसका त्याग करते है तथा यह कि अघ अवगुणको हर लेते हैं; और प्रस्तुत पदके 'अवगुन कोटि बिलोकि बिसारन' से जनाया कि वे देखकरभी अवगुणोको भूल जाते हैं, ऐसा भूलकरभी चित्तमे नहीं आता कि इसने बहुत पाप किये थे, हमने सब क्षमा कर दिये। यथा 'देखि दोष कबहुँ न उर आने। सुनि गुन साधुसमाज बखाने॥

२।२६१।'—इससे जनाया कि वे ऐसे करुणासिंधु और सरल स्वभावके हैं। यथा 'सरल प्रकृति आपु जानिऐ करुनानिधान की। ' दास दोस सुरति चित रहति न दिये दानकी॥ बानि बिसरनसील है मानद अमान की।४२।'

'जन गुन अलप सुमेरु करि', यथा 'करोषि फल्गवप्युरु दीनवत्सलः। भा॰ ४।२०।२८' अर्थात् आप दीनोंपर दया करनेवाले हैं, इस लिये उनके तुच्छ कर्मको भी बहुत अधिक करके मानते हैं। (यह पृथु महाराजका वाक्य है); 'बोल्यौ भक्तराज तुम बड़े महाराज कोऊ थोरोई करत काज मानो कृतजाल है।' (मोरध्वज वाक्य। भक्तमाल)।

२ (ख) 'परम कृपाल भगत चिंतामनि''' इति। चिंतामणि सांसारिक चिन्तित (मनोवांछित) पदार्थ देता है और श्रीरघुनाथजी भक्तको अर्थ, धर्म, कामके अतिरिक्त मुक्ति और भक्तिभी देते हैं, वे देवमणिसे अधिक हैं। पूर्वभी कहा है ' करुनासिंधु भगत चिंतामनि सोभा-सेवतहू ।८६ (४)।' सेवकके अल्प गुणको बहुत मानते हैं और स्वदगुणोंको भुला देते हैं— इतना ही नहीं है, किन्तु उसके सब मनोरथोंको पूर्ण करते हैं, इसीसे 'परम कृपाल' कहा; यह बड़ी भारी कृपा है। भगवानका नामभी चिन्तामणि कहा गया है—'पायो नाम चारु चिंतामनि। १०५', 'परिहरि सुरमनि सुनाम गुंजा लखि लटत।' १२९ (४ क ख)।

२ (ग) 'बिरुद पुनीत पतितजनतारन'—आपके बाने पवित्र हैं और पतित-जनोंका उद्धार करना आपका पुनीत विरुद है—दोनों प्रकार अर्थ हो सकता है। यथा 'जो चित चढ़ै नाम महिमा निज गुनगन पावन पन के। ९६।', 'जौ जग बिदित पतितपावन अति बाँकुर बिरद न बहते।९७।', 'दास तुलसी वेदबिदित बिरुदावली बिमल जस नाथ केहि भाँति बिस्तरहुगे।२११।'

३ 'सुमिरत सुलभ दास दुख''''' इति। (क) सौलभ्य दिखाते हैं कि उनके लिये घरबार छोड़नेकी अपेक्षा नहीं, वे स्मरणमात्रसे प्राप्त हो जाते हैं। प्रह्लाद-जीने 'स्मरण भक्ति' की थी, इसीसे वे उनके लिये खम्भेसे प्रकट हो गये थे। विशेष 'सुमिरन ही माने भलो।' १०७ (३ ख) देखिए। पद ७१ में भी इसी आशयसे कहा था कि 'काय न कलेसु लेसु लेत मानि मन की। सुमिरें सकुचि रुचि जोगवत जनकी। ७१ (५)।' पूर्व यह सौलभ्य कह चुके हैं, अतः यहाँ केवल 'सुमिरत सुलभ' कहकर वे सब भाव जना दिये। (ख) 'चलत तुरत पट पीत सँभार न'—श्रीभरतजीके प्रसंगमें यही दशा हुई थी; यथा 'पाहि नाथ कहि पाहि गोसाईं। भूतल परे लकुट की नाईं॥ ' उठे राम सुनि प्रेम अधीरा। कहुँ पट कहुँ निषंग धनु तीरा। २।२४०।२,८।'

(ग) 'साखि पुरान निगम सब':इसका संबंध 'दास दुख सुनि''''' के साथ

विशेषकर है और इस बातके विशेष जानकार द्रौपदीजी और गजेन्द्रको बताया; इसीसे इनके संबंधमें 'जानति' शब्द दिया; इन्होंने वह 'पटपीत सँभार न' वाली छटा स्वयं देखी है, यह जनाया। द्रौपदीके लिये वस्त्रावतारकी कथा 'भूपसदसि सब नृप बिलोकि·····' ६३ (४ ग) में और गजेन्द्रकी कथा ५७ (३ छ), ८२ (६ ग), ६३ (२ क, ख) तथा १७६ (३) में आ चुकी है।

नोट—१ 'श्रीरघुपति सम बिपति निवारन', 'प्रनत पर प्रीति अकारन', 'औगुन कोटि बिलोकि बिसारन' और 'दास दुख सुनि चलत तुरत' के उदाहरणमें हम विभीषणजीका वह प्रसंग ले सकते हैं जिसमें एक तपस्वी वृद्ध ब्राह्मणकी उनके द्वारा हत्या हो जानेसे उनकी गति एकदम रुक जानेसे वहाँके लोगोंने उनका वध करना चाहा था; किन्तु किसी अस्त्रशस्त्रसे उनका वध न हो सका। तब जमीनके भीतर एक कोठरीमें उनको जंजीरोंसे जकड़कर बंद कर दिया गया था। नारदजीके द्वारा विभीषणकी विपत्ति सुनकर श्रीराम रुक न सके, अविलंब छुड़ानेके लिये निकल पड़े और विप्रघोषनामक ग्राममें पहुँच गए, जहाँ विभीषणजी कैद थे। ब्राह्मणोंने सब वृत्तान्त सुनाकर कहा कि 'इस पापात्माका वध करके धर्मकी रक्षा कीजिए।

'एक ओर तो विभीषणका भारी अपराध' और 'दूसरी ओर यह कि विभीषण श्रीरामके सेवक हैं'— अतः ब्राह्मणोंकी बात सुनकर वे असमंजसमें पड़ गए। उन्होंने ब्राह्मणोंसे कहा—'द्विजवरो! विभीषणको तो मैं अखण्ड राज्य और आयु दे चुका, वह तो मर नहीं सकता। फिर उसके मरनेकी जरूरत ही क्या है? वह तो मेरा भक्त है। भक्तके लिये मैं स्वयं मर सकता हूँ। सेवकके अपराधकी जिम्मेदारी (उत्तरदायित्व) तो वास्तवमें स्वामीपर ही होती है। सेवकके दोषसे स्वामीही दण्डका पात्र होता है।'—"वरं ममैव मरणं मद्भक्तो हन्यते कथम्। राज्यमायुर्मया दत्तं तथैव स भविष्यति॥ भृत्यापराधे सर्वत्र स्वामिनो दण्ड इष्यते। रामवाक्यं द्विजाः श्रुत्वा विस्मयादिदमब्रुवन॥' 'भक्तचरिताङ्क' (गीताप्रेस) के संपादक लिखते हैं—'अहा हा! स्वामी हो तो ऐसा हो। भ्रान्त मनुष्यो! ऐसे स्वामीको बिसारकर अन्य किस साधनसे सुखी होना चाहते हो?'

☞ यह 'प्रणत पर प्रीति' है। शरणागतके लिये वे कहाँतक करनेको तैयार है,—यह इस चरितसे स्पष्ट है। (श्लोक प० पु० पा० १०४।१५०–१५१ के हैं। संक्षिप्त पद्मपुराणाङ्कमें गीताप्रेसने यह कथा नहीं दी है)।

टिप्पणी—४ 'जाको जस गावत·····' इति। (क) लोभ-मोह-मद-कामके वश लोग झूठा गुणगान करते रहते हैं; अतः ऐसोंके वाक्य प्रमाण नहीं माने जाते। लोभादि विकारोंसे रहित होनेसे जिनकी बुद्धि निर्मल है, वे यथार्थ ही कहते

हैं, असत्य नहीं कहते। वे श्रीरघुनाथजीका यश गाते हैं, यथा 'राजा राम अवध रजधानी। गावत गुन सुर मुनि वर बानी।१।२५।६।' [कवि वाल्मीकि आदि, कोविद अर्थात् वेदतत्त्वज्ञाता विद्वान् श्रीशुकदेव आदि। जिन्हके लोभादि नहीं हैं अर्थात् जो आत्मदर्शी हैं। (वै०)]—तात्पर्य कि जिनका यश ऐसे आत्माराम निर्मल संतजन गान किया करते हैं, उन्हींकी शरणमें जाना कर्तव्य है। अतः 'तजि आस सकल' उन्हींका भजन कर।

४ (ख) 'कोसलपति मुनिबधू उधारन' इति। ☞ स्मरण रहे कि गोस्वामीजीने श्रीमन्नारायण, श्रीविष्णु, श्रीकृष्ण, श्रीराम, श्रीनृसिंह आदि सभी भगवद्विग्रहोंमें अभेद माना है। किसीभी भगवद्विग्रहमें जो गुण प्रकट हुआ, वह गुण सभी विग्रहोंमें है। ऊपर जो 'द्रुपदसुता' और 'बारण' का उदाहरण दिया गया, वह 'दास दुख सुनि चलत ' का उदाहरण है और यहाँ जो उदाहरण है, वह सर्वप्रकार असमर्थ दीनके उद्धारका उदाहरण है। अहल्या पाषाण थी, कुछ बोलभी न सकती थी, द्रौपदी और गजेन्द्रने तो भगवान्‌को रक्षाके लिये पुकारा भी था। पूर्व पद १८० में यह कहकर कि 'साहिब सरनपाल सबल न दूसरो', उसपर उदाहरण दिया था कि 'कौने किया समाधान सनमान सिला को ?', वैसेही यहाँ 'नाहिन और कोउ सरन लायक दूजो' की पुष्टि 'कोसलपति मुनिबधू उधारन' से करते है। भाव यह कि पाहनको केवल रज—स्पर्शद्वारा स्वयं जाकर गति देनेवाला दूसरा नहीं हुआ। पद १८१ के 'सहस सिला तें अति जड़ मति भई है। कासों कहौं कौने गति पाहनहिं दई है।' में अपनी जड़ बुद्धिके सुधारकी प्रार्थना है और प्रस्तुत पदमें बताते है कि उनके भजनसे तेरा उद्धार हो जायगा।

पं० रामकुमारजीका मत है कि "ग्रंथकार यहाँ श्रीकृष्ण भगवान्‌की करुणा लिखकर अब श्रीरामकी करुणा विशेष लखाते है। कोसलपति 'मुनिबधू-उधारन' हैं। तात्पर्य कि गजेन्द्र और द्रौपदीने पुकारकर अपना दुःख सुनाया, तब वे धाये, अर्थात कुछ कर्तृतसे द्रवित हुए और मुनिवधूको श्रीरामजीने अपनेसे उधारा, उसने तो अपना दुःखभी नहीं सुनाया।"—'साधन हीन दीन निज-अघबस सिला भई मुनिनारी। गृह ते गवनि परसि पद पावन घोर श्राप तें तारी।'—ऐसे राम दीनहितकारी। अति कोमल करुनानिधान बिनु कारन पर-उपकारी।१६६।' हैं।

४ (ग) 'तजि आस सकल भजु' इति। आशाका त्याग परम आवश्यक है; इसीसे इसपर बारंबार जोर दिया गया है; यथा 'त्यागु दुरासा जी तें।१६८।', 'हरि भजहि आस तजि।१६६।', 'तुलसिदास सब आस छाड़ि करि होहि राम को चेरो।' ८७ (४ क, ग) देखिए। 'आस सकल'—८७ (४ क, ग) और १०३ (१ ख) देखिए।

'कोसलपति' नाम देकर उनमें वे सब गुणभी जना दिये जो 'हे नीको मेरे देवता कोसलपति राम' पद १०७ में कविने कहे हैं।

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

२०७

भजिबे लायक सुखदायक रघुनायक,
सरिस सरनप्रद[१] प्रभु[२] दूजो नाहिं न।
आनंदभवन दुखदवन[३] सोकसमन,
रमारवन गुन गनत सिराहिं न।१।
आरत अधम कुजाति कुटिल खल
पतित सभीत कहूँ जे[४] समाहिं न।
सुमिरत नाम बिबसहु बारक[५]
पावत सो पदु जहां सुर[६] जाहिं न।२।
जाके[७] पदकमल लुबुध मुनि[८] मधुकर,
बिरत[९] जे परम सुगतिहुँ लुभाहिं न।
तुलसिदास सठ तेहि न भजसि कस[१०]
कारुनीक जो अनाथहि दाहिन।३।

शब्दार्थ— भजिबे = भजन करनेके। रमारवन (रमारमण) = रमापति। सिरा... = समाप्त होना, चुक जाना। समाना = समाई, गुज़र वा समावेश होना। = श... या आश्रय पाना। यथा 'बिप्र बधिक गज गीध कोटि खल कौन के पेट समाने... २३६।' बिबसहु = बेबसी, लाचारी, अशक्त वा पराधीन दशामें। लुबुध (लु... = लोभी; लुभाये, भूले या मोहित हुए; अत्यंत आसक्त। दाहिन = अनुकू... सहायक।

---

१ मानप्रद—ह०। १ प्रभु-रा०, भा०, ज०, ह०, प्र०। ५१, आ० में 'प्र... नहीं, है। ७४ में 'प्रभु दूजो' नहीं है। ३ दुखदवन सोकसमन-प्रायः सबोंमें... दवन दुख दोषन्हि—७४। ४ जे-रा०, ह०, ७४, आ०। जो—भा०, वे०, प्र०, ज... ५ बार एक-रा०, भ०। बारेक—मु०। बारक-प्रायः औरोंमें। ६ जहां सुर मुनि... भा०, वे०। जहँमुनि-ज०। जहां सुर—रा०, ह०, ७४, आ०। ७ जेहि—वे०। ८ मनु-भ... ९ बिरत रा०, ज०, दीन, चि०। बिरति—भा०, वे०, ह०, मु०, डु०, वै०। १० भजसि... रा०, ७४, ह०, मु०, । भजै—वे०, प्र०; । भजहि—भा०।

पद्यार्थ—भजन किये जाने योग्य, सुखदाता तथा शरण देनेवाला समर्थ स्वामी श्रीरघुनाथजीके समान दूसरा नहीं ही है। आनन्दके धाम, दुःखका नाश और शोकके शान्त करनेवाले श्रीरमापति (रघुनाथजी) के गुण गिननेसे समाप्त नहीं हो सकते।१। आर्त्त (दुःखी), अधर्मी पापी, कुत्सित (नीच) जातिवाले, (हृदयके) कुटिल, खल, पतित (पापोंके कारण नितान्त गिरे हुए अधःपतनको प्राप्त) और (भवभयसे) डरे हुए, जिनकी समाई कहीं भी नहीं (अर्थात् जिन्हे कोई भी पूछनेवाला नहीं),वे वेवसीकी दशामें एकही बार नामका स्मरण करते ही उस परमपदको पा जाते हैं जहाँ देवता भी नहीं जा सकते।२। जो परम सद्गति (कैवल्य परमपद, मोक्ष) के भी लोभमे नहीं आते,ऐसे परम वैराग्यवान् मुनिरूपी भौंरे जिनके चरणकमलोंमे लुभाये रहते हैं। तुलसीदासजी कहते हैं—अरे शठ! जो बड़ेही करुणामय हैं. अनाथोंके सदा सहायक हैं, उनको तू कैसे नहीं भजता ?।३।

टिप्पणी—१ 'भजिवे लायक सुखदायक ' इति। (क) पद २०६मे 'नाहिन और कोउ सरनलायक' कहा था और यहाँ 'सरनप्रद' कहकर उसका अर्थ स्पष्ट किया। अथवा, वहाँ शरणमें लेनेकी योग्यता कही और यहाँ शरण देनेकी। वहां 'सरन-लायकता' दिखाकर अंतमे भजने ('भजु कोसलपति') का उपदेश किया था और यहाँ बताते हैं कि वे शरणप्रदही नहीं हैं, किन्तु भजने योग्य भी वे ही हैं, दूसरा नहीं। वहाँ 'विपति निवारन' कहा था, यहाँ 'सुखदाता' भी बताते हैं। सभी प्राणी सुख चाहते हैं, यदि भज्य सुख न दे सके तो उसका भजन कोई क्यों करेगा ?

१ (ख) 'भजिवे लायक दूजो नाहिन'—विभीषणजीने भी कहा है—'नाहिन भजिवे जोग वियो। श्रीरघुवीर समान आन को पूरन कृपा हियो। गी०५।४६।' 'गुन गनत सिराहिं न'—भाव कि हमने आनद-भवन, दुःखदमन, आदि दो-चार गुण गिना दिये,किन्तु उनके तो अनंत कल्याण गुण हैं,उन्हे कौन गिना सकताहै?

२ (क) 'आरत अधम कुजाति ' इति। इनके संबंधमें 'विबसहु' नाम लेना कहा है। भा ६।२ में अजामिलोपाख्यानमे कहा है कि जो मनुष्य ऊँचेसे गिरने, मार्गमे फिसलने, अंग-भंग हो जाने, सर्पादिकके डस लेने, ज्वरादिसे संतप्त होने अथवा डंडे आदिसे पीटे जानेके समय विवश होकर भी 'हरि' ऐसा कहता है, वह यातनाका अधिकारी नहीं है—'पतितः स्खलतो भग्नः संदष्टस्तप्त आहतः। हरिरित्यवशेनाह पुमान्नार्हति यातनाम्। भा० ६।२।१५।' भा० ५।२४ में भी कहा है कि छींकने, गिरने और फिसलने आदिके समय विवश होकर जिसका एकवार नाम लेनेपर भी पुरुष कर्मबंधनको सहसा त्याग देता है— 'यस्य ह वाव क्षुतपतनप्रस्खलनादिषु विवशः सकृन्नामाभिगृणन्पुरुषः कर्मबन्धन-

मञ्जसा विधुनोति '।५।२४।२०।'

☞यहाँ एक बार नाम लेनेपर परमपदप्राप्तिका प्रसंग है। अतएव यहाँ 'आर्त्त अधम' आदिसे केवल उन्हींका ग्रहण होगा जिनको यह सौभाग्य प्राप्त हुआ है। अजामिल आर्त था, अधम था, खल था, पतित था और यमदूतोंको देखकर परमभयभीत था। यवन कुजाति, कुटिल और खल था, शूकरके आघातसे आर्त भी था। यथा 'क्रूर कुटिल कुलहीन दीन अति मलिन जवन। सुमिरत नाम राम पठए सब आपने भवन॥ गज पिंगला अजामिल से खल गने धौं कवन।२१३।' गज आर्त था, पिंगला पतित थी ही। श्रीनारायणपार्षदोंने पापियोंमें चोर, मद्यप, ब्रह्महत्यारा, गुरुपत्नीगामी स्त्री-माता-पिता-गौकी हत्या करनेवालों आदिको इस प्रसंगमें गिनाया है। (भा०६।२।६)।

२ (ख) 'सो पद्‌ जहाँ सुर जाहिं न' इति। देवताओंका शरीर दिव्य होता है, फिरभी उनकी वहाँ पहुँच नहीं, वे ये भी नहीं जानते कि प्रभु कहाँ मिलेंगे, इत्यादि,(यथा 'बैठे सुर सब करहिं बिचारा।कहँ पाइय प्रभु करिय पुकारा।१।१८५।१।'); तब वहाँ जानेका तो प्रश्नही कहाँ? देवशरीर तो केवल भोग-शरीर है। [श्रीयामुनाचार्यजी लिखते है कि आपके परिजनभावका ध्यानभी ब्रह्मा-शिव-सनकादिकको अत्यन्त दुर्लभ है-'विधिशिवसनकाद्यैर्ध्यातुमत्यन्त दूरं तव परिजनभावं ।' (आलवन्दार ५०। श्री०श० से उद्‌धृत)] मिलान कीजिए-'ते पाँवर पहुँचे तहाँ जहँ मुनि मन थाको।१५२।'

३ 'जाके पदकमल लुबुध ...' इति। (क) 'सुगतिहुँ लुभाहिं न' से जनाया कि भगवान् उनको उसका प्रलोभन देते हैं, फिरभी वे उसे नहीं स्वीकार करते। यथा 'सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत। दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः। भा० ३।२६।१३।' भगवान् कपिलदेवजी देवहूतिजीसे कहते है कि ऐसे भक्तजन मेरी सेवाके सिवा सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य, सारूप्य और कैवल्य-मोक्षको दिये जानेपरभी ग्रहण नहीं करते। 'सुगति' का अर्थभी इस भगवद्वचनामृतसे स्पष्ट होगया कि जितने प्रकारके मोक्ष हैं उनमेसे किसीकोभी नहीं चाहते। श्रीभुशुण्डिजीको भी भगवान्‌ने लुभाना चाहा था, यथा 'काकभसुंडि मागु बर अति प्रसन्न मोहि जानि। अनिमादिक सिधि अपर रिधि मोच्छ सकल सुखखानि।७।८३।'; पर वे न लुभाए।

३ (ख) 'पदकमललुबुध मुनि मधुकर' में उपर्युक्त श्लोकके 'मत्सेवनं' का भाव है। जैसे भौंरा कमलमे लुब्ध रहता है, वैसे ये मुनि आपके चरणकमलोंकी सेवामे लुभाये रहते है। यथा 'करि मधुप मन मुनि जोगि जन जे सेइ अभिमत गति लहैं।१।३२४।', 'जावक जुत पद कमल सुहाए। मुनिमन-मधुप रहत जिन्ह छाए।१।३२७।२।', 'पद राजीव बरनि नहिं जाहीं। मुनिमन मधुप

बसहिं जिन्ह माहीं । ३।१४८।१।'–इससे जनाया कि जिनके मनकी अविच्छिन्न गति प्रभुके चरणकमलोंमें है,जो भगवान्में अहैतुकी, अनन्यगतिक भक्तिवाले हैं, जो निष्काम भक्त हैं तथा भगवान् जिनके निरपेक्ष स्वामी हैं; वे ही 'सुगति' के लुभावेमें नहीं आते । ❀

३ (ग) 'सठ तेहि न भजसि कस....' इति । भाव कि जो दूसरोंका दुःख देखकर सह नहीं सकते, जो आलसी अभागी पापी अनाथोंके सदा अनुकूल रहते हैं और उनके लालन पालनसे अपनेको कृतार्थ मानते हैं, (यथा 'करुनामय रघुनाथ गोसांई । बेगि पाइअहि पीर पराई ।२।८५।२।', 'लाले पाले पोसे तोषे आलसी अभागी अघी, नाथ पै अनाथनि सों भए न उरिन । २५३।', 'आरत अधम अनाथ हित को रघुबीर समान ।१६१।'), ऐसे स्वामीका भी भजन नहीं करता, तब तेरे समान शठ कौन होगा ? श्रीआरण्यक मुनिने भी कहा है— 'तस्मात्सर्वात्मना रामो भजनीयो मनोहरः । वन्दनीयो हि सर्वेषां संसाराब्धितितीर्षया ।। प० पु० पा० ३६।६०।' (अतः सब प्रकारसे परम मनोहर श्रीरामचन्द्रजीका ही भजन करना चाहिए । संसार-समुद्रसे पार जानेकी इच्छासे सब लोगोको श्रीरघुनाथजीकी वन्दना करनी चाहिए) ।

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु ।

२०८ (१३७) राग कल्याण

नाथ सों कोन[1] बिनती कहि सुनावों ।
त्रिबिध बिधि[2] अमित अवलोकि अघ आपने,
सनमुख[3] होत[4] सकुचि सिर[5] नावों ।१
बिरचि हरिभक्त को वेष बर टाटिका[6],
कपट-छल-[7]बिपुल पल्लवनि रचि[8] छावों ।

❀ 'योगिभिर्वापि चिन्त्यते कामवर्जितैः' (प० पु० पा० ३५।३४)। अर्थात् निष्काम योगीभी जिनका हृदयमे चिन्तन करते है ।

१ कोन–६६ । कवन–७४ । कौन–प्रायः औरोंमे । २ बिधि अमित—६६, भ० । अनगिनत—वि० । अनगनित—प्रायः औरोंमे । ३ सनमुख–६६, भ० । सरन सनमुख–औरोमे । ४ होत–भा०,मु० में नहीं है । ५ सीस–भा०,वे०,मु० । ६ वाटिका–६६, रा०, ५१, ज०, च० । इस पाठका अर्थ ठीक नहीं बैठता जान पडता । टाटिका = औरोंमे । ७ कपट छल बिपुल–६६, भ० । कपट दल हरित–औरोमे । ८ रचि–६६, रा०,भ० । भा०, वे०,ह०,५१,७४,आ० में'रचि'नहीं है ।

नाम लग[९] लाइ लासा ललित बचन कहि,
व्याध ज्यों बिषय बिहगनि बझावों।२
कुटिल सतकोटि मेरे रोम पर वारिअैं[१०],
साधु गनती मैं[११] पहिलेहीं[१२] गनावों।
परम बर्बर खर्ब गर्ब पर्बत चढ़्यो,
अग्य सर्बग्य-जन-मनि जनावों।३
साँच कैधों[१३] झूठ मोको[१४] कहत कोउ कोउ,
राम रावरो, होहुँ तुम्हरो[१५] जनु कहावों।
बिरुद की लाज करि दास तुलसिहि देव,
लेहु अपनाइ अब[१६] देहु जनि बावों।४

शब्दार्थ—कोन = कौन। टाटिका = टट्टी। बाँसकी खपाचियों, फट्टियों, सरकंडों आदिको परस्पर जोडकर बनाया हुआ ढाँचा जो आड़, रोक या रक्षाके लिये दरवाजे, बरामदे या किसी खुले स्थानमे लगाया जाता है। = छोटा टट्टर। पल्लवन्हि = पत्तोंसे। रचि = रचकर; सँवारकर बनाकर। लग = लग्गा। वृक्षोंसे फल आदि तोड़नेका वह लंबा बाँस जिसके आगे एक अँकुसी लगी रहती है। = लंबा बाँस। लासा = कोई लसदार या चिपचिपी वस्तु। बहेलिये चिड़ियोके फँसानेके लिये बरगद और गूलरके दूधमें तीसी (अलसी) का तेल पकाकर एक प्रकारका चिपचिपा पदार्थ तैयार करते है और लग्गों या वृक्षोंकी डालियोंमें लगाकर पक्षियोंको बझा लेते हैं। पखमे लासा लग जानेसे वे उड़ नहीं सकते। बझाना = फँसाना; बंधनमे लाना। वारिअैं = निछावर कर दीजिए; निछावर हो जायँ। बर्बर (सं०) = असभ्य; बकवादी; अशिष्ट; उद्दण्ड; भ्रष्ट आचरणवाला। खर्ब = तुच्छ; नीच; छोटा। सर्बग्य-जनमनि = सर्वज्ञोंमे शिरो-

---

९ लग—६६, रा०. भ०। लगि—औरोंमे। १० वारिअैं—६६। वारिये—भा०, बे०, ज०। वारिअहि(हिं—रा०)—७४, ह०, आ०। ११—मैं—६६, रा०। में—भा०, बे०, ह०, ७४, दीन, वि०। मों—५१, डु०, वै०, मु०। १२ पहिलेहि—रा०, भा०, बे०, ह०, ५१, ७४, आ०। पहिलेहीं—६६। १३ कैधों—६६, भ०। किधों—रा०। किधौं—भा०, बे०, आ०। १४ मोहि—मु०, ७४। १५ तुम्हरो जनु—६६, भ०। तुम्हरोइ जन—रा०, ५१, डु०। तुम्हरोई—भा०, बे०। तुम्हरोइ—वै०। तुम्हरो—ह०, मु०, दीन, ७४, वि०। १६ अब—६६, रा०, आ०। प्रायः औरोंमे नहीं है।

मणि। कैधौं=अथवा; या;कि।'बायाँ देना'मुहावरा है। अर्थ है।-'जानबूझकर छोड़ना; मिलते हुयेका त्याग करना'; 'प्रतिकूल होना'; 'टाल-मटूल करना'।

पद्यार्थ—हे नाथ! मैं आपसे कौन विनती कहकर सुनाऊँ। अपने(कायिक, वाचिक और मानसिक—कर्म,वचन और मन इन) तीनों प्रकारोंके असंख्य पापोंको देखकर सम्मुख होने ही सकुचाकर सिर नीचा कर लेता हूँ।१। भगवद्भक्तका उत्तम वेषरूपी सुन्दर टट्टर अच्छी तरह बनाकर अनेक कपट-छलरूपी पल्लवसमूहोंसे उसे सँवारकर छाता हूँ। नामरूपी लग्गासे सुन्दर वचन कहकर इसका लासा अर्थात् सुन्दर-वचन-कथनरूपी लासा लगाकर बहेलियेकी तरह विषयरूपी पक्षियोंको फाँसता हूँ।२। सौ करोड़ कुटिल मेरे एक-एक रोमपर निछावर हो जायँ (ऐसा मैं पापी हूँ, फिर भी) साधुओंकी गणनामें मैं प्रथमही अपनेको गिनाता हूँ (अर्थात् अपनेको सबसे श्रेष्ठ कहता हूँ। कहता हूँ कि मैं किससे कम हूँ?)। बड़ाही बकवादी और असत्य हूँ। तुच्छ हूँ, पर गर्वरूपी पर्वतपर चढ़ा हुआ हूँ। हूँ तो मूर्ख,पर अपनेको सर्वज्ञोंमे श्रेष्ठ प्रकट करता हूँ।३। सत्य हो चाहे झूठ, हे श्रीरामजी! कोई कोई मुझे आपका कहते हैं और मैं भी (अपनेको) आपका दास कहता और कहलवाता हूँ। हे देव! अपने बानेकी लज्जा करके तुलसीदासको अब अपना लीजिए, अब उसको अपना बायाँ न दीजिए (विमुख न लौटाइए)।४।

टिप्पणी—१ (क) 'नाथ सों कौन विनती कहि सुनावौं।' ...' इति। इस अंतरामे पूर्वके पद १४१, १४२, १४८ और १८६ के 'रामचंद्र रघुनायक तुम्ह सों हौं विनती केहि भाँति करौं। अघ अनेक अवलोकि आपने अनघ नाम अनुमानि डरौं।', 'सकुचत हौं अति राम कृपानिधि क्यों करि बिनय सुनावौं। सकल धरम विपरीत करत केहि भाँति नाथ मन भावौं॥'. 'कहौं कौन मुहँ लाइ कै रघुबीर गुसाईं। सकुचत समुझत आपनी सब साईंदोहाई।' तथा 'कौन जतन विनती करिये। निज आचरन बिचारि हारि हिय मानि जानि डरिये।'—के किंचित् भेदसे प्रायः सब भाव हैं। इनमें विनती सुनानेमे जो संकोच है, वह भी कह दिया गया है। वहाँ कहा था कि 'केहि भाँति', 'क्योकर', 'कौन मुह लेकर', 'किस यत्नसे' सुनाऊँ; अर्थात् सुनानेका साहस नहीं पड़ता। और यहाँ कहते हैं कि 'कौन बिनती करूं? अर्थात् बिनती किसीभी प्रकारकी नहीं कीजासकती और फिर करनाभी चाहूँ तो क्या बिनय करूँ?क्या कोई भी बिनय कर सकनेकी जगह है? कोई भी तो नहीं, तब क्या बिनय करूँ? मेरी समझमे तो कुछ नहीं आता कि क्या कहूँ। पूर्व 'रामचंद्र' आदि कहकर विनती की, अब 'नाथ' मानकर करते हैं।

१ (ख) 'त्रिबिध बिधि अमित अघ ...' इति। मैंने मन, वचन, कर्म तीनों

प्रकारके पाप किये हैं जिनकी सख्या नहीं हो सकती—यह पूर्व विस्तारपूर्वक कह आये हैं। यथा 'कहिहै कौन कलुप मेरे कृत करम वचन अरु मन के। हारहि अमित सेप सारद श्रुति गिनत एक-एक छनके।९६।', 'तऊ न मेरे अघ अवगुन गनिहैं। जौं जमराज काज सब परिहरि इहै ख्याल उर अनिहैं।९५।'—यही सब भाव 'अमित' में हैं। मन-कर्म-वचनके पाप-९६ (२ख)में लिखे जा चुके हैं।

१ (ग) 'सनमुख होत सकुचि सिर नावों' इति। पूर्व करनी बिचारनेपर शरण जानेसे संकोच होता था; यथा 'जौं करनी आपनी बिचारौं तौ कि सरन हों आवो। मृदुल सुभाउ सील रघुपतिको सो बल मनहि दिखावों।१४२।' इस प्रकार किसी तरह जो सम्मुख भी हुए, तब क्या दशा होती है सो यहाँ कही।—'सकुचि सिर नावों', लज्जासे (अपनी नीचताको बिचारकर) सिर नीचा कर लेता हूँ कि किस बलपर क्या कहूँ ? यथा 'कहो अब नाथ कौन बल तें संसार सोक हरिये।१८६।' संकोचके और भाव उपर्युक्त पद १४१ आदिमें देखिए।

२ 'बिरचि हरिभक्तको वेष ''' इति। (क) यहाँ बहेलियेके पक्षी फाँसने और अपने विपय बटोरनेमें साङ्गरूपक है। बहेलिया बाँसकी टट्टी बनाकर उसे पल्लवो (हरे-हरे पत्तोंसे छा देता है, जिसमें पक्षी समझें कि यह वृक्ष है। उसकी ओटमें छिपकर बहेलिया लग्गी और लासा द्वारा पक्षियोंको फाँसकर पकड़ लेता है। वैसेही मैं भक्तोंका सुन्दर वेप बनाकर उसे कपट-छलसे आच्छादित करता हूँ; जिसमें लोग यही जानें कि ये कोई बड़े भारी भगवद्भक्त हैं। आपका नाम लेता हूँ; उसपरभी सुन्दर-सुन्दर वचन कहता हूँ जिससे विपयोंकी प्राप्ति होती है। हरिभक्तवेप = टट्टी। कपट-छल = पल्लव। रामनाम = लग्गा। ललित वचन = लासा। (ललित वचन) कहना = (लासा) लगाना। विपय = पक्षी। मैं = बहेलिया।

२ (ख) 'हरिभक्तवेप०'—कंठमें तुलसीकी कंठी माला और उरपर लटकता हुआ पद्ममाल, कमलाक्ष तुलसीकी माला हाथमें लिये (हजारा मालाकी झोली गलेमें लटकाये, दहिना हाथ उसमें डाले, दूसरे हाथमें स्मरणी लिये), द्वादश तिलक लगाये, भगवान्‌के आयुधोंकी छाप (तप्तमुद्रा अथवा शीतल मुद्रा) अंगोंमें अंकित किये हुए, पीताम्बर पहने, रामायण भागवत गीता आदि उपासनाके ग्रन्थोंको साथमें लिये, कंठमें ठाकुरको (ठाकुर-बटुवाको) बाँधे या लटकाये हुए—इत्यादि 'भक्तवेप' है। (वै०)। यह लोगोंको धोखा देनेवाली 'बर टाटिका' है। कपट-छलरूपी पल्लवसमूहोंसे यह छाई हुई है कपट-छल यह कि लोगोंको फाँसने धोखा देनेके लिये भक्ति, ज्ञान और वैराग्य आदिके साधन करता हूँ और हृदय तो विपयोंके चिन्तन और ताकमें रहता है, सदा काम और लोभसे ग्रस्त रहता है; यथा 'भक्ति बिराग ज्ञान साधन कहि बहु बिधि डहँकत लोग फिरो।१४१।' यह

कपट-छल इस लिये करता हूँ कि मुझे लोग बड़ा भारी महात्मा जानें, तभी तो फँसेंगे। [ऊपरसे तो वैराग्यका डंका पीटना और भीतर विषयभोगवासना यही कपट-छल पल्लव हैं जिनसे वेषको ढके हैं (ङु०, भ० स०)]

२ (ग) 'नाम लग लाइ लासा' इति। नामको लग्गा अर्थात् बड़ा बाँस कहा। क्योंकि नामकीर्त्तनसे बहुत दूर-दूरके लोगभी उसमे आकर सम्मिलित हो जाते हैं। कीर्त्तनके साथ-साथ बड़े सुन्दर-सुन्दर नाम-माहात्म्य-परक, भगवत्परत्व-परक आदि व्याख्यान देता हूँ और सुंदर-सुंदर आख्यायिकायें तथा जनताको रुचनेवाली कहानियाँ कहता हूँ। हारमोनियम, तबला, सारंगी, पखावज, झाल, करताल, मृदंग और नृत्य आदिके साथ गाता बजाता हूँ—इत्यादि फाँसनेका लासा है।

२ (घ) 'विषय विहगनि बझावों'— मेरे पास सब प्रकारके मनोवांछित विषय आकर फँस जाते हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध सभी विषय प्राप्त हो जाते हैं। सबसे अधिक तो चन्द्रवदनियोंका जमाव होता है, कोई तो सुन्दर-सुन्दर स्वादिष्ट भोजनके पदार्थ लाती हैं, कोई पैर दबाती हैं, कोइ सुन्दरगीत रास आदिके सुनाती हैं, सुगंधित पुष्पमालायें तो स्त्री पुरुष सभी लाकर पहनाते हैं। रेशमी तथा ऊनी वस्त्र और पीताम्बरी आदिका तो पूछना ही क्या? इत्यादि जो भी विषयसुख चाहता हूँ सब प्राप्त हो जाते हैं। [तात्पर्य कि उच्च स्वरसे नामोच्चारण करते सुन लोग भक्त जानकर पास आये, तो उनसे मीठी-मीठी बातें बनाकर कहीं। उनसे पूजाका मिलना विषयका फँसाना है (ङु०)]

३ 'कुटिल सतकोटि मेरे रोम' इति। (क) त्रिविध अमित पापोंमेंसे 'बिरचि हरिभक्त०' में कर्मके और 'नाम लग लाइ०' मे वचनके पाप कहे, अब मनके पाप कहते हैं। [परधनहरण, परहानि, परद्रोह और परदारापहरण आदि करनेवाला 'कुटिल' कहलाता है। ऐसे सौकरोड़ कुटिल मेरी कुटिलता पर निछावर हो जायँ, मैं ऐसा कुटिल हूँ। (वै०)] भाव कि मेरे समान कुटिल तो संसारमें खोजे न मिलेगा। सबकी कुटिलता बटोरकर एकत्र की जाय तो भी सब कुटिल मिलकर मेरे पासंग बराबर भी न निकलेंगे। यथा 'मेरे पासंगहूँ न पूजिहैं ह्वै गए, हैं, होने खल जेते।२४१।'

३ (ख) 'साधु गनती मैं पहिलेही गनावों' अर्थात् जहाँ साधुओंकी गणना होती है कि कौन महान संत हैं, तो वहाँ मैं घुस पड़ता हूँ कि मेरे समान दूसरा संत नहीं। मिलान कीजिए—'ताहू पर निज मति बिलास सब संतन्हि माँझ गनावों।१४२।'

३ (ग) 'परम बर्बर खर्ब गर्ब' इति। 'बर्बर' से जनाया कि जहाँ जाता हूँ उस सभामें दूसरेको बोलने नहीं देता और स्वयं व्यर्थ बकवाद करता हूँ, ऐसा

असभ्य और उद्दण्ड हूँ। हूँ तो तुच्छ पर घमण्ड पर्वत समान बड़ा है, अपनी विद्या, महत्ता आदिके सामने दूसरेको गौरव नहीं देता।

['अज्ञ सर्वज्ञ जनमनि जनावो' अर्थात् अज्ञानी हूँ, पर जो सर्वसिद्धान्तोंके ज्ञाता है उनमे मैं अपनेको शिरोमणि जनाता हूँ। भाव कि छल-चतुराईसे तीनों कालोंकी अदेख (अदृष्ट) वार्ता कहा करता हूँ। (वै०)। दीनजी और वियोगीजीने अर्थ किया है—'महामूर्ख हूँ पर अपनेको सब कुछ जाननेवाला और जन (भगवद्भक्तों) मे अपनेको शिरोमणि जनाता चलता हूँ। भाव कि जानता तो कुछ भी नहीं, पर बकवाद कर कर लोगोंकी दृष्टिमें षट्शास्त्री एवं पहुँचा हुआ अनन्य भक्त हो रहा हूँ।' (वि०)]

४ 'साँच कैधो भूठ ' इति। (क) यहाँतक अपने मन-कर्म-वचनके कुछ पाप गिनाकर जनाया कि इसीसे 'कौन बिनती कहि सुनाऊँ।' कोई बिनती ऐसे आचरणोंको लेकर कर तो नहीं सकता; परन्तु एक बात तो अवश्य है कि कोई कोई तो यही कहते है कि 'तुलसीदास रामका भक्त है'; यथा 'लोग कहै रामको गुलाम हो कहावो।७२।', 'भलो पोच राम को कहै मोको सब नर-नारी।१५०।' मैंभी सबसे अपनेको 'रामदास' ही कहता हूँ। यथा 'जन कहाइ नाम लेत हों। ४२।', 'गुलाम हौं कहावो।७२।'

'साँच कैधो भूठ'—अर्थात् तुलसीदास सत्यही आपका है या नहीं, यह तो आप जानें; किन्तु लोग तो 'रावरो' कहते ही है। [मैं सच्चा गुलाम हूँ या भूठा बना हुआ हूँ, यह तो कोई जानता नहीं; वेष देख और वचन सुनकर कोई-कोई मुझे आपका कहते हैं। (वै०)]

४ (ख) 'बिरुदकी लाज करि ' इति। श्रीरामजीको अपने बिरुदकी बड़ी लाज रहती है; यथा 'कौने देव बराइ बिरुद हित हठि-हठि अधम उधारे।१०१।', 'तेहि प्रभुको तू होहि जाहि सब की सब सरम।' १३१ (३ ग) देखिए। इसीसे 'बिरुद' का आश्रय लेते है कि मुझे सब आपका कहते हैं और मैंभी अपनेको 'रामगुलाम' कहता हूँ; यथा 'वचन बनाइ कहौं हौं गुलाम रामको। क०७।७०।', 'तुलसी सरनाम गुलाम है रामको। क० ७।१०६।', 'लोग कहैं अरु हौंहु कहौं जन खोटो खरो रघुनायक ही को। क० ७।५६।'

बिरुदकी लाजसे अपनानेकी बिनतीमें कवितावलीके-'लोभ-मोह काम कोह-दोस-कोसु मोसो कौन । एकही भरोसो राम रावरो कहावत हौं, रावरे दयालु दीनबंधु मेरी दीनता। ७।६२।', 'आपनी भलाई भलो कीजै तौ भलाई न तौ तुलसीको खुलैगो खजानो खोटे दाम को।७०।' तथा 'लोग कहै अरु हौहु कहौ जनु खोटो खरो रघुनायकही को॥ रावरी राम बड़ी लघुता जसु मेरो भयो सुखदायक ही को। कै यह हानि सहौ बलि जाउँ कि मोहू करौ

निज लायक ही को। आनि हिएँ हित जानि करौं ..।७।५८।' और 'नामकी ओट पेट भरत हौं पै कहावत चेरो। जगत विदित बात ह्वै परी समुझिये धौ अपन पै लोक कि बेद बड़ेरो॥ ह्वै है-जब तब तुम्हहि तें तुलसी को भलेरो। दीन दिनहु दिन बिगरिहै बलिजाउँ बिलंबु किए अपनाइए सबेरो।२७२।'के-सब भाव हैं। इनमें न अपनानेपर क्या होगा,यह भी बता दिया है।['लेहु अपनाई'—अपनाकर मेरे दंभों और पाखण्डोंको दूर कर दीजिए, जिसमे मैं शुद्ध अन्तः करणसे आत्मस्वरूप पहिचान सकूँ। (वि०)]

सू० शुक्ल—जीव जब अपने कुटिल भावको देख लेता है,तब उसे परमात्माका यथार्थ ज्ञान होता है और जब तक मायाकृत दोषोंको अध्यासवश आत्मामें देखता है परमात्माका ज्ञान नहीं होता है। जैसे नावका चढ़नेवाला जबतक नावमें चलन-क्रिया नहीं देखता, उसे वृक्षादिकोंकी स्थिरता नहीं दिखलाई पड़ती, किन्तु नावमे चलन क्रिया देखके ही स्थिरकी स्थिरता भासित होती है; ऐसेही जब जीवको स्पष्ट मालूम हो जाता है कि जीवका जीवत्व दोषमय है, परमात्मा सदैव निर्दोष है, तो भगवानकी कृपासे उसके सारे दोष निर्दोष हो जाते हैं और भगवान उसे अपनेमे मिला लेते हैं (अपना लेते हैं)। इस लिये सेवकको सद्गुणोंके सेवन और अवगुणोंका त्याग करते हुए भी अपने अवगुण सदैव देखते रहना चाहिए; क्योंकि जीवका जीवत्व निर्दोष नहीं है, इससे केवल साधनाओंसे पार नहीं पा सकता, किन्तु भगवान्के प्रेम और कृपासे ही पार पाता है।

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

२०६

नाहिनै[1] नाथ अवलंब मोहि आन की।

कर्म[2] मन बचन पन[3] सत्य करुनानिधे,

एक गति राम भवदीय पदत्रान की।१

कोह-मद-मोह-ममतायतन जानि मन,

बात नहि जाति[4] कहि ज्ञान बिज्ञान की।

काम संकल्प उर निरखि बहु बासनहिं,

आस नहिं एकहू[5] आँक[6] निरबान की।२

१ नाहिने—मु०, ५१, ज०। नाहिनो—डु०,वै०। नाहिनै—प्रायः औरोंमें। २–३ ज० मे 'बचन मानस कर्म सत्य' पाठ है। ३ पन—रा०, ह०, भ०, दीन, वि०। डु० में नहीं है। प्रण—औरोंमें। ४ जाति—रा०, भा०, वे०, आ०। जात—ह०, ना०, १५, ७४, वे०। ५ एकहीं—रा०। ६ अंक—प्र०।

वेद बोधित कर्म धर्म बिनु अगम अति,
जदपि जिय लालसा अमरपुर जान की।
सिद्ध सुर मनुज दनुजादि सेवत कठिन,
द्रवहिं[7] हठजोग दियें[8] भोग बलि प्रान की।३
भक्ति दुर्लभ परम संभु सुक मुनि मधुप,
प्यास पद-कंज-मकरंद-मधु पान की।
पतितपावन सुनत नाम बिश्रामकृत,
भ्रमत[9] पुनि समुझि चित ग्रंथि अभिमान की।४
नरक अधिकार मम घोर संसार तम कूप,
कही[10] भूप मैं[11] सक्ति आपान की।
दास तुलसी सोउ[12] त्रास नहिं गनत मन,
सुमिरि[13] गुह गीध गज[14] ज्ञाति हनुमान की।५

शब्दार्थ—नाहिनै=नहीं ही। पन=प्रण। करुनानिधे=हे करुणानिधान! भवदीय=आपके। पदत्राण=पैरोंकी रक्षा करनेवाला।=जूती; खड़ाऊँ। ममतायतन=ममता आयतन (घर; स्थान)। एकहू आँक=एक अंश या भाग भी अर्थात् किंचित् भी, जरासी भी। आँक=अंश; बिस्वा। बोधित= जताये हुए; कहे हुए; विदित; विहित। वेदबोधित=वेदविहित; वेदोक्त। हठ-जोग—वह योग जिसमे चित्तवृत्ति हठात् बाह्य विषयोंसे हटाकर अन्तर्मुख की-जाती है और जिसमें शरीरको साधनेके लिये बड़ी कठिन-कठिन मुद्राओं और आसनों आदिका विधान है। नेती, धोती आदि क्रियायें इसी योगके अन्तर्गत है। कायव्यूहका भी इसमे विशेष विस्तार किया गया है और शरीरके भीतर कुण्डलिनी, अनेक प्रकारके चक्र तथा मणिपुर आदि स्थान माने गए हैं। 'स्वात्मारामकी' 'हठ प्रदीपिका' इसका प्रधान ग्रन्थ है। मत्स्येन्द्रनाथ और

७ द्रवहिं—रा०, ५१, ह०, ७४, बे०, आ०। द्रवैं—भा०, ज०। ८ दिएँ—रा०, प्र०। दिये (दिए)—आ०, ५१। दिय—भा०, बे०, ७४, ह०, मु०। ९ भ्रमित—रा०, ह०, ५१, मु०। भ्रमत—भा०, बे०, ७४, आ०। १० कूपकहिं—दीन, वि०। कूप कहि—भा०, बे०, मु०, वै०। कूप कही—रा०। ११ मैं—रा०, भा०, बे०, ड०। मोहि—ह०, ५१, ज०, ७४, प्र०, आ०। १२ सोउ—ह०, १५, ७४। सोऊ-भा०, बे०। सोइ—ज०। १३ समुझि—भा०, १५, प्र०, ७४। सुमिरि—रा०, आ०, ५१, ह०। १४ गज-रा०, ह०, ५१, ७४, आ०। गति—भा०, बे०, प्र०।

गोरखनाथ इसके मुख्य आचार्य हैं। पतंजलिके योगके दार्शनिक अंशको छोड कर उसके साधनके अंशको लेकर जो विस्तार किया गया है, वही 'हठयोग' है। (श० सा०)। बलि=निछावर, भेट।=वह पशु जो किसी देवताके उद्देश्यसे मारा जाय। भोग=नैवेद्य; देवताके आगे रखे जानेवाले खाद्य पदार्थ। 'भोग बलि'=बलिप्रधानरूप भोग। दोनोंका अर्थ एक है, अतः ये दोनों मिलकर एक शब्द माने जा सकते हैं; यथा 'कहेउ बहोरि देन बलि-भागा।२।८।५।' मधु=रस, जल। अधिकार= पात्रता;योग्यता। आपान की= अपने की; अपनी।

पद्यार्थ—हे नाथ! मुझे दूसरेका अवलंब नहींही है। हे करुणासिंधु! मेरी कर्म, मन और वचनसे सत्य प्रतिज्ञा है। हे श्रीरामजी! मुझे एकमात्र आपकी जूतियोंका ही अवलब है।१। मनको क्रोध-मद-मोह-ममताका स्थान जानकर ज्ञान और विज्ञानकी (तो) बातही नही कही जा सकती। हृदयमें बहुतसी कामनाओंके संकल्प और बहुतसी वासनायें देखकर मुझे मोक्षकी किंचित् भी आशा नहीं है।२। यद्यपि हृदयमें स्वर्ग जानेकी लालसा (उत्कट चाह) है, तथापि वेदविहित कर्म-धर्मके विना वह अत्यन्त दुर्लभ है †। सिद्धों, देवताओं, मनुष्यों और दैत्यों आदिकी सेवा कठिन है। वे हठयोगसे तथा प्राणोंका बलि-(प्रदान-रूप) भोग देनेसे पसीजते हैं †※।३। (रही) भक्ति (सो वह) परम दुर्लभ है। (क्योंकि) भगवान् शंकर और शुकदेवजी (आदि) मुनिरूपी भौरोंको आपके चरणकमलोंके (प्रेमरूपी) मकरन्दरसके पान करनेकी प्यास बनीही रहती है। आपका 'पतितपावन' नाम सुनतेही विश्राम मिला; परन्तु चित्तमें अभिमानकी गाँठ (पड़ी होनेसे उस) को सोच-समझकर मन फिर भटक जाता है※।४। मेरा अधिकार नरक और घोर संसाररूपी अंधकूप (मे पड़ने) का है (अर्थात् मैं नरक तथा भयंकर भवका उपयुक्त पात्र हूँ)। हे पृथ्वीपति! मैंने अपनी (सब) शिक्षा कह दी। आपका दास तुलसी गुह (निषाद), गृध्र (जटायु), गजेन्द्र और (वानर) हनुमान्‌जीकी जातिको स्मरणकर उस(नरक और भवकूप)के त्रासको भी मनमें कुछ नहीं गिनता।५।

---

† अर्थान्तर—'वेदबोधित जो कर्म हैं, वे धर्मके विना अत्यंत अगम हैं'—(पं० रामकुमारजी)।

†※ अर्थान्तर—'हठयोग करनेसे, यज्ञका भोग (भाग) देनेसे और प्राणोका बलिदान करने (पशुयज्ञ करनेसे) प्रसन्न होते हैं।' (दीनजी, वि०)।

※अर्थान्तर—'विश्रामसंपादित करनेवाला पतितपावन नाम सुनते हुए समझकर फिर चित्तमे अभिमानकी कारण गाँठके (अन्य साधनोंकी ओर) भ्रमता फिरता हू'। (वीर)।

टिप्पणी—१ 'नाहिनै नाथ अवलंब ' इति। (क) दूसरे किसीभी साधन या स्वामीका भरोसा नहीं है, यह बहुतसे पदोमें दिखा आये हैं। यथा 'दूसरो भरोसो नहिं वासना उपासना की, बासव बिरंचि सुर(नर)मुनिगन की।७५।', 'जनम गँवायो तेरेही द्वार किंकर तेरे।' १४६ (१ ख), 'मेरे रावरियै गति है ''।१५३।', तोसो प्रभु जौं पै कहुँ कोउ होतो। तौ सहि निपट निरादर निसि दिन रटि लटि ऐसो घटि कोतो। १६१।', 'जौं तुम्ह त्यागो राम हौं तो नहिं त्यागों। १७७।', 'जौं तुम्ह तजहु भजौं न आन प्रभु यह प्रवान पन मोरें। ११२ (४)।', 'भयेहुँ उदास राम मेरें आस रावरी १७८'; 'बचन करम हियें कहौं राम सौंह कियें तुलसी पै नाथके निबाहे निर्वहैगो।२५६।' इत्यादि। इन उद्धरणोंमें जो कहा है वह सब 'नाहिनै अवलंब आनकी' कीही विस्तृत व्याख्या है। अगले अन्तराओं-मे भी यहाँके 'आन की' को प्रार्थीने स्पष्ट किया है।

१ (ख) 'अवलंब' शब्द पुँल्लिग है। किन्तु गोस्वामीजीने 'आन की' के साथ उसका प्रयोग किया है। वियोगीजी लिखते हैं कि 'गोसाईजीने कवि-स्वातन्त्र्यके अधिकारसे इसे यहाँ स्त्रीलिंग माना है।' श्रीकान्तशरणजी लिखते है कि 'काव्यरीतिसे उत्तरार्धका अंतिम अनुप्रास मिलानेके लिये उसे स्त्रीलिंग माना है।'

१ (ग) 'कर्म-मन-बचन पन स य' यह भी उपर्युक्त कुछ पदोमे कह आये हैं। यथा 'करम बचन हियें कहों नहीं कपट किये ऐसी हठ जैसी गाँठि पानी परें सन की।७५।' तथा उपर्युक्त ११२ (४), १७८ और २५६ (४) में।

१ (घ) 'एक गति राम भवदीय पदत्रान की' इति। पूर्व श्रीरामजी तथा श्रीरामपदकी शरणका उल्लेख किया है। यथा 'मेरें रावरियै गति है रघुपति बलि जाउँ।१५३।', 'परिहरि पाँय काहि अनुरागो।१७७।'; अब कदाचित् यह सोचकर कि मैं चरणोके भी योग्य नहीं हूँ, अपनेको पदत्राणकी शरण कहते हैं और आगे पनहीकी शपथभी ली है; यथा 'और मेरें को है काहि कहिहों। इतनी जिय लालसा दास कें कहत पानही गहि हो।२३१।' ग्रंथभरमे 'पनही' की शरण इन्हीं दो पदोंमे कहा है। केवट और श्रीभरतजीनेभी पनहींकी शरण ली है। यथा 'सुमिरि रामपदपंकज पनहीं। भाथी बाँधि चढ़ाइन्हि धनुहीं।२।१९१। ४।', 'जौं परिहरहिं मलिन मन जानी। जौं सनमानहिं सेवकु मानी। मोरें सरन रामहि की पनहीं। रामु सुस्वामि दोसु सब जनहीं।२।२३४।'

२ 'कोह-मद-मोह-ममतायतन ' इति। (क) ऊपर जो 'अवलंब नाहिनै आनकी' कहा, उसके 'आन की' को स्पष्ट करते हैं। मनमे क्रोधादिने घर बना लिया है; यथा 'मम हृदय भवन प्रभु तोरा। तहँ बसे आइ बहु चोरा। तम मोह लोभ अहँकारा। मद क्रोध बोधरिपु मारा।१२५।', 'से किछु करहु हरहु ममता

मैं फिरउँ न तुम्हहिं बिसारें ।११२।' मोह, मद, क्रोध ज्ञानके शत्रु हैं— (१२५ उपर्युक्त), यथा 'ज्ञान बिराग जोग जप को भय लोभ मोह कोह काम को ।१५५।' ममता भी शत्रु है । इसीसे इनका त्याग कहा गया है, यथा 'ममता त्याग करहिं जिमि ज्ञानी ।४।१६।५।', 'अहंकार ममता मद त्यागू । महामोह निसि सूतत जागू ।३।५५।', 'ममता तरुन तमी अँधियारी। रागद्वेष उलूक सुखकारी।५।४७।३।' जब ये सब हृदयमें बसे हैं, तब ज्ञान और विज्ञानकी प्राप्ति कभीभी संभव नहीं हो सकती । अतएव मुझे 'ज्ञान विज्ञान' का अवलंब नहीं है ।

२ (ख) 'काम संकल्प उर निरखि बहु बासनहि ···' इति । कामनाओंके उत्पन्न होतेही इन्द्रिय, मन, प्राण, देह, धर्म, धैर्य, बुद्धि, लज्जा, श्री, तेज, स्मृति और सत्य—सभी नष्ट भ्रष्ट हो जाते हैं—'इन्द्रियाणि मनः प्राण आत्मा धर्मो धृतिर्मतिः । ह्रीः श्रीस्तेजः स्मृतिः सत्यं यस्य नश्यन्ति जन्मना । भा• ७।१०।८।' मनमें स्थित कामनाओंके त्याग करनेपर मनुष्य भगवद्भावको प्राप्त होता है— 'विमुञ्चति यदा कामान्मानवो मनसि स्थितान । तर्ह्येव पुण्डरीकाक्ष भगवत्त्वाय कल्पते । श्लो० ।६।' भगवान ऋषभदेवभी कहते हैं कि अविद्यावश आत्मस्वरूपके आच्छादित हो जानेसे कर्मवासनाओंसे वशीभूत हुआ चित्त मनुष्यको फिर कर्मोंमें ही प्रवृत्त करता है । चित्त कर्मवासनाओंसे युक्त रहता है, इसीसे उसे शरीरबंधनकी प्राप्ति होती है ।— 'कर्मात्मकं येन शरीरबन्धः ॥ एवं मनः कर्मवशं प्रयुङ्क्ते''।''न मुच्यते देहयोगेन तावत। भा० ५।५।५-६।' पूर्व भी कह आये हैं— 'जब लगि नहिं निज हृदि प्रकास अरु बिषय आस मन माहीं । तुलसिदास तब लगि जगजोनि भ्रमत सपनेहुँ सुख नाहीं ।१२३।' वासनाओंमें सभी प्रकारकी कर्मवासनायें तथा विषयवासनायें आ जाती हैं।—'केउ किछु कहउ देउ किछु असि बासना हृदय तें न जाई ।१७६', 'बहु बासना विविध कंचुक भूषन लोभादि भर्यो ।६१ (२) ।' तथा 'हृदय मलिन बासना मान मद ।' ८२ (२ ग) में वासनाओंका होना कह आये हैं, वही यहाँ 'बहु बासनहि' से जनाया, इस प्रकार अपनेको 'निर्वाण' (मोक्ष) के अवलंबसे रहित जनाया । 'बासनावृंद' ४६ (४ क) देखिए ।

३ (क) 'बेद-बोधित कर्म-धर्म बिनु ' इति । स्वर्गकी प्राप्ति यज्ञादि वेदविहित कर्मों तथा सत्य, दान, दया, तप आदि धर्मों (सुकृतों) से होती है; यथा 'अगम अपवर्ग अरु स्वर्ग सुकृतैक फल।२१०।';सो मैंने कोई वेदधर्म न किये और न करूँगा; यथा 'ब्रत तीरथ तप सुनि सहमत पचि मरै करै तन छाम को । करमजाल कलिकाल कठिन आधीन सुसाधित दाम को ।१५५।'—इससे जनाया कि वेदोक्त कर्म-धर्मों (सुकृतों) का भी अवलंब नहीं है । पूर्व मनको ऐसा उपदेश भी कर चुके हैं;यथा 'जाग मख विवेक विरति वेदविहित करम। करिबे कहुँ कटु

कठोर, सुनत मधुर नरम ॥ तुलसी सुनि जानि बूझिभूलहि जिनि भरम।१३१।'

३(ख)'सिद्ध सुर मनुज दनुजादि ' इति। जिस साधनसे जो अपनी मनोवांछित-सिद्धि करता है, उसकी शरण जानेपर वह उससे भी अधिक कष्टसाध्य साधन कराये बिना उस साधककी मनोकामनाको नहीं पूर्ण करता—यह प्रायः नित्य देखनेमे आता है। जो स्वय अष्टाङ्ग योग एवं हठयोग आदि द्वारा शरीरको बहुत कष्ट देकर 'सिद्ध' पदको प्राप्त हुए हैं, वे अपने उपासकको बिना वैसाही कष्ट उठाये कब कुछ देने लगे ? अनेक यज्ञ, जप, तप आदि सुकृतोसे देवशरीर मिलता है; अतएव देवताभी बिना यज्ञादिका भाग पाये कव प्रसन्न होने लगे ? मनुष्य राजा, रईस, धनी, गुणी आदि कोई भी तभी कुछ देता है, जब मजूरीसे अधिक काम करा लेता है। असुर, दैत्य और राक्षस आदि ये सब तामसी जोव हैं। रावणादि. अपने मस्तक काट-काटकर, बलि देकर प्रतापशाली हुए। देवी-देवताओंको मनुष्य और पशु आदिका बलि दे-देकर ये लोग उनसे वर प्राप्त करते है। अतएव उनकी आराधना करनेपर वे प्राणोंका बलिदान चाहते हैं, बिना इसके वे नहीं पसीजते।—इन सबोंकी सेवा कठिन है, मुझसे यह सेवा हो नहीं सकती। अतएव मुझे सिद्ध और सुर आदिका अवलंब नहीं है। विशेष पूर्व 'दूसरो भरोसो नहिं वासना उपासना की, वासव बिरंचि सुर नर मुनिगन की। स्वारथ के साथी मेरे हाथी स्वाने लेवा देई। ७४(२ख). तथा 'सब स्वारथी असुर सुर नर मुनि कोउ न देत बिनु पाये।' १६३ (२ क) मे लिखा जा चुका है।

४ 'भक्ति दुर्ल्लभ परम संभु सुक मुनि ' इति। (क) भक्तिका भी अवलंब नहीं—यह यहाँ दिखाते है। श्रीशिवजी, श्रीशुकदेवजी आदि मुनिगण पदकंजमकरंदका सेवन करते रहते हैं, इस तरह ये सब आपकी भक्तिको दृढ़ पकड़े हुए है, फिरभी ये तृप्त नहीं होते, चाह बनीहो रहती है, बारंबार उसका वरदान माँगा करते है। यथा—'जे पदसरोज मनोजअरि-उर-सर सदैव बिराजहीं। करि मधुप मन मुनि जोगिजन जे सेइ अभिमत गति लहै।१। ३२४।', 'संभु सनकादि सुक भगति दृढ़ करि गही। गी० ७।६।६।', 'बार बार बर मागउ हरषि देहु श्रीरग। पदसरोज अनपायनी भगति सदा सतसग। ७।१४।' शुकादिने स्वयं भक्तिकी कठिनता कही है; यथा 'सुक सनकादि प्रहलाद नारदादि कहैं रामकी भगति बड़ी बिरत निरत।२५१।'—जब ऐसे-ऐसे समर्थ भी भरपेट भक्ति नहीं कर पाते, सदा उसके प्यासेही रहते हैं कि और मिले तब मुझ विषयलोलुपको वह कब प्राप्त हो सकती है ? पूर्व पद १६७ मे भी कह आये है कि 'रघुपति भगति करत कठिनाई। कहत सुगम करनी अपार, जानै सोइ जेहि बनि आई। शिव-शुकादिसे बन आई, अतः वे ही जानैं मुझसे संभव

नहीं । ☞ अन्तरा २ मे ज्ञानको और ३ मे कर्मकांडको कह आये।–रही भक्ति सो उसे यहां कहा । इस प्रकार अपनेको कल्याणके तीनों मार्गों (काण्डत्रय) से रहित दिखाया ।

४ (ख) 'पतितपावन सुनत नाम...' इति । आपका 'पतितपावन' नाम है, यह मैंने सुना; तो मुझे कुछ शान्ति मिली कि आप पतितपावन हैं और मैं पतित हूँ, बस अब बन गई; यथा 'मैं हरि पतितपावन सुने । हम पतित तुम्ह पतितपावन दोउ बानक बने ।१६०।', 'पतितपुनीत दीनहित असरन-सरन कहत श्रुति चारो । हौं नहिं अधम सभीत दीन किधौं बेदन्ह मृषा पुकारो ।९४(२ क) यह बड़ा भारी अवलंब था; यथा 'जौ जगविदित पतितपावन अति बाँकुर बिरद न बहते । तौ बहु कल्प कुटिल तुलसी से सपनेहु सुगति न लहते ।९७'; परन्तु चित्तमें अभिमानकी गाँठ जो पडी हुई है, वह इस अवलंबसे भी विचलित कर देती है । उसका लाभ नहीं उठा पाता; क्योंकि अभिमान होनेसे मैं सच्चा पतितभी नहीं रह जाता; पतितको अभिमान कैसा ?— अतएव यह अवलंब भी पूरा नहीं है ।

नोट—१ भट्टजी आदि कतिपय टीकाकारोंने अर्थ किया है कि 'सुनता हूँ कि आपका नाम पतितोंको पावन करनेवाला और शान्ति देनेवाला है । किन्तु चित्तमें अभिमानकी गाँठ पडी समझकर मन भ्रम जाता है । (भ०, वि०) ।' अर्थात् यह समझकर कि जीव देहाभिमानी हो रहा है तो विषयसुखमें लगेगा ही, नामका अवलंब क्यों लेने लगा । (वै०, भ०) । भाव कि संशयात्मा होनेसे मैं विषयोंकी ही ओर दौडता हूँ । (वि०) ।

[श्रीकान्तशरणजी—"मैं अपनेमे पतितपावन गुणसे लाभ उठानेकी व्यवस्था तो नहीं पाता, क्योंकि यह नियम है कि जब कोई आश्रित अपने पापोंको समझ दीन होकर शरण हो तो भगवान् उसे पावन करके अपनाते है, यथा 'जब लगि मैं न दीन दयालु तैं...' । मेरे चित्तमे अभिमानकी गाँठ है, यह देखकर दीनताकी आशा कहाँ ? इससे चित्त उक्त लाभसे भ्रमित हो जाता है ।"]

टिप्पणी—५ 'नरक अधिकार मम...' इति । (क) 'शक्ति आपान की' अर्थात् अपने कर्मोंसे जो शक्ति मुझे प्राप्त है,वह यह है । मरनेपर नरकका अधिकारी हूँ और जीनेजी संसाररूपी अध-तमकूपका अधिकारी हूँ; अर्थात् अनन्त कालतक चौरासीमे भ्रमण करता रहूँ । पूर्वभी कहा है—'जद्यपि मम अवगुन अपार संसार जोग्य रघुराया ।११८।', 'जौं आचरन बिचारहु मेरो कलपकोटि लगि अवटि मरौं ।१४१।' 'भूप' का भाव कि राजा नीति करते है; अतः नीतिके अनुसार तो मेरे दुष्कर्मोंका दण्ड यही होगा ।

५ (ख) 'सोउ त्रास नहिं गनत...' इति । अब अवलंब बताते है । नरक

और घोर भव-भ्रमणसे तो डरना चाहिए, पर मुझे इनका किंचित् भी भय नहीं है; मुझे बल है 'गुह गीध गज हनुमान' के उद्धारका। इनकी जातिका स्मरण करतेही मुझे पूर्ण विश्वास हो जाता है कि मेराभी अवश्य उद्धार आप करेंगे। गुह निषाद था, अधम जातिका था,—'जासु छाँह छुइ लेइअ सींचा', 'गुह गरीब गतज्ञातिहूं जेहि जिउ न भखा को।१५२'; गीध जटायु 'अधम खग आमिषभोगी' था; गजेन्द्र 'पसु पाँवर अभिमानसिंधु' था (पद १४४)।श्रीहनुमान्-जी वानर जातिके थे। इनकी किसीकी जातिका विचार न करके इन सबोंको आपने कैसी सद्गति दी थी। इन सबोंको केवल सम्मुख होनेसे आपने अपनी कृपा, करुणा, भलाई तथा सुशीलता गुणोंसे 'लोक सुयश परलोक सुख' दिया। यथा 'केवट खग सबरि सहज चरनकमल न रत। सनमुख तोहि होत नाथ कुतरु सुफल फरत।१३६।'. इत्यादि।

पद १६६ पूरे पदमे गुह गीध आदिके उदाहरण देकर इन सबोंको पावन करना कह आये है। यथा 'बिहँगजोनि आमिप-अहार-पर गीध कौन व्रतधारी०', 'हिंसारत निषाद तामस नर पसु समान बनचारी।०', 'असुभ होइ जिन्हके सुमिरन तें बानर रीछ बिकारी।' 'बेद बिदित पावन भये ते सब महिमा नाथ तुम्हारी॥' ऐसे पापयोनि व्यक्तियोको जिस विरुद और बानसे आपने कृतार्थ किया यह आपमे मौजूद है, अतएव मुझे चिन्ता क्या? उस विरुद और स्व-भावसे मेराभी उद्धार आप करेंगे ही। पूर्व २०२ मे भी गीधोद्धारके बलपर ऐसा ही विश्वास प्रकट किया है। यथा 'तुलसिदास यहि त्रास सरन राखिहिं जेहि गीध उधार्‌यो॥'पद १९७ मे भी कहा है–'कछु न साधन सिधि जानों, न निगम बिधि नहि जप तप बस मन न समीर। तुलसिदास भरोस करुनाकोस प्रभु हरिहैं बिषम भवभीर॥'

सू० शुक्ल—इसमे उत्तमाधिकारियोंके लिये जीवका जीवत्व दोषमय दिख-लाया है कि परम पुरुषार्थ द्वारा ज्ञान, वैराग्य,भक्तिके साधनसे पुण्यके परिपाक होनेपर अनात्मामे दोषदृष्टि रख परमार्थसाधनका पुरुषार्थभी दोषमय, तुच्छ समझ केवल भगवान्‌की कृपाको ही सर्वस्व जाने. क्योकि भक्तिके साधन आव-श्यकीय है। कनिष्ठाधिकारियोको यह नहीं समझना चाहिए कि बिना साधना-के पतित समझ व पतित होनेके कर्म न छोड़ता हुआ भगवानका कृपापात्र हो जायगा।"

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

२१० (१४९)

और कहँ[1] ठौर रघुबंसमनि मेरें।

[1] कहँ–६६, ह०, ७४, प्र०, आ० (–मु०)। कहां–रा०, भा०, बे०।

पतितपावन प्रनतपाल असरन सरन,
बाकुरे[2] बिरुद बिरिदैत केहि केरें।१
समुझि जियँ दोष अति रोष करि राम के,[3]
करत नहिं कान बिनती बदनु फेरें।
तदपि ह्वै निडरु[4] कहौं करुनासिंधु,
क्यों बरहि[5] जात सुनि बात बिनु हेरें।२
मुख्य रुचि हेतु[6] बसिबे कें[7] पुर रावरें,
राम तेहि रुचिहि कामादि गन घेरें।
अगमु अपवगु[8] अरु[8] स्वर्ग सुकृतैक फल,
नाम-बल क्यों बसौं $\frac{\text{जगु}^9}{\text{जम}}$ नगरु नेरें।३
कतहुँ नहिं ठाउँ कहँ जाउँ कोसलनाथ,
दीन(बित हीन[10]) हौं बिकल बिनु डेरें।
दास तुलसिहि बास देहु अब करि कृपा,
बसत गज गीध ब्याधादि जेहि खेरें।४

शब्दार्थ—बिरिदैत=बिरदवाला; बानावन्द; बहुत अधिक प्रसिद्ध वीर, योद्धा, दानी इत्यादि जिसका नाम बहुत दूर तक हो। 'क्यों बरहि जात'—बैजनाथ आदि कई टीकाकारोंने 'क्यों ऽब रहि जात' इस प्रकार पदच्छेद करके 'क्योंकर अब रहा जाता है' यह अर्थ किया है। श्रीहरिहरप्रसादजी,

---

२ बाकुरे—६६। ३ के—६६, रा०, भा०, वे०, ह०, मु०, भ०। कै—दीन, ज०। जेहि— डु०, वै०, ७४। जो—वि०। ४ 'ह्वै निडरु कहौं'—६६, रा०, १५, भ०। ह्वै निडर हौं कहौं—भा०, वे०, प्र०, ज०, ह०, आ०। हौं निडर ह्वै कहौं—७४। ५ बरहि—६६, रा०, भा०, वै०, भ०, डु०। अब रहि —प्र०, १५। बरजि—ज०। ऽब रहि—दीन, वि०। ६ हेतु—६६, रा०, डु०, भ०। होतु—मु०। होत—भा०, वे०, ह०, ७४, वि०, वे०। होति—दीन। ७ कें—६६, रा०। के—भ०। को—भा०, वे०, ह०, आ०। ८ अरु स्वर्ग—६६ मे ये शब्द नहीं है, अनय सबोमे हैं। ९ जगु—६६, रा०। जम—औरोमे। १० बित हीन—६६में नहीं है औरोमे है।

बाबू शिवप्रकाश (डु०) और वीरकविजीने 'क्यो बराये जाते हो' तथा भट्टजीने 'क्यों बहरा जाते हो' अर्थात् 'क्यों आना-कानी करते हो'—अर्थ किया है। कान करना = सुनना; ध्यान देना। फेरना = एक ओरसे दूसरी ओर कर लेना। बदन फेरना = किसीकी ओर पीठ कर लेना; अपना मन हटा लेना; उपेक्षा प्रकट करना। 'मुँह फेर लेना' मुहावरा है। हेतु = लिये; निमित्त। बसिबे = बसने; निवास करने। घेरना = अपने अधिकारमे कर लेना; ग्रसे रहना; फँसाये रखना। सुकृतैक = सुकृत + एक = एकमात्र सुकृतोका। फल = परिणाम, भोग। जगु-नगर = भव (जन्म-मरण, संसार) रूपी नगर। जम नगर = यमलोक; नरक। डेरा = ठहरनेका स्थान।

पद्यार्थ—हे रघुकुलमणि! (आपको छोड़कर) मेरे लिये और कहाँ ठिकाना है? (अर्थात् कोई भी दूसरा ठिकाना नहीं है)। 'पतितपावन' (पतितोंको पावन करने वाले), 'प्रणतपाल' (प्रणाममात्र करनेवालेका पालन करनेवाले) और 'अशरणशरण' (जिनको कहीं शरण नहीं, उनको भी शरण देनेवाले)—ये अनोखे बाँके (श्रेष्ठ) बाने किस बानेबन्दके है? (अर्थात् यह कीर्त्ति किसी दूसरेकी नही है, यह यश आपको ही प्राप्त है)।१। हे श्रीरामचन्द्रजी! (यद्यपि) मेरे दोषोको हृदयमे समझकर अत्यन्त क्रोध करके आप मुँह फेरे हुये मेरी विनतीपर ध्यान नहीं देते, तथापि मैं निडर होकर (बेधड़क) कहता हूँ कि हे करुणासागर! मेरी बात (बिनय) सुनकर बिना देखे आपसे कैसे बराया जाता है (आना-कानी की-जाती है) †।२। हे श्रीरामजी! (मेरे मनमे) आपके नगर (साकेत) मे बसनेके हेतु प्रधान (सर्वोपरि) इच्छा है; परन्तु उस रुचिको कामादिगण घेरे रहते है (अर्थात् काम-क्रोध-लोभ-मदादि उस रुचिको अपने-मे फँसाये रखते हैं, उसे ऐसा वशमे किये हैं कि वह ऊपर उठने नहीं पाती, मनकी मनमे उठकर रह जाती है)। अपवर्ग (मोक्ष तो मेरे लिये) कठिन

---

† अर्थान्तर—१ 'मेरी बातको बिना सुने और बिना विचारे तुम क्यो बहरा जाते हो (आनाकानी करते हो)।' (भ०)। २—"आपके मुँह फेर लेनेसे मेरी विनती कोई नहीं सुनता। हे करुणासिंधु! तो भी मैं निडर होकर कहता हूँ; (आप) क्यो बराए अर्थात् छोड़े जाते है बात सुनि बेदेखे।" (ह०)। ३ 'मेरी प्रार्थना सुनकर बिना निगाह किये आपसे कैसे बराया जायगा' यहां लक्षणामूलक गूढ़ व्यंग है कि आप दयासागर हैं, दीनकी पुकार सुनकर बिना दृष्टि फेरे आप से न रहा जायगा। (वीर)। ४ "तथापि, हे करुणाके समुद्र, जब मैं निर्भयता-पूर्वक आपसे अपनी बातें कहता ही जाता हूँ, तब मेरी बातोको सुनकर उनपर ध्यान दिये बिना आपसे कैसे रहा जाता है?" (दीनजी)।

(दुर्लभ) है और स्वर्ग एकमात्र सुकृतोंहीका फल है। (ये दो उत्तम ठिकाने हैं, सो इनमें मेरा अधिकार नहीं तो न सही, नरक वा भवमें ही निवास मिले; पर) आपके नामका बल होनेसे (अर्थात् आपका नाम जपता हूँ, इस कारण) यम-लोक वा भवरूपी नगरके पास कैसे बस सकता हूँ? (अर्थात् यहाँभी ठिकाना नहीं) ।३। (इस प्रकार मुझे तो) कहीं भी ठिकाना नहीं है। हे कोसलपति! मैं दीन हूँ, (साधनरूपी धनसे रहित हूँ), बिना टिकनेके स्थानके व्याकुल हूँ। अब (मुझ) तुलसीदासको कृपा करके उस पुरवेमें वास दीजिए जिसमें गज, गीध और व्याध आदि बसते हैं ।४।

टिप्पणी—१ 'और कहँ ठौर रघुबंसमनि मेरें।' इति। (क) पूर्व कहा था—'कहाँ जाउँ कासों कहो और ठौर न मेरे ।१४६।', 'जग दूसरो न ठाकुर ठाउँ। १५३।', 'मोको और ठौर न सुटेक एक तेरिये। १८१।' इत्यादि। और अब उन्हींसे प्रश्न करते हैं कि आपही बताइए कि मेरे लिये 'और कहँ ठौर?' 'मेरें' कहकर आगे पतितपावन आदि विरुदको गिनाकर जनाया कि मैं पतित हूँ, प्रणत हूँ और शरणहीन हूँ, कोई मुझे शरण देनेवाला नहीं है।

१ (ख) 'पतितपावन ...'—अर्थात् वेदादि ये विरुद आपके ही बताते हैं; यथा 'पतितपुनीत दीनहित असरन सरन कहत श्रुति चारो ।९४।', 'प्रनतपाल बिरुदावली सुनि जानि बिसारी। १४८।', 'प्रनतपाल पन तोर ।११३।', 'आरति-हरन सरन अतुलितदानि प्रनतपाल कृपाल पतितपावन नाम ।७७।' 'अशरण'से जनाया कि जो सब साधनों और अवलम्बोंसे रहित हैं, जिसको कोई पूछने वा शरण देनेवाला नहीं—यह 'को कृपाल स्वामी सारिखो राखै सरनागत सब अंग बल हीन को ।२७४।', 'सब बिधि हीन दीन अति जड़मति जाको कतहुँ न ठाउँ। आयो सरन भजों न तजों तिहि यह जानत रिषिराउ। गी० ५।४५।' से स्पष्ट है। प्रणतपाल ऐसे हैं कि 'सकृत प्रनाम प्रनत जस बरनत सुनत कहत फिरि गाउ।१००।'

२ 'समुझि जियें दोष अति रोष ...' इति। (क) बिनती बराबर करते जाते हैं कि 'तुलसिदास भलो पोच रावरो नेकु निरखि कीजै निहाल ।१५४।', 'केहू भाँति कृपासिंधु मेरी ओर हेरिये। मोको और ठौर न ।१८१।' 'लेहु अपनाइ अब देहु जनि बावो ।२०८।'; पर आप मुँह फेरे बैठे हैं, इससे निश्चय होता है कि मेरे दोषोंको जानकर आप रुष्ट हैं। रोषको त्याग करनेकी प्रार्थना आगे की-भी है। यथा 'अब तजि रोष करहु करुना हरि तुलसिदास सरनागत आयो ।९४३।'

२ (ख) 'तदपि ह्वै निडरु कहौं करुनासिंधु ...' इति। 'निडरु' होनेका कारण है आपकी विरुदावली। आप पतितपावन, प्रणतपाल, अशरण-शरण हैं। करुणासिंधु हैं, करुणागुणसे ही ये बाने आपने धारण किये हैं। यदि आप न देखेंगे, कृपा न करेंगे तो विरुदावलीमें बट्टा लग जायगा। यथा 'सुधा सो सलिल सूकरी ज्यों

गहडोरिहौं। ढील किए नास महिमाकी नाव बोरिहौं।२५८।', 'बाँकी बिरुदावली बनैगी पाले ही कृपाल ।२५९।'; आपकी विरुदावलीने मुझे ढीठ और निःशंक बनाया है; यथा 'तुलसी नमत अवलोकिये बलि बाँह बोल दै बिरुदावली बुलायो ।२७६।' करुणा-गुणका लक्षण है कि दुःख सुनतेही द्रवित हो जाय और आप तो करुणाके सागर हैं, तबभी आप नहीं द्रवीभूत होते, यह क्यों ? करुणासिंधु होनेसे मुझे विश्वास है कि आप अवश्य कृपा करेंगे। करुणाका न करनाभी पूर्व कह आये हैं—'कस न करहु करुना हरे" ।१०९।', 'कृपा सो धौं कहाँ बिसारी राम। जेहि करुना सुनि श्रवन दीन दुख धावत हो तजि धाम।९३।'

३ 'मुख्य रुचि हेतु बसिवेके'''' इति। (क)१६६६मे 'हेतु' है। 'तु'से निश्चित है कि यह लेखप्रमाद नहीं है। 'होत' मे 'त' होता है, 'तु' नहीं। (ख) 'मुख्य' से जनाया कि रुचि तो और भी होती हैं, पर प्रधान यही है।—[वैजनाथजी लिखते हैं—"यदि आप पूछें कि तेरी क्या रुचि है जो बारबार बिनती करता है, तो सुनिए। इन्द्रियोंकी रुचि तो अपने-अपने विषयोंपर है। मन आदिकी रुचि स्त्री, पुत्र, धरणी,धाम, भोजन,वस्त्र,ऐश्वर्य और स्वर्गपर्यन्त सुखकी है तथा संगतिके अनुकूल जीवोमे अर्थ, धर्म्म, काम और मोक्ष आदि अनेक प्रकारकी इच्छायें होती है। परन्तु मुख्य रुचि आपके पुर साकेतमे बसनेकी होती है]

३ (ग) 'तेहि रुचिहि कामादि गन घेरें' इति। रुचि मनमे होती है, कामादिगणने उसे घेर लिया है; यथा 'लोभ मोह मद काम क्रोध रिपु फिरत रैनि दिन घेरे। तिन्हहिं मिले मन भयो कुपथरत''''। १८७', 'कोह मद मोह ममतायतन जानि मन "। २०९।', 'काम सकल्प उर निरखि बहु बासनहि''''। २०९।' आपके पुरकी प्राप्तिके साधन जो ज्ञान, विज्ञान, वैराग्य और भक्ति आदि हैं, उनको कामादि रहने नहीं देते, उनके बदले अपने सहायक स्त्री, धन, शत्रु आदिको रखते हैं। यथा 'मैं तुम्हरो लै नाउँ गाउँ एक उर आपने बसायो॥ भजनु विवेकु बिरागु लोग भले करम करम करि ल्यायो॥ सुनि रिस भरे कुटिल कामादिक करहि जोरु बरिआई। तिन्हहिं उजारि नारि अरि धन पुर राखहिं राम गोसाई। १४५।'—अतएव ये उस इच्छामे बाधक हैं,तबवह कब सफल हो सकती है ?

३ (घ) 'अगम अपवर्ग अरु स्वर्ग'' इति। मोक्षकी अगमता 'काम सकल्प उर निरखि बहु बासनहि आस नहि एकहू आँक निरवान की। २०९ (२)।'मे और स्वर्गकी अगमता तथा उसका सुकृतोका फलस्वरूप होना 'वेदबोधित कर्म धर्म बिनु अगम अति जदपि जिय लालसा अमरपुर जान की। २०९(३)।' मे दिखाया जाचुका है। कामनाये होनेसे मोक्ष नहीं प्राप्त होनेका और सुकृतरहित होनेसे स्वर्ग नहीं मिल सकता। तीन ही स्थान जीवके लिये है-अपवर्ग,

स्वर्ग और नरक। यथा 'सरग नरक अपबरग समाना। जहँ तहँ देख धरें धनु बाना।२।१३१।' इनमेसे दोका तो अधिकारही नहीं है, केवल नरकका अधिकार है, किन्तु उसमे आपका नाम बाधक है। मैं नाम जपता हूँ, इससे यमदूत मेरे पास नहीं आते। क्योंकि दूतोंको यमराजकी आज्ञा है कि जिनकी जिह्वा भगवान्‌के गुण और नामोंका कीर्तन नहीं करती, उन अधम पुरुषोंको ही तुम यहाँ लाना।—'जिह्वा न वक्ति भगवद्गुणनामधेयं। तानानयध्वमसतोऽकृतविष्णुकृत्यान। भा० ६।३।२९।'—इस प्रकार मेरे लिये नरकका द्वारभी बन्द है। पूर्व भी कहा है—'जानि नाम अजानि लीन्हें नरक जमपुर मने।१६०।'

☞ १६६६ और रा० मे 'जगु नगर' पाठ है। उसके अनुसार 'जगु नगर' मे पिछले पदके 'नरक अधिकार मम घोर संसार-तमकूप' २०९ (५) का भाव होगा।

४ 'कतहुँ नहिं ठाउँ कहँ जाउँ' इति। (क) जीवोंके निवासके जितने स्थान कहे गए हैं, उनको गिना आये; उनमे कहीं निवास नहीं मिल सकता, तो अब कहाँ जाऊँ? बिना स्थानके व्याकुल भटक रहा हूँ। दीन और साधनरूपी धनसे रहित हूँ। (ख) 'कोसलनाथ' इति। कोसलाधीस, कौसलेश, कोसलपति, कोसलपाल आदि पर्यायी शब्द पूर्व कई बार आचुके हैं—४३ (२ ग; नोट ५), ६५(३घ),७६(२ ङ)इत्यादि देखिए। भाव यह है कि जीवके सच्चे स्नेही एकमात्र आपही हैं; यथा 'एक सनेही साँचिलो केवल कोसलपालु।१९१।' निर्धन निर्गुण आर्त अनाथकी समाई और कहीं नहीं है;यथा'निलज नीच निरधन निरगुन कहँ जग दूसरो न ठाकुर ठाउँ॥ 'बानरबंधु बिभीषन हित बिनु कोसलपाल कहूँ न समाउँ। १५३।' औरकी क्या कही जाय आप ऐसे प्रजा पालक है कि सियनिंदकको भी विशोक लोकमे आपने निवास दिया; यथा 'बालिसबासी अवधके बूझिए न खाको। ते पाँवर पहुँचे तहां जहँ मुनि मन थाको। १५२।' आपने अवधके कीट पतंगोको भी अपना धाम दिया। अतएव आप मुझेभी टिकनेके लिये स्थान देनेको समर्थ हैं।

४ (ग) 'दास तुलसिहि बासु देहु''''' इति। भाव कि मैं आपका दास हूँ, दासके लिये आप सब कुछ कर सकते है; यथा 'भगतहित धरि देह काह न कियो कोसलनाथ। २१७।' 'करि कृपा' का भाव कि मैं सर्वथा असमर्थ हूँ, एकमात्र आप अपनी अहेतुकी कृपासे मेरा उद्धार करें। बासका स्थानभी बताते हैं कि बड़े-बड़े भक्तोके बीचमे स्थान मैं नहीं चाहता, मुझे तो पतित गज, गीध और व्याध आदिको जिस खेड़ेमे बास दिया गया है, उसीमें बास दीजिए। पूर्व कह आये है कि 'खग गनिका गज व्याध पाँति जहँ तहँ हौंहूँ बैठारो। अब केहि लाज कृपानिधान परसत पनवारो फारो। ९४।'—ये बहुत कड़े वचन है;

अब बहुत नम्र होकर कृपाकी प्रार्थना उसीके लिये करते हैं। भाव यह है कि जैसे इन अधम पतित, सर्वसाधनवित्तहीन, दीन, आर्त जनोंपर कृपा की है, वैसेही मुझपर कृपा कीजिए। ☞ पिछले पदमें जो कहा था कि 'त्रास नहिं गनत मन सुमिरि गुह गीध गज ज्ञाति हनुमान की', उसको यहाँ स्पष्ट किया है।

सू० शुक्ल—"इसमें प्रेमकी परा उत्कण्ठाका वर्णन है कि हे भगवान्! जैसे कोई कहे कि मोर-पत्नकी आँखें देखती नहीं हैं, तो उसकी बात सुनने योग्य नहीं है, क्योंकि वे कृत्रिम जड़रूप हैं; ऐसेही जीवके दोषोंपर आपको मुख फेर लेना उचित नहीं है, क्योंकि जीवका जीवत्व दोषमय है, किन्तु तुम्हारी ही चिच्छक्तिसे जीवोंमें अनेक भाव होते हैं गीता-'भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः) इस लिये मेरे असत्कर्मोंपर न जाइए, अपने पतितपावन (विरद) की लाज रखिए।"

श्री० श०—"तात्पर्य कि मेरे हृदयमें चित्त (सात्त्विक अहंकार) जटायुके समान, मन (राजस अहंकार) गजेन्द्रके समान और त्रिधा अहंकार (तामस अहंकार प्रधान) व्याधके समान हैं। अतः जिन गुणोंसे एव जिस प्रकार आपने उनका उद्धार करके उन्हे अपना धाम दिया, वैसेही उन्हीं गुणोंसे कृपा करके मुझे भी अपना धाम दीजिए।"

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु ।

२११

कबहुँ रघुबंसमनि सो कृपा करहुगे।
जेहि कृपा ब्याध गज बिप्र खल[1] नर[2] तरे,
तिन्हहिं सम मानि मोहि नाथ उद्धरहुगे[3]।१।
जोनि बहु जन्मि किएँ कर्म खल[4] त्रिबिध बिधि,
अधम आचरन कछु हृदय नहिं धरहुगे।
दीनहित अजित सर्बज्ञ समरथ प्रनतपाल,
चित-मृदुल निज गुनन्हि अनुसरहुगे।२।
मोह मद मान कामादि खलमंडली,
सकुल निरमूल करि दुसह दुख हरहुगे।

१-२ खल नर-आ०। खल तरु-१५, ७४, व०। खल तर-रा०, ह०, च०। खस तरु-भा०, बे०, बै०। ३ आदरहुगे-ह०, प्र०, १५, ज०। ४ खलु त्रिविध-रा०, च०। खल त्रिविध-७४, डु०। खलु विविध-ह०। खल विविध-भा०, बे०, ज०, आ०।

जोग जप ज्ञान[1] विज्ञान तें अधिक अति,
अमल दृढ़ भक्ति दै परम सुख भरहुगे ।३।
मंद-जन-मौलिमनि सकल साधन हीन,
कुटिल मन मलिन जिय जानि जौ डरहुगे ।
दास तुलसी वेद बिदित बिरुदावली,
बिमल जस नाथ केहि भाँति बिस्तरहुगे ।४।

शब्दार्थ—खल तर = विशेष भारी दुष्ट । उद्धरहुगे = उद्धार करोगे । उद्धारना = उद्धार करना; तार देना । अनुसरहुगे = (इनके) अनुकूल आचरण (वर्ताव) करोगे । भरहुगे = भरपूर दीजियेगा । डरना = शंकित होना; किसी अनिष्टकी शंकासे संकोच करना ।

पद्यार्थ—हे रघुकुलशिरोमणि ! (क्या आप मुझपर भी) कभी वह कृपा करेंगे,जिस कृपासे व्याध (वाल्मीकि आदि),गजेन्द्र और विप्र (अजामिल)आदि भारी-भारी दुष्ट तर गए? हे नाथ ! उन्हींके समान मानकर मेराभी उद्धार कीजियेगा ? ।१। अनेक योनियोंमें जन्म लेकर (मैंने जो मन-कर्म-वचन) तीनों प्रकारके दुष्ट कर्म किये हैं, उन अधम आचरणोंको आप किंचित् भी हृदयमें न धरेंगे (न लायेंगे) ? दीनहित (दीनोंका भला करनेवाले , अजेय (किसीसे न जीते जाने योग्य), सर्वज्ञ, समर्थ, प्रणतपाल और कोमलचित—क्या अपने इन गुणोंका अनुसरण कीजियेगा ? ।२। मोह, मद, मान, काम-क्रोध-लोभ आदि खलसमाजका कुल (परिवार) सहित जड़से नाश करके (मेरा) कठिन दुःख हरण कीजियेगा ? जोग, जप, ज्ञान और विज्ञानसे (भी) अधिक श्रेष्ठ अत्यंत निर्मल अचल भक्ति देकर मुझे परमानंदसे भरपूर करदेंगे ? ।३। तुलसीदासजी कहते हैं कि यदि मुझे नीच प्राणियोंका शिरोमणि, सब साधनोंसे रहित, कुटिल और मनका मैला हृदयमें जानकर आप डरेंगे, तो हे नाथ ! वेदविख्यात विरदावलीवाले निर्मल यशको (आप) किस प्रकार फैला सकेंगे?।४।

टिप्पणी—१ 'कबहुँ रघुबंसमनि सो कृपा' ' इति । (क) पिछले पदमें प्रार्थना की-थी कि 'बास देहु अब करि कृपा बसत गज-गीध-व्याधादि जहि खेरे।' उसी अभिलाषाकी पूर्तिके लिये अब प्रार्थना पुनः करते हैं—यह 'सो कृपा' और 'जेहि कृपा व्याध विप्र खलतर तरे' से जनाया।इससे यह भी स्पष्ट कर दिया कि उनका उद्धार 'कृपा'–गुणसे ही हुआ, नहीं तो वे कभी भी तर न सकते थे । रघुवंशमणि अर्थात् रघुवंशियोंमें श्रेष्ठ हैं । श्रेष्ठता पूर्व दिखा चुके हैं । 'आहि-रघुबसभूषन कृपाकर' ५६ (८ ग) देखिए ।

[1] -भा० । ज्ञान-औरोंमें ।

१ (ख) व्याध-५७ (३ च), ६४ (३ घ)। गज-५७ (३ छ), ८३ (६ ग); ६३ (२क-ख), १७६ (३)। विप्र (अजामिल) —५७ (३ झ) तथा ६७ (४ क-ख) —मे कथायें आ चुकी हैं। (ग) 'तिन्हहि सम मानि' इति। व्याध महापापी था। उलटे नामके जपसे आपने उसका उद्धार किया, मैं भी पापी हूँ और शुद्ध नाम जपता हूँ। गजेन्द्र आर्त हो नाम लेकर शरण गया, मैं भी आर्त होकर पुकार रहा हूँ; यथा 'देव दुआर पुकारत आरत सब की सब सुखहानि भई है।१३६।', 'हो आरत आरतिनासन तुम्ह।२४२।' अजामिलने पुत्रके बहाने नाम लिया था और मैं पेटके लिये नाम लेता हूँ। अजामिलसे मिलान पद ६६ (३ घ) 'तौ तुलसिहि तारिहौ विप्र ज्यों' की टिप्पणीमे देखिए। (घ) पद ६३ से उलहनाकी रीतिसे प्रार्थना की थी। यथा 'कृपा सो धौं कहाँ बिसारी राम। जेहि करुना सुनि श्रवन दीन दुख धावत हे तजि धाम।' इत्यादि। और यहाँ बड़े विनम्र होकर विनय की है।

२ 'जोनि बहु जन्मि' इति। (क) अनेक जन्म हुए, सबमें अनेक प्रकारके कर्म किये, यथा 'जनम अनेक किये नाना विधि करम कीच चित सान्यो। ८८।' 'कहिहै कौन कलुष मेरे कृत करम बचन अरु ही के।६६।', 'त्रिविध बिधि अमित अवलोकि अघ आपने सनमुख होत सकुचि सिर नायो।२०८।' (ख) 'अधम आचरन कछु'—भाव कि यदि मेरे आचरणपर ध्यान देंगे तब तो मेरा निस्तार हो ही नहीं सकता, तब तो मैं संसारतमकूपमें सदा पड़ा रहूँगा। यथा 'जौ पै जिय धरिहौ अवगुन जनके। तौ क्यों कटत सुकृत नख तें मो पै बिटप बृंद अघबनके।९६।', 'नरक अधिकार मम घोर संसार तम कूप...।२०९।' अतएव जैसे व्याधादिके आचरणपर ध्यान न दिया, वैसेही क्या कभी मेरे आचरणोपरभी ध्यान न देंगे? कभी तो ऐसी कृपा अवश्य होगी, इसकी आशाका कारण भी आगे कहते हैं कि आप 'दीनहित' हैं। क्या आप अपने इन गुणोंको चरितार्थ करेंगे?

नोट—१ 'गुनन्हि अनुसरहुगे' इति। वात्सल्य, स्वामित्व, सौशील्य और सौलभ्य ये चार आश्रयणसौकर्योपादक गुण हैं। शरणमें आये हुए चेतनोंके दोषोंको भोग्य मानकर स्वीकार करना 'वात्सल्य गुण' का अनुसरण करना है; जैसे गौ अपने उदरसे प्रकट हुए बच्चेकी मलिनतासे घृणा न करती हुई उसे परम भोग्य समझकर मलको चाटकर स्वच्छ कर देती है। 'वत्सवत् लालीति वत्सला तस्य भावं वात्सल्यम्।', 'प्रपन्नान्साधवः साक्षात् दोषेण सह गृह्यते। सद्योजातं सुमलिनं वत्स गौरिव वत्सला।' (पाञ्चरात्र अहिर्बुध्न्य संहिता)।

स्वामित्व— भगवान् माया और जीवके ईश्वर हैं। भगवान्का वाक्य है कि

'मेरी शरणमें आये बिना जीवोंका संसारभय निवृत्त नहीं हो सकता। मैं ही माया और जीवका ईश्वर हूँ'— 'नान्यत्र मद्भगवतः प्रधानपुरुषेश्वरात्। आत्मनः सर्वभूतानां भयं तीव्रं निवर्तते। भा० ३।२५।४१।' तथा 'पतिं विश्वस्यात्मेश्वरम्' इति श्रुतिः (महाना० ६।३)—इस प्रकार स्वामीपनेका संबंध विचारकर 'स्वामित्वप्रयुक्तरक्षकत्व गुणका अनुसरण करना है।

सौशील्य—महान् होकर भी महामन्द चेतनोंके साथभी कुछ फ़रक(भेद) न मालूम पड़े—ऐसे वर्तावका नाम 'सौशील्य' गुणका अनुसरण है। यथा 'प्रभु तरु तर कपि डारपर ते किय आपु समान।१।२९।', 'राम सुग्रीवयोरैक्यं' इत्यादि।

सौलभ्य—सबके दृष्टिगोचर होकर सब सेवाको अंगीकार करना, चित्रकूटादि स्थानोंमें कोल भील शबरी प्रभृतिकी सेवाको परम सुलभ होकर अंगीकार करना 'सौलभ्यगुण' का अनुसरण है।

आगे (शरण आनेके पश्चात्) चेतनोंके कार्य करनेवाले "आश्रितकार्योपादक गुण"—ज्ञान, शक्ति, पूर्ति और प्राप्ति ये चार गुण हैं। शरणमें आये हुए चेतनके संपूर्ण दोषोंको जानकर भी ऐसा छिपाना कि श्रीश्रीजीको भी न मालूम हो। (यथा 'रहति न प्रभु चित चूक किये की। करत सुरति सय बार हिये की॥ जेहि अघ बधेउ व्याध जिमि बाली। फिरि सुकंठ सोइ कीन्हि कुचाली॥ सोइ करतूति बिभीषन केरी। सपनेहु सो न राम हिय हेरी।१।२९।५-७।') इत्यादि "दोषगोपनसामर्थ्यशक्ति" है। बद्ध जीवोंको अपनी अचिन्त्य शक्तिसे, नित्य मुक्तोंकी गोष्ठीमें नित्य सेवा प्रदान करना, (जैसे गीध और शबरी आदिको सद्‌गति दी), 'शक्ति' है। सब दुर्गुणोंको दूर करके शुभ गुणोंसे ऐसा पूर्ण कर देना कि फिर कभी क्षीण न हो 'पूर्ति' है। वियोगरहित संयोग अर्थात् विश्लेषणरहित संश्लेष 'प्राप्ति' गुण है। उभयानुग्राहक नवाँ गुण 'दया' है। 'स्वार्थनिरपेक्ष परदुःखासहिष्णुत्वे दया' अर्थात् परदुःखनिर्चिकीर्षा वा।—इन्हीं (उपर्युक्त वात्सल्य, स्वामित्व, सौशील्य, सौलभ्य, ज्ञान, शक्ति, पूर्ति, प्राप्ति और दया) नव गुणोंको उपयोगमें लानेकी प्रार्थना गोस्वामीजी सरकारसे करते हैं। उपयोगमें लाना अनुसरण करना है। (वे० शि० श्रीरामानुजाचार्यजी)।

☞ इसके अनुसार अजित 'स्वामित्व' गुणके, ज्ञान 'सर्वज्ञ' के, समरथ 'स्वामित्व और शक्ति' गुणोंके, चित मृदुल 'दया' गुणके और दीनहित तथा प्रणतपाल तो सभी गुणोंके अन्तर्गत आ जाते हैं।

[वै०—अजित अर्थात् काल-कर्म-गुण-स्वभावके भक्षक हो, किसीसे भी जीते नहीं जा सकते। अतः मुझे भी कालादिसे निर्भय कर दीजिए। समर्थ हैं अर्थात् समस्त ईश्वरोंको आपनेही ऐश्वर्य दिया है—'हरि-हरहि हरता बिधिहि बिधिता श्रियहि श्रियता जेहि दई।१२५।']

टिप्पणी—३ 'मोह मद मान कामादि' " इति। (क) ये सब खल हैं; यथा 'खल कामादि निकट नहिं जाहीं।७।१२०।६।' मोह मद-मान-कामादि-व्याधियोंका मूल है, इसीसे मद आदि सब उत्पन्न होते हैं और सभी जीवोंको सदा पीड़ा देते रहते हैं; यथा 'मोह सकल व्याधिन्ह कर मूला। तिन्ह ते पुनि उपजहिं बहु सूला। "पीड़हिं संतत जीव कहँ सो किमि लहै समाधि।७।१२१।'—इसीसे इन सबोंको इनके परिवार और मूल सहित नाशकी प्रार्थना है। इनके द्वारा अत्यन्त भारी दुःखका होना पूर्व पद १२५ 'मैं केहि कहौं बिपति अति भारी।' ", पद १४७ 'मिले रहै मार्‌यो चहैं कामादि सँघाती। ',पद ११६ 'मोहजनित दारुन भव बिपति सतावै' इत्यादिमें कह चुके हैं, इसीसे यहाँ केवल 'दुसह दुख' शब्द देकर वह दुःख जना दिया।

३ (ख) 'जोग जप ज्ञान बिज्ञान तें अधिक" 'इति। लोक-परलोकके यथार्थ स्वरूपको समझ लेना 'ज्ञान' है और परम तत्त्वके विषयमें असाधारण विशेष ज्ञानका नाम 'विज्ञान' है।—'ज्ञानं परावरतत्त्वयाथात्म्यज्ञानम्', 'विज्ञानं परतत्त्वगतासाधारणविशेषविषयं ज्ञानम्'।(गीता१८।४२श्रीरामानुज भाष्य)।इन सबोंसे निर्मल (निष्काम) भक्तिको अत्यन्त विशेष महिमावाली कहा गया है। देवर्षि नारदजी भी कहते हैं—'सा तु कर्मज्ञानयोगेभ्योऽप्यधिकतरा।' (भक्ति सू० २५। अर्थात् वह तो कर्म, ज्ञान और योगसे भी श्रेष्ठतर है) तथा 'त्रिसत्यस्य भक्तिरेव गरीयसी।'(सूत्र,८१। अर्थात् कायिक, वाचिक और मानसिक तीनों सत्योंमें अथवा तीनो कालोंमें सत्य भगवान्‌की भक्तिही श्रेष्ठ है,भक्तिही श्रेष्ठ है)।आगे सूत्र ८३में वे कहते हैं कि श्रीसनकादिक, व्यास, शुकदेव, शाण्डिल्य, गर्ग, विष्णु, कौण्डिन्य, शेष, उद्धव, आरुणि, बलि, हनुमान् और विभीषण आदि भक्तितत्त्वके आचार्यगण सब एकमतसे ऐसाही कहते हैं (कि भक्तिही सर्वश्रेष्ठ है)। यथा "इत्येवं वदन्ति जनजल्पनिर्भया एकमताः कुमारव्यासशुकशाण्डिल्यगर्गविष्णुकौण्डिन्यशेषोद्धवारुणिबलिहनुमद्विभीषणादयो भक्त्याचार्याः।८३।" त्रिपाद्विभूतिमहानारायणोपनिषत् उत्तर काण्ड अष्टमाध्यायमें भी आदेश है—"तस्मात्त्वमपि सर्वोपायान्परित्यज्य भक्तिमाश्रय। भक्तिनिष्ठो भव।" अर्थात् इस लिये तुम भी सब उपायोंको छोड़कर भक्तिका ही आश्रय लो; भक्तिनिष्ठ हो जाओ।

सूत्र २५ तथा ८१ में जो 'अधिकतरा' और 'एव गरीयसी' है, वही प्रस्तुत पद का 'अधिक अति' है। सूत्र २५ में 'कर्म ज्ञान योग' है, वैसेही यहाँ जप (कर्म), ज्ञान-विज्ञान (ज्ञान) और जोग (योग) तीनको गिनाया है।

योग, ज्ञान, विज्ञान आदिसे भक्तिही श्रेष्ठतर है, इसीसे इन सब सुखोंका प्रलोभन देनेपर भुशुण्डिजीने इनको लेना स्वीकार नहीं किया। यथा' 'मोच्छ सकल सुखखानि।७।८३। ज्ञान विवेक बिरति बिज्ञाना। मुनिदुर्लभ गुन जे

जग नाना। आजु देउँ सब संसय नाहीं।' इसपर भुशुण्डिजीके विचार देखिए—'प्रभु कह देन सकल सुख सही। भगति आपनी देन न कही॥ भगतिहीन गुन सब सुख कैसे। लवन बिना बहु बिंजन जैसे।' यह विचारकर उन्होंने माँगा—'अबिरल भगति बिसुद्ध तव श्रुति पुरान जो गाव। जेहि खोजत जोगीस मुनि प्रभु-प्रसाद कोउ पाव॥' "सोइ निज भगति मोहि प्रभु देहु दया करि राम। ७।८४।' प्रार्थीको इसी 'अविरल विशुद्ध भक्ति' की चाह है, जो 'प्रभु-प्रसाद' से ही मिलती है। अति अमल = विशुद्ध। दृढ़ = अविरल। भक्ति सब सुखोंकी खान है, इसी भक्तिको देकर परमानन्दसे भर देना कहा है। योग और जपसे यह प्राप्त नहीं हो सकती, यह स्वयं भगवान्ने कहा है। यथा 'सब सुखखानि भगति तैं माँगी। नहिं जग कोउ तोहि सम बड़भागी॥ जो मुनि कोटि जतन नहिं लहहीं। जे जप जोग अनल तन दहहीं।७।८५।' भक्तिकी महिमा मानस ७।१२० में 'सुनहु भगति-मनि कै प्रभुताई।' से 'दुख लवलेस न सपनेहु ताके।' तक देखिए। ☞ पूर्व जो प्रार्थीने 'तुलसिदास प्रभु एहि पथ रहि अबिरल हरि-भक्ति लहौंगो।१७२।' यह मनोराज्य किया था, उसीकी प्राप्ति चाहते हैं।

["'विज्ञान'—आत्मज्ञानसे तात्पर्य है, न कि पदार्थविज्ञानसे। आत्मज्ञान वा स्वस्वरूप ज्ञानका प्राप्त हो जाना ही सर्वस्व नहीं है। इसके आगे भी कुछ है, और वह है परमात्माके स्वरूपका यथार्थ ज्ञान। यह ज्ञान पराभक्ति द्वारा प्राप्त होता है। अतः पराभक्ति, साधना होती हुई भी, साध्या वा लक्ष्यरूपा मानी गई है" (वि०)। "ज्ञानसे स्वस्वरूप ज्ञान और विज्ञानसे प्रकृति वियुक्त जीवात्माका ज्ञान अभिप्रेत है।" (श्री० श०)]

टिप्पणी—४ 'मंदजनमौलिमनि ' इति। (क) मंदबुद्धिवालोंमें शिरोमणि होना पूर्व कह आये हैं; यथा 'माधवजू मो सम मंद न कोऊ।' (पूरा पद ९२)। कैसा मंद हूँ, यह वहाँ दिखा आये हैं, यहाँ 'मंदजनमौलिमनि' से वह सब मन्दता जना दी। 'सकल साधन हीन'—साधनोंकी गणना भी कुछ कर आये हैं; यथा 'भक्ति वैराग्य विज्ञान सम दान दम नाम आधीन साधनमनेक।४६।'—विशेष ४६ (७ घ) में देखिए। साधनरहित होनाभी कह चुके हैं; यथा 'ज्ञान बिराग भगति साधन कछु सपनेहु नाथ न मेरे।१८७।' यहाँ 'सकल' से उन सबों-का ग्रहण हो गया। कुटिल और मनमलिनभी कह आये हैं; यथा 'मंदमति कुटिल-खल-तिलकु तुलसी सरिस भयो न तिहुँ लोकं तिहुँ काल कोऊ।१०६।', 'कुटिल करम लै जाइ मोहिं, जहँ जहँ अपनी बरिआई।१०३।', 'मन मलिन बिषय सँग लागे।८२।'

४ (ख) 'जानि जो डरहुगे'—अर्थात् कदाचित् आप शंकितहृदय हों कि इस महामन्द पापीका उद्धार करनेसे हमारी प्रतिष्ठा जाती रहेगी, हमारी बुराई

होगी, लोग अन्यायी कहेंगे। इत्यादि। [डरेंगे कि इसको शरणमें लेनेसे कहीं मेरी बदनामी (अपकीर्ति), न हो कि ईसका तो नीचोंही-से साथ रहता है। (दीनजी)]

४ (ग) 'दास तुलसी वेदबिदित ....' इति। 'केहि भाँति बिस्तरहुगे' कथनसे भाव यह हुआ कि मेरा उद्धार करनेसे आपका यश, जो वेदोंने गाया है, आगे फैलेगा, उस विरुदावलीपर लोगोंका विश्वास होगा, वे उसे सत्य जानकर आपकी शरणमें जायँगे; और मेरा उद्धार न होनेसे इस विरुदावलीको कौन जाने और मानेगा ? सब वेदविदित विरुदावलीको असत्य और अर्थवादमात्र जानेंगे, कोई इसपर विश्वास न करेगा; आगे कोई शरणमें न जायगा, पूर्वसे प्राप्त आपका निर्मल यश मिट्टीमें मिल जायगा, गँदला हो जायगा। अतः यदि आप अपनी प्राप्त कीर्तिका प्रचार चाहते हों तो मेरा उद्धार करनेमें संकोच न कीजिए। मिलान कीजिए—'सुधा सो सलिल सूकरी ज्यों गहडोरिहो', 'ढील किये नाम-महिमा की नाव बोरिहो' (२५८)।

[श्री० श०—ये बाने पराये हितार्थ तथा स्वार्थसम्बन्धरहित होनेसे निर्मल हैं।]

सू० शुक्ल—इसमें भगवान्‌के असाधारण गुणोंका वर्णन है कि यदि महापातकी भी शरण होते हैं तो वेभी कृतार्थ हो जाते हैं। इस लिये महापातकियोंकोभी चाहिए कि जबसे समझें कुकर्मोंको छोड़ भगवान्‌में चित्त लगावें। यह नहीं समझना चाहिए कि मैं महापातकी हूँ, भगवान् मुझपर प्रसन्न न होंगे।

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

२१२ (१४२) राग केदारा

रघुपति बिपति दवन।

परम कृपालु[1] प्रनत-प्रतिपालक पतित पावन[2]।१

क्रूर कुटिल कुलहीन दीन अति मलिन जवन।

सुमिरत नाम[3] राम पठये सब आपने[4] भवन।२

गज पिंगला अजामिलसे खल गने[5] धौं कवन।

तुलसिदास प्रभु केहि न दीन्हि गति जानकीरवन[6]।३

---

१ दयाल—भा०। २ पावन—६६, रा०, भा०, बे०, मु०, ङु०, ज०। पवन—ह०, ७४, वै०, दीन, वि०। ३ रामनाम—ङु०, मु०। ४ आपने—६६, रा०, भ०। अपने भा०, वे०, ह०, ७४, ज०, आ०। ५ गने धौं—६६, रा०। गने धौं—भा०, वे०, ह०, आ०। गनइ—७४ (धौं नहीं है)। ६ सियरवन—७४।

शब्दार्थ—दवन (दमन)=नाश करनेवाले। जवन=जौन; जो।=यवन। कवन=कौन। कुलहीन=हीन (=नीच) कुलका।=कुलरहित अर्थात् जिसका सांसारिक संबंधी कोई नहीं रह गया। अन्त्यज। आपने =अपने। धों=भला। रवन (रमण)=पति। से=सदृश; सरीखे।

पद्यार्थ—श्रीरघुनाथजी (ही) विपत्तिके नाशक, परम कृपालु, प्रणतका भलीप्रकार पालन करनेवाले और पतितपावन हैं।१। जो क्रूर स्वभाववाले (निर्दयी) कुटिल, नीच जातिके और अत्यन्त मलिन थे*, उन सबोंको श्रीरामजीने रामनाम स्मरण करतेही अपने धामको भेज दिया।२। रे तुलसीदास! गजेन्द्र, पिंगला (वेश्या) और अजामिल-सरीखे दुष्टोंको भला कौन गिने? (अर्थात उनकी गणना नहीं हो सकती। सच्ची बात तो यह है कि) श्रीजानकीपति प्रभु (श्रीराम जी) ने किसे सद्गति नहीं दी? (सभीको तो दी है)।३।

टिप्पणी—१ 'रघुपति विपति-दवन।....' इति। इस पदमें 'रघुपति', 'राम' और 'जानकीरवन' तीन नाम आए हैं, वैसेही पद ६४ मे तीनों नाम हैं—'वंदौं रघुपति करुनानिधान', 'भवजलधिपोत चरनारविंद। जानकीरमन आनंदकंद', 'त्रैलोकतिलक गुनगहन राम। कह तुलसिदास विश्रामधाम'। रघुपति-६४(१ख) मे, 'जानकीरवन'—६४ (७ ख) और ४६ (२ ग-ङ) 'जानकीरमन सुखभवन भुअनैक-प्रभु समर भंजु नमु परम कारुनीकं।'में देखिए।'विपति' मे त्रिताप और भवभय आदि सभी प्रकारके लौकिक और पारलौकिक दुःख आगए।'विपतिदवन' कहकर उत्तरार्धमें उसका कारण बताते हैं कि वे परम कृपाल हैं,प्रणत प्रतिपालक हैं; यथा 'बहु विधि प्रतिपालन प्रभु कीन्हों। परम कृपाल ज्ञान तोहि दीन्हो। १३६ (४)।';प्रणतका पालन और पतितोंको पवित्र करना उनका विरुद है; यथा 'पतितपावन प्रनतपाल असरनसरन बाँकुरे विरुद विरिदैत केहि केरें।२१०।'—अतः वे इनकी विपत्तिका नाश करते हैं।

२ 'क्रूर कुटिल कुलहीन.....' इति। (क) वैजनाथजी आदि कुछ टीकाकारोंने 'जवन' से 'यवन' म्लेच्छको लिया है। परन्तु उत्तरार्धके 'पठए सब' की जोड़में मेरी समझमें यहां 'जवन' का अर्थ 'जौन; जो' विशेष संगत है। जैसे,कवन=कौन, को। वीरकविजीने भी 'जो'अर्थ किया है।[क्रूर=स्वभावसे ही परद्रोही। जैसे व्याध। कुटिल=टेढे स्वभाववाले, जैसे कोल-भील। कुलहीन जैसे शवरी। दीन जैसे निषाद। अत्यन्त मलिन यवन।—(वै०)। क्रूर—६६ (५) शब्दार्थ देखिए] मेरी समझमें 'यवन' को लेनेकी आवश्यकता नहीं, 'अति मलिन' के अन्तर्गत वह भी आ जाता है।

---

* 'निर्दयी, दुष्ट, नीच जाति, गरीब, बड़ेही मलिन म्लेच्छ,(म्लेच्छों–वि०) सबको.....'–(पो०, रू०, वि०)।

२ (ख) 'सुमिरत नाम राम पठए आपने भवन'—यहाँ ऐसे सभी लोगोंका नामस्मरणसे रामधामको जाना कहा है। पूर्वभी ऐसे कुछ लोगोंके नाम गिनाकर रामधामको जाना कहा है। यथा 'श्वपच खल भिल्ल जमनादि हरिलोकगत नाम बल विपुल मति मल न परसी। ४६ (९)।', 'कोल खल भिल्ल जवनादि खसे रामु कहे नीच ह्वै ऊँच पद कैं न पायो।१०६ (५)।'कोल, भील, श्वपच, यवन, खल और खस आदि क्रूर कुटिल आदि होतेही हैं।[यदि 'जवन'से उस 'यवन' को लें जिसको सूकरशावकने मारा था तो उसकी कथा 'जमनादि कैवल्यभागी' ५७ (३ ट) तथा 'जमनादि हरिलोकगत' ४६ (९ घ) में आचुकी है, वहाँ देखिए]

३ 'गज पिंगला अजामिल से खल ' इति। इन सबोंको खल कहा। इनका तरना पूर्व कह आये हैं, यथा 'जेहि कृपा व्याध गज बिप्र खलतर तरे। २११ (१)।','तौ कत बिप्र व्याध गनिकहि तारेहु कछु रही सगाई? ।११२ (२)।', 'पिंगला कौन मति भगति भेई। कौन धौं सोमजाजी अजामिल अधम कौनु गजराज धौं बाजपेई। १०६ (३)।' 'गने धो कवन' से जनाया कि इनके ऐसे अगणित खलोंको श्रीरामजीने सुगति दी है।उनकी संख्या नहीं की जा सकती।

['जानकीरमन'=श्रीजानकीजीमें (उनके चित्तमें) रमण करनेवाले अर्थात् श्रीरामजी।-(दीनजी)। इस विशेषणसे सूचित किया कि ऐसे अधमोंके उद्धार करनेमें श्रीजानकीजीका रुख प्रधान है, वे इसीमें रमण (आनन्द) मानती हैं। इससे आप वैसाही बर्त्तते हैं, जिससे वे आनन्दित रहें। (श्री० श०)]

'केहि न दीन्हि गति'—भाव कि ऐसे-ऐसे खलोंको सद्गति दी, तब तुझे क्यों न देंगे? अवश्य तेरी विपत्तिका नाश करेंगे और सद्गति देंगे, इसमें रचक संदेह नहीं।

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

२१३

हरि सम आपदा[1] हरन।

नहिं कोउ सहज कृपालु दुसह दुख सागर तरन।१।

गज निज बल अवलोकि कमल गहि गयो जो[2] सरन।

दीन बचन सुनि चले गरुड़ तजि सुनाभधरन[3]।२।

द्रुपदसुता को[4] लग्यो दुसासन नगन करन।

हा हरि पाहि कहत पूरे पट बिबिध बरन।३।

---

१ आपदा को—ज०, वै०। २—जो—रा०, भा०, वे०, मु०, भ०, ह०, ज०। छु०, वै०, ७४, दीन, वि०मे नहीं है। ३ सुनाभायुधधरन— प्र०, १५, वै०। सुनाभधरन—रा०, भा०, वे०, च०, भ०। ४ कहँ—प्र०, १५, छु०, वै०। को—रा०, भा०,

इहै जानि सुर नर मुनि कोबिद सेवत चरन।
तुलसिदास प्रभु को न अभय कियो 'नृग' -उद्धरन।४।

शब्दार्थ--तरन (तरण)=बेड़ा; पार करनेवाला। जो (जों)=ज्योंही; जैसे-ही। सुनाभ=सुदर्शनचक्र। दुशासन-धृतराष्ट्रके सौ पुत्रोंमेंसे एक जो दुर्योधन-का अत्यंत प्रेमपात्र और मंत्री था। यह अत्यन्त क्रूरस्वभावका था। यही द्रौपदी-को घरसे पकड़कर राजसभास्थलमें लाया था और उनको नग्न करना चाहता था। इसीपर भीमने प्रतिज्ञा की थी कि मैं इसका रक्त पान करूँगा और जब तक इसके रक्तसे द्रौपदीके बाल न रँगूँगा तबतक यह बाल न बाँधेगी। भीम-सेनने महाभारतके युद्धमें अपनी यह प्रतिज्ञा पूरी की। कहते हैं कि दुःशासनमें दस हजार हाथीका बल था। बरन (वर्ण)=रंग। हा! =आपत्ति, शोक वा कष्टसूचक शब्द।।=हाय!। 'नृग'—आगे टिप्पणी ४ (ग)मे देखिए।

पद्यार्थ—श्रीहरिके समान सकट हरनेवाला, स्वाभाविकही (बिना किसी कारणके) कृपाल और दुःसह दुःखरूपी समुद्र (पार करने) के लिये बेड़ारूप (दूसरा) कोई नहीं है।१। अपना बल देखकर (कि अब मैं अपने पुरुषार्थसे अपनी रक्षा नहीं कर सकता। सूँड़से) कमलको पकड़कर गजेन्द्र ज्योंही उनके शरण गया, त्योंही उसके आर्त वचन सुनकर सुदर्शनचक्रधारी भगवान् गरुड-को छोड़कर चल पड़े।२। दुःशासन (जब) द्रौपदीजीको नंगी करने लगा, (तब उनके) 'हा हरि पाहि' (हा हरे! मेरी रक्षा कीजिए। यह) कहतेही आपने अनेक प्रकारके रंगोंके वस्त्रसे उनके वस्त्रकी(कमीकी) पूर्ति कर दी।(अर्थात् उनकी साड़ी-मेंसे अनेक रंगबिरंगके वस्त्र निकलतेही गए साड़ी बढ़तीही गई, शरीर वस्त्र-रहित होने न पाया)†।३। यही जानकर सुर, नर, मुनि और कोविद आपके चरणोंकी सेवा करते हैं। तुलसीदास! राजा नृगका उद्धार करनेवाले प्रभुने किसको अभय नहीं किया? (सभीको तो किया जो शरणमें गया)।४।

टिप्पणी--१ 'हरि सम आपदाहरन'' इति। पद २१२ मे कहा था कि भगवान् विपत्तिके नाशक हैं। अब बताते हैं कि उनके समान' विपत्तिनिवारण आदि गुणयुक्त दूसरा नहीं। पद २१२ मे विशेषतः भवविपत्तिका निवारण नामका स्मरण करतेही दिखाया। यहाँ, संकटहरणमे वैसी शीघ्रता करते हैं—यह उदाहरणोंसे दिखाया है। वहाँ गति देना और यहाँ अभय करना कहा है। विशेषणोंके भाव पूर्व कई बार आचुके हैं। यहाँ हमने दोनों पदोंके कुछ भेद दिखाये हैं।

बे०,मु०।५ किय-७४।६ नाग-१५।

† 'वस्त्रका ढेर लगा दिया' 'वस्त्र लाकर जमा कर दिये'-(दीनजी, वि०)।

२ 'गज निज बल अवलोकि' इति। गजका 'निज बल' विचार करना तथा कमलका शुण्डमें पकड़ने आदि की सब कथा पूर्व आचुकी है।५७ (३ छ), ८३ (६ ग), ६३ (२ क-ख), १५६ (३) देखिए। 'कमल गहि', 'चले गरुड़ तजि सुनाभधरन'; यथा 'सोऽन्तः सरस्युरुबलेन गृहीत आर्तो दृष्ट्वा गरुत्मति हरिं ख उपात्तचक्रम्। उत्क्षिप्य साम्बुजकरं'॥ तं वीक्ष्य पीडितमजः सहसावतीर्य'। भा० ८।३।३२-३३।' अर्थात् सरोवरमें परम पराक्रमी ग्राह द्वारा पकड़े हुए उस दुःखी गजराजने चक्र उठाये हुए भगवान्को आकाशमें देखकर कमल सहित सूँड़को ऊपर उठाकर कहा। 'पीड़ित गजेन्द्रको देखकर (यह जानकर कि गरुड़ यथा समय न पहुँच सकेंगे) भगवान् गरुड़से उतरकर तत्काल आगए।

३ 'द्रुपदसुता को लग्यो' इति। पद ६३ के (भूप सदसि सब नृप बिलोकि) प्रभु राखु कह्यो नर नारी। बसन पूरि अरि दरप दूरि करि भूरि कृपा दनुजारी।'—इस अंशका सब भाव यहाँ है। ६३ (४ ग) देखिए।

४ (क)—'इहै जानि सुर नर''' 'इति। 'इहै' यही अर्थात् भगवान्के समान आपदाहरण, सहज कृपाल, दुःसह दुःखसे पार करनेवाला कोई और नहीं है, उन्होने गजेन्द्र और द्रौपदीके संकटके हरणमें कैसी तत्परता वर्ती.—इत्यादि गुण उन्हींमे है, यही सब जानकर सुर, नर आदि उनकी भक्ति करते हैं। 'सेवत चरन' से जनाया कि दास्यभावसे उनका भजन करते है। यथा 'आत्मारामाश्च मुनियो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे। कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः। भा० १।७।१०।' (जीवन्मुक्त आत्माराम मुनि भी हरिकी निष्काम भक्ति करते हैं, क्योंकि हरिमें ऐसे गुण ही हैं)।

४ (ख) 'को न अभय कियो' अर्थात् जिसनेभी आपत्ति आ पड़नेपर उनको पुकारा, उनकी शरण गया, उसको निर्भय कर दिया।

४ (ग) 'नृग उद्धरन' इति। नृगने अपनी कथा भगवान् कृष्णके पूछनेपर इस प्रकार कही है—मैं महाराज इक्ष्वाकुका पुत्र राजा नृग हूँ। जब किसीने आपके सामने दानियोंकी गिनती की-होगी, तब उसमें मेरा नाम भी अवश्यही आपके कानोमे पड़ा होगा। आप समस्त प्राणियोकी वृत्तियोके साक्षी है। आपसे छिपा ही क्या है? फिरभी आपकी आज्ञाका पालन करनेके लिये मैं कहता हूँ। पृथ्वीमे जितने धूलकण है, आकाशमे जितने तारे हैं और वर्षामे जितनी जलकी धाराये गिरती है, मैंने उतनीही गौएँ दान की थीं—'यावत्यः सिकता भूमेर्यावत्यो दिवि तारकाः। यावन्त्यो वर्षधाराश्च तावतीरददां स्म गाः। भा० १०।६४।१२।' सब गौएँ दूध देनेवाली, तरुण, अच्छे स्वभावकी, सुन्दर, सुलक्षणा और कपिला थीं। वे न्यायके धनसे प्राप्तकी हुई और सवत्सा थीं। सबकी सींगें सोनेसे और खुर चाँदीसे मढ़े हुए थे। सब वस्त्र, मालाओ और आभूषणोंसे सजाई

हुई दानमें दी जाती थीं। सुपात्र ब्राह्मणों को भी वस्त्राभूषणोंसे अलंकृत करके तब उनको गौ दान करता था।

एक दिन किसी (अप्रतिग्रही) ब्राह्मणकी एक गाय बिछुड़कर मेरे गौओंमें आ मिली। मुझे इसका बिल्कुल पता न था; इस लिये मैंने अनजानमें उसे दूसरे ब्राह्मणको दे दिया। उस गौ-को ले जाते हुए देखकर उसके स्वामीने कहा—'यह गौ मेरी है'। दान ले-जानेवालेने कहा—'यह मेरी है; मुझे राजा नृगने दी है'-('ममेति प्रतिग्राह्याह नृगो मे दत्तवानिति।१७।')। दोनों ब्राह्मण झगड़ते हुए मेरे पास आये। एकने कहा कि आपने मुझे दी है। दूसरेने कहा कि यदि ऐसी बात है तो तुमने मेरी गाय अपहरण कर ली है 'भवान्दाताऽपहर्तेति। १८।' दोनोंकी बातें सुनकर मेरा चित्त भ्रमित हो गया। धर्मसङ्कटमें पड़कर मैंने दोनोंसे बड़ी अनुनय-विनय की और कहा कि आप लोग यह गाय मुझे दे दें (या आपसमें कोई एक इस गायको छोड़ दे, छोड़नेवालेको) मैं एक लाख उत्तम गौएँ इसके बदलेमें दूँगा।—'गवां लक्षं दास्याम्येषा प्रदीयताम्। श्लो० १९।' मुझसे अनजानमें यह अपराध हुआ है। मैं आप लोगोंका सेवक हूँ। मुझे घोर नरकमें पड़नेसे कृपा करके बचाइए।

गायके स्वामीने कहा—'राजन्! मैं इसके बदलेमें कुछ नहीं लूँगा। मुझे दान नहीं चाहिए।'—यह कहकर वह चला गया। दूसरे ब्राह्मणने कहा—'तुम इसके बदलेमें-एक लाखही क्या, इसके अतिरिक्त दस हजार और गौएँ भी दो तो भी मैं नहीं लेनेका'—यह कहकर वहभी चल दिया। तत्काल यमदूत आकर मुझे यम-लोकको ले गए। वहाँ यमराजने मुझसे पूछा—'राजन्! तुम पहले पापका फल भोगना चाहते हो या पुण्यका? तुम्हारे दान और धर्मके फलस्वरूप जो तेजोमय लोक तुमको प्राप्त होनेवाला है, उसकी कोई सीमा नहीं है।' मैंने उत्तर दिया कि 'देव! मैं पहले पापका फल भोगना चाहता हूँ।' यमराजने कहा कि तब तो तुम गिर जाओ (नीच योनिमें पड़ो)। उनके ऐसा कहतेही मैं वहाँसे गिरा और गिरते समयही मैंने देखा कि मैं गिरगिट हो गया हूँ। हे केशव! मैं ब्राह्मणभक्त, उदार दानी और आपका भक्त था। मुझे आपके दर्शनोंकी उत्कट अभिलाषा लगी रही है। इसीसे मेरी स्मृति नष्ट नहीं हुई।(भा०१०।६४।१०-२५)।

नृग उद्धरण—एक दिन साम्ब, प्रद्युम्न, चारुभानु और गद आदि यदु-वंशी राजकुमार खेलनेके लिये उपवनमें गए। वहाँ बहुत देर तक खेलते खेलते उन्हें प्यास लग आई। वे इधर-उधर जलकी खोज करते हुए एक कुएँके पास पहुँचे। उसमें जल तो था नहीं, एक बड़ा विचित्र जीव देख पड़ा। वह पर्वतके समान आकारका एक गिरगिट था। उसे देखकर उनके आश्चर्यकी सीमा न रही। करुणावश होकर वे उसे बाहर निकालनेका प्रयत्न करने लगे; परन्तु वे उसको चमड़े और सूतके पाशोंसे बाँधकर बाहर न निकाल सके। तब उन्होंने यह

वृत्तान्त भगवान् श्रीकृष्णसे जाकर निवेदन किया। कमलनयन विश्वभावन भगवान्ने वहाँ आकर उसे देखकर लीलापूर्वक ही बायें हाथसे उसे बाहर निकाल लिया। भगवान्के करकमलोंका स्पर्श होतेही उसका गिरगिटरूप जाता रहा और वह एक स्वर्गीय देवताके रूपमें परिणत हो गया। (भा०१०।६४।१-६)।

नोट—१ राजा नृगने गिरगिट होनेका कारण बताकर भगवान्‌की स्तुति की और वर माँग लिया कि 'मैं चाहे कहीं भी क्यों न रहूँ, मेरा चित्त सदा आपके चरणारविन्दोंमे ही लगा रहे।'—'यत्र क्वापि सतश्चेतो भूयान्मे त्वत्पदास्पदम्। श्लो० २८।' वर माँगकर चरणोंको प्रणामकर आज्ञा लेकर नृग महाराज श्रेष्ठ विमानपर सवार हो देवलोकको चले गए।

२ भा० १०।६४ मे क्या पाप था, यह यमराजके वाक्यमे स्पष्ट नहीं कहा गया। म० भा० अनु० पर्व मे स्पष्ट कहा है—'आपने प्रजाके धन-जनकी रक्षाके लिये प्रतिज्ञा की थी; किन्तु उस ब्राह्मणकी गौ खो जानेके कारण आपकी वह प्रतिज्ञा झूठी हो गई। दूसरी बात यह है कि आपने ब्राह्मणका धन भूलसे अपहरण कर लिया था। इस तरह आपके द्वारा दो तरहका अपराध हो गया है।'—'रक्षितास्मीति चोक्तं ते प्रतिज्ञा चानृता तव। ब्राह्मणस्वस्य चादानं द्विविधस्ते व्यतिक्रमः। ७०।२३।'

महाभारतमे पापकर्मभोगकी अवधि और भगवान् श्रीकृष्णद्वारा उद्धार भी यमराजने पृथ्वीपर गिरते समय कह दिया है-'वासुदेवः समुद्धर्ता भविता ते जनार्दनः ७०।२५।' 'पूर्णे वर्ष सहस्रान्ते क्षीणे कर्मणि दुष्कृते। श्लोक२६।' अर्थात् एक हजार दिव्य वर्ष पूर्ण होनेपर तुम्हारे पापकर्मका भोग समाप्त होगा, उस समय जनार्दन भगवान् वासुदेव तुम्हारा उद्धार करेंगे।

☞ उद्धारके संबंधमे राजानृगके ये वाक्य हैं—'आज आपने मेरा उद्धार कर दिया। इसमे आपके तपोबलके सिवा और क्या कारण हो सकता है?';—'त्वया तु तारितो ऽस्म्यद्य किमन्यत्र तपोबलात्। श्लो० २८।'—इससे स्पष्ट हुआ कि भगवान्ने अपनी अहैतुकी कृपासे नृगका उद्धार किया। ☞अतः विश्वास रख कि हमे भी उसी अहैतुकी कृपासे अभय करेंगे।

वाल्मी० ७।५३-५४ में कथा कुछ भिन्न प्रकार है। ब्राह्मणभक्त राजा नृगने किसी समय पुष्कर तीर्थमें जाकर ब्राह्मणोंको सुवर्णसे विभूषित तथा बछड़ोंसे युक्त एक करोड़ गौएँ दान कीं। उस समय दूसरी गौओंके साथ-साथ एक दरिद्र उञ्छवृत्तिसे जीवन निर्वाह करनेवाले एव अग्निहोत्री ब्राह्मणकी बछड़े-सहित गाय वहाँ चली गई और राजाने सकल्प करके उसे किसी ब्राह्मणको दे दिया। वह बेचारा ब्राह्मण भूखसे पीड़ित हो उस खोई हुई गौ-को वर्षोंतक सारे राज्योंमे जहाँ-तहाँ ढूँढ़ता फिरा। अन्तमे एक दिन कनखलमे पहुँचकर

उसने अपनी गाय एक ब्राह्मणके घरमें देखी। ब्राह्मणने अपने रक्खे हुए 'शबला' नामसे उसको पुकारा। गौ-ने उस परिचित स्वरको सुना और उस ब्राह्मणके पीछे हो ली। जो ब्राह्मण उन दिनों उसका पालन करता था, वह भी तुरंत गायका पीछा करता हुआ गया और उस ब्रह्मर्षिसे कहा कि यह गाय मेरी है, मुझे राजा नृगने दानमें दिया है। दोनोंमें विवाद खड़ा होगया, वे न्यायके लिये राजद्वारपर कई दिन रुके रहे; परन्तु उन्हें राजाका न्याय नहीं प्राप्त हुआ। तब दोनोंने कुपित होकर शाप दिया—'राजन्! अपने विवादका निर्णय करानेकी इच्छासे आये हुए प्रार्थी पुरुषोंके कार्यकी सिद्धिके लिये तुम उन्हें दर्शन नहीं देते हो; इसलिये तुम सब प्राणियोंसे छिपकर रहनेवाले गिरगिट हो जाओगे और सहस्रों वर्षोंके दीर्घकाल तक गड्ढेमें गिरगिट होकर ही पड़े रहोगे। श्रीकृष्णावतार होनेपर उनके द्वारा तुम्हारा उद्धार होगा'।—शाप देकर दोनों ब्राह्मण शान्त हो गए, वह गाय उन्होंने किसी ब्राह्मणको दे दी। ☞ गिरगिट होनेका कारण यहां 'कार्यार्थी पुरुषोंका विवाद निर्णीत न होना' तथा उस अपराधसे ब्राह्मणोंका शाप देना बताया गया है।—'अर्थिनां कार्यसिद्ध्यर्थं यस्मात्त्वं नैषि दर्शनम् ॥१८॥ अदृश्यः सर्वभूतानां कृकलासो भविष्यसि। ...' (७।५३।१८-२१)।

शापका समाचार राजाको नारद और पर्वत ऋषियोंसे मिला। तब उन्होंने राजकुमार वसुको राज्यपर अभिषिक्त कर दिया। और कारीगरोंको बुलाकर तीन गड्ढे बनवाये। एक जो वर्षामें सुखद हो, दूसरा जो सर्दीसे बचावे और तीसरा जो गर्मीका निवारण करे। गड्ढोंमें फल-फूलवाले वृक्ष और लतायें लगाई गईं। गड्ढोंके चारों ओर छः-छः कोसकी भूमि खूब रमणीय बनवाई। तत्पश्चात् शापका उपभोग करनेके लिये सुन्दर ढंगसे तैयार किये गये रत्नविभूषित महान् गर्तमें नृगने प्रवेश किया।—'एवं प्रविश्यैव नृपस्तदानीं श्वभ्रं महद्रत्नविभूषितं तत्। सम्पादयामास तदा महात्मा शापं द्विजाभ्यां हि रुषा विमुक्तम्॥' (७।५४।१६)।'

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

२१४ (राग कल्यान)

ऐसी कौन प्रभु की रीति।

बिरुद हेतु पुनीत परिहरि पाँवरनि पर प्रीति।१

गई मारन पूतना कुच कालकूट लगाइ।

मातु की गति दई ताहि[1] कृपालु जादवराइ।२

---

१ ताहि दइ-रा०। दई ताहु-डु०। दई ताहि-प्रायः औरों में।

काम-मोहित गोपिकन्हि पर कृपा अतुलित कीन्हि ।
जगत-पिता बिरंचि जिन्हके चरन की रज लीन्हि ।३
नेम सों[२] सिसुपाल दिन प्रति देत गनि-गनि गारि ।
कियो लीन सु[३] आपमें हरि राजसभा मँझारि ।४
ब्याध चित दै चरन मार्यो मूढ़मति मृग जानि ।
सो सदेह स्वलोक[४] पठयो प्रगट करि निज बानि ।५
कौन तिन्ह की कहै जिन्हके सुकृत अरु अघ दोउ ।
प्रगट पातकरूप तुलसी सरन राख्यो सोउ ।६

शब्दार्थ—पुनीत = पुण्यात्मा; पवित्रात्मा । कुच = स्तन । जादवरा (यादवराय) = यदुवंशियोंके स्वामी; यदुपति श्रीकृष्णजी । अतुलित = जिसकी तुलना नहीं; असीम = अनुपम । यथा 'कहहिं परस्पर सिधि समुदाई । अतुलित अतिथि राम लघु भाई ।' (२।२१४।२) । रज लीन्हि = रजको सिर व मस्तकपर धारण किया । नेम सो = नियम पूर्वक । गनि-गनि = गिन-गिनकर 'गिन-गिनकर गाली देना' मुहावरा है; अर्थात् बुरीसे बुरी गालियाँ सुनाना; परन्तु यहाँ गिनकर सौ गालियाँ देना अभिप्रेत है, साथही 'बुरी-बुरी' का भी भाव है। मँझारि = मध्य वा बीचमे । सु = सो; उसे । आप = अपने । चित देना = ध्यान लगाना मन लगाना । चित दै = लक्ष्य वा निशाना लगाकर । स्वलोक = गोलोक; अपना लोक । पठयना = भेजना ।

पद्यार्थ—किस स्वामीकी ऐसी रीति है † कि अपने बाने (की रक्षा या लज्जा रखने) के लिये पुण्यात्माओंको त्यागकर नीचोंपर प्रीति करता हो ? (अर्थात् श्रीरघुनाथजीको छोड़ किसी दूसरेकी यह रीति नहीं है) * ।१। पूतना स्तनोंमें कालकूट विष लगाकर (यदुपति श्रीकृष्णजीको) मारने गई, (पर) कृपालु श्रीकृष्णजीने उसे माताकी (सी उत्तम) गति दी।२। काम भावसे मोहित गोपिकाओं

२ सों—रा०, भा०, वे०, १५, प्र० । ते—५१, ह०, आ० । ३ सु—रा०, ५१, ह०, दीन, वि० । सो—भा०, वे०, ७४, आ० । ४ स्वलोक—रा०, ५१, ७४, आ० सुलोक—भा०, वे०, ह०, दीन ।

† 'प्रभो ! आपकी 'यह कौनसी रीति है'—(वीरकवि) ।

*दीनजी, वै०, श्री० श०—"(सिवाय श्रीरामचन्द्रजीके) कौनसे प्रभुकी ऐसी रीति है ... नीचोंसे प्रेम करते हैं ? (यह रीति तो कृष्णावतारमें भी न थी उदाहरण लीजिए) । अपने स्तनोंमें ...।"

पर ऐसी अनुपम भारी कृपा की कि सृष्टिरचयिता जगत्पिता ब्रह्माजीने उनके चरणोंकी रजको (मस्तकपर धारण कर)लिया ।३। शिशुपाल नित्यप्रति (प्रत्येक दिन) गिन गिनकर गालियाँ दिया करता था, सो उसे भगवान्‌ने राजसभाके बीच (अर्थात् सबके सामने) अपनेमें लीन कर लिया ।४। मूर्खबुद्धि व्याध (बहेलिया) ने चित्त देकर (ठीक निशाना ताककर) उन्हे हिरन समझकर चरणोंमें (बाण) मारा। भगवान्‌ने उसे सदेह (देहसहित) अपने लोकको भेज दिया। (इस प्रकार उन्होंने) अपनी बान (स्वभाव, टेव, सहज रीति) प्रकट की ।५। उनकी कौन कहे जिनके पुण्य और पाप दोनों हैं (अर्थात् जिन्होने पुण्य भी किये हैं और पाप भी), पर तुलसी तो प्रत्यक्ष पापकी मूर्ति है, सो उसको भी शरणमें रख लिया ।६।

टिप्पणी—१ 'ऐसी कौन प्रभुकी ···' इति। भाव यह कि भगवान्‌की ही यह रीति है कि अपने पतितपावन, अधम-उद्धारण आदि विरुदोंकी रक्षाके लिये ऋषि आदि पवित्रात्माओंको छोड़कर नीचोंपर प्रीति करते हैं। यथा 'कौने देव बराइ बिरुद हित हठि हठि अधम उधारे ।१०१।', 'जोग बिराग ध्यान जप तप करि जेहि खोजत मुनि ज्ञानी। बानर भालु चपल पसु पाँवर नाथ तहाँ रति मानी ।६८।', 'रघुबर रावरि इहै बड़ाई। निदरि गनी आदर गरीब पर करत कृपा अधिकाई ।१६५।' विशेष पद १०१ (२ क-ग) मे देखिए।

२ 'गई मारन पूतना कुच ' इति। (क) ऐसाही उद्धवजीने बिदुरजीसे कहा है। यथा 'अहो बकी यं स्तनकालकूटं जिघांसयापाययदप्यसाध्वी। लेभे गतिं धात्र्युचितां ततोऽन्यं क वा दयालुं शरणं व्रजेम ।भा० ३।२।२३।' अर्थात् अहो! असाध्वी पूतनाने जिन्हे मारनेकी इच्छासे अपना विषलिप्त स्तन पान कराया था, तथापि वह माताके योग्य उत्तम गति पा गई उन भगवानको छोड़कर हम किस दयालुकी शरणमे जायँ।—प्रायः श्लोकमें इस अंतराके सभी शब्द हैं। 'गई मारन' (जिघांसयापाय), 'पूतना' (बकी), 'कुच कालकूट लगाइ' (स्तनकालकूटं), 'मातुकी गति दई ताहि' (लेभे गतिं धात्र्युचितां), 'कृपाल जादवराय' (वा दयालुं)।

२ (ख) 'पूतना' की कथा—यह एक दानवी थी। यह बालकोंको मारा करती थी। कंसने इसे श्रीकृष्णजीको मारनेके लिये गोकुल भेजा था। यह कामरूपिणी थी। श्रीलक्ष्मीजीके समान सुन्दर स्त्रीका रूप धारणकर यह वहाँ पहुँची, जहाँ भगवान् श्रीकृष्णजी थे। उसने उन्हे गोदमे उठा लिया। रोहिणी और यशोदाजी उसकी वेष-भूषासे उसे भद्र महिला समझती थीं, वे उसके सौन्दर्यसे ऐसी प्रभावित हो गई कि उन्होने कुछ रोक-टोक न की, चुपचाप खड़ी देखती रहीं। इधर बालक श्रीकृष्णको गोदमें लेकर उसने उनके

मुखमे अपना स्तन दे दिया जिसमें बड़ा भयंकर और किसीसे न पच-सक
वाला दुर्धर विष लगा हुआ था,—'तस्मिन्स्तनं दुर्जरवीर्यमुल्बणं घोराङ्कमा
शिशोर्ददावथ। भा० १०।६।१०।' भगवान्ने रोपसहित उसके स्तनोंको अ
दोनों हाथोंसे वलपूर्वक दबाकर उसके प्राणोंके साथ उसका दूध पान किय
पूतनाके समस्त मर्म स्थान फटने लगे। वह चिल्लाने लगी—'अरे! छोड़
छोड़ दे, अब बस कर!' अपने हाथ पैर पटक-पटककर वह रोने लगी। उ
नेत्र उलट गए। उसका सारा शरीर पसीनेसे लथपथ हो गया। स्तनोंकी पी
से मरती हुई पूतनाका राक्षसी रूप प्रकट हो गया, उसके प्राण निकल गए।

भगवान्ने उसके स्तनको पान किया था; इस लिये उसके समस्त
तत्कालही क्षय हो गए थे; इसीसे जब उसका शरीर जलाया गया तो उस
अगर चन्दनकी-सी सुगंध निकली;—'दह्यमानस्य देहस्य धूमश्चागुरुसौरभ
उत्थितः कृष्णनिर्भुक्तसपद्याहतपाप्मनः। श्लो० ३४।' उस यातुधानीके अंगे
अपने देववन्दित चरणोंसे दबाकर उसका स्तन पान करनेसे उसे मात
योग्य स्वर्गकी प्राप्ति करदी।—'अङ्ग यस्याः समाक्रम्य भगवानपिबत्स्तन
३७। यातुधान्यपि सा स्वर्गमवाप जननीगतिम्। ३८।'—'मातुकी गति दई
यह सब भाव हैं।

३ 'काम-मोहित गोपिकन्हि'' ' इति। (क) गोपियोंने कामवासनासे ज
भावसे भगवान्मे प्रेम किया था, यह पूर्व पद १०६ के 'पंडुसुत गोपिका वि
कुबरी सबको सोधु किये सुद्धता लेसु कैसो' की टि० ४ मे भी दिखाया
चुका है। यहाँ पर भी कुछ लिखा जाता है। भा० १०।२६।११ में श्रीशुकदे
जीका वाक्य है कि 'यद्यपि वे (गोपियाँ) उन परमात्माको जार (व्यभिच
भावसे प्राप्त हुई थीं, तथापि उनके सब बंधन कट गए और उनका गुण
शरीर छूट गया।'—'तमेव परमात्मानं जारबुद्ध्यापि सङ्गताः।'''—इस
परीक्षितजीने शंका की कि—'कृष्णं विदुः पर कान्त न तु ब्रह्मतया मुने।''''
।१२।' वे गोपियाँ श्रीकृष्णजीको केवल जार समझती थीं, उनका उनमे कद
ब्रह्मभाव न था, तब वे संसारसे मुक्त कैसे हो गई? इसका समाधान शुक
जीने यही किया था कि 'कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव च। नित्यं
विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते। श्लो० १५।' भगवान्मे काम, क्रोध, भय, स्
संबंध या भक्ति किसी एकको भी जो लोग करते है, उनकी वृत्तियाँ भगवन्
हो जानेसे उनको भगवान्की ही प्राप्ति होती है।

उद्धवजीके भी वाक्य इस संबंधमे ऐसेही हैं। यथा 'क्वेमाः स्त्रियो वनच
व्यभिचारदुष्टाः कृष्णे क्व चैष परमात्मनि रूढभावः।' भा० १०।४७।५
अर्थात् (यदि सदाचारकी दृष्टिसे देखा जाय, तो ये श्रीकृष्णमे जार-भाव

रखती हैं) कहाँ ये व्यभिचारदोपसे दूषित वनमे रहनेवाली स्त्रियाँ और कहाँ परमात्मामें इनकी ऐसी दृढ़ भावकी भक्ति!!

३ (ख) 'कृपा अतुलित कीन्हि' इति। इस संबंधमें उद्धवजीके विचार देखिए।—रासोत्सवके समय इन गोपियोंके गलेमें बाँह डाल-डालकर भगवान्‌ने जैसी कृपा इनपर की, वैसी कृपा तो परमप्रेमवती नित्यसङ्गिनी वक्षःस्थलपर विराजमान लक्ष्मीपर भी नहीं हुई। जिन गोपियोंने लक्ष्मीद्वारा पूजित और ब्रह्मादि देवताओं तथा योगेश्वरोंके द्वारा हृदयमे चिन्तन किये हुए भगवच्चरणारविन्दोंको अपने स्तनोंपर रखकर आलिंगन करके अपनी तपनको बुझाया, उन गोपियोंकी चरणरज मेरे मस्तकपर पड़े। मैं उस रजकी बारंबार वन्दना करता हूँ।—'यो वै श्रियाऽर्चितमजादिभिराप्तकामैर्योगेश्वरैरपि यदात्मनि रासगोष्ठ्याम्। कृष्णस्य तद्भगवतश्चरणारविन्दं न्यस्तं स्तनेषु विजहुः परिरभ्य तापम्। ६२।' (भा० १०।४७।६१; ६३, ६४)। आगे (ग) में भी देखिए।

देखिए, भगवान्‌ने गोपियोंसे क्या कहा है—"हे गोपिकाओ! तुमने मेरे लिये गृहस्थकी कठिन बेड़ियोंको तोड़कर मेरा भजन किया है। तुम्हारा यह कार्य सर्वथा निर्दोष है। मैं देवताओंकी आयुपर्यन्त भी तुम्हारे इस उपकारका बदला नहीं चुका सकता। तुम अपनी उदारतासे ही मुझे ऋणमुक्त करना।"—'न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः। या माभजन् दुर्जरगेहशृङ्खलाः संवृश्च्य तद्वः प्रतियातु साधुना॥ भा० १०।३२।२२।'—यह कथन क्या अतुलित कृपाकी सीमा नहीं है?

स्मरण रहे कि गोपियाँ श्रीकृष्णको परमात्मा परब्रह्म जानती थीं, यह भा० १०।२९।३१–४१ से स्पष्ट है। भा० १०।३१।४ में भी उन्होने कहा है—'भवानखिलदेहिनामन्तरात्मदृक्....' आप समस्त देहधारियोंके अन्तरात्मा साक्षी हैं। इत्यादि। नारदवाक्य भी है—'तत्रापि न माहात्म्यज्ञानविस्मृत्यपवादः। भक्ति सू० २२।' अर्थात् इस अवस्थामे भी गोपियोंमे माहात्म्यज्ञानकी विस्मृतिका अपवाद नहीं है।

३ (ग) 'जगतपिता बिरंचि ....' इति। यह भी अतुलित कृपा तथा कृपाका फल है। ब्रह्माजी कहते हैं—'अहोऽतिधन्या व्रजगोरमण्यः स्तन्यामृतं पीतमतीव ते मुदा। यासां विभो वत्सतरात्मजात्मना यत्तृप्तयेऽद्यापि न चालमध्वराः। भा० १०।१४।३१।' अहो! व्रजकी गौएँ और गोपियाँ धन्य हैं कि आप (भगवान्) ने जिनके बछड़े और बालक बनकर उनके स्तनोंका अमृत-सा दूध बड़े उमंगसे पिया है।

चरणरजकी प्राप्तिके लिये ब्रह्माजीकी लालसा देखिए।—'तद् भूरिभाग्यमिह जन्म किमप्यटव्यां यद् गोकुलेऽपि कतमाङ्घ्रिरजोऽभिषेकम्। यज्जीवितं तु

निखिलं भगवान्मुकुन्दस्त्वद्यापि यत्पदरजः श्रुतिमृग्यमेव । भा० १०।१४।३४।' वे प्रार्थना करते हैं कि 'इस ब्रजभूमिके किसी वनमें और विशेषकर गोकुलमें किसीभी योनिमें जन्म हो जाय, यही हमारे लिये बड़े सौभाग्यकी बात होगी; क्योंकि यहाँ जन्म हो जानेपर आपके किसी न किसी प्रेमीके चरणकी रज अपने ऊपर पड़ ही जायगी। आपके प्रेमी व्रजवासियोंका जीवन आपका ही जीवन है, आपही उनके जीवनके एकमात्र सर्वस्व है । इस लिये उनके चरणों-की धूलिका मिलना आपके ही चरणरजका मिलना है। आपके चरणोंकी धूलिको तो श्रुतियाँभी अनादिकालसे अबतक ढूँढ रही हैं ।

इस प्रार्थनासे स्पष्ट है, कि आगेके लिये जब यह लालसा है तब भला इस समय व्रजमें उपस्थित होनेपर व्रजगोपियोंके चरणोंसे विभूषित ब्रजभूमिकी रजको शिरोधार करनेमे वे कब चूके होंगे ?

४ 'नेम सों सिसुपाल ··' इति । (क) शिशुपाल चेदि देश (चँदेरी) का एक प्रसिद्ध राजा था । इसके तीन आँखें और चार हाथ थे । जन्मतेही यह गधेकी तरह रेंकने लगा था, जिससे इसके माता-पिताने डरकर इसका त्याग करना चाहा,परन्तु आकाशवाणी हुई कि "इस शिशुका पालन करो,(इसीसे इसका 'शिशु-पाल' नाम रक्खा गया), अभी इसकी मृत्युका समय नहीं है । यह पुत्र श्री-सपन्न और महाबली है। इसका वध करनेवाला अन्यत्र उत्पन्न हो चुका है।" पुत्र-स्नेहसे सतप्त हुई माताके उस अन्तर्हित भूतको लक्ष्य करके प्रश्न करनेपर, कि 'मेरे इस पुत्रकी मृत्युमें कौन निमित्त बनेगा ?', आकाशवाणी हुई कि 'जिसके द्वारा गोदमें लिये जानेपर इसकी दो अधिक भुजाएँ पृथ्वीपर गिर जायँगी और जिसे देखकर इस बालकका ललाटवर्ती तीसरा नेत्रभी ललाटमें लीन हो जायगा, वही इसकी मृत्युमे निमित्त बनेगा ।' चार बाँह और तीन नेत्रवाले बालकके जन्मका समाचार सुनकर भूमण्डलके सभी नरेश उसे देखने आए । माताने सबका सत्कार किया, सबकी गोदमे पुत्रको रक्खा, परन्तु मृत्यु-सूचक लक्षण कहीं भी प्राप्त न हुआ । द्वारकामे समाचार पहुँचने पर श्रीकृष्ण-जी तथा बलरामजी भी अपनी बुआ श्रुतश्रवाके बालकको देखने आये । श्रुत-श्रवा ने ज्योंही अपने पुत्रको श्रीकृष्णजीकी गोदमें डाला, त्योंही बालककी दो बाहें गिर गईं और तीसरा नेत्र वहीं विलीन हो गया । माताने भयभीत होकर श्रीकृष्णजीसे वर माँगा—'तुम मेरे लिये शिशुपालके सब अपराध क्षमा करो'—'शिशुपालस्यापराधान् क्षमेथास्त्वं महाबल ।" (म० भा० सभा ४३।२३) । श्री-कृष्णजीने कहा—'अपराधशतं क्षम्यं मया ह्यस्य पितृष्वसः । पुत्रस्य ते वधार्हस्य मा त्वं शोके मनः कृथा । श्लो० २४।' हे बुआ ! तुम्हारा पुत्र अपने दोषोंके कारण मेरे द्वारा यदि वधके योग्य होगा, तो भी मैं इसके सौ अपराधोंको क्षमा करूँगा।

तुम अपने मनमें शोक न करो।

४ (ख) 'दिन प्रति देत गनि-गनि गारि' इति। इससे ज्ञात होता है कि श्रीकृष्णके दिये हुए उपर्युक्त वरदानसे उन्मत्त होकर ('गोविन्दवरदर्पितः।' म० भा० सभा ४३।२५), वह उन्हे नित्य गिन गिनकर सौ गालियाँ देता था और भगवान उसे क्षमा करते गए, क्योंकि सौ अपराध तकके क्षमा करनेका वर दे चुके थे।

४ (ग) 'कियो लीन 'राजसभा मँझारि' इति। श्रीयुधिष्ठिरजीके राजसूययज्ञमें ब्राह्मणों, ऋषियों और राजाओंका समागम होनेपर युधिष्ठिरजीके प्रश्न करनेपर कि इन समागत नरेशोंमें किसी एकको सबसे पहले अर्घ्य निवेदन किया जाना उचित है, भीष्मपितामहजीने भगवान् श्रीकृष्णको ही अग्रपूजाके योग्य बताया। तब सहदेवजीने श्रीकृष्णजीको विधिपूर्वक उत्तम अर्घ्य निवेदन किया। शिशुपाल उस अग्रपूजाको सहन न कर सका। (सभा पर्व ३६।२६-३१)। उसने श्रीकृष्णजीपर बहुत आक्षेप किये। (अध्याय ३७)। भीष्मपितामहका उसके आक्षेपोंका उत्तर विस्तारपूर्वक अध्याय ३८ मे है। सहदेवके ललकारनेपर शिशुपालने फिर भीष्मकी निन्दा की।तब भीष्मने उसके पक्षके समस्त राजाओंको श्रीकृष्णसे युद्ध करनेके लिये चुनौती दी। शिशुपाल युद्धके लिये उत्सुक हो दुर्वचन कहते हुए,श्रीकृष्णसे लडनेके लिये गरजने लगा। वह क्रोधमे भरा हुआ था,--'गर्जन्नमर्पणः।' क्रोधमे भरे होनेसे वह सौ-से अधिक गालियाँ दे गया। तब श्रीकृष्णजीने उस राजसभामे समस्त राजाओंसे कहा कि 'मैं अपनी बुआके संतोषके लिये ही इसके बड़े दुःखद अपराधोंको सहन कर रहा हूँ। इसने परोक्षमें मेरे प्रति जो अपराध किये हैं, उन्हे भी आप जानते हैं। इस समय यह मेरे प्रति कैसा अभद्र बर्ताव कर रहा है, यह आप देखते रहे हैं।' 'मैंने इसकी माताके याचना करनेपर उसे यह प्रार्थित वर दिया था कि शिशुपालके सौ अपराध मैं क्षमा कर दूँगा, इसीसे मैंने अबतक इसके अपराध क्षमा किये हैं। वे सब अपराध अब पूरे हो गए हैं; अतः अब मैं इसका वध किये देता हूँ।' (सभा पर्व ४५।१२-१३;२३-२४)।– यह कहकर उन्होने चक्रसे उसका सिर काट डाला। शिशुपालके शरीरसे एक उत्कृष्ट तेज निकलकर श्रीकृष्णमे प्रविष्ट हो गया।—'तदा तेजो विवेश च नराधिप। श्लो० २७।' 'कियो लीन सु आपु में' से जनाया कि उसको सायुज्य मुक्ति प्राप्त हुई। यथा 'दृष्ट्वा महाद्भुतं राजा राजसूये महाक्रतौ। वासुदेवे भगवति सायुज्यं चेदिभूजः। भा० ७।१।१३।' (राजसूय महायज्ञमे चेदिराजकी भगवान् वासुदेवमे सायुज्य मुक्ति हुई, यह महा अद्भुत व्यापार देखा)।

५ 'व्याध चित दै चरन मारयो''' ' इति। (क) व्याधकी कथा पूर्व ५७

(३ च), ६४ (३ घ) में आ चुकी है। सब यदुवंशियोंका संहार हो चुकनेप भगवान् एक पीपलके वृक्षके तले बैठ गए। उस समय वे अपनी दाहिनी जाँ पर बाँयाँ चरण रखकर बैठे हुए थे। उनका लाल-लाल तलवा रक्त कमल समान चमक रहा था।—'कृत्वोरौ दक्षिणे पादमासीन पङ्कजारुणम्। ११।३ ३२।' जरा व्याधने मूसलके शेष भागसे जो बाण बनाया था, उसीसे चरणों मृगका मुख समझकर बींध दिया।—'मृगास्याकारं तच्चरणं विव्याध मृगशङ्कय श्लो० ३३।' पास जानेपर उसने देखा कि ये तो चतुर्भुज भगवान हैं, तब भ भीत होकर चरणोंपर गिर पड़ा और अनजानमे किये हुए अपराधको क्ष करानेके लिये ये वचन बोला—'हे मधुसूदन! हे उत्तमश्लोक! हे अनघ! मैं यह अपराध बिना जाने किया है, आप मुझ पापीको क्षमा करें। प्रभो! जिन स्मरण मनुष्योंके अज्ञानरूपी अंधकारका नाशक कहा जाता है, उन आपका मैं अपराध किया है; इस लिये हे प्रभो! मुझ मृगके लोभी पापीको शीघ्र मार डालि जिसमे मैं ऐसे सज्जनोंका अपराध न करूँ"। (भा० ११।३०।३५-३८)। भगवान्ने क 'अरे व्याध! तू डर मत, उठ-उठ। यह तो तूने मेरे मनका काम किया है। उ मेरी आज्ञासे तू उस स्वर्गमे जा जिसकी प्राप्ति बड़े-बडे पुण्यवानोंको हो है।' आज्ञा पानेपर उसने तीन परिक्रमाएँ भगवान्की कीं और प्रणाम कर विमानमे बैठकर स्वर्गको चया गया। यथा 'याहि त्वं मदनुज्ञातः स्वर्गं सुकृति पदम्॥ श्लो० ३९।'''''' त्रिः परिक्रम्य तं नत्वा विमानेन दिवं ययौ।४०।'

[वियोगीजीका मत है कि "चरणमे. पद्मके चिह्नमे, मृगके नेत्रका भ्रम जानेसे इसने तीर चला दिया।" उपर्युक्त श्लोकमे 'मृगास्याकारं' शब्द है आस्य = मुख।]

५ (ख) 'प्रगट करि निज बानि' इति। यह बान वही है, जो पदके प्रारंभ कह आये हैं— 'पुनीत परिहरि पाँवरनि पर प्रीति'।

नोट—१ बैजनाथजी लिखते है—'इस पदमे केवल कृष्णावतारकी विरुद वली देनेका हेतु यह है कि इसमे यह दिखाना है कि यद्यपि प्रभुके सभी विग्र अधमोद्धारण हैं तथापि अन्य किसी रूपमें ऐसी पतित-अधमोंपर प्रीति त सौलभ्य गुण नहीं हैं जैसी श्रीरामरूपमे है। श्रीमन्नारायण आदि वैकुण्ठवास भगवद्विग्रहों तक तो पतित अधमोंकी गति ही नहीं है। (श्रीकान्तशरणजी शब्दोंमे 'श्रीमन्नारायण और विष्णुरूपोंसे पतितों और अधमोंका चरित-संबं वैसा नहीं है')। रहे प्रभुके अवतार, सो इनतक अधमोंकी गति है; किन्तु मत्स्य वाराह, कच्छप, नृसिंह, वामन और परशुराम ये अवतार एक प्रयोजनमात्र लिये बहुत अल्पकालके लिये हुए। श्रीकृष्णावतार लेकर आप बहुत का (सौ वर्ष) रहे और लीलायें भी कीं, पतितोंका उद्धार भी किया है। अतः इ

अवतारमें जिन पामरोंपर प्रीति की, उनको ही गिनाकर यह दिखाते हैं कि इस (श्रीकृष्ण) अवतारमें भी पामरोंपर वैसी प्रीति नहीं की, जैसी अकारण प्रीति और सुलभ उद्धारता रीति श्रीरामरूपमें देखी जाती है। (इसके पश्चात् उन्होंने कुछ उदाहरणभी दिये हैं। आगे टि० ६ भी देखिए)।

दीनजीका भी यही मत है जैसा पद्यार्थकी पाद-टिप्पणीसे प्रकट है। वे लिखते हैं कि "इस पदमें यह दिखाया गया है कि कृष्णावतारमें जिनको कृष्ण-जीने सुगति दी वे कुछ सुकृती भी थे। परन्तु रामने अति पापियोंको तारा, जैसा कि आगेके पदमें वर्णित है। श्रीकान्तशरणजीने भी वैजनाथजीका मत ग्रहण किया है।

☞ महात्मा श्रीभगवानसहायजी लिखते हैं,–"वर्तमान कालके उपासक भग-वत्-स्वरूपमें भेद करते हैं। व्यासादि तथा गोसाईंजीका यह मत नहीं है। वे अभेद उपासना दिखाते हैं, विशेषकर श्रीराम और श्रीकृष्णमें जो भेद करते हैं, सो यह कलिकालका प्रताप है।"

बियोगीजी वैजनाथजीके मतके संबंधमें लिखते हैं–"इस पदमें कहीं भी ऐसे विचित्र अर्थ की संभावना नहीं दीख पड़ती है। श्री कृष्णगीतावलीके रचयिता गोसाईंजीके उदार हृदयमें कभी भी ऐसी संकीर्णताके भावोंका उदय न हुआ होगा। भेदबुद्धिका तो उनमें लशमात्र भी न था।"

टिप्पणी—६ 'कौन तिन्ह की कहै ....'इति। (क) भाव यह है कि जिन्होंने पाप तो किये हैं पर साथ ही पुण्य भी किये हैं, उनकी बात क्या कही जाय? उनका तो सुकृतोंके बलसे कभी-न-कभी उद्धार हो ही जायगा, उनके उद्धारमें प्रभुकी कौन बड़ाई? बड़ाई तो इसमें है कि मुझ तुलसीदासको जो कि मूर्तिमान् पाप ही है, उसको भी उन्होंने शरणमें रख लिया।

[(ख) यहाँ दिखाते हैं कि पूतना, गोपिका, शिशुपाल और व्याध पूर्वके सुकृती थे। "पूतना किसी जन्ममें अप्सरा थी। भगवान् वामनका बालस्वरूप देखकर, वात्सल्य स्नेहवश, इसके मनमें यह आया कि मैं इस बालकको पुत्र मानकर अपने स्तनोंका दूध पिलाऊँ। अन्तर्यामी भगवान् उसकी मनोवाञ्छा जान गए।किसी घोर पाप या ऋषिशापसे वह पूतना-राक्षसी हुई।भगवान्ने मातृ-भक्ति दिखाकर उसे स्वर्ग भेज दिया।"(वि०)। गोपिकाएँ दण्डकारण्यके वे ऋषि-गणही हैं, जिनका हृदय श्रीरामजीको देखकर स्त्रियाकार हो गया था और जिन-के मनोरथकी पूर्त्ति उन्होंने कृष्णावतारमें करनेका वचन दिया था। वैजनाथ-जीका मत है कि वे सब गोलोकके पार्षद हैं। दोनों प्रकारसे वे सुकृती थीं। जय-विजयको श्रीसनकादिकजीने आसुरी योनिमें तीन बार जन्म लेनेका शाप दिया था। ये दोनों भगवान्के प्रिय पार्षद ही थे, जो इस तीसरे जन्ममें

शिशुपाल और दन्तवक्र हुए। भगवान्ने इनको मारकर फिर पार्षद बना लिया। श्रीहनुमन्नाटकसे पता चलता है कि व्याध उस कल्पका बाली था; जिसमें अंगदने वालिवधका बदला लेनेकी बात श्रीरामजीसे कही थी। 'मुंबई वैभव मुद्रणयन्त्रालयकी सं० १६८१, शाका १८४६ के छपे हुए 'हनुमन्नाटक' अङ्क १४ मे इस सम्बंधके श्लोक ये हैं—'रामचन्द्र त्वयादिष्ट यद्यत्तत्तन्मया कृतम्। यतस्त्रैलोक्यनाथोऽसि न चत्याज्यं गुरोर्वचः।७२। पश्य श्रीरामचन्द्र त्वदभिमतमहो लक्ष्मणेनापि पूर्णं तूर्णं रङ्गावतारेऽवतरतु स भवानाहतो येन तातः। सुग्रीवेणाञ्जनेयप्रमुखभटचमूचक्रवालेन सार्धं त्वामेकेनाङ्गदोऽहं पितृनिधनमनुस्मृत्य मन्थामि दोपणा।७३। श्रुत्वाङ्गदस्य महतीं समरप्रतिज्ञां ते चक्षुभुः कपिचमूपतयः सरामाः। सौमित्रिरप्यनपराधिनमाहतं तं मत्वा कृताञ्जलिपुटः पुरतो बभूव।७४।" अर्थात् अङ्गदने कहा—'श्रीरामचन्द्रजी! आप तीनों लोकोंके स्वामी हैं; इस लिये जो-जो आपने आज्ञा दी, वह मैंने किया, परन्तु मैं पिताके वैरको नहीं भूलूंगा। लक्ष्मण, सुग्रीव, हनुमान् आदि प्रमुख वानरसेना सहित आप रङ्गभूमिमे उतर आवें, मैं अकेला सबका मथन करूँगा। अंगदकी ऐसी महासंग्रामप्रतिज्ञाको सुनकर सब क्षोभको प्राप्त हुए। बिना अपराधके बालीको मारा गया समझकर लक्ष्मणजी हाथ जोड़कर अङ्गदजीके समीप आए। —उसी समय आकाशवाणी हुई—'हे अगद! जिस समय मथुरामें कृष्णावतार होगा, उस समय वालीही व्याधका रूप धारणकर इनको मारेगा।' यथा 'आकाशवाण्यभवदेवमहो स वाली दाशो हनिष्यति पुनर्मथुरावतारे।''''७५।' यह सुनकर अंगदजी रणसे निवृत्त हुए और श्रीरामजीकी स्तुति करने लगे। यथा "अङ्गदः पितृवधप्रतीकारो भविष्यतीति (सानन्द) कोपमपहाय शान्तिमेत्य रामं स्तौति '७६।"]

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

२१५

श्रीरघुबीर की यह बानि।

नीचहूँ सों करत नेह सुप्रीति मन अनुमानि।१

परम अधम निषाद पाँवर कौन ताकी कानि।

लियो सो उर लाइ सुत-ज्यों प्रेम को[1] पहिचानि।२

गीध कौन दयालु जो विधि रच्यौ हिंसा सानि।

जनक ज्यों रघुनाथ ता कहुँ[2] दियो जल निज पानि।३

१ को–दीन,वि०। की–औरोंमे। २(कहुँ)कहँ–रा०,वे०,१५,५१,आ०। को–भा०, प्र०, ज०, ह०, ७४।

प्रकृति[3] मलिन कुजाति सबरी सकल अवगुन खानि ।
खात ताके दिये फल अति रुचि बखानि बखानि ।४
रजनिचर अरु रिपु बिभीषन सरन आयो जानि ।
भरत ज्यों उठि ताहि भेंटत देह दसा भुलानि ।५
कौन सुभग सुसील बानर जिन्हहिं सुमिरत हानि ।
किये ते सब सखा पूजे भवन अपने आनि ।६
राम सहज कृपाल कोमल दीन-हित दिन-दानि ।
भजहि ऐसे प्रभुहि तुलसी कुटिल कपट[4] न ठानि ।७

शब्दार्थ—अनुमानना—यहाँ 'अटकलसे विचारना' अर्थ नहीं है, किन्तु 'विचारना; जानना; समझना' अर्थ है । कानि = मर्यादा; प्रतिष्ठा । पहिचानि = जानकारी; शिनाख्त । = किसी वस्तुकी विशेषता प्रकट करनेवाली बात । सानि = सानकर; संयुक्त । हिंसा सानि रच्यो = उसके रग-रग रेशे-रेशेमे हिंसा-ही-हिंसा थी; हिंसायुक्त वा हिंसामय बनाया । रचना = बनाना । प्रकृति = स्वभावसे । रुचि = स्वाद; चाव; प्रेम; भूख । दिन = नित्यप्रति । यथा 'दानि बड़ो दिन देत दये बिनु बेद बड़ाई भानी ।५।' हानि = अनिष्ट; असंगल; अशुभ ।

पद्यार्थ—श्रीरघुवीरका यह सहज स्वभाव है कि वे मनकी सुंदर (विशुद्ध) प्रीतिको अपने मनमें विचारकर नीचोंसे भी प्रेम करते हैं ।१। महापापी नीच निषाद, भला उसकी क्या प्रतिष्ठा थी ? सो उसे पुत्रके समान हृदयसे लगा लिया—यह प्रेमकी पहिचान है । (अर्थात् इससे श्रीरामजीके प्रेमकी शिनाख्त तथा उसके प्रेमकी विशेषता प्रकट होती है)❀ ।२। भला गृध्र जटायु, जिसे विधाताने हिंसामय बनाया था, कौन दयावाला था ? श्रीरघुनाथजीने उसे पिता-के समान अपने हाथोंसे जलांजलि दी ।३। स्वभावसे ही मलिन, नीचजाति शबरी समस्त अवगुणोंकी खान थी । उसके दिये हुये फलोंको (उनका स्वाद) सराह-सराहकर अत्यन्त प्रेम और भूखसे खाते जाते थे।४।(एक तो)राक्षस और (उसपरभी)शत्रु (ऐसे) विभीषणको शरणमे आया जानकर उससे उठकर श्री-भरतजीके समान गले लगकर मिलते हुए देहकी सुधही भूल गई ।५। बंदर कौन सुशील और सुन्दर थे ? जिनका स्मरण करनेसे अमंगल होता है, उन

३ प्रगट-ज०, १५ । ४ कुटिल कपट-रा०, ५१, ह०, ७४ । कपट कुटिल-भा०, बे०, प्र० ।

❀ दूसरा अर्थ-'उसके प्रेमकी जानकारीसे उसे पुत्रके समान हृदयसे लगा लिया ।'

सबोंको सखा बना लिया और अपने घर लाकर उनकी पूजा-प्रतिष्ठा अर्थात् आदर-सत्कार किया ।६। श्रीरामचन्द्रजी स्वभावसे ही कृपाल, कोमल (चित) दीनोंके हितकारी और नित्यप्रति दान देनेवाले हैं। रे तुलसी! ऐसे प्रभुका भजन कर। रे कुटिल! कपट न कर (एवं कुटिल कपट न कर)।७।

टिप्पणी—१ 'श्रीरघुवीर की यह बानि। ''' इति। (क) पिछले पदमें प्रश्नात्मक विनय थी-'ऐसी कौन प्रभु की रीति। ''?',-इस प्रकार जनाया कि भगवानको छोड़ दूसरेकी यह रीति नहीं है। और इस पदमें उसीको स्पष्ट रूपसे ... हैं कि यह बान श्रीरघुवीरकी है।इस पदमें सबकी पामरता भी दिखाते जा... पिछले पदसे पामरोंपर प्रेम करनेका कारण न बताया था; प्रस्तुत पदमें कारण भी बताते हैं कि 'नीचहूँ सों करत नेह सुप्रीति मन अनुमानि।' भा... यह है कि भगवान् मनकी प्रीतिमात्रको देखते हैं जिसमें भी हो, प्रीतिमानके कुल, जाति, स्वभाव और अधमता एवं नीचताको नहीं देखते। इसीके उदाहरण आगे देते हैं।।

(ख)पं०रामकुमारजीका मत है कि'पद ११४ वाला भजन केवल श्रीकृष्णजीका है और अब उसी जोड़का श्रीरामजीका भजन कहते हैं'।

२ 'परम अधम निषाद ' इति। (क) गुह निषाद, गीध जटायु और शबरी आदिके स्वभाव, जाति, पापपरायणता आदि पूर्व 'केवट खग सबरि सहज चरनकमल न रत।' १३४ (४ क), 'सदगति सबरी गीधकी सादर करत को', 'गुह गरीब गत-ज्ञातिहू जेहि जिउ न भखा को' १५२ (७ क-ख), १५२ (८ क), 'हिंसारत निषाद तामस नर पसु समान बनचारी', 'बिहँगजोनि आमिष-अहार-पर गीध कौन व्रतधारी', 'अधम जाति सबरी जोषित जड़ लोक वेद तें न्यारी।' १६६ (३ क ख). १६६ (५). १६६ (६) में दिखाये जा चुके हैं। इनका प्रेम भी उपर्युक्त पदोंमें दिखा आए हैं। यथा 'पायो पावन प्रेम तें सनमान सखा को।१५२।', 'भेंट्यो हृदय लगाइ प्रेमबस नहि कुल जाति बिचारी। १६६।'; 'को साहिब किये मीत प्रीति-बस खग निसिचर कपि भील भालु। १५४।' (गीधने तो आत्महीं, श्रीसीताजीकी रक्षामें, समर्पण कर दिया था), 'जानि प्रीति दै दरस कृपानिधि सोउ रघुनाथ उधारी। १६६।', 'बारहिं बार गीध सबरी की बरनत प्रीति सुहाई।१६५।' इत्यादि।

२ (ख) पशुसमान वनचारी तथा तामसी होनेसे 'कौन ताकी कानि' कहा; उसमें सभ्यताका लेश न था। जिसकी छाँह पड़-जानेसे स्नान करना पड़ता था,—'जासु छाँह छुइ लेइअ सींचा। २।१९४।३।' उसकी प्रतिष्ठाका प्रश्नही क्या? 'लियो उर लाइ सुत ज्यों' से जनाया कि परम वात्सल्य भावसे उसे हृदयसे लगाकर भेंटे, जैसे कोई अपने पुत्रसे मिले। [अपने पुत्रमें अपावनता

कोई नहीं देखता। (वै०)]

२ (ग) 'प्रेम की पहिचानि' इति। इससे प्रेमकी पहचानकी विशेषता प्रकट है; प्रेमकी रीति श्रीरघुवीर ही जानते हैं—यह पूर्व दिखा भी आये हैं। यथा 'राम प्रीतिकी रीति आपु नीके जनियत है। १८३।', 'प्रीति पहिचानि यह रीति दरबार की। ७१।', 'जानत प्रीति रीति रघुराई।१६४।' अतः उसके प्रेमकी जानकारीसे उसके प्रेमके अनुकूल उसपर वात्सल्य प्रकट किया, पुत्रके समान उसे प्रेमपूर्वक गले लगा लिया।—'भेंट्यो हृदय लगाइ प्रेम-वस'। १६६।', 'केवट भेंट्यो भरत ज्यों' १६१ (६) तथा 'बंधु ज्यों परम प्रीति कै भेंट्यो।' १३८ (२) भी देखिए।

३ 'गीध कौन दयालु''''''' इति। भाव कि यह जन्मस्वभावसे ही हिंसक था, अतः दया उसमें छू भी नहीं गई थी। पूर्व भी कह आये हैं—'सबर गीध सम-दम-दया-दान-हीने।१०६।' ऐसे हिंसक पक्षीका प्रेम पहचानकर उसको पिताके समान जलांजलि दी। यथा 'जेहि कर कमल कृपाल गीध कहुँ उदकु देइ निज लोकु दियो।' १३३ (३) तथा 'जनक समान क्रिया ताकी निज कर सब बात सँवारी।' १६६ (५) देखिए। पूर्व पितासे भी अधिक ममत्व गीधपर दिखा आये हैं—'असेहु पितुसे अधिक गीध पर ममता गुन गरुआई।१६४।'; क्योंकि 'जानत प्रीति रीति रघुराई।'

४ (क) 'प्रकृति मलिन कुजाति सबरी'' इति। 'सकल अवगुनखानि' में मानसके 'अधजन्ममहि' (३।३६) का भाव है। भूमिके प्रकृत्यनुसार उसमें अनाज होता है। शबर जाति पापोंका प्रसवन करनेवाली, पापोंकी जन्मभूमि है, समस्त अवगुण उससे उत्पन्न हुआ ही चाहे। इसीसे 'सकल अवगुणोंकी खानि' कहा। गी० ३।१७।७ में भी इसे 'अघ अवगुनन्हि की कोठरी' कहा है।

४ (ख) 'खात ताके दिये फल''''' इति। 'रुचि' के यहां 'स्वाद' और 'प्रेम; भूख' दोनों अर्थ हैं। बड़े प्रेमसे, बड़ी भूखसे पाते हैं और उसके अत्यन्त स्वादकी भी प्रत्येक ग्रास लेनेपर सराहना करते हैं। गी० ३।१७।५-६ के 'प्रभु खात पुलकित गात, स्वाद सराहि आदर जनु जये', '''सुर मुनि मुदित सराहि सिहात। केहि रुचि केहि छुधा सानुज माँगि माँगि प्रभु खात!', 'प्रभु खात माँगत, देति सबरी राम भोगी जागके!'—का सब भाव इस चरणमें है। ऐसा क्यों किया? इसका कारण भी वहीं कहा है—'सुनि समुझि तुलसी जानु रामहिं बस अमल अनुरागके।'—यही प्रस्तुत पदका 'सुप्रीति मन अनुमानि' है। क्या बखान करते थे, यह पूर्व "घर गुरुगृह प्रिय सदन सासुरे भइ जब जब पहुनाई। तब तब कहैं सबरीके 'फलनिकी रुचि माधुरी' न पाई। १६४।' में कह आये हैं।

५(क) 'रजनिचर अरु रिपु बिभीषन' ''इति । निशाचर और शत्रु होना दोनों ही भावोंसे वह शरणके अयोग्य था। फिर निशाचरोसे पृथ्वीको 'हीन' करनेकी प्रतिज्ञा भी कर चुके थे; यथा 'निसिचरहीन करउँ महि भुज उठाइ पन कीन्ह।३।६।';तो भी उसका प्रेम, देख उसे शरणमें ही नहीं लिया.वरन् उसे श्री· भरतजीके समान प्रेमसे हृदयसे लगा भी लिया । विशेष पूर्व 'रिपु को अनुज विभीषन निसिचर कौन भजन अधिकारी । सरन गये आगे ह्वै लीन्हो भेंट्यो भुजा पसारी ।'१६६(८क-ख-ग),तथा 'सेवा केहि रीझि राम किये सरिस भरत' १३४ (५) मे लिखा जा चुका है ।

५ (ख) 'भरत ज्यों उठि' ' इति । श्रीभरतजीसे उठकर मिले थे और उस समय देहसुध भूल गई थी। यथा 'उठे राम सुनि प्रेम अधीरा।', 'बरबस लिये उठाइ उर लाए कृपानिधान।', 'परस पेम पूरन दोउ भाई । मन बुध चित अहमिति बिसराई।' (२।२४०।८ से २४१।२ तक), 'राजीवलोचन स्रवत जल तन ललित पुलकावलि बनी। अति प्रेम हृदय लगाइ अनुजहि मिले प्रभु त्रिभुवन धनी। ७।५।'; इसी प्रकार विभीषणजीसे मिलते समय –'उठे उमँगि आनंद प्रेम परिपूरन बिरद बिचारि कै। भयो बिदेह बिभीषन, उत, इत प्रभु अपनपौ बिसारि कै। भली भाँति भावते भरत ज्यो भेंट्यो भुजा· पसारि कै। गी० ५।३६।'

६ 'कौन सुभग सुसील बानर ' इति। (क) वानरोमें न तो सुन्दरता ही होती है, न शील सौम्य स्वभाव। सभ्यता उनकी 'प्रभु तरु तर कपि डार पर'''।१।२९।' से प्रकट है । उनके स्मरणसे अमंगल होता है—यह पूर्व पद १६६ में कह आये हैं,— 'असुभ होइ जिन्ह के सुमिरे तें बानर रीछ बिकारी।' १६६ (६ क) देखिए। सुन्दर और सुशील होते तो उनके स्मरणसे अमंगल क्यो होता ? [वानरकी ओर देखो तो वह घुड़क देता है, ऐसा कुशील और अवगुणी होता है। (वै०)]

६ (ख) 'किये ते सब सखा ' ' इति । महर्षि वसिष्ठसे तथा श्रीभरतजीसे और सभा-समाजमे इनको अपना सखा और श्रीभरतजीसे भी अधिक प्रिय कहा, यह अति सम्मान 'पूजा' है, फिर बिदाई भी उसी भावके अनुकूल की-है, इनके ऋणी बन गए। यथा 'ये सब सखा सुनहु मुनि मेरे।', 'भरतहु ते मोहि अधिक पिआरे। ७।८', 'भरत सभा सनमानि सराहत होत न हृदय अघाउ। १००,(८)।' इत्यादि ।

७ 'राम सहज कृपाल'''' इति। (क) प्रायः ये सब गुण पूर्व दिखा आये है। यथा'ऐसे राम दीनहितकारी। अति कोमल करुनानिधान बिनु कारन पर-उपकारी।१६६।' 'सहज' मे 'बिनु कारन पर-उपकारी' का भाव है। 'सहज'

कृपाल, कोमल, दीनहित सभीका विशेषण हैं। जन्मसे जो स्वभाव होता है, वही 'सहज' स्वभाव है।

['दिन दानि' अर्थात् पात्र, कुपात्र तथा समय आदिका विचार नहीं करते प्रति दिन याचकमात्रको परिपूर्ण दान देते हैं। यह उदारता गुण है। (वै०)। मेरी समझमे भाव यह है कि याचक जभी आता है तभी उसके मनोरथको पूर्ण करते हैं, वह विमुख नहीं जाने पाता।]

[गीधके प्रसंगमे सौशील्य और कृतज्ञता सहित पतितपावनता तथा शबरीके प्रसंगमे प्रीतिपालकता और सुलभ उदारता गुण दिखाया है। (वै०)। निपादप्रसंगमे वात्सल्य, विभीषण-प्रसंगमे शरणपालकत्व तथा दीनहितकारित्व और वानरोंके प्रसंगमें सेवकवशता, सेवकपर अत्यंत ममत्व, प्रेमकनोड़ापन, सौशील्य आदि गुणोंका वर्णन है। स्वाभाविक कृपालुता, कोमलता आदि गुण सभी प्रसंगोमे दर्शित होते हैं,इस लिये इन सबोंको इन उदाहरणोंके अंतमे कहा।]

७ (ख)'कुटिल कपट न ठानि'इति। पेटमें कुछ और मुँहमे कुछ और होना 'कपट' है। मन, कर्म और वचन तीनोसे टेढ़ा होनेका भाव 'कुटिलता' है। 'कुटिल कपट' वह कहा जाता है जो दूसरोंकी आड़से कपट किया जाता है। 'कुटिल' को संबोधनभी मान सकते हैं। कई टीकाकारोंने 'कुटिल कपट' का अर्थ 'छल कपट' किया है।

७ (ग) 'ऐसे प्रभुहि' अर्थात् जो कारणरहित कृपा करनेवाले हैं, विना सेवाके ही दीनोपर कृपा करते हैं, सदा उनका हित करते हैं, जिनका हृदय बड़ा कोमल है, जो जनका दुःख देखकर सह नहीं सकते स्वयं पीड़ित हो जाते हैं, जिनके यहाँसे याचक विमुख नहीं लौटता और जो नीचसे भी उसका प्रेम देखकर स्नेह करते हैं, इत्यादि गुणोंसे युक्त जो प्रभु हैं उनका भजन कर। 'कुटिल कपट न ठानि' अर्थात् ऐसे प्रभुकी सेवा कपटरहित होकर करना चाहिए। सेवासे मुँह चुराना कपट है। पूर्व भी कहा था—'ऐसेहु साहिब की सेवा तूं होत चोरु रे। आपनी न बूझि न कहे को राड रोरु रे।७१।', 'कियो करैगो तो-से खलको भलो। ऐसे सुसाहिब सो तू कुचाल चलो।१७६।'—किसीका उपदेश न मानना, कुचाल चलना—ये कुटिलके लक्षण हैं। [भजनमे अपने कल्याणक विश्वास न होना कुटिलता है। बाहरसे वैराग्य और भीतर विषय-वासना होना कपट है। (भ०स०,दु०)]

सू० शुक्ल—भगवान सच्चे प्रेमसे प्रसन्न होते हैं। पाण्डित्य और कुलीनता आदि किसी आडंबरसे प्रसन्न नहीं होते। इसीके उदाहरण शबरी और निपाद आदि हैं।

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।